हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि

[आगरा विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध]

डॉ गोविन्द त्रिगुणायत
एम ए., पी-एच. डी., डी लिट

प्रकाशक
साहित्य निकेतन
कानपुर

यम संस्करण १९६१]

[मूल्य २५)

प्रकाशक :
रामनारायणलाल कपूर, साहित्य निकेतन, श्रद्धानंद पार्क, कानपुर ।



लेखक की अन्य रचनाएँ

आलोचनात्मक—

कबीर की विचारधारा

लेखक की पी-एच० डी० की थीसिस, हरजीमल डालमिया साहित्य पुरस्कार समिति, दिल्ली से २१००) की धनराशि से पुरस्कृत ।

कबीर और जायसी का रहस्यवाद

संशोधित और परिवर्धित संस्करण, उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रचुर धनराशि से पुरस्कृत ।

शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त—(दो भागों में)

साहित्य शास्त्र के सरल सिद्धान्त

अनूदित—

हिन्दी दशरूपक

धनञ्जय के महान् नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ दशरूपक का प्रथम प्रमाणिक हिन्दी व्याख्यात्मक अनुवाद । उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत ।

सम्पादित—

हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ

१०० पृष्ठों में कहानी कला पर पाण्डित्य पूर्ण भूमिका सहित ।



मुद्रक :
प्रेमचंद मेहरा, न्यू हिंद प्रेस, ८ नवाब यूसुफ रोड, इलाहाबाद ।

उन्हीं संतों के श्रीचरणों में
जिनकी प्रेरणा और कृपा से यह ग्रन्थ लिखा गया है।

"आतमा राम है, राम है आतमा।
जोति है जुगति सौं करो मेला॥
तेज है सेज है, सेज है तेज है।
एक रस दादू खेल खेला॥"

दादूदयाल की बानी।
भा० २, पृ० १९२।

"निर्गुण राम रहै क्यौं भाई।
सहजै सहज मिलै हरि आई॥"

दादूदयाल की बानी।
भा० २, पृ० १९१।

प्राक्कथन

भारतीय साहित्य-क्षेत्र में हिंदी की निर्गुण काव्यधारा का एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है। लौकिक राग से विरहित होते हुए भी यह सहज काव्य का सहजतम उदाहरण है। उसमें आत्मा का वह दिव्य रस प्रवहमान है जिसका एक ही कण पाकर त्रिविध-ताप-संतप्त सहृदय मानव निहाल हो उठता है। मध्य-युगीन भारत के लिए यह धारा महान् वरदान थी। भारतीय संस्कृति को जीवित रखने का श्रेय इसी को है। आज भी हम उसके प्रकाश में सन्मार्ग खोज सकते हैं। इतनी महिमामयी होते हुए भी यह काव्यधारा १९ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक सर्वथा उपेक्षित रही। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कुछ ईसाई विद्वानों ने संतों के नाम पर प्रवर्तित प्रसिद्ध पंथों की आलोचना करने की दृष्टि से उनका अध्ययन और विवेचन प्रारम्भ किया। इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में ईसाई युगलेश्वरप्रसाद लिखित "कबीरज्ञान", वेस्कट साहब लिखित "कबीर एण्ड दि कबीर पंथ" की, साहब लिखित "कबीर ऐण्ड हिज फालोअर्स" ग्रियर्सन साहब लिखित "इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन ऐण्ड ऐथिक्स" लेखों के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं। ईसाइयों की आलोचना से प्रेरित होकर कुछ पंथी भाइयों ने और कुछ भारतीय विद्वानों ने संतों की रचनाओं और उनकी पवित्र विचार धाराओं को प्रकाश में लाने का प्रयास करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार का प्रयास करनेवाले विद्वानों में डा० श्यामसुन्दरदास कविसम्राट् हरिऔध, डा० रामकुमार वर्मा, महाकवि रवीन्द्र, और आचार्य क्षितिमोहन सेन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने क्रमशः "कबीर ग्रंथावली," "कबीर वचनावली," "संत कबीर", "हंड्रेड पोइम्स आफ कबीर" और "दादू" शीर्षक सुंदर संग्रह प्रकाशित किये। ताराचन्द्र गरोला द्वारा संगृहीत "सांग्स आफ दादू" नामक संग्रह भी महत्त्वपूर्ण है। संतों की बानियों को प्रकाश में लाने का सबसे बड़ा श्रेय बेलवेडियर प्रेस को है। इसके मैनेजर ने अपूर्व त्याग, प्रयास और श्रद्धा के साथ संतों की बानियों का प्रकाशन किया है। संतों की बानियों के प्रकाशन से उनके आलोचनात्मक अध्ययन को बल मिला। संतों के व्यक्ति मूलक अध्ययन से सम्बन्धित कुछ उच्च कोटि की आलोचनाएँ प्रकाश में आईं। इनमें

डा० रामकुमार वर्मा लिखित "कबीर का रहस्यवाद" आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रणीत "कबीर" तथा डा० मोहनसिंह रचित "कबीर एण्ड हिज बाइग्राफी" नामक रचनाएँ विशेष महत्वपूर्ण हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में भी संतों की चर्चा विशेष रूप से की जाने लगी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० रामकुमार वर्मा आदि के इतिहास ग्रंथों में निर्गुण काव्यधारा का विश्लेषण विशेष प्रतिभा के साथ किया गया है। भारतीय धर्म और साधना से संबंधित ग्रंथों में भी संतों की अच्छी चर्चा मिलती है। इस दृष्टि से डा० भण्डारकर लिखित 'वैष्णविज्म शैविज्म', मैकनिकल साहब लिखित "इंडियन थीइज्म" विल्सन साहब लिखित "रिलीजस सैक्ट्स आफ हिन्दूज़' फर्कुहर साहब लिखित आउटलाइन्स आफ रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया', इलियट साहब लिखित "हिंदुइज्म एण्ड बुद्धिज्म' नामक ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं। डा० ताराचन्द ने अपने इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम' में भी संतों की चर्चा की है। मैकालिफ साहब लिखित सिख रिलीजन नामक ग्रंथ भी इसी श्रेणी में आता है। इधर आठ-दस वर्षों में इस कोटि के अध्ययन से संबंधित कुछ थीसिज़ भी लिखी गई हैं। इनमें डा० गोविंद त्रिगुणायत लिखित 'कबीर की विचारधारा", डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी रचित "संत दरियासागर" तथा डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित प्रणीत 'मलूकदास के नाम' विशेष उल्लेखनीय हैं।

संतों के समष्टिमूलक अध्ययन का क्षेत्र भी अछूता नहीं रहा। इस दिशा में सबसे स्तुत्य प्रयास आचार्य क्षितिमोहन सेनजी का हुआ। उनके 'मिडिवल मिस्टीसिज़्म" नामक ग्रंथ में मध्यकालीन संतों का अच्छा विवेचन किया गया है। सेन जी के पश्चात् स्वर्गीय डा० बड़थ्वाल का प्रयास प्रशंसनीय है। डा० बड़थ्वाल ने निर्गुण कवियों का सांग और व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया है। किन्तु वे संतों की विचारधारा के मर्म को नहीं पकड़ सके। यही कारण है कि उन्होंने संतों की स्वतन्त्र साधना को विविध वादों के कठघरे में बंद करने की चेष्टा की है। ऐसा करके उन्होंने संतों के साथ वास्तव में बड़ा अन्याय किया है। इससे उनका अध्ययन अनुसंधानपूर्ण और पांडित्यपूर्ण होते हुए भी दूषित हो गया है।

संतों का सबसे अधिक अनुसंधानपूर्ण और व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत करने का श्रेय पण्डितवर श्री परशुराम चतुर्वेदी को है। उनकी 'उत्तरी भारत की सन्त

परम्परा" अपने ढंग की बेजोड़ रचना है। उसमें उन्होंने भारत के सभी प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध संतों का खोजपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। इतना होते हुए भी उसमें सन्तों की विचारधारा का समष्टिमूलक अध्ययन बहुत कम हुआ है। और जो कुछ हुआ है वह भ्रान्तिपूर्ण और अधूरा-सा प्रतीत होता है। इस बात की अनुभूति प्रायः सभी विद्वान् कर रहे थे। आज से आठ वर्ष पूर्व जब मुझे "कबीर की विचारधारा" पर पी-एच० डी० उपाधि के साथ साहित्य जगत् का इक्कीस सौ रु० की धन राशि का प्रसिद्धतम 'हरजी मल डालमिया साहित्य पुरस्कार' प्राप्त हुआ तो मेरे गुरुजनों ने मुझे निर्गुण काव्यधारा के अध्ययन का गुरुतर कार्य करने का आदेश दिया। उनकी सत्प्रेरणा से मुझे विशेष बल मिला। जिसके फलस्वरूप मैंने अपनी डी० लिट्० की उपाधि के लिए 'हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि' शीर्षक विषय चुनने का साहस किया। आज पाँच वर्ष के घोर परिश्रम के फलस्वरूप तद्विषयक अध्ययन का यह साकार स्वरूप प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ हूँ। अनुसंधान काल में कुछ तो अध्ययन-जनित कठिनाइयों के कारण कुछ दो विषयों के एम० ए० और अनुसंधान विभागों के प्रधान दायित्व से अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण तथा कुछ अस्वस्थता के कारण मैं कभी कभी इतना निरुत्साहित होता रहा हूँ कि यदि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० राम कुमार वर्मा, पं० परशुराम चतुर्वेदी जैसे विषय के मर्मज्ञ पण्डित अमूल्य परामर्श देकर प्रोत्साहित न करते, तो हो सकता था कि कार्य अब भी पूर्ण न हुआ होता। उपर्युक्त तीनों ही विद्वानों ने अपना अमूल्य समय देकर मेरी रचनाओं को पूर्ण बनाने में पूरा पूरा योग दिया है। मैं उनके ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकता। इसी प्रसंग में मैं पूज्य गुरुवर पं० अयोध्यानाथ शर्मा को भी भक्ति पुरस्सर प्रणाम करता हूँ। वास्तव में यह रचना उन्हीं के आशीर्वादों के फलस्वरूप पूर्ण हो सकी है। ग्रंथ प्रणयन में मैंने देश-विदेश के अनेक विद्वानों के ग्रंथों का निःसंकोच भाव से उपयोग किया है। उनके प्रति मैं हार्दिक आभार का अनुभव करता हूँ। सबसे अधिक आभारी मैं अपनी धर्मपत्नी डा० प्रभा त्रिगुणायत एम० ए० पी-एच० डी० का हूँ। उन्होंने इस ग्रंथ के लेखन में प्रतिपल प्रेरणा प्रदान की है। उनकी इस प्रेरणा के बिना यह ग्रंथ कदापि पूर्ण नहीं हो सकता था। मेरे प्रिय शिष्य डा० रघुवीरचन्द्र शर्मा पी० एच डी० ने ग्रंथ की नामावली और पारिभाषिक शब्दावली तैयार करके मेरे काम को हलका कर दिया है। मैं उन्हें अपने अन्तस्तल से आशीर्वाद देता हूँ।

यह ग्रंथ आगरा विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए शोध प्रबन्ध के रूप में लिखा गया था। हिन्दी के प्रकाण्ड पण्डित डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सर्वमान्य विद्वान् डा० वासुदेवशरण अग्रवाल और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन इसके परीक्षक थे। इन तीनों ही विद्वानों ने ग्रंथ की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी, जिसके फल स्वरूप यह विश्वविद्यालय द्वारा उपयुक्त उपाधि के लिए स्वीकृत हो सका। मैं इन तीनों ही विद्वानों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

मैंने यद्यपि अपनी इस रचना को यथाशक्ति पूर्ण और निर्दोष बनाने की चेष्टा की है, अग्नि-परीक्षा में यह निर्दोष निकली भी है, फिर भी इतने बड़े ग्रंथ में कुछ दोष अवशिष्ट रह गये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। मैं उनके लिए विनयपूर्वक क्षमाप्रार्थी हूँ। आशा है विद्वद्वर तुलसी की '[illegible] न परा, क्षेम होई नहिं केवल ज्ञाना' वाली पंक्ति स्मरण कर उदारतापूर्वक क्षमा करेंगे। जो भी हो, इस रचना को प्रस्तुत करते समय तुलसी के शब्दों में मुझे इतना संतोष तो है ही—

"भणित मोरि सब गुणरहित, विश्व विदित गुण एक।
सो विचार सुनिहैं सुमन, जिनके विमल विवेक॥"

शरद पूर्णिमा, सम्वत् २०१५
के० जी० के कालेज
मुरादाबाद।

गोविन्द त्रिगुणायत

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

द्वितीय अध्याय

सम्प्रदाय

प्रत्यभिज्ञा दर्शन—

सिद्धांत पक्ष, प्रमाण पक्ष।

कुछ अन्य छोटी छोटी दर्शन पद्धतियाँ—

रसेश्वर दर्शन, शैव शाक्त तंत्र और सन्तों की विचारधारा।

प्रमुख प्रवृत्तियों और सिद्धांतों का निर्देश—

प्रवृत्तियाँ, महत्त्व, दैवी उत्पत्ति, प्राचीनता, साहित्य सम्प्रदाय, साधनापरकता, बाह्याचार विरोध, ईश्वर भावना, भुक्ति-मुक्तिपरकता, ज्ञान का महत्त्व, गुरु, रहस्यवाद, तर्कविरोध, मंत्र चैतन्य, दार्शनिक पक्ष, तांत्रिकों की बुद्धिमूलक विचारधारा, शक्ति तत्त्व, शिव और शक्ति की अद्वैतता, माया शक्ति महामाया, साधारण माया, प्रतिष्ठा कला, निवृत्ति कला, साधारण माया, मायातत्त्व, नाद, बिन्दु तत्त्व, तांत्रिकों के जगत संबंधी विचार, आभासवाद, ब्रह्मधारणा, आत्मवादीवादि।

साधना पद्धति—

बाह्यात्मक साधना का क्रम, तांत्रिक उपासना, कुण्डलिनी साधना, कुण्डलिनी मार्ग, मुद्रासाधना, ध्यान और शक्तिपात, निर्गुण काव्यधारा पर शैवशाक्त तन्त्रों का प्रभाव।

बौद्धतन्त्र साधना और हिन्दी के निर्गुणियाँ कवि—

बौद्ध तांत्रिकों की विविध शाखायें—

मंत्रयान और उसके प्रमुख तत्त्व—

वज्रयान, सहजयान, कालचक्रयान, बौद्ध तांत्रिकों का नैतिक दृष्टिकोण।

निर्गुणियाँ कवियों पर बौद्ध तांत्रिकों का ऋण—

जैन तांत्रिक।

नाथ पन्थ—

नाथपंथी साहित्य, नाथ सम्प्रदाय का ऐतिहासिक विकास मत्स्येन्द्रनाथ का योगिनी कौल ज्ञान, मत्स्येन्द्रनाथी मत में बिन्दु का स्वरूप।

निर्गुण काव्यधारा पर मत्स्येन्द्रनाथी धारा के प्रभाव—

गोरखनाथी धारा, परिचय, दार्शनिक सिद्धांत, साधना पद्धति निर्गुण काव्यधारा पर गोरखनाथी नाथपंथ के प्रभाव।

सन्तों पर इस्लाम धर्म की छाया—

प्रभाव की सीमाएँ, एकनिष्ठा, दीन, इमान साम्यवाद, निषतिवाद सन्तों की प्रतिष्ठा, कर्मवाद खंडनात्मक प्रवृत्ति।

सूफीमत और सन्त कवि—

इस्लाम और सूफीमत में अन्तर अध्यात्म चिन्तन, तरीका या साधना पथ, सन्त मत पर सूफियों के प्रभाव।

चौथा अध्याय

साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि

निर्गुणियाँ सन्तों के पूर्व की साधु परम्पराएँ-प्राचीन साधु परम्पराएँ

ब्राह्मण साधुओं की परम्पराएँ—

ऋषि—

ब्रह्मर्षि और राजर्षि।

मुनि—

श्रमण, वैखानस अथवा भिक्षु।

तपस्वी—

दन्तोलूखिन अश्मकुट्ट वृक्षाहारी, धूम्रपायी, पंचाग्नि साधक, शीर्षासनयोगी, मौनव्रतधारी आदि।

कृत्रिम साधु—

ब्राह्मण, बौद्ध और जैन।

पाणिनिकालीन एवं अन्य ब्राह्मण साधु परम्पराएँ—

ऊर्ध्वरेता साधु वर्ण आश्रित नैष्ठिक साधु, कौतुकिक साधु।

ब्राह्मणेतर आस्तिक साधु परम्पराएँ—

आस्तिक प्रतिक्रियावादी, शाक्त, कापालिक, पाशुपत, लकुलीश, नाथपन्थी, अघोरी, तमिल के शामिल शैव सन्त, ब्राह्मणेतर नास्तिक साधु परम्पराएँ, प्रतिक्रियावादी उच्छेदवादी अकृतवादी, अनिश्चिततावादी, चतुर्याम संवरवादी, आजीवक सम्प्रदाय, बौद्ध साधु सम्प्रदाय, जैन संतों की परम्पराएँ।

पाँचवाँ अध्याय

अध्यात्म निरूपण

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

रहस्य और सहज साधनाएँ

आठवाँ अध्याय

सन्तों की बानियों की साहित्यिकता और अभिव्यक्ति

नवाँ अध्याय

उपसंहार

सकेत-सूची

क० ग्र०—	कबीर ग्रन्थावली
सं० क०—	संत कबीर
सं० ब० सं०—	संत बानी संग्रह
सं० सु० सा०—	संतसुधासार
सु० वि०—	सुन्दर विलास
कठ०—	कठोपनिषद्
मुण्ड०—	मुण्डकोपनिषद्
तै०—	तैत्तरीयोपनिषद्
वे०—	वेदान्त सूत्र
गो० बा०—	गोरख बानी
छां०—	छांदोग्योपनिषद्
बृ०—	बृहदारण्यकोपनिषद्
श्वे०—	श्वेताश्वतर उपनिषद्
यो० व०—	योग वसिष्ठ
ई० आर० ई०—	इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स
एस० बी० ई०—	सेक्रेड बुक आफ दि ईस्ट सीरीज

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

भारत के सांस्कृतिक विकास में निर्गुण काव्य धारा का योग और महत्त्व
अभिधान की सार्थकता
स्थूल रूपरेखा
सगुण से पार्थक्य
ऐतिहासिक स्थिति
निर्गुण काव्यधारा के प्रस्तावनाकालीन कवि—
जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, सदन, वेनी, रामानन्द, धना, पीपा, सेन
निर्गुण काव्यधारा के प्रमुख कवि—
कबीर, धर्मदास, नानक, रैदास, दादू, रज्जबजी, सुन्दरदास, गरीबदास, (दादू पंथी), गरीबदास (निरंजन पंथी), गरीबदास (बावरी पंथी), यारी साहब, बुल्लासाहब, जगजीवन साहब, गुलाल साहब, भीखा साहब, पलटू साहब दरियासाहब (बिहार वाले), मलूकदास, चरन दास, सहजोबाई, दयाबाई, तुलसी साहब।
विवेच्य सामग्री
हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा के उदय और विकास की प्रेरक परिस्थितियाँ—
राजनीतिक प्रेरणाएँ, धार्मिक प्रेरणाएँ, सामाजिक प्रेरणाएँ, परिस्थितिजन्य व्यक्तिगत प्रेरक घटनाएँ।

भारत के सांस्कृतिक विकास में निर्गुण काव्य-धारा का योग और महत्व –

हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा मध्यकालीन भारतीय संस्कृति का वह दिव्य हार है जिसमें युग-युग के बिखरे हुए जीवन तत्त्व रूपी मोती सँजो-सँजोकर पिरोये गये हैं। उसे पाकर वह कृतार्थ हो गई थी। उसमें नई चेतना आ गई थी। उसका म्लान कलेवर दिव्य-सौंदर्य से मोदभासित हो उठा था। उसकी छवि-किरणें आज भी संस्कृति को भी जीवन का संदेश दे रही हैं। स्वार्थ और संघर्ष के कर्दम में फँसे हुए विश्व के लिए यही एकमात्र आशा है। अज्ञान के अंधकार में डगमगाती हुई मानव जाति उसी के प्रकाश में अपने गन्तव्य को पा सकती है।

भारतीय संस्कृति सुरसरिता के सदृश है। देश-विदेश की अनेक संस्कृतियाँ उससे मिलकर एक और तद्रूप हो गई हैं। इस तद्रूपीकरण प्रक्रिया में आदिकाल से ही संतों ने पूरा पूरा योग दिया है। मध्यकालीन निर्गुणिया संतों का कार्य अपने पूर्ववर्ती संतों के कार्य से कठिनतर था। किन्तु अपनी प्रतिभा और साधना के बल पर उन्होंने उस कठिनतर कार्य को बड़ी कुशलता से सम्पन्न किया। प्राचीन संतों द्वारा प्रवर्तित समन्वय साधना को पूर्ण करने का श्रेय उन्हीं को है। इस समन्वय साधना का इतिहास बड़ा रोचक है। यहाँ पर उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन करा देना अनुपयुक्त न होगा।

भारत आदि काल से ही विविध विदेशी जातियों का क्रीड़ास्थल रहा है। कुछ जातियाँ व्यापारार्थ आई थीं। कुछ ने विजय की लालसा से प्रेरित होकर प्रवेश किया था और कुछ धर्म-जिज्ञासा और ज्ञान-लिप्सा से प्रेरित होकर इस देश में प्रविष्ट हुई थीं। व्यापारार्थ आनेवाली जातियों में फोनेशियन[१], अरब[२], ग्रीक[३], पारसी[४], एबेसीनियन[५], पुर्तगीज[६], डच[७], फ्रांसीसी[८] अँगरेज[९] आदि प्रधान हैं। आक्रमणकारी जातियाँ कुछ उत्तर-पश्चिम से आई थीं और कुछ उत्तर-पूर्व से। उत्तर पश्चिम से आनेवाली जातियों में ग्रीक[१०], सीथियन[११], पार्थियन[१२], शक[१३], हूण[१४],

---

१ इस जाति के आगमन का पता 'पेरीप्लस आफ दि एरीथ्रियनसी' नामक ग्रीक रचना में जो ७८ ई० में लिखी गई थी, चलता है। (इण्डिया पू. दि. प्रवेश पृ. ९ से) देखिये—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १—पृष्ठ १५०

२ देखिये—शैखुद्दीन लिखित तुहफतुल मुजाहिदीन का रोलैंड कृत अँगरेजी अनुवाद सन् १८३३

३ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया—भाग १, अध्याय—१६

४ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया—भाग १ पृष्ठ २८१ २८८

५ इण्डिया एण्ड दी एबीसीनिया—के० सरकार—१९५० पृष्ठ ५

६ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया—भाग ५, अध्याय—१

७ वही अध्याय—२

८ वही अध्याय—३

९ वही अध्याय—४, ५

१० कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १ अध्याय—१५

११ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग १, पृष्ठ ५०८-५०९

१२ वही पृष्ठ ५१०-५१२

हूर्ण[1], यवन[1] और मंगोल[1] आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। उत्तरपूर्व के मार्ग से आक्रमण करनेवाली जातियों में तिब्बती और अहोम, इन दो का नाम लिया जाता है। पहली ने दसवीं शताब्दी के आसपास आक्रमण करके उत्तरी बंगाल में अपना राज्य स्थापित किया था। इस आक्रमण का वर्णन दसवीं शताब्दी के बानगढ़ के स्तंभ शिलालेख में मिलता है। अहोम जाति ने पटकोई पहाड़ों को पारकर ब्रह्मपुत्र की घाटी को जीतने का प्रयास किया था।[2] इनके अतिरिक्त बहुत सी जातियों के धर्म-जिज्ञासु और ज्ञानपिपासु साधक भी समय-समय पर भारत में आते रहे हैं। ये समस्त जातियाँ अपने साथ अपनी संस्कृति भी लाई थीं, जो युग युग में उदय होनेवाले संतों के प्रवाह से भारतीय संस्कृति रूपी सुरसरिता में संगमित होकर तद्रूप होती रही हैं।

आर्यों के मूल अभिजन के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। रहोड्स, श्लेगल, पार्टस और सेअस नामक विद्वानों के मतानुसार आर्य लोग भारत में मध्य एशिया से आए थे।[3] लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने उन्हें उत्तरीध्रुव का मूल निवासी सिद्ध किया है।[4] कुछ दूसरे विद्वानों ने जिनके मुखिया प्रो० गाइल्स हैं, डैन्यूब नदी की घाटी को आर्यों का मूल उद्भव-स्थान प्रमाणित किया है।[5] पारस्क नामक विद्वान् का कहना है कि आर्य लोग दक्षिणी रूस से विश्व भर में फैले थे।[6] इसके विपरीत कुछ भारतीय विद्वान् सप्तसैंधव देश को ही आर्यों का मूल निवास-स्थान मानने के पक्ष में हैं।[7] जो भी हो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि आर्य जाति भारत की आदिम मूल-जाति से भिन्न थी। भारत के आदि निवासी संभवतः द्रविड़ लोग ही थे। उनकी संस्कृति आर्यों की संस्कृति से भिन्न थी। आर्य संस्कृति को द्रविड़-संस्कृति से संघर्ष करना पड़ा था। यह संघर्ष मध्ययुग तक चलता रहा। आर्य-संस्कृति बलवती थी। वह धीरे धीरे द्रविड़-संस्कृति को आत्मसात् करती गई। शिवलिंग, शालिग्राम एवं नागपूजा आदि तत्व आर्य संस्कृति में द्रविड़ संस्कृति से ही आये हैं[8]। ज्यों-ज्यों आर्य जाति देश में प्रतिष्ठित होती गई,

[1] इनके आक्रमण के विवरण के लिए देखिये—
कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया द्वितीय खण्ड

[2] देखिये—इण्डिया थ्रू दी एजेज—जे० सरकार—पृष्ठ ५

[3] भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास—सत्यकेतु विद्यालंकार—पृष्ठ ११२

[4] देखिये—आर्कटिक होम इन दी वेदाज—तिलक

[5] भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास—डा० सत्यकेतु—पृष्ठ ११०

[6] देखिये—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया अध्याय ३, भाग १

[7] देखिये—आर्यों का आदि देश—डा० सम्पूर्णानन्द

[8] इण्डिया थ्रू दी एजेज

ज्यों-ज्यों उसकी संस्कृति भी समृद्ध होती गई। वैदिक संस्कृति की सबसे बड़ी देन उपनिषद् दर्शन है। उपनिषद् दर्शन का उदय ब्राह्मणों के कर्मकांड की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। आगे चलकर वैदिक विचारधारा का विकास क्रमशः गीता-दर्शन, योगवाशिष्ठ दर्शन, शुद्धाद्वैतवाद, षड्दर्शन आदि के रूप में हुआ। षड्दर्शनों में वेदान्त का प्रचार सर्वाधिक हुआ। वेदान्त में भी अद्वैतवाद को अधिक मान्यता मिली। ब्रह्मवाद, मायावाद आदि उसकी परम प्रसिद्ध धारायें हैं। इन दार्शनिक पद्धतियों के विकास के फलस्वरूप ऋषि-मुनि और संन्यासी आदि विविध साधु परम्पराओं का भी प्रवर्तन हुआ। वैदिक संस्कृति और विचारधारा ने इस प्रकार सारे भारतवर्ष को अभिभूत कर लिया।

वैदिक विचारधारा के रूढ़िग्रस्त हो जाने पर उसकी प्रतिक्रिया के रूप में अनेक धर्म, दर्शन और साधु-सम्प्रदायों का उदय हुआ। इनमें से कुछ का संकेत श्वेताश्वतर उपनिषद्[1] तक में मिलता है। जैन उत्तराध्ययन सूत्र और सूत्रकृतांग नामक ग्रंथों में तीन सौ चौसठ प्रतिक्रियावादी नास्तिक मतों का निर्देश किया गया है।[2] इसी प्रकार 'दीघनिकाय' नामक ग्रंथ में भी ६२ नास्तिक मतों की चर्चा मिलती है।[3] इनमें पूर्ण काश्यप का क्रियावाद[4], आचार्य अजितकेश कम्बल का उच्छेदवाद[5], प्रकुध कात्यायन का अकृततावाद[6], संजयपुत्त का अनिश्चिततावाद[7], निगंठ नाथ पुत्र का चातुर्याम संवरवाद[8], तथा मक्खलि गोशाल का आजीवक सम्प्रदाय[9] बहुत प्रसिद्ध हैं। इनसे मिलते-जुलते वैदिक व्रात्यों को[10] भी नहीं भुलाया जाना चाहिए। वे भी प्रतिक्रियावादी थे। उनका उदय ऋग्वैदिककाल में ही हो गया था। इन सबके समन्वय की कामना से बुद्धिवादी बौद्ध एवं जैन धर्मों का प्रवर्तन किया गया। इन दोनों में बौद्ध धर्म अधिक विकसित हुआ। भगवान् बुद्ध के निर्वाण

---

१ देखिये—श्वेताश्वतर उपनिषद् १।२

२ देखिये—उत्तराध्ययन सूत्र १८।२३ तथा सूत्रकृतांग २।२।७९

३ देखिये—'दीघ निकाय' हिन्दी अनुवाद पृष्ठ १ १७

४ हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आव दी आजीविकाज—एल० बाशम, पृष्ठ १८

५ बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय—पृष्ठ २८ ३२

६ दीघनिकाय—हिन्दी अनुवाद पृष्ठ २०—२१

७ दीघनिकाय—हिन्दी अनुवाद पृष्ठ २१

८ बौद्ध दर्शन पृष्ठ ३० ३१

९ हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आव दी आजीविकाज—एल० बाशम और भी देखिये एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स—भाग १, पृष्ठ २५९

१० इंडिका—एल० बाशम पृष्ठ २३-२७

के पश्चात् अनेक सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायों में विभक्त होकर दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करने लगा। इस विकास के फलस्वरूप एक विशिष्ट बौद्ध संस्कृति का उदय हुआ। वैदिक-संस्कृति को इस संस्कृति से भी लोहा लेना पड़ा। जब तक बौद्ध धर्म बलवान् रहा और विश्वधर्म के रूप में संसार में प्रतिष्ठित रहा तब तक आर्य-संस्कृति बौद्ध-संस्कृति से दबी रही। किन्तु पारस्परिक द्वेष[1], नैतिक ह्रास[2] और विलासिता[3] के अतिरेक के कारण जब से बौद्ध धर्म का पतन प्रारम्भ हुआ, तभी से आर्य-संस्कृति उसे पराभूत कर आत्मसात् करने लगी। बौद्ध-विचारधारा के शिथिल पड़ते ही वैदिक विचारधारा पंच-देवोपासना को लेकर उठ खड़ी हुई। एक-एक देवता को लेकर एक एक सम्प्रदाय और उसके भी अनेक उपसम्प्रदाय प्रवर्तित हुए। इन पंच-देवोपासना प्रधान सम्प्रदायों के नाम क्रमशः गणपति-सम्प्रदाय, सूर्य-सम्प्रदाय, शक्ति-सम्प्रदाय, शैव और वैष्णव सम्प्रदाय हैं। इनमें प्रथम दो अधिक विकास न पा सके। इनके विपरीत अन्तिम तीन विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच गये। इनका आधार लेकर अनेक दार्शनिक पद्धतियों और साधु एवं साधना सम्प्रदायों का उदय हुआ। शैव दार्शनिक पद्धतियों में पाशुपत, शैवसिद्धांत, वीरशैव और प्रत्यभिज्ञा-दर्शन विशेष प्रसिद्ध हैं। साधु और साधना सम्प्रदायों में कापालिक, कालमुख, अघोरी, गोरख, लिंगायत एवं तामिल के शैवभक्त विशेष उल्लेखनीय हैं। वैष्णव दर्शन पद्धतियों में पांचरात्र, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैत आदि के नाम निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। साधु और उपासना सम्प्रदायों में दक्षिण के आलवार भक्ति सम्प्रदाय, महाराष्ट्री संत सम्प्रदाय, बंगाल के सहजिया और गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय, आसाम के गुसाईं और पुरुषिया वैष्णव सम्प्रदाय तथा उड़ीसा के पंचसखा सम्प्रदाय, मानभाव सम्प्रदाय, वारकरी सम्प्रदाय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनके मिश्रण से उद्भूत "वालदेव" सम्प्रदाय, लालबेग सम्प्रदाय, वाल्मीकि सम्प्रदाय भी उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार मध्य-युग के आरम्भ होते-होते वैष्णव और शैव शाक्त विचारधाराओं की विविध शाखा-प्रशाखाओं के रूप में भारतीय संस्कृति का बहुमुखी विकास हुआ। इन शाखाओं-प्रशाखाओं ने बौद्ध-विचारधारा और संस्कृति को कवलित करने का पूरा-पूरा प्रयास किया। कुछ अंशों में ये अपने प्रयास में सफल भी हुईं। वैष्णव धर्म की भक्ति-भावना महायानियों के भक्ति तत्त्व से ही अनुप्राणित है। शैवों की मठवादी प्रवृत्ति को महायानियों की मठवाद की प्रवृत्ति से ही बल मिला था।[4] वैष्णवों की रथयात्रा बौद्धों के ही

---

[1] देखिये—मैनुअल आफ बुद्धिज़्म—डा० कर्न—पृष्ठ १०३ से १०९ तक

[2] अशोक, युवांग-वाटर्स—भाग २ पृष्ठ १००

[3] इण्डिया थ्रू दी एजेज़—जे० सरकार (१९५०)

[4] इण्डिया थ्रू दी एजेज़—जे० सरकार—पृष्ठ ११

एक उत्सव का रूपांतर है।[1] पुरी के जगन्नाथ जी बुद्ध का ही वैष्णवीकृत रूप है।[2] सारनाथ के समीप में एक सर्वेश्वर महादेव स्थित हैं। सर्वेश्वर शब्द इस बात को प्रमाणित करता है कि यह मूर्ति बुद्ध का ही शिवीकृत रूप है। बौद्ध विचारधारा और तत्वों के वैष्णवीकरण और शिवीकरण की यह प्रक्रिया शतों के समय तक चलती रही।

शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्ध विचारधाराओं से प्रभावित होकर विकसित होने वाले तंत्रमत का भारतीय संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसको वैदिक विचारधारा के समकक्ष ही महत्त्व दिया गया है।[3] वास्तव में यह वैदिक विचारधारा की ही एक शाखा है जो अनेक विदेशी संस्कृतियों को आत्मसात् करने के कारण अब उससे भिन्न दिखाई पड़ने लगी है। कुछ लोगों की धारणा है कि तांत्रिक विचारधारा विदेशी देन है, किन्तु मैं इस मत से सहमत नहीं हूँ। मेरी अपनी धारणा यह है कि जिन विदेशी संस्कृतियों को वैदिक और बौद्ध संस्कृतियाँ आत्मसात् करने में असमर्थ रहीं उनको स्वायत्त करने की कामना से भारतीयों ने तंत्रमत को जन्म दिया। तंत्रमत ने अनेक विदेशी विचारधाराओं को आत्मसात् करके भारतीय रूप दे दिया था। तंत्रमत के दो रूप हैं—एक हिंदू, दूसरा बौद्ध। हिन्दू तंत्रों के अंतर्गत शैव, शाक्त और वैष्णव तंत्र आते हैं। बौद्ध तांत्रिक साधनाओं में मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान, कालचक्रयान की विशेष ख्याति है। इनके अतिरिक्त भूटान का "डुक्पा" सम्प्रदाय भी उल्लेखनीय है। तंत्रों की इन दोनों ही धाराओं ने विदेशी संस्कृतियों को आत्मसात् करके उन्हें भारतीय रंग में रँगने का सफल प्रयास किया था। उदाहरण के रूप में तिब्बत के बोन धर्म के तांत्रिकीकरण का इतिहास ले सकते हैं।[4] तिब्बत में एक समय बोन नाम का एक जंगली धर्म प्रचलित था। पद्मसम्भव नामक आचार्य ने जाकर वहाँ तांत्रिक बौद्ध धर्म का प्रचार किया और उस बोन धर्म को आत्मसात् कर लिया।[5] इसी प्रकार का इतिहास जेन[6] सम्प्रदाय का है। जेन सम्प्रदाय भी तांत्रिक बौद्धों का ही एक सम्प्रदाय है जिसका प्रचार महाबोधि नामक किसी आचार्य ने चीन

---

[1] देखिये—बौद्ध रचनाओं के पर्यटन के लिए—फाहियान यात्रा वर्णन—जगन्नाथ पृष्ठ १९

[2] देखिये—उड़ीसा में 'दारु ब्रह्म' नामक रचना—पाँचवाँ अध्याय

[3] प्रिंसिपिल्स आफ तन्त्राज—आर्थर एवेलेन—पृष्ठ ५६

[4] देखिये—तिब्बत में सवा वर्ष—राहुल सांकृत्यायन—पृष्ठ १२०-१२१

[5] देखिये—होम आफ तांत्रिज्म—'मार्डर्न रिव्यू', अगस्त १९३७

[6] बौद्ध धर्म का ज़ेन सम्प्रदाय नामक पाण्डित्यपूर्ण लेख—'विश्ववाणी' में प्रकाशित—ले० प० परशुराम चतुर्वेदी

और जापान में वहाँ के जंगली धर्मों को परास्त करके किया था।[1] तंत्रों में हमें तारा, उग्रतारा, एकजटा और महानील सरस्वती की चर्चा मिलती है।[2] इनकी प्रतिष्ठा चीन, तिब्बत, भोट आदि देशों की साधनाओं के आत्मसात् करने के फलस्वरूप हुई थी। महाचीन में किसी समय तारादेवी की पूजा होती थी।[3] तंत्रों ने जब वहाँ के धर्म को आत्मसात् कर लिया तो तारादेवी की पूजा को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया गया। भोट और तिब्बत में इसी प्रकार एकजटा देवी की प्रतिष्ठा थी। उसके तांत्रिकीकरण होने पर तंत्रों में एकजटा देवी को तारा के एक स्वरूप के रूप में ग्रहण कर लिया गया। इसी प्रकार तंत्रों ने और भी अनेक विदेशी धर्म और साधना-पद्धतियों को अन्तर्भूत किया। इनका अनुमान तंत्रों के हादी और कादी सम्प्रदायों के प्रचार क्षेत्रों के नाम निर्देश से किया जा सकता है।[4]

मध्ययुग में तांत्रिक बौद्ध, शैव तथा योग साधनाओं के मिश्रण से कुछ नवीन साधना पद्धतियाँ प्रवर्तित हुईं, इनमें नाथ सम्प्रदाय और निरंजन पंथ विशेष उल्लेखनीय हैं। मध्ययुग में यवनों के देश में प्रतिष्ठित हो जाने पर इस्लामी धर्म और संस्कृति का भी अच्छा विकास हुआ। इस्लाम के साधु और साधना सम्प्रदायों में सूफी सम्प्रदायों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत में इस सम्प्रदाय का अच्छा प्रचार हुआ था। मध्ययुगीन भारतीय विचारधारा पर इसका अद्भुत प्रभाव दिखाई पड़ता है। सूफी, इस्लाम और भारतीय साधु-साधनाओं के सम्मिश्रण से बहुत-सी छोटी-छोटी साधना पद्धतियाँ उदित हुईं, इनमें धर्म मत और बाउल साधना पद्धति विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति विदेशी संस्कृतियों को कवलित करने के प्रयास में सर्वथा निष्क्रिय हो गई थी। मध्ययुग में एकछत्र हिन्दू राज्य के अभाव में व्यक्तिवादिता के प्रबल पड़ने पर वे सब स्वतन्त्र और निरपेक्ष हो चली थीं, जिसके फलस्वरूप भारतवर्ष साम्प्रदायिक संघर्षों का अखाड़ा बनता जा रहा था। भारतीय संस्कृति सहसा विच्छिन्न हो जाने से अत्यन्त दुर्बल हो गई थी। यवन संस्कृति विजित जाति की संस्कृति होने के कारण उसे कवलित करने के लिए विकराल रूप धारण करती चली जा रही थी। ऐसे ही समय में निर्गुणियाँ संतों का उदय हुआ था। उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा, अदम्य पौरुष और कठोर साधना के बल पर उपर्युक्त सभी दर्शन, धर्म, साधु और साधना सम्प्रदायों में

---

[1] फेजेज इन जैन बुद्धिज्म—फर्स्ट सिरीज—डा० मुखर्जी—पृष्ठ १६६ तथा आगे

[2] स्टडीज इन दी तंत्राज—डा० बागची—पार्ट १—पृष्ठ १०१

[3] स्टडीज इन दि तंत्राज—डा० बागची—पार्ट १

[4] वही पृष्ठ ४०

बिखरी हुई जीवन शक्तियों को एकत्रित किया और उनसे अनुप्राणित कर वह दिव्य "रामरसायन" तैयार किया, जिसके स्पर्शमात्र से जड़ चेतन और चेतन अमर हो जाते हैं। उसी रामरसायन के बल पर भारत आज तक जीवित है और भविष्य में भी युग-युग तक उसी से शक्ति का संचय करता रहेगा। इसीलिए निर्गुणियाँ संतों का भारतीय जीवन और संस्कृति में इतना प्रतिष्ठित स्थान है।

अभिधान की सार्थकता

इस रचना में संतों के जिस वर्ग की वाणियों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, उसके लिए हमने निर्गुण काव्यधारा का अभिधान प्रयुक्त किया है। यहाँ पर इस अभिधान की सार्थकता को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। उसको स्पष्ट करने के लिए हमें 'निर्गुण' शब्द और उसके अर्थ के ऐतिहासिक विकास-क्रम की खोज करनी पड़ेगी। वैदिक साहित्य में हमें इस शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि उस युग में सगुण और निर्गुण मूलक साम्प्रदायिकता का उदय नहीं हो पाया था। निर्गुण शब्द का प्रयोग हमें सर्वप्रथम महाभारत[1] और गीता[2] में मिलता है। इन दोनों ग्रन्थों में यह शब्द 'गुणरहित' के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गीता और महाभारत के पश्चात् इस शब्द का प्रयोग नृसिंहोपनिषद्[3] में पाया जाता है। यहाँ पर यह निर्विशेष ब्रह्मतत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का प्रयोग आचार्य शंकर ने कई बार किया है। वे उसे सत्स्वरूप मौलिक ब्रह्म से विलक्षण सत्त्व रजस्तमादि गुणों से विनिर्मुक्त ब्रह्मतत्त्व का वाचक मानते थे।[4] रामानुज और उनके मतानुयायियों ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु उन लोगों ने इसका अर्थ शांकरमतावलम्बियों द्वारा किये गये अर्थ से भिन्न रूप में निर्धारित किया है। उनकी दृष्टि में यह जरामरण आदि त्याज्य गुणों से रहित सगुण ब्रह्म का ही वाचक है।[5] रामानन्दी सम्प्रदाय के आनन्द भाष्य में भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है। अन्य दर्शनाचार्यों ने भी इस शब्द के अर्थ को अपनी साम्प्रदायिक दृष्टि के अनुकूल बदलने[6] की चेष्टा की थी। नाथ सम्प्रदाय में इस शब्द का प्रचुर प्रयोग

[1] 'महाभारत' शान्तिपर्व—३३६।२१ २८
[2] देखिये—'गीता' १३।१४ 'असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च'
[3] नृसिंहोपनिषद्—७ में—'सविशेषत्व निर्गुणम्' पद का प्रयोग है।
[4] छान्दोग्योपनिषद्—शांकरभाष्य—गीता प्रेस—पृष्ठ ८०३-८०५
[5] सर्वदर्शन संग्रह—सं० वासुदेव शास्त्री—१९५१ पूना
(पृष्ठ ११० पर निगुणत्वात् शब्द का प्रयोग और निर्गुण शब्द की व्याख्या)
[6] आनन्द भाष्य – १।१।२ में किया है।
निर्दोषा निकृष्टा सत्त्वादयः प्राकृता गुणा यस्मात्तन्निर्गुणमिति न्यूनत्वनिकृष्टगुण राहित्यमेव निर्गुणत्वम्।

मिलता है।[१] ये लोग अपने हृदयस्थ यौगिक ब्रह्म की अभिव्यक्ति प्रायः इसी शब्द के माध्यम से करते थे।

मध्यकालीन आचार्यों और नाथ पन्थियों के द्वारा किये गये निर्गुण शब्द के प्रयोग से मध्ययुग के कुछ संतकवि इतना अधिक प्रभावित हुए कि वे उसी को केन्द्र बनाकर अपनी विचारधारा प्रसारित करने लगे। ये लोग अपने इष्टदेव, अपनी साधना और अपने मत सबको निर्गुण कहते थे। संत बुल्ला साहब ने अपने इष्टदेव को 'निर्गुण, दयाल, दानी'[२] कहा है। उनके यह निर्गुण, दयाल, दानी ही राम के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। राम को वे निर्गुण शब्द का सारतत्व मानते थे।[३] संतों ने अपने इष्टदेव के प्रसंग में निर्गुण शब्द का प्रयोग अधिकतर द्वैताद्वैत विलक्षण परम तत्त्व रूपी हृदयस्थ यौगिक ब्रह्म के अर्थ में किया है। देखिए, यारी साहब अपने निर्गुण ब्रह्म को सुषुम्ना की शैय्या पर सोया हुआ बताते हैं, साथ ही उसे वे परम तत्त्व रूप भी मानते हैं। वह लिखते हैं—

"सुखमन सेज परमतत रहिया पिया निर्गुन निरंकार[४]।"

संतों ने प्रायः अपनी साधना को भी निर्गुण ही कहा है। उनकी साधना का प्रमुख अंग ध्यान है। उससे पहले निर्गुण शब्द का प्रयोग करते हुए संत जगजीवन साहब ने लिखा है—

"जगजीवन गुरु चरन धरि के निरगुन धरि ध्यान[५]।"

उन्होंने अपने इष्टदेव और साधना को ही निर्गुण नहीं कहा है, वरन् अपने सैद्धांतिक मत को भी निर्गुण का ही अभिधान दिया है। उसे वे वेदान्त का पर्यायवाची मानते थे। संत गुलाल साहब ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि "निर्गुण मत सोइ वेद को भेद"।[६] इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकालीन सन्तों के एक वर्ग में निर्गुण वाद का बहुत अधिक प्रचार था। निर्गुण शब्द उनमें द्वैताद्वैत विलक्षण परम तत्त्व रूपी यौगिक ब्रह्म, यौगिक साधना और वेदांतिक विचारधारा के पारिभाषिक अर्थ में

---

[१] सिद्धसिद्धान्त पद्धति—सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, बनारस—१९५४ पृष्ठ ७०

निर्गुणम् शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम्।
भ्रूमध्ये दृष्टिमात्रेण ध्यात्वा ब्रह्ममया भवेत्॥

[२] बुल्ला साहब की बानी—पृष्ठ २९

[३] बुल्ला साहब की बानी—पृष्ठ १९ 'तुम तो राम हउ निर्गुन सार'

[४] सन्त सुधा सार—वियोगी हरि—खण्ड २, पृष्ठ ७३

[५] सन्त बानी संग्रह भाग २ पृष्ठ १३१

[६] हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० बड़थ्वाल—प्रस्तावना (घ)

रूढ़ हो गया था। निर्गुण शब्द को इसी पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग करनेवाले सन्तों को हमने निर्गुणिया कवि और उनकी परम्परा को निर्गुण काव्यधारा का अभिधान दिया है। हिंदी साहित्य के कुछ इतिहासों में इस अभिधान का प्रयोग कुछ अधिक व्यापक अर्थ में मिलता है। उनमें इस धारा के अन्तर्गत प्रेमाश्रयी सूफी कवियों को भी रखा गया है। ऐसा करते समय इतिहासकारों की दृष्टि निर्गुण के सामान्य अर्थ पर थी, उसके पारिभाषिक अर्थ पर नहीं। उसके पारिभाषिक अर्थ को दृष्टि में रखते हुए इस अभिधान के अधिकारी केवल वे ही सन्त ठहरते हैं जिन्हें हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने ज्ञानाश्रयी निर्गुणधारा के कवि कहा है। अधिक व्यापक अर्थ में यह धारा संत परम्परा और उसके कवि सन्त कवि कहलाते हैं। कहीं कहीं पर हमने भी उनके लिए इन्हीं नामों का प्रयोग कर दिया है।

स्थूल रूपरेखा

निर्गुण काव्यधारा का उदय रूढ़िवादी अंधविश्वास प्रधान धार्मिक सम्प्रदायों की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। इस धारा के कवियों का लक्ष्य किसी पंथ या सम्प्रदाय विशेष को जन्म देना नहीं था, और न वे किसी पंथ या सम्प्रदाय के अनुयायी ही थे। सच तो यह है कि उन्हें पंथवाद या 'पखापखी' से विशेष घृणा थी। बाद के संतों में पंथ निर्माण की जो प्रवृत्ति उदित हुई, वह निर्गुणियाँ कवियों की विशेषता नहीं कही जा सकती। सच्चे निर्गुणियाँ कवि पंथ निर्माण की प्रवृत्ति को हेय समझते थे। ये लोग अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न होते थे, जिसका परिणाम यह होता था कि सैकड़ों साधु-संत उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके शिष्य हो जाते थे। वे गुरु के स्वर्गवासी हो जाने पर उनकी पूजा करने लगते थे और उनके नाम पर एक पंथ चला देते थे। यद्यपि ये शिष्य भी अपने गुरुजनों के समान निर्गुणवादी ही होते थे, किन्तु इनकी निर्गुण विचारधारा अपने अपने पंथों के विधि-विधानों और अंधविश्वासों से प्रभावित हो जाती थी। वे शुद्ध निर्गुणवादी संत नहीं रहते थे। अतः निर्गुण सम्प्रदाय के अन्तर्गत उन्हीं संतों को लिया गया है जिनका व्यक्तित्व किन्हीं विशेष विकृत विधि-विधानों, अंधविश्वासों और मिथ्याचारों से प्रभावित नहीं हुआ है। इनमें भी उन्हीं संतों के अध्ययन पर विशेष महत्त्व दिया गया है जिनमें काव्यत्व का स्फुरण और मधुर रहस्यभावना का उन्मेष पाया जाता है। इस दृष्टि से केवल निम्नलिखित कवि ही महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए हैं:—कबीर, धर्मदास, नानक, रैदास, दादू, रज्जब, सुन्दरदास, गरीबदास, यारी साहब, बुल्ला साहब, जगजीवन साहब, गुलाल साहब, भीखा साहब, पलटू साहब, दरिया साहब (बिहार वाले), मलूकदास, चरनदास, दयाबाई, सहजोबाई और तुलसी साहब।

उपर्युक्त समस्त कवियों की सामान्य प्रवृत्तियाँ एक सी ही थीं। तात्पर्य्य यह है कि इन

सन्तों की प्रमुख विशेषता थी। उन्होंने अपने समय की समस्त प्रचलित धार्मिक एवं दार्शनिक विचारधाराओं, साधनाओं और साधु सम्प्रदायों के सारभूत तत्त्वों को 'अनुभौ' के द्वारा आत्मसात् करके तथा उन्हें अपनी प्रतिभा और प्रयास के साँचे में ढालकर एक अभिनव रूप दे दिया है, जो उनकी मौलिक देन है। वे सत्य के अनन्य उपासक थे। उन्हें झूठ और मिथ्यात्व से घृणा थी। यही कारण है कि उन्हें जहाँ कहीं भी मिथ्यात्व दिखाई पड़ा है, वहाँ पर उन्होंने उसका डटकर विरोध किया है। सत्य के मंडन और असत्य के खंडन की उनकी यह प्रवृत्ति बहुत महत्त्व पूर्ण है।

निर्गुणियाँ सन्त लोग निर्गुणोपासक थे। उनमें निर्गुण शब्द का प्रयोग अधिकतर द्वैताद्वैत विलक्षण हृदयस्थ यौगिक ब्रह्म के लिए हुआ है। कुछ स्थलों पर वह निर्विशेष ब्रह्म का वाचक बनकर भी आया है। निर्गुण शब्द के इन दोनों अर्थों की दो परम्पराएँ उन्हें पृष्ठभूमि के रूप में प्राप्त हुई थीं। प्रथम अर्थ की परम्परा उन्हें नाथ पंथियों से मिली थी और दूसरे अर्थ की प्रेरणा का श्रेय अद्वैत वेदान्तियों को है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने प्रचलित साधनाओं में समन्वय स्थापित करने की भी चेष्टा की थी। यही कारण है कि उनकी साधना में ज्ञान, भक्तियोग और वैराग्य के समन्वित रूप पर ही विशेष बल दिया गया है। उन्होंने एक दूसरा सबसे बड़ा कार्य प्रचलित अखिल विचारधाराओं, साधनाओं और साम्प्रदायिक आचारों का सहजीकरण का किया था। अपनी सहजीकरण की इस प्रवृत्ति के कारण वे मध्यकालीन संतों में अलग खड़े दिखलाई पड़ते हैं। बुद्धिवादिता, सदाचरणप्रियता, सामाजिक और आध्यात्मिक साम्यवाद, विचारात्मकता आदि उनकी अन्य प्रमुख उल्लेखनीय प्रवृत्तियाँ हैं। उनकी इन्हीं विशेषताओं ने उन्हें एक सूत्र में बाँध रखा है। इसीलिए उनकी परम्परा अन्य संतों की परम्पराओं से विलक्षण और निरपेक्ष दिखाई पड़ती है।

"सगुण से पार्थक्य"

मध्ययुग में वैष्णव साधना दो रूपों में विकसित हुई थी—निर्गुण और सगुण। निर्गुणोपासना पद्धति शुद्ध वैष्णव नहीं रह पाई। उस पर अपने युग की समस्त साधनाओं और विचारधाराओं का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा। तंत्रमत, नाथपंथ और निरंजन पंथ ने उसका स्वरूप ही बदल दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि वह वैष्णव होते हुए भी उससे बिल्कुल भिन्न प्रतीत होने लगी। उसके विपरीत सगुणोपासना सभी प्रभावों से विनिर्मुक्त रहने के कारण शुद्ध वैष्णव ही बनी रही। संतों के दो वर्ग अलग अलग इन दोनों उपासनाओं को लेकर चले। इन दोनों ही वर्गों के संतों में काव्यत्व का सम्यक् स्फुरण हुआ। दोनों ही हिंदी-साहित्य की विभूति बने। एक वर्ग सगुण धारा के नाम से प्रसिद्ध हुआ और दूसरा निर्गुण के नाम से। इस रचना में जिन

संतों का अध्ययन किया गया है उनका सम्बन्ध निर्गुणधारा से है। पीछे हम इस धारा की स्थूल रूपरेखा का संकेत कर आये हैं। किन्तु उसका सम्यक् स्पष्टीकरण तब तक नहीं हो सकता जब तक उसके सगुणधारा से पार्थक्य विधायक तत्त्वों का संकेत न किया जाय।

सगुण और निर्गुण धाराओं का मौलिक भेद रूपोपासना से सम्बन्धित है।[1] निर्गुणियाँ संत द्वयरत्न द्वैताद्वैत विलक्षण अलख निरंजन, निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। उनका यह निर्गुणब्रह्म रूप और आकार से विहीन पुष्प की सुगन्ध से भी सूक्ष्मतर और अनिर्वचनीय है।[2] किन्तु यह वेदान्तियों के ब्रह्म के सदृश शुष्क तत्त्व मात्र नहीं है और न बौद्धों का शून्य ही है। वह सूक्ष्मतर और अनिर्वचनीय होते हुए भी करुणामय, गरीबनिवाज और भक्तवत्सल है। भक्तों के भगवान् की इन विशेषताओं से विशिष्ट होने पर भी वह उनसे सर्वथा भिन्न है। भक्तों के भगवान् 'बाहिर जामी' हैं किन्तु इनके राम 'अन्तरजामी' हैं। अन्तरजामी होते हुए भी वह भक्तों को दर्शन देते हैं।[3] उनका यह रूप अनिर्वचनीय होता है। भक्त उसका वर्णन नहीं कर सकता और यदि वह किसी प्रकार उसका वर्णन करने का प्रयास भी करे तो उसको कोई समझ नहीं सकता। यदि श्रोता कुछ समझने लगे तो उस पर उसे विश्वास नहीं होता।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों का निर्गुण उपास्य भगवान् और भक्त होते हुए भी दोनों से विलक्षण है। इसके विपरीत सगुणवादियों का उपास्य मानवों के बीच में उन्हीं के रूप में प्रतिष्ठित रहता है। मानव-जीवन की सम्पूर्ण शक्ति, सारा सौंदर्य और समस्त शील का पूर्ण आविर्भाव उन्हीं में मिलता है। यही कारण है कि एक का उपास्य केवल अनुभूति और साधनागम्य मात्र होने के कारण रहस्यपूर्ण[5] है और दूसरे का प्रत्यक्ष होने के कारण प्रेम और श्रद्धा का पात्र है।

---

[1] इस सम्बन्ध में देखिये—मध्यकालीन धर्मसाधना—डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ ११०

[2] कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ १०

जाके मुँह माथा नहीं नाहीं रूप और सरूप।
पुहुपबास से पातरा ऐसा तत्त अनूप॥

[3] कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ १५

'कबीर देख्या एक अंग महिमा कही न जाई।'

[4] कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ १७

'दीठा है तो कस कहूँ कह्यो न को पतियाइ'

[5] इन्हीं के प्रतिनिधि कबीर के रहस्यवाद के लिए देखा जा सकता है—

'कबीर और जायसी का रहस्यवाद'—डा॰ त्रिगुणायत

भगवान् का प्रथम रूप केवल बुद्धिवादी साधकों को ही आकृष्ट कर पाता है, जब कि उनका दूसरा रूप सम्पूर्ण सृष्टि को तन्मय और रसमग्न रखने की क्षमता रखता है। उपास्य रूप सम्बन्धी इस अन्तर ने निर्गुण और सगुण काव्यधाराओं को बिल्कुल अलग कर रखा है।

निर्गुण और सगुणवादी कवियों में स्वभावगत भेद भी दिखाई पड़ता है। निर्गुणवादी अधिकतर ज्ञानवादी, सत्यान्वेषी, अक्खड़, फक्कड़ और घुमक्कड़ होते थे। उनके व्यक्तित्व की ये विशेषतायें उनकी रचनाओं में स्पष्ट प्रतिबिंबित मिलती हैं। इसके विपरीत सगुणवादी कवि अधिकतर सामंजस्यवादी, रूढ़िवादी, प्रिय-सत्यवादी, प्रेमी जीव होते थे। उनके व्यक्तित्व की इन विशेषताओं ने उनकी रचनाओं को निर्गुणियाँ कवियों की रचनाओं की अपेक्षा अधिक कोमल, रागरंजित और मधुर बना दिया है। निर्गुण काव्यधारा सगुण काव्यधारा से इस दृष्टि से भी भिन्न है।

निर्गुण एवं सगुण कवियों में हमें रस सम्बन्धी अंतर भी दिखलाई पड़ता है। निर्गुण काव्य-धारा भक्ति, शांत और वीर[1] की वह त्रिवेणी है जिसमें अवगाहन कर मानव जाति अपने युग-युग के कालुष्य धो सकती है। इसके विपरीत सगुण काव्य धारा में हमें शृंगार और भक्ति के मधुमय सुहाग से उद्भूत माधुर्य भाव रूपी शिशु की रसमयी लीलाओं का वैभव मिलता है। उस वैभव की अनुभूतिमात्र से ही मानव का खिन्न मानस हरा और आह्लाद से विरक्त उठता है। एक धारा पतितपावनी है और दूसरी आनन्द विधायिनी यही दोनों में अंतर है। इसके अतिरिक्त दोनों धाराओं में प्रवृत्तिगत भेद भी दिखाई पड़ता है। निर्गुण काव्यधारा की आधारभूमि बुद्धिवादिता और विचारात्मकता है। इसके विपरीत सगुण काव्यधारा परम भावप्रवण श्रद्धामूलक और अनुभूति प्रधान है।

दोनों धाराओं में साधना और सिद्धि सम्बंधी अंतर भी है। निर्गुण काव्य-धारा का सम्बंध जीवन के साधना पक्ष से है, जब कि सगुण काव्यधारा में जीवन के सिद्धि पक्ष की झाँकी सजाई गई है। एक में उन समस्त साधनों और प्रयत्नों का उल्लेख किया गया है जिससे आनन्द ब्रह्म की उपलब्धि हो सकती है। दूसरे में स्वयं आनंदरूप ब्रह्म का ही वर्णन किया गया है। सगुण कवियों का लक्ष्य भगवान् के सगुण साकार आनन्दमय रूप की मधुमयी झाँकी का उद्घाटन करना था। उसके विपरीत निर्गुण कवियों का उद्देश्य अपने हृदयस्थ "मुनि मंडल साखी पुरुष" की स्वरानुभूति करना था। सगुण एवं निर्गुण धारा के इन भेदों ने ही एक दूसरे को परस्पर अलग कर रखा है।

---

१ भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखायें—प० परशुराम चतुर्वेदी—पृष्ठ ६५ से १०८ (१६५५)

• ऐतिहासिक स्थिति

ऐतिहासिक स्थिति से हमारा तात्पर्य निर्गुण काव्यधारा के काल सम्बन्धी सीमा और विस्तार के निर्णय से है। निर्गुण काव्यधारा के प्रमुख प्रवर्तक संत कबीर माने जाते हैं। किन्तु सच बात यह है कि निर्गुण काव्यधारा का बीजारोपण जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन सदन बेनी रामानन्द, धना, पीपा सेन कबीर से पहले ही कर चुके थे। कबीर ने इसे व्यवस्थित रूप देकर विकसित, प्रचारित और प्रसारित किया था। लोकप्रसिद्ध निम्नलिखित उक्ति इसी तथ्य की ओर संकेत कर रही है—

> " भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
> परगट किया कबीर ने सप्त द्वीप नवखंड॥

यदि हम इस उक्ति में कोई सार स्वीकार करते हैं तो निर्गुण काव्य-धारा का उदय १४ वीं शताब्दी से मानना पड़ेगा। हमारी दृष्टि में प्रसिद्ध लोकोक्तियाँ सदैव सत्य की आधारभूमि पर ही प्रतिष्ठित होती हैं। यह उक्ति तो हमें विशेष रूप से सारगर्भित प्रतीत होती है। वास्तव में निर्गुण काव्य-धारा का उदयकाल १४ वीं शताब्दी से मानना ही ठीक है। डा० हजारीप्रसाद जी का भी यही मत है।[1]

निर्गुण काव्य-धारा की अंतिम सीमा निश्चित करना थोड़ा कठिन मालूम होता है। क्योंकि निर्गुणियाँ संतों की परम्परा भारत में आज भी जीवित है— विशिष्ट पंथों के रूप में नहीं, अपितु उनकी जैसी प्रवृत्तियोंवाले साधु-संतों के रूप में भी। किन्तु संत तुलसी साहब के बाद के संतों में कोई ऐसा अलौकिक प्रतिभासम्पन्न संत नहीं हुआ जिसकी वाणी में उच्च काव्यत्व का उन्मेष मिलता हो। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संत तुलसी साहब के बाद यह धारा केवल नाममात्र को ही शेष रह गई थी। संत तुलसी साहब के संबंध में थोड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् उनका समय १८१७ विक्रमी से लेकर १८९९ विक्रमी तक मानते हैं, और कुछ १८२० से लेकर १९०० विक्रमी तक निश्चित करते हैं।[2] तुलसी साहब की स्थिति के संबंध में हम उपर्युक्त दोनों मतों में से चाहे किसी को स्वीकार करें, पर उनकी अन्तिम तिथि के संबंध में कोई विशेष मतभेद नहीं है। इस आधार पर हम निर्गुण काव्य-धारा की अन्तिम अवधि १९वीं शताब्दी का अंतिम चरण मान सकते हैं।

---

[1] देखिये—मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ ६७ (१९५२)

[2] देखिये—इसी ग्रन्थ में—तुलसी साहब का जीवनवृत्त

निर्गुण काव्य-धारा के प्रस्तावना कालीन संत-कवि

जयदेव :—भारतीय साहित्य में हमें कई जयदेव मिलते हैं—मान्यालोक नामक न्याय ग्रन्थ के रचयिता पक्षधर जयदेव[1], चन्द्रालोककार पीयूष जयदेव,[2] प्रसन्नराघव नामक नाटक के प्रणेता जयदेव, गीतगोविन्द के गायक जयदेव तथा संत जयदेव जिनके पद ग्रंथ साहब में संग्रहीत हैं तथा जिनका श्रद्धापूर्ण स्मरण कबीर[3] और गुरु अर्जुनदेव ने भी किया है।[4] विद्वानों के मतानुसार प्रथम तीन जयदेव एक ही व्यक्ति हैं।[5] अन्तिम दो के सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद हो सकता है। कुछ लोग इन दोनों को एक ही मानते हैं।[6] कुछ लोग अलग-अलग।[7] मैं इन दोनों को अलगः अलग व्यक्ति मानने के पक्ष में हूँ। अपने मत के समर्थन में यद्यपि मुझे अभी तक कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं उपलब्ध हुए हैं किंतु भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से दोनों में आकाश और पाताल का अन्तर दिखलाई पड़ता है। यदि हम शैली को लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिंब मानते हैं तो फिर हमें निर्विवाद रूप से दोनों को अलग अलग व्यक्ति ही मानना पड़ेगा।

संत जयदेव के अब केवल दो पद ही उपलब्ध हैं। ये पद ग्रन्थसाहब में संग्रहीत हैं। यहाँ पर उनमें से एक को उद्धृत कर देना आवश्यक है क्योंकि बिना उद्धृत किये हुए भाषा और शैली का रूप प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

---

[1] देखिये—'साहित्य दर्पण' की भूमिका—काणे—पृ० १८०

[2] 'पीयूषवर्ष' उपाधि का प्रयोग चन्द्रालोककार जयदेव के लिए ही किया जाता है। प्रमाणस्वरूप में हम चन्द्रालोक की निम्नलिखित पंक्तियें उद्धृत हैं—
'चन्द्रालोकमसु स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती ।।१।२।
चन्द्रालोक के एक प्रसिद्ध टीकाकार ने लिखा है—
'जयदेवस्यैव पीयूषवर्ष इति नामान्तरम्'
देखिये—चन्द्रालोक के १६ठे श्लोक की टीका 'चौखम्बा संस्कृत सिरीज से प्रकाशित।

[3] देखिये गुरुग्रन्थ साहब—पृष्ठ ६३०
'गुरु परसादी जैदेव नामा। भगति कै प्रेम इनही है जाना।

[4] गुरु ग्रन्थ साहब—पृष्ठ ११९२

[5] 'साहित्य दर्पण' की भूमिका—काणे—पृष्ठ १८०

[6] उत्तरी भारत की संत परम्परा—प० परशुराम चतुर्वेदी—पृष्ठ ९४

[7] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत इसी प्रकार है (मौखिक बातचीत के आधार)

ऐतिहासिक स्थिति

ऐतिहासिक स्थिति से हमारा तात्पर्य निर्गुण काव्यधारा के काल सम्बन्धी सीमा और विस्तार के निर्णय से है। निर्गुण काव्यधारा के प्रमुख प्रवर्तक संत कबीर माने जाते हैं। किन्तु सत्य बात यह है कि निर्गुण काव्यधारा का बीजारोपण जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, सदन कसाई रामानन्द, धना, पीपा सेन कबीर से पहले ही कर चुके थे। कबीर ने उसे व्यवस्थित रूप देकर विकसित, प्रचारित और प्रसारित किया था। लोकप्रसिद्ध निम्नलिखित उक्ति इसी तथ्य की ओर संकेत कर रही है—

> भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
> परगट किया कबीर ने सप्त दीप नवखंड॥

यदि हम इस उक्ति में कोई सार स्वीकार करते हैं तो निर्गुण काव्य-धारा का उदय १४ वीं शताब्दी से मानना पड़ेगा। हमारी दृष्टि में प्रसिद्ध लोकोक्तियाँ सदैव सत्य की आधारभूमि पर ही प्रतिष्ठित होती हैं। यह उक्ति तो हमें विशेष रूप से सारगर्भित प्रतीत होती है। वास्तव में निर्गुण काव्य-धारा का उदयकाल १४ वीं शताब्दी से मानना ही ठीक है। डा० हजारीप्रसाद जी का भी यही मत है।[1]

निर्गुण काव्य-धारा की अंतिम सीमा निश्चित करना थोड़ा कठिन मालूम होता है। क्योंकि निर्गुणियाँ संतों की परम्परा भारत में आज भी जीवित है—विविध पंथों के रूप में नहीं, अपितु उनकी जैसी प्रवृत्तियोंवाले साधु-संतों के रूप में भी। किन्तु संत तुलसी साहब के बाद के संतों में कोई ऐसा अलौकिक प्रतिभासम्पन्न संत नहीं हुआ जिसकी वाणी में सरस काव्यत्व का दर्शन मिलता हो। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संत तुलसी साहब के बाद यह धारा केवल नाममात्र को ही शेष रह गई थी। संत तुलसी साहब के संबंध में थोड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् उनका समय १८१७ विक्रमी से लेकर १८९९ विक्रमी तक मानते हैं, और कुछ १८२० से लेकर १९०० विक्रमी तक निश्चित करते हैं।[2] तुलसी साहब की स्थिति के संबंध में हम उपयुक्त दोनों मतों में से चाहे किसी को स्वीकार करें, पर उनकी अन्तिम तिथि के संबंध में कोई विशेष मतभेद नहीं है। इस आधार पर हम निर्गुण काव्य-धारा की अन्तिम अवधि १९वीं शताब्दी का अंतिम चरण मान सकते हैं।

---

[1] देखिये—मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ ६७ (१९५६)

[2] देखिए—इसी ग्रन्थ में—तुलसी साहब का जीवनवृत्त

निर्गुण काव्य-धारा के प्रस्तावना कालीन संत-कवि

जयदेव :—भारतीय साहित्य में हमें कई जयदेव मिलते हैं—मान्या लोक नामक न्याय ग्रन्थ के रचयिता पक्षधर जयदेव[1], चन्द्रालोककार पीयूष जयदेव,[2] प्रसन्नराघव नामक नाटक के प्रणेता जयदेव, गीतगोविन्द के गायक जयदेव तथा संत जयदेव जिनके पद ग्रन्थ साहब में संगृहीत हैं तथा जिनका श्रद्धापूर्ण स्मरण कबीर[3] और गुरु अर्जुनदेव ने भी किया है।[4] विद्वानों के मतानुसार प्रथम तीन जयदेव एक ही व्यक्ति हैं।[5] अन्तिम दो के सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद हो सकता है। कुछ लोग इन दोनों को एक ही मानते हैं।[6] कुछ लोग अलग-अलग।[7] मैं इन दोनों को अलग अलग व्यक्ति मानने के पक्ष में हूँ। अपने मत के समर्थन में यद्यपि मुझे अभी तक कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं उपलब्ध हुए हैं किन्तु भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से दोनों में आकाश और पाताल का अंतर दिखलाई पड़ता है। यदि हम शैली को लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिंब मानते हैं तो फिर हमें निर्विवाद रूप से दोनों को अलग अलग व्यक्ति ही मानना पड़ेगा।

संत जयदेव के अब केवल दो पद ही उपलब्ध हैं। ये पद ग्रन्थसाहब में संगृहीत हैं। यहाँ पर उनमें से एक को उद्धृत कर देना आवश्यक है क्योंकि बिना उद्धृत किए हुए भाषा और शैली का रूप प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

---

[1] देखिये—'साहित्य दर्पण' की भूमिका—काणे—पृ० १८०

[2] 'पीयूषवर्ष' उपाधि का प्रयोग चन्द्रालोककार जयदेव के लिए ही किया जाता है। प्रमाणस्वरूप में हम चन्द्रालोक की निम्नलिखित पंक्ति रख सकते हैं—
'चन्द्रालोकममुं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती ।।१।२।
चन्द्रालोक के एक प्रसिद्ध टीकाकार ने लिखा है—
'जयदेवस्यैव पीयूषवर्ष इति नामान्तरम्'
देखिये—चन्द्रालोक के १६ठे श्लोक की टीका 'चौखम्भा संस्कृत सिरीज से प्रकाशित।

[3] देखिये गुरुग्रन्थ साहब—पृष्ठ ११०
'गुरु परसादी जैदेव नामा। भगति के प्रेम इन्हही है जाना।

[4] गुरु ग्रन्थ साहब—पृष्ठ ११९२

[5] 'साहित्य दर्पण' की भूमिका—काणे—पृष्ठ १८०

[6] उत्तरी भारत की संत परम्परा—प० परशुराम चतुर्वेदी—पृष्ठ ९८

[7] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत इसी प्रकार है (मौखिक बातचीत के आधार)

चंद सत भेदिआ नाद सत पूरिआ सूर सत खोड़सा दतु कीआ ॥
अबल बलु तोड़िआ अचल चलु थपिआ अघड़ घड़िआ तहा अपिउ पीआ ॥
मन आदि गुण आदि वखाणिआ ॥ तेरी दुबिधा द्रिसटि संमानिआ ॥१॥ रहाउ ॥
अरधि कउ अरधिआ सरधि कउ सरधिआ सलल कउ सललि संमानि आइआ ॥
बदति जैदेव कउ रंमिआ ब्रहमु निरबाणु लिवलीणु पाइआ ॥२॥[1]

इस पद की भाषा-शैली की तुलना यदि गीत गोविन्द की भाषा शैली से की जाय तो बड़ा अन्तर दिखलाई पड़ेगा जो स्पष्ट और स्वत में दिखलाई देता है। गीतगोविन्द की मधुरता, पदलालित्य, लीला वर्णन, सगुण भावना आदि तत्त्वों की इस पद में धूमिल छाया भी नहीं मिलती है। कबीर[2] आदि निर्गुणियों कवियों ने जिन जयदेव का श्रद्धा के साथ स्मरण किया है वह निश्चय ही सन्तमत के कोई श्रेष्ठ महात्मा होंगे। वे लोग शृंगारी महाकवि जयदेव के प्रति इतना अधिक आकृष्ट नहीं हो सकते थे। यदि वे इस प्रकार के सगुणोपासक भक्त प्रिय होते तो फिर उन्होंने भाव के तत्कालीन भक्त[3] महाकवि विद्यापति के प्रति भी श्रद्धा प्रकट की होती। विद्यापति की गणना तो वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भी सन्तों में की जाती है। भक्तमाल में जयदेव का भी उल्लेख किया जाता है, वह भक्त या संत जयदेव का नहीं है, उसमें गीतगोविन्दकार महाकवि जयदेव की प्रशंसा की गई है।[4] हम महाकवि जयदेव को सन्त जयदेव नहीं मान सकते। सन्त जयदेव निश्चय ही अन्य कोई महात्मा रहे होंगे जिनको कबीर जैसे सन्त भक्ति के रहस्यों का वेत्ता मानते हैं।[5] वास्तव में यह हमारा दुर्भाग्य है कि आजकल सन्त जयदेव की अन्य रचनाएँ

---

[1] गुरु ग्रन्थ साहब—पृष्ठ—११०६ (अमृतसर १९५१)

[2] कबीरग्रन्थावली—परिशिष्ट—पृष्ठ २१७
'जयदेवनामा विप्रसुदामा तिनकौ कृपा भई है अपार'

[3] डा० उमेश मिश्र ने विद्यापति का जन्मकाल सं० १३९५ माना है। कबीर का जन्मकाल १४५५ माना गया है। जयदेव कबीर से ६५ वर्ष बड़े हुए। देखिये—विद्यापति ठाकुर—डा० उमेश मिश्र हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद—१९३७ (पृष्ठ ३५)

[4] देखिये 'भक्तमाल' सटीक—पृष्ठ ६१
'जयदेव कवि नृप चक्रवत्ति खण्डमण्डलेश्वर आन कवि
प्रचुर भयो तिहुँ लोक गीत गोविन्द उजागर
काव्य नव रस्स सरसश्रृंगार का सागर— इत्यादि

[5] हिन्दी गुरुग्रन्थ साहिब—अमृतसर—१९५१, पृष्ठ ११०
'गुरु प्रसादी जैदेव नामा भगति के प्रेम इनही है जाना'

उपलब्ध नहीं है और उनके सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रामाणिक तथ्य भी उपलब्ध नहीं है। विशेष अनुसन्धान करने से शायद सन्त जयदेव के सम्बन्ध में कुछ और बातों का पता लगे। इस समय तो हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह कोई उच्चकोटि के निर्गुणोपासक सन्त थे। इन्होंने कबीर आदि निर्गुणियाँ कवियों को बलवती प्रेरणा प्रदान की थी।

सन्त नामदेव—संत ज्ञानेश्वर के समकालीन सन्तों में संत नामदेव भी बहुत प्रसिद्ध हैं।[1] यह पंढरपुर के निवासी किसी दामसेटी नामक दर्जी के पुत्र थे। डा० भंडारकर[2] के मतानुसार इनका जन्म नरसी, बमनी नामक स्थान में सं० ११२७ (सन् १२७०) में हुआ था। इनकी जाति के सम्बन्ध में मतभेद है। भक्तमाल में इन्हें छीपा जाति का कहा गया है। कुछ लोगों ने उन्हें क्षत्री जाति का सिद्ध करने की चेष्टा की है।[3] वैराग्य ग्रहण करने के पूर्व वे गृहस्थ भी थे। इनकी पत्नी का नाम राजाबाई था। इन राजाबाई से इनके चार पुत्र भी हुए थे। इनके नाम क्रमशः नारायण, महादेव, गोविन्द और विट्ठल थे।[4] इनके वैराग्य ग्रहण करने के सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है। कहते हैं कि पहले यह एक बहुत बड़े डाकू थे। किन्तु एक दिन एक घटना ने इनके हृदय को इतना प्रभावित कर दिया कि वे घर-बार छोड़कर वैरागी हो गये और देशभ्रमण को निकल पड़े।[5] प्रसिद्ध है कि देहली में उनकी मुहम्मद बिन तुगलक से भी भेंट हुई थी।[6] उत्तर भारत का भ्रमण कर ये पंजाब में रहने लगे थे।[7] मेकालिफ साहब का कहना है कि नामदेव ने अपने पंजाब निवास काल में बहुत से हिन्दी पद कहे थे, ग्रंथसाहब में इन्हीं का संग्रह किया गया है।[8] इनके गुरु के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। भक्तमाल के अनुसार इनके गुरु संत ज्ञानेश्वर थे।[9] मैकालिफ साहब विसोबा खेचर नामक एक नाथपंथी संत

[1] नामदेव नाम के बहुत से सन्त हुए हैं। निर्गुण विचारधारा वाले सन्त नामदेव सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। देखिए—
उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—प० परशुराम चतुर्वेदी—पृष्ठ १०५

[2] वैष्णविज्म शैविज्म—भंडारकर—पृष्ठ ९२

[3] नामदेव वचनावली—ब्रजेश्वर वर्मा—पृष्ठ १६ भूमिका

[4] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृष्ठ १०५ १०६

[5] सिख रिलीजन—मैकालिफ—भाग ६, पृष्ठ ११ २०

[6] नामदेव—जी० ए० नटेसन—मद्रास—पृष्ठ २०

[7] मेडीवल मिस्टीसिज्म पृष्ठ ५५ (१९२९)

[8] सिख रिलीजन—भाग ६—पृष्ठ २०

[9] भक्तमाल—हरिभक्ति प्रकाशिका—ज्वालाप्रसाद वर्मा—पृष्ठ २९७ (सं० १९८१)

को इनका गुरु मानने के पक्ष में हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक कथा भी दी है। जनश्रुति है कि जब नामदेव जी विसोबा खेचर के दर्शन करने गये तो देखा कि वे मन्दिर में शिवलिङ्ग के दोनों ओर पैर डाले हुए पड़े हुए हैं। उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ। किन्तु जब उन्होंने उनकी आज्ञा से उनके पैर हटाने की चेष्टा की तब उनके पैरों के साथ-साथ शिवलिङ्ग भी घूमने लगा। वे उनके इस माहात्म्य को देखकर उनके चरणों पर गिर पड़े और उनके शिष्य हो गये।[1] इनकी निर्वाण-तिथि के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। आचार्य क्षितिमोहन ने संवत्[2] १५२१ को इनकी निर्वाण तिथि माना है। मराठी इतिहासकारों के अनुसार इनका निधन संवत् १४०७ में हुआ था।[3] निश्चित प्रमाणों के अभाव में हम इस संबंध में किसी निश्चित तिथि का निर्देश नहीं कर सकते।

नामदेव की की हिन्दी रचनाएँ बहुत कम उपलब्ध हैं। उनके ६१ पद तो गुरु ग्रन्थसाहब में संकलित मिलते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पद और भी पाये जाते हैं। जनश्रुति है कि युवाकाल में यह सगुणोपासक थे किन्तु वृद्धावस्था में विसोबा खेचर के प्रभाव से यह निर्गुणवादी हो गये थे। इनकी हिन्दी रचनाएँ वृद्धावस्था की ही जान पड़ती हैं। उनमें हमें निर्गुण विचारधारा के बहुत से तत्त्व उपलब्ध होते हैं। वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—(१) भेद-भावविहीनता (२) ब्रह्म की निर्गुणता (३) अनन्य प्रेम-भावना (४) सर्वात्मवाद और अद्वैत भावना (५) भक्ति-भावना (६) नाम-साधना (७) सेव्य-सेवक भाव (८) रहस्य भावना (९) समाज-सुधार की भावना।

(१) भेद-भावविहीनता—नामदेव स्वयं छीपी जाति के होने के कारण वर्णाश्रम व्यवस्था में विश्वास नहीं करते थे। फिर भक्ति-क्षेत्र में वर्णाश्रम व्यवस्था की उपेक्षा के भाव का बीजारोपण भागवत में तथा रामानुज की वाणी में पहले से हो चुका था। नामदेव ने उस बीज को अपनी पीयूषवर्षिणी वाणी से सींचने की चेष्टा की। वे भक्ति-क्षेत्र में जाति-पाँति के झगड़े को निरर्थक समझते थे। उन्होंने स्पष्ट लिखा है मैं जाति-पाँति को लेकर क्या करूँ। मैं तो दिन-रात राम का नाम जपता रहता हूँ।[4]

---

1 इंडियन थीइज्म—मैकनिकल साहब—पृष्ठ ११४
2 मेडीवल मिस्टीसिज्म—क्षितिमोहन सेन—पृष्ठ ५२
3 सिख रिलीजन—मैकालिफ—भा० ६ पृष्ठ ३०
4 सन्त सुधासार—भाग १—पृष्ठ ४१
'कहा करौं जाती कहा करौं पाँती।
राम को नाम जपो दिन राती॥'

(२) ब्रह्म की निर्गुणता—नामदेव ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप में विश्वास करते थे। इस निर्गुण स्वरूप का वर्णन उन्होंने अनेक प्रकार से अनेक स्थलों पर किया है। उस निर्गुण का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—यह निर्गुण ब्रह्म अनेक और एक सब कुछ है। सर्वत्र उसी का प्रकाश दिखाई पड़ता है।[1]

(३) अनन्य प्रेम-भावना—नामदेव प्रेमवादी संत थे। उन्होंने अपनी साधना में सबसे अधिक बल प्रेम तत्त्व को दिया है। 'हे राम तुम्हारी मूर्ति और नाम मुझे उसी प्रकार से अनन्य भाव से प्रिय हैं, जिस प्रकार मारवाड़ी को जल, ऊँट को लता, मृग को नींद, पृथ्वी को वृष्टि, भ्रमर को फूलों की गंध, कोयल को आम की बौर और चकई को सूर्योदय प्रिय होते हैं। इत्यादि[2]

(४) सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद—नामदेव में इन दोनों वादों की प्रतिष्ठा दृढ़ भूमिका पर पाई जाती है। सर्वात्मवाद के उदाहरण के रूप में उनकी निम्नलिखित पंक्ति ले सकते हैं—'सब गोविन्द है सब गोविन्द है गोविन्द बिनु नहिं कोई'।[3] अद्वैतवाद के लिए उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत कर सकते हैं :—

कहत नामदेव हरि की रचना देखहु रिदै बिचारी।
घट-घट अन्तरि सरब निरन्तरि केवल एक मुरारी ॥[4]

(५) भक्ति भावना—नामदेव एक महान् भक्त थे। उनकी साधना का मूल स्वर भक्ति सम्बन्धी ही है। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है —

भगति भाव मैं जीवनि जीयों।
राम नाम बिनु घरी न जीवों ॥

---

[1] सन्त सुधा सार—भाग १ पृष्ठ ५९
एक अनेक बिआपक पूरक जित देखौ तित सोई।

[2] सन्त सुधा सार—भाग १—पृष्ठ ५१
"मारवाड़ि जैसे नीर बालहा, बेलि बालहा करहला।
ज्यों कुरंग निसि नाद बालहा, त्यूं मेरे मन रमइया ॥
चकवी को जैसे सूर बालहा, मानसरोवर हंसला।
ज्यों तरुणी का कन्त बालहा त्यों मेरे मन रमइया ॥"

[3] सन्त सुधा सार—पृष्ठ ४५, पद १

[4] सन्त सुधा सार—पृष्ठ ४५, छंद १

भगति करो हरि के गुन गावो।
आठ पहर अपने खसम को ध्यावो ॥[1]

(६) नाम-साधना—अभी भक्ति-भावना को स्पष्ट करने के प्रसंग में हमने जो उद्धरण दिया है उसी में एक पंक्ति आई है—'राम नाम बिन घरी न बीतो' यह पंक्ति उनकी नाम-साधना की ओर ही संकेत कर रही है।

(७) सेव्य-सेवक भाव—नामदेव ने अपनी भक्ति में सेव्य-सेवक भाव को विशेष महत्त्व दिया है। ग्रंथसाहब में संग्रहीत बहुत पदों से यह भाव स्पष्ट प्रगट होता है।

(८) रहस्य भावना—रानाडे ने महाराष्ट्र के रहस्यवादी संतों के विवेचन के अंतर्गत नामदेव का भी उल्लेख किया है। उन्होंने उनके रहस्यवाद को भावात्मक (वैमांटिक)[2] रहस्यवाद कहा है। नामदेव ने अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति प्रायः दाम्पत्य प्रतीकों से की है। उदाहरण के लिए हम उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं:—

मैं बौरी मेरा राम भरतार।
रचि रचि ताको करौ सिंगार ॥[3] इत्यादि

(९) समाज-सुधार भावना—नामदेव की बानियों में हमें मिथ्याचार के खण्डन के साथ-साथ लोक-संग्रह की भावना मिलती है। इन दोनों ने ही उन्हें सुधारक का रूप दे दिया था। मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए उन्होंने एक स्थल पर लिखा है—'किसकी पूजा करूँ मुझे तो कोई दूसरा दिखाई ही नहीं पड़ता। लोग एक पत्थर को पूजते हैं और दूसरे पत्थर पर पैर रखते हैं। यदि पत्थर देवता हो सकता है तो हम भी देवता हो सकते हैं।'[4] इसी प्रकार लोक-संग्रह की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने स्थान-स्थान पर सदाचार का उपदेश दिया है। एक स्थल पर वे लिखते हैं—

[1] सन्त सुधा सार—पृष्ठ ७९, पंक्ति १
[2] मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र—पृष्ठ २८६
[3] सन्त सुधा सार—पृष्ठ ७८
[4] सन्त सुधा सार—पृष्ठ ५७
"किसहूँ पूजूँ दूजा नजर न आई
एकै पाथर कीजै भाव दूजै पाथर धरिये पाँव
जो वो देव तो हम भी देव कहै नामदेव हम हरकी सेव।"

"हे मन, तू विषय-वासनाओं के बीहड़ वन में क्यों फँस रहा है। तू मोह-रूपी ठग की मूर खाकर भूल गया है। तू संसार में इसी प्रकार माया-मोह के जाल में फँसा हुआ है जिस प्रकार मछली जल में रहती हुई जाल में फँस जाती है।"[1] इत्यादि।

यदि नामदेव की बानियों का और सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि नामदेव शुद्ध निर्गुणधारा के ही कवि थे। यदि उन्हें निर्गुणधारा का प्रवर्तक न भी माना जाय तो भी उन्हें उसकी आधार-भूमि का एक दृढ़ स्तम्भ तो कह सकते हैं। डा० मोहनसिंह का यह कहना है कि कबीर आदि नामदेव से बहुत प्रभावित हुए हैं, पूर्ण सार्थक है।[2]

त्रिलोचन—ग्रंथ साहब में संत त्रिलोचन की भी कुछ रचनाएँ संकलित हैं। यह पंढरपुर के निवासी एक वैश्य थे। इनका जन्मकाल संवत् १३२४ के आस-पास निश्चित किया जाता है।[3] फर्कुहर साहब ने इन्हें नामदेव का समकालीन माना है। भक्तमाल में इन्हें नामदेव का गुरुभाई बतलाया गया है। उसमें लिखा है कि दोनों ही संतों ने संत ज्ञानदेव से दीक्षा ली थी।[4] सिक्ख गुरु अर्जुन देव[5] ने तथा संत रैदास[6] ने इनके प्रति श्रद्धा प्रकट की है। इससे इनका महत्त्व स्पष्ट है। वास्तव में वह एक उच्च कोटि के संत थे, यह हमारा दुर्भाग्य है कि उनकी अन्य रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं।

सदन—कबीर के पूर्ववर्ती संतों में संत सदन का नाम भी बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। ग्रंथसाहब में इनके भी कुछ पद संगृहीत हैं। यह जाति के कसाई थे। कहते हैं कि जिस सालिग्राम की बटिया की पूजा करते थे उसी से वह मांस भी तौलते थे। एक दिन एक साधु ने उनकी श्रद्धा भक्ति देखकर उन्हें उपदेश दिया। उस उप-

[1] काहे रे मन बिखया बन जाइ
भूलौ रे ठग मूरी खाई
जैसे मीन पानी में रहै।—संत सुधा सार—पृष्ठ ३८

[2] कबीर एण्ड दी भक्ति मूवमेण्ट—डा० मोहनसिंह—भाग १—पृष्ठ ३८

[3] एन आउट लाइन आफ रिलीजस लिटरेचर आफ इण्डिया—
जे० एन० फर्कुहर, पृष्ठ १९० २००

[4] भक्तमाल—पृष्ठ ३३३
'विष्णु स्वामी सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गम्भीर मति।
नामदेव त्रिलोचन शिष्य सूर शशि सदृश उजागर ॥'

[5] देखिये—गुरु ग्रन्थसाहब—अमृतसर (१९५१) पृष्ठ ११९२

[6] 'नामदेव कबीर त्रिलोचन सधना सैन तरे'—रविदास

वेश से उनके हृदय-कपाट खुल गये और उसी दिन से वह संत हो गये। डा० रामकुमार वर्मा ने इनका स्थितिकाल १४वीं शताब्दी का मध्यभाग निश्चित किया है।[1]

बेणी—ग्रंथसाहब में जिन संतों की बानियाँ संग्रहीत हैं उनमें से बेणी भी एक हैं। अभी तक इनका कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं हो सका है। किन्तु गुरु अर्जुन देव ने अपने पूर्ववर्ती संतों के उल्लेख के प्रसंग में इनके प्रति भी श्रद्धा प्रकट की है।[2] ग्रंथसाहब में इनके जो पद संग्रहीत हैं उन पर यौगिक प्रभाव कुछ अधिक दिखाई पड़ता है। यह संभवतः गोरख के परवर्ती और रामानन्द के पूर्ववर्ती संत थे।

रामानन्द—मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में स्वामी रामानन्द का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। वह युगप्रवर्तक आचार्य थे। हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल के तो वह एकमात्र कर्णधार ही थे। उसकी सगुण और निर्गुण धाराओं का विकास इन्हीं की प्रेरणा के फलस्वरूप हुआ था। इनके जन्म के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। भक्तमाल सटीक में संवत् १३५६ को इनकी जन्म-तिथि माना गया है।[3] ग्रियर्सन साहब[4] एवं डाक्टर भंडारकर[5] भी भक्तमाल के इस मत से सहमत हैं। फर्कुहर साहब[6] और की साहब[7] का मत इनसे भिन्न है। उनके अनुसार इनका स्थितिकाल १४०० से लेकर १४७० ई० तक माना जाना चाहिए। किन्तु इनके मत को अधिक मान्यता नहीं मिल सकी है। अधिकांश विद्वान् भक्तमाल सटीक के मत के ही पक्ष में हैं। मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। मेरी अपनी धारणा है कि वे संवत् ११८५ के आसपास उत्पन्न हुए थे। मेरे इस मत के आधार प्रसंग-पारिजात[8] नामक ग्रंथ और वह जनश्रुति है जिसके अनुसार रामानन्द की आयु १२ वर्ष की मानी जाती है। प्रसंग-पारिजात नामक ग्रंथ के लेखक एक साधु हैं। इन्होंने लिखा है कि रामानन्द संवत् १२०५ में स्वर्गवासी हुए थे। उन्होंने यह भी लिखा है कि वह स्वामी रामानन्द की चर्या में स्वयं उपस्थित था। एक साधु की बात में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता।

[1] हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृष्ठ १११
[2] गुरु ग्रन्थसाहब—सवइया (११७१) पृष्ठ ११९२
[3] श्री भक्तमाल सटीक—पृष्ठ २०१
[4] वैष्णविज़्म शैविज़्म—पृष्ठ ६६
[5] जरनल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी (१९२०) पृष्ठ १११
[6] एन आउटलाइन आफ रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया
[7] कबीर एण्ड हिज फालोवर्स—पृष्ठ २७
[8] रामानन्द और प्रसंग-पारिजात—हिन्दुस्तानी अक्टूबर, १९३२

जनश्रुति के अनुसार रामानन्द ने १२० वर्ष की लम्बी आयु प्राप्त की थी। १५०५ में १२ वर्ष घटाने पर १३८५ शेष रहते हैं। मेरी दृढ़ धारणा है कि स्वामी रामानन्द का जन्म संवत् १३८५ में ही हुआ था। कबीर रामानन्द के शिष्य थे। कबीर का जन्म संवत् १४५५ में माना जाता है। कबीर के जन्मकाल के समय रामानन्द की आयु लगभग ७० वर्ष की होगी। गुरु और शिष्य की आयु में इतना अंतर होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसके विपरीत यदि १३५६ को रामानन्द की जन्म-तिथि स्वीकार किया जाय तो कबीर को रामानन्द का समकालीन सिद्ध करने में थोड़ी कठिनाई पड़ेगी। उस अवस्था में कबीर के जन्मकाल के समय में रामानन्द की आयु १०० वर्ष से ऊपर माननी पड़ेगी। फिर कबीर ने लगभग २० २५ वर्ष की आयु में शिष्यत्व भी ग्रहण किया होगा। उस दशा में कबीर के रामानन्द का शिष्य होने में संदेह हो सकता है। अतएव उनका जन्मकाल संवत् १३८५ को ही मानना चाहिए।

जो लोग कबीर का जन्मकाल १३५६ मानते हैं उनमें से अधिकांश विद्वान्[1] कबीर को रामानन्द का शिष्य स्वीकार नहीं करते। किन्तु मैं इस मत से सहमत नहीं हूँ। कबीर रामानन्द के ही शिष्य थे। भक्तमाल[2], दबिस्ताने मजाहिब[3] और तजकीरतुल फुकरा[4] नामक ग्रंथों में कबीर को रामानन्द का ही शिष्य कहा गया है। कबीर की वाणियों से भी यही प्रकट होता है कि वह रामानन्द के ही शिष्य थे। डा० श्याम सुन्दर दास भी कबीर को रामानन्द का ही शिष्य मानते थे।[5]

रामानन्द ने बहुत सी संस्कृत-रचनाएँ लिखी थीं। इन रचनाओं में श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर, रामार्चन पद्धति, आनन्द भाष्य, योग चिन्तामणि, रामरक्षा स्तोत्र सिद्धांतपटल विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रायः लोग प्रथम दो को ही प्रामाणिक मानने के पक्ष में हैं।[6]

रामानन्द की विचारधारा का खोजपूर्ण अध्ययन करनेवाले कुछ सज्जनों का कहना है कि उनमें भक्ति-भावना को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। उस भक्ति

---

[1] देखिये—(१) कबीर एण्ड हिज फालोअर्स—पृष्ठ ११, १७
(२) वैष्णविज्म शैविज्म—पृष्ठ ६६

[2] भक्तमाल छप्पय—पृष्ठ ११

[3] पृष्ठ ११, १७

[4] तजकीरुल फुकरा—पृष्ठ

[5] कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ २०

[6] रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव (अप्रकाशित थीसिस) पृष्ठ १२५

में ज्ञान और कर्म की उपेक्षा की गई है।[1] इन्होंने उनकी विचारधारा में यौगिक तत्त्वों की मान्यता स्वीकार नहीं की है। किन्तु मेरी अपनी यह धारणा है कि रामानन्द ज्ञान, भक्ति, योग एवं वैराग्य—इन चारों के मिलनबिन्दु थे। उनकी इस समन्वय की प्रवृत्ति ने सभी परवर्ती संतों को प्रभावित किया है। जहाँ तक भक्ति और वैराग्य की बात है, इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं। सभी विद्वानों की निश्चित धारणा है कि रामानन्द की विचारधारा में इन दोनों तत्त्वों को विशेष महत्त्व दिया गया है। रही योग के समन्वय की बात, इसको सागीय बड़थ्वाल अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर चुके हैं कि[2] रामानन्द योग-साधना में भी विश्वास करते थे। जहाँ तक ज्ञान तत्त्व का सम्बन्ध है, आनन्दभाष्य एवं अध्यात्मभाष्य के पढ़ने से ज्ञात हो जाता है कि रामानन्दी सम्प्रदाय में उसकी उपेक्षा नहीं की गई है[3]। अतएव यह मानने में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए कि रामानन्द, ज्ञान भक्ति, वैराग्य और योग के मिलनबिन्दु थे।

समस्त परवर्ती सन्त लोग उनकी इस प्रवृत्ति से पूर्णतया प्रभावित हैं। रामानन्द ने भक्ति-क्षेत्र में सर्वोत्तम धर्म की प्रतिष्ठा की ओर भी संकेत किया था।[4] सन्त लोगों को उनकी इस प्रवृत्ति से भी प्रेरणा मिली होगी। सन्तों का राम शब्द भी रामानन्द की देन है।[5]

रामानन्द ने एक सम्प्रदाय प्रवर्तित किया था जो श्री सम्प्रदाय, रामानन्दी सम्प्रदाय और रामावत सम्प्रदाय से प्रसिद्ध है। कुछ लोगों के मतानुसार ये तीनों अलग-अलग हैं। रामानन्दी सम्प्रदाय के अनुयायी लोग कुछ अवधूत[6] कहलाते हैं

---

[1] वही, पृष्ठ २६५।

[2] योगप्रवाह—पृष्ठ

[3] आनन्दभाष्य, १।१।२ में ज्ञान-पक्ष की महत्ता प्रकारांतर से व्यक्त की गई है।

[4] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड एथिक्स, वाल्यूम—९, पृष्ठ—२८७

[5] देखिए आनन्दभाष्य—१।१।१ 'इस राम का ही एकमात्र ब्रह्म कहा गया है।

[6] अवधूत शब्द का प्रयोग शैव और वैष्णव दोनों सम्प्रदायों के सन्तों के लिए किया जाता है। शैव अवधूत अपने नाम बदले रहते हैं। जीवन के प्रति वे पूर्ण उदासीन रहते हैं। वस्त्रादि भी बहुत कम पहनते हैं। गोरखनाथ सदृश अवधूत कहे जाते हैं।
वैष्णव अवधूत रामानन्दी साधु हैं। रामानन्द ने सन्तों को अवधूत कहा है। ये सब प्रकार के धार्मिक और सामाजिक भेदभावों से तटस्थ रहते हैं।
देखिये—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड एथिक्स—भाग ९—पृष्ठ १९६

और कुछ वैरागी।[1] इन दोनों साधु-सम्प्रदायों में वेशभूषा और मान्यता-सम्बन्धी अन्तर भी है। रामानन्द के इन दोनों साधु-सम्प्रदायों ने निर्गुणियाँ सन्तों को कुछ क्रियात्मक और कुछ प्रतिक्रियात्मक प्रेरणायें अवश्य प्रदान की होंगी। रामानन्द के बहुत से शिष्य थे। इनमें से अधिकांश की विचारधारा निर्गुण ही थी। इनमें धन्ना, पीपा और सेन की विशेष ख्याति है।

धन्ना—रामानन्द के शिष्यों में धन्ना साहब का स्थान भी ऊँचा है। यह जाति के जाट थे। इनका जन्मकाल १४७२ के आस-पास निश्चित किया जाता है।[2] भक्तमाल और उसकी टीकायें इनके सम्बन्ध में बहुत-सी अलौकिक घटनायें दी गई हैं। गुरु अर्जुनसिंह ने इनके सरल स्वभाव की प्रशंसा की है। गुरु ग्रन्थसाहब में इनके तीन पद संकलित हैं।

पीपा—यह भी कबीर के समकालीन सन्त हैं। रामानन्द के शिष्यों में इनका भी स्थान महत्त्वपूर्ण है। वैराग्य ग्रहण करने के पूर्व यह गगरौन गढ़ के अधिपति थे। भक्तमाल में इनके सम्बन्ध में भी बहुत-सी प्रशंसात्मक बातें कही गई हैं। उसमें उन्हें एक उच्च कोटि का सन्त बतलाया गया है।[3] फर्कुहर साहब ने इनका जन्मकाल संवत् १४८२ निश्चित[4] किया है। मैं भी इसी तिथि के पक्ष में हूँ। ग्रन्थ साहब में इनके भी कुछ पद संग्रहीत हैं।

सेन—यह भी रामानन्द के शिष्य थे। इनका स्थितिकाल कबीर से कुछ पहले माना जाता है। यह जाति के नाई थे और बांधवगढ़ के राजा की सेवा करते थे। इनके वैराग्य ग्रहण के सम्बन्ध में भक्तमाल[5] में एक सुन्दर कथा दी हुई है। कहते हैं एक बार साधु-सन्तों की सेवा में लगे रहने के कारण यह अपने स्वामी के पास समय पर नहीं पहुँच सके। भक्त की असमर्थता देखकर भगवान् राम ने सेन का रूप धारण करके उचित समय पर ही राजा की सेवा स्वयं की। इस रहस्य का पता उस समय चला जब कि उन्होंने विलम्ब के लिए राजा से क्षमा-याचना की। ग्रंथसाहब में इनके जो पद संग्रहीत हैं, उनसे उनकी उत्कट भक्ति-भावना का पता चलता है। वास्तव में यह एक उच्च कोटि के भक्त संत थे।

---

[1] इनका विवरण देखिए—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग—१ पृष्ठ ११०

[2] दि सिख रिलीजन—मैकालिफ—भाग ६—पृष्ठ १०६

[3] भक्तमाल—नाभादास—(सीतारामशरण भगवानप्रसाद सम्पादन) पृष्ठ ५०१

[4] एन आउटलाइन आफ रिलीजस लिटरेचर आफ इण्डिया—फर्कुहर—पृष्ठ ३२

[5] भक्तमाल—नाभादास (सीतारामशरण भगवानप्रसाद संस्करण) पृष्ठ ४१५

निर्गुण काव्यधारा के प्रसिद्ध कवि

"सन्त कबीर" (संवत् १४५५-१५७५)

हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा के प्रवर्तक कवि संत कबीर का जीवनवृत्त बड़ा विवादग्रस्त है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने तो कबीर के अस्तित्व पर ही संदेह किया है। किन्तु इस प्रकार की धारणा भ्रांतिमूलक है। महात्मा कबीर हम लोगों के मध्य उसी प्रकार अवतरित हुए थे जिस प्रकार राम, कृष्ण और बुद्ध हुए थे। भारत के महामानवों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कबीर की जन्मतिथि का निर्देश केवल "कबीर चरितबोध[1]" में किया गया है। इसके अतिरिक्त गुलाम सरवर ने अपनी खजीन असफिया[2] में भी कबीर की जन्मतिथि का निर्देश किया है। प्रथम ग्रंथ के अनुसार ये संवत् १४५५ में अवतरित हुए थे और दूसरे में उनका जन्मकाल १५६४ बतलाया गया है, जो सर्वथा असम्भव है। संतसाहित्य में कहीं पर भी इनकी जन्मतिथि का उल्लेख नहीं मिलता है। एक कथन से इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि यह[3] जयदेव और नामदेव[4] के परवर्ती थे। जयदेव और नामदेव का समय क्रमशः बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी का अंतिम चरण माना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कबीर चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण अथवा तेरहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुए थे। संत कबीर रामानन्द और सिकंदर लोदी के समकालीन थे। रामानन्द का समय मैं १३५६ से लेकर १५०५ के बीच में मानता हूँ।[5] कबीर की विचारधारा में मैं अपने इस मत का सतर्क प्रतिपादन कर चुका हूँ। सिकंदर लोदी का समय संवत् १५४६ से लेकर १५७४ के आस-पास माना गया है।[6] यदि हम 'कबीर चरितबोध' वाली तिथि को स्वीकार कर लें और कबीर की आयु १२० वर्ष मान लें तो वे दोनों ही के समकालीन सरलता से सिद्ध हो जाते हैं। अब केवल आर्कियालौजिकल सर्वे में दी हुई कबीर के रोजा बनवाये जाने की तिथि की समस्या रह जाती है। आर्कियालौजिकल सर्वे[7] आफ इण्डिया में लिखा है कि बिजली खाँ ने संवत् १५०७ में कबीर

---

[1] कबीर चरितबोध—पृष्ठ ६

[2] खजीन असफिया—१२२

[3] मानसिज्म एण्ड हिन्दूइज्म—मोनियर-विलियम—पृष्ठ १३६

[4] वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स—डा० भंडारकर—पृष्ठ ९२

[5] कबीर की विचारधारा—डा० गोविन्द त्रिगुणायत—पृष्ठ १० ११

[6] हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा पृष्ठ ३१५

[7] आर्कियालौजिकल सर्वे आफ इण्डिया (न्यू सिरीज) नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज, भाग—२, पृष्ठ २२४

का रोज़ा बनवाया था। यदि यह मान लिया जाये कि १५०७ में कबीर सतलोकगामी हो चुके थे तो कबीर की आयु केवल ५२ साल माननी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में वह सिकन्दर के समकालीन नहीं माने जा सकेंगे। किन्तु अन्तस्साक्ष्य के आधार पर इन दोनों का मिलना प्रमाणित होता है।[1] हमारी समझ में बिजलीखाँ ने कबीर के जीवनकाल में ही उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए उनका स्मारक बनवाया होगा। कबीर का जन्म वास्तव में १४५५ में ही हुआ था और उन्होंने सौ वर्ष से ऊपर की ही आयु प्राप्त की थी। अनन्तदास ने अपनी परिचई में कबीर की आयु १२० वर्ष ही बतलाई है।[2] कबीर जैसे संयमी महात्मा के लिए इतनी आयु अधिक नहीं है। मैं भी उनकी इतनी ही आयु मानता हूँ। इस दृष्टि से उनकी निधन-तिथि १५७५ निश्चित होती है। कबीर के जन्मस्थान के संबंध में अधिकांश लोगों का विश्वास है कि वह बनारस में उत्पन्न हुए थे। किन्तु मेरी दृढ़ धारणा है कि उनकी जन्मभूमि मगहर थी। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है कि सारा जीवन काशी में व्यतीत करके मगहर चले गये।[3] एक दूसरे स्थल पर उन्होंने यह भी लिखा है कि मुझे जीवन में सबसे पहले मगहर के दर्शन हुए थे, बाद में मैं फिर काशी में आकर बस गया।[4] वास्तव में यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपनी जन्मभूमि पर ही मरना चाहता है। सम्भवतः इसीलिए कबीर अन्त समय में मगहर चले गये थे और वहीं पर वह सतलोकगामी भी हुए।

कबीर की जाति के सम्बन्ध में भी बहुत मतभेद है। सबसे अधिक प्रचलित और प्रामाणिक मत आचार्य हजारीप्रसाद जी[5] का माना जाता है। उन्होंने अनेक तर्कों के आधार पर कबीर को आश्रमभ्रष्टयुगी जाति का रत्न सिद्ध करने की चेष्टा

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ २०१

'अति अथाह जल गहिर गम्भीर,
बाँधि जंजीर जल बोरे हैं कबीर।
जल की तरंग उठ कटिहै कबीर,
हरि सुमरत तट बैठे हैं कबीर॥

(इस पद में सिकन्दर लोदी द्वारा कबीर के प्रति किये गये अत्याचारों का संकेत है।)

[2] अनन्तदास की परिचई—पृष्ठ

[3] सन्त कबीर राग गउड़ी—१५

'सकल जनम शिवपुरी गवाइया, मरती बार मगहर उठि धाइया'

[4] सन्त कबीर—राग रामकली—३

'पहले दरसन मगहर पाया पुनि काशी बसे आई।

[5] कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ—५—११

की है। आचार्य जी के प्रति गुरुवत् श्रद्धा रखते हुए भी मैं उनके मत से सहमत नहीं हूं। मेरी दृढ़ धारणा है कि कबीर जुलाहा जाति के ही रत्न थे। अपने इस मत का प्रतिपादन मैं 'कबीर की विचारधारा' में अनेक सशक्त तर्कों के आधार पर कर चुका हूं।[1] कबीर के माता-पिता के संबंध में भी मतैक्य नहीं है। कुछ लोग उन्हें दिव्य शक्तिसम्भूत महापुरुष मानते थे।[2] कुछ के अनुसार वह नीरू और नीमा के पोष्य पुत्र थे। कुछ लोग नीरू और नीमा को ही उनका वास्तविक माता पिता मानते थे। एक जनश्रुति के अनुसार वे किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से संभूत हुए थे। मैं अन्तिम मत से पहले मत के ही पक्ष में हूं। यदि कबीर नीरू और नीमा के पोष्य पुत्र होते तो नीमा उनका जुलाहा जाति विरुद्ध आचार को देखकर रोती नहीं। जहाँ तक प्रथम मत और अन्तिम मत की बात है वह बहुत कुछ श्रद्धा-प्रेरित है। कबीर के गुरु के सम्बन्ध में भी तीन मत प्रचलित हैं—कुछ लोग कबीर के किसी मानव गुरु होने के पक्षपाती नहीं हैं।[3] कुछ दूसरे विद्वानों के अनुसार वे शेख तकी के मुरीद थे।[4] अधिकांश विद्वान् उन्हें रामानन्द का शिष्य मानते हैं। मैं भी इसी मत का समर्थक हूं। अंतस्साक्ष्य और बहिस्साक्ष्य से इसी मत की पुष्टि भी होती है। कबीर की विचारधारा में अनेक सशक्त तर्कों के आधार पर मैं इस मत का पोषण कर चुका हूं।[5]

कबीर संभवतः गृहस्थ भी थे। अंतस्साक्ष्य से ऐसा प्रमाणित होता है कि उनके दो स्त्रियाँ थीं एक का नाम लोई था और दूसरी का रमजनियाँ। कहते हैं इनके दो पुत्र और पुत्री भी थे। इनके एक पुत्र का नाम कमाल था जिससे संभवतः कबीर बहुत प्रसन्न नहीं रहते थे। यह ही बाद में कबीर-पंथ की एक शाखा के प्रवर्तक हुए थे।[6]

कबीर कुछ पढ़े लिखे न थे। यह बात 'बिदिया न परऊँ बाद नहिं जानऊँ' से प्रकट होती है। ऐसी अवस्था में उन्हें जीविकोपार्जन के लिए पैतृक व्यवसाय का ही आश्रय लेना पड़ा था। किन्तु उसमें उनका मन नहीं लगता था। वह अपना अधिक समय सत्संगति और पर्यटन में ही व्यतीत करते थे। उन्होंने जगन्नाथपुरी,[7]

---

[1] कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायत—पृष्ठ १०४

[2] कबीरपन्थी लोग ऐसा ही मानते हैं।
कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायत—'कबीर का जीवनवृत्त'

[3] कबीर हिज बायोग्राफी—डा० मोहनसिंह पृष्ठ १२ २४

[4] कबीर एण्ड दि कबीर पन्थ—पृष्ठ ४५

[5] कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायत—पृष्ठ ४२ ४०

[6] सन्त कबीर—[illegible]—२

[7] ट्रैवल्स—टैवर्नियर—भाग २ पृष्ठ २२६

रतनपुर,[1] बगदाद, समरकंद,[2] गुजरात,[3] पंढरपुर,[4] आदि स्थानों की यात्रा की थी। हज और काबे तो वह न मालूम कितनी बार गये थे।[5]

आजकल कबीर के नाम पर एक विस्तृत साहित्य उपलब्ध है। विलसन साहब ने केवल कबीर के आठ ग्रंथों का उल्लेख किया था। वेस्कट साहब ने उनके नाम पर बयासी ग्रंथों की सूची दी है। मिश्रबंधु ७५ ग्रंथों को कबीर रचित मानते थे। डा० रामकुमार वर्मा ने खोजरिपोर्टों के आधार पर केवल ६१ ग्रन्थ ही कबीर के लिखे हुए बताये हैं। नागरी प्रचारिणी सभा के अप्रकाशित विवरणों के आधार पर कबीर १४० ग्रंथों के रचयिता माने जाते हैं।[6] इनके अतिरिक्त भी कबीर के नाम पर देश में सहस्रों बानियाँ प्रचलित हैं। कुछ बानियों का संग्रह आचार्य क्षितिमोहन सेन ने किया है।[7] इतने विशाल साहित्य में यह निश्चय करना कि कबीर की वास्तविक बानियाँ कौन सी हैं, बड़ा कठिन है। मैंने कबीर-ग्रन्थावली और संत कबीर में संग्रहीत बानियों को ही प्रामाणिक माना है। बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित ग्रन्थों की भी अधिकांश बानियाँ प्रामाणिक प्रतीत होती हैं। किन्तु उनको प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए हमारे पास उपयुक्त तर्क नहीं हैं।

धर्मदास (संवत् १५५०-१६२५)

धनी धर्मदास जी कबीर के सर्वाधिक प्रिय शिष्य थे।[8] इनकी जन्म तिथि का निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। इनकी तिथि का निर्णय करने में इनकी गद्दी की गुरु-परम्परा थोड़ी बहुत सहायक होती है। इनसे लेकर आजतक १५ गुरु गद्दी पर आसीन हो चुके हैं।[9] प्रत्येक महात्मा का गद्दीकाल औसत से १५ वर्ष

---

[1] मुहम्मसातुलसवारीख (दिल्ली संस्करण) पृष्ठ ७१

[2] कबीर मंसूर पृष्ठ १०६

[3] मेडीवल मिस्टीसिज्म—क्षितिमोहन सेन पृ० ९८ (१९३९)

[4] हिस्ट्री आफ दी मराठा्ज़ पीपुल—भाग १—पृष्ठ ७०१

[5] सन्त कबीर पृष्ठ १६९

[6] देखिये कबीर की विचारधारा पृष्ठ ५९

हज काबा ह्वै ह्वै गया केती बार कबीर।

[7] देखिये—कबीर की विचारधारा— पृष्ठ ५९ ६०

[8] संत बानी संग्रह भाग—२ पृष्ठ ३०

'काशी काशा रहित का पता नगर में मोर।

मर सत्गुरु नाम कबीर है जाके न भाव और॥'

[9] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृष्ठ २६९

मानना चाहिए। ऐसी अवस्था में उनका जन्मकाल १५वीं शताब्दी के अंतिम चरण में मानना पड़ेगा। कबीरदास के बाद यह गद्दी पर आसीन हुए थे। उस समय उनकी आयु कम से कम २५ वर्ष की अवश्य होगी। कबीर का निधन-काल हमने १५७५ निश्चित् किया है। ऐसी अवस्था में इनका जन्म-काल १५५० के आसपास मान लेना अनुचित न होगा। किंतु ऐसी स्थिति में प्रत्येक गुरु का औसत गद्दीकाल कुछ और अधिक मानना पड़ेगा। संत-महात्माओं के लिए ४० वर्ष तक का औसतकाल अधिक नहीं कहा जा सकता। आखिर यह लोग थे तो कबीर और रैदास जैसे दीर्घ आयु महात्माओं के शिष्य ही। धर्मदास जी ने भी ७५ वर्ष से कम की आयु नहीं प्राप्त की होगी। ऐसी अवस्था में उनकी निधन-तिथि १६२५ के आसपास माननी पड़ेगी, किन्तु ये तिथियें हैं अनुमानित ही। इनके सम्बन्ध में विशेष अनुसंधान की आवश्यकता है। यह जाति के कसौधन वैश्य थे[1], पंथ में दीक्षित होने से पहले इनका नाम जुड़ावन था। अन्य संतों के सदृश यह भी गृहस्थ थे। इनकी पत्नी का नाम आमीन था और उनके दो पुत्रों के नाम क्रमशः नारायणदास और चूड़ामणि थे। कबीर के सदृश इन्होंने भी पर्यटन बहुत किया था।[2] द्वारिका, जगन्नाथपुरी, गया आदि तक यह गये थे। वैसे तो यह बाँधवगढ़ के निवासी थे किन्तु उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग बनारस में व्यतीत किया था।[3] यह कबीरपंथ की छत्तीसगढ़ी शाखा के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनकी रचनाओं की भी अभी तक सम्यक् खोज नहीं हो सकी है। इनकी सबसे प्रमुख रचना 'अमर सुख निधान' है। इसके अतिरिक्त बहुत सी बानियों का संग्रह बेलवेडियर प्रेस से भी प्रकाशित हुआ है।

नानक (संवत् १५२६-१५९५)

गुरु नानक का जीवन-चरित्र उनकी विविध जन्म[1]-साखियों में मिलता है। उनके जीवन की बहुत सी बातें विविध जनश्रुतियों से भी प्रकट होती हैं। इन जन्म-साखियों और जनश्रुतियों में कुछ बातें इतनी अतिशयोक्तिपूर्ण मिलती हैं कि सहसा ग्राह्य नहीं होती हैं। इतना होते हुए भी गुरु नानक की जन्मतिथि, निर्वाण-तिथि माता-पिता, जन्म-स्थान, व्यवसाय आदि के विषय में अधिकांश विद्वानों में मतैक्य है। प्राप्त प्रामाणिक विवरणों के आधार पर इनकी जन्म तिथि संवत् १५२६ निश्चित की गई है। थोड़ा सा मतभेद इनके जन्म के महीने के विषय में है। बाबा छज्जूसिंह[2]

[1] उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—पृष्ठ २६९

धरमदास एक बनिया हो वो कहीं बाजार हो।

[2] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—श्री परशुराम चतुर्वेदी—पृष्ठ २७०

[3] हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा—पृष्ठ २८१

अमर सुखनिधान की निम्न पंक्ति द्रष्टव्य है—

"द्वारिका जगन्नाथ होइ आए गया बनारस गए नहाए।"

कार्तिक को इनका जन्म मास मानने के पक्ष में हैं। शेष विद्वान् वैशाख मास शुक्ल पक्ष की तृतीया को ही इनका जन्मकाल सिद्ध करते हैं।

इनके पिता का नाम कालूसिंह और माता का नाम तृप्ता देवी बतलाया जाता है। कालूचन्द्र पंजाब के तलवंडी नामक गाँव के पटवारी थे। नानक का जन्म इसी गाँव में हुआ था। आजकल यह गाँव ननकाना नाम से प्रसिद्ध है और सिक्खों का बहुत बड़ा तीर्थस्थान माना जाता है।

नानक के बाल्यकाल और युवावस्था से सम्बन्धित अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें से अधिकांश किंवदन्तियों में उनके अलौकिक चरित्र और महिमा का ही संकेत किया गया है। विस्तारभय से हम उन किंवदन्तियों का उल्लेख नहीं कर सकते। बचपन से ही यह चिंतनशील, सरल स्वभाव और उदासीन प्रकृति के थे। युवा होने पर इनके पिता ने इन्हें व्यवसाय में लगाने की चेष्टा की किन्तु इनका मन किसी व्यवसाय में न लग सका।[1] यह सदैव भगवद्भक्ति में तल्लीन रहते थे। कहते हैं कि किसी मूला नामक व्यक्ति की पुत्री सुलक्खनी के साथ[2] इनका विवाह हुआ था और उससे इन्हें दो पुत्र भी प्राप्त हुए थे। उनके नाम क्रमशः श्रीचन्द्र और लक्ष्मीचन्द्र थे।[3] श्रीचन्द्र ने भी युवा होने पर अपने पिता का अनुगमन किया और एक प्रसिद्ध संत हुए। उदासी सम्प्रदाय का प्रवर्तन उन्होंने ही किया था। इनके वैराग्योदय के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती है उसके अनुसार यह कुछ दिन के लिए एक मोदीखाने में नौकर हो गये थे। कहते हैं एक बार आटा तौलते समय यह इतने भाव-निमग्न हो गये कि तेरह की संख्या आने पर तेरा-तेरा कहते हुए मोदी का सारा आटा ग्राहक को देने लगे। मोदी ने अप्रसन्न होकर उन्हें नौकरी से छुड़ा दिया। उसी दिन से यह विरक्त होकर देश-भ्रमण को निकल पड़े। मरदाना नामक एक गवैया इनका बड़ा मित्र था। यह उसके साथ बैठकर भजन गाया करते थे। यात्रा में यह उसे भी साथ ले गए। इन्होंने बहुत दूर-दूर तक यात्रा की थी। यहाँ तक कि यह बगदाद भी गए थे। वहाँ पर इनकी समाधि अब तक बनी हुई है[4] और समाधि पर तुर्की भाषा में लिखा हुआ एक लेख भी लगा हुआ है। वहाँ का एक सैयद ज्ञानदास इस समाधि की देख-रेख करता है। इनकी जन्म-साखियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनकी भेंट शेख फरीद से हुई थी। फरीद सूफ़ी संत शकरगंज की वंश-परम्परा के थे। ग्रन्थसाहब में इनके भी कुछ पद दिये हुए हैं।

---

[1] इन्साइक्लोपीडिया आफ़ रिलीजन एण्ड एथिक्स—भाग ९—पृष्ठ १८१

[2] इन्साइक्लोपीडिया आफ़ रिलीजन एण्ड एथिक्स—भाग ९—पृष्ठ १८१

[3] इन्साइक्लोपीडिया आफ़ रिलीजन एण्ड एथिक्स—भाग ९—पृष्ठ १८१

[4] मेडीवल मिस्टिसिज़्म—आचार्य क्षितिमोहन सेन पृष्ठ १०१ (१९२९)

अंतिम दिनों में गुरु नानक पंजाब में ही आकर रहने लगे थे। इस समय इनका लहना नामक शिष्य इन्हें सबसे प्रिय हो चला था। उन्होंने गुरु की गद्दी अपने जीवनकाल ही में लहना को दे दी थी। इसके पश्चात् वह करतारपुर आश्विनी शुक्ला दशमी संवत् १५९५ में[1] एक पेड़ के नीचे वाह गुरु कहते हुए समाधिस्थ हो गये। नानक ने बहुत से पद, साखियाँ और भजन लिखे थे। उनमें से अधिकांश गुरु ग्रन्थ साहब में संग्रहीत हैं। कहते हैं इनकी बहुत सी अरबी रचनाएँ बगदाद समाधि-स्थल पर रखी हुई हैं।[2] उनको हिन्दी में रूपान्तरित करने की बड़ी आवश्यकता है।

रैदास (संवत् १४५१-१५६७)

संत रैदास का वास्तविक नाम रविदास था।[3] रैदास, रयदास, रुहिदास, राय दास आदि इसी के विकृत और अपभ्रंश रूप हैं। भविष्यपुराण[4] और रैदासबानी[5] के प्रमाणों से वह चमार जाति के संत सिद्ध होते हैं। संत रैदास की जन्म तिथि और निर्वाण-काल का कहीं पर भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। रविदासी सम्प्रदाय के महन्तों का कहना है कि वह माघ पूर्णिमा को रविवार के दिन उत्पन्न हुए थे। किसी निश्चित संवत् का निर्देश वह भी नहीं करते हैं। भविष्यपुराण[6] के प्रमाणों के आधार पर इनकी सम्भावित जन्म-तिथि १४७१ विक्रमी प्रकट होती है। कुछ पंडितों की गणना के अनुसार इसी संवत् में माघ पूर्णिमा रविवार को पड़ती भी है। अतएव मैं इसी को उनकी जन्म-तिथि मानता हूँ। इसी संवत् को जन्म-तिथि स्वीकार कर लेने से वह वस्तुतः

---

[1] मेडिवल मिस्टीसिज्म—आचार्य क्षितिमोहन सेन—पृ० १२

[2] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स—भाग ९—पृष्ठ १८१

[3] इस मत का समर्थन निम्नलिखित प्रमाणों पर होता है—

(क) गुरु ग्रन्थसाहिब—राग आसा

"रविदास ढुवन्ता ढोर नीति तिनी तिआगी माइआ।"

(ख) रैदास जी की बानी—पृष्ठ ३१

"नीचे से प्रभु ऊँच कियो है कह रविदास चमार।"

[4] (क) भविष्यपुराण चतुर्थ खण्ड—श्लोक ५१

(ख) गुरुग्रन्थ साहिब

[5] रैदास जी की बानी—पृष्ठ ३१

'ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार,
हृदय राम गोविन्द गुन सार।
नीचे से प्रभु ऊँचे कियो है कह रविदास चमार।'

[6] भगवान रविदास की सत्य कथा—रामचरण कुरील—द्वितीय खण्ड

से रामानंद के शिष्य ठहरते हैं।[1] जनश्रुति है कि इन्होंने १२६ वर्ष से ऊपर की आयु प्राप्त की थी। यह बात बहुत कुछ बहिस्साक्ष्य और अंतस्साक्ष्य के प्रमाणों से सिद्ध होती है। निधन की निश्चित तिथि का उल्लेख केवल दो स्थलों पर किया गया है। एक के अनुसार वह संवत् १५७६ में सतलोकगामी हुए थे और दूसरे के अनुसार उनका निर्वाण संवत् १५९७ में हुआ था। यदि जनश्रुति के अनुसार उनकी आयु १२६ वर्ष स्वीकार कर ली जाय तो संवत् १५९७ ही उनका निर्वाण-काल निश्चित होगा। संत रविदास के जन्म-स्थान और निर्वाण-स्थान के सम्बन्ध में भी कोई प्रामाणिक या निश्चित उल्लेख नहीं मिलता है। 'गुरु ग्रन्थसाहिब' की एक पंक्ति से ऐसी ध्वनि निकलती है कि वह बनारस के ही मूलनिवासी थे। उसके अनुसार उनके वंश के लोग तब भी बनारस में ढोर ढोते फिरते थे।[2] गुरु ग्रंथसाहिब के कथन की प्रामाणिकता निर्विवाद है। निश्चय ही उनका जन्म बनारस प्रांत में ही किसी स्थल पर हुआ होगा। बनारस-निवासी होने के कारण ही वह स्वामी रामानंद के महत्त्व से परिचित होकर उनके शिष्य हो गए होंगे। बाद में सिद्ध हो जाने पर उन्होंने देश भर में भ्रमण किया था। उसी अवसर पर उनके महत्त्व से प्रभावित होकर बड़े बड़े लोग उनके शिष्य हो गये होंगे। जनश्रुति और अन्तस्साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि झालीरानी[3] और मीराबाई भी इनकी महिमा से प्रभावित होकर इनकी शिष्या बन गई थीं।[4] संत रैदास भी कबीर के सदृश गृहस्थ थे।[5] मिश्र के मतानुसार इनकी

---

[1] रामानन्द का समय मैंने 'कबीर की विचारधारा' में संवत् ११८९ निश्चय किया है। देखिए पृ० ११ प्रथम संस्करण।

[2] ग्रन्थसाहिब—राग मल्हार पद १—पृ० १९८
जाके कुटुम्ब के ढेढ सब ढोर ढोवन्त फिरहि अजहु बनारसी आसपास।
आचार सहित बिप्र करहि डंडउति तिन तनै रविदास दासानुदास॥

[3] परशुराम चतुर्वेदी मीरा और झालीरानी को अलग अलग व्यक्ति मानते हैं, मैं उनसे सहमत हूँ।
देखिए—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृ० २२९ २३०

[4] मीराबाई ने इस तथ्य का समर्थन किया है।
देखिए—मीराबाई की पदावली—पद २७, पृ० १५६
गुरु रविदास मिले मोहि पूरे धुर से कलम भिड़ी।
सतगुरु सैन दई जब आके जोत में जोति रली।

[5] फर्कुहर साहब ने इसी मत का समर्थन किया है—
देखिए—आउट लाइन आफ दी रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया—पृ० ३०१ श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इस विषय में सन्देह किया है—
देखिए—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृ० २२९
किन्तु मैं भी इससे सहमत हूँ—
देखिए—मिडीवल मिस्टीसिज्म—पृ० ७१

पत्नी का नाम लोना था।[1] कहते हैं उनके विजयदास नामक एक पुत्र भी था। कबीर के सदृश यह भी पढ़े-लिखे नहीं थे। उन्होंने भी सत्संगति और पर्यटन के आधार पर अनंत ज्ञान अर्जित किया था। जनश्रुति है कि विरक्त होते हुए भी उन्होंने अपने व्यवसाय को नहीं छोड़ा था।[2]

रैदास के नाम पर भी एक अच्छा साहित्य उपलब्ध होता है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों के अनुसार निम्नलिखित ग्रंथ रैदास के नाम से उपलब्ध हुए हैं—रैदास जी की बानी, रैदास जी की साखी तथा पद, रैदास के पद, प्रह्लादलीला, इन सब हस्तलिखित ग्रंथों का प्रतिलिपि काल क्रमशः संवत् १८५५, संवत् १९५६, संवत् १९१६, संवत् १७०६, और संवत् १९८२ है। यदि खोज की जाय तो संत रैदास जी की और भी अन्य अनेक बानियाँ उपलब्ध होंगी। रैदास जी की प्रकाशित रचनाओं में गुरु ग्रंथसाहिब के चालीस पद बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित रैदास जी की बानी तथा हाल में ही प्रकाशित 'संत रविदास और उनका काव्य' नामक ग्रंथ में संगृहीत रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ बानियाँ [illegible] के संत ग्रंथ और वियोगी हरि के संतसुधासार में भी उपलब्ध होती हैं।

संत दादू (ई० १५४४-१६०३)

हिंदी की निर्गुण काव्यधारा में दादू का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। किंतु विद्वानों की प्रवृत्ति अभी तक उनके शास्त्रीय और सांग अध्ययन की ओर नहीं गई है। उनका और उनके पंथ का अध्ययन करने का प्रयास डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर,[3] डब्ल्यू क्रुक[4], ई० डब्ल्यू हापकिंस,[5] ए० डी० बैनरमैन,[6] गार्सां द तासी, विल्सन,[7] फर्कुहर[8] आदि

---

[1] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग—१०, पृ० ५६०

[2] वही।

[3] इम्पीरियल गजेटियर आफ इंडिया—डब्ल्यू डब्ल्यू० हंटर (१८८५-८७) भाग ७ पृ० ३१७, भाग ८ पृ० ५१

[4] ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ एन० डब्ल्यू० प्राविन्सेस एण्ड अवध—डब्ल्यू क्रुक (१८९६), भाग २—पृ० २१६ २१९

[5] रिलीजन्स आफ इंडिया—ई० डब्ल्यू० हापकिन्स १८९५ पृ० ११

[6] राजपूताना सेन्सस रिपोर्ट (१९०१) पृ० ७७

[7] इस्त्वार द ला लितरात्यूर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी भाग १, पृ० ४०१ इसी की पुनरावृत्ति—रिलीजस सेक्ट्स आफ हिन्दूज—एच० विल्सन—पृ० १०३

[8] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स—भाग ४, पृ० ३८५

पाश्चात्य विद्वानों ने तथा पं० सुधाकर द्विवेदी[1], आचार्य क्षितिमोहन सेन,[2] डा० ताराचन्द,[3] परशुराम चतुर्वेदी,[4] ताराद्त्त गैरोला[5] आदि भारतीय विद्वानों ने किया है। जनगोपाल लिखित जनमलीलापर्ची, राघवदास विरचित भक्तमाल आदि कुछ साम्प्रदायिक ग्रन्थों में भी इनके जीवन-चरित का उल्लेख किया गया है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने भी इनके जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इन सबमें सबसे अधिक खोजपूर्ण और व्यवस्थित वर्णन पं० परशुराम चतुर्वेदी[6] और डा० रामकुमार वर्मा के है।[7] आचार्य क्षितिमोहन सेन के विवरण भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन[8] एण्ड एथिक्स के अनुसार इनका जन्म सन् १५४४ और मृत्यु सन् १६०३ में हुई थी। आचार्य क्षितिमोहन सेन और[9] पं० परशुराम चतुर्वेदी ने[10] इसी का समर्थन किया है। डा० रामकुमार वर्मा ने इनका जन्म लगभग सं० १६५८[11] के आस-पास माना है। उनकी मृत्यु-तिथि के संबंध में वह मौन हैं। डा० साहब ने इस तिथि को किन आधारों पर मान्यता दी है यह स्पष्ट नहीं है। मेरी धारणा है कि दादू का जन्म १५४४ ई० अर्थात् संवत् १६०१ के आसपास ही हुआ था। इनके ऊपर कबीर का जो प्रभाव दिखाई पड़ता है उसको देखते हुए यही तिथि अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। कबीर के पच्चीस छब्बीस वर्ष बाद उत्पन्न होनेवाले दादू पर यदि उनका अक्षुण्ण प्रभाव पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

दादू की जाति के संबंध में बड़ा विवाद है। एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में इनको लोदीराम नामक ब्राह्मण का पुत्र बतलाया गया

---

[1] दादूदयाल की बानी—बेलवेडियर प्रेस—भाग १, पृ० १
[2] दादू—क्षितिमोहन सेन
[3] इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर—पृ० १
[4] उत्तरी भारत की संत परम्परा—पं० परशुराम चतुर्वेदी—पृ०—४०९ ४२१
[5] सौंग्स आफ दादू—ताराद्त्त गैरोला—भूमिका
[6] उत्तरी भारत की संत-परम्परा—पृ० ४०९ ४२२
[7] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-डा० रामकुमार वर्मा—पृ० ३८९ ३९३
[8] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स—भाग ४—पृ० ३८५
[9] मेडिवल मिस्टीसिज्म—सेन—पृ० १०९
[10] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृ० ४०६ ४२२
[11] हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास में डा० रामकुमार वर्मा दादू का प्रसंग देखिये पृ० ३९० (१९३८)

है।[१] मोहसिनफानी साहब इन्हें धुनियाँ मानते थे।[२] पं० सुधाकर द्विवेदी ने इन्हें बनारस का मोची सिद्ध करने की चेष्टा की है।[३] आचार्य क्षितिमोहन सेन[४] और डा० बड़थ्वाल इन्हें धुनियाँ[५] मानने के पक्ष में हैं। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने इसी मत के प्रति पक्षपात प्रकट किया है।[६] मेरी समझ में दादू ब्राह्मण तो किसी भी प्रकार से नहीं थे। यदि वह ब्राह्मण होते तो अपने को स्वयं कमीन नहीं कहते।[७] वास्तविकता यह है या तो वह धुनियाँ थे या फिर मोट बनानेवाले मोची। रज्जब जी ने[८] इन्हें जन्म से धुनियाँ माना है। रज्जब जी इनके शिष्य थे इसलिए उनके कथन की प्रामाणिकता में विश्वास करना चाहिए। हमारी समझ में वह धुनियाँ ही थे इसलिए उन्होंने अपने को सबसे नीच और कमीन कहा है।[९] हिन्दुओं में जिस प्रकार कोरी और चमार नीच समझे जाते हैं उसी प्रकार मुसलमानों में धुनियाँ और जुलाहे नीच समझे जाते हैं। संभवतः इसीलिए उन्होंने अपने को बार-बार नीच और कमीन आदि कहा है।

इनके नाम के सम्बन्ध में भी मतभेद है। कुछ लोग इनका नाम दादू ही मानते हैं कुछ महाबली बतलाते हैं[१०] और कुछ दाऊद[११] मानने के पक्ष में हैं। अंतिम मत ही कुछ सार्थक प्रतीत होता है। इस मत की पुष्टि में आचार्य क्षितिमोहन सेन ने दाऊजी की कल्पना सम्बन्धी एक वाक्य[१२] उद्धृत किया है जिसमें दादू और दाऊद को

---

१ एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स—भाग ४, पृ० ३८५
२ हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ३६१
३ दादू साहब की बानी भाग १, पृ० १
४ मैडीवल मिस्टीसिज्म—क्षितिमोहन सेन—पृ० १०६
५ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—पृ० ७२
६ उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—प० परशुराम चतुर्वेदी—पृ० ३१०-३१६
७ दादू बानी—भाग १, पृ० १६१
'वह मुझ कमीनकी नीच बनाये'
८ रज्जब जी की सर्वंगी (साधु महिमा को अंग)
९ दादूसाहब की बानी—बेल्वेडियर प्रेस—राग भैरो ३८२, पृ० १६१
१० पं० सुधाकर द्विवेदी उनका नाम महाबली मानते थे। देखिये—दादूबानी—भाग १, पृ० १
उत्तरी भारत की संत-परंपरा—पृ० ४११
११ जो लोग इन्हें धुनियाँ मानते हैं वे उनका नाम दाऊद बताते हैं।
१२ दादू—क्षितिमोहन सेन—पृ० १७

एक ही व्यक्ति ध्वनित किया गया है। इस परम्परागत धारणा का हम सहसा निरा-करण नहीं कर सकते। हमारी समझ में इनका नाम दाऊद ही था। इनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में विशेष मतभेद नहीं है। पं० सुधाकर[1] द्विवेदी को छोड़कर शेष सभी विद्वान् अहमदाबाद को उनका जन्मस्थान मानते हैं।[2] पं० सुधाकर द्विवेदी जी के मतानुसार दादू का जन्म जौनपुर जिले में हुआ था।[3] हमारी समझ में यह मत बहुत समीचीन नहीं है। जौनपुर जिले में उत्पन्न होनेवाला कोई भी आध्यात्मिक जिज्ञासु भारत में दस-बीस वर्ष बिना रहे हुए किसी दूसरे सुदूर स्थान पर अपने पन्थ का प्रचार नहीं कर सकता। इनका लीला केन्द्र अधिकतर गुजरात और राजस्थान प्रदेश ही था। इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में लिखा है कि दादू ने जयपुर की पुरानी राजधानी आम्बेर में अपना घर बनाया था और राजस्थान के सांभर नगर में उन्होंने अपना बहुत-सा समय व्यतीत किया था।[4] खोज करने पर सांभर नगर में दादू के कोट और खड़ाऊँ की उपलब्धि भी हुई है। यहाँ के लोग उन खड़ाऊँ को दादू के सदृश पूजते हैं। इनकी मृत्यु-स्थान के सम्बन्ध में सभी विद्वानों में मतैक्य है। सर्वमान्य मत यही है कि इनकी मृत्यु सांभर नगर से आठ मील की दूरी पर स्थित निराना नामक ग्राम में हुई थी। इस स्थान पर अब भी एक बहुत बड़ा मेला लगता है। इन सब बातों से यही प्रमाणित होता है कि दादू गुजरात के रहनेवाले थे और वहीं उनका जन्म हुआ था। जौनपुर से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं था। यह बात दूसरी है कि आध्यात्मिक और धार्मिक केन्द्र होने के कारण वे एक-दो बार काशी चले गये हों। कहते हैं कि इनकी सम्राट् अकबर से भी भेंट हुई थी।[5] इनके व्यक्तित्व को देखते हुए यह असम्भव नहीं है। इनके गुरु के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित मत नहीं है। जनश्रुति के आधार पर बुड्ढन या वृद्धानन्द को इनका गुरु बतलाया जाता है।[6] जनश्रुति है कि भगवान् ने बुड्ढे का रूप धारण करके दादू को गुरु-दीक्षा दी थी। तासी साहब बुड्ढन को कबीर पंथ का एक साधु मानते थे और उन्होंने दादू को रामानन्द की शिष्य-परम्परा में छठीं पीढ़ी का शिष्य माना है। उन्होंने शिष्य परम्परा का जो क्रम दिया है, उसके अनुसार सबों के नाम क्रमशः इस प्रकार आयेंगे—रामानन्द, कबीर, कमाल, जमाल, विमल, बुड्ढन और[7] दादू। ये क्रम उन्होंने किस आधार पर

---

[1] देखिए दादूबानी की भूमिका।
[2] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ४—पृ० ३८५
[3] उत्तरी भारत की संत-परंपरा—परशुराम चतुर्वेदी—पृ० ४१०
[4] वही।
[5] उत्तरी भारत की संत-परंपरा—पृ० ४१८
[6] उत्तरी भारत की संत-परंपरा—पृ० ४१५
[7] इस्त्वार द ला लितरात्यूर ऐंदूई ए हिंदुस्तानी, भाग १—पृ० ४०१

दिया है यह स्पष्ट नहीं है। दादू ने कहीं पर भी अपनी रचनाओं में बुड्ढन या वृद्धानन्द नाम का उल्लेख नहीं किया है और न कहीं इस घटना का ही संकेत मिलता है। मेरी अपनी धारणा यह है कि दादू ने किसी जीवित मनुष्य को अपना गुरु नहीं बनाया था। वह कबीर को सम्भवतः अपना मानस-गुरु मानते थे। उनकी यह बात कबीर के प्रति अगाध और अनन्य श्रद्धाप्रधान उक्तियों से प्रकट होती है। इसके अतिरिक्त एक स्थल पर उन्होंने 'गैब माहि गुरुदेव मिल्या' लिखकर यह बात प्रकट की है।[1] कबीर के सदृश दादू भी पढ़े-लिखे न थे किन्तु उन्हीं के सदृश इन्हें भी अलौकिक प्रतिभा प्राप्त थी। जनगोपाल[2] के कथनानुसार इन्होंने बारह वर्ष यूँ ही व्यतीत कर दिये थे। उसके बाद इनकी गुरु से भेंट हुई है और तीस वर्ष की अवस्था में यह सांभर आये और पच्चीस वर्ष की अवस्था में गरीबदास का जन्म हुआ था। कबीर के सदृश इन्होंने भी देश-देशान्तरों में पर्यटन किया था, यह बात इनके विविध भाषाओं के ज्ञान से प्रकट होती है। कबीर के सदृश यह भी गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे। इनकी तीन और सन्तानें बताई जाती हैं। उनके नाम मिसकीनदास नानीबाई और माताबाई कहे जाते हैं।[3] गरीबदास के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें दादू का औरस पुत्र मानते हैं और कुछ उन्हें उनका शिष्य और दत्तक पुत्र मानने के पक्ष में हैं। गरीबदास की भी बानियों से यही प्रकट होता है कि वे उनके शिष्यमात्र थे।

दादूदयाल की लिखी हुई लगभग बीस सहस्र रचनाएँ बतलाई जाती हैं, किन्तु इनमें से अधिकांश अनुपलब्ध हैं। इनके दो शिष्यों ने इनकी बहुत-सी बानियों का एक संग्रह तैयार किया था जिसका नाम 'हरडे बानी' है[4]।

सन्त दादू ने एक पृथक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। इसी का दूसरा नाम दादूपंथ है। यह पंथ दो भागों में विभाजित है—एक शाखा के लोग गेरुए वस्त्र पहनते हैं, दूसरी शाखा के सफेद वस्त्र। दादू के ५२ शिष्य थे। इनमें से प्रत्येक शिष्य ने ५२ दादूद्वारों की स्थापना की थी। इन्हें थांभा भी कहते हैं। इन ५२ थांभों के अन्तर्गत भी बहुत-से उपथांभे या उपसम्प्रदाय भी हैं। दादूद्वारों में दादूवाणी की भगवान के रूप में पूजा की जाती है। ऊपर हमने दो प्रकार के दादू-पंथियों का उल्लेख किया है। एक वे जो गृहस्थ होते थे और दूसरे वे जो वैरागी होते थे। गृहस्थों का समूह बहुत है और वैरागियों के पाँच भेद माने गये हैं—खालसा, नागा, उत्तराढ़ी, विरक्त और खाकी। इन

[1] दादूबानी—भा० १—पृ० १—'गैब माहि गुरुदेव मिल्या पाया हम परसाद'
[2] उत्तरी भारत की संत-परंपरा—पृ० ३१७
[3] वही—पृ० ३१६
[4] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी—पृ० ३१०

प्रचार हम देखते हैं कि दादूपंथ कबीरपंथ से कम व्यापक और महत्वपूर्ण नहीं है[1]।

रज्जबजी (१६२४-१७४०)

दादू के शिष्यों में रज्जबदास जी का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। इनका जन्म संवत् १६२४ विक्रमी में आमेर से लगभग १४-१५ मील दक्षिण की ओर स्थित सांगानेर स्थान के एक प्रतिष्ठित पठान-वंश में हुआ था। इनके पिता जयपुर-नरेश के यहाँ नायक के पद पर कार्य करते थे। इनका प्रारम्भिक नाम रज्जब अली खान था। इनके सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है कि जब यह विवाह के लिए मौर आदि धारण करके नौशा बने हुए जा रहे थे, उसी समय मार्ग में इनकी दादू से भेंट हो गई। उनको उस रूप में देखकर दादू ने कहा कि "अरे रज्जब तूने गजब कर दिया। तू इस संसार में भगवान् के भजन के लिए आया था। किन्तु सर पर मौर बाँधकर नरक की ओर जा रहा है। तू भगवान् की प्रार्थना करना भूल गया है जिसके लिए तेरा जन्म हुआ था[2], विवाह करके तेरा कोई भी कार्य सिद्ध न होगा[3]।" इस घटना का उल्लेख राघवदास जी ने अपने भक्तमाल में भी किया है। रज्जब[4] जी उसी क्षण से दादू के अनन्य भक्त हो गये और फिर विवाह करने नहीं गये। कुछ दिनों बाद दादू ने उनसे विवाह करने का

---

[1] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – पृ० ३६२

[2] सन्त सुधा सार—पृष्ठ ५१ पर देखिए —

"रज्जब तैं गज्जब किया, सिर पर बाँधा मौर।
आया था हरि भजन कूं, करै नरक को ठौर ॥"

[3] सन्त सुधा सार—पृ० ५१० से उद्धृत—

"बाँधा था कुछ काज कौं सेवा सुमरण साज।
दादू भूल्या बन्दगी सर्‌यो न एकौ काज ॥"

[4] सत सुधासार – पृ० ५११ पर देखिए—

'रज्जब जी अज्जब राजयाम आमेर आये
गुरु के शब्द बिना ब्याह सब त्याग्यौ है।
पायौ गुरुदेव प्रभु सेवा काज सहज मेर,
ताको भूलि गया सब बिरी रस पाग्यो है ॥
मौर सेमि धार्‌यौ मन मग चन धार्‌यौ,
मन सीस हत धार्‌यौ सब भार ही काम माग्यो है।
भक्ति भीड़ ऐसी गुरु दादू दया कीनी
उर माइ प्रीति कीनी भाये बड़ा भाग जाग्यो है ॥'

आग्रह भी किया, किन्तु वह प्रस्तुत न हुए। रज्जब ने अपनी वानियों में अनेक स्थलों पर दादू के प्रति अनन्त श्रद्धा भाव प्रकट किया है। उनकी निर्वाण-तिथि का निश्चित निर्णय नहीं किया जा सका है। अनुमानतः वह संवत् १७४० के आस पास सांगानेर स्थान में ही इस नश्वर शरीर से मुक्त हो गये थे।

रज्जब जी के दो वृहत् ग्रन्थ उपलब्ध हैं—एक का नाम वानी है और दूसरे का सर्वंगी। उनकी लिखी हुई साखियों की संख्या ५४९८ और पदों की संख्या २१८ तथा अंगों की संख्या १६४ बताई जाती है। इनके अतिरिक्त रज्जब जी ने कवित्त, छप्पे और अरिल आदि और भी अनेक छन्दों में अपनी रचना प्रस्तुत की थी। उनकी रचनाओं की भाषा अधिकतर राजस्थानी है। कुछ लोग अंगवधू नामक पुस्तक को रज्जब जी की ही रचना बतलाते हैं। किन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी जी के अनुसार उसमें दादूदयाल जी की वानियाँ ही संगृहीत हैं। रज्जब जी की विचारधारा पर दादू जी का पूरा-पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। ऐसा स्वाभाविक भी है। प्रत्येक शिष्य अपने गुरु से अवश्य ही प्रभावित होता है।

सुन्दरदास (१६५३-१७४६)

सुन्दरदास सन्त दादू के एक परमप्रिय शिष्य थे।[1] वह जाति के खंडेलवाल वैश्य थे। इनकी जन्मतिथि पूर्णतया निश्चित नहीं है। डा० रामकुमार वर्मा ने संवत् १७१० को इनका जन्मकाल माना है[2]। श्री परशुराम चतुर्वेदी के मतानुसार इनका जन्म संवत् १६५३ में हुआ था[3]। मुझे चतुर्वेदी जी का मत अधिक उपयुक्त और समीचीन लगता है, क्योंकि सुन्दरदास ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'ज्ञानसमुद्र' संवत् १७१० में लिखी थी।[4] इतने प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना निश्चय ही उन्होंने पचास वर्ष की अवस्था के पश्चात् ही की होगी। संवत् १६५३ को इनका जन्मकाल मान लेने में इस दृष्टि से कोई कठिनाई नहीं पड़ती है। इनकी निधन-तिथि के सम्बन्ध में एक पद प्रसिद्ध है। उसके अनुसार वह जयपुर के सांगानेर नामक स्थान में संवत् १७४६ में ब्रह्मलोकगामी हुए थे।[5] इनका जन्म-स्थान निर्विवाद रूप से जयपुर की प्राचीन राजधानी दिवोसा

[1] संत सुधासार—पृ० ५६
'नमस्कार गुरुदेव को जिनि करि सुधाया।
दादू दीनदयाल का सुंदर दास गाया॥'
[2] सत सुधा सार—पृ० ५६१ 'दादू का चेला परम पढ़ता सुन्दर स्वामी है ऐसा।'
[3] हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० ३६५
[4] उत्तरी भारत की संत-परंपरा—पृ० ४२६
[5] वही

नगर माना गया है। इनके पिता का नाम परमानन्द और माता का नाम सती था। इनके पिता का एक दूसरा पुकारने का नाम भी था, वह था चोखा। अधिकतर लोग उन्हें इसी नाम से परिचित हैं। इन्होंने ६ वर्ष की अवस्था में ही दादू का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था। जब वह ११ वर्ष के हुए तो जगजीवन जी और रज्जब जी इन्हें काशी ले गये। काशी में रहकर इन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। विद्या ग्रहण के पश्चात् १६८२ संवत् में वह फतहपुर शेखावाटी लौट आये थे। यहाँ पर इन्होंने बहुत दिन तक योगाभ्यास किया।[1] किन्तु जब उन्हें उससे सन्तोष न प्राप्त हुआ तो उन्होंने भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग का आश्रय लिया।[2] अभी तक इनकी ४२ रचनायें प्राप्त हुई हैं। उन सबका संग्रह सुन्दर ग्रन्थावली के नाम से प्रकाशित हुआ है। इन रचनाओं में ज्ञानसमुद्र और सुन्दर विलास विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

गरीबदास (दादूपंथी)

गरीबदास नाम के तीन सन्त हो गये हैं—गरीबदास दादूपंथी, गरीबदास निरंजनपंथी तथा गरीबदास पावरीपंथी। इनमें सबसे अधिक ख्याति दादूपंथी गरीबदास की है। यहाँ पर हम उन्हीं के जीवनवृत्त पर प्रकाश डाल रहे हैं। जनश्रुति है कि यह दादू के बड़े पुत्र और प्रधान शिष्य थे। उनके बाद उनकी गद्दी के उत्तराधिकारी यह ही हुए थे। इनका जन्म संवत् १६१२ और सत्यलोकवास १६६३ माना जाता है। कहते हैं कि इन्होंने तेईस हजार बानियाँ लिखी थीं, जिनमें से चार उपलब्ध हैं उनके नाम क्रमशः अनभय प्रबोध, साखी, चौबोले तथा पद हैं। एक संग्रह स्वामी मंगलदास जी ने गरीबदास की बानी के नाम से प्रकाशित किया है।

गरीबदास (निरञ्जनपंथी)[3]

यद्यपि दादू के शिष्य ये भी थे, किन्तु इन्होंने अपना एक अलग सम्प्रदाय प्रवर्तित किया था, जो 'निरञ्जन पंथ' के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी रचनायें उपलब्ध नहीं हैं। जो कुछ थोड़ी-बहुत उपलब्ध भी हैं उनमें साहित्यिकता नहीं है। अतः अपने विवेचन में हमने इनको महत्त्व नहीं दिया है।[4]

---

[1] हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० ३६६

[2] 'संवत् सत्रह से छियाला कातिक सुदि अष्टमी उजाला।
तीजे पहर भरस्पतिवार सुन्दर मिलिया सुन्दर सार॥'

[2] देखिए—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृ० ४२० ३०

[3] देखिए—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—श्री परशुराम चतुर्वेदी—पृ० ४३२

[4] वही – पृ०

गरीबदास (बावरीपंथी)

बावरीपंथ के अन्तिम प्रसिद्ध सन्त गरीबदास जी ने गरीबदासी पंथ के नाम से स्वयं एक पंथ प्रवर्तित किया था। इनका जन्म वैशाख सुदी १५ को संवत् १७७४ में रोहतक जिले में स्थित तहसील झज्जर के छुड़ानी नामक गाँव में एक जमींदार जाट घराने में हुआ था। इनके सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। कहते हैं सन्त कबीर ने इन्हें दर्शन दिये थे और इन्होंने उन्हें अपना मानसगुरु स्वीकार कर लिया था। इन्होंने बहुत-सी साखी, सवैये, रेखते, झूलना, अरिल, बैंत रमैनी, आरती और बहुत-सी राग-रागिनियाँ लिखी थीं। 'हिम्मत बोध' नामक उनकी एक बृहत् रचना भी उपलब्ध हुई है। राग-रागिनियों को देखकर स्पष्ट प्रकट होता है कि वह बहुत बड़े गवैये थे। इन्होंने अपना अधिकांश जीवन छुड़ानी में गृहस्थ व्यतीत किया था। और अन्त में वहीं पर यह भादों सुदी दुइज से १८३५ में स्वर्गवासी भी हो गये। गरीबदास जी गृहस्थ थे। जनश्रुति के अनुसार उनके चार पुत्र और दो पुत्रियाँ बताई जाती हैं। इनके पंथवाले अब भी गृहस्थ ही रहते हैं।[1]

यारी साहब (१७२५-१७८०)

अकबर के शासनकाल में बावरी साहिबा ने बावरी पंथ का प्रवर्तन किया था।[2] इस पंथ में आगे चलकर ६-७ बहुत प्रसिद्ध सन्त हुए। उनमें से कुछ की रचनाओं में अच्छी साहित्यिकता मिलती है। ऐसे सन्तों में यारी साहब, बुल्ला साहब, जगजीवन साहब, गुलाल साहब, भीखा साहब, पलटू साहब का सन्त मत में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है[3]। बावरी साहिबा पर भी विशेष अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। मेरा विश्वास है कि जिनके शिष्यों में इतने उच्च कोटि के साहित्यिक सन्त हुए थे वह निश्चय ही स्वयं भी एक उच्च कोटि के साहित्यमर्मज्ञ और सन्त होंगे। किन्तु उनका साहित्य आज लगभग अनुपलब्ध है। ऐसी अवस्था में हमने उन्हें अपने विवेचन में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया है। इसीलिए उनके जीवनवृत्त पर भी प्रकाश नहीं डाल रहे हैं। यहाँ पर हम उनकी शिष्य-परम्परा में होनेवाले उन प्रमुख सन्तों के जीवनवृत्त पर, जिन्होंने निर्गुण काव्य धारा के विकास में साहित्यिक भाग लिया है, ही विचार करेंगे। कालक्रम में इन सन्तों में यारी साहब ही सर्वप्रथम आते हैं। यारी साहब बावरी साहिबा के शिष्य बीरू साहब के शिष्य थे। इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में हमें बहुत कम जानकारी

---

1. देखिए—उत्तरी भारत की संत परंपरा—पृ० ६०६००
2. देखिए—उत्तरी भारत की संत-परंपरा—श्री परशुराम चतुर्वेदी—पृ० ४०५-०२
3. देखिए—यारी साहब की रत्नावली—भूमिका—पृ० २ पर दिया हुआ शिष्य वृक्ष।

प्राप्त है। यारी साहब की रत्नावली में इनका स्थितिकाल १७२५ से लेकर १७८० के बीच में निश्चित किया गया है।[1] किन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है कि उनका देहांत उक्त काल के पूर्वार्ध में ही किसी समय हो चुका होगा। और यह सम्भवतः संत मलूकदास (संवत् १६३१), सन्त प्राणनाथ (संवत् १७५१) के समकालीन होंगे।[2] जो भी हो, इनका स्थितिकाल १८वीं शताब्दी का मध्य ही था।

यारी साहब जाति के मुसलमान थे। इनका पहला नाम यार मोहम्मद था। यह किसी शाही घराने से सम्बन्धित थे और किसी समय शाहजादा भी रह चुके थे। किन्तु किन्हीं कारणों से उन्हें भौतिक ऐश्वर्य से घृणा हो गई और यह सन्त मत में दीक्षित हो गये।[3] हिन्दी में इनकी[4] हमें अभी तक कुछ फुटकर रचनाएँ ही प्राप्त हुई हैं। इनके सम्बन्ध में अनुसन्धान करने की बड़ी आवश्यकता है।

बुल्ला साहब : (१६८६ १७६६)

बुल्ला साहब यारी साहब के प्रमुख शिष्य थे। यह गाजीपुर जिले में स्थित भुरकुड़ा नामक गाँव में रहते थे। सन्त मत में दीक्षित होने से पहले इनका नाम बुलाकीराम था। यह जाति के कुर्मी थे। यह एक जमींदार के यहाँ हल चलाने का काम करते थे। क्रुक साहब[5] ने इनके सम्बन्ध में एक कथा दी है, वह इस प्रकार है—'मरदन सिंह नामक एक जमींदार मालगुजारी न दे सकने के कारण तत्कालीन यवन-सरदार के द्वारा गिरफ्तार करके दिल्ली भेज दिया गया, उनकी रिहाई के लिए उन्हीं का एक नौकर जो सम्भवतः बुलाकीराम ही था, यारी साहब के पास गया और उनसे अपने स्वामी की मुक्ति की प्रार्थना की। यारी साहब के आशीर्वाद से मर्दनसिंह शीघ्र ही मुक्त कर दिये गये। इस घटना से मर्दनसिंह और उनका नौकर सम्भवतः बुलाकीराम बहुत अधिक प्रभावित हुए और दोनों ही यारी साहब के शिष्य हो गये। यह बुलाकी राम ही आगे चलकर बुल्ला साहब के नाम से प्रसिद्ध हुए। पं० परशुराम चतुर्वेदी[6] क्रुक साहब के इस कथन से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि मर्दनसिंह का बुल्ला साहब से कोई सम्बन्ध नहीं था। *मर्दनसिंह का सम्बन्ध गुलाल साहब से था।* इसी प्रकार की और भी अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। समस्त किंवद

---

[1] वही

[2] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृ० ५७६

[3] वही

[4] इनकी कुछ फारसी रचनाएँ भी थीं, जो अनुपलब्ध हैं।

[5] ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेस एण्ड अवध भाग २—पृ० ३९ ४०

[6] उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—पृ० ५८३

दन्तियों का सार यह है कि पहले यह गुलाल साहब के यहाँ हल जोतने का काम करते थे। इनकी अलौकिक भगवद्भक्ति देखकर गुलाल साहब इनके शिष्य हो गये। इनका जन्मकाल संवत् १६८८ माना जाता है और निधनकाल संवत् १७६६ निश्चित किया गया है[1]। इनकी रचनाओं का एक संग्रह बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित हुआ है। जिससे इनके महत्त्व का आभास होता है।

जगजीवन साहब (१७२७-१८१८)

सन्त साहित्य में जगजीवन साहब नाम के कई सन्तों का उल्लेख मिलता[2] है। किन्तु सबसे अधिक प्रसिद्धि बुल्ला साहब के शिष्य जगजीवन साहब की है। यह जाति के क्षत्रिय थे और खेती-बारी करके जीविकोपार्जन करते थे। प्रसिद्ध है कि एक दिन जब यह बैल चरा रहे थे तो उसी समय बुल्ला साहब और गोविन्द साहब नाम के सन्त वहाँ पहुँचे। उन्होंने उनसे चिलम के लिए आग ले आने को कहा। साधु-सन्तों के भक्त तो यह थे ही, इसलिए तुरन्त ही घर गये और चिलम के लिए आग तथा सन्तों के लिए एक कोरे में दूध ले आये। किन्तु यह दूध अपने पिता से पूछकर नहीं लाये थे, इसलिए डर रहे थे। घर पहुँचने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि जिस बर्तन से यह दूध ले गये थे, वह ज्यों का त्यों भरा हुआ है। यह तुरन्त ही उन साधुओं के पीछे दौड़ पड़े और उनसे दीक्षा देने का आग्रह किया। बुल्ला साहब ने उन्हें अपना शिष्य बना लिया।

सन्त-साहित्य के विद्वानों के मतानुसार इनका जन्म-संवत् १७२७ विक्रमी में जिला

---

[1] वही पृ ७८२

[2] इस विषय में बड़ा विवाद है। कोई इन्हें गुलाल साहब का शिष्य मानते हैं। कुछ इन्हें विश्वेश्वर पुरी का शिष्य कहते हैं। अधिकांश इन्हें बुल्ला साहब का शिष्य मानते हैं। मेरी धारणा है कि सन्त मत के अनुयायी कई जगजीवन नाम के सन्त हुए थे। हो सकता है कि एक गुलाल साहब के शिष्य हों और दूसरे विश्वेश्वर पुरी के शिष्य हों। किन्तु हमारे विवेच्य जगजीवन साहब बुल्लासाहब के शिष्य हैं।
एक जगजीवन साहब निरंजनी थे। देखिये—
उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृ ३६९
एक जगजीवन दादूपंथी थे। देखिये—
उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृ० ४२१,२२,२७,२८, ३०, ३१, ३२ और एक सत नामी भी थे देखिये—
उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—पृ० २६६, ३४०, ३४१, ४८६, ४६६, ४६७, ५१८ ५१२, ५२०

बाराबंकी के सरदहा गाँव में हुआ था[1] और इनकी मृत्यु जिला बाराबंकी के कोटवा नामक स्थान में संवत् १८१८ में हुई थी। इनके सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। इनके लिखे हुए ७ ग्रन्थ बतलाए जाते हैं, जिनके नाम क्रमशः ज्ञानप्रकाश, महाप्रलय, शब्दसागर, प्रथमविनाश, आगमपद्धति, प्रथम ग्रन्थ और प्रेम ग्रन्थ हैं। इनमें से शब्दसागर का प्रकाशन बेलवेडियर प्रेसवालों ने 'जगजीवन साहब की बानी' के नाम से दो भागों में किया है। कहते हैं, इन्होंने सतनामी सम्प्रदाय की पुनर्प्रतिष्ठा की थी।

गुलाल साहब (संवत् १७५०-१८५०)

इनका कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं होता है। अन्तस्साक्ष्य से पता चलता है कि यह किसी बसहरिया नामक स्थान के निवासी[2] थे जो सम्भवतः गाजीपुर में कहीं पर है। भुड़कुड़ा गाँव भी इसी के अन्तर्गत बताया जाता है। यह जाति के क्षत्रिय थे[3]। अपने यहाँ के हलवाहे सन्त बुल्ला साहब की अलौकिक भक्ति से प्रभावित होकर यह इनके शिष्य हो गये थे और सन्तमत में दीक्षित हो गये थे। इनका जन्म संवत् १७५० के आसपास बतलाया गया है और निर्वाण तिथि १८५० अनुमानित की जाती है[4]। इनकी रचनाओं का एक संग्रह गुलाल साहब की बानी के नाम से बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित हुआ है। कुछ विद्वानों के अनुसार गुलाल साहब का ही पहला नाम गोविन्द साहब था[5]। किंतु इस सम्बन्ध में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इनकी ज्ञानगुष्टी और राम सहस्र नाम की दो रचनाएँ और बतलाई जाती हैं, किंतु ये अभी तक प्रकाश में नहीं आई हैं[6]।

भीखा साहब : (१७७०-१८२०)

गुलाल साहब के शिष्यों में सबसे अधिक ख्याति भीखा साहब की हुई है। इनका जन्म-संवत् १७७० विक्रमी बतलाया जाता है और निर्वाण-तिथि १८२० निश्चित की गई है[7]। यह जाति के ब्राह्मण थे और सन्त मत में आने से पहले भीखानन्द चौबे

---

[1] दि निर्गुण स्कूल आफ हिंदी पोएट्री—पृ० ३१४
[2] गुलाल साहब की बानी—पृ० १० पंक्ति १२
[3] संत सुधा सार—वियोगी हरि—भाग २—पृ० ११६
डा० रामकुमार वर्मा ने इसका आविर्भाव काल १७५० से लेकर १८०० तक माना है। देखिए—हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० ४०४
[4] मिडिवल मिस्टीसिज्म—आचार्य सेन—पृ० १२४
[5] हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० ४०४
[6] उत्तरी भारत की संत परंपरा—पृ० ४४२
[7] संत सुधासार—वियोगी हरि भाग २—पृ० १३५

के नाम से प्रसिद्ध थे। इनका जन्म-स्थान आजमगढ़ के मोहम्मदाबाद नाम के परगना में स्थित रसालपुर नामक ग्राम बताया जाता है। इन्हें बाल्यकाल से ही वैराग्य हो गया था और सभी से सत्संगति में लीन रहते थे। इनका प्रमुख सत्संग-स्थल भुरकुड़ा नामक ग्राम बतलाया जाता है[1]। यहीं सन्त गुलाल साहब जो इनके गुरु थे, इनको उपदेश दिया करते थे। गुलाल साहब की मृत्यु के बाद संवत् १८१७ में[2] यह उनकी गद्दी के अधिकारी बने। भीखा साहब की बानियों का एक संग्रह बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त राम कुंडलियाँ, राम-सहस्रनाम, रामशब्द, रामराग, रामकवित्त और भगत बच्छावली आदि इनके अन्य ग्रन्थ बतलाये जाते हैं।

पलटू साहब

बावरी पंथ के प्रसिद्ध सन्तों में से पलटू साहब भी एक हैं। इनका जन्म संवत् १८५०[3] के आस-पास अवध के नवाब सुजाउद्दौला और दिल्ली के बादशाह शाह आलम के शासनकाल में फैजाबाद और आजमगढ़ की सरहद पर स्थित नगपुर जलालपुर नामक स्थान में एक बैश्य के घर में हुआ था। वह भीखा साहब के शिष्य गोविन्द साहब के पट्ट शिष्य थे[4]। इनके भाई पलटूप्रसाद ने इनका जीवनचरित लिखा था। जिसके अनुसार इन्होंने जलालपुर शहर में अपना मूँड़ मुड़ाया था और अवध में अपनी कण्ठी तोड़ी थी और अन्त में मस्त हो गये थे[5]। जनश्रुति है कि वह विरक्त न होकर सदैव ही गृहस्थ रहे थे। ऐसी अवस्था में पलटूप्रसाद मूँड़ मुड़ाने और कण्ठी तोड़नेवाली बात को आलंकारिक और प्रतीकात्मक रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। इससे उन्होंने पलटू साहब के सन्तमत में दीक्षित होने की बात व्यंजित की है, वैरागी होने की नहीं। सन्तमत में गेरुए वस्त्र रंगने का उपदेश किसी ने भी नहीं दिया है। अतएव हमारा विश्वास है कि संत पलटू ने गेरुवे वस्त्र कभी नहीं रँगाये होंगे। अंतस्साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि इन्हें अपने जीवन काल में ही बहुत अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। बहुत से लोग उनकी प्रतिष्ठा को देखकर उनसे ईर्ष्या भी करने लगे थे।[6] इनके जन्म और निधन-तिथि का पता नहीं

---

[1] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृ० ४८४

[2] उत्तरी भारत की संत-परम्परा—पृ० ४८३

[3] हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा—पृ० ४१५

[4] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृ० ५८८

[5] पलटू साहब की बानी—भूमिका—भाग १, पृ० १

'नगर जलालपुर मूड़ मुड़ावा अवध तुरी करधनियाँ।
सहज कर व्यौहार घर मैं पलटू निर्गुन बनियाँ॥'

[6] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृ० ५९०-९१

है। अयोध्या में उपलब्ध जनश्रुतियों के आधार पर इनका जन्म संवत् १८१० और निधन-तिथि १८७० के आस-पास मानी जा सकती है।[1] जनश्रुतियों में प्रसिद्ध है कि इन्हें लगभग ६० वर्ष की आयु प्राप्त हुई थी। पलटू साहब की बहुत-सी रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनकी रचनाओं का एक संग्रह तीन भागों में बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित हुआ है। फैजाबाद, आजमगढ़, अयोध्या आदि स्थानों में खोज करने पर इनकी और भी बानियाँ उपलब्ध हो सकती हैं।

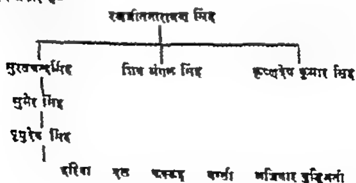
संत दरिया साहब (बिहारवाले)[2] (१७३१-१८३७)

मध्ययुग में दरिया नाम के दो संत हो गये हैं। एक का निवासस्थान मारवाड़ था और दूसरे का बिहार। बिहारवाले दरिया साहब का साहित्यिक महत्त्व मारवाड़ वाले दरिया साहब से अपेक्षाकृत अधिक है। मारवाड़वाले दरिया साहब की एक तो रचनाएँ ही बहुत कम उपलब्ध हुई हैं और जो कुछ उपलब्ध भी हैं उनमें साहित्यिकता की मात्रा बहुत कम है इसलिए हमने अपनी निर्गुण काव्यधारा के विवेचन में उन्हें अधिक महत्त्व नहीं दिया है। यही कारण है कि यहाँ पर हम बिहारवाले दरिया साहब के जीवनवृत्त पर ही प्रकाश डाल रहे हैं।

बिहारवाले दरिया साहब की जन्म-तिथि के संबंध में दो मत हैं। एक मत के प्रवर्तक चतुरीदास[3] नामक संत हैं। इनके अनुसार दरिया साहब का जन्म कार्तिक पूर्णिमा संवत् १६९५ में हुआ था और उनकी मृत्यु भाद्रपद चतुर्दशी संवत १८३८ में हुई थी।[3] संत चतुरीदास ने तिथि का निश्चितीकरण दो पीढ़ियों की मोहरों के आधार पर किया है। किन्तु इन मोहरों की प्रामाणिकता संदिग्ध है। धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने अपने संत कवि दरिया में इन मोहरों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते

---

[1] पलटू पन्थियों से बात करने पर यह तिथियाँ प्राप्त हुई हैं।
[2] संत दरिया एक अनुशीलन — डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी — पृ० 1
[3] संत चतुरीदास ने दरिया साहब का वंशवृक्ष भी दिया है। उसका निर्देश श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' में पृ० ५९८ पर किया है। वह इस प्रकार है—



हुए लिखा है कि—'परन्तु मोहर नम्बर दो में सन् १८११ खुदा है न कि संवत् १८११ क्योंकि विक्रम संवत् के आगे सन् नहीं लिखा जाता है। अतएव मेरे विचार से सन् १८११ को शुद्ध वर्ष मानना ठीक है। १८११ के अनुकूल विक्रम संवत् १८६८ पड़ेगा। जब कि दरिया साहब जिंदा नहीं थे। उनकी मृत्यु संवत् १८३७ में हो ही गई थी। अतः मैं अनुमान करता हूँ कि ये मोहरें दरिया साहब के उत्तराधिकारी गुरुदास, और यदि वह मर गये थे तो उनके बाद गद्दी पानेवाले टेकदास ने बनवाई होंगी।'[1] ब्रह्मचारी जी के मत से मैं भी सहमत हूँ। मोहरों की प्रामाणिकता संदिग्ध होने के कारण गुरुदास द्वारा निर्दिष्ट तिथि भी संदिग्ध ही मानी जायेगी।

दूसरी तिथि का निर्देश हमें बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित दरिया सागर की भूमिका में मिलता है।[2] उसमें दरिया साहब का जन्मकाल संवत् १७३१ और मृत्युकाल १८३७ दिया हुआ है। इन तिथियों को स्वीकार कर लेने पर उनकी आयु १०६ वर्ष की निकलती है। दरियापंथियों में उनका इतनी आयु पाना प्रसिद्ध भी है। अत एव मैं इन्हीं दोनों तिथियों को मान्य समझता हूँ।

संत दरिया साहब संत मत में दीक्षित होने से पूर्व मुसलमान थे और दरजीगिरी का कार्य करते थे। चतुरी साहब ने दरिया साहब का जो वंशवृक्ष दिया है जिसका निर्देश हम पीछे फुटनोट में कर चुके हैं उससे स्पष्ट प्रकट होता है कि इनके पूर्वज संभवतः क्षत्री वंश के हिंदू ही थे। बुकेनन साहब के अनुसार दरिया साहब को किसी मुस्लिम शासी ने परछवे में ग्यारह बीघे जमीन दी थी। दरिया साहब ने ऐसी रहते हुए उसी स्थान पर अपना जीवन व्यतीत किया।[3] समय-समय पर आसपास के स्थानों में जाकर उपदेश भी करते थे।

ग्रंथसागर से प्रमाणित होता है कि उन्होंने लगभग १६ ग्रंथ लिखे थे।[4] कुछ लोग उनके लिखे हुए २० ग्रंथ बतलाते हैं।[5] उनके ग्रंथों के नाम क्रमशः प्रेममूल, ज्ञानरतन, भक्ति हेतु, मूर्ति उखाड़, शब्द या बीजक, ज्ञान स्वरोदय, विवेकसागर, दरिया

---

१ वही—पृ० ८
२ दरिया साहब—बेलवेडियर प्रेस—भूमिका—पृ० १
३ दी जर्नल आफ दी बिहार एण्ड ओडिसा रिसर्च सोसाइटी भा० १४ (१९२८)—पृ० ११२
४ ज्ञान सर्वोदय में लिखा है—
ग्रन्थ षट्दश कहा बखानी सब मराद कहैं दिन अनुमानी।
उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—५९३
५ संत कवि दरिया—एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी—पृ० १७

सागर, ज्ञान दीपक, ब्रह्म विवेक, अमर सार, निर्भय ज्ञान, सहसरानी, ज्ञानमाला, दरिया नामा अग्रज्ञान, ब्रह्म चैतन्य, ज्ञानमूल, काल चरित्र और यज्ञ समाधि हैं। इनके अतिरिक्त भी इनके लिखे हुए ब्रह्म ज्ञान, रामविज्ञापन, गणेश गोष्ठी, रमेसर गोष्ठी, संत-सैया पारसखण्ड, ज्ञान मुक्ताहार, आदि ग्रंथ बतलाये जाते हैं।[1] इनमें कौन प्रामाणिक है और कौन अप्रामाणिक यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अब तक केवल इनके दो ग्रंथ और एक संग्रह-ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। उन दो ग्रंथों के नाम क्रमशः दरिया सागर और ज्ञान दीपक हैं। संग्रह का नाम 'दरिया साहब के' चुने हुए शब्द है।

मलूकदास

संत-साहित्य में हमें कई मलूकदास मिलते हैं। एक कबीर के शिष्य थे दूसरे कोई वैरागी थे[2] और तीसरे मलूक पंथ के प्रवर्तक निर्गुणियाँ संत थे। इनका जन्म संवत् १६३१ विक्रमी में कड़ा जिला इलाहाबाद में एक खत्री घराने में हुआ था। इनके पिता का नाम सुन्दरदास था। इनके पितामह जहरमल और प्रपितामह वेणीराम थे। इनके तीन भाई भी थे जिनके नाम हरिश्चन्द्र, शृंगारचन्द्र और रामचन्द्र थे। इनके जीवन की ये समस्त बातें संत सुथरादास, जो मलूकदास के भांजे थे, की मलूक परचयी नामक रचना से विदित होती हैं।[3] यह बाल्यकाल से ही भगवान् के अनन्य भक्त थे। इनके गुरु के संबंध में थोड़ा मतभेद है। कुछ लोगों के मतानुसार इन्होंने किसी द्रविड़ देशनिवासी विट्ठल दास से दीक्षा ली थी।[4] कुछ लोगों का कहना है कि यह अपने जीवन के प्रारम्भ काल में किसी देवनाथ नामक महात्मा के शिष्य हो गये थे। इनके आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश कराने का श्रेय महात्मा मुरार स्वामी को था। मूल गोसाईं चरित से ऐसी भी ध्वनि निकलती है कि यह इन्हीं महात्मा को साथ लेकर गोसाईं तुलसीदास जी के दर्शन करने गये थे।[5] संत सुथरादास की मलूक परचयी से यह पता चलता है कि विट्ठलदास मलूक के गुरु देवनाथ के गुरु के गुरु थे। मूल साहब

[1] देखिये—दरिया सागर की भूमिका—पृष्ठ २
और भी देखिए—
दि जर्नल आफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी भाग २७ (१९३८)
पृष्ठ ११३, ११८

[2] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी—पृष्ठ ५०७

[3] नागरी प्रचारिणी पत्रिका—भाग १५ 'संवत् १९९१' पृष्ठ ७९

[4] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृष्ठ ५०७

[5] मूल गोसाईं चरित—दोहा ८३

का मत इन सबसे भिन्न है।[१] उनके मतानुसार मलूकदास रामानन्द की शिष्य परम्परा में होनेवाले किसी प्रसिद्ध नामक महात्मा के शिष्य थे। किन्तु यह मत निराधार प्रतीत होता है। इन्होंने गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए ही भगवद् आराधना की थी। जनश्रुति है कि इनकी पत्नी का देहान्त पैंतीस वर्ष की अवस्था के प्रथम में ही हो गया था। इससे वह भगवद् भजन के लिए और भी निर्द्वन्द्व हो गये थे। मलूकदास की नौ रचनाएँ बतलाई जाती हैं। उनके नाम क्रमशः ज्ञानबोध, रतनखान, भक्तवच्छावली, भक्तिविवेकमाली, पुरुषविलास, दसरत्न ग्रंथ, गुरु प्रताप, अलखबानी एवं रामावतार लीला हैं।[२] इनके अतिरिक्त भी इनके लिखे हुए कुछ और ग्रंथ बतलाये जाते हैं किन्तु[३] इनमें से कौन से प्रामाणिक हैं और कौन से अप्रामाणिक कुछ कहा नहीं जा सकता।

संत चरनदास

चरनदास जी उत्तर मध्ययुग के एक महान् संत थे। इनके एक शिष्य रामरूप[४] की तथा शिष्या सहजोबाई[५] के मतानुसार इनका जन्म मंगलवार भादों सुदी तीज संवत् १७६० विक्रमी में और मृत्यु-संवत् १८३९ में हुई थी।[६] इनकी माता का नाम कुंजो देवी[७] और पिता का नाम मुरलीधर था। अंतस्साक्ष्य से कवि के वंशवृक्ष का भी पता चलता है। वह वंशवृक्ष इस प्रकार है —

शोभनदास, मथुरदास, गिरधर, सोहन, अमनदास, प्रागदास, मुरलीधर, चरनदास।

---

[१] हाफ्किन्स एवं ब्लाकमन—कृष्ण—भाग ३—पृष्ठ ७०१

[२] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृष्ठ ५०८

[३] विल्सन ने 'साखी' और 'विष्णु पद' नामक दो ग्रन्थ मलूक दास लिखित और बताये हैं। देखिए—
उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृष्ठ ५०८

[४] सन्त चरनदास—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित—पृष्ठ १५ पर रामरूपजी की ये पंक्तियाँ उद्धृत हैं।

[५] सहजो बाई की बानी—पृष्ठ ५३
भादों तीज सुदी मंगल वार पांच दिन चार।
सुखमन सदर सार हुए तब शुभ समया सब वार॥

[६] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—श्री परशुराम चतुर्वेदी—पृष्ठ ५९९

[७] सन्त चरनदास—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित—पृष्ठ १६ १७

[८] सहजो बाई की बानी—पृष्ठ ५२
'कुंजो देवी माता जिन्हारे चरनदास सुत जाई'

अंतःसाक्ष्य से यह भी पता चलता है कि कवि का जन्मस्थान डहरा नामक गाँव था और उनका पहला नाम रणजीत था। यह जाति के ढूसर बनिये थे।[1] अपने पिता के साथ यह बाल्यकाल में ही दिल्ली आ गये थे। एक बार घूमते हुए उन्हें शुकदेव जी के दर्शन हुए। उन्होंने ही इनका नाम चरनदास रख दिया। इन्हें श्रीमद्भागवत और ज्ञानयोग की शिक्षा भी गुरु ने ही दी थी। इन्होंने अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—संवत् १७८२ की चैत्र पूर्णिमा को सोमवार के दिन मैंने यह विचार किया कि कुछ ग्रन्थों की रचना करनी चाहिए। यह निश्चय करके मैंने उसी दिन कुछ बानियाँ बना डालीं। फिर मैंने वैसी ही पाँच हजार बानियाँ लिखीं और गुरु के नाम की गंगा में उन्हें प्रवाहित किया। इसके पीछे मैंने पाँच हजार अन्य पद लिखे जो तीसरे पाँच हजार रचनाएँ थीं उन्हें अपने साधुओं को दिया।[2] कहते हैं कि जब इनकी अवस्था आठ वर्ष की थी तब इनकी माता और मामा ने इन्हें विवाह के माया जाल में बाँधने की बड़ी चेष्टा की किन्तु चरनदास की अलौकिक भगवद्भक्ति के आगे सबको परास्त होना पड़ा।[3] उनकी भक्ति-भावना निरंतर बढ़ती गई। यहाँ तक की १९ वर्ष की आयु में एक दिन यह गुरु की खोज में दृढ़ प्रतिज्ञ होकर गंगा जी के तट पर अनशन करके बैठ गये। और यह निश्चय कर लिया कि जब तक गुरु नहीं मिलेंगे तब तक मैं यहाँ से नहीं उठूँगा। कहते हैं उनका यह दृढ़ निश्चय देखकर शुकदेव जी ने उन्हें दर्शन दिये और शुक्रताल जाने का आदेश दिया। यह प्रसन्न होकर शुक्रताल चले गये और वहाँ पर विधिपूर्वक शुकदेव जी के मार्ग में दीक्षित हुए। दीक्षा देकर शुकदेव जी ने उनका नाम श्यामचरन दास रख दिया। कहते हैं इन्होंने अपने महाप्रयाण के पूर्व ही अपनी देह-त्याग के दिन और समय का निर्देश कर दिया था। उसी के अनुरूप यह संवत् १८३९ में समाधिस्थ[4] हो गये। चरनदास जी अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। यद्यपि इनके माता-पिता ने पढ़ाने का प्रयास किया था किन्तु यह अधिक न पढ़ सके। अन्य सन्तों के सदृश यह निरक्षर भट्टाचार्य तो नहीं थे किन्तु सन्त सुन्दरदास के सदृश यह सर्वशास्त्र पारंगत भी नहीं थे।

सन्त चरनदास की रचनाओं से सम्बन्धित उन्हीं का एक कथन हम प्रस्तुत कर चुके हैं। इस समय उनकी लगभग इक्कीस रचनाएँ प्राप्त हैं जिनमें से कुछ प्रामाणिक और कुछ अप्रामाणिक प्रतीत होती हैं।[5]

---

[1] सहजो बाई की बानी—पृष्ठ ५२

'दूसर कुल में प्रकट हुए हैं बालक श्यामस् बधाई

[2] भक्ति सागर ग्रन्थ—ग्रन्थ सरोवर (नवल किशोर प्रेस—१९१३) पृष्ठ १५१

[3] सन्त चरणदास—डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित—पृष्ठ ४६

[4] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृष्ठ ६९९

[5] उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा पृष्ठ ७००

पन्द्रह ग्रंथों का एक संग्रह वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हुआ है और इक्कीसों ग्रंथों का एक संग्रह नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित हुआ है। इनकी कुछ बानियों का संग्रह तीन भागों में बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित हुआ है। मेरी अपनी धारणा है कि यदि कहीं अनुसंधान किया जाये तो इनके और भी ग्रंथ उपलब्ध हो सकते हैं।[1]

सहजोबाई

सहजोबाई चरनदास जी की प्रिय शिष्या थीं। यह अपने गुरु को भगवान् से भी अधिक मानती थीं।[2] इनकी जन्म और निधन काल की तिथि अभी तक निश्चित नहीं हो पाई है। इनका आनुमानिक स्थितिकाल १७७० से लेकर १८४० के आस-पास माना जा सकता है। यह राजपूताना के प्रतिष्ठित दूसर कुल की महिला थीं। इनके पिता का नाम हरिप्रसाद था यह इन्होंने स्वयं लिखा है।[3] अंतस्साक्ष्य से यह भी पता चलता है कि संवत् १८०० के आस पास इन्होंने सहज प्रकाश नामक ग्रंथ लिखा था। इस ग्रंथ की समाप्ति दिल्ली शहर के आस पास में स्थित किसी परीक्षितपुर नामक स्थान में हुई थी।[4] बाद में उन्होंने अपनी यह रचना अपने गुरु को समर्पित कर दी थी। यही सहज प्रकाश बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित हुई है। हो सकता है कि उन्होंने और भी कुछ रचनाएँ लिखी हों किन्तु वे अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी हैं।

दयाबाई

दयाबाई सहजोबाई की गुरु बहन थीं और चरनदास जी की शिष्या थीं। इनका स्थितिकाल १७७५ से लेकर १८३० के मध्य में माना जा सकता है। १८१८ में उन्होंने दयाबोध नामक ग्रंथ लिखा था। उस समय उनकी आयु निश्चय ही

---

१ वही—

२ सहजोबाई की बानी—पृष्ठ ९

'परमेसुर सूँ गुरु बड़े गावत वेद पुरान'

३ सहजो बाई की बानी—पृष्ठ ४९

'हरि प्रसाद की सुता नाम है सहजो बाई।
दूसर कुल में जन्म सदा गुरु चरन सहाई॥'

४ सहजोबाई की बानी—पृष्ठ ४९

'दिल्ली सहर सुहावना परीछितपुर में बास।
तहाँ समापत हो गई अचल सहज प्रकास॥'

१८ वर्ष के आस-पास रही होगी। भक्ति-विषयक काव्य भी प्रौढ़ ग्रंथ २५ वर्ष की कम अवस्था में लिखा जाना संभव नहीं होता है। यह भी दूसर जाति की वैश्य थीं। इन्होंने भी अपने गुरु के कुल में ही जन्म लिया था। इनकी रचनाओं का एक संग्रह दयाबाई की बानी के नाम से बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रंथ में दयाबाई लिखित विनयमालिका नामक ग्रंथ भी संकलित है। इस ग्रंथ में दयाबाई के स्थान पर सर्वत्र दयादास नाम मिलता है। ऐसा अनुमान है कि इन्होंने भक्ति के आवेश में अपना दयाबाई से दयादास नाम कर लिया था। भाषा, शैली और विषय को देखते हुए विनयमालिका किसी दूसरे की रचना नहीं मानी जा सकती।

तुलसी साहब

साहिब पंथ के प्रवर्तक संत तुलसी साहब की जन्म और निर्वाण तिथियों के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। बेलवेडियर प्रेस के सम्पादक ने उनका जन्मकाल संवत् १८२० और निधनकाल संवत् १९०० निश्चित किया है।[1] आचार्य क्षितिमोहन सेन[2] और पं० परशुराम चतुर्वेदी[3] संवत् १८१७ को उनका जन्म-काल और १८९९ को उनका निर्वाण काल मानने के पक्ष में हैं। इन दोनों विद्वानों ने उपर्युक्त तिथियाँ वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर निश्चित की हैं। अतः उनके स्वीकार करने में शायद किसी को आपत्ति न हो।

तुलसी साहब का जीवन वृत्त भी संदिग्ध है। कहते हैं कि ये बाजीराव पेशवा द्वितीय के बड़े भाई थे। इनका नाम श्यामराव पेशवा था। किन्हीं विशेष कारणों से प्रेरित होकर इन्होंने युवराज पद का परित्याग कर वैराग्य का मार्ग ग्रहण किया। इनके पिता ने इनकी बहुत खोज कराई किन्तु इनका कहीं भी पता न लग सका। अंत में उन्होंने निराश होकर अपने छोटे कुँवर बाजीराव को अपनी गद्दी सौंप दी। 'सुरतविलास' नामक[4] ग्रंथ के आधार पर यह कहा जाता है कि एक बार गंगा तट पर यह एक शूद्र और ब्राह्मण के झगड़े को निपटा रहे थे कि बाजीराव पेशवा द्वितीय के एक पंडित ने इन्हें देखकर पहचान लिया और अपने महाराज से जाकर इस बात का निवेदन कर दिया। बाजीराव पेशवा उनसे मिलने गये और उन्हें बड़े आदर-सत्कार के साथ अपने

---

[1] संत बानी संग्रह—भाग १, पृष्ठ २२६

[2] मेडीवल मिस्टीसिज्म आफ इंडिया—आचार्य क्षितिमोहन सेन—पृ० १६०-६१

[3] उत्तरी भारत की संत परम्परा—पृष्ठ ६५०

[4] उत्तरी भारत की संत परम्परा—पृष्ठ ६४५

पर ले गये। कहते हैं कि वहाँ पर वह टिक न सके और दो चार दिन में ही चुपचाप वहाँ से चले गये।

संत तुलसी साहब ने अपना सत्संग-स्थान हाथरस में गंगा के तट पर स्थित जोगिया गाँव बनाया था। लोगों का कहना है कि वैराग्य ग्रहण से पूर्व वह गृहस्थ भी थे। उनकी पत्नी का नाम लक्ष्मीबाई था। उनके एक पुत्र भी था जिसका नाम विनायक राव बतलाया जाता है।[1] इनके गुरु के संबंध में भी कुछ ज्ञात नहीं है। अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि इन्होंने किसी मानव देहधारी व्यक्ति को अपना गुरु नहीं बनाया था। इसके प्रमाण में वे उन्हीं की निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत करते हैं—

'कंज गुरु ने राह बताई देह गुरु से कुछ नहीं पाई।'[2]

इसी पंक्ति के आधार पर कुछ दूसरे विद्वान् यह कल्पना करते हैं कि उनके गुरु का नाम कंज गुरु या पद्म गुरु था। कंज शब्द से उन्होंने उसी नाम की ओर संकेत किया है। किन्तु हमें यह दूरारूढ़ कल्पना मान्य नहीं है। उपर्युक्त पंक्ति में हृदय कमलस्थ में स्थित यौगिक गुरु के लिए ही कंज गुरु शब्द का प्रयोग किया है।

तुलसी साहब के लिखे हुए आजकल केवल तीन ग्रंथ उपलब्ध हैं—घटरामायण, शब्दावली और रत्नसागर। शब्दावली भाग दो के अंत में एक पद्मसागर नाम अपूर्ण ग्रंथ भी छपा हुआ है। इन ग्रंथों में घटरामायण नामक ग्रंथ विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें पिंड और ब्रह्मांड के रहस्यों का उद्घाटन किया गया है।[3] ज्ञान भक्तियोग और वैराग्य परक उपदेशों की भी इसमें अच्छी वर्णना मिलती है। हमारी समझ में संत तुलसी साहब निर्गुण काव्य धाराओं के उन अंतिम संतों में से हैं जिनकी वाणी में सरस काव्य का अनुभव उन्मेष पाया जाता है। वह संत-साहित्य के एक कर्णधार कवि हैं।

विवेच्य सामग्री

उपर्युक्त कवियों की यदि समस्त रचनाएँ परिगणित की जाएँ तो एक हजार से भी अधिक निकलेंगी। इनमें से कौन-सी प्रामाणिक हैं और कौन-सी अप्रामाणिक यह निश्चित करना कठिन हो जायगा। ऐसी अवस्था में हमने अपने अध्ययन का आधार उन्हीं रचनाओं को बनाया है जो किन्हीं संत मत के विद्वानों द्वारा संगृहीत करके प्रकाशित की गई हैं। इन प्रकाशित रचनाओं में भी यथाशक्ति प्रामाणिक प्रमाणित होनेवाली रचनाओं का ही ग्रहण किया गया है। संत मत के प्रवर्तक महात्मा कबीर की रचनाओं के प्रमुख

---

1 देखिए—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—पृष्ठ ६४४

2 घटरामायण—बेलवेडियर प्रेस—भाग २—पृष्ठ ४१६

3 उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी—पृष्ठ ६५१

से संग्रह उपलब्ध हैं। इनके नाम से प्रसिद्ध बीजक ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुका है। कबीरपंथियों में इस ग्रंथ की सर्वाधिक प्रतिष्ठा है। किन्तु हमने इसको अपने अध्ययन में आधार नहीं बनाया है। हमें यह ग्रंथ बहुत प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता है। अपने इस मत के कारणों का निर्देश हम 'कबीर की विचारधारा' में कर चुके हैं। कबीर के संग्रहों में भी प्रामाणिकता की दृष्टि से हमें केवल दो ही महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। एक डा० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित और संकलित 'कबीर-ग्रंथावली' और दूसरा संत साहित्य के ममज्ञ डा० रामकुमार वर्मा द्वारा संकलित और सम्पादित 'संत कबीर'। प्रथम संग्रह का संकलन बहुत प्राचीन प्रतियों के आधार पर किया गया है जिनकी प्रामाणिकता के संबंध में संदेह नहीं किया जा सकता। संत कबीर में ग्रंथसाहब में दिये हुए पदों का संकलन किये गये हैं। ग्रंथसाहब के संबंध में किसी को भी संदेह नहीं हो सकता। कबीर के अध्ययन में हमने बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित ग्रंथों को जान-बूझकर छोड़ दिया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे ग्रंथ सर्वथा अप्रामाणिक हैं। हाँ इतना अवश्य है कि कबीर ग्रंथावली और संत कबीर की तुलना में इनमें संदिग्ध बानियों की संख्या अधिक है। इसीलिए हमने अपने अध्ययन में इनको स्थान नहीं दिया है। संत नानक का अध्ययन हमने अपने ग्रंथसाहब के आधार पर किया है। ग्रंथसाहब की प्रामाणिकता निर्विवाद है। संत रैदास की बानियों का अध्ययन गुरु ग्रंथ साहब तथा बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित रैदास जी की बानी तथा संत रैदास और उनका काव्य शीर्षक संग्रहों से किया गया है। धनी धर्मदास जी की बानियों के लिए बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित 'धनी धर्मदास जी के शब्द' संत बानी संग्रह और संत सुधासार नामक संग्रह अध्ययन का आधार बनाये गये हैं। संत दादू जी की रचनाओं के अध्ययन के लिए चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी द्वारा सम्पादित और संग्रहीत स्वामी दादूदयाल की बानी तथा बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित दादूदयाल की बानी भाग १ और दो—तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन द्वारा संग्रहीत दादू शीर्षक संग्रह ग्रंथों का उपयोग किया गया है।

निर्गुण काव्य धारा के अन्य संतों के अध्ययन का आधार केवल बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित ग्रंथ तथा संत साहित्य के ममज्ञ विद्वान् वियोगी हरि द्वारा सम्पादित संत सुधासार नामक ग्रंथ बनाये गये हैं। लेखक को यही सामग्री प्रामाणिक प्रतीत हुई है।

बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित ग्रंथों के संकलनकर्ता और सम्पादक पद ही निश्चल साधुसेवी सज्जन हैं। इसका प्रमाण यही प्रत्यक्ष यही है कि उन्होंने सम्पादक और संकलनकर्ता के रूप में अपना नाम कहीं पर भी नहीं दिया है। प्रत्येक भूमिका के अंत में अत्यन्त नम्रतापूर्वक अपना शब्द रखा गया है। इससे सम्पादक का अत्यंत विनय भाव झलकता है। प्रायः मैं संत बानियों की खोज और प्रकाश करने के सर्वप्रथम पग ही विनय सम्पन्न निश्चय साधुसेवी महात्मा होते हैं। सम्पादक ने संत-बानी पुस्तकमाला

का प्रकाशन किसी स्वार्थ भाव से नहीं किया था। उनका दृष्टिकोण श्रद्धात्मक और अन्वेषणात्मक ही अधिक है। उसने यथाशक्ति यही प्रयत्न किया कि जो बानियाँ प्रकाशित की जायें, वह प्रामाणिक ही हों। इसके लिए उसने अर्थ और श्रम का ही व्यय नहीं किया है, परन्तु अपनी असमिम प्रतिभा का भी उपयोग किया है। यह बात उसी के निम्नलिखित शब्दों से प्रकट होती है—"संतबानी पुस्तकमाला के छापने का अभिप्राय जगत्-प्रसिद्ध महात्माओं की बानी और उपदेश का जिनका लोप होता जाता है, बचा लेने का है। जितनी बानियाँ हमने छापी हैं, उनमें से विशेष तो पहले कहीं छपी ही नहीं थीं और जो छपी भी थीं प्रायः ऐसे छिन्न-भिन्न और बेजोड़ रूप में या क्षेपक और त्रुटि से भरी हुई कि उनसे पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता था। हमने देश-देशांतर से भारी परिश्रम और व्यय के साथ हस्तलिखित दुर्लभ ग्रंथ या फुटकल शब्द जहाँ तक मिल सके, असल या नकल कराके मँगवाये। भरसक तो पूरे ग्रंथ छाप गये हैं और फुटकल शब्दों की हालत में सर्व-साधारण के उपकारक पद चुन लिये हैं। प्रायः कोई पुस्तक बिना दो लिपियों का मुकाबिला किये और ठीक रीति से शोधे नहीं छापी गई है।"—यह कथन केवल आत्मश्लाघा मात्र नहीं है; इसमें सत्य का अंश बहुत अधिक है। यही कारण है कि संत-साहित्य का अध्ययन करनेवाले सभी विद्वानों ने अधिकतर संतबानी पुस्तकमाला के संग्रहों का ही उपयोग किया है। स्वर्गीय महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी तो इन संग्रहों को देखकर इतने प्रभावित हुए थे कि "न भूतो न भविष्यति" तक कह डाला था। और महाराजा काशीनरेश तो इसको सोने की तौल से भी महँगा मानते थे। मेरी भी अपनी धारणा यही है कि संतों की बानियों का यदि कोई प्रामाणिक संग्रह उपलब्ध है तो वे बेलवेडियर प्रेस के ही हैं। अन्य प्रामाणिक कहे जानेवाले संग्रह-ग्रंथ अधिकतर रूप से इसी संतबानी पुस्तकमाला के आधार पर तैयार किए गए हैं। इसीलिए हमने अपने अध्ययन का आधार इन्हीं ग्रन्थों को बनाया है। संतों की बानियों का दूसरा प्रामाणिक संग्रह वियोगी हरि जी का सन्त सुधासार नामक ग्रंथ है। इसके संग्रहकर्ता और सम्पादक श्री वियोगी हरि सन्त साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उन्होंने न केवल सन्त साहित्य का अध्ययन किया है, अपितु उसमें प्रकट की गई मूल भावना का अनुभव करने का भी प्रयत्न किया है।" प्रकाशक का यह कथन सत्य से दूर नहीं है। वियोगी हरि जी सन्त साहित्य के निश्चय ही एक सुयोग्य विद्वान् हैं और उन्होंने यह ग्रंथ बड़े परिश्रम से तैयार किया है। विनोबा जी ने तो इस संग्रह की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। वह निम्न है—'हिन्दी अब राष्ट्रभाषा बनी है तो उसके साहित्य का अध्ययन हिन्दुस्तान भर में होनेवाला है। इस दृष्टि से [illegible] के बाद का सार्वत्रिक और सर्वमान्य संग्रह हुआ है, ऐसा कोई संग्रह हिन्दी के लिए जरूर ही चाहिए। हरि जी के इस सन्त सुधासार का वैसा दावा तो नहीं है, लेकिन मुझे लगता है कि यह भी काफी प्रातिनिधिक संग्रह है और बाद में

जो हिन्दी सन्त साहित्य का व्यापक अध्ययन करना चाहते हैं उन्हें इससे बहुत उपयोग होगा, इसमें मुझे सन्देह नहीं।" विनोबा जी के शब्द अक्षरशः सत्य हैं। संग्रह को इतना महत्वपूर्ण और मान्य देखकर ही हमने अपने अध्ययन की आधारभूत सामग्री में उसको भी स्थान दिया है।

हिन्दी की निर्गुण विचारधारा के उदय और विकास की प्रेरक परिस्थितियाँ

जगत् में किसी भी विचारधारा का उदय और विकास निरालम्ब और निरपेक्ष नहीं होता। उसकी अपनी एक अलग पृष्ठभूमि होती है, उसके उदय और विकास की प्रेरक परिस्थितियाँ, प्रवृत्तियाँ और परम्पराएँ भी पृथक् ही होती हैं। इन सबको समझे बिना हम उस विचारधारा के सही स्वरूप को कदापि नहीं समझ सकते। हिन्दी की निर्गुण विचारधारा इस नियम का अपवाद नहीं है। अतएव उसका विवेचन करने से पूर्व हम उसके उदय और विकास की परिस्थितियों एवं प्रेरणाओं का निर्देश कर देना आवश्यक समझते हैं। सुविधा के लिए उनका वर्णन निम्नलिखित शीर्षकों से किया जा सकता है—(१) राजनीतिक प्रेरणाएँ। (२) धार्मिक प्रेरणाएँ। (३) सामाजिक प्रेरणाएँ। (४) परिस्थितिजन्य व्यक्तिगत प्रेरणाएँ।

(१) राजनीतिक प्रेरणाएँ—मध्ययुग की राजनीतिक परिस्थितियाँ बहुत ही विषम एवं विशृंखल थीं। यवनों के आक्रमण भारतीय वातावरण को अपनी धर्मान्धता, नृशंसता और उद्दंडता से झकझोर रहे थे। भारत पर अरबों के[1] आक्रमण ७वीं शताब्दी से ही आरम्भ हो गए थे किन्तु इन आक्रमणों से भारत का राजनीतिक वातावरण बिल्कुल प्रभावित न हो सका। भारतीय राजनीति की घटना सर्वप्रथम महमूद गजनवी[2] के आक्रमणों से विषम हुई थी। महमूद गजनवी ने भारत पर सत्रह आक्रमण किए थे। इनमें सबसे भयानक सोमनाथ का[3] आक्रमण कहा जाता है। इस आक्रमण का

[1] अरब और भारत के सम्बन्ध—मूल लेखक सैयद सुलेमान नदवी—अनुवादक रामचन्द्र वर्मा (१९३०), पृष्ठ १९

[2] एन एडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया—आर० सी० मजूमदार, राय चौधरी आदि (१९५०, लन्दन) पृष्ठ २०१

[3] हिस्ट्री आफ इण्डिया एज़ टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स—इलियट एण्ड डाउसन (लन्दन, १८६६ ई०) भाग २, पृष्ठ १८३

और भी देखिए—ई० आर० ई० १२, पृष्ठ १०

इतिहास हिन्दू जाति के आँसुओं से लिखा हुआ है। भारतीय इतिहास का वह पहला अवसर था जब भारतीय धर्म का चिरलालित सुमन विदेशियों के द्वारा बुरी तरह से पददलित किया गया था। कहते हैं सोमनाथ के मन्दिर की चिरउपास्या मूर्ति उसने स्वयं तोड़ी थी और मन्दिर की अनन्त धन-राशि गाड़ियों और ऊँटों पर लादकर ले गया था। राजपूतों ने उसका सामना करने की चेष्टा भी की थी, किन्तु भाग्य ने उनका साथ नहीं दिया, वे बुरी तरह से पराजित हुए और हजारों की संख्या में वीर गति को प्राप्त हुए। महमूद के अन्य आक्रमण भी सोमनाथ के आक्रमण के सदृश ही प्रलयंकारी थे। उसके इन आक्रमणों से भारतीय राजपूतों की नींव हिल गई।

महमूद गजनवी के बाद मोहम्मद गोरी ने लूटमार करके धन एकत्रित करने, मन्दिर तोड़ने, निरीह हिन्दुओं की नृशंस हत्या करने की दानवी परम्परा को जीवित रखने की चेष्टा की। वह बहुत छली और कूटनीतिज्ञ था। अपनी कूटनीति और छल के बल पर उसने पृथ्वीराज जैसे दिल्ली के सम्राट् को पराजित करके बंदी बना लिया था। दिल्ली-विजय के इस अवसर पर उसने नगर के लाखों हिन्दुओं को तलवार के घाट उतार दिया था। तत्कालीन इतिहासकार इब्ने असीर ने अपने कामिल तवारीख[1] नामक इतिहास ग्रंथ में उसके रोमहर्षक अत्याचारों का विस्तार से वर्णन किया है।

इन धर्मान्ध बर्बरों और धर्मद्रोही लुटेरों के पश्चात् गुलाम बादशाहों का समय आया। कुतुबुद्दीन ऐबक[2] (१२०६-१२१०) इस वंश का पहला बादशाह था। दिल्ली का पहला मुसलमान सुलतान भी वही माना जाता है। यह बड़ा ही क्रूर और धर्मान्ध था। तत्कालीन इतिहासकार हसन निज़ामी ने अपने ताजुलमआसीर नामक इतिहासग्रन्थ[3] में उसके हिन्दुओं के प्रति किये गये अत्याचारों का वर्णन किया है। उसने लिखा है कि ऐबक ने बनारस, कोयल और ग्वालियर[4] नामक नगरों पर आक्रमण करके उनको बुरी तरह से नष्ट भ्रष्ट किया था। इतिहासकार कहते हैं कि ऐबक ने केवल बनारस में ही लगभग एक हजार मन्दिरों को तुड़वाकर उनके स्थान पर मसजिदें बनवाई थीं। कोयल नगर पर किये आक्रमण प्रसंग में उसके

---

[1] सल्तनत आफ देहली डा० ए० एल० श्रीवास्तव पृष्ठ ११४-१६
[2] इस ग्रन्थ का विवरण ईलियट तथा डाउसन लिखित हिस्ट्री आफ इण्डिया एज़ टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स (लन्दन, १८६६-७७) भाग २ पृ० देखिए।
[3] हिस्ट्री आफ इण्डिया एज़ टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, इलियट तथा डाउसन भाग २, पृष्ठ २२१
[4] सल्तनत आफ देहली, पृष्ठ १२० तथा देखिये—ब्रिग्स फ़िरिश्ता, कलकत्ता—मैकमिलन (१९०९), भाग १ व २, भूमिका पृष्ठ ७२

है, आक्रमण करके उसने वहाँ की समस्त हिन्दू जनता को तलवार के बल पर इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया था। जिन लोगों ने इस्लाम धर्म का स्वीकार करने में आनाकानी की, उन्हें क्रूरतापूर्वक काट डाला गया। उसकी कालिंजर विजय की कथा और भी अधिक करुण है। उसने इस नगर के सैकड़ों हिन्दू-मन्दिरों का ध्वंस करके उनके स्थान पर मसजिदें बनवाईं और लगभग एक लाख हिन्दुओं की हत्या की और लगभग पचास हजार हिन्दुओं को गुलाम बनाकर ले गया।

कुतबुद्दीन ऐबक के पश्चात् अल्तमश[1] सिंहासनारूढ़ हुआ। वह कुतबुद्दीन के सदृश धर्मान्ध होते हुए भी उतना क्रूर नहीं था। इसके शासनकाल में हिन्दू जनता को थोड़ा साँस लेने का अवसर मिला ही था कि चंगेजखाँ[2] का आक्रमण हो गया जिससे भारत को बड़ी गहरी क्षति पहुँची। अल्तमश के पश्चात् शासन की बागडोर उसकी दुहिता रजिया[3] के हाथ में गई। स्त्री होने के नाते वह बर्बर, क्रूर, नृशंस और धर्मान्ध नहीं थी। किन्तु उसे अधिक दिन राज्य करने का अवसर नहीं मिला। सिंहासनारूढ़ होने के चार वर्ष पश्चात् उसकी हत्या कर डाली गई। रजिया के बाद बलबन[4] बादशाह बना। वह अपने पूर्ववर्ती सुल्तानों के सदृश ही बर्बर, क्रूर, नृशंस, धर्मान्ध और अत्याचारी था। मंगोलों ने उसे चैन नहीं लेने दी। मंगोलों के[5] आक्रमणों से वह तंग आ गया था। यदि उसे मंगोलों के आक्रमणों का भय न होता तो सम्भवतः वह हिन्दुओं के प्रति और भी अधिक अत्याचार करता। बलबन के पश्चात् गुलाम वंश के पैर उखड़ गये। मंगोलों के[6] हमलों ने अन्त में उसे बिल्कुल पंगु बना दिया।

[1] १२९० के आसपास दिल्ली के सिंहासन पर खिलजी वंश का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध बादशाह अलाउद्दीन[7] माना जाता है। वह

---

[1] एम एरमांस हिस्ट्री आफ इण्डिया (१९५०) पृष्ठ २८१-८५
सल्तनत आफ देहली — डा० श्रीवास्तव (१९५०) पृष्ठ १११
[2] ,, ,, ,, ,, ,, ,, ११९
[3] एम एरमांस हिस्ट्री आफ इण्डिया (१९५०) पृष्ठ २८५-८८
सल्तनत आफ देहली (१९५०) पृष्ठ १२१-२५
[4] ,, , ,, ,, १२१
एम एरमांस हिस्ट्री आफ इण्डिया (१९५०) पृष्ठ २८८, २९४
[5] सल्तनत आफ देहली पृष्ठ ४०१
[6] ,, ,, अध्याय १०
[7] ,, ,, पृष्ठ २११

महान् क्रूर और रक्त-पिपासु सुलतान था। उसका व्यवहार हिन्दुओं के प्रति बहुत ही कठोर था। अब्दुल वस्साफ ने[1] अपने तजीयत अमसार नामक इतिहास ग्रन्थ में लिखा है कि अलाउद्दीन खिलजी ने खम्भात की खाड़ी पर स्थित कम्बायत नगर को जीतकर वहाँ के हिन्दू पुरुषों को मारकर रक्त की नदियाँ बहा दी थीं और उनकी लगभग २० हजार युवा स्त्रियों को गुलाम बनाकर ले गया था। इसी बादशाह के सम्बन्ध में एक इतिहासकार[2] ने लिखा है कि उसके पास ५० हजार गुलाम थे। यह भी कहते हैं वह अपना शासन उलेमाओं के मतानुसार चलाता था। उसने एक बार अपने काजी से पूछा कि इस्लाम धर्म में हिन्दुओं के प्रति कैसे व्यवहार का आदेश दिया गया है। इसके उत्तर में काजी ने कहा कि हिन्दू लोग पृथ्वी के सदृश नीच हैं। उनसे यदि चाँदी माँगी जावे तो उन्हें विनयपूर्वक स्वर्ण भेंट करना चाहिए और यदि मुसलमान उसके मुँह में थूकना चाहता है तो उसे अपना मुँह खोल देना चाहिए। पैगम्बर की आज्ञा है कि यदि हिन्दू इस्लाम को स्वीकार न करें तो उन्हें कैद करके खूब सताया जाना चाहिए और अन्त में उन्हें मारकर उनकी सम्पत्ति छीन लेनी चाहिए। इस पर बादशाह ने उत्तर दिया कि मैं पहले ही हिन्दुओं को यह आदेश दे चुका हूँ कि वे अधिक से अधिक १ साल के लिए मोटा अनाज और मोटे वस्त्र भरकर रख सकते हैं। इसी बादशाह के लिए कहा जाता है कि उसके महल के सामने ४० या ५० हिन्दुओं की लाशें सदैव पड़ी रहती थीं[3]। अलाउद्दीन के पश्चात् खिलजीवंश में कोई ऐसा सुल्तान नहीं हुआ जो दिल्ली के सिंहासन की रक्षा कर सकता। फलस्वरूप दिल्ली का सिंहासन तुगलक वंश के अधिकार में चला गया। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध बादशाह मोहम्मद तुगलक[4] माना जाता है। वह एक सनकी, क्रूर और जिद्दी बादशाह था[5]। काफिरों को मारने और मन्दिरों को तोड़ने में वह पूर्ववर्ती सुल्तानों के सदृश ही अपना गौरव समझता था। महाराष्ट्र के[6] प्रसिद्ध सन्त नामदेव के प्रति उसने जो दुर्व्यवहार किया था, उसे हिन्दू जाति कभी नहीं भुला सकती। मोहम्मद तुगलक के पश्चात् फीरोज तुगलक बादशाह हुआ। यह बहुत ही धर्मान्ध और अत्याचारी था। एक इतिहासकार[7]

---

१ ग्रिग्स रिलीजन भाग १, २, अजमेर—मैकलिन, भूमिका पृष्ठ ११ से उद्धृत।
२ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ४२ ,,
३ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ११ ,,
४ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ३१ ,,
५ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ४३ ,,
६ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ४३ ,,
७ ,, ,, ,, हिस्ट्री ऑफ़ क़राउना टर्क्स इन इंडिया, ईश्वरी प्रसाद

ने लिखा है कि उसने भिलसा नगर पर आक्रमण करके वहाँ के प्रसिद्ध मन्दिरों की मूर्तियाँ तुड़वाकर दिल्ली में लाकर अपने महल के सामने डलवा दी थीं। वहाँ उनका वह हजारों हिन्दुओं के खून से स्नान कराता था। यह बादशाह धर्मान्ध ही न था, अपितु लुटेरा भी था। उसने मालवा नगर को दो बार इस प्रकार लूटा था कि शहर में सिवाय मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त और कोई वस्तु शेष नहीं रह गई थी[1]। इसने लाखों हिन्दुओं को गुलाम बनाया था। इसके पास, कहते हैं, दो लाख गुलाम थे[2]। फीरोजशाह के बाद तुगलक वंश भी अपनी अन्तिम साँसें भरने लगा। तैमूर के आक्रमण ने उसे बिल्कुल समाप्त कर दिया।

तैमूर ने सन् १३९८[3] में भारत पर आक्रमण किया था। अपने आक्रमण के लक्ष्य और हेतु को स्पष्ट करते हुए उसने लिखा है कि भारत पर आक्रमण करने का मेरा लक्ष्य काफिरों को दण्ड देना, बहुदेववाद और मूर्तिपूजा का अन्त करके गाजी और मुजाहिद बनना है।[4] उसने अपने इस लक्ष्य की पूर्ति भी खुलकर की थी[5]। कहते हैं, उसने केवल एक दिन में एक लाख निर्दोष हिन्दुओं की हत्या की थी।[5] कुल मिलाकर ५ लाख हिन्दू मार थे। इतिहासकारों का कहना है कि उसका एक-एक सिपाही सौ-सौ हिन्दू स्त्री और पुरुषों तथा बच्चों को गुलाम बनाकर ले गया था। तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली के सुलतान की सारी शासन-व्यवस्था शिथिल कर दी। सम्पूर्ण भारत में अस्त-व्यस्तता और विशृंखलता फैल गई। तैमूर के लौट जाने के पश्चात् दिल्ली का सिंहासन लोदी-वंश के हाथ में चला गया।

लोदी-वंश का सबसे प्रसिद्ध बादशाह सिकन्दर लोदी[7] माना जाता है। यह सुलतान भी बड़ा ही अत्याचारी और अन्यायी था[8]। इसके सम्बन्ध में फरिश्ता ने

---

[1] सिन्ध रिव्यूज भाग १, २, लगभग—अंकलित, भूमिका पृष्ठ ४४ से उद्धृत

[2] एन एडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ ३६६

[3] देखिए सल्तनत आफ देहली, पृष्ठ १२८

[4] एन एडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, इलियट ऐण्ड डाउसन, भाग ३, पृष्ठ ३९४ (क० हि०)

[5] " " " " " पृष्ठ ३६७

[6] सल्तनत आफ देहली, पृष्ठ २८७

[7] सल्तनत आफ देहली, पृष्ठ २५१

[8] इसके सम्बन्ध में रिट्स ने अपने 'इण्डियन इस्लाम' में लिखा है कि इसने ८८ दिन में १५०० हिन्दू मरवाये थे।

राम दुलारी—राम चौधरी, (१९७१)

लिखा है कि इसने लखनऊ के ब्राह्मण के केवल इतना कहने पर कि उसका धर्म भी इस्लाम के बराबर सच्चा है, कत्ल करवा दिया था।[1] संत कबीर के प्रति किये गये अत्याचारों से तो प्रायः सभी लोग परिचित हैं।[2] इसने केवल हिन्दू जाति और धर्म पर ही कुठाराघात करने की चेष्टा नहीं की, अपितु इस्लाम धर्म के प्रचार के लिए इसने फीरोजशाह के बराबर राजकीय कोष और अधिकारियों का भी उपयोग किया था।

लोदी वंश के बाद भारत का शासनसूत्र कुछ दिनों के लिए शिथिल हो गया और छोटे छोटे राज्य प्रबल हो गये। इसी समय बाबर[3] ने भारत पर आक्रमण किया। हिन्दू वीरता के प्रतीक राणा सांगा की पराजय हुई और स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील भारत पुनः चिरकाल के लिए बन्दी बन गया। बाबर वैसे तो एक योग्य शासक था, किन्तु हिन्दुओं से वह भी घृणा करता था। उनके प्रति उसने निर्दयता का व्यवहार किया था। सैयदपुर के हिन्दुओं के प्रति किये गये दुर्व्यवहारों और अत्याचारों का संकेत गुरु नानक[4] ने जो कि वहाँ पर उपस्थित थे, किया है। उन्होंने लिखा है कि पाप का युग तलवार का युग है, बादशाह कसाई हैं, हिन्दू जानवर हैं। न्याय पर लगाम चढ़ गया है, असत्य के इस महान् अन्धकार में सत्य का सूर्य दिखाई नहीं पड़ता। मैं उसकी खोज में व्याकुल हूँ। अहंकार से विमूढ़ित मैं दुःख से रोता हूँ कि मोक्ष किस प्रकार मिलेगा। बाबर के बाद कुछ दिन तक शेरशाह[5] का प्रतापपूर्ण वर्चस्व रहा। किन्तु उसके उत्तराधिकारी उसके द्वारा उपार्जित साम्राज्य की रक्षा न कर सके और वह फिर मुगलों के आधिपत्य में चला गया। शेरशाह एक बहुत ही योग्य शासक था। वह झूठी धर्मान्धता और निरर्थक अत्याचार में विश्वास नहीं करता था। उसके बाद शासन की बागडोर मुगलवंश के महान् सम्राट् अकबर के हाथ में आई। अकबर[6] एक योग्य शासक था। हिन्दुओं के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उसका व्यवहार बुरा नहीं था। इसके उत्तराधिकारी सम्राट् जहाँगीर और शाहजहाँ कलाप्रिय और विलासी शासक थे और धर्मान्ध कम।[7] इन सम्राटों के शासनकाल में हिन्दुओं को थोड़ा विश्राम मिला। किन्तु विश्राम के ये दिन गिने हुए ही निकले। इसके बाद अपने तीन भाइयों की हत्या करके औरंगजेब[8] दिल्ली के सिंहासन पर

[1] मुस्लिम रूल इन इण्डिया—डा॰ ईश्वरीप्रसाद,

[2] सल्तनत आफ देहली, पृष्ठ २५८

[3] ऐन ऐडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ ४३५

[4] सिख रिलीजन, भाग १, २, भूमिका पृष्ठ ४१

[5] ऐन ऐडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ ४३७, ४४१

[6] ,, ,, ,, ,, ४५५

[7] ,, ,, ,, अध्याय ३ पृष्ठ ४६१

[8] ,, ,, ,, ,, ,, ४८९

आरूढ़ हुआ। यह बड़ा ही कट्टर धर्मान्ध बादशाह था। हिन्दू जाति और धर्म के लिए उसने अकेले ही इतने अत्याचार किये थे, जितने मुगलवंश के अन्य समस्त बादशाह मिलकर भी न कर सके थे। औरंगजेब के संबंध में मासीरए आलमगीरी[1] नामक ग्रंथ में लिखा है कि धर्म इस्लाम के रक्षक आलमगीर औरंगजेब के कानों तक यह बात पहुँची कि थाथा, मुल्तान और बनारस के ब्राह्मण लोग बहुत दुष्ट हो गये हैं, जो अपने धर्म-ग्रंथों की शिक्षा में लगे रहते हैं और दूर-दूर के हिन्दू मुसलमान उनसे शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनके पास आते हैं। यह सुनते ही उसने अपने राज्यपालों को आज्ञा भेजी कि वे लोग अपने प्रान्त के उपर्युक्त स्थानों के मन्दिरों को तोड़कर उनकी पाठशालाओं को भ्रष्ट कर, बुतपरस्ती की सारी शिक्षा-दीक्षा समाप्त कर दें। राज्यपालों ने उसकी आज्ञा का पालन कठोरता के साथ किया। उन्होंने उपर्युक्त स्थानों के मन्दिरों को तुड़वाकर उनके स्थान पर मसजिदें बनवा दीं, उनके पुस्तकालय जलवा दिये और पाठशालाएँ नष्ट कर दीं। अपने शासन के ११वें वर्ष में[2] उसने मथुरा के मन्दिरों को तोड़ने की आज्ञा दी। उसके सेनापतियों ने मथुरा के कुछ मन्दिरों को तोड़कर एक बहुत बड़ी मसजिद की नींव डाली। इसी की आज्ञा से १६८० में[3] शाहजादा मोहम्मद आजम और खानजहाँ बहादुर ने उदयपुर पर आक्रमण किया। यद्यपि राजपूतों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से मन्दिरों की रक्षा करने का प्रयत्न किया, किन्तु समुद्र के समान यवन सेना के आगे दस-बीस सरदारों की गिनती भी क्या होती। यवनों ने वहाँ की जनता को लूट लिया और मन्दिर तथा मूर्तियाँ तोड़ डालीं। हजारों की हत्या की, हजारों का धर्म भ्रष्ट कर दिया और सैकड़ों को गुलाम बना लिया। कहते हैं कि चित्तौड़ के आक्रमण के अवसर पर औरंगजेब मन्दिरों को तोड़ने स्वयं गया था। वहाँ के प्रसिद्ध ६३ मन्दिरों को उसने अपनी आँखों के सामने विध्वंस कराया था। सिक्खों के नवें गुरु तेगबहादुर को तलवार के घाट उतारने का मूर्खतापूर्ण कार्य भी इसी शासक ने किया था। गुरु गोविन्दसिंह के चार पुत्रों की हत्या का उत्तरदायी भी यही नराधम था।[4] इसके शासनकाल में हिन्दुओं को अपना धर्मपालन करने का अधिकार न था। वे अपने मन्दिरों का पुनरुद्धार भी नहीं कर सकते थे। गंगा स्नान करने तक की उन्हें आज्ञा न थी। कोई भी हिन्दू किसी सार्वजनिक स्थान में धार्मिक अनुष्ठान और पूजा भी नहीं कर सकता था।

---

[1] सिख रिलीजन भाग १ व २, लेखक—मैकालिफ (१९०९) भूमिका पृ० ४० से उद्धृत।

[2] ग्राउज हिस्ट्री आफ मथुरा—ग्राउज, पृष्ठ ३१६

[3] दी सिख रिलीजन भाग १ व २, मैकालिफ, भूमिका, पृष्ठ ८८

[4] ,, ,, ,, ९९

इस प्रकार हम देखते हैं अकबर शाहजहाँ और जहाँगीर के युग में हिन्दू जाति में थोड़ी-बहुत आशा का संचार हो गया था। वह आगे चलकर औरंगजेब की क्रूर नीति द्वारा पददलित कर दिया गया। बची हुई कमी नादिरशाह[1] और अहमदशाह[2] के आक्रमणों ने पूरी कर दी। हिन्दुओं की आशा-लता चिरकाल के लिए मुर्झा गई।

उपर्युक्त राजनीतिक परिस्थितियों के प्रकाश में हमें निम्नलिखित राजनीतिक प्रवृत्तियाँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं।

१—दिल्ली का सिंहासन, चपल राजलक्ष्मी की भाँति किसी भी राजवंश के अधिकार में नहीं रह पाता था। इसी प्रकार बादशाहों का शासन-काल भी अधिक दिन नहीं ठहर पाता था। कभी कभी तो एक-एक वर्ष में दो-दो तीन-तीन सुलतान सिंहासनारूढ़ हो जाते थे। सभी बादशाह स्वेच्छाचारी[3] और स्वतन्त्र प्रकृति के होते थे। कभी-कभी उनकी प्रकृति एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होती थी। इसका दुष्परिणाम जनता को वह भी विशेषकर हिन्दू जनता को उठाने पड़ते थे। वह सदैव ही त्रस्त और सशंकित रहती थी। इस प्रकार शासन सूत्र की अस्थिरता से देश में सदैव ही अशान्ति और अस्त-व्यस्तता फैली रहती थी।[4]

२—निरन्तर लाखों निरीह निरपराधी हिन्दू पशुओं की भाँति तलवार के घाट उतार दिये जाते। कोई भी हिन्दू अपने को किसी भी परिस्थिति में सुरक्षित नहीं समझ सकता था। मृत्यु की तलवार सदैव ही उसके सर पर लटकती रहती। उसे पता नहीं कि वह किस समय उसका शिकार बन जाये।

३—हिन्दुओं की सम्पत्ति बिलकुल सुरक्षित नहीं थी। यवन लोग जब चाहते थे लूट लेते थे। यवन बादशाहों ने उन्हें हर प्रकार से दीन और दरिद्र बना दिया था। यहाँ तक कि धनी से धनी हिन्दू के घर में ६ महीने के खाने का आधा अन्न भी नहीं रहता था। यही हालत वस्त्रों की भी थी। सम्पन्न से सम्पन्न हिन्दू के घर से एक भी मूल्यवान वस्त्र नहीं निकल सकता था। उन्हें मूल्यवान वस्त्र पहनने की आज्ञा भी नहीं थी।

४—हिन्दुओं की आँखों के सामने ही उनके मंदिर तोड़े और मसजिद किये जाते थे। उनकी चिरस्थापित मूर्तियाँ चकनाचूर करके पैरों के नीचे कुचली जाती थीं। कुछ सुलतान तो उन्हें हिन्दुओं के रक्त से स्नान भी कराते थे। मंदिरों के स्थान पर मस्जिदें बनवा दी जाती थीं।

---

[1] एन एडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ ५११

[2] ,, ,, ,, ,, ५१७

[3] सल्तनत आफ देहली पृष्ठ ४२७

[4] सल्तनत आफ देहली—डा० ए० एल० श्रीवास्तव—पृष्ठ ५२६

५. राजनीतिक भेदभाव[1] अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। कोई भी हिंदू उच्च पद पर नियुक्त नहीं किया जाता था। मोहम्मद तुगलक ने एक बार किसी रतन नामक हिंदू[2] की योग्यता पर मुग्ध होकर उसे उच्च पद पर नियुक्त भी किया था। किंतु उस बिचारे को इस पद के लिए बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। ईर्ष्यालु मुसलमानों ने उसकी हत्या कर डाली। शेष दिल्ली के सुलतानों में से किसी के शासनकाल में भी किसी हिंदू को ऊँचा पद नहीं दिया गया। इस दृष्टि से हम मुगल सम्राट् अकबर को अपवाद कह सकते हैं। उसने भेदभाव की भावना को कुछ कम करने की चेष्टा की थी। सुलतान लोग तो इतने अधिक धर्मांध और पक्षपाती थे कि वे इस्लाम में परिवर्तित हिंदुओं को भी उच्च पद पर नियुक्त नहीं करते थे और न ही देख सकते थे।

६. मध्यकाल की गुलामों की प्रथा हिन्दुओं के लिए अभिशाप बनी। यवन बादशाह हिन्दुओं को लाखों की संख्या में गुलाम बना लेते थे।[3] कहते हैं कि अलाउद्दीन के पास ५० हजार गुलाम थे। फीरोज तुगलक के समय में गुलामों की संख्या बढ़कर दो लाख तक पहुँच गई।[4] यह लोग एक एक नगर से ५० हजार गुलाम बना लेते थे। कुतुबुद्दीन[5] और अलाउद्दीन[6] के शासन-काल में पुरुष ही केवल गुलाम नहीं बनाये जाते थे वरन् स्त्रियाँ भी लौंडी बना ली जाती थीं। अलाउद्दीन के प्रसंग में हम अभी बता आये हैं कि वह केवल कम्भायत नगर से २० हजार युवतियों को लौंडी बनाकर लाया था।[7]

७. हिन्दू लोगों को अपने धर्मपालन का अधिकार नहीं था। अधिकांश यवन बादशाहों के समय में उन्हें गंगा-स्नान करने तक की मनाई कर दी गई थी। किसी भी सार्वजनिक स्थान पर बैठकर वे किसी प्रकार का धार्मिक अनुष्ठान व पूजा नहीं कर सकते थे।[8]

८. उस युग में हिन्दू ललनाओं की मर्यादा भी सुरक्षित नहीं थी। मुसलमान बादशाह और सरदार अपनी शादियाँ अधिकतर उच्च कुल की हिन्दू कन्याओं से

---

[1] सल्तनत आफ देहली, पृष्ठ ४८१
[2] ,, ,, ४९०
[3] सल्तनत आफ देहली पृ० ४८७-८८
[4] दी एडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० ३९९
[5] हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स भाग २
[6] (१८६६-७०) पृ० २२१
[7] सिख रिलीजन भाग १ व २, भूमिका पृ० ७२
[8] सल्तनत आफ देहली, पृ० ४८०-८८

करते थे। जिस हिन्दू की लड़की को वे सुन्दर सुन पाते थे उसका वे बलपूर्वक अपहरण कर लेते थे। उसे इस्लाम में परिवर्तित करके उससे शादी कर लेते थे।[1] साधारण मुसलमान भी किसी भी हिन्दू युवती के प्रति जब चाहते थे बलात्कार कर लेते थे।

६. शासन व्यवस्था के सूत्रधार अधिकतर उलेमा लोग हुआ करते थे। वे बड़े ही कट्टर और धर्मान्ध होते थे। यवन बादशाह इन्हीं के आदेशों पर न्याय का विधान करते थे इसलिए हिन्दुओं के साथ किसी भी प्रकार का न्याय नहीं होता था।[2]

१०. यवन बादशाहों का प्रायः प्रधान लक्ष्य येन केन प्रकारेण इस्लाम धर्म का प्रचार करना होता था। इसके लिए वे राजकीय कोष और अधिकारों का दुरु-पयोग करते थे जिसके दुष्परिणाम हिन्दुओं को भुगतने पड़ते थे।[3]

११. मध्यकालीन भारत प्रायः नित्य ही विदेशियों के आक्रमण का रंगस्थल रहता था। वे धर्मान्ध, क्रूर, अन्यायी और पक्षपाती होते थे। इनका लक्ष्य हिन्दू धर्म और जाति को असम्मानित कर अधिक से अधिक क्षति पहुँचाना होता था। इनका प्रत्येक आक्रमण भारतवर्ष को श्मशान भूमि बनाकर ही छोड़ता था। इस प्रकार हिन्दू जाति को किसी प्रकार की सुख और शान्ति नहीं मिलती थी।

उपर्युक्त राजनीतिक परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के हिन्दू समाज पर निम्न लिखित प्रभाव दिखाई दिये—

(१) सारे समाज में घोर निराशावाद का साम्राज्य हो गया। जीवन भार रूप लगने लगा।

(२) भौतिक सुखों से उदासीनता की भावना ने समाज में एक विचित्र वैराग्य की लहर पैदा कर दी।

(३) मुसलमानों की स्वेच्छाचारिता और किसी भी समय बलात्कार करने की प्रवृत्ति ने समाज में बाल-विवाह, पर्दा प्रथा, अपने ही लड़कियों की हत्या कर डालना, आदि विविध कुप्रथाओं को जन्म दे दिया।

(४) मूर्तियों के और हिन्दू-धर्म के ठेकेदारों के प्रति एक उदासीनता और अश्रद्धा की भावना जाग्रत हो गई थी।

(५) धर्म के स्वरूप का इस प्रकार निरूपण किए जाने की चेष्टा की जाने लगी जिससे यह तत्कालीन राजनीतिक वातावरण में उपयुक्त सिद्ध हो सके।

[1] सल्तनत आफ देहली पृ० ४८६ ४८५
[2] ,, ,, पृ ४२२-२३-२६ ४६०
[3] सल्तनत आफ देहली; पृ० ४५८

इन सब बातों ने निर्गुण विचारधारा के उदय और विकास में पूरी-पूरी प्रेरणा प्रदान की।

धार्मिक प्रेरणाएँ

मध्ययुगीन भारत में धर्मों की त्रिवेणी प्रवाहमान थी। उस त्रिवेणी की तीनों धाराएँ इस प्रकार थीं —(१) हिन्दू धर्म, (२) बौद्ध जैन आदि अन्य भारतीय धर्म पद्धतियाँ और (३) इस्लाम धर्म।

इन तीनों धाराओं में हिन्दू धर्म प्रधान है। उसी के विविध तत्त्वों ने हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा के कवियों को क्रियात्मक और प्रतिक्रियात्मक प्रेरणाएँ प्रदान की थीं। यहाँ पर हमारा लक्ष्य उन्हीं का संकेत करना है।

१—हिन्दू धर्म

हिन्दू धर्म की उन प्रवृत्तियों, का जिन्होंने हिन्दी की निर्गुण विचारधारा के उदय और विकास में योग दिया था, विवेचन करने के पूर्व हम थोड़ी सी व्याख्या उसके स्वरूप की भी कर देना चाहते हैं। हिन्दू धर्म की हमें केवल दो व्याख्याएँ मिलती हैं। एक तो लोकमान्य तिलक जी की है और दूसरी मध्यकालीन किसी बृहत्संहिता नामक ग्रन्थ की। इन दोनों की व्याख्याओं से हिन्दू धर्म का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि वेदों में प्रामाण्य बुद्धि का रखना, नाना विधि नियमों का पालन करना और उनके प्रकार से ईश्वर की उपासना करना ही हिन्दू धर्म है।[1] बृहत्संहिता[2] में केवल हिन्दू शब्द की व्याख्या करके हिन्दू धर्म के स्वरूप की ओर संकेत किया गया है। उसमें लिखा है कि सच्चा हिन्दू वही है जो हिंसा से दुखित होता है, सदाचरण में तत्पर रहता है, वेद, मूर्ति पूजा और गो सेवा में विश्वास करता है। यदि इन दोनों परिभाषाओं को ध्यान से देखा जाय तो हमें हिन्दू धर्म की पाँच सामान्य विशेषताएँ दिखलाई पड़ेंगी। (१) श्रुतियों में विश्वास, (२) स्मृति आचारों में विश्वास, (३) आस्तिकता, (४) मूर्ति पूजा और (५) गौ-ब्राह्मण आदि में श्रद्धा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक, पौराणिक एवं स्मार्त धर्म

[1] प्रामाण्यं बुद्धिर्वेदेषु नियमानामनेकता।
उपास्यानामनियमो हिन्दू धर्मस्य लक्षणम्॥
—कल्याण हिन्दू संस्कृति अंक, पृ० ७४ से उद्धृत

[2] हिंसया दूयते यश्च सदाचारणतत्परः।
वेद गो प्रतिमा सेवी स हिन्दू मुखवर्णभाक्॥
—'कल्याण' का हिन्दू संस्कृति अंक, पृ० ७५ से उद्धृत

सम्प्रदायों का समष्टि रूप ही हिन्दू धर्म है। कुछ लोगों ने हिन्दू धर्म के अन्तर्गत बौद्ध और जैन धर्मों को भी घसीटने की चेष्टा की है। मैं इस मत से सहमत नहीं हूँ क्योंकि हिन्दू धर्म की उपरिनिर्दिष्ट विशेषतायें इन दोनों धर्मों में नहीं पाई जाती हैं। यह बात दूसरी है कि हिन्दू धर्म ने इन दोनों धर्मों की कुछ बातें ग्रहण कर ली हों। किन्तु केवल इसी आधार पर इन दोनों धर्मों को हम हिन्दू धर्म का अंग नहीं मान सकते।

वैदिक युग के समाप्त होते-होते भारतीय धर्मक्षेत्र में पौराणिक युग का समावेश हुआ। वैदिक बहुदेववाद की प्रवृत्ति पौराणिक पंच देववाद की ओर हो चली थी। वैदिक कर्मकांड और ज्ञानकाण्ड के स्थान पर उपासनाकांड की प्रतिष्ठा होने लगी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि पुराणों में वर्णित पाँचों देवताओं—ब्रह्मा, विष्णु शिव, गणेश, एवं का पृथक्-पृथक् आधार लेकर पाँच उपासना प्रधान धर्म-पद्धतियों का उदय हो गया। उनके नाम क्रमशः ब्राह्ममत, वैष्णव धर्म, शैव धर्म, गाणपत्य सम्प्रदाय और सौर सम्प्रदाय हैं।[1] इन पाँचों में द्वितीय और तृतीय अर्थात् वैष्णव और शैवमत की मान्यता बहुत अधिक रही। ये भारत के प्रधान धर्म-सम्प्रदाय बन गये। इनमें भी वैष्णव धर्म शैव धर्म से कहीं अधिक प्रचलित हुआ। आगे चलकर वैष्णव[2] और शैव सम्प्रदाय भी विविध उप-सम्प्रदायों में विभक्त हो गये। इससे हिन्दू धर्म की व्यापकता बहुत अधिक बढ़ गई।

पूर्व मध्य युग में (पाँचवीं शताब्दी के आस-पास) इन पाँच सम्प्रदायों के अतिरिक्त भगवान् शिव की पत्नी शक्ति को लेकर शाक्त सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की गई।[3] यह शाक्त सम्प्रदाय नया नहीं था। वैदिक साहित्य में इसके बीजाणु पहले से ही वर्तमान थे।[4] इस सम्प्रदाय के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग[5] तो इसे हिन्दू धर्म का ही अंग मानते हैं और कुछ विद्वान् इसे स्वतन्त्र धर्म[6] मानने के पक्ष में हैं। हमारी धारणा है कि इसका जन्म हिन्दू धर्म की सीमा के अन्तर्गत ही हुआ था।

---

[1] एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स
शैविज्म एण्ड वैष्णविज्म—भंडारकर आदि में इन सब के वर्णन किये जाते हैं।

[2] वैष्णव सम्प्रदायों का उल्लेख 'वैष्णविज्म शैविज्म' नामक ग्रन्थ में भंडारकर ने किया है। ई० आर० ई० में भी देखिए।
इन ग्रन्थों में मध्यकालीन सुधारवादी सम्प्रदायों का ही उल्लेख किया गया है।

[3] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलजिन एण्ड एथिक्स भा० १—पृ० ७०६

[4] देखिए—प्रिंसिपिल्स आफ तंत्र आर्थर एवेलन—भूमिका (१९५२)

[5] देखिए—मनुस्मृति की टीका में कुल्लूक भट्ट का मत। उन्होंने वैदिक और तांत्रिक दो प्रकार की श्रुतियों का उल्लेख कर दोनों मतों की एक ही धमता का प्रतिपादन किया है।

[6] प्रिंसिपिल्स आफ तन्त्र—आर्थर एवलियन—पृ० ५१ (१९५२)

बाद में कुछ विदेशी प्रभावों के कारण इसे लोग हिन्दू धर्म से भिन्न समझने लगे। किन्तु यह उनका भ्रम है। शाक्त सम्प्रदाय हिन्दू धर्म का ही एक अंग है।

पौराणिक युग के बाद स्मृति युग आया। उपर्युक्त पौराणिक सम्प्रदायों पर स्मार्त धर्म का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप उपासना प्रधान पौराणिक सम्प्रदाय स्मार्त आचार प्रधान भी हो गये। कुछ दिन तक तो आचारों का स्वरूप शुद्ध और सात्विक बना रहा किंतु परिस्थितियों के फेर से लोग स्मृतियों के अर्थ का अनर्थ करके हिन्दू धर्म के विविध आचारों और तत्वों को विकृत करने लगे। परिणामस्वरूप मध्यकालीन हिन्दू धर्मक्षेत्र में घोर अनाचार फैल गया। हिंदी की निर्गुण काव्यधारा के उदय और विकास के प्रेरक हिन्दू धर्म के कुछ तो विकृत तत्व थे और कुछ अविकृत तत्व। विकृत तत्वों के प्रति उनमें प्रतिक्रिया जाग्रत हुई। उन्होंने उनका डटकर विरोध किया। जो तत्व सात्विक और अविकृत थे, उन्हें उन्होंने हर्षपूर्वक ग्रहण कर लिया। यहाँ पर पहले हम उन तत्वों का उल्लेख करेंगे जिनके विकृत स्वरूप के प्रति संतों में प्रतिक्रिया जाग्रत हुई थी। वे तत्व क्रमशः इस प्रकार हैं—१—पुरोहितवाद, २—वर्णाश्रम धर्म, ३—श्रुति प्रामाण्यवाद, ४—मूर्ति-पूजा, ५—धार्मिक अंध विश्वास, ६—बाह्याचार, ७—पूजा विधियाँ और ८—पौराणिकता।

पुरोहितवाद

पुरोहितवाद का उदय आर्य ईरानी धर्म में ही हो चला था[1]। वैदिक धर्म में उसका समावेश वहीं से हुआ था। जो लोग यह कहते हैं कि इसका उदय वैदिक यज्ञपति[2] की भावना से हुआ था उनसे मैं सहमत नहीं हूँ। क्योंकि इस प्रथा के चिह्न वैदिक धर्म के पूर्व भी मिलते हैं। यह हो सकता है कि पहले से चली आती हुई इस प्रथा को वैदिक यज्ञपति की भावना से बल मिला हो किन्तु उसने उसे जन्म नहीं दिया था। मेरी अपनी धारणा यह है कि पुरोहितवाद वैदिक वर्ण धर्म का पूर्वाधार स्तम्भ था। पुरोहितवाद का उदय उसी समय हुआ होगा जब कि आर्य-जाति विविध वर्गों में विभक्त होने लगी होगी। उस समय पुरोहित वर्ग ब्राह्मण वर्ग का पर्यायवाची रहा होगा।

वैदिक युग में वर्ण व्यवस्था दृढ़ और रूढ़ नहीं हो पाई थी। यद्यपि उस दिशा में उसकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी[3]। ऐतरेय ब्राह्मण[4] में दी गई विश्वामित्र की कथा

[1] रिलीजन इन वैदिक लिटरेचर—पी० एस० देशमुख (आक्सफर्ड १९३३) अध्याय ६—इन्डोयोरोपियन कल्ट एण्ड प्रीस्टहुड वीयण्ड से, पृ० १३०-१५८

[2] सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट भा० ७ भूमिका

[3] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग १०, पृ० ३११

[4] ऐतरेय ब्राह्मण, ७।१८।२

से प्रकट होता है कि उस युग में क्षत्रिय लोग भी तपस्या के बल पर पुरोहित बन सकते थे। छान्दोग्योपनिषद् की[1] सत्यकाम और जाबाली की कथा भी यही प्रमाणित करती है कि पुरोहितवाद की प्रथा तब तक रूढ़ नहीं हो पाई थी। किन्तु उस ओर उसकी प्रवृत्ति हो चली थी। पौराणिक युग में आकर पुरोहित का पद परम्परागत और रूढ़ हो गया। पुरोहित के पुत्र भी पुरोहित होने लगे। अधिकारी का भाव गौण पड़ गया। स्मार्त धर्म के प्रचलित होने पर ब्राह्मणों के महत्त्व के[2] साथ-साथ पुरोहितों का महत्त्व भी बहुत बढ़ा। स्मृतियों के धार्मिक जीवन में पुरोहित की अनिवार्यता विविध प्रकार से प्रतिपादित की गई। पराशर स्मृति में तो यहाँ तक लिखा है कि जो पुरुष उपवास जप, तप, व्रत, स्नान आदि विविध धर्म कृत्य ब्राह्मणों से नहीं कराता उसके वे सब निष्फल हो जाते हैं[3]। स्मृतियों के इस प्रकार के उल्लेखों का प्रभाव यह हुआ कि धार्मिक जीवन में पग-पग पर पुरोहितों की आवश्यकता पड़ने लगी। समाज में पुरोहितों का सम्मान बहुत अधिक बढ़ गया। पुरोहित पद के परम्परागत और रूढ़ हो जाने के कारण प्राचीन पंडितों के पांडित्य और सदाचरण प्रवणता का लोप होने लगा। पुरोहित लोग अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने लगे। अपने आदर्शों से गिर गए उनका दृष्टिकोण स्वार्थी हो गया और उनका लक्ष्य अर्थ-सम्मान हो गया। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे विविध प्रकार के पाखंडों और मिथ्याचारों के प्रचार में लग गये। मध्यकालीन जनता इन मिथ्याचारों के बंधन में बुरी तरह से फँसी हुई थी।

मध्ययुग में हिन्दू धर्म की वर्णाश्रम व्यवस्था भी विकृत और सदोष हो चली थी। वर्णाश्रम व्यवस्था के जो बीजाणु वैदिक साहित्य[4] में वर्तमान थे, स्मृतिकारों ने उन्हीं को विकसित किया। स्मृतियों में बार-बार इस व्यवस्था के महत्व का संकेत किया गया है।[5] सच तो यह है कि स्मार्त धर्म की आधारभूमि भी यही है।

---

[1] देखिए—छान्दोग्योपनिषद् ४।४, ५ खण्ड

[2] देखिए—लघ्वाश्वलायन स्मृति—१९ अध्याय

शातातप स्मृति—अध्याय १

[3] उपवासा व्रतं चैव स्नानं तीर्थं जपस्तपः।
विप्रैः सम्पादितं यस्य सम्पन्नं तस्य तद्भवेत्॥
—पराशरस्मृति ६।५८

[4] ब्राह्मण का उत्पत्ति देखिए—ऋग्वेद, द्वितीय अष्टक, १।१६।४।७५

[5] वर्णाश्रम व्यवस्था का महत्व प्रतिपादन निम्नलिखित स्मृतियों में किया गया है:—
(क) वृहद् पराशर संहिता—प्रथम अध्याय
(ख) लघु हारीत स्मृति—प्रथम अध्याय

वैदिक साहित्य में जिन आदर्शों को लेकर वर्णाश्रम व्यवस्था के बीजाणु प्रतिष्ठित किये गये थे स्मृतिकार आचार धर्म के आवेश में उनको बहुत कुछ भूल गये। वैदिक युग में वर्णाश्रम-व्यवस्था का जन्म किसी प्रकार के भेदभाव के कारण नहीं हुआ था किन्तु स्मार्त वर्ण-व्यवस्था विविध भेदभावों पर आधारित प्रतीत होती है। परन्तु इसका अर्थ हम यह नहीं कह सकते कि स्मृतियों का दृष्टिकोण दूषित था। उनकी विचारधारा उनके युग का प्रतिबिंब है। उस युग में पुरोहितवाद के प्रभाव से ब्राह्मणों का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया था। जैसे-जैसे ब्राह्मणों का महत्त्व बढ़ता गया वैसे ही वैसे शूद्र हेय समझे जाने लगे। स्मृतिकारों ने अपने युग की इसी प्रवृत्ति का प्रतिबिम्बन किया है। उनमें हमें एक ओर तो ब्राह्मणों की महान् महिमा का वर्णन मिलता है और दूसरी ओर शूद्रों और चाण्डालों की निंदा मिलती है। यहाँ पर हम ब्राह्मण महिमा और शूद्र निंदा के कुछ उदाहरण दे देना चाहते हैं। ब्राह्मणों के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए पाराशर स्मृति में लिखा है कि पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए ब्राह्मणों को अलंकार से विभूषित धेनु दक्षिणा में देनी चाहिए।[1] उसी स्मृतिकार का कहना है जप, तप, यज्ञ आदि सब तभी सफल होते हैं जब ब्राह्मण प्रसन्न होते हैं। क्योंकि जो कुछ ब्राह्मण कहते हैं देवता उसी बात को मानते हैं। वे सर्वगुण सम्पन्न होते हैं। उनके वचन कभी अन्यथा नहीं होते।[2] इसी संहिता में आगे बढ़कर पुनः लिखा गया है कि ब्राह्मण तीर्थ के सदृश होते हैं। उनके वाक्यरूपी जल से ही पापी लोगों का उद्धार हो जाता है। अतएव उनकी आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त करके और उन्हें भोजन कराके भोजन करना चाहिए।[3] अन्य स्मृतियों में भी ब्राह्मण महिमापरक इसी प्रकार की अनेक उक्तियाँ ढूँढी जा सकती हैं।

स्मृतिकारों का दृष्टिकोण ब्राह्मणों के लिए जितना उदार था शूद्रों के प्रति उतना ही संकुचित भी था। शूद्र और चाण्डालों की निंदा से स्मृतियाँ भरी पड़ी हैं। चाण्डाल लोग स्मृतिकारों की दृष्टि में इतने हेय थे कि कोई

---

[1] पाराशर स्मृति १।२२

[2] जपच्छिद्रं तपश्छिद्रं यच्छिद्रं यज्ञकर्मणि ।
सर्वं भवति निश्छिद्रं यस्य चेच्छन्ति ब्राह्मणाः ॥
ब्राह्मणा यानि भाषन्ते मन्यन्ते तानि देवताः ।
सर्वदेवमया विप्रा न तद्वचनमन्यथा ॥
पाराशर स्मृति १।२६ २७

[3] ब्राह्मणा जंगमं तीर्थं निर्जलं सार्वकामिकम् ।
येषां वाक्योदकेनैव शुद्ध्यन्ति मलिना जनाः ॥ इत्यादि
पाराशर स्मृति १।३१ ३०

उनके हाथ का जल भी नहीं पी सकता था। हाथ का ही नहीं उनके कुएँ का जल पीना भी पाप था।[1] अत्रि संहिता में चांडाल का जल पीने पर प्रायश्चित्त रूप में पंचगव्य का विधान किया है।[2] इसी प्रकार उसी स्मृति में शूद्र का अन्न रुधिर के सदृश कहा गया है।[3] उसमें लिखा है कि यदि वेदपाठी ब्राह्मण शूद्र का अन्न खा ले तो वह शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है। स्मृतिकारों ने बेचारे चण्डालों को नगर या गाँवों में रहने तक की आज्ञा नहीं दी है।[4] मनुजी ने लिखा है कि चांडाल और श्वपचों को ग्राम के बाहर निवास करना चाहिए। इसी प्रकार स्मृतियों में सैकड़ों स्थानों पर विविध प्रकार से शूद्रों की निंदा की गई है। स्मृतिकारों ने उपर्युक्त ढंग की उक्तियाँ किसी द्वेषभाव से नहीं लिखी थीं। उन महात्माओं का उद्देश्य ऊँचा था। वे संत और असंत में भेद बताना चाहते थे। किन्तु हिन्दू धर्म और समाज पर इसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। समाज में तुच्छ से तुच्छ ब्राह्मण उच्च माना जाने लगा। इसके विपरीत उत्तम से उत्तम शूद्र किसी प्रकार भी ऊपर नहीं उठ सकता था। इस भेद भावना ने समाज में बहुत सी कुप्रथाएँ उत्पन्न कर दीं। ब्राह्मण लोग 'पूजिय विप्र सील गुन हीना' जैसी उक्तियों का अनुचित लाभ उठाने लगे। शूद्रों को हिन्दू समाज से घृणा हो चली। विदेश से आये हुए इस्लाम धर्म की ओर उनका आकर्षण हुआ। क्योंकि उस धर्म में धार्मिक और सामाजिक भेद बहुत कम था। संतों के हृदय में भेदभाव प्रधान भावना इस वर्ण-व्यवस्था के प्रति प्रतिक्रिया जाग्रत हो गई और वे उस पर कुठाराघात करने लगे। हिन्दू धर्म अथवा ब्राह्मण धर्म के प्रधान प्रामाणिक ग्रंथ श्रुति और स्मृति[5] माने गए हैं। इनमें भी श्रुतियों को अधिक महत्त्व दिया गया है। पंडितों में प्रसिद्ध है—

---

[1] पाराशर स्मृति—[illegible] अध्याय

[2] अत्रि संहिता—

"[illegible] पीतमात्रे पञ्चगव्येन शुद्धि"

११२वाँ श्लोक (स्मृति सन्दर्भ—भाग १, पृ० १७५)

[3] [illegible] शूद्रान्नं रुधिरं स्मृतम्। (स्मृति सन्दर्भ—भाग १, पृ० १७५)

[4] अत्रि स्मृति—पृ० १७५ (स्मृति सन्दर्भ—भाग १)

[5] वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

—मनु

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥
(स्मृति सन्दर्भ—भाग १, पृ० ६ से उद्धृत)

"धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।"[1]
"वेदोऽखिलो धर्ममूलमाचारस्तु प्रकीर्तितः ।"[2]

वेदाद्धर्मोहि निर्बभौ[3] वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ।[4]

इस प्रकार की उक्तियों के फलस्वरूप समाज में वेद प्रामाण्यवाद की मान्यता अधिक बढ़ गई। इसके फलस्वरूप मध्यकालीन समाज में पाखंडों और मिथ्याचारों का बोलबाला हो चला था। संतों की वाणी उन्हीं के प्रतिरोध में उठी थी। यहाँ पर हम थोड़ा-सा परिचय मध्यकालीन पाखंडों, मिथ्याचारों, बाह्याचारों का दे देना आवश्यक समझते हैं।

हमारे स्मृति ग्रंथों में विविध प्रकार के बाह्याचारों का विविध रूप में उल्लेख किया गया है। इनमें सबसे प्रमुख प्रतिमा या मूर्ति-पूजन है।[5] मूर्ति-पूजा का उदय भारत में उच्च आदर्शों को लेकर हुआ था। यह बात पाश्चात्य विद्वानों तक ने स्वीकार की है।[6] इसके चिह्न हमें वैदिक संहिताओं में भी मिलते हैं।[7] किन्तु इसका पूर्ण विकास बौद्ध अथवा पुराण युग में ही हुआ। इसके उदयकाल के संबंध में विद्वानों में थोड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों ने इसका उदयकाल प्रथम शताब्दी ई० के आस पास निश्चित किया है।[8] कुछ दूसरे विद्वान् इसका समय शताब्दी ई० पू० में मानने के पक्षपाती हैं।[9] हमारी धारणा है कि प्रतिमा-पूजन की धारणा बहुत प्राचीन है। चौथी शताब्दी ई० पू० के आस-पास इसका सम्यक् विकास होना प्रारम्भ हो गया था। महाभाष्य[10] जिसका रचना काल वैद्य महोदय[11] ने पूर्वी से चौथी शताब्दी पूर्व माना है, में मूर्ति-पूजा की गंध स्पष्ट है। बौद्धों ने मूर्ति-पूजा को विशेष बल दिया था। उन्होंने

---

1 स्मृति सन्दर्भ, भाग १—
सामवेदो धर्मवाद' देखिए पृ० ५
2 स्मृति सन्दर्भ, पृ० ६
3 4 व्यास—वैराग्योक्त ।
5 वैदिक माइथोलोजी—मैकडानलकृत, स्ट्रासबर्ग, १८९७, पृ० १५५
6 इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स—भाग ६, पृ० ७१
7 रिलीजन्स आफ इण्डिया, ई० डब्ल्यू० हापकिन्स कृत, पृ० १००
8 दी महाभारत—ए क्रिटिसिज्म—सी० वी० वैद्य (१९०५) पृ० १८०
9 ऋग्वेद—२, ११, ६, १
10 बुद्धिज्म इन सिलोन—आर वैद्य, लन्दन (१८९५) पृ० १६
11 जा० ए० (११) १९०१, १०५ पृ०

उसे जन्म नहीं दिया था जैसा कि कनिंघम साहब[1] का मत है। पुराण युग में यह हिन्दू-धर्म का प्रधान अंग बनने लगी। स्मार्त धर्म में तो इसे धर्म का अनिवार्य अंग बतलाया गया। पौराणिक और स्मार्त प्रभावों के परिणाम स्वरूप लगभग चौथी पाँचवीं शताब्दी से हिन्दू-धर्म में मूर्ति-पूजा की प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ गई। भारतवर्ष के बौद्ध और ब्राह्मण दोनों ही प्रधान धर्म बहुत मूर्ति-पूजक हो गये। सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब अरब लोग सिंध में आये तो वहाँ उन्हें भगवान् बुद्ध की बहुत सी मूर्तियाँ दिखलाई दीं। इन मूर्तियों को हिन्दू लोग बुद्ध कहते थे। उन्हीं के अनुकरण पर अरबों ने उन्हें बुत कहना प्रारम्भ कर दिया।[2] मूर्ति-पूजा सातवीं आठवीं शताब्दी के आस-पास अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी।[3] उत्तर मध्यकाल की मूर्ति-पूजा पर प्रकाश डालते हुए शेरिंग[4] ने लिखा है कि हिन्दू मूर्तियों की संख्या हिन्दुओं की संख्या से भी अधिक बढ़ गई थी। एक-एक मन्दिर में सैकड़ों मूर्तियाँ होती थीं। पूर्व मध्यकाल में इससे भी बुरी हालत थी। ९५१ ई० में होनेवाले एक मुसलमान इतिहासकार ने गुजरात के एक मन्दिर का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसमें २० हजार मूर्तियाँ थीं।[5] उनके अलंकार भी पृथक्-पृथक् होते थे, उनकी पूजा-विधियाँ भी विभिन्नरूपिणी थीं। ये मूर्तियाँ स्वर्ण, रजत, ताम्र पीतल, हाथीदाँत, काष्ठ, उपल आदि विविध धातुओं की बनी होती थीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिककालीन बहुदेववाद मध्यकाल के बहुमूर्तिवाद में परिणत हो गया था।

मूर्तियों की वृद्धि के साथ-साथ मन्दिरों की संख्या भी बढ़ चली। एक-एक नगर में एक हजार से भी अधिक मन्दिर होते थे। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में शेरिंग ने केवल बनारस में ही १४५४ मन्दिरों की गणना की थी।[6] इन मन्दिरों में हजारों ब्राह्मण पूजा-पाठ किया करते थे। कुछ बड़े-बड़े मन्दिरों में तो हजारों की संख्या में पुजारी लगे हुए थे। सोमनाथ[7] के मन्दिर पर महमूद गजनवी ने जब

---

[1] महाबोधि—कनिंघम (१८९२) पृ० ५१

[2] भारत और अरब के संबंध, अनुवादक—रामचन्द्र वर्मा (१९३०) पृ० १५१ २०५, और देखिए पृ० १०।

[3] ई० आर० ई० भाग ६, पृ० ७१०

[4] बनारस दी सेक्रेड सिटी आफ दी हिन्दूज़ शेरिंग कृत (१८६८ लन्दन) पृ० ४२

[5] अरब और भारत के संबंध (१९३०, इलाहाबाद), पृ० ११९

[6] वही " " " "

[7] हिस्ट्री आफ इण्डिया एज़ टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, भाग ४, इलियट तथा डाउसन, पृ० १८१

आक्रमण किया था, उस समय दो हजार पुजारी नित्यप्रति पूजा करने के लिए नियुक्त थे। ये मन्दिर केवल मूर्तियों के केन्द्र ही न थे, लक्ष्मी की लीलाभूमि भी थे। एक एक मन्दिर में लाखों और करोड़ों की सम्पत्ति लगी रहती थी। इतिहासकारों ने सोमनाथ[1] के मन्दिर के विषय में लिखा है कि जिस समय महमूद गजनवी ने सोमनाथ पर आक्रमण किया था, उस समय उसमें दस लाख गाँवों की आय लगी हुई थी। मन्दिर का अधिकांश भाग स्वर्ण, रजत और रत्नों से आवृत था। कहते हैं कि मन्दिर के एक भाग में दो सौ मन सोने की बहुत बड़ी शृङ्खला में एक बहुत बड़ा घण्टा टँगा हुआ था। सोमनाथ की की भव्य मूर्ति बहुमूल्य रत्न-राशि से सुशोभित थी। अन्य मन्दिरों में भी इसी प्रकार अपार सम्पत्ति लगी हुई थी। विदेशी आक्रमणकारियों को मन्दिरों की सम्पत्ति ने भी निमंत्रण दिया था। उत्तर-मध्यकाल के अधिकांश आक्रमणकारियों का लक्ष्य मन्दिरों की सम्पत्ति को लूटना, उनको तथा उनकी मूर्तियों को तोड़ना और निरीह पुजारियों का वध करना होता था।

मध्ययुग के मन्दिर वैभव के ही नहीं, विलास के भी केन्द्र बन रहे थे। इस विलास की उत्तरदायिनी भारत की देवदासी[2] प्रथा कही जा सकती है। इस प्रथा का जन्म तो दक्षिण में हुआ था, किन्तु शनैः शनैः समस्त भारत में व्याप्त हो गई थी। एक एक मन्दिर में सैकड़ों देवदासियाँ रहती थीं। उनका लक्ष्य[3] भगवान् को गीत और नृत्य से प्रसन्न करना होता था। सोमनाथ के मन्दिर के सम्बन्ध में एक समकालीन मुसलमान इतिहासकार ने लिखा है कि उसमें सदैव ही पाँच सौ नर्तकियाँ, तीन सौ गाने-बजानेवाले नृत्य, गायन और वादन करते रहते थे।[4] इसी प्रकार प्राचीन शिलालेखों से पता चला है कि तंजौर के एक चोलवंशीय राजा के मन्दिर में चार सौ देवदासियाँ लगी हुई थीं। इन देवदासियों के रहने के लिए भवन मन्दिरों के पास ही बने होते थे। इनके जीवन की सारी व्यवस्था मन्दिरों से ही होती थी।[5] इस प्रकार की देवदासियों की चर्चा प्राचीन यात्रियों ने बहुत की है। टैवरनीयर[6]

---

[1] हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज़ टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, भाग ४, ईलियट तथा डाउसन, पृ० १८१

[2] सरस्वती भवन स्टडीज़, भाग ८, ले० मन्मथनाथ गुप्त, पृ० ११९, २२१

[3] कभी-कभी तो ये लोग वेश्यावृत्ति से रुपया पैदा कर मन्दिरों के महंतों को देती थीं। देखिए—सरस्वती भवन स्टडीज़, भाग ८, पृ० ११० (बनारस १९३०)

[4] हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स—इलियट डाउसन (लन्दन १८६६-७७) भाग ४, पृ० १८१, भाग १ पृ० ६८, भाग २ पृ० ४७२

[5] जर्नी फ्राम मराठा टू मथुरा—ग्राउस (लन्दन, १९०७) पृ० २२

[6] ईस्टर्न इण्डिया—डी० बी० बैरामर्सहल, जी० आफ द्वारा सम्पादित (१८८९) पृ० १५७

के वर्णन अनेक नई रचनाओं से भरे पड़े हैं। पश्चिम भारत में वे देवदासियाँ भाविनी के नाम से प्रसिद्ध थीं।[१] वे मन्दिर और स्वतन्त्र रूप से वेश्यावृत्ति करती थीं। इनमें और सामान्य वेश्याओं में यही अन्तर होता था कि ये अपनी वृत्ति में प्रवेश करने से पहले अपना परिणय भगवान् की किसी मूर्ति से कर लेती थीं। मारवाड़ की देवदासियाँ[२] भक्तिन के नाम से पुकारी जाती थीं। वे लोग भी वेश्यावृत्ति से ही जीविकोपार्जन करती थीं। भाविनियों के सदृश इनकी लड़कियाँ भी वेश्यावृत्ति आरम्भ करने से पहले किसी साधु से नाम-माला के लिए अपना परिणय कर लेती थीं। वह साधु उसी समय कुछ धन लेकर उसे उसके घरवालों के हाथ बेच देता था और वह स्वतन्त्र रूप से वेश्यावृत्ति करने लगती थीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्ययुग में मूर्तियों और मन्दिरों की आड़ में भयंकर व्यभिचार पनप रहा था। यही नहीं धर्म की आड़ लेकर ठगी जैसी कुवृत्तियाँ भी विकसित हो रही थीं। ठग लोग काली को ठगी की अधिष्ठात्री मानते थे और[३] उनकी पूजा करते थे। व्यभिचार के प्रति सन्तों की सात्विक आत्मा विद्रोह कर उठी। उनकी वाणी में विद्रोह की सम्यक् अभिव्यक्ति हुई है।

हिन्दू धर्म के सामान्य विश्वास अपने मूल रूप में बड़े ही सात्विक थे। किन्तु मध्ययुग में वे सात्विक विश्वास अंध विश्वास में परिवर्तित होने लगे थे। इसके कई कारण थे। सबसे प्रमुख कारण उदार पुरोहितवाद था, जिसका संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। अधिकांश पुरोहित लोग अर्धशिक्षित और अर्थ-लोभी होते थे। वे साधारण अशिक्षित जनता को मनमाने ढंग पर मिथ्या बातें बताते रहते थे। मध्यकालीन जनता का विश्वास जादू-टोने आदि में बहुत हो चला था। जनता की इस दुर्बलता का पण्डितों ने बुरी तरह से दुरुपयोग किया। अंधविश्वासों[४] की प्रचुरता का एक कारण और था। मध्ययुग में द्राविड़ धर्म और ब्राह्मण धर्म का मिलन सा होने लगा था।[५] बहुत से द्राविड़ अंधविश्वास हिन्दू के धर्म में प्रविष्ट हो गये थे। अंध विश्वासों का प्रचार धर्म के सभी अंगों में हो रहा था। यहाँ पर कुछ क्षेत्रों के कुछ अंध विश्वासों का दिग्दर्शन करा देना अनुचित न होगा। मध्ययुग में देवता का प्रसन्न करने

१ बाम्बे गजेटियर, १० (१८८०) पृ० १२८

२ सेन्सेस रिपोर्ट, मारवाड़ (१८९१)

३ इनट्रोडक्शन आफ दी हिस्ट्री एंड प्रैक्टिसेज आफ दी ठग्स, थ्यौर्नटन कृत (लन्दन, १८३०) में देखिए।

४ मुस्लिम रूल इन इण्डिया—ईश्वरीप्रसाद कृत, पृ० २२७

५ देखिए—ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ बंगाल, एच० एच० रिसले, (कलकत्ता) (१८९१), पृ० १११

से विविध प्रकार की साधना अंध-विश्वास प्रधान विधियाँ प्रचलित थीं। एक प्राचीन इतिहासकार ने सोमनाथ के मन्दिर में भक्तों के साधना स्वरूपों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उस युग में बहुत से भक्त अपनी कामना पूर्ण हो जाने पर मूर्ति की पूजा के लिए अपने घर से मूर्ति के निकट रेंगते हुए आया करते थे। कुछ भक्त उलटे सिर के बल आया करते थे।[1] इसी प्रकार की कुछ प्रथाएँ पंढरपुर के मन्दिर के प्रसंग में भी बतलाई गई हैं। ये भी बड़ी विचित्र थीं। वहाँ पर भक्त लोग विविध प्रकार की तपस्यामूलक साधनाएँ करते थे। बहुत से भक्त अपने चारों ओर अग्नि जलाकर बैठ जाते थे और ऊपर से सूर्य की ज्वाला सहन करते थे।[2] कष्ट-साध्य और अनेक विचित्र साधना विधियों का उल्लेख हमें मध्यकालीन साहित्य में मिलता है।[3] इन साधना विधियों की परम्परा १८वीं शताब्दी तक जीवित दिखाई देती थी। ओमन[4] साहब ने अपने ग्रंथ में इनका उचित उल्लेख किया है। विस्तार भय से हम यहाँ पर उनका उल्लेख नहीं कर सकते। कुछ मध्यकालीन प्रथाएँ तो बड़ी रोचक थीं। तीर्थों पर प्रायः यात्रियों के उस तीर्थ के देवता का चिह्न चित्रित कर दिया जाता था।[5] दक्षिण भारत में यह प्रथा थी कि तीर्थ जाते समय वे अपने गाल और जिह्वा रजत की सुई से छिदवा डालते थे।[6] धीमि कटवा डालने की प्रथा बहुत प्रचलित थी। इसका उल्लेख नागरकोट के मन्दिर के प्रसंग में अबुलफज़ल ने अपने आइने अकबरी में भी किया है।[7] इन विचित्र अंध-विश्वास-प्रधान साधना प्रणालियों की ही भाँति विविध प्रकार की अंध-विश्वास प्रधान पूजाविधियाँ भी प्रचलित थीं। इनमें से सबसे भयानक प्रथा नर-बलि की थी। कहते हैं, आसाम में जब कामाख्या देवी के मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई थी, उस समय १४० आदमियों की बलि दी गई थी[8]। कामरूप में एक भोगी नामक जाति थी जिसका शरीर केवल बलि के लिए ही होता था। उसमें यह प्रथा थी कि जब कोई व्यक्ति आत्मबलि

[1] हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स—एच० एम० इलियट, (१८६६ ७७ लन्दन)
[2] देखिए—बाम्बे गजेटियर २०, (१८८४) पृ० ४०० ।
[3] उदाहरण के लिए जायसी के 'पद्मावत' को ले सकते हैं। इसमें हमें कष्ट पद साधना की भयानक और कठोर प्रथा का उल्लेख कई बार मिलता है। देखिए—तृतीय संस्करण, पृ० ४१
[4] देखिए मिस्टिक्स सेंट्स एण्ड एसेटिक्स आफ इण्डिया—ओमन
[5] एपीग्राफिक नोट्स इन मद्रास इण्डिया, मद्रास (१६०६), पृ० २०१
[6] " " " २०२
[7] आइने अकबरी—जैरेट द्वारा अनूदित पृ० ११३
[8] हिस्ट्री आफ आसाम—गैट—कलकत्ता (१६०६) पृ० ५५

की घोषणा कर देता था तो उसके ऊपर से सब प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक बंधन उठा लिये जाते थे। कामेच्छा प्रकट करने पर ग्राम की कोई भी स्त्री उसके प्रस्ताव की उपेक्षा नहीं कर सकती थी। वर्षोत्सव के आने पर उसकी बलि दे दी जाती थी[1]। हिंदू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में इस प्रकार की सैकड़ों कुप्रथाएँ प्रचलित थीं।

तत्कालीन हिंदू धर्म में उपासना सम्बन्धी बहुत सी कुप्रथाएँ द्राविड़ धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप भी प्रचलित हो गई थीं। द्राविड़ धर्म में वनदेवता, गिरिदेवता, सरित देवता, शिव, वृक्ष, भूत, प्रेत, नाग आदि विविध निम्नकोटि के तामसिक उपास्यों का प्राधान्य था। भारतवर्ष की अधिकांश नीच जातियों का धर्म द्राविड़ ही था। इनके माध्यम से उपर्युक्त प्रकार के निम्नकोटि के तामसिक उपास्यों का प्रचार हिंदू धर्म में भी हो गया था[2]। बंगाल की चेरो और खरवार नामक जातियों में पवित्र वनखंड में जिसे वे लोग वनदेवता का स्थान मानते थे, प्रति तीसरे वर्ष महिष की बलि चढ़ाने की प्रथा थी। बंगाल के मुंडा जाति के लोग अपने वन काटते समय उसका एक भाग अपने देवता के लिए छोड़ देते थे। वहाँ पर उस देवता की विविध प्रकार से बलि देकर वे पूजा करते थे। मुंडा जाति का विश्वास था कि जो लोग इस पवित्र वनखंड के पेड़ को काटने का दुस्साहस करते हैं, उन्हें वनदेवता के कोप का भाजन बनना पड़ता है[3]। सुन्दरवन के लकड़हारों में यह प्रथा है कि वे किसी वनखंड को काटने से पहले वनदेवता को प्रसन्न करने के लिए किसी साधु को पूजा के लिए भेज देते हैं। पूजा हो जाने पर वन को काटने जाते हैं[4]। द्राविड़ जातियों में बहुत से वन-उत्सव भी हुआ करते थे। वाटस और डालटन आदि विद्वानों ने इनका विस्तार से वर्णन किया है। ये उत्सव भी विविध प्रकार की कुप्रथाओं और अंध-विश्वासों से परिपूर्ण होते थे।[5] द्राविड़ लोग पहाड़ों की पूजा भी करते थे। उनकी पहाड़-पूजा[6] का उल्लेख कई स्थानों पर

---

[1] वही

[2] ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ बंगाल—एच० एच० रिसेल कृत (कलकत्ता १८९१) पृ०—१११

[3] डेसिक्रिप्टिव एथनोलौजी आफ बंगाल (१८७२) बाई डालटन, पृ० १३९, १३३, १८६, १९८, १८८

[4] नोट्स औन दी रेस कास्ट्स एण्ड ट्रेड्स आफ ईस्टर्न बंगाल जे० वाइज कृत (१८८८)

[5] देखिए उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ

[6] डेस्क्रिप्टिव एथनोलौजी आफ बंगाल, ई० टी० डालटन (१८७२) पृ० १३५,१८०, २१०,२१७,२२०

मिलता है। ये उस देवता को भैंसे की बलि देकर प्रसन्न करते थे। उनमें शरित देवता जिसे ये कोमता कहते थे की पूजा[1] का भी प्रचार था। ये लोग नदी में नया जाल डालने के पूर्व बलि देकर कोमता माता की पूजा करना परमावश्यक समझते थे। इसी प्रकार पुलनी जाति के मल्लाहों में यह प्रथा थी कि नई नाव चलाने से पहले वे एक सफेद बकरे की बलि देते थे। द्राविड़ धर्म के ये समस्त अंधविश्वास हिंदू धर्म के विविध सम्प्रदायों में प्रविष्ट होकर उन्हें कुप्रथाओं और अंध-विश्वासों का भंडार बनाने लगे। सामान्य अशिक्षित जनता में उपर्युक्त ढंग के द्राविड़ अंध-विश्वास और कुप्रथाएँ सम्पूर्ण रूप में ज्यों की त्यों प्रचलित हो गयी थीं। उच्च और शिक्षित जनता भी इन द्राविड़ अंध-विश्वासों और कुप्रथाओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। अंतर केवल इतना था कि अशिक्षित जनता ने उनको अपने मूलरूप में ही ग्रहण कर लिया था जब कि शिक्षित जनता ने उनके रूपों को परिष्कृत करके ग्रहण करने की चेष्टा की थी। वैष्णव धर्म में प्रचलित तुलसी पूजा, गोवर्धन पूजा, गंगा पूजा, पीपल, बरगद, आँवला आदि वृक्षों की पूजा हमारे विचार से द्राविड़ प्रभाव के फलस्वरूप ही प्रचलित हुई थी।

बहुत सी कुप्रथाएँ और अंध-विश्वास स्मृतियों में वर्णित आचारों का प्रतिरूप में अंधानुकरण करने से उत्पन्न हो गये थे। इस प्रकार के अंधानुकरण किये जाने वाले स्मार्त आचारों में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं:—

१ संध्यावंदन[2]	२ पंचमहायज्ञ[3]	३ बलिवैश्वदेव[4]
४ श्राद्ध[5]	५. षोडश संस्कार[6]	६. भक्ष्याभक्ष्य संबंधी आचार[7]
७ विविध प्रकार के व्रत	८. तीर्थ[8]	९. शौचाशौच संबंधी आचार
१० प्रायश्चित्त संबंधी आचार		

---

[1] ई० आर थर्स्टन्स, १२—पृ० ४८१

[2] मनुस्मृति—दूसरा अध्याय श्लोक १०१ १०२

[3] " तीसरा " " ६८

[4] " " " पृ० ७२ ७४ (स्मृति सन्दर्भ भाग १)

[5] " " " पृ० ४६ "

[6] मनुस्मृति अध्याय ५, पृ० ८८ "

[7] अत्रिस्मृति " " पृ० ३४४ "

[8] शंखसंहिता श्लोक १११ १२५

की घोषणा कर देता था तो उसके ऊपर से सब प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक बंधन उठा दिये जाते थे। धर्मेच्छा प्रकट करने पर ग्राम की कोई भी स्त्री उसके प्रस्ताव की उपेक्षा नहीं कर सकती थी। वर्षोत्सव के आने पर उसकी बलि दे दी जाती थी[1]। हिंदू धर्म के विविध सम्प्रदायों में इस प्रकार की सैकड़ों कुप्रथाएँ प्रचलित थीं।

तत्कालीन हिंदू धर्म में उपासना सम्बन्धी बहुत सी कुप्रथाएँ द्राविड़ धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप भी प्रचलित हो गई थीं। द्राविड़ धर्म में वनदेवता, गिरिदेवता, सरित् देवता, पितृ, वृक्ष, भूत, प्रेत, नाग आदि विविध निम्नकोटि के तामसिक उपास्यों का प्राधान्य था। भारतवर्ष की अधिकांश नीच जातियों का धर्म द्राविड़ ही था। इनके माध्यम से उपर्युक्त प्रकार के निम्नकोटि के तामसिक उपास्यों का प्रचार हिंदू धर्म में भी हो गया था[2]। बंगाल की घेरो और खरवार नामक जातियों में पवित्र वनखण्ड में स्थित वे लोग वनदेवता का स्थान मानते थे, प्रति तीसरे वर्ष महिष की बलि चढ़ाने की प्रथा थी। बंगाल के ठुरीयाँ जाति के लोग अपने वन काटते समय उसका एक भाग अपने देवता के लिए छोड़ देते थे। वहाँ पर उस देवता की विविध प्रकार से बलि देकर वे पूजा करते थे। मुंडा जाति का विश्वास था कि जो लोग इस पवित्र वनखंड के पेड़ को काटने का दुस्साहस करते हैं, उन्हें वनदेवता के कोप का भाजन बनना पड़ता है[3]। कुमरगन के लकड़हारों में यह प्रथा है कि वे किसी वनखण्ड को काटने से पहले वनदेवता को प्रसन्न करने के लिए किसी साधु को पूजा के लिए भेज देते हैं। पूजा हो जाने पर वन को काटने जाते हैं[4]। द्राविड़ जातियों में बहुत से वन-उत्सव भी हुआ करते हैं। वाइज और डाल्टन आदि विद्वानों ने इनका विस्तार से वर्णन किया है। ये उत्सव भी विविध प्रकार की कुप्रथाओं और काम-क्रीड़ाओं से परिपूर्ण होते थे।[5] द्राविड़ लोग पहाड़ों की पूजा भी करते थे। उनकी बड़-पहाड़ पूजा[6] का उल्लेख कई स्थानों पर

---

[1] वही

[2] ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ बंगाल—एच॰ एच॰ रिसले कृत (कलकत्ता १८९१) पृ०—११९

[3] डेस्क्रिप्टिव एथनोलोजी आफ बंगाल (१८७२) बाई डाल्टन, पृ० १२९, १२२, १४६, २११, १८८

[4] नोट्स औन दी रेस कास्ट्स एण्ड ट्रेड्स आफ ईस्टर्न बंगाल जे॰ वाइज कृत (१८८८)

[5] देखिए उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ

[6] डेस्क्रिप्टिव एथनोलोजी आफ बंगाल, ई॰ टी॰ डाल्टन (१८७२) पृ॰ १२९,१८०, २१०,२१४,२२०

मिलता है। वे उक्त देवता को भैंसे की बलि देकर प्रसन्न करते थे। उनमें चरित देवता जिसे वे कोयला कहते थे की पूजा[1] का भी प्रचार था। ये लोग नदी में नया जाल डालने के पूर्व बलि देकर कोयला माता की पूजा करना परमावश्यक समझते थे। इसी प्रकार पुलनी आदि के मल्लाहों में यह प्रथा थी कि नई नाव चलाने से पहले वे एक सफेद बकरे की बलि देते थे। द्राविड़ धर्म के ये समस्त अंधविश्वास हिंदू धर्म के विविध सम्प्रदायों में प्रविष्ट होकर उन्हें कुप्रथाओं और अंध-विश्वासों का भंडार बनाने लगे। सामान्य अशिक्षित जनता में उपर्युक्त ढंग के द्राविड़ अंध-विश्वास और कुप्रथाएँ मध्ययुग में ज्यों की त्यों प्रचलित हो गयी थीं। सभ्य और शिक्षित जनता भी इन द्राविड़ अंध-विश्वासों और कुप्रथाओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। अंतर केवल इतना था कि अशिक्षित जनता ने उनको अपने मूलरूप में ही ग्रहण कर लिया था जब कि शिक्षित जनता ने उनके रूपों को परिष्कृत करके ग्रहण करने की चेष्टा की थी। वैष्णव धर्म में प्रचलित तुलसी पूजा, गोवर्धन पूजा, गंगा पूजा, पीपल, बरगद, आँवला आदि वृक्षों की पूजा हमारे विचार से द्राविड़ प्रभाव के फलस्वरूप ही प्रचलित हुई थी।

बहुत सी कुप्रथाएँ और अंध-विश्वास स्मृतियों में वर्णित आचारों का अतिरूप में अंधानुकरण करने से उत्पन्न हो गये थे। इस प्रकार के अंधानुकरण किये जाने वाले स्मार्त आचारों में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं:—

१ संध्यावंदन[2]	२ पंचमहायज्ञ[3]	३ बलिवैश्वदेव[4]
४ श्राद्ध[5]	५. षोडश संस्कार[6]	६ भक्ष्याभक्ष्य संबंधी आचार[7]
७ विविध प्रकार के व्रत	८. तीर्थ[8]	९. शौचाशौच संबंधी आचार
१० प्रायश्चित्त संबंधी आचार		

---

[1] ई० आर० ई०, १२—पृ० ४८१

[2] मनुस्मृति—दूसरा अध्याय श्लोक १०१ १०२

[3] " तीसरा " " ६८

[4] " " " पृ० ३१ ३४ (स्मृति सन्दर्भ भाग १)

[5] " " " पृ० ४१ "

[6] मनुस्मृति अध्याय ५, पृ० ८६ "

[7] अत्रिस्मृति " " पृ० १४४ "

[8] अंगिरस्मृति श्लोक १११ १२५

उपर्युक्त समस्त बाह्य आचार, अपने मूलरूप में बहुत ही सात्विक, पवित्र और कल्याण विधायक थे। स्मृतियुग के आरम्भ में लोग इनका आचरण मनसा वाचा कर्मणा से करते थे, क्योंकि वे इनका महत्व समझते थे। मध्ययुग के मनुष्यों के लिए ये परम्परागत रूढ़ियों के पालन के रूप में रह गये थे। तब लोग इनका बिना सोचे विचारे अंधानुसरण करने लगे। इनका वास्तविक महत्व भी कम हो गया। ये आडम्बर और बाह्याचार माने जाने लगे। संतों की वाणी इनके इन्हीं विकृत रूपों के खण्डन में प्रवृत्त हुई थी। धर्म के वास्तविक स्वरूप के लुप्त हो जाने पर मध्ययुग में एक भयंकर दानवी प्रवृत्ति का उदय हुआ। वह थी विविध सम्प्रदायों की पारस्परिक द्वेष और संघर्ष की भावना। लोग बाह्याचारों में इतना उलझ गये थे कि धर्म के मूल तत्वों तक उनकी दृष्टि जा ही नहीं पाती थी। आयेदिन प्रायः साम्प्रदायिक विग्रह और संघर्ष हुआ करते थे। कभी कभी[1] ये संघर्ष युद्ध का भयानक रूप धारण कर लेते थे। हिंदू और बौद्ध संघर्ष का उल्लेख प्राचीन इतिहास में बार-बार आया है। इनकी परंपरा १९वीं शताब्दी तक जीवित थी। रैपर साहब[2] ने अपनी एशियाटिक रीसर्चेज में सन् १७६० में हरिद्वार में होनेवाले एक साम्प्रदायिक युद्ध का विस्तृत उल्लेख किया है। यह युद्ध शैव और वैष्णव नागों के बीच में हुआ था। दोनों ही किसी पर्व पर धार्मिक स्नान के लिए आये हुए थे। दोनों में किसी बात पर मतभेद हो गया। वह मतभेद भयंकर युद्ध के रूप में परिणत हो गया। उसमें वैष्णव-नागों की पराजय हुई और लगभग अठारह हजार की संख्या में मारे गये। इसी प्रकार के एक साम्प्रदायिक युद्ध का वर्णन अब्बुलफजल ने अपने आइने अकबरी में किया है। यह युद्ध कुरुक्षेत्र में हुआ था। इस धार्मिक रक्तलीला को देखने स्वयं सम्राट् अकबर गये थे।[3]

इस प्रकार के धार्मिक और युद्धों को देखकर निर्गुणियाँ संतों की आत्मा अवश्य ही व्यथित हुई होगी। और वे सत्धर्म की प्रतिष्ठा में कटिबद्ध हो गये होंगे। *मध्ययुग के हिंदू धर्म की जिन प्रवृत्तियों और परिस्थितियों ने प्रतिक्रियात्मक निर्गुण* काव्यधारा के उदय और विकास में योग दिया था उनका दिग्दर्शन हो चुका अब हम हिंदू धर्म के उन तत्वों पर विचार करेंगे जिन्होंने निर्गुणियाँ संतों को क्रियात्मक प्रेरणाएँ प्रदान की थीं।

प्रत्येक धर्म के प्रायः २ पक्ष हुआ करते हैं। एक सामान्य और दूसरा विशेष। पहले का संबंध उन सार्वभौमिक नैतिक भावों से होता है जो समय और परिस्थितियों

---

[1] अरब और भारत के सम्बन्ध पृ १८ १९

[2] देखिए एशियाटिक रिसर्चेज—१७८८ १८३९, एफ० वी रैपर

[3] इलियट एण्ड डाउसन, भाग ५, पृ ३९८

के प्रवाह में पड़कर भी विकृत नहीं होती। ऊपर हमने हिन्दू धर्म के विशेष पक्ष का दिग्दर्शन कराया है। अब हम उसके सामान्य पक्ष के कुछ प्रमुख तत्वों पर भी प्रकाश डाल देना चाहते हैं।

हिन्दू धर्म के सामान्य पक्ष का सबसे महत्वपूर्ण तत्व उसकी आचरण-प्रवणता है। हिन्दू धर्म का प्राण ही सदाचार है। स्मृति और पुराण ग्रंथों में सदाचार की महिमा की भूरि-भूरि वर्णना की गई है। महाभारत[1] में धर्म को आचार प्रभव कहा गया है।[2] पराशर ने लिखा है कि आचार भ्रष्ट लोगों से धर्म पराङ्मुख हो जाता है। बृहस्पति स्मृति में[3] आचारहीन पुत्र को मूत्रोच्चार के सदृश कहा गया है। विष्णु पुराण में[4] लिखा है कि सदाचार की उपेक्षा करके कोई भी शोभा को प्राप्त नहीं होता है।[5] नारद स्मृति में आचारहीन ब्राह्मण को शूद्र के सदृश और आचारवान् शूद्र को ब्राह्मण के सदृश कहा गया है। वशिष्ठ ने तो[6] यहाँ तक लिखा है कि आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते चाहे उनका सांग अध्ययन ही क्यों न किया गया हो। हिन्दू धर्म का दूसरा उल्लेखनीय तत्व तप है। इसकी महिमा का वर्णन श्रुति स्मृति ग्रंथों में बार बार किया गया है। ऋग्वेद में सृष्टि के विकास का कारण तप ही बतलाया गया है।[7] ब्राह्मण ग्रंथों में भी थोड़ा हेर-फेर के साथ इसी भाव की पुनरावृत्ति की गई है।[8] इसी प्रकार उपनिषद् ग्रंथों में भी तपस्या के महान् महत्व का प्रतिपादन किया गया है।[9] गुरु के लिए उसकी सबसे बड़ी दक्षिणा भी यही है। छांदोग्योपनिषद् में एक स्थान पर लिखा है कि जो ब्रह्मचारी तप और सत्य का आचरण करता है वह ही श्रेष्ठ है।[10] श्रुति ग्रंथों के अतिरिक्त पुराण और स्मृति ग्रंथों में भी तपस्या की महिमा

---

[1] देखिए—महाभारत 'आचार प्रभवो धर्म' महाभारत १०४, १५०
[2] आचार भ्रष्ट देहानामवेदाः पराङ्मुखाः (स्मृति रत्नाकर पृ० २८ में उद्धृत)
[3] आचारहीनो पुत्रस्तु मूत्रोच्चार समः स्मृतः। (स्मृति रत्नाकर पृ० २८)
[4] समुल्लंघ्य सदाचार कश्चिन्नाप्नोति शोभनम् (स्मृति रत्नाकर पृ० २८)
[5] विप्रस्याचाररहितम् (वही)
शूद्रोऽपि स्पष्ट वृत्त ब्राह्मणो न तु स्मृतः
शूद्रोऽपि ब्राह्मणा ज यो ब्राह्मणोः शूद्र पूर्व सः (स्मृति रत्नाकर पृ० २८)
[6] आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरंगैः (स्मृति रत्नाकर पृ० २६)
[7] ऋग्वेद १०।१९०।१
[8] देखिए ऐतरेय ब्राह्मण ११।५।४ और देखिए शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।१
[9] देखिए बृहदारण्यकोपनिषद् ३।८।१०
प्रश्नोपनिषद्, १।१, महानारायणोपनिषद् ११।१०—मुण्डकोपनिषद् १।१।११
[10] छान्दोग्योपनिषद्

प्रतिष्ठित की गई है। श्रीमद्भागवत् में एक स्थल पर लिखा है—"धर्मो वृषरूप धृक्" ११।१७।११।

अर्थात् तप, शौच, दया और सत्य नामक चार पैरवाला धर्म रूपी बैल मैं ही हूँ। स्मृतियों में श्रेष्ठ मनुस्मृति में लिखा है कि तप और विद्या दोनों ही ब्राह्मण के लिए मोक्षदायक होते हैं। तैत्तरीयोपनिषद्[1] की भृगु वारुणी कथा में भी भारतीय संस्कृति, धर्म एवं दर्शन के परम लक्ष्य की प्राप्ति तपस्या के सहारे ही दिखलाई गई है। अतएव स्पष्ट है कि तपस्या हमारे धर्म, दर्शन तथा संस्कृति की प्राणभूत विशेषता है। धर्म और दर्शन की यह प्राणभूत विशेषता ही साधु-संतों की परंपरा की जन्मदात्री कही जा सकती है। यह बात केवल भारतीय साधु-संतों के लिए ही नहीं वरन् पाश्चात्य संतों के सम्बन्ध में भी सत्य है। जोली महोदय ने अपने 'साईकोलोजी आफ सेन्ट्स' नामक ग्रंथ में प्रमाणित कर दिया है कि पाश्चात्य संत-परम्परा की आधारभूमि तपस्या ही है।[2]

तप के पश्चात् भारतीय संस्कृति और धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व सत्य माना गया है। सच तो यह है कि सत्य तप से ही उत्पन्न हुआ है। ऋग्वेद में एक स्थल पर यह बात कही भी गई है कि वैदिक ग्रंथों में सत्य की महिमा का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। केवल ऋग्वेद में ही सत्य की महिमा से संबंधित २५ या ३० उक्तियाँ आई हैं। इनमें से कुछ प्रमुख उक्तियाँ इस प्रकार हैं —

"पुरुषों ने सत्य का ही प्रतिपादन किया है और वे उसी का आचरण करते हैं।"[3]

"सत्य का मार्ग सरल है"[4]
"दुष्कर्मी लोग सत्य के मार्ग पर नहीं चल सकते"[5]
"धर्मात्मा को सत्य की नाव ही पार लगाती है"[6]

ऋग्वेद के अतिरिक्त सत्य के महत्त्व का संकेत यजुर्वेद में भी किया गया है। उसमें लिखा है—सबको सत्य के मार्ग पर ही चलना चाहिए।[7] उपनिषद्

---

1 तैत्तरीयोपनिषद् देखिए, वल्ली ३ अनुवाक १, २, ३, ४, ५
2 साइकोलाजी आफ सेंट—जाली पृ० १-९९
3 'सत्यमूचुर्नरएवाहि चक्रु'—ऋग्वेद ४।३३।६
4 'सुगम ऋतस्य पन्था'—ऋग्वेद ८।३१।१३
5 'ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृता'—ऋग्वेद ९।७३।६
6 'सत्यस्य नाव' सुकृतमपीपरन्—ऋग्वेद ९।७३।१
7 ऋतस्यपन्था प्रेत—यजुर्वेद ७।४५

ग्रंथों में सत्य को ब्रह्मरूप कहा गया है।[1] वैदिक साहित्य के अतिरिक्त सत्य की महिमा का वर्णन काव्य, पुराण और स्मृति ग्रंथों में भी किया गया है। महाभारत में "नास्ति सत्यात्परो धर्मः"[2] लिखकर सत्य का ही महत्त्व संकेतित किया गया है। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी सत्याचरण को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। उसमें स्पष्ट आता है—"सत्यपूतां वदेद्वाचं" (मनु० ६।४६)। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारतीय धर्म और संस्कृति में सत्य तत्त्व को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। भारतीय संतों का प्रधान लक्ष्य सत्य का पालन करना और उसकी खोज करना ही रहा है। सत्य को हम संतों के हाथ की छड़ी भी कह सकते हैं।

तप और सत्य तत्त्व की साधना बिना ज्ञान और वैराग्य के संभव नहीं होती। इसीलिए भारतीय धर्म और संस्कृति में ज्ञान और वैराग्य को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। प्रारम्भिक संस्कृति संहिताकाल में ज्ञानप्रधान अधिक थी, वैराग्यप्रधान कम। किन्तु उपनिषद्काल में उसका रूप बिलकुल बदल गया। वह ज्ञानप्रधान होने के साथ ही साथ वैराग्यप्रधान भी बन गई। ज्ञान और वैराग्य को उपनिषद्काल में जितना महत्त्व मिला था उतना भारतीय संस्कृति के विकास की किसी भी अवस्था में नहीं मिल सका है। उपनिषद्-कालीन संस्कृति में जिस वैराग्य भक्ति को प्रश्रय दिया गया उसको चरम शिखर पर ले जाने का श्रेय बौद्धों को है। उपनिषद् और बौद्ध ग्रंथ वैराग्य की महिमा से भरे पड़े हैं। उपनिषदों में भी वैराग्य का सबसे अधिक महत्त्व बृहदारण्यकोपनिषद् में दिया गया है। उसमें एक स्थल पर लिखा है—'संसार को बिलकुल छोड़ करके मन को निर्विषय और निष्काम करना ही जगत् में मनुष्य का एक परम् कर्तव्य है।" (४।४।६)

बौद्ध ग्रन्थ[3] वैराग्य और संन्यास के वर्णनों से भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए [illegible] सुत्तनिपातो के धम्मिकसुत्त में दिये गये एक बुद्ध वचन को ले सकते हैं। भगवान् बुद्ध कहते हैं—

"गृहस्थाश्रम में मोक्षप्राप्ति कभी भी नहीं होती। बहुत हुआ तो स्वर्ग अथवा देवलोक की प्राप्ति [illegible] जायेगी। परन्तु जन्म-मरण के चक्कर से पूर्णतया छुटकारा पाने के लिए संसार तथा सांसारिक बंधनों को त्यागकर वैराग्यप्रधान भिक्षु धर्म ही स्वीकार करना चाहिए।"—(धम्मिक सुत्त १७।१६) इसी प्रकार खग्गविसाणसुत्त। महावग्ग, धम्मपद, मिलिन्द प्रश्न आदि ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर वैराग्य की महिमा प्रतिपादित की

[1] सत्यं ब्रह्मेति विजिज्ञास इति। छां—७।१६।१७
[2] महाभारत शान्ति पर्व—१६२।२४
[3] महापरिनिब्बाण सुत्त ३।२४

गई है। उपनिषदों और बौद्ध ग्रन्थों में प्रतिपादित इस वैराग्य धर्म का पूर्व मध्यकाल में समाज में इतना प्रभाव पड़ा कि प्रत्येक व्यक्ति को समय-कुसमय में ही वैरागी और संत बनने की धुन सवार हो गई जिसके फलस्वरूप भारतवर्ष में साधु-संतों और वैरागियों की बाढ़ सी आ गई।

साधु-संतों की परंपरा को प्राण प्रदान करनेवाली शक्ति आस्तिकता थी उपनिषद् काल में जहाँ तप, सत्य, वैराग्य आदि तत्त्वों को महत्त्व दिया गया वहीं आस्तिकता की भी पूर्ण प्रतिष्ठा की गई। ईशावास्योपनिषद् का पहला भाग ही आस्तिकता की पूर्ण प्रतिष्ठा कर देता है। उपनिषदों की आस्तिकता सर्वात्मवाद पर आधारित है। उनमें सर्वात्मवाद से सम्बन्धित अनेक कथन मिलते हैं। उनमें से कुछ प्रसिद्ध और प्रमुख इस प्रकार हैं :—

(१) ईश्वर केवल एक नहीं बल्कि अद्वितीय चैतन्य है।[1]

(२) केवल यही नहीं कि और कोई ईश्वर नहीं है, बल्कि ईश्वर ही सब कुछ है।[2]

(३) वह ऊपर है, वह नीचे है, वह पीछे है, वह सामने है। वह दक्षिण ओर है, वह उत्तर ओर है यही नहीं बल्कि वही सब कुछ है।[3]

उपनिषदों का यह सर्वात्मवाद समय-समय पर संत-परम्परा को बहुत बल देता रहा है।

भारतीय धर्म और संस्कृति में आध्यात्मिकता को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। यह बात भारतीय और पाश्चात्य सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। भगवान् कृष्ण ने गीता में "अध्यात्म विद्या विद्यानाम्" कहकर इसी बात की पुष्टि की है। उपनिषदों में भी ब्रह्म विद्या के नाम से अध्यात्मविद्या की ही महिमा वर्णित की गई है। वे अध्यात्मशास्त्र के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ हैं। अध्यात्म में आत्मा, परमात्मा, जीव, जगत् और उनसे संबंधित विषयों पर विचार किया जाता है। भारत में अध्यात्म विद्या को ही सर्वश्रेष्ठ विद्या माना जाता था। इसीलिए यहाँ के मनीषी सबसे पहले अध्यात्म विषयों का ही मनन और चिंतन करते रहे हैं। इसी के फलस्वरूप भारतवर्ष में अनेक आस्तिक व नास्तिक दर्शन-पद्धतियाँ विकसित होती रही हैं। इन दर्शन-पद्धतियों के प्रतिपादन और विवेचन का श्रेय अधिकतर शास्त्रज्ञ आचार्यों का रहा है।

---

[1] सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्—छान्दोग्यो ६।२।१

[2] न तु तद्‌द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत—बृ० ४।३।२३

[3] स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति छां० ७।२५।१

किन्तु इनके प्रचार और परीक्षण का कार्य साधु-संत ही करते रहे हैं। समय-समय पर विविध साधु-संत अपनी साधना के सहारे शास्त्रज्ञ आचार्यों के तर्कप्रधान विवेचनों की प्रतिक्रिया के रूप में स्वानुभूतिमूलक दार्शनिक विचारधाराओं को जन्म देते रहे हैं। ऐसे ही साधु-संतों का एक वर्ग निर्गुणियाँ कवियों का है। इन साधु-संतों की दार्शनिक विचारधाराओं को तब तक सही रूप में नहीं समझा जा सकता जब तक पृष्ठभूमि के रूप में शास्त्रज्ञ आचार्यों और महात्माओं के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक पद्धतियों का स्पष्टीकरण न किया जाय। अतएव आगे हम अत्यन्त संक्षेप में शास्त्रज्ञ आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उन दर्शन-पद्धतियों की रूपरेखा का संकेत करेंगे जिनकी पृष्ठभूमि पर हिन्दी के निर्गुणियाँ सन्तों की विचारधारा का महल खड़ा हुआ है

सामाजिक प्रेरणाएँ

निर्गुण विचारधारा के विकास की प्रेरक शक्तियाँ कुछ तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ भी थीं। मध्ययुग में धर्म-क्षेत्र के सदृश सामाजिक क्षेत्र में भी अनेक प्रवृत्तियाँ और कुप्रथाएँ उत्पन्न हो गई थीं। उस समय देश में दो समाज प्रधान थे। एक हिन्दू और दूसरा मुसलमान। इन दोनों समाजों की दशा शोचनीय थी। मुसलमान समाज शासक वर्ग की दुर्बलताओं से परिपूर्ण था और हिन्दू समाज शासित वर्ग की विपदाओं से पीड़ित था।[1]

राजनीतिक परिस्थितियों के प्रसंग में दिखला चुके हैं कि हिंदू जाति और धर्म पर मुसलमान लोग कितने नृशंसतापूर्ण अत्याचार कर रहे थे।[2] इन अत्याचारों से हिंदू जाति अत्यधिक व्यथित थी। हिंदू समाज में मिथ्याचार का घोर तांडव हो रहा था। हिंदू जाति की प्रवृत्ति सांसारिक वैभव से हटकर विराग की ओर हो गई थी। हिंदू-मुसलमानों के पारस्परिक भेदभाव ने उपर्युक्त प्रवृत्तियों को और भी अधिक बल दिया। यह बात राजनीतिक परिस्थितियों के प्रसंग में उल्लिखित अलाउद्दीन और काजी के संवाद से प्रकट होती है।[3] एक मुसलमान इतिहासकार ने लिखा है कि एक बार अलाउद्दीन ने काजी से पूछा कि हिंदुओं के साथ कैसा व्यवहार किया जाय। इस पर काजी ने जो उत्तर दिया था जिससे प्रकट होता है कि मुसलमान लोग हिंदुओं को बहुत ही नीच समझते थे। सिकन्दर लोदी और बोधन ब्राह्मण

[1] सल्तनत आफ देहली—ए० एल० श्रीवास्तव (१९५०) पृ० ३८९ ३१९

[2] देखिए—इस ग्रन्थ की राजनीतिक प्रेरणाएँ

[3] देखिए—ब्रिग फिरिश्ता—मेकमिलन—भाग १ २ पृ० ८१

बासी[1] घटना भी इसी बात को पुष्ट करती है। सिकन्दर लोदी अपने धर्म को हिंदू धर्म से अधिक पवित्र समझता था। बोधन ब्राह्मण ने हिंदू धर्म को इस्लाम धर्म के सदृश पवित्र कह दिया था। इस पर उस बिचारे को भी जीवित जलवा दिया गया था। जिस प्रकार मुसलमान हिंदुओं को नीच और तुच्छ समझते थे उसी प्रकार हिंदू भी मुसलमानों को पतित और अधम समझते थे और उनके लिए म्लेच्छ शब्द का प्रयोग करते थे। उनकी छाया पड़ जाने पर अपने को अपवित्र समझते थे और स्नान तथा पूजा करते थे।[2]

हिंदू और मुसलमान समाजों में ही भेद-भावना वर्तमान न थी वरन् उनमें आपस में भी ऊँच-नीच की बड़ी भयावनी भावना स्थित थी। हिंदू समाज तो ब्राह्मण और शूद्र के पारस्परिक भेद के लिए बदनाम था ही।[3] मुसलमान समाज में भी यह भावना कम भयंकर रूप में वर्तमान नहीं थी। विदेशी मुसलमान हिंदू जाति से परिवर्तित भारतीय मुसलमानों को हिन्दुओं के सदृश ही नीच और पतित समझते थे। कहते हैं कि बलबन[4] ने एक बार अपने एक उच्च उमराव को सबके सामने इसलिए भर्त्सित किया था कि उसने अमरोहे में कचहरी के काम के लिए एक हिंदू जाति से परिवर्तित भारतीय मुसलमान को चुन लिया था। यह घटना मुसलमानों के पारस्परिक भेद भाव को पूर्णतया प्रमाणित करती है। सुन्नी और शिया के पारस्परिक भेदभाव से तो सभी परिचित हैं। यह इतिहासप्रसिद्ध बात है कि सुन्नी बादशाह शिया लोगों को ऊँचे पद नहीं देते थे। इस प्रकार शिया लोग भी सुन्नियों से घृणा करते थे और ऊँचे पद उन्हें नहीं देते थे।

मध्यकालीन मुसलमान समाज की दासता[5] की प्रथा बहुत ही भयानक थी। एक-एक मुसलमान बादशाह के हजारों गुलाम हुआ करते थे।[6] इनमें से अधिकांश निरीह हिंदू होते थे, जिनके प्रति उनका व्यवहार बहुत ही कठोर होता था। यह लोग स्त्रियों और बच्चों को भी गुलाम बना लेते थे। यवनों की इस गुलाम बनाने की प्रथा ने

---

[1] इलियट एण्ड डाउसन ने बोधन नाम दिया है। प्रो० एच० एच० विल्सन का मत है कि वह कबीर का शिष्य था।

[2] सुलतान आफ देहली—पृ० ४५८

[3] देखिए—इसी अध्याय में धार्मिक प्रेरणायें

[4] सुलतानत आफ देहली पृ० ४०९

[5] „ „ पृ ४८०

[6] अलाउद्दीन के ५०,००० गुलाम थे। फीरोज के समय में उनकी संख्या २,००,००० हो गई थी।
एन एडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० ३९९

हिंदू समाज में भय और निराशा की भावना भर दी थी। मुसलमान समाज का नैतिक स्तर इस प्रकार की कुप्रथाओं से बहुत नीचा हो गया था। इनमें घोर व्यभिचार फैल रहा था। बलात्कार उनके लिए साधारण सी बात थी। मुबारक शाह[1] और कैकुबाद के अमानुषिक व्यभिचारों का वर्णन सभी इतिहासकारों ने किया है। उस युग में युवती नर्तकियाँ और सुन्दर लड़के बाजारों में खुलेआम बिकते थे। कभी-कभी एक-एक लड़के की कीमत दो-दो हजार टंक तक लग जाती थी।[2] फीरोज तुगलक के समय में इस प्रकार के १८ हजार लड़के वर्तमान थे। मुसलमानों के बहुस्त्रीवाद ने भी उनके समाज में घोर व्यभिचार फैला रखा था। एक-एक बादशाह के हजारों स्त्रियाँ होती थीं। मौहम्मद तुगलक के सिपहसालार खानजहाँ के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने लिखा है कि उसके हरम में भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न जातियों की दो हजार स्त्रियाँ थीं।[3] सरदारों की इस प्रकार की दशा से ही राजाओं की दशा का अनुमान किया जा सकता है। वे साधारणतया दो-दो तीन-तीन हजार स्त्रियाँ रखते थे।

बहुस्त्रीप्रथा के अतिरिक्त यवन शासन-काल में वेश्यावृत्ति का भी अच्छा प्रचार था। अबुलफजल ने आईने अकबरी में लिखा[4] है कि अकबर के समय में राजधानी में इतनी वेश्याएँ थीं कि उनकी गणना नहीं की जा सकती थी। उनके रहने के लिए नगर का एक भाग अलग कर दिया गया था। उसे शैतानपुर कहते थे। अकबर से पूर्व के बादशाहों ने भी वेश्यावृत्ति को आश्रय दिया था। यवन शासकों में इतिहास एक औरंगजेब[5] में ऐसा बादशाह मिलता है। जिसने इस वृत्ति को समाप्त करने का प्रयत्न किया था। उसने वेश्याओं को यह राज्य आज्ञा दी थी कि वे या तो अपनी वृत्ति छोड़ दें या किसी से विवाह कर लें। यवनों के राज्यकाल में शराब, जुआ, बालकबाजी[6] आदि कुप्रथाओं को भी पूरा आश्रय मिला था। बाबरनामे[7] की बालकबाजी [illegible] इतिहासप्रसिद्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यवन समाज नैतिक दृष्टि से बहुत गिर गया था।

नैतिक दृष्टि से मुसलमान समाज जितना पतित हो रहा था हिन्दू समाज का

---

[1] मुस्लिम रूल इन इंडिया पृ० १६६
[2] " " " " पृ० १६५
[3] " " " " पृ०
[4] आईने अकबरी, अबुलफजल कृत, ब्लौकमैन द्वारा अनूदित (१८७३ ई०) पृ० १९२
[5] स्टोरिया डू मोगर—डब्ल्यू० आर्विन द्वारा सम्पादित (लन्दन १९०७) ६
[6] मुस्लिम रूल इन इंडिया पृ० २५०
[7] मेडीवल इंडिया पृ०

बाली[1] घटना भी इसी बात को पुष्ट करती है। सिकन्दर लोदी अपने धर्म को हिंदू धर्म से अधिक पवित्र समझता था। बोधन ब्राह्मण ने हिंदू धर्म को इस्लाम धर्म के सदृश पवित्र कह दिया था। इस पर उस बिचारे को भी जीवित जलवा दिया गया था। जिस प्रकार मुसलमान हिंदुओं को नीच और तुच्छ समझते थे उसी प्रकार हिंदू भी मुसलमानों को पतित और अधम समझते थे और उनके लिए म्लेच्छ शब्द का प्रयोग करते थे। उनकी छाया पड़ जाने पर अपने को अपवित्र समझते थे और स्नान तथा पूजा करते थे।[2]

हिन्दू और मुसलमान समाजों में ही भेद-भावना वर्तमान न थी वरन् उनमें आपस में भी ऊँच-नीच की बड़ी भयावनी भावना स्थित थी। हिंदू समाज तो ब्राह्मण और शूद्र के पारस्परिक भेद के लिए बदनाम था ही।[3] मुसलमान समाज में भी यह भावना कम भयंकर रूप में वर्तमान नहीं थी। विदेशी मुसलमान हिंदू जाति से परिवर्तित भारतीय मुसलमानों को हिन्दुओं के सदृश ही नीच और पतित समझते थे। कहते हैं कि बलबन[4] ने एक बार अपने एक उच्च सभासद को सबके सामने इसलिए भर्त्सित किया था कि उसने अमरोहे में क्लर्क के कार्य के लिए एक हिंदू जाति से परिवर्तित भारतीय मुसलमान को चुन लिया था। यह घटना मुसलमानों के पारस्परिक भेद भाव को पूर्णतया प्रमाणित करती है। सुन्नी और शिया के पारस्परिक भेदभाव से तो सभी परिचित हैं। यह इतिहासप्रसिद्ध बात है कि सुन्नी बादशाह शिया लोगों को ऊँचे पद नहीं देते थे। इस प्रकार शिया लोग भी सुन्नियों से घृणा करते थे और ऊँचे पद उन्हें नहीं देते थे।

मध्यकालीन मुसलमान समाज की दासता[5] की प्रथा बहुत ही भयानक थी। एक-एक मुसलमान बादशाह के हजारों गुलाम हुआ करते थे।[6] इनमें से अधिकांश निर्धन हिंदू होते थे, जिनके प्रति उनका व्यवहार बहुत ही कठोर होता था। वे लोग स्त्रियों और बच्चों को भी गुलाम बना लेते थे। यवनों की इस गुलाम बनाने की प्रथा में

---

१ ईलियट एवम डाउसन ने लोधन नाम दिया है। जी० एच० एच० विल्सन का मत है कि यह कबीर का शिष्य था।

२ सल्तनत आफ देहली—पृ० ४८८

३ देखिए—इसी अध्याय में धार्मिक भेदभावनाएँ

४ सल्तनत आफ देहली पृ० ४७६

५ " " पृ ४८०

६ अलाउद्दीन के ५०,००० गुलाम थे। फीरोज के समय में उनकी संख्या २,००,००० हो गई थी।
एन एडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ३११

हिंदू समाज में भय और निराशा की भावना भर दी थी। मुसलमान समाज का नैतिक स्तर इस प्रकार की कुप्रथाओं से बहुत नीचा हो गया था। इनमें घोर व्यभिचार फैल रहा था। बलात्कार उनके लिए साधारण सी बात थी। मुबारक शाह[1] और कैकूबाद के सामाजिक व्यभिचारों का वर्णन सभी इतिहासकारों ने किया है। उस युग में युवती नर्तकियाँ और सुन्दर बालक बाजारों में खुलेआम बिकते थे। कभी-कभी एक-एक लड़के की कीमत दो-दो हजार टंक तक लग जाती थी।[2] फीरोज तुगलक के समय में इस प्रकार के १८ हजार लड़के वर्तमान थे। मुसलमानों के बहुस्त्रीवाद ने भी उनके समाज में घोर व्यभिचार फैला रखा था। एक-एक बादशाह के हजारों स्त्रियाँ होती थीं। मोहम्मद तुगलक के सियरुलआरार शामजहाँ के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने लिखा है कि उसके हरम में भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न भिन्न जातियों की दो हजार स्त्रियाँ थीं।[3] सरदारों की इस प्रकार की दशा से ही राजाओं की दशा का अनुमान किया जा सकता है। वे साधारणतया दो-दो तीन-तीन हजार स्त्रियाँ रखते थे।

बहुस्त्रीप्रथा के अतिरिक्त यवन शासन काल में वेश्यावृत्ति का भी अच्छा प्रचार था। अबुलफजल ने आईने अकबरी में लिखा[4] है कि अकबर के समय में राजधानी में इतनी वेश्याएँ थीं कि उनकी गणना नहीं की जा सकती थी। उनके रहने के लिए नगर का एक भाग अलग कर दिया गया था। उसे शैतानपुर कहते थे। अकबर से पूर्व के बादशाहों ने भी वेश्यावृत्ति को आश्रय दिया था। यवन शासकों में इतिहास एक औरंगजेब[5] में ऐसा बादशाह मिलता है। जिसने इस वृत्ति को बनाम करने का प्रयत्न किया था। उसने वेश्याओं को यह स्पष्ट आज्ञा दी थी कि वे या तो अपनी वृत्ति छोड़ दें या किसी से विवाह कर लें। यवनों के राज्यकाल में शराब, जुआ, बालगामी[6] आदि कुप्रवृत्तियों को भी पूरा आश्रय मिला था। कामसर्ग[7] की बालगामी तो इतिहासप्रसिद्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यवन समाज नैतिक दृष्टि से बहुत गिर गया था।

नैतिक दृष्टि से मुसलमान समाज जितना पतित हो रहा था हिन्दू समाज का

---

[1] मुस्लिम रूल इन इण्डिया पृ० १६५
[2] ,, ,, ,, ,, पृ० १६५
[3] ,, ,, ,, ,, पृ०
[4] आईने अकबरी, अबुलफजलकृत, ब्लौकमैन द्वारा अनूदित (१८७३ ई०) पृ० १९२
[5] स्टोरिया डू मोगर—मनूची० अरविन द्वारा सम्पादित (लन्दन १९०७) ६
[6] मुस्लिम रूल इन इण्डिया पृ० २५०
[7] मैडीवल इण्डिया पृ०

स्तर उतना ही ऊँचा था। इस नैतिक उच्चता का बहुत बड़ा कारण उनकी संस्कृति थी। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों ने भी अपना नैतिक स्तर ऊँचा बनाये रखने की प्रेरणा दी थी। शासित वर्ग से संबंधित होने के कारण वे सदैव ही शासक वर्ग के अत्याचारों का शिकार रहते थे। उन्हें किसी प्रकार के भी राजनैतिक और सामाजिक अधिकार प्राप्त न थे।[1] बरानी ने उनकी स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है कि किसी भी हिन्दू को सिर उठाने का साहस नहीं होता था। उन्हें अपने घर में सोने और चाँदी के सिक्के तथा आभूषण रखने का अधिकार नहीं था। वे घोड़े की सवारी भी नहीं कर सकते थे। वे अस्त्र-शस्त्र भी नहीं रख सकते थे। मूल्यवान् वस्त्र खरीदना भी उनके पक्ष में अपराध था।[2] इतने पर भी उन्हें जज़िया कर देना पड़ता था। कुछ बादशाहों के समय में तो यह जज़िया कर बहुत अधिक बढ़ गया था। अलाउद्दीन खिलजी ने दोआबे के लोगों की आय पर पचास फी सदी जज़िया कर लगा रखा था।[3] इन सबके फलस्वरूप हिंदू जाति दरिद्रता और दीनता की पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी।

इस युग में विद्या और पांडित्य की प्रतिष्ठा कम हो गई थी। अधिकांश बादशाह लोग अशिक्षित और बर्बर होते थे। वे न तो विद्वानों और पंडितों को राजाश्रय ही देते थे और न उनके प्रति सम्मान का भाव ही रखते थे। मोहम्मद तुगलक के विषय में इतिहासकारों ने लिखा है कि वह हिंदू पंडित की तो बात ही क्या मौलवी और शेख लोगों को छोटे से छोटे अपराध पर कड़े से कड़ा दंड दे देता था।[4] मुसलमान बादशाहों के इतिहास में केवल अकबर ही एक ऐसा बादशाह मिलता है जो विद्वानों और पंडितों का उचित सम्मान करता था। विद्या और पांडित्य की प्रतिष्ठा कम हो जाने के कारण सामान्य जनता की अभिरुचि उनकी ओर से हट गई। समुचित शिक्षा और पांडित्य के अभाव ने हिंदू और मुसलमान दोनों समाजों में घोर अंधविश्वास और कुप्रवृत्तियाँ व कुप्रथाएँ उत्पन्न कर दी जिनका उल्लेख हम धार्मिक प्रेरणाओं के प्रसंग में कर चुके हैं। संतों की सुधारवादी आत्मा उपर्युक्त सामाजिक दुर्बलताओं और विकारों को सहन न कर सकी और उनके प्रतिरोध में प्रवृत्त हो गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकालीन परिस्थितियों और प्रवृत्तियों ने निर्गुण विचारधारा के उद्भव और विकास में प्रतिक्रियात्मक प्रेरणा प्रदान की थी।

---

1 सल्तनत आफ देहली पृ० ३८६
2 मुस्लिम रूल इन इंडिया पृ० १५२
3 ,, ,, ,, पृ० १३३
4 ,, ,, ,, पृ० १६४

परिस्थितिजन्य व्यक्तिगत

उपर्युक्त विविध परिस्थितियों के अतिरिक्त बहुत सी ऐसी भी प्रेरक शक्तियाँ हुआ करती हैं जिन्हें हम परिस्थितिजन्य व्यक्तिगत कह सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में कभी-कभी कुछ ऐसी घटनाएँ घट जाती हैं, ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं जिससे जीवन की गति सहसा बदल जाती है। महापुरुषों के जीवन में तो इस प्रकार की घटनाएँ और परिस्थितियाँ कुछ अधिक आया करती हैं। अधिकांश महापुरुष इन परिस्थितियों और घटनाओं की ठोकर खाकर ही महापुरुष बने हैं। उदाहरण रूप में हम महात्मा तुलसीदास को ले सकते हैं। उनकी स्त्री की तलस्पर्शी घटना ने ही उनको अमुक तुलसीदास से महात्मा तुलसीदास बना दिया था। संतों के संबंध में प्रायः इस प्रकार की घटनाएँ प्रचलित हो जाया करती हैं। इन घटनाओं के वर्णन में चाहे अतिरंजना की जाती हो किन्तु वे आधारित सत्य पर ही रहती हैं।

निर्गुणियाँ कवियों के जीवनवृत्तों पर दृष्टि डालने से हमें लगभग प्रत्येक के सम्बन्ध में कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख मिलता है जिन्होंने उनके जीवन को, उनके भावपक्ष को और उनकी विचारधारा को प्रभावित कर नई मोड़ देने की चेष्टा की है। कुछ प्रसिद्ध संतों की प्रसिद्ध जीवन घटनाओं का संकेत तथा उनके फलस्वरूप उद्भूत क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा।

महात्मा कबीर में हमें एक विचित्र अक्खड़ता और अतिभावना मिलती है। इस अक्खड़ता और अतिभावना के मूल में यों तो कई बातें थीं किन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात उनका सिकन्दर लोदी के द्वारा सताया जाना था। सिकन्दर लोदी ने उनके साथ बड़े अत्याचार किये थे। कबीर ने अपनी रचनाओं में कई स्थलों पर इनका संकेत किया है।[1] सिकन्दर लोदी के इन अत्याचारों ने कबीर की मस्तिष्कभावना को तथा उनकी खंडन की प्रवृत्ति को अवश्य ही बल दिया होगा। उनकी वाणी में जो विद्रोह भरा हुआ है उसकी उत्तरदायिनी उनके जीवन की यह घटना भी मानी जा सकती है।

संत नानक के संबंध में एक किंवदंती है कि वह वैराग्योदय से पूर्व एक मोदी-खाने में नौकर थे। कहते हैं एक बार आटा तौलते समय वह इतने भावमग्न हो गये कि

[1] कबीर ग्रन्थावली—पृ० २०१

गंगा अथाह जल गहिर गम्भीर।
बाँधि जंजीर बाड़े हैं कबीर॥
जम की त्रास डारि करि है कबीर।
हरि सुमिरन तट बैठे हैं कबीर॥

तेरह की संख्या आने पर तेरह-तेरह कहते हुए मोदी का सारा आटा ग्राहक को देने लगे। उन्हें नौकरी से अलग कर दिया। मोदी की इस कृपणता पर संत नानक को बड़ी ग्लानि हुई और उसी दिन से उन्होंने वैराग्य ग्रहण कर लिया तथा देश भ्रमण को निकल पड़े। नानक में संसार के प्रति जो एक अनिर्वचनीय विराग भाव मिलता है उसका बहुत कुछ श्रेय इस घटना को भी है।

दादू के शिष्यों में रज्जब जी का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इनके सम्बन्ध में भी एक कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं कि जब यह विवाह के लिए मौर आदि धारण किये हुए दूल्हा बने हुए विवाह के लिए जा रहे थे उसी समय मार्ग में उनकी भेंट दादू से हो गई। दादू ने उनसे कहा अरे रज्जब, तूने गजब कर दिया, तू संसार में भगवद्भजन के लिए आया था किन्तु सर मौर बाँधकर नरक की ओर जा रहा है। दादू के इस कथन का रज्जब पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने उसी समय मौर आदि फेंककर वैराग्य का मार्ग ग्रहण कर लिया।

निर्गुण काव्यधारा में यारी साहब का भी ऊँचा स्थान है। कहते हैं कि यह शाहजादे थे। किंतु किन्हीं व्यक्तिगत घटनाओं से इनके जीवन में इतना परिवर्तन आया कि यह संत मत में दीक्षित हो गये। यारी साहब और उनके शिष्य बुल्ला साहब के सम्बन्ध में एक घटना और उल्लेखनीय है। किंवदन्ती है कि मर्दनसिंह नामक जमींदार को मालगुजारी न दे सकने के कारण तत्कालीन स्थानीय शासक ने उसे गिरफ्तार करके दिल्ली भेज दिया। बुल्ला साहब मर्दनसिंह के यहाँ काम करते थे। उन्होंने संत यारी साहब से जाकर मर्दनसिंह की मुक्ति की प्रार्थना की। यारी साहब ने आशीर्वाद दिया और उनके आशीर्वाद के फलस्वरूप मर्दनसिंह कारागार से मुक्त हो गया। इस घटना का प्रभाव बुल्ला साहब पर इतना अधिक पड़ा कि वह घर-बार छोड़कर यारी साहब के शिष्य हो गये। इसी प्रकार की अनेक किंवदन्तियाँ अन्य संतों के सम्बन्ध में भी प्रचलित हैं। इन किंवदन्तियों में बहुत कुछ सार भी है। इस प्रकार की घटनाओं ने निर्गुणियाँ कवियों की विचारधारा को बल दिया था। उनमें सत्यनिष्ठा और वैराग्य भाव की प्रतिष्ठा का बहुत बड़ा श्रेय इन्हीं परिस्थितिजन्य व्यक्तिगत घटनाओं को ही है। इसमें संदेह नहीं कि निर्गुण विचारधारा के अध्ययन में हमें इन परिस्थितिजन्य व्यक्तिगत परिस्थितियों पर भी ध्यान रखना चाहिए तभी हम उसे ठीक-ठीक समझने में समर्थ हो सकेंगे। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की रचना उसके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होती है।

———

द्वितीय अध्याय

सम्प्रदाय

दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में विचारणीय प्राचीन दर्शन-पद्धतियाँ, सम्प्रदाय मत और विचारधाराएँ—

सन्तों को प्रभावित करनेवाली प्राचीन धर्म और दर्शन-पद्धतियाँ—

श्रौतदर्शन का महत्त्व संहिताओं का दार्शनिक दृष्टिकोण, आध्यात्मिक चिन्तन और रहस्यवाद उपनिषदों का दार्शनिक दृष्टिकोण, लक्ष्य, अधिकारी, गुरु, अद्वैतवाद, ब्रह्म, जीव सृष्टि, साधनाएँ

निर्गुण काव्य धारा पर श्रौतदर्शन के प्रभाव—

वैष्णवमत और निर्गुण काव्यधारा, स्वरूप और सिद्धांतों के प्रभाव

निर्गुण काव्यधारा और योगवाशिष्ठ—

योगवाशिष्ठ दर्शन के प्रमुख सिद्धांत,

निर्गुण काव्यधारा पर योगवाशिष्ठ दर्शन की छाया,

षड्दर्शन और सन्त कवियों द्वारा उनकी उपेक्षा,

श्रीमद्भगवद्गीता और सन्त कवि—

निष्काम कर्मयोग, समत्वयोग, इन्द्रिय वश और प्रपत्ति, अद्वैतवाद, आध्यात्मिकता

निर्गुण काव्यधारा में शुद्धाद्वैतवाद के सिद्धांतों की अवतारणा

गौड़पाद का अजातवाद और निर्गुण काव्यधारा

शंकराचार्य का मायावाद और सन्त कवि

जैन दर्शन और सन्त कवि

बौद्ध धर्म और निर्गुण काव्यधारा।

दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में विचारणीय दर्शन पद्धति, सम्प्रदाय मत और विचारधाराएँ

संतों को प्रभावित करनेवाली धर्म और दर्शन-पद्धतियों का निर्णय—हिंदी की निर्गुण काव्यधारा की दार्शनिक पृष्ठभूमि का विवेचन करने से प्रथम यह निर्णय कर लेना आवश्यक है कि सन्त लोग भारत की भिन्न-भिन्न दार्शनिक पद्धतियों, सम्प्रदायों और विचारधाराओं के ऋणी थे। सन्त लोग अल्पपाठी महात्मा

थे। उन्होंने अपने समय की समस्त दार्शनिक विचारधाराओं के सारभूत सिद्धान्त ग्रहण किये हों तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु केवल अनुमान के आधार पर भारत के समस्त प्राचीन और मध्यकालीन दर्शनों का सांग विवेचन करना और फिर उन समस्त दर्शनों के प्रभावों को ढूँढ़ निकालना हठधर्मी-मात्र होगा। कोई आश्चर्य नहीं 'विनायकम् विकुर्वाणो रचयामास वानरम्' वाली उक्ति चरितार्थ हो जाये। अतएव सर्वप्रथम हमें सन्तों की बानियों की छानबीन करनी है और देखना है कि इन बानियों में हमें किन किन दार्शनिक सम्प्रदायों, पद्धतियों और परम्पराओं के प्रभाव के संकेत-सूत्र मिलते हैं।

श्रुतिग्रन्थ—भारत की समस्त विचारधाराओं का मूल स्रोत श्रुतिग्रंथ है। इनमें प्रतिपादित विचारधारा श्रौतदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। सन्त लोग श्रौतदर्शन से प्रभावित थे या नहीं इस संबंध में दो मत हो सकते हैं। कुछ लोग उन्हें वेद-विरोधी मानते हैं और कुछ वेदानुयायी। इस मत-वैषम्य का कारण सन्तों में पाई जानेवाली उक्तियाँ हैं। सन्तों ने कहीं पर तो वेद-शास्त्रों की निंदा की है और कहीं पर उनकी दुहाई देकर उनके प्रति श्रद्धा प्रकट की है। निंदात्मक उक्तियों को पकड़कर चलनेवाले लोग उन्हें वेद-विरोधी कहते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि सन्तों ने कहीं-कहीं वेद का विरोध किया है। दरिया साहब बिहारवाले की एक उक्ति[1] है—

'कथोपाक मीमांसि चातुरवर्ण वेद मते अरुझाना'

इसी प्रकार अन्य सन्तों ने भी वेदों के प्रति निंदाभाव प्रकट किया है। किन्तु वेद-संबंधी इन निंदात्मक उक्तियों के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि सन्त लोग श्रुतिग्रंथों के प्रति श्रद्धा रखते थे या उनसे वे प्रभावित नहीं हुए थे। उन्होंने श्रुतिग्रन्थों की निंदा कई कारणों से की थी। उनमें एक कारण अंधानुसरण की प्रवृत्ति का विरोध करना था। वेद प्रामाण्यवादी श्रुतिग्रन्थों का अनुसरण बिना विचारे करते हैं। विचार विरहित अंधानुसरण उन्हें मिथ्यात्व की ओर ले जाता है। इसीलिए कबीर ने उच्च स्वर में घोषणा की है—

'वेद कतेब कहौ मत झूठा झूठा सोइ जो न आप विचारे'

जो लोग श्रुतिशास्त्रों पर विचार भी करते हैं वे माया विमूढ़ित होने के कारण उनके रहस्य तक नहीं पहुँच पाते हैं। भीखा साहब ने लिखा है कि संसार का भ्रमजाल बड़ा कठिन है, मनुष्य भ्रमित होकर उसमें फँसता है। ज्ञानी लोग अज्ञानी हो जाते हैं।

[1] दरिया साहब बिहारवाले के चुने हुए पद—पृ० ४६ और भी देखिए मु० वि० पृ० ७९।

बुद्धिमान् बाल बुद्धिवाले हो जाते हैं। वे परमार्थ का त्याग करके स्वार्थ सेवन में लगे रहते हैं। इतने पर भी वे वेद और वेदान्त का अर्थ विचारने का ढोंग करते हैं। किंतु माया और मोह को नहीं समझ पाते हैं।[1] वेदों के प्रति उपेक्षा प्रकट करने का एक कारण और भी था। सुन्दरदास[2] के शब्दों में वह इस प्रकार है—

वेद बहुत विस्तार है नानाविधि के शब्द।
पढ़ते पार न पाइए जो जीवे बहु अब्द॥

इन्हीं सब कारणों से संत लोगों ने श्रुतियों के प्रति उदासीनता का भाव प्रकट किया है किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे उनके प्रति श्रद्धा नहीं रखते थे। वास्तव में वे उनका हृदय से आदर करते थे और उनकी विचारधारा से प्रभावित भी हुए थे। कबीर[3] की—

'वेद कतेब कहहु मत झूँठा झूँठा सोइ जो न आप विचारै'

वाली उक्ति उद्धृत कर चुके हैं। इससे स्पष्ट प्रकट है कि कबीर वेदों के प्रति श्रद्धा रखते थे। संत[4] सुन्दरदास ने तो वेदों की मान्यता स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की है—

वेद सार शास्त्र सार सिम्रित पुराणसार।
मंथन को सार सोई हृदय माहि आन्यो है॥

इसी प्रकार भीखा साहब[5] ने भी एक स्थल पर वेद और वेदान्त को प्रमाण रूप से उद्धृत करते हुए लिखा है—

---

[1] जग के करम बहुत कठिनाई।
ताते भरमि भरमि जहँडाई॥
ज्ञानवंत अज्ञान होत हैं बूझ करत कठिनाई।
परमारथ तजि स्वारथ सेवहिं यह धौं कौनि बड़ाई॥
वेद वेदान्त को अर्थ विचारहिं बहु विधि रचि दरसाई।
माया मोह ग्रसित निस बासर कौन कहो सुखदाई॥—भीखा साहेब की बानी पृ० २।

[2] संत सुधासार पृ० ५८६ और ५१२।

[3] क० ग्र० पृ० १२१

[4] सुन्दर विलास पृ० १०

[5] भीखा साहब की बानी पृ० ३

कहत है वेद वेदान्त सब पुनि गुरु ज्ञान मह टेरा।
भीखा भाग बिना नहिं देखत निकट हि दीप अंधेरा॥

इन उद्धरणों से प्रकट है कि संत लोग वेद और वेदान्त के प्रति उपेक्षा भाव नहीं रखते थे, वरन श्रद्धा भाव ही रखते थे। ऐसी अवस्था में उनका श्रुतिग्रंथों की विचारधारा से प्रभावित होना स्वाभाविक है।

वैष्णवमत—संत लोग वैष्णव विचारधारा के प्रति भी श्रद्धा रखते थे। उससे वे बहुत अंशों में प्रभावित भी हुए थे। कबीर ने अनेक स्थलों पर वैष्णवों की प्रशंसा की है। वह शाक्तों के गाँव की उपेक्षा वैष्णवों की छपरी को बेहतर मानते[1] थे। सुंदरदास ने यहाँ तक लिखा है 'सुन्दर विष्णु को मत विष्णु में समाइए'[2] अन्य संतों ने भी वैष्णवों के प्रति इसी प्रकार श्रद्धा प्रकट की है। अतः स्पष्ट है कि संतों की विचारधारा के मूल में वैष्णव विचारधारा प्रतिष्ठित थी। उसको समझने के लिए वैष्णव विचारधारा का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

योगवशिष्ठ दर्शन—वैष्णव दर्शनों में योगवशिष्ठ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संत लोग इस दर्शन से भी परिचित थे। यह उनकी बानियों से प्रकट है। गुलाल साहब ने गोरख, दत्तात्रेय, व्यास, शुकदेव आदि के साथ ही साथ वशिष्ठ के प्रति भी श्रद्धा प्रकट की[3] है। वशिष्ठ का दर्शन ही योगवशिष्ठ दर्शन के नाम से प्रकट है। इससे स्पष्ट है कि संत लोग इस दर्शन से परिचित थे, और जैसा कि आगे के विवेचन से प्रकट है वे प्रभावित भी हुए थे।

गीता दर्शन—भारत का आधारभूत दार्शनिक ग्रंथ गीता है। संत कवि लोग गीता के महत्त्व से पूर्णतया परिचित[4] थे। इसीलिए उनकी विचारधारा में गीता के बहुत से सिद्धांत मिलते हैं।

षट्दर्शनों की उपेक्षा—भारत के आस्तिक दर्शनों में सबसे अधिक प्रसिद्ध षट्दर्शनों[5] की ही है। इन दर्शनों का संबंध बौद्धिक व्यायाम से अधिक और स्वानु

[1] कबीर ग्रन्थावली पृ० ४९ पर साखी ४ देखिए।

[2] संत सुधासार प० ६१०।

[3] गुलाल साहब की बानी पृ ४६

[4] चरनदास की बानी भाग २ पृ० १२

[5] षट् दर्शन के सम्बन्ध में प० परशुराम चतुर्वेदी का सुझाव बड़ा मौलिक और खोजपूर्ण है। वे लिखते हैं षट् का अर्थ यहाँ कदाचित् कोई भेष या सम्प्रदाय है जिसे प्रधानतया ६ कहने की परम्परा कबीर साहब के पीछे तक चली आई है। देखिए—कबीर साहब की परख पृ० ४१।

भूति से कम है। यह कारण है कि सुन्दरदास जी[1] रज्जब जी[2] सहजोबाई[3] दादू[4] पलटू साहब[5] आदि संतों ने षट्दर्शनों के प्रति अधिकतर अनादर और उपेक्षा का भाव ही प्रकट किया है। वे लोग अपनी विचारधारा को षट्दर्शनों से परे मानते थे। क्योंकि षट्दर्शन वाद के इन्द्रजाल में फँसे हुए हैं और संतों की विचारधारा स्वानुभूतिप्रधान है। सुन्दरदास ने स्पष्ट लिखा है—

सुन्दर कहत षट् शास्त्र माहि भयो वाद[6]।
जाके अनुभव ज्ञान वाद में न बह्यो है॥

षट्दर्शनों के नाम क्रमशः न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, पातंजल योग, सांख्य और वेदांत हैं। इनमें वेदांत ही केवल एक ऐसा दर्शन है जिसमें अनुभूति का महत्त्व है। अतः संत लोग षट्दर्शनों में यदि किसी के प्रति थोड़ी-बहुत श्रद्धा रखते हैं तो वह वेदान्त है। भीखा साहब[7] ने वेदान्त के महत्त्व का संकेत करते हुए लिखा है कि मूर्ख लोग वेदान्त के उपदेश को कदापि नहीं सुनते हैं। यद्यपि वह चारों युगों में उन्हें उत्तम उपदेश देता आया है। उन्होंने एक दूसरे स्थल पर लिखा है[8]—

वेद वेदान्त संत मुख भाखहि धन्य जो नाम उपासी।

इन पंक्तियों में स्पष्ट ही वेदान्त के प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है। अतः स्पष्ट है कि संतों पर वेदान्तदर्शन का प्रभाव भी पड़ा था।

अद्वैत वेदान्त के प्रति श्रद्धा—वेदान्त की बहुत सी शाखाएँ प्रशाखाएँ हैं। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि। इनमें संत लोग अद्वैत को ही महत्त्व देते थे। कबीर[9] दादू[10] जगजीवन[11] दयाबाई[12] रैदास[13] सुन्दरदास[14] भीखासाहब[15]

---

1 (सुन्दरदास) संत सुधासार पृ० ५६१।
2 रज्जबजी—संत सुधासार पृ० ५१२।
3 सहजोबाई की बानी पृ० ३९।
4 दादू—संत सुधासार पृ० ४५९।
5 पलटू साहब की बानी तृतीय भाग पृ० १०२
6 सुन्दर विलास पृ० १६०।
7 भीखा साहब की बानी पृ० २०।
8 संतबानी संग्रह भाग २ पृ० १९८।
9 कबीर ग्रन्थावली—पृ० १५१।
10 दादूबानी भाग १ पृ० ८५ और ६७।
11 संतबानी संग्रह भाग २ पृ० ६२ और ७०।
12 दयाबाई की बानी पृ० ११ और १७।
13 संतबानी संग्रह भाग २ पृ० १६९।
14 संत सुधासार पृ० ५८०।
15 संतबानी संग्रह भाग १ पृ० ६९।

पलटू साहब[1] यारी साहब[2] गुलाल साहब[3] आदि सभी संतों ने अद्वैत के प्रति ही श्रद्धा प्रकट की है। श्रद्धा ही नहीं उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भी अद्वैत की ओर ही प्रतीत होती है। अद्वैत भी कई प्रकार का होता है—शुद्धाद्वैत, केवलाद्वैत, शिवाद्वैत आदि। इन सभी प्रकार के अद्वैतवाद का प्रभाव संत कवियों पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। इनका विवेचन आगे किया जायेगा। वेदान्त के अतिरिक्त संतों पर सांख्य और योग का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ा था। योग के प्रभाव को सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। उनकी लगभग प्रत्येक रचना उसका स्वयं प्रत्यक्ष प्रमाण है। स्थान-स्थान पर पाये जानेवाले पाँच पचीस[4] के उल्लेख सांख्य के प्रभाव के प्रमाण के रूप में निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। किन्तु इन दर्शनों का उन पर कोई व्यापक प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है।

बौद्ध और जैनमत—संत लोग कुछ तथा कथित नास्तिक दर्शन-पद्धतियों से भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुए थे। इस प्रकार की दर्शन-पद्धतियों में जैन और बौद्ध विशेष उल्लेखनीय हैं। संत सुन्दरदास[5] चरणदास[6] दादूदयाल[7] बुल्ला साहब[8] आदि ने इन दर्शनों के प्रति भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से श्रद्धा प्रकट की है। उदाहरण रूप में हम संत सुन्दरदास[9] की निम्नलिखित उक्ति ले सकते हैं :—

बौद्ध के नाम तब पाप मन को निरोध होय।
बौद्ध के विचार सोध आतम को करिए॥

इन पंक्तियों से स्पष्ट प्रकट होता है कि संत लोगों ने बौद्धवाद को आत्मिक बनाकर आत्मसात् किया था। अतः बौद्ध विचारधारा के प्रकाश में संत विचारधारा का अध्ययन करना बड़ा आवश्यक है।

संत लोग जैन दर्शन से भी परिचित थे। संत सुन्दरदास ने एक स्थल पर सच्चे जैनी की परिभाषा भी दी है। उनके मतानुसार सच्चा जैनी वही होता है जो

---

1 पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० १ पृ १०।
2 यारी साहब की बानी पृ० ७।
3 गुलाल साहब की बानी पृ० १०४।
4 भीखा साहब की बानी पृ० १६ और चरणदास की बानी भाग २ पृ० ४८।
5 सुन्दर विलास पृ० १०० और १०९।
6 चरणदास की बानी भाग २ पृ० ४२।
7 दादू बानी भाग २ पृ ३५।
8 बुल्ला साहब की बानी पृ ५६।
9 सुन्दर विलास पृ० १००।

अहिंसा धर्म का पालन करते हुए सदाचार से जीवन व्यतीत करता है[१]। इससे स्पष्ट होता है कि ये जैन दर्शन के नैतिक पक्ष से काफी प्रभावित हुए थे।

तंत्रमत—मध्ययुग में बौद्ध विचारधारा की पृष्ठभूमि पर शैवागमों और तंत्रमतों का प्रासाद खड़ा किया गया था। तंत्रमतों से संतों का सीधा संबन्ध था। वे शैव-शास्त्र तंत्र और बौद्ध तंत्र दोनों से ही सम्यक् रूप से प्रभावित हुए थे। कहीं कहीं पर तो तंत्रों की उक्तियों का संतों ने भावानुवाद तक कर डाला है। यहाँ पर इस कथन की पुष्टि में एक उदाहरण दे सकते हैं। विश्वसार तंत्र[२] में एक स्थल पर लिखा है —

प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्याद्वामाचारगतौ प्रिये।
अतो वामपथं देवि गोपायेत् मातृजारवत्॥

अर्थात् हे प्रिये, वामाचार मार्ग में साधन को प्रकाशित करने से सिद्धिहानि होती है। अतः हे देवि, वाममार्ग को माता के जार के समान गुप्त रखना चाहिए। संत दूलनदास[३] ने तंत्रमत के संबंध में ही लगभग इसी भाव की पुनरावृत्ति की है। उनकी उक्ति इस प्रकार है —

दूलन यह मत गुप्त है प्रगट न करो बखान।
ऐसे राखु छिपाय मन जस बिधवा औधान॥

इसी प्रकार संतों में तंत्रों के दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं। अद्वैतवादी तंत्रों में दाल और बीज का दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है। उनके अनुसार शिव और शक्ति उसी प्रकार दो होते हुए भी एक होते हैं जिस प्रकार की चने की दालें दो होते हुए भी एक ही होती हैं। संत सुन्दरदास[४] ने इस दृष्टांत को लगभग ज्यों का त्यों दोहराया है। वह लिखते हैं :—

एक बीजहूँ तें दोय दालि नाम पाये हैं।

एक स्थल पर संत पलटू ने स्पष्ट रूप से शिव और शक्ति का उल्लेख किया[५]

[१] सुन्दर विलास पृ० १००।
[२] कल्याण के योगांक पृ० १०५ से उद्धृत।
[३] संतबानी संग्रह भाग २ पृ० १६६।
[४] सुन्दर विलास पृ० १२९।
[५] संत पलटू लिखते हैं—
शान ध्यान जब हार भूमिका ज्ञान की पावे।
ज्ञान सहज समाधि शक्ति से जीव बनावे॥
पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० ८८
शिव शक्ति के मिलन से मो को भया अनन्द।
पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० ६८।

है। इसी प्रकार और भी बहुत से प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है कि संत लोग शैव शाक्त तंत्रों से परिचित और प्रभावित थे।

बौद्ध तंत्र—बौद्ध तंत्रों से संतों का सीधा संबंध था। डा० धर्मवीर भारती ने अपने सिद्ध साहित्य नामक ग्रन्थ में संतों पर पड़े हुए सिद्धों के प्रभावों का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। यद्यपि उनके बहुत से निष्कर्षों से मैं सहमत नहीं हूँ किंतु यह स्वीकार करने से मुझे कोई संकोच नहीं है कि संत लोग सिद्धों की विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। संतों की बानियों से भी उनकी विचारधारा पर पड़े हुए सिद्धों के प्रभावों का पता चलता है।

नाथ पंथ—शैव, शाक्त और बौद्ध तंत्रों के सम्मिश्रण से विकसित हुए नाथ-पंथ के संतों की विचारधारा के अध्ययन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। संत लोग तंत्रों से भी अधिक नाथपंथ से प्रभावित हुए थे। यह प्रभाव इतना व्यापक और बहुमुखी था कि यदि दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो सत प्रतिशत प्रयोग एक से ही दिखाई पड़ेंगे। कहीं-कहीं पर तो दोनों में एक ही पद ज्यों का त्यों समान रूप से मिलता है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित उक्ति दे सकते हैं—

यह मन सकती यह मन सीव[1]
यह मन पंच तत्व का जीव॥
यह मन ले उनमनि रहै।
तो तीन लोक की बाता कहै॥

वैसे भी संतों ने गोरखनाथ के प्रति जो श्रद्धा भाव प्रकट किया है उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि वे लोग नाथ सम्प्रदाय से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे।

इस्लाम और सूफी मत—संत लोग हिन्दू और मुसलमान दोनों ही वर्गों से आये थे अतएव उनकी विचारधारा पर हिन्दू दर्शनों के प्रभाव के अतिरिक्त इस्लामी विचारधारा का प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक था। हुआ भी ऐसा ही। उन पर इस्लाम धर्म और सूफी मत के भी बहुत से क्रियात्मक और प्रतिक्रियात्मक प्रभाव दिखलाई पड़ते हैं।

विक्षेप—अंत में यहाँ पर एक बात और स्पष्ट कर देना चाहते हैं। पृष्ठभूमि के रूप में हम जिन संत सम्प्रदायों, दर्शन पद्धतियों और मतों का विवेचन करने जा रहे हैं, संत लोगों का उनमें से एक भी अपनी पूर्णता में मान्य न था। मान्य

---

[1] गोरख बानी संग्रह पृ० १८ और संत कबीर—डा० रामकुमार वर्मा पृ० ८२।

होना तो दूर रहा वे प्रायः उसके लोक-प्रचलित रूप के विरोधी थे। यदि सोचकर देखें तो उनकी वाणियों में हमें उन समस्त दर्शनों और विचारधाराओं के प्रति उपेक्षा भाव मिलेगा जिनसे वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुए थे। वास्तव में वे सारग्राही संत थे। उन्होंने अपने समय की लोक-प्रचलित विचारधाराओं के सारभूत सिद्धांत ग्रहण कर लिये थे और शेष का परित्याग कर दिया था। उनकी निंदात्मक उक्तियाँ इन्हीं शेष सिद्धांतों को दृष्टि में रखकर कही गई थीं। तुलसी ने 'संत हंस गुन गहहिं परिहरि बारि बिकार' लिखकर सारग्राहिता को ही उनकी महान् विशेषता कहा है। निर्गुणियाँ संतों में यह विशेषता अपनी सम्पूर्णता में विद्यमान थी। अपनी इसी विशेषता के बल पर वे दर्शनों के विस्तृत सागर से सुन्दर सारभूत सिद्धांत रूपी मोती चुन सके थे।

श्रौतदर्शन

महत्त्व—भारत की समस्त विचारधाराओं का मूल स्रोत श्रुतिग्रंथ है। श्रुतिग्रंथों के सामान्यतया चार विभाग माने जाते[1] हैं—१—संहिता, २—ब्राह्मण, ३—आरण्यक और ४—उपनिषद्। दार्शनिक दृष्टि से इन चारों में उपनिषद् ग्रंथ सर्वाधिक महत्त्वमय माने जाते हैं। संहिताओं में जिस अध्यात्म चिन्तन का बीजारोपण किया गया था उसका सम्यक् और सर्वतोन्मुखी विकास उपनिषदों में ही दिखाई दिया। किसी समय श्रौत साहित्य बड़ा व्यापक और विस्तृत था। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार ऋग्वेद की इक्कीस, यजुर्वेद की एक सौ नौ, सामवेद की एक हजार और अथर्ववेद की भी शाखाएँ[2] थीं। इनसे संबंधित ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रंथ भी सैकड़ों की संख्या में वर्तमान थे। इस श्रुति-साहित्य रूपी वटवृक्ष ने समस्त भारत भूमि को आच्छादित कर रखा था। इसीलिए विद्वानों ने वेदों की महती महिमा का प्रतिपादन किया है। वेद की महिमा वाचक कुछ उक्तियाँ इस प्रकार हैं—

१ वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।
२ वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ।
३ वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः।
४ सर्वे वेदात् प्रादुर्भवन्ति।

---

[1] वेद के विभागों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। सायण ने केवल दो ही विभाग माने हैं—मंत्र और ब्राह्मण। कुछ लोग तीन विभाग मानते हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और कुछ लोग उपर्युक्त ४ विभाग मानते हैं।
[2] देखिए वैदिक साहित्य परिशीलन—रजनीकान्त शास्त्री पृ० ८०।

५. योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।[1]

यहाँ पर हम पहले संहिताओं में आरोपित औपनिषद्दर्शन के उन बीजाणुओं का जो विशाल उपनिषद् साहित्य रूपी वटवृक्ष के रूप में प्रस्फुटित और विकसित हुए थे, उल्लेख करेंगे। बाद में फिर उपनिषदिक विचारधारा के उन तत्वों का विवेचन करेंगे जिससे हिन्दी की निर्गुण विचारधारा प्रभावित है।

संहिताओं का दार्शनिक दृष्टिकोण—संहिताओं में यद्यपि अध्यात्म का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं किया गया है फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से उनमें हमें एक विस्तृत और अपरिपक्व दार्शनिक विचारधारा मिलती है। उपनिषदिक[2] आध्यात्म चिंतन की यह आधारभूमि कही जा सकती है। उस विचारधारा का विस्तृत विवेचन यहाँ पर संभव नहीं है। किन्तु संक्षेप में हम उन बातों का संकेत अवश्य करेंगे जिन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से हिंदी की निर्गुण काव्यधारा और प्रत्यक्ष रूप से उपनिषदिक विचारधारा को प्रभावित किया है।

अध्यात्म चिन्तन और रहस्यवाद—ऋग्वेद-संहिता में हमें आध्यात्म-चिंतन के साथ साथ रहस्याभिव्यक्ति भी मिलती है। अध्यात्म क्षेत्र में इस संहिता के ऋषियों ने अद्वैतवाद सृष्टिकोत्पत्ति आदि पर अपने विचार विशेष रूप से प्रकट किये हैं। ऋग्वेद-संहिता में विविध देवताओं का वर्णन देखकर बहुत से विद्वानों को यह भ्रम होता है कि उसमें अद्वैतवाद या सर्वात्मवाद के बीजाणु नहीं मिलते हैं। किंतु यह धारणा निर्मूल और भ्रांत है।[4] ऋग्वेदिक ऋषि पूर्णरूपेण अद्वैतवादी थे। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' जैसी उक्तियाँ इस कथन के प्रमाण रूप में दी जा सकती हैं। देखिए निम्नलिखित पंक्तियों में वृष के रूपक से आध्यात्मिक अद्वैतवाद की व्यंजना कितने सुन्दर ढंग से की गई है। यह व्यंजना आलंकारिक और साहित्यिक होने के कारण रहस्यवाद का उदाहरण भी मानी जा सकती है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य।
त्रिधाबद्धोवृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश[5] ॥

---

[1] कल्याण का वेदान्तांक पृ० २८४।

[2] हैस्टिंग्स ए हिस्ट्री आफ फिलासफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न भाग १, [illegible] १९५१।

[3] देखिए—त्रिभूमिक [illegible] प्रथम दो अध्याय—[illegible] १९३४।

[4] हिस्ट्री आफ संस्कृत [illegible] पृ० ७०-७२ (१९

[5] इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि[illegible] अथर्वो गरुत्मान
बहुधा वद[illegible]

इस मंत्र में ऋषा ने बैल के रूपक के द्वारा गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। यहाँ आत्मतत्त्व को ही वृषभ कहा गया है। यह सच्चिदानंद स्वरूपी होने के कारण त्रिधाबद्ध है। साधन चतुष्टय या चतुर्महावाक्य ही उसके चार शृंग हैं। तथा श्रवण के प्रधान तीन साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासन उसके तीन चरण हैं। जीवन और विदेह मुक्ति ही उसके दो सिर हैं। चिदाभास की सात अवस्थाएँ अविद्या, आवरण, विक्षेप, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोकापगम और तृप्ति ही उस बैल की सात भुजाएँ हैं। मैं धन्य हूँ, मैं कृतकृत्य हूँ इस प्रकार की ध्वनियाँ ही उस बैल का रव हैं। इस ढंग की बहुत सी उक्तियाँ ऋग्वेद में पाई जाती हैं। इन सबको हम आध्यात्मिक रहस्यवाद का उदाहरण मानेंगे। भावनामूलक रहस्यवाद के उदाहरण भी ऋग्वेद के वागाम्भृणीय सूक्त में मिलते हैं। इस सूक्त में अद्वैतवाद का प्रतिपादन भावात्मक शैली में किया गया है। उसके दो-एक अवतरण उद्धृत कर देना अनुपयुक्त न होगा—

अहं रुद्रेभि वसुभिश्चरा
म्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभाबिभ
र्म्यहमिन्द्राग्नी अहं अश्विनोभा[1] ॥

अर्थात् मैं रुद्र और वसु के साथ ही रहती हूँ तथा अन्य देवताओं के साथ भी रहती हूँ। मैं मित्र और वरुण की शोभा का धारण करती हूँ मैं दो अश्विन इन्द्र और अग्नि को वहन करती हूँ—

अहं रुद्राय धनुरातनोमि
ब्रह्मद्विषे शरवेऽहन्तवाउ।
अहं जनाय समदं कृणो
म्यहं द्यावा पृथिवी आविवेश[2] ॥

अर्थात् मैं रुद्र का धनु तानती हूँ ताकि तीर से शत्रु का वध किया जा सके और उन लोगों का वध कर सकें जो ईश्वर से घृणा करते हैं। मैं मनुष्यों में युद्ध की भावना भरती हूँ। मैं स्वर्ग और पृथ्वी सभी में परिव्याप्त हूँ। इस मंत्र की अंतिम पंक्ति में स्पष्ट रूप से अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया है। पहली तीन पंक्तियों में भावात्मक

[1] ऋग्वेद अ० ८ अध्याय ७ व० ११ मं० १

[2] ऋग्वेद ८।७।११

अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संहिताओं में अद्वैतवाद की व्यंजना विवेचनात्मक, वर्णनात्मक, रहस्यपूर्ण आलंकारिक और रहस्यपूर्ण भावात्मक शैलियों में की गई है।

संहिताओं में सृष्टियोत्पत्ति संबंधी विचार भी यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। ऋग्वेद में कई सूक्तों में सृष्टियोत्पत्ति पर विचार किया गया है। इन सूक्तों में नासदीय सूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त, पुरुषसूक्त विशेष उल्लेख्य हैं। इनके अतिरिक्त दशम मण्डल के ७२वें और ८२वें सूक्त में भी इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला गया है[1]। सृष्टियोत्पत्ति का निरूपण भी इन सूक्तों में कहीं वर्णनात्मक और कहीं रहस्यात्मक शैलियों में किया गया है। नासदीय सूक्त इन सबमें अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। सम्भवतः यही कारण है कि वेदोत्तरकालीन प्रायः सभी विचारधाराओं पर इसकी छाया दिखाई पड़ती है। इस सूक्त में अनादिकालीन मूलतत्त्व के संबंध में विविध प्रकार की जिज्ञासाएँ और विचिकित्साएँ प्रकट की गई हैं। उस मूल तत्त्व का वर्णन विविध प्रकार से किया गया है। उसमें लिखा है कि वह मूल तत्त्व अकेला एक ही वायु के बिना स्वासोच्छ्वास लेता था। इसके अतिरिक्त और इसके परे और कुछ भी न था। वह तत्त्व न असत् रूप था, न सत्‌रूप था या आभुरूप था वह कुछ नहीं कहा जा सकता। तपस्या से इसके मन में काम उत्पन्न हुआ और काम की प्रेरणा से ही आगे सृष्टि का विकास हुआ। ऋषियों ने यह जो लिखा है कि—देवाना पूर्व्ये युगे ऽसतः[2] सदजायत—वह इसी विचारक्रम का पोषक है। जिस मूल तत्त्व का संकेत असत् के रूप से किया गया है, उसी को आगे चलकर किसी ने विराट् रूप माना[3] है किसी ने ऋत और सत्य रूप कहा है[4] किसी ने असत्‌रूप निर्दिष्ट[5] किया है किसी ने सत्‌रूप समझा है तथा किसी[6] ने आकाशरूप, किसी ने मृत्युरूप[7] और किसी ने तमरूप तक कह दिया[8] है—

---

[1] हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—मैकडानेल पृ० १११ सन् १९०९ ।
और भी देखिए ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी भाग १ पृ० २१ एस० एन० दास गुप्त कैम्ब्रिज १९५१ ।

[2] ऋग्वेद १०।७२।०

[3] ऋग्वेद १।९०

[4] ऋग्वेद १०।१९०।१

[5] तैत्तरीय ब्राह्मण २।१।१

[6] छान्दोग्योपनिषद् १।९।१

[7] बृहदारण्यक १।२।१

[8] मैत्रायणी उप० ५।२

ऋग्वेद के दशम मण्डल के ५४वें सूक्त में एक स्थल पर माया शब्द का प्रयोग भी मिलता है। उसमें लिखा है—

इन्द्रोमायाभिः पुररूपीयते—ऋग्वेद ६।४७।१८।

अर्थात् इन्द्र वेश बदलकर पुरु का रूप धारण कर लेते हैं। हमारी समझ में मायावाद की आधारभूमि ऋग्वेद का यही स्थल है।

ऋग्वेद के यम सूक्त में परलोक-संबंधी विचार भी प्रकट किये गये हैं। कुछ स्थलों पर नैतिक विचारों की अभिव्यक्ति भी मिलती है। बहुत से प्रमाणों से प्रकट होता है कि वैदिक ऋषि पाप और पुण्य में विश्वास करते थे। पाप और पुण्य का यह विवेक आगे चलकर और भी प्रधान हो गया। इस प्रकार संहिताओं की विचारधारा उपनिषदिक विचारधारा की आधारभूमि थी।

उपनिषदों का दार्शनिक दृष्टिकोण

ऋग्वेद संहिता में जिस आध्यात्मवाद का बीजारोपण किया गया था उपनिषद् ग्रंथ उसी की व्याख्या और विस्तार के रूप में अवतरित हुए। प्राचीन काल में उपनिषदों का एक विस्तृत साहित्य होगा क्योंकि प्रत्येक वैदिक शाखा से संबंधित अलग अलग उपनिषद् थे। परम्परा के अनुसार चारों वेदों की समस्त शाखाएँ संख्या में एक हजार से भी अधिक थीं। इनसे संबंधित उपनिषदों की संख्या यदि इससे दुगनी रही हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। किन्तु इनमें से अधिकांश कराल काल के द्वारा कवलित कर लिए गए। इसके अतिरिक्त समय-समय पर बहुत से नये उपनिषद् रचकर प्राचीन लिस्ट में जोड़ जाते रहे हैं। इस समय लगभग दो तीन सौ उपनिषद् ग्रंथ प्राप्त हैं डा० वेलवेल्कर ने इनके नाम अपनी हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी नामक ग्रंथ में दिये हैं।[1] एक सौ आठ उपनिषदों का नामोल्लेख केवल मुक्तिकोपनिषद्[2] में ही किया गया है। शंकराचार्य ने मध्ययुग में इन सैकड़ों उपनिषदों में केवल ग्यारह उपनिषदों को ही प्रामाणिक और प्राचीन माना था, अतएव उन्होंने उन्हीं पर भाष्य लिखा था। उपनिषद् ग्रंथ वेद का ज्ञानकांड कहे जाते हैं। इन ग्रंथों में ज्ञान के विविध स्वरूपों की तत्त्वनिरूपक व्याख्या मिलती है। ज्ञान क्षेत्र में सबसे अधिक महत्त्व अध्यात्म का माना जाता है। गीता में 'अध्यात्म विद्या विद्यानाम्' कहकर यही बात ध्वनित की गई है। उपनिषद् शब्द स्वयं ग्रंथ का वाचक न होकर ब्रह्मविद्या या अध्यात्मविद्या का ही वाचक है। शंकराचार्य ने स्पष्ट लिखा है—उपनिषदेव म

---

[1] भारतीय तत्त्वज्ञान का इतिहास—रानडे और बेलवलकर भाग २ पृ० ८७

[2] मुक्तिकोपनिषद् १।८८

व्याचिख्यासितग्रंथ प्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषयाविद्योच्यते—अर्थात् उपनिषद् ग्रंथ से हम जिस ग्रंथ की व्याख्या करना चाहते[1] हैं उसके प्रतिपाद्य और वेद्य ब्रह्मविषयक विद्या का प्रतिपादन किया जाता है। इस विद्या का लक्ष्य संसार के बीज का विदारण करना माना गया[2] है। जो इस विद्या का ज्ञान होता है वह मृत्यु के मुख से छूट जाता है।[3] मुमुक्षु परब्रह्म के पास पहुँच जाता है। परब्रह्म के पास पहुँचने ही पुरुष विरज और विमृत्यु हो जाता है।[4] इसीलिए इस शास्त्र का उपदेश है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।[5]

लक्ष्य अधिकारी और गुरु—अर्थात् आत्मा ही साक्षात्कार करने योग्य है, श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उपनिषद् विद्या का प्रधान प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व है। इस आत्मतत्त्व की प्राप्ति ही उसका प्रधान लक्ष्य है। आत्मतत्त्व की प्राप्ति के साधन रूप में अध्यात्म योग का उपदेश दिया गया है। कठोपनिषद् में लिखा है कि साधक अध्यात्म योग के द्वारा उस आत्मा को जानकर हर्ष और शोक रहित हो जाता है।[6] यहाँ पर योग का अर्थ केवल इन्द्रियसंयम लिया गया है। कठोपनिषद् में इसकी व्याख्या इसी रूप में की गई है।[7] अतएव हम यह कह सकते हैं कि अध्यात्म विद्या के अध्ययन और अध्यापन के लिए सदाचारपरायण होना बहुत आवश्यक है। आत्मदर्शी साधक के संबंध में बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि जो साधक मन और इन्द्रियों को संयमित करके उपराम वृत्ति धारण करके तितिक्षु होकर समाधिपरायण हो अपने अन्दर आत्मा को देखता है वही सच्चा साधक कहा जा सकता है। अध्यात्म[8] विद्या की इस आचरण-प्रधानता के ही कारण शिष्य और गुरु के सुपात्र और अधिकारी होनेवाली बात पर अधिक जोर दिया है। कठोपनिषद् में लिखा है कि अभेददर्शी आचार्य द्वारा उपदिष्ट किये जाने पर ही आत्मा अस्ति और नास्ति रूप में अनुभव किया जा सकता है।[9] अभेददर्शी आचार्य का तात्पर्य सम्भवतः ब्रह्मनिष्ठ महात्मा से है क्योंकि

---

१ कठोपनिषद्—गीता प्रेस संवत् १९९० पृ० १२
२ देखिए कठोपनिषद् का शांकर भाष्य—गीता प्रेस पृ० १२ सं० १९९०
३ कठोपनिषद् १।३।१५
४ कठोपनिषद् २।३।१८
५ बृहदारण्यकोपनिषद्—२।४।५
६ कठोपनिषद् १।२।१२
७ कठोपनिषद्—२।३।११
८ बृहदारण्यकोपनिषद्—४।४।२३
९ अध्याय १ वल्ली २ मंत्र ८

मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि जिज्ञासु व मुमुक्षु शिष्य को वेदज्ञ और ब्रह्मज्ञ गुरु के पास जाना चाहिए।[1] उपनिषदों में केवल गुरु की सुयोग्यता पर ही बल नहीं दिया गया है वरन् शिष्य के सुपात्रत्व को भी बड़ा आवश्यक ठहराया गया है। कठोपनिषद् में लिखा है कि जिसका मन दुश्चरित्रों से विरक्त होकर शांत और स्थिर नहीं हुआ है ऐसा अशांत मनवाला साधक ब्रह्मज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता।[2] इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् में भी लिखा है कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए शिष्य को सत्यनिष्ठ ब्रह्मचारी और सम्यक् ज्ञान विशिष्ट होना चाहिए।[3] गुरु को अपने शिष्य की सुपात्रता का विश्वास उसके हाथों में समिधा देखकर हो जाता है। इससे उसे निश्चय हो जाता है कि शिष्य उसकी सद्भाव से सेवा करेगा। इसीलिए मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने की कामना से शिष्य को वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास हाथों में समिधा लेकर जाना चाहिए[4]।

अद्वैतवाद—उपनिषदों में सर्वत्र अद्वैतवाद की ही झलक मिलती है। यह बात उनके अध्यात्म विवेचन से स्पष्ट हो जायगी। अध्यात्म विवेचन के अन्तर्गत हम ब्रह्म जीव जगत् माया और साधनाओं आदि पर प्रकाश डालेंगे।

उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म को एक ही माना गया है। यह बात श्रुतियों के निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट है—'पुरुष एवेदं विश्वम्' व 'एकमेवाद्वितीयम्'[5]।

ब्रह्म—इस आत्मा या ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों में विविध प्रकार व विभिन्न शैलियों में किया गया है। संक्षेप में निम्नलिखित शैलियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं:—

१—विरोधात्मक २—निषेधात्मक ३—विधानात्मक ४—अनिर्वचनीयतात्मक ५—आत्मपरक ६—सगुणात्मक ७—प्रतीकात्मक।

१—विरोधात्मक—उपनिषदों में ब्रह्म का निरूपण बहुत से स्थलों पर विरोधात्मक शैली में किया गया है उदाहरण के लिए हम ईशावास्योपनिषद् की यह पंक्ति ले सकते हैं—

---

[1] मुण्डकोपनिषद् १।२।१२
[2] कठोपनिषद्—१।२।२४
[3] मुण्डकोपनिषद्—३।१।५
[4] मुण्डकोपनिषद् १।२।१२
[5] मुण्डकोपनिषद् २।२।११ तथा छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१

व्याचिख्यासितग्रंथ प्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषयायाविद्यायाः पते—अर्थात् उपनिषद् ग्रंथ से इस जिस ग्रंथ की व्याख्या करना चाहते[1] हैं उसके प्रतिपाद्य और वेद्य ब्रह्मविषयक विद्या का प्रतिपादन किया जाता है। इस विद्या का लक्ष्य संसार के बीज का विनाश करना माना गया[2] है। जो इस विद्या का ज्ञान लेता है वह मृत्यु के मुख से छूट जाता है।[3] मुमुक्षु परब्रह्म के पास पहुँच जाता है। परब्रह्म के पास पहुँचते ही पुरुष विरज और विमृत्यु हो जाता है।[4] इसीलिए इस शास्त्र का उपदेश है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः[5]

लक्ष्य अधिकारी और गुरु—अर्थात् आत्मा ही साक्षात्कार करने योग्य है, श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उपनिषद् विद्या का प्रधान प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व है। इस आत्मतत्त्व की प्राप्ति ही उसका प्रधान लक्ष्य है। आत्मतत्त्व की प्राप्ति के साधन रूप में अध्यात्म योग का उपदेश दिया गया है। कठोपनिषद् में लिखा है कि साधक अध्यात्म योग के द्वारा उस आत्मा को जानकर हर्ष और शोक रहित हो जाता है।[6] यहाँ पर योग का अर्थ केवल इन्द्रियजय लिया गया है। कठोपनिषद् में इसकी व्याख्या इसी रूप में की गई है।[7] अतएव हम यह कह सकते हैं कि अध्यात्म विद्या के अध्ययन और अध्यापन के लिए सदाचारसम्पन्न होना बहुत आवश्यक है। आत्मदर्शी साधक के संबंध में बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि जो साधक मन और इन्द्रियों को संयमित करके उपराम वृत्ति धारण करके तितिक्षु होकर समाधिसम्पन्न हो अपने अन्दर आत्मा को देखता है वही सच्चा साधक कहा जा सकता है। अध्यात्म[8] विद्या की इस आचरण-प्रधानता के ही कारण शिष्य और गुरु के सुपात्र और अधिकारी होनेवाली बात पर अधिक जोर दिया है। कठोपनिषद् में लिखा है कि अभेददर्शी आचार्य द्वारा उपदिष्ट किये जाने पर ही आत्मा अस्ति और नास्ति रूप में अनुभव किया जा सकता है।[9] अभेददर्शी आचार्य का तात्पर्य सम्भवतः ब्रह्मनिष्ठ महात्मा से है क्योंकि

---

[1] कठोपनिषद्—गीता प्रेस संवत् १९९० पृ० ४२

[2] देखिए कठोपनिषद् का शांकर भाष्य—गीता प्रेस पृ० १५ सं० १९९०

[3] कठोपनिषद् १।३।१५

[4] कठोपनिषद् २।३।१८

[5] बृहदारण्यकोपनिषद्—२।४।५

[6] कठोपनिषद् १।२।१२

[7] कठोपनिषद्—२।३।११

[8] बृहदारण्यकोपनिषद्—४।४।२३

[9] अध्याय १ वल्ली २ मंत्र ८

मुंडकोपनिषद् में लिखा है कि जिज्ञासु व मुमुक्षु शिष्य को वेदज्ञ और ब्रह्मज्ञ गुरु के पास जाना चाहिए।[1] उपनिषदों में केवल गुरु की सुयोग्यता पर ही बल नहीं दिया गया है वरन् शिष्य के सुपात्रत्व को भी बड़ा आवश्यक ठहराया गया है। कठोपनिषद् में लिखा है कि जिसका मन दुश्चरितों से विरक्त होकर शांत और स्थिर नहीं हुआ है ऐसा अशांत मनवाला साधक ब्रह्मज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता।[2] इसी प्रकार मुंडकोपनिषद् में भी लिखा है कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए शिष्य को सत्यनिष्ठ ब्रह्मचारी और सम्यक् ज्ञान विशिष्ट होना चाहिए।[3] गुरु को अपने शिष्य की सुपात्रता का विश्वास उसके हाथों में समिधा देखकर हो जाता है। इससे उसे निश्चय हो जाता है कि शिष्य उसकी सद्भाव से सेवा करेगा। इसीलिए मुंडकोपनिषद् में लिखा है कि अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने की कामना से शिष्य को वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास हाथों में समिधा लेकर जाना चाहिए[4]।

अद्वैतवाद—उपनिषदों में सर्वत्र अद्वैतवाद की ही झलक मिलती है। यह बात उनके अध्यात्म विवेचन से स्पष्ट हो जायगी। अध्यात्म विवेचन के अन्तर्गत हम ब्रह्म जीव जगत् माया और साधनाओं आदि पर प्रकाश डालेंगे।

उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म को एक ही माना गया है। यह बात श्रुतियों के निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट है—'पुरुष एवेदं विश्वम्' व एकमेवाद्वितीयम्[5]।

ब्रह्म—इस आत्मा या ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों में विविध प्रकार से विभिन्न शैलियों में किया गया है। संक्षेप में निम्नलिखित शैलियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं:—

१—विधेयात्मक २—निषेधात्मक ३—विभावनात्मक ४—अनिर्वचनीयतात्मक ५—उभयात्मक ६—सगुणात्मक ७—प्रतीकात्मक।

१—विरोधात्मक—उपनिषदों में ब्रह्म का निरूपण बहुत से स्थलों पर विरोधात्मक शैली में किया गया है उदाहरण के लिए हम ईशावास्योपनिषद् की यह पंक्ति ले सकते हैं—

---

[1] मुण्डकोपनिषद् १।२।१२

[2] कठोपनिषद्—१।२।२४

[3] मुण्डकोपनिषद्—३।१।५

[4] मुण्डकोपनिषद् १।२।१२

[5] मुण्डकोपनिषद् २।१।१० तथा छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१

आसीनो दूरं व्रजति शयानोयाति सर्वतः[1] ।

अर्थात् वह रहस्यमय ब्रह्म स्थिर होते हुए भी दूरगामी है और सोता हुआ भी सर्वगामी है।

२—निषेधात्मक—उपनिषदों में ब्रह्म का निरूपण करते हुए कहीं-कहीं निषेधात्मक शैली का भी प्रयोग किया गया है जैसा कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है—

नैष स्त्री न पुमानेष नचैवायं नपुंसकः[2]
अर्थात् न वह स्त्री है न पुरुष है और न नपुंसक ही।

३—विभावनात्मक—उपनिषदों में ब्रह्म के विभावनात्मक वर्णनों की भी कमी नहीं है। उदाहरण के लिए हम श्वेताश्वतर उपनिषद् की 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'[3] वाली उक्ति ले सकते हैं।

४—अनिर्वचनीयात्मक—उपनिषदों में ब्रह्म के अनिर्वचनीयात्मक निर्गुण वर्णनों की भरमार है। उदाहरण के रूप में हम बृहदारण्यकोपनिषद् की यह उक्ति ले सकते हैं—इन सब नाम रूपात्मक मूर्त या अमूर्त पदार्थों के परे जो अमाप्य और अवर्णनीय है वही ब्रह्म[4] है। ब्रह्म की अनिर्वचनीयता और निर्गुणता का संकेत उसे इन्द्रियों के स्वामी मन और वाणी के परे बतलाकर किया गया है जैसे—'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह'[5] इसी प्रकार मुंडकोपनिषद् में उसे चक्षु और वाणी दोनों के परे बतलाया गया है जैसे—चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा[6]।

५—साकारात्मक—उपनिषदों में ब्रह्म के कहीं-कहीं साकारात्मक वर्णन भी मिलते हैं। ये साकारात्मक वर्णन स्थूल रूप से दो प्रकार के दिखाई पड़ते हैं। एक विराट रूप संबंधी और दूसरे ज्योतिरूप संबंधी। विराटरूप का वर्णन करते हुए मुंडकोपनिषद्कार लिखता है—अग्नि उस विराट् ब्रह्म की मूर्धा है, सूर्य और चन्द्र उसकी आँखें हैं, दिशायें कान हैं, विवृत वेद उसकी वाणी है, समस्त उसके चरणों से आकलित है। यह

[1] ईशावास्योपनिषद् ५।१०
[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।१०
[3] वही—३।१६
[4] बृहदारण्यकोपनिषद् २।३।६
[5] तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली ४ की प्रथम पंक्ति।
[6] मुण्डकोपनिषद् ३।१

सर्वभूतों की अंतरात्मा में निवास करता है[१] । दूसरे प्रकार के वर्णन में ब्रह्म को व्याप्ति स्वरूपी बतलाया गया है । यह व्याप्ति भी अधिकतर अंगुष्ठमात्री बतलाई गई है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है—'अंगुष्ठ मात्रो रवि तुल्यरूपः' । कठोपनिषद् में भी ब्रह्म का बयान इसी ढंग पर किया गया है । उसमें लिखा है कि 'अंगुष्ठमात्री पुरुष लोगों के हृदयों में निवास करता है[३] ।

६—सगुणात्मक—उपनिषदों में ब्रह्म के विविध प्रकार के सगुणात्मक वर्णन मिलते हैं—जैसे—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्तरीय उपनिषद् २।१), विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ० ३।६।२८) ब्रह्म की सर्वव्यापकता का प्रतिपादन भी विविध प्रकार से किया गया है । उदाहरण के लिए हम मुण्डकोपनिषद् का यह अवतरण दे सकते हैं—ब्रह्म हमारे सामने है, ब्रह्म हमारे पीछे है, ब्रह्म हमारे बायीं ओर है तथा दायीं ओर है । वही ऊपर है वही नीचे भी है वही सर्वव्यापी है[४] ।

७—प्रतीकात्मक—उपनिषदों में हमें ब्रह्म के बहुत से प्रतीकात्मक बयान भी मिलते हैं । बृहदारण्यकोपनिषद् में गार्ग्यबालाकी ने अजातशत्रु को ब्रह्म का उपदेश आदित्य चन्द्र विद्युत् आकाश वायु अग्नि जल आदि प्रतीकों के सहारे किया है ।[५] इन प्रकारों के अतिरिक्त उपनिषदों में ब्रह्म वर्णन के और भी अनेक प्रकार ढूंढ़े जा सकते हैं । परवर्ती दार्शनिक विचारधाराओं में ब्रह्म वर्णन की ये विविध प्रणालियाँ सर्वत्र अपनाई गई हैं । हिंदी की निर्गुण काव्यधारा के कवियों ने उन्हें ज्यों का त्यों ग्रहण किया था । यह बात उनके दार्शनिक विचारों के बयान की तुलना से स्पष्ट हो जायगी । यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि ब्रह्म सम्बन्धी यह समस्त वर्णन अनुभूति मूलक है तर्कमूलक नहीं । उपनिषदों के द्रष्टा अध्यात्मक्षेत्र में तर्क की अप्रतिष्ठा मानते थे—'नैषामतिः तर्केण आपनेया' कहकर कठोपनिषद्कार ने स्पष्ट ही तर्क का विरोध किया है । उपनिषदों में हमें माया संबंधी बयान भी मिलते हैं जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं । उपनिषदों में सर्वप्रथम इसका उल्लेख श्वेताश्वतर[७] उपनिषद् में मिलता है । यहाँ पर इसका प्रयोग नामरूप के लिए किया गया है । नामरूप शब्द का प्रयोग

---

[१] मुण्डकोपनिषद् २।१।४

[२] श्वेताश्वतर ५।८

[३] कठोपनिषद् २।१ १२

[४] मुण्डकोपनिषद् २।२।११

[५] बृहदारण्यकोपनिषद् २।१

[६] कठोपनिषद् १।२।६

[७] श्वेताश्वतर ४।१०

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः[1] ।

अर्थात् यह रहस्यमय ब्रह्म स्थिर होते हुए भी दूरगामी है और सोता हुआ भी सर्वगामी है।

२—निषेधात्मक—उपनिषदों में ब्रह्म का निरूपण करते हुए कहीं कहीं निषेधात्मक शैली का भी प्रयोग किया गया है जैसा कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है—

नैष स्त्री न पुमानेष नचैवायं नपुंसकः[2]

अर्थात् न यह स्त्री है न पुरुष है और न नपुंसक ही।

३—विभावनात्मक—उपनिषदों में ब्रह्म के विभावनात्मक वर्णनों की भी कमी नहीं है। उदाहरण के लिए हम श्वेताश्वतर उपनिषद् की 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'[3] वाली उक्ति ले सकते हैं।

४—अनिर्वचनीयात्मक—उपनिषदों में ब्रह्म के अनिर्वचनीयात्मक निर्गुण वर्णनों की भरमार है। उदाहरण के रूप में हम बृहदारण्यकोपनिषद् की यह उक्ति ले सकते हैं—इन सब नाम रूपात्मक मूर्त या अमूर्त पदार्थों के परे जो अग्राह्य और अवर्णनीय है वही ब्रह्म[4] है। ब्रह्म की अनिर्वचनीयता और निर्गुणता का संकेत उसे इन्द्रियों के स्वामी मन और वाणी के परे बतलाकर किया गया है जैसे—'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह'[5] इसी प्रकार मुंडकोपनिषद् में उसे चक्षु और वाणी दोनों के परे बतलाया गया है जैसे—चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा[6] ।

५—साकारात्मक—उपनिषदों में ब्रह्म के कहीं-कहीं साकारात्मक वर्णन भी मिलते हैं। ये साकारात्मक वर्णन स्थूल रूप से दो प्रकार के दिखाई पड़ते हैं। एक विराट रूप संबंधी और दूसरे ज्योतिरूप संबंधी। विराटरूप का वर्णन करते हुए मुंडकोपनिषद्कार लिखता है—अग्नि इस विराट् ब्रह्म की मूर्धा है, सूर्य और चन्द्र उसकी आँखें हैं, दिशाएँ कान हैं, विवृत वेद उसकी वाणी है, समस्त उसके चरणों से व्याप्त है। यह

---

[1] ईशावास्योपनिषद् ५।१०

[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।१

[3] वही—३।१९

[4] बृहदारण्यकोपनिषद् २।३।६

[5] तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली ९ की प्रथम पंक्ति।

[6] मुण्डकोपनिषद् ३।१

सर्वभूतों की अंतरात्मा में निवास करता है[1]। दूसरे प्रकार के वर्णन में ब्रह्म को ज्योति स्वरूपी बतलाया गया है। यह ज्योति भी अधिष्ठातार अंगुष्ठमात्री बतलाई गई है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है—'अंगुष्ठ मात्रो रवि तुल्यरूपः'[2]। कठोपनिषद् में भी ब्रह्म का वर्णन इसी ढंग पर किया गया है। उसमें लिखा है कि 'अंगुष्ठमात्री पुरुष लोगों के हृदयों में निवास करता है[3]।'

६—सगुणात्मक—उपनिषदों में ब्रह्म के विविध प्रकार के सगुणात्मक वर्णन मिलते हैं—जैसे—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्तरीय उपनिषद् २।१), विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ० ३।९।२८) ब्रह्म की सर्वव्यापकता का प्रतिपादन भी विविध प्रकार से किया गया है। उदाहरण के लिए हम मुंडकोपनिषद् का यह अवतरण ले सकते हैं—ब्रह्म हमारे सामने है, ब्रह्म हमारे पीछे है, ब्रह्म हमारे बायीं ओर है तथा दायीं ओर है। वही ऊपर है वही नीचे भी है वही भेदातिभेद है[4]।

७—प्रतीकात्मक—उपनिषदों में हमें ब्रह्म के बहुत से प्रतीकात्मक वर्णन भी मिलते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में गार्ग्यबालाकी ने अजातशत्रु को ब्रह्म का उपदेश आदित्य चन्द्र विद्युत् आकाश वायु अग्नि जल आदि प्रतीकों के सहारे किया है।[5] इन प्रकारों के अतिरिक्त उपनिषदों में ब्रह्म वर्णन के और भी अनेक प्रकार ढूँढे जा सकते हैं। परवर्ती दार्शनिक विचारधाराओं में ब्रह्म वर्णन की ये विविध प्रणालियाँ सर्वत्र अपनाई गई हैं। हिंदी की निर्गुण काव्यधारा के कवियों ने उन्हें ज्यों का त्यों ग्रहण किया था। यह बात उनके दार्शनिक विचारों के वर्णन की तुलना से स्पष्ट हो जायगी। यहीं पर स्मरण रखना चाहिए कि ब्रह्म सम्बन्धी यह समस्त वर्णन अनुभूति मूलक है तर्कमूलक नहीं। उपनिषदों के ऋषि अध्यात्मक्षेत्र में तर्क को अप्रतिष्ठ मानते थे—'नैषातर्केण मतिरापनेया' कहकर कठोपनिषत्कार ने स्पष्ट ही तर्क का विरोध किया है। उपनिषदों में हमें माया संबंधी वर्णन भी मिलते हैं जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं। उपनिषदों में सर्वप्रथम इसका उल्लेख श्वेताश्वतर[6] उपनिषद् में मिलता है। यहाँ पर इसका प्रयोग नामरूप के लिए किया गया है। नामरूप शब्द का प्रयोग

---

[1] मुण्डकोपनिषद् २।१।७
[2] श्वेताश्वतर ५।८
[3] कठोपनिषद् २।१।१२
[4] मुण्डकोपनिषद् २।२।११
[5] बृहदारण्यकोपनिषद् २।१
[6] कठोपनिषद् १।२।९
[7] श्वेताश्वतर ४।१०

माया के ही अर्थ में बृहदारण्यकोपनिषद्[1] में किया गया है। उसमें लिखा है कि नाम-रूप सत्य है। यहाँ पर सत्य शब्द का प्रयोग अमृतत्व से विलक्षण वस्तु के लिए किया गया है। अमृतत्व के लिए सत्यम कहा गया है। इस प्रकार सत्य के भी दो रूप हुए एक शाश्वत और अमृत रूप है। दूसरा नामरूपात्मक अथवा प्रत्यक्ष दिखाई पड़नेवाला और मूल रूप में नश्वर। इन्हीं सत्य और असत्य के लिए कुछ उपनिषदों में अविद्या और विद्या शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि माया के लिए उपनिषदों में अविद्या शब्द का प्रयोग मिलता है।[2] अविद्या और माया दोनों ही पर्यायवाची से लगते हैं। मुंडक में जिसे अविद्या कहा गया है, श्वेताश्वतर में उसी को माया।[3]

जीव—उपनिषदों में जीव का वर्णन विविध प्रकार से किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में एक स्थल पर प्राण शब्द आत्मा का वाचक है और सत्य शब्द माया का। अर्थात् जब आत्मा माया से आच्छन्न हो जाती है तभी जीव कहलाती[4] है। इसे प्रत्यक् आत्मा की छाया कहा जाता है। प्रत्यक् आत्मा शुद्ध नित्य मुक्त ब्रह्मरूप है। जीव कर्ता और मोक्षकाम होता है। मानव शरीर में प्रत्यक् आत्मा और जीव दोनों ही निवास करते हैं। जीव का प्रत्यक् आत्मा को पहचान लेना ही आत्मदर्शन है। आत्मा का वर्णन कठोपनिषद्[5] में छाया और आतप के प्रतीक से किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में यही बात दो पक्षियों के रूपक से प्रकट की गई है।[6] दर्शन क्षेत्र में एक ज्ञाता माना जायेगा और दूसरा ज्ञेय। इससे स्पष्ट है कि आत्मा से ही आत्मा का ज्ञान हो सकता है। उपनिषदों का यह सिद्धान्त भारतीय दर्शन में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

सृष्टि—उपनिषदों में सृष्ट्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विचार किये गये हैं। उपनिषदों में अनेक सृष्ट्युत्पत्ति सम्बन्धी विचारों का ही अपने-अपने ढंग पर प्रतिपादन किया गया है। तैत्तरीय और छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि उस परब्रह्म के हृदय में अनेक होने की इच्छा हुई और उस इच्छा के फलस्वरूप [illegible] सृष्टि का विकास

---

[1] बृहदारण्यक—२।६।३ और २।३।६

[2] श्वेताश्वतर—५।१

[3] श्वेताश्वतर—४।६।१०

[3] बृहदारण्यकोपनिषद्—३।३।१।२८।४

[4] बृहदारण्यकोपनिषद् २।३।६

[5] कठोपनिषद् प्रथम अध्याय ३ वल्ली १ मन्त्र

[6] श्वेताश्वतर ४।६

हुआ[1]। उस मूल अद्वैत तत्त्व को जिसे ब्रह्म कहा गया है, सम्बन्ध में भिन्न भिन्न उपनिषदों में भिन्न भिन्न प्रकार की विचिकित्साएँ प्रकट की गई हैं। तैत्तरीयोपनिषद् में उस मूल तत्त्व को असत् माना गया है[2] और छान्दोग्योपनिषद् में मूल तत्त्व की संज्ञा सत् दी गई है। इसी उपनिषद्[3] में एक दूसरे स्थल पर आकाश को ही सब का मूल बताया गया है।[4] बृहदारण्योपनिषद् में लिखा है कि सृष्टि के पूर्व में मूल तत्त्व से सब आच्छादित[5] था। मैत्र्युपनिषद् में उसको तम रूप कहा गया[6] है। कुछ उत्तरकालीन उपनिषदों में सृष्टि विकास के प्रसंग में त्रिवृत्करण और पंचीकरण के सिद्धांतों का भी संकेत किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपा'[7] अर्थात् लाल सेत व्रकद अज काले पृथ्वी रंगों की एक अजा से नामरूपात्मक सृष्टि की उत्पत्ति हुई। यहाँ पर प्रत्यक्ष ही त्रिगुणीकरण[8] के सिद्धांत का संकेत किया गया है। इसी प्रकार कुछ उपनिषदों में पंचीकरण का वर्णन मिलता है। संक्षेप में उपनिषदों की आध्यात्मिक विचारधारा यही है।

साधनाएँ—उपनिषद् में हमें सभी प्रसिद्ध आध्यात्मिक साधनाओं की चर्चा मिलती है। प्रमुख आध्यात्मिक साधनाएँ जिनका संकेत उपनिषदों में किया गया है। वे इस प्रकार हैं—भक्तिमार्ग, योगमार्ग और ज्ञानमार्ग।

उपनिषदों में सबसे अधिक चर्चा ज्ञानमार्ग की मिलती है। इसीलिए उन्हें लोग वेद का ज्ञानकांड मानते हैं। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि धीर साधक विज्ञान के द्वारा ही आत्मदर्शन प्राप्त करता है। उपनिषदों में हमें ज्ञानकांड की चर्चा विविध विद्याओं के रूप में भी मिलती है। इनको हम ज्ञान और उपासना का मिश्रित स्वरूप मानेंगे। उपनिषदों में वर्णित प्रसिद्ध विद्याएँ १० हैं। इनके नाम क्रमशः उद्गीथ, मधु, उपकोसल, भूम, दीर्घायुष्य, संवर्ग, पंचाग्नि, शांडिल्य, दहर और मंथ हैं।

---

[1] तैत्तरीयोपनिषद् २।६
[2] तैत्तरीयोपनिषद् २।७
[3] छान्दोग्योपनिषद् ३।१९
[4] छान्दोग्योपनिषद् १।९
[5] बृहदारण्यक १।२।१
[6] मैत्र्युपनिषद् ५।२
[7] श्वेताश्वतर ४।५
[8] तैत्तरीय २।१। प्रश्नोपनिषद्—१।४। बृहदारण्यक—१।४।५ श्वेताश्वतर—२।१२

इन[1] ज्ञानप्रधान उपासना मार्गों को हम साधना संबंधी सम्प्रदाय मानने के पक्ष में हैं। इन विद्याओं की छाया भी हमें निर्गुण काव्यधारा के कवियों में मिलती है। इनका उल्लेख हम उनके साधना मार्ग वाले प्रकरण में करेंगे। श्वेताश्वतर उपनिषद् में हमें भक्ति या उपासनामार्ग का स्वतंत्र उल्लेख भी मिलता है। इसमें गुरु और भगवान् दोनों को भक्ति का उपदेश दिया गया[2] है। उपनिषदों में योग साधन की चर्चा भी कम नहीं मिलती। कठोपनिषद् में इन्द्रिय-संयम को ही योग कहकर योग-संबंधी धारणा में सदाचार को सबसे अधिक महत्त्व दे दिया गया है। उसी उपनिषद् में एक दूसरे स्थल पर भगवान् की प्राप्ति अध्यात्मयोग के द्वारा ही बतलाई गई है। उपनिषदों में योग साधना के अंगों का उल्लेख मिलता ही है। उनमें विविध प्रकार की रहस्यमयी यौगिक अनुभूतियों का भी वर्णन किया गया है। उदाहरण के लिए हम श्वेताश्वतर उपनिषद् की यह उक्ति ले सकते हैं।

नीहार धूमार्कानिलानिलानां खद्योत विद्युत्स्फटिक शशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरः सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्ति करणि[3] ॥

अर्थात् योग साधन करने पर उस ब्रह्म की अनुभूति नीहार धूम सूर्य अग्नि वायु जुगनू बिजली स्फटिक और चन्द्र के रूप में हुआ करती है। इसी प्रकार अवर्णेन्द्रिय से संबंधित अनुभूतियाँ भी मिलती हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्मानुभूतियों का वर्णन देखिए कितने रहस्यात्मक शब्दों में किया गया है शब्द पचनक्रिया और मोचन क्रिया का परिणाम है कोई भी मनुष्य इसे अपनी आँख बंद करके सुन सकता है। किन्तु जब मनुष्य मरने लगता है। तब वह ध्वनियाँ नहीं सुन पाता।[4] मुण्डकोपनिषद् में किया गया ज्योतिस्वरूपी ब्रह्म का वर्णन भी बड़ा ही रहस्यात्मक है—हिरण्यमय उत्कृष्ट कोष पर निष्कल ब्रह्म, जो ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति है, विराजमान मालूम पड़ता है। आत्मज्ञानी लोग इसकी अनुभूति करते[5] हैं। इस प्रकार के रहस्यानुभूतिपरक वर्णनों से उपनिषद् भरे पड़े हैं। हिंदी के निर्गुण काव्यधारा के कवियों ने उपनिषदिक रहस्यानुभूतियों की झाँकी अपने ढंग पर सजाई है। उनके रहस्यवाद का विवेचन करते समय यह बात स्पष्ट कर दी जायेगी।

---

[1] इन विद्याओं के संक्षिप्त विवरण के लिए देखिए कबीर और जायसी का रहस्यवाद डा० गोविन्द त्रिगुणायत पृ ११ से ११ तक।

[2] श्वेताश्वतर उपनिषद्—६।२।१

[3] श्वेताश्वतर उपनिषद् २।११

[4] बृहदारण्यक उपनिषद् ५।८।१

[5] मुण्डकोपनिषद् २।२।६

उपनिषदों का प्रणवयोग भी विचारणीय है। संतों में जिस शब्द सुरति योग की प्रतिष्ठा मिलती है उसकी आधारभूमि उपनिषदों का प्रणवयोग ही है। उपनिषदों के प्रणवयोग का स्वरूप मुण्डकोपनिषद् के इस श्लोक से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है—

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्[1] ॥

अर्थात् प्रणव धनुष है। आत्मा शर है। ब्रह्म लक्ष्य है। जो अप्रमत्त होकर इस लक्ष्य का वेधन करता है उसकी आत्मा ब्रह्म में प्रविष्ट होकर तद्रूप हो जाती है। संतों ने अपने शब्द सुरति योग में ब्रह्म के स्थान पर शब्द ब्रह्म और आत्मा के स्थान पर सुरति और प्रणव के स्थान पर नाम स्मरण अपनाया है।

उपनिषदों का दृष्टिकोण निवृत्यात्मक ही था। उनमें सर्वत्र ज्ञान वैराग्य और त्याग की महिमा का अंकन किया गया है। कठोपनिषद्[2] का इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करने का उपदेश स्पष्ट रूप से वैराग्य का ही संदेश दे रहा है। जब तक इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी नहीं होतीं तब तक पूर्ण वैराग्य का उदय नहीं होता।

उपर्युक्त विचारधाराओं के अतिरिक्त श्रौत-दर्शन की ओर भी अनेक छोटी-मोटी विचारधाराएँ हैं। उनमें से जिन-जिन विचारधाराओं ने संतों को प्रभावित किया है उनका भी यथास्थान उल्लेख किया जायगा।

निर्गुण काव्यधारा पर श्रौतदर्शन के प्रभाव

संतों में संहिताओं के एकेश्वरी अद्वैतवाद, रहस्य भावना, विराट् ब्रह्म वर्णन एवं स्वरूपावस्थिति सम्बन्धी विचारधाराओं की अच्छी झलक मिलती है। एकेश्वरी अद्वैतवाद की ओर संकेत करते हुए संत दरिया ने लिखा है—ब्रह्म एक है सब[3] घट रमता इसी बात को दादू ने 'दादू क दूजा नहीं एकै आतम राम'[4] लिखकर स्पष्ट कथन भी किया है। संहिताओं की रहस्य भावना का भी अच्छा प्रभाव संतों पर दिखाई देता है। रहस्यवाद के प्रकरण में इसका विस्तार से स्पष्टीकरण कर दिया गया है। पुरुष सूक्त का विराट् ब्रह्म वर्णन लोकप्रसिद्ध है। संतों ने इसका अनुगमन किया है। संत कबीर लिखते हैं—

---

[1] मुण्डकोपनिषद् २।४
[2] कठोपनिषद् २।१।१
[3] दरिया सागर पृ० ६
[4] दादू साहब की बानी भाग १ पृ० १०

कोटि सूर जाके परगास कोटि महादेव अरु कविलास।
दुर्गा कोटि जाके मर्दन करै ब्रह्मकोटि बेद उचरै[1]॥

जिस प्रकार पुरुष सूक्त ब्रह्म के विराट् वर्णन के लिए प्रसिद्ध है, उसी प्रकार नासदीय सूक्त भी यथाति सृष्टि सम्बन्धी जिज्ञासाओं के लिए है। संतों में भी उसी ढंग की जिज्ञासाएँ मिलती हैं। निश्चय ही उन्हें नासादीय सूक्त से प्रेरणा मिली होगी। सृष्टि के पूर्व की अवस्था का जो वर्णन कबीर ने प्रस्तुत किया है वह नासदीय सूक्त के वर्णन से बहुत प्रभावित प्रतीत होता है। कबीर लिखते हैं—सृष्टि[2] के पूर्व केवल आत्मा मात्र ही था। उस समय पवन, जल आदि पंच तत्व न थे। उस समय सृष्टि का विकास भी नहीं हो पाया था। मानव शरीर की रचना भी नहीं हुई थी। आकाशादि का अस्तित्व भी न था। इसी प्रकार संत दादू ने भी एक स्थल पर लिखा है—इस प्रकृति का रहस्य समझ में नहीं आता। उसके उत्पत्ति और लय स्थानों का ज्ञान किसी को भी नहीं है। उसी से जल और समीर आदि तत्व निर्मित हुए हैं। पृथ्वी और आकाश भी उसी से प्रादुर्भूत हुए हैं। इसके अतिरिक्त संतों की बानियों पर और भी बहुत से प्रसिद्ध सूक्तों की छाया दिखाई पड़ती है। इन सब का ज्ञान उन्होंने बहुश्रुत होने के नाते ही प्राप्त किया था।

संहिताओं की अपेक्षा संतों की विचारधारा पर उपनिषदों का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। यदि इस विषय का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो एक नई थीसिस तैयार हो सकती है यहाँ पर स्थूल प्रमाणों का ही निर्देश कर रहे हैं।

उपनिषदों का दर्शन आत्मवादी है। उसमें आत्मा का ही विवेचन किया गया है। उसी के ज्ञान की प्राप्ति की जिज्ञासा प्रकट की गई है। उनका प्रमुख लक्ष्य आत्म तत्त्व निरूपण करना और उसकी अनुभूति करना ही था। बृहदारण्यकोपनिषद् के 'आत्मा वाअरेद्रष्टव्यःश्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः' उक्ति से उपनिषद् साहित्य का कौन सा विद्वान् परिचित नहीं है। उपनिषदों के लक्ष्य बोध से संत लोग भी पूर्णतया प्रभावित हुए थे। उन्होंने भी आत्मसाधन अध्यात्म चिंतन को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था। संत चरनदास ने संतों के जीवन का लक्ष्य प्रकट करते हुए

---

[1] कबीर ग्रन्थावली पृ० २०८

[2] जह नहिं होते पवन नहिं पानी
जंह नहिं होती सृष्टि।
जह नहिं होते प्यण्ड बास
जंह नहिं धरनि आकास॥ इत्यादि। कबीर ग्रन्थावली पृ २१८।

लिखा[1] है—संतों को अध्यात्म विद्या का ही पठन-पाठन करना चाहिए और भगवान् के ध्यान में निमग्न रहना चाहिए।

सम्यक् साम्य होने के कारण संतों की विचारधारा उपनिषदों की गुरुशिष्य अधिकारित्व, ज्ञानवैराग्य की स्वीकृति, आध्यात्मिक अद्वैतवाद, ब्रह्म निरूपण, आत्म निरूपण, मुक्ति धारणा, साधना पद्धति, सदाचार प्रवणता, पिंड में आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व की कल्पना, प्रणववाद, जन्मान्तरवाद, कर्मसिद्धांत, रहस्यभावना आदि विविध बातों का प्रभाव दिखाई देता है। शिष्य के अधिकारित्व पर तो सभी बल देते हैं। संतों ने उपनिषदों से प्रभावित होकर गुरु के अधिकारित्व को भी अपरिचित बतलाया है। दरियासाहब ने लिखा है—सद्गुरु सोइ जो सत्त चलावै[2]। उपनिषदों की विचारधारा निवृत्तिमार्गी है। इसीलिए उनमें ज्ञान और वैराग्य पर विशेष बल दिया गया है। निवृत्तिमार्गी विचारधारा से संत लोग भी प्रभावित हुए थे। इसी लिए उन्होंने भी ज्ञान वैराग्य को महत्त्व दिया है। दरियासाहब ज्ञान को महत्त्व देते हुए कहते हैं—आतमदरसन ज्ञान जो जाने तबहि लोक पयाना ठाने[3]। मुक्तिसाधना में ज्ञान के बराबर ही वैराग्य का भी महत्व माना गया है। संत पलटू ने देखिए कितने मधुर शब्दों में वैराग्य का महत्व प्रतिपादित किया है—

पहले संसार से तोरि आवै
तब बात पिया की पूछिए जी[4]।

उपनिषदों का प्रसिद्ध प्रतिपादन आध्यात्मिक अद्वैतवाद है। संतों ने जहाँ संहिताओं के एकेश्वरी अद्वैतवाद को स्वीकार किया है वहीं उपनिषदों के आध्यात्मिक अद्वैतवाद का प्रतिपादन भी किया है। संत दरिया ने इसकी अभिव्यक्ति—अद्वैतब्रह्म घट व्यापक[5] कहकर की है। यही बात संतवर कबीर ने निम्नलिखित शब्दों में किया है—व्यापिक व्यापक सकल में व्यापिक सब घट रह्या समाई[6]। उपनिषदों

बाहिर भीतर सगी न जाइ
कहँ ते उपजे कहाँ समाई।
बाहि गगन बनि आव न जाती
घट घट व्यापा प्राण प्रकास॥ इत्यादि—दादू बानी भाग २ पृ० २२

[1] आतम विद्या पढ़ पढ़ावै परमातम का ध्यान लगावै॥ संतबानी संग्रह भाग २ पृ० १३१

[2] दरिया सागर पृ० ५।

[3] दरिया सागर पृ० १५।

[4] संतबानी संग्रह भाग २ पृ० ११६

[5] दरिया साहब के चुने हुए पद पृ० ३६।

[6] कबीर ग्रन्थावली पृ० १०३।

के प्रपत्तिसम्बन्ध का भी पूरा-पूरा प्रभाव संतों पर दिखाई पड़ता है। ब्रह्मदर्शन में जितनी शैलियों का प्रयोग उपनिषदों में किया गया है संतों में वे सब पाई जाती हैं। ब्रह्मदर्शन के प्रसंग में इस प्रभाव का स्पष्ट और विस्तृत संकेत किया गया है।

उपनिषदों की साधना पद्धति की छाया भी संतों पर ढूँढ़ी जा सकती है। उपनिषदों में ज्ञानभक्ति और योग तीनों साधनाओं का उल्लेख मिलता है।[1] संतों ने तीनों को ही महत्त्व दिया है[2]। तीनों के महत्त्व का संकेत करते हुए संत चरनदास ने लिखा है[3]—साधनरूपी वृक्ष की मूल भक्ति, शाखा योग, और ज्ञान फल है। उपनिषदों के सरल और सदाचारपूर्ण जीवन से संत लोग पूर्णरूप से प्रभावित हुए थे। उन्होंने सर्वत्र सरल और सदाचारपूर्ण जीवन पर बल दिया है—

कहे दादू मोहि अचरज भारी हृदय कपट क्यों मिले मुरारी[4]।

उपनिषदों का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत पिण्डस्थ जीवतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व का निरूपण है। कठोपनिषद् में छाया और आतप के ब्याज से तथा मुण्डक और श्वेताश्वतर में दो पक्षियों के रूपकों से इन्हीं का वर्णन किया गया है। संत लोग इस सिद्धांत से भी पूर्णतया प्रभावित हुए थे। उनकी सुरति और निरति सम्बन्धी धारणा इसी सिद्धांत पर आधारित हैं। इस बात का स्पष्टीकरण शब्द सुरतियोग के प्रसंग में किया जायगा। इसी प्रकार उपनिषदों में जन्मान्तरवाद, ब्रह्मवाद, एवं कर्मवाद आदि अनेक औपनिषदिक सिद्धांतों का भी प्रभाव संतों पर ढूँढ़ा जा सकता है। कहीं कहीं तो संतों ने उपनिषदों के शब्दों का अनुवाद तक करके रख दिया है। जैसे मुण्डिकस्य 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' का अनुवाद करते हुए दादू ने लिखा है—दादू जाये ब्रह्म को ब्रह्म सरीखा होय[5]। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि औपनिषद दर्शन संतों की विचारधारा में प्राणरूप से प्रतिष्ठित है।

वैष्णव धर्म और निर्गुण काव्यधारा

स्वरूप और सिद्धांत विवेचना—मध्ययुग में वैष्णव धर्म का बहुत अधिक प्रचार

---

[1] वही।
[2] वही।
[3] मेरे सद्गुरु चैतन्य बसंत जाको महिमा गावत संत।
ज्ञान विवेक के फूले फल जहँ शाखा योग मूल भक्तिमूल ॥ संतबानी संग्रह पृ० १०१ भाग २
[4] दादू बानी भाग १ पृ० १३८।
[5] दादू बानी भाग १ पृ० ८५।

और प्रचार था। अन्य धर्मों की अपेक्षा समाज में इसकी प्रतिष्ठा भी अधिक थी। इसकी सरलता, सात्त्विकता और व्यावहारिकता ने इसे बहुत अधिक लोकप्रिय बना दिया था। इसकी सात्त्विकता पर संत लोग भी मुग्ध थे। इसीलिए उन्होंने बहुत से स्थलों पर इसके प्रति श्रद्धासमन्वित भाव[1] प्रकट किये हैं। वैष्णवों की अधिकांश बातें संतों की रुचि के अनुकूल थीं। हाँ उस धर्म की आचार प्रधानता उन्हें प्रिय नहीं लगती थी। फिर भी वे उनसे प्रभावित थे। उन्होंने उनके आचारों का इसीलिए मानसीकरण किया है। इस मानसीकरण प्रक्रिया पर हम धर्म प्रकरण में विचार करेंगे। यहाँ हम वैष्णव धर्म के ऐतिहासिक विकास पर और उसके प्रमुख तत्त्वों तथा संतों पर पड़े हुए उन तत्त्वों के प्रभावों का निर्देशमात्र करेंगे।

वैष्णव धर्म सामान्यतया वासुदेव नारायण एकान्तिक पांचरात्र सात्वत और भक्तिमार्ग आदि विविध नामों से प्रसिद्ध[2] है। वैष्णव शब्द का प्रयोग हमें तैत्तरीय संहिता[3] वाजसनेयी संहिता[4] ऐतरेय[5] ब्राह्मण शतपथब्राह्मण[6] आदि प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। इसी प्रकार भागवत शब्द का प्रयोग भी हमें ऋग्वेद[7] और अथर्ववेद[8] तक में मिला है। वासुदेव का उल्लेख घटजातक,[9] महाभाष्य[10], पाणिनी[11], और पतंजलि[12] आदि में किया गया है। पांचरात्र शब्द की चर्चा भी शतपथब्राह्मण में की गई है। तैत्तरीय[13] आरण्यक महाभारत[14] मनुस्मृति[15] और अष्टाध्यायी[16]

---

[1] संत सुधासार खण्ड १ पृ० ६१०प कि १८
[2] गीता रहस्य—तिलक पृ० ५३९-५५८ (१९१०)
[3] तैत्तरीय संहिता ५।६।२
[4] वाजसनेयी संहिता ५।२१
[5] ऐतरेयब्राह्मण १।१।८
[6] शतपथब्राह्मण १।१।१३
[7] ऋग्वेद १।१५६।३।४०
[8] अथर्ववेद ३।१०।२
[9] जातक—द० हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी दास गुप्ता भाग २ पृ० ५४२
[10] महाभारत हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भा० २ पृ० ५४७ दास गुप्ता।
[11] पाणिनि ४।३।९८
[12] भागवत सम्प्रदाय ब० उपाध्याय पृ० ७१
[13] तैत्तरीय आरण्यक १०।१।६
[14] महाभारत ५।९४।६८
[15] मनुस्मृति १।१०
[16] पाणिनी ४।३।९८

में हमें नारायण शब्द की व्याख्या भी मिलती है। इन उल्लेखों के आधार पर यह धर्म अत्यधिक प्राचीन कहा जा सकता है। यदि इस मत को मान्य न भी माना जाय और विपक्षियों की यह बात स्वीकार भी कर ली जाय कि वैष्णव नारायण पांचरात्र वासुदेव आदि शब्दों का उल्लेख प्राचीन साहित्य में स्वतंत्र रूप से किया गया है। वे किसी व्यवस्थित धर्म सम्प्रदाय के पोषक नहीं हैं फिर भी घोसुण्डी और बेसनगर[1] के शिला लेखों तथा पतंजलि और कैयट के द्वारा दी गई वासुदेव शब्द की व्याख्या और निद्देस[2] नामक पालीग्रंथ में किये गये उल्लेखों से इस धर्म की प्राचीनता निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो जाती है। हमारी समझ में वैष्णव धर्म उतना ही प्राचीन है जितना कि ऋग्वेद। ऋग्वेद में ५, ६ सूक्तों में विष्णु देवता की स्तुति की गई है। इनमें प्रथम मंडल का १५४ वाँ सूक्त विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस सूक्त में विष्णु के उन गुणों पर बल दिया गया है जो उन्हें अधिक मानवोपयोगी देवता बनाने में समर्थ हुए हैं। उन गुणों में अतिवीर पराक्रम, भुवनधार धारणा शक्ति, मधुरभाव, विश्व धारणा शक्ति, मानवों के पोषण की शक्ति, विश्वबंधुत्व, अभीष्ट पर्यवसता, आदि विशेष उल्लेखनीय[3] हैं। इन गुणों के होते हुए भी विष्णु ऋग्वेद में प्रधान देवताओं की श्रेणी 'में नहीं आ पाये'[4] हैं। किन्तु परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मण ग्रंथों में उनके व्यक्तित्व का विशेष विकास हुआ और वे प्रधान देवता के रूप में पूजे जाने लगे। तैत्तरीय संहिता[5] वाजसनेयी संहिता[6] अथर्ववेद[7] तथा ऐतरेय[8] ब्राह्मण में कई स्थलों पर विष्णु श्रेष्ठतम और प्रधानतम देवता कहे गये हैं। उदाहरण के लिए हम ऐतरेय ब्राह्मण की यह उक्ति ले सकते हैं—अग्नि उत्तम देवता है—विष्णु परम देवता हैं अन्य देवता इनके बीच में आते[9] हैं।

विष्णु के स्थान पर शनैः-शनैः वासुदेव नारायण भगवत कृष्णहरि आदि नामों की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। वासुदेव संभवतः यादव जाति के कोई उपास्य देवता थे। जब यह जाति ब्राह्मण धर्म में दीक्षित हुई उस समय ब्राह्मणों को उस जाति

---

[1] पु० रिव्यू आफ इण्डियन फिलासफी भाग २ पृ० ३४८ दास गुप्त।

[2] भागवत सम्प्रदाय बलदेव उपाध्याय पृ० ६१।

[3] रामगोविन्द त्रिवेदी कृत ऋग्वेद का हिन्दी अनुवाद पृ० ७६ भाग १।

[4] वैदिक रीडर मैकडानेल पृ० १० से० १९५४।

[5] तैत्तरीय संहिता १।७।५।४

[6] वाजसनेयी संहिता—२।१ ।२।६।८

[7] अथर्ववेद—७।२६।७

ऐतरेय ब्राह्मण १।१

[9] अग्निर्वै देवानामवमो विष्णु: परम तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः ऐतरेय १।१

के देवता वासुदेव को विष्णु या नारायण के समकक्ष स्थान देना पड़ा। तैत्तरीय आरण्यक में विष्णु नारायण और वासुदेव को एक ही बताया गया है। आगे[1] चलकर यादव जाति के महापुरुष कृष्ण और वासुदेव का एकीकरण हो गया। फलस्वरूप वासुदेव कृष्ण विष्णु का अवतार माने जाने लगे। प्राचीन साहित्य में हमें तीन कृष्ण मिलते हैं एक कार्ष्ण कृष्ण ऋषि थे। यह ऋग्वेद के अष्टम मंडल के चौहत्तरवें सूक्त के द्रष्टा कहे गये हैं। दूसरे कृष्ण आंगिरस थे इनका उल्लेख महाभारत में किया गया है। तीसरे कृष्ण का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् में देवकी पुत्र कहकर किया गया है। विद्वानों की धारणा है कि महाभारत युग में ये तीनों ही कृष्ण मिलकर एक हो गये थे।[2] जब यादव कृष्ण का सात्वत जाति के उपास्य देवता वासुदेव से सामंजस्य स्थापित हुआ और वासुदेव प्राचीन वैष्णव धर्म में प्रतिष्ठित हो गये, उस समय सात्वत जाति द्वारा स्वीकृत वैष्णव धर्म सात्वत धर्म के नाम से अभिहित किया जाने लगा। सात्वत एक प्राचीन जाति है। शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मणों में इसका उल्लेख मिलता है।[3] सात्वत जाति के कुछ क्षत्रिय दक्षिण में भी जाकर बस गये थे। उनके साथ उनका धर्म भी गया। दक्षिण में वैष्णव धर्म को जन्म देकर विकसित करने का श्रेय इन्हीं क्षत्रियों को दिया जाना चाहिए। इन्हीं की प्रेरणा से आलवार भक्तों में कृष्ण भक्ति का प्रचार हुआ होगा।

महाभारत में वैष्णव धर्म के सात्वत अभिधान की व्याख्या दूसरे ही प्रकार से की गई है। उसमें लिखा है कि संकर्षण ने वासुदेव पूजा में सात्वत विधि का उपयोग किया था। इसीलिए वासुदेव धर्म सात्वत धर्म के नाम से प्रसिद्ध हो गया। मध्ययुग[4] के प्रसिद्ध दार्शनिक यमुनाचार्य का मत कुछ और ही है। उन्होंने लिखा है कि जो लोग सात्विक ढंग से भगवान् की पूजा करते हैं उन्हीं को सात्वत या भागवत कहा जाता[5] है। जो भी हो इतना निर्विवाद है कि सात्वत धर्म का प्रचार विशेष रूप से सात्वत जाति में ही था। पद्मसंहिता में सात्वत धर्म को वैष्णव धर्म का एक प्रकार कहा गया है। इससे प्रकट है कि सात्वत धर्म का प्रचार कुछ सीमित स्थल और सीमित व्यक्तियों में ही था।

---

[1] तैत्तरीय आरण्यक के दशम प्रपाठक में विष्णु गायत्री दैविक इस प्रकार है—
नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि
तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्
[2] ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग १ एस॰ एन॰ दासगुप्त पृ॰ ४८
[3] भागवत सम्प्रदाय—बलदेव उपाध्याय पृ॰ १०४।
[4] वही
[5] ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग २ पृ॰ ५०१ एस॰ एन॰ दास गुप्त

वैष्णव धर्म का एक प्राचीन नाम पांचरात्र धर्म भी है। पांचरात्र शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमें शतपथ[1] ब्राह्मण में मिलता है। उसमें लिखा है कि नारायण पुरुष ने पांचरात्र सत्र किया था। इस उक्ति में नारायण और पांचरात्र दोनों ही शब्द विचारणीय हैं। प्राचीन ग्रन्थों में नारायण शब्द की व्याख्या और अर्थ के सम्बन्ध में मतभेद दिखाई पड़ता है। तैत्तरीय आरण्यक[2] में नारायण को वासुदेव का पर्यायवाची माना गया है। महाभारत में नारायण[3] मानवों के शरणदाता देवाधिदेव कहे गये हैं। मनु ने नारायण[4] को नरों का आयन या निवास स्थान कहा है। महाभारत में एक दूसरे स्थल पर नारायण नाम के एक ऋषि का उल्लेख किया गया है। वह भागवत् धर्म के मूल ज्ञाता थे। नारद ने भागवत् धर्म का ज्ञान इन्हीं से प्राप्त किया था।[5] हमारी धारणा है कि नारायण नाम के कोई महर्षि ही थे। उन्होंने वैष्णव धर्म के विकास में बहुत बड़ा योग दिया था। अतः वैष्णव धर्म उनके नाम पर नारायणीय धर्म भी पुकारा जाने लगा।

वैष्णव धर्म की एक प्राचीन संज्ञा पांचरात्र भी है। इस शाखा का उदय और विकास कब हुआ यह निश्चयपूर्वक बताना कठिन है।[6] इसका प्रथम विस्तृत विवेचन हमें *महाभारत के शांति पर्व के नारायणीयोपाख्यान में मिलता*[7] है। इस उपाख्यान का रचनाकाल ए० स० के० आयंगर साहब ने तथा डा० भंडारकर ने भगवान् बुद्ध के पूर्व ही निश्चित किया[8] है। इस आधार पर पांचरात्र का उद्भवकाल हम भगवान् बुद्ध के पूर्व पाँचवीं या छठी शताब्दी ई० पूर्व निश्चित कर सकते हैं। पांचरात्र शब्द की व्याख्या महाभारत नारदपांचरात्र अहिर्बुध्न्य संहिता ईश्वर संहिता पाद्मतंत्र विष्णु संहिता आदि कई ग्रंथों में की गई है। महाभारत में लिखा है कि चारों वेद और सांख्य योग दर्शन के समावेश के कारण वैष्णव धर्म या नारायणीय धर्म के लिए पांचरात्र शब्द का प्रयोग किया जाने लगा[9]। नारद पांचरात्र के अनुसार परमतत्त्व मुक्ति भुक्ति योग तथा विषय इन पाँच तत्वों के निरूपण के कारण इस धर्म को

---

[1] शतपथ ब्राह्मण १३।६।१
[2] तैत्तरीय आरण्यक १०।११।६
[3] महाभारत ५।१५१८
[4] मनुस्मृति १।१
[5] महाभारत—शान्ति पर्व ३३८।१०
[6] भागवत् सम्प्रदाय—बलदेव उपाध्याय पृ० १००
[7] महाभारत शान्ति पर्व ३३४ से ३५१ अध्याय।
[8] भागवत सम्प्रदाय—बलदेव उपाध्याय पृ० १०२
[9] महाभारत शान्ति पर्व—अध्याय ३३६।

पांचरात्र कहा गया[1] है। अहिर्बुध्न्य संहिता का भी यही मत है[2]। ईश्वर संहिता के अनुसार पांचरात्र वेद की एकायन शाखा के पाँच प्रतिनिधि ऋषियों के नाम पर पड़ा है[3]। पाद्मतंत्र में पांचरात्र की व्याख्या दूसरे प्रकार से की गई है। पांचरात्र उस धर्म को कहा गया है जिसके आगे पांचशास्त्र धूमिल पड़ जाते हैं[4]।

पांचरात्र धर्म का सम्बन्ध अधिकांश विद्वान् वेद की एकायन शाखा से मानते हैं। इस दृष्टि से यह धर्म वैदिक ही हुआ। पांचरात्र धर्म का साहित्य बड़ा विस्तृत है। इस साहित्य से सम्बन्धित लगभग २१५ संहितायें प्रकाशित हो चुकी[5] हैं। इन संहिताओं में पौष्कर, सात्वत और जयाख्य विशेष प्रामाणिक मानी जाती[6] हैं। पांचरात्र धर्म में तत्त्व का दार्शनिक निरूपण भी किया गया है। किन्तु विशेष बल साधना पक्ष पर दिया गया है। आजकल वैष्णव धर्म के अन्तर्गत भागवत् धर्म, पांचरात्र धर्म, सात्वत धर्म, नारायणीय धर्म आदि के सभी तत्त्व प्रचलित हैं। हमारी समझ में उपर्युक्त सभी वैष्णव धर्म के विकास की भिन्न भिन्न स्थितियाँ हैं जिसके कारण प्रत्येक नाम अब वैष्णव का पर्यायवाची माना जाने लगा है[7]। वैष्णव या भागवत् धर्म के विकास की ग्रियर्सन ने तीन स्थितियाँ मानी[8] हैं। पहली स्थिति में उसने इस धर्म पर सांख्य और योग का प्रभाव दिखलाया है। विकास की इस अवस्था का समय चौथी शताब्दी ई० पूर्व तक माना गया है। उनके मतानुसार अपनी पहली अवस्था में यह धर्म ब्राह्मण धर्म से अपना सामंजस्य स्थापित नहीं कर सका था। यह कार्य विकास की दूसरी अवस्था में हुआ था। इनके अनुसार इस सामञ्जस्य का संकेत हमें भगवत् गीता में मिलता है। इस दृष्टि से इस धर्म में भगवत् गीता का विशेष महत्त्व है। ब्राह्मण धर्म से सामञ्जस्य स्थापित कर इस धर्म ने अवतारवाद की धारणा ग्रहण की। अवतारवाद की प्रतिष्ठा हो जाने पर भागवत् धर्म में उपास्य के रूप में विष्णु के विविध अवतारों की अवतारणा की गई। इसके बाद भागवत् धर्म के विकास की तीसरी अवस्था आती है। इस अवस्था में भक्ति भावना को सबसे अधिक महत्त्व

---

[1] नारद पांचरात्र—१।१४।५१
[2] अहिर्बुध्न्य संहिता—११।६४
[3] ईश्वर संहिता अध्याय २१
[4] पाद्मतन्त्र १
[5] भागवत सम्प्रदाय पृ० ११२
[6] वही—पृ० ११५-१८
[7] देखिए पाद्मतन्त्र—४।२।८२
[8] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृ० ५३९-५५०।

दिया गया है। महाभारत और श्री मद्भागवत्, भागवत् धर्म के विकास के इसी क्रम में लिखे गये थे। मिस्टर्सन साहब पांचरात्र धर्म पर प्रकाश डालना भूल ही गये हैं। जिस समय भागवत् के भक्ति मार्ग का प्रचार बढ़ रहा था उसी समय पांचरात्र धर्म अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच रहा था। भागवत् धर्म और पांचरात्र धर्म वैष्णव धर्म के ही दो भेद हैं। अतएव दोनों में सरलता से सामञ्जस्य स्थापित हो गया। इसी समय सुधारवादी वैष्णव आचार्यों का उदय हुआ। उन्होंने वैष्णव धर्म को अपने ढंग पर परिष्कृत करने की चेष्टा की। बाद के संत सम्प्रदायों पर इन्हीं का प्रभाव है।

अवतारवाद की भावना बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद संहिता तक में इसके बीजाणु मिलते हैं। पुरुष सूक्त में[1] पुरुष का वर्णन पुरुषावतार के रूप में ही किया जान पड़ता है। विष्णु देवता के एक सूक्त में वामनावतार का संकेत किया गया है।[2] ब्राह्मण ग्रंथों में अवतारवाद की भावना अधिक विकसित रूप में दिखाई पड़ती है। ब्राह्मण में वराह[3] मत्स्य[4] और कूर्मावतारों[5] की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। वराह अवतार का संकेत तैत्तरीय संहिता[6] में भी किया गया है। जैमनीय ब्राह्मण[7] में हमें कूर्मावतार की चर्चा मिलती है। ब्राह्मण ग्रंथों के बाद अवतारवाद की भावना महाभारत और गीता में उपलब्ध होती है। गीता की 'सम्भवामि युगे-युगे' वाली उक्ति अवतारवाद की ओर ही संकेत कर रही है। आगे चलकर पांचरात्र दर्शन में यह सिद्धान्त रूप में स्वीकार की गई। उस दर्शन के अनुसार अधर्म का विनाश करने के लिए भगवान् चार रूपों में अवतार धारण करते हैं। वे क्रमशः व्यूह विभव अर्चावतार और अंतर्यामी है। व्यूह के अंतर्गत तीन अवतार माने गये हैं—संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। विभवावतार ३६ बतलाये गये हैं। अर्चावतारों के अंतर्गत मूर्तियाँ ली जाती हैं। अंतर्यामी अवतार का रूप हृत्कमल वासी पुरुष माना जाता है। पौराणिक[8] युग में अवतारवाद की भावना को और भी अधिक बल मिला। वह समाज में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो गई। १८ पुराणों में से भगवान् के

---

[1] पुरुष सूक्त ऋग्वेद १ ।६
[2] ऋग्वेद १।१५४
[3] शतपथ ब्राह्मण १४।१।२।११
[4] शतपथ ब्राह्मण १।८।१।१
[5] शतपथ ब्राह्मण ७।५।१।५
[6] तैत्तरीय संहिता ७।१।५।१।१
[7] जैमनीय ब्राह्मण ३।१०२
[8] भागवत सम्प्रदाय—१२४ १३० श्री बलदेव उपाध्याय।

मूर्त और अमूर्त अथवा सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का वर्णन किया गया है। किंतु[1] महत्त्व निर्गुण रूप को अधिक दिया गया है। ब्रह्मवैवर्त[2] पुराण में कृष्ण और राधा की लीलाओं का वर्णन किया गया है।[3] यह ही परम देवता माने गये हैं। पद्मपुराण में वैसे तो कई अवतारों की चर्चा की गई है पर उनसे अधिक महत्त्व रामावतार को दिया गया है[4]।

वैष्णव धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भागवत है। भागवत में हमें पुरुषावतार गुणावतार, मन्वन्तरावतार, कल्पावतार, युगावतार आदि विविध प्रकार के अवतारों की चर्चा मिलती है। अवतारवाद को सर्वाधिक मान्यता देते हुए भी भागवत निर्गुण ब्रह्म के महत्त्व को नहीं भूली है। विष्णुपुराण के सदृश इस पुराण में भी निर्गुणरूप को ही परमपद कहा गया है।[5] इस निर्गुण ब्रह्म का कथन इस प्रकार है। देवकी स्तुति करते हुए कहती हैं—हे प्रभु वेद में आपके जिस रूप को अव्यक्त तथा सबका कारण कहा गया है जो सर्वव्यापी और ज्योतिस्वरूप है तथा निर्विकार निर्विशेष क्रियाविहीन सत्तामात्र है वही[6] रूप विष्णु का सच्चा रूप है। यही निर्गुण परमेश्वर पुरुष रूप में अभिव्यक्त हुआ है। यह[7] पुरुष ही आदि अवतार माना जाता है। पुरुष नारायण का ही नामान्तर है[8]। पुरुषावतार की भावना बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद[9] श्वेताश्वतर[10] उपनिषद् मुण्डकोपनिषद्[11] गीता[12] आदि में बराबर इसका उल्लेख मिलता है। पुरुषावतार के बाद गुणावतार की मान्यता है। भागवत में पुरुषावतार को त्रिगुणात्मक कहा गया है। जब[13] ये तीनों गुण व्यष्टि रूप से अलग अवतरित होते हैं तब उन्हें गुणावतार कहते हैं। इस दृष्टि से विष्णु सत्त्वगुण के, ब्रह्मा रजोगुण

---

[1] विष्णुपुराण १।२२।५५।५६
[2] विष्णुपुराण १।२२।७१
[3] ब्रह्मवैवर्त पुराण—[illegible]
[4] देखिए गीता का पद्मपुराणांक। ग्रन्थावली १९५२ ई५
[5] भागवत २।९।१८
[6] भागवत १०।३।२४
[7] भागवत २।६।४१
[8] भागवत ११।८।६२
[9] ऋग्वेद १०।९०
[10] श्वेताश्वतर ३।१३।१४।१९
[11] मुण्डकोपनिषद् २।१।४
[12] गीता ११।१५से२१
[13] भागवत ११।४।५

के और रुद्र तमोगुण के अवतार माने गये हैं। इसी प्रकार मन्वंतरावतार, युगावतार, स्वरूपावतार आदि की विविध प्रकार से कल्पनाएँ की गई हैं। राम कृष्ण आदि कल्पावतार माने गये हैं। कूर्म, वराह, नृसिंह आदि मन्वंतरावतार माने जाते हैं। युगावतारों के अंतर्गत ध्रुव, प्रह्लाद आदि भक्त आते हैं। स्वरूपावतार के रूप में पद्मनाभ कपिल आदि की गणना की जाती है। भगवान् के अवतारों के साथ-साथ भगवान् की शक्ति के अवतारों की भी कल्पना की गई है। सीता, राधा, दुर्गा आदि भगवान् की शक्ति का ही अवतार मानी जाती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैष्णव धर्म में अवतारवाद का बड़ा विस्तार किया गया है। संतों को उनका यह सिद्धांत मान्य न था।

वैष्णव धर्म में विष्णु और उनके भक्तों के नामों की बड़ी महिमा है। भगवान् विष्णु के सहस्र नाम बतलाये गये हैं। विष्णुसहस्र नाम को हम उन नामों की सिरज मान सकते हैं। संतों को भगवान् के वैष्णवी नाम अधिक प्रिय थे। उन्होंने अपने निर्गुण ब्रह्म के लिए हरि, गोविन्द, गोपाल, माधो विश्वम्भर, नर, हरि, शारंगपाणि, राम, आदि सैकड़ों वैष्णवी अभिधान प्रयुक्त किये हैं। इन समस्त अभिधानों में उन्हें रामगोविन्द और हरि विशेष प्रिय थे। संतों द्वारा भगवान् के इन वैष्णवी नामों के अपनाने को वैष्णव धर्म का ही प्रभाव मानते हैं।

वैष्णव धर्म का आधारभूत तत्व सदाचार है। महाभारत भागवतगीता तथा अन्य पुराण ग्रंथों में सर्वत्र सदाचार की महिमा प्रतिपादित की गई है। सदाचार के लिए संयम बहुत आवश्यक होती है। महाभारत में लिखा है कि जो पुरुष अपने ही सदृश दूसरों को भी समझता है और जिसने क्रोध को जीत लिया है वह परलोक में सुख पाता है।[1] इसी ग्रंथ में एक दूसरे स्थल पर पुनः लिखा गया है कि दूसरों के प्रति ऐसा व्यवहार न करो जो अपने को प्रतिकूल प्रतीत हो। यही सब धर्म और नीतियों का सार है।[2] महाभारत में इन्द्रिय निग्रह पर भी विशेष बल दिया गया है। शान्तिपर्व में एक स्थल पर लिखा है कि इन्द्रिय निग्रह करके धर्म का आचरण करना चाहिए और अपने सदृश ही अन्य प्राणियों के प्रति व्यवहार करना चाहिए।[3] इस प्रकार सदाचार का उपदेश देनेवाली बहुत सी उक्तियाँ गीता में भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित उक्ति ले सकते हैं—काम क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं और ये हमारा नाश करनेवाले हैं अतएव इनका परित्याग कर देना चाहिए।[4] वैष्णव धर्म में अहिंसा को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। महाभारत

---

[1] महाभारत अनु ११३।६

[2] महाभारत अनु० ११३।८

[3] महाभारत शान्ति—१६७।२२

[4] भगवद्गीता—१६।२१

के 'अहिंसा परमो धर्मः'[1] वाले मूल मंत्र से कौन नहीं परिचित है। अहिंसा के साथ साथ क्षमा, दया, शांति आदि गुणों पर भी प्रकाश डाला गया है। उसमें सत्य की महिमा का प्रतिपादन भी अहिंसा के समान ही किया गया है[2]। शान्तिपर्व की 'नास्तिसत्यात् परोधर्मः' वाली उक्ति लोकप्रसिद्ध है[3]। भागवत में सदाचार के महत्त्व का वर्णन यम और नियम के अंतर्गत किया गया है। उसमें यम के १२ भेद माने गये हैं वे क्रमशः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंग, ह्री, असंचय, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य, क्षमा, अभय हैं[4]। नियम के भी १२ भेद बताये गये हैं यथा शौचबाह्य, शौच आभ्यन्तर, जप, तप, होम, श्रद्धा, आतिथ्य, भगवद् अर्चन, तीर्थाटन, परार्थचेष्टा, आचार्य सेवा और संतोष[5]। इस प्रकार वैष्णव धर्म के ग्रंथों में सर्वत्र सदाचार के तत्त्वों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

निर्गुण काव्यधारा पर वैष्णव सिद्धान्तों के प्रभाव

वैष्णव धर्म की सदाचारप्रियता का संतों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था।[6] सात्विकता और सदाचारप्रियता उनकी विचारधारा में भावरूप से प्रतिष्ठित दिखाई पड़ती है। सच तो यह है कि संत मत की मूलभूत विशेषता ही यही है। संत दादू ने निम्नलिखित पंक्तियों में आरम्भ से संत मत की इस मूलभूत विशेषता का इस प्रकार संकेत किया है[7]—

निर्मल तन मन आतमा निर्मल मनसा सार।
निर्मल प्राणी पंच करि दादू लंघे पार॥

इस निर्मलता और सात्विकता की अभिव्यक्ति संतों ने विविध सद्गुणों के आचरण पर बल देकर भी की है। जिन सद्गुणों पर उन्होंने विशेष बल दिया है वे क्रमशः शील, क्षमा, संतोष, धैर्य, दीनता, दया, शौच, विचार, विवेक, सत्य, अहिंसा, साधुसेवा आदि हैं। इनका यथास्थान उनकी बानियों में अनेक उपदेश मिलते हैं। इनमें भी उन्होंने सबसे अधिक महत्त्व सदाचरण, अहिंसा और साधुसेवा को दिया है। इनमें भी अहिंसा पर विशेष बल दिया गया है। संत मलूकदास अहिंसा के महत्त्व की ओर संकेत करते हुए

[1] महाभारत ११।११
[2] महाभारत वन पर्व २०८।१८
[3] महाभारत शान्ति पर्व १६२।२४
[4] श्रीमद्भागवत—११।१९।३३
[5] श्रीमद्भागवत—११।१९।३४
[6] इस प्रकार लिखा जाता है।
[7] दादूबानी भाग १ पृ० ४

लिखते हैं कि जो जीवहत्या करता है वह करोड़ों कसाइयों के सदृश होता है[1]। जीव हिंसा के कारण ही वह मछली मांस आदि खाने को भी पाप समझते थे। इनको खाने वाले मानव के लिए नरक के अतिरिक्त और कहीं स्थान ही नहीं मिल सकता। यही बात संत दरिया ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त की है[2]—

मांस मछरि आतम को खाई अंतकाल को जमपुर जाई।

जहाँ तक साधुसेवा की बात है उस पर भी संतों ने कम बल नहीं दिया है। वह साधु चरणों की सेवा को करोड़ों तीर्थाटन के फल के सदृश समझते थे। संत दरिया ने इसी को इस प्रकार व्यक्त किया[3] है।

कोटिन तीरथ साधुन के चरना।

वास्तव में संत लोग वैष्णव धर्म की सदाचारप्रियता और सात्विकता से बहुत अधिक प्रभावित थे।

— वैष्णवधर्म में जन्मान्तरवाद का सिद्धांत भी मान्य है। वास्तव में यह जन्मवाद ही मानव दुख का कारण है। इस दुख से मुक्ति पाने का एक ही उपाय है वह है भगवत-शरण अथवा प्रपत्ति[4] सहजोबाई ने लिखा है[5] जनम जनम छूटे नहीं बिना *सरन भगवंत। प्रपत्ति वैष्णव धर्म का आधारभूत सिद्धांत माना* जाता है। इस दृष्टि से भी हम संतों को वैष्णव धर्म से प्रभावित मानते हैं। वैष्णव धर्म में सबसे अधिक महत्व भक्ति को दिया गया है। नारद[6] ने सा तु अस्मिन परम प्रेम रूपा कहकर वैष्णव भक्ति की परम प्रेमरूपता पर विशेष बल दिया है। वह इस भक्ति को ज्ञान योगादि साधनों से भी अधिक श्रेयस्कर मानते थे। संतों ने वैष्णव धर्म के अनुकरण पर भक्ति को अन्य साधनों की अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। और उसकी प्रेम प्रधानता और भाव-विशिष्टता पर विशेष बल दिया है। भक्ति को सब साधनों से श्रेष्ठ ठहराते हुए संत सहजोबाई ने लिखा है[7]।

---

[1] जारि कसाई दुष्ट है जो आतम मारि।
मलूकदास की बानी पृ० ८

[2] दरियासागर पृ ४९

[3] दरिया सागर पृ० २४

[4] श्री मद्भागवत ११।१।२२

[5] सहजोबाई पृ० ३२

[6] नारद भक्तिसूत्र सूत्र २

[7] सहजोबाई की बानी पृ० ३९

बिना भक्ति थोथे सभी जोग जुक्ति आचार

प्रेम भगति और भावभगति का उपदेश सभी संतों ने अपनी रचनाओं में सर्वत्र दिया है। संत यारीसाहब कहते हैं[1]।

निसि दिन प्रेम भगति कर लीजै।

इसी प्रकार कबीर ने कहा है 'भाव भगत बिन हरि न अराधा, बिषय मदन की मिटी न बाधा[2]' इसी प्रकार अन्य संतों ने भी भाव भगति और प्रेम भगति के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। संतों ने वैष्णवों की प्रेम भगति को केवल स्थूलरूप से ही नहीं लिया है वरन् उन्होंने उसको समस्त विशेषताओं, सूक्ष्मताओं और अंगों के साथ अपनाने की चेष्टा की है। भक्ति विवेचन के प्रसंग में इन प्रभावों का और अधिक सूक्ष्म संकेत किया गया है। यहाँ पर हम केवल इसी बात पर बल देना चाहते हैं कि वैष्णवों की सदाचरणप्रियता और प्रेम भगति ने संतों को अत्यधिक प्रभावित किया है। उन्होंने इन दोनों तत्त्वों को अपनी विचारधारा का प्रधान अंग बनाया है। दादू लिखते हैं।

सहजशील सन्तोष सत प्रेम भगति ले सार[3]।

निर्गुण काव्यधारा और योगवशिष्ठ दर्शन

योगवशिष्ठ दर्शन के प्रमुख सिद्धांत—दार्शनिक ग्रंथों में योग वशिष्ठ का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है।[4] उसका दृश्यमात्रवाद का सिद्धांत भारतीय दर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। मध्यकालीन भारतीय विचारधारा इस सिद्धांत से बहुत अधिक प्रभावित हुई है। यों तो इस सिद्धांत का बीजारोपण ऐतरेय उपनिषद्[5] में ही मिलता है किन्तु उसके अंकुर बौद्ध महायान धर्म की विविध शाखाओं[6] तथा भर्तृहरि[7] सुरेश्वराचार्य[8] आदि वेदान्तियों की रचनाओं में प्रस्फुटित हुए।

---

[1] यारी साहब की रत्नावली पृ० १२

[2] कबीर ग्रन्थावली पृ० २४४ पंक्ति ५

[3] दादू बानी भाग १ पृ० ६५

[4] डा० राधाकृष्णन इन हिज फार वर्ड आफ दी फिलासफी आफ दी योगवशिष्ठ। पृ० ११५

[5] देखिए—एक मेव ब्रह्म—प्रज्ञानं ब्रह्म। ऐतरेयोपनिषद् ३।३

[6] देखिए आउटलाइन्स आफ महायान बुद्धिज्म—पृ० ६६ सुजुकी कृत।

[7] वाक्य पदीय ३।७

[8] देखिए मानसोल्लास १।१८

योगवशिष्ठ में आकर वे ही अंकुर वृक्षाकार में परिणत हो गये। शंकर का मायावाद योगवशिष्ठ के कल्पनावादरूपी वृक्ष का ही फल है। भारत का अधिकांश धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्र इसी कल्पनावादरूपी वृक्ष की छाया से आच्छादित है। संत कवि तो पूर्णरूप से उसी की छाया में विश्राम करते हुए प्रतीत होते हैं।

योगवशिष्ठ में जिस कल्पनावाद का प्रतिपादन किया गया है उसको सब नहीं समझ सकते। उस सिद्धांत के समझने का वही अधिकारी है जो अपने को मायावाद के जाल से मुक्त करने का निश्चय कर चुका है।[1] योगवशिष्ठ में अधिकारी की विशेषताओं का उल्लेख बड़े विस्तार से किया गया है। उसके वैराग्य प्रकरण में केवल इसी विषय का विवेचन हुआ है। इस प्रकरण में आचार्य ने राम की मानसिक दशा के चित्रण के बहाने अधिकारी का स्वरूप निर्धारित कर दिया है।[2] संत कवियों की आलोचना करने पर हमें स्पष्ट अनुभव होता है कि साधना के प्रारम्भ में लगभग सभी की वही अवस्था रही है जैसी कि योगवशिष्ठ में रामचन्द्र जी की चित्रित की गई है।

योगवशिष्ठ के अनुसार वही साधक अध्यात्म क्षेत्र में अग्रसर हो सकता है जो इस नश्वर संसार से ऊब उठा है जिसकी आत्मा इस लोक की ग्लानि वेदना का सहन करते-करते किसी दूसरे लोक की खोज के लिए व्याकुल हो उठी है।[3] योगवशिष्ठ में साधक की उपर्युक्त मानसिक अवस्था के कारणों तथा उसके दूर करने के उपायों का भी संकेत किया गया है। इस प्रकार की मानसिक अवस्था के उदय का मूल कारण वासना, तृष्णा, राग[4] और अज्ञान कहा गया है।[5] वासना राग और तृष्णा तथा ज्ञान से अज्ञान का निराकरण करके ही साधक दुखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। और निर्वाण नामक परमसुख को, जिसे प्राप्त कर पुनर्जन्म नहीं होता लाभ करता[6]

---

१ नाहं बद्धो विमुक्तः स्यामिति यस्यास्ति निश्चयः।
नात्यन्तमज्ञो नो तज्ज्ञः सोऽस्मिञ्छास्त्रेऽधिकारवान्। यो० व० १।२

२ देखिए दी फिलासफी आफ दी योगवशिष्ठ बी० एल० आत्रेय पृ० ५५०-६०

३ फिलासफी आफ योगवशिष्ठ—पृ० ५५४ और पाश्चात्य विद्वान् दार्शनिक कूजे के विचार भी ऐसे ही हैं। देखिए इन्ट्रोडक्शन टु फिलासफी पृ० १५५

४ योगवशिष्ठ—२।१२।१४। फिलासफी आफ योगवशिष्ठ पृ० २२४

५ योगवशिष्ठ—५-६-८८-९०—फिलासफी आफ योगवशिष्ठ पृ० १२५ से उद्धृत

६ संसारतरणे सम्यगुपायो ज्ञानमेव हि।
तपो दानं तथा तीर्थमनुपायाः प्रकीर्तिताः॥
निर्वाणं नाम परमसुखं येन पुनर्जन्म।
न जायते न म्रियते तज्ज्ञानादेव लभ्यते॥ दी फिलासफी आफ योग वशिष्ठ पृ० १२ से उद्धृत

है। ज्ञान का श्रेष्ठतम रूप आत्मज्ञान कहा गया है। इस आत्मज्ञान[1] की प्राप्ति साधना से संभव है। जो लोग दैव से उसकी याचना करते हैं उन्हें कभी प्राप्त नहीं होता। आत्मज्ञान की कामना रखनेवाले को एक विशिष्ट प्रकार के साधना मार्ग से गुजरना पड़ता है। इसका उल्लेख हम आगे करेंगे। यहाँ पर हम पहले ज्ञानवाद के प्रामाणिक पक्ष का संकेत कर देना चाहते हैं।

अभी हम ऊपर योगवासिष्ठ के अनुसार आत्मज्ञान लाभ को ही साधक का परम लक्ष्य बतला चुके हैं। इस आत्मज्ञान के प्रमाणों के विवेचन सम्बन्ध में भारतीय दर्शन की विविध शाखाओं में विविध मतवाद प्रचलित हैं। भौतिक चार्वाक प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण मानते हैं। बौद्धों ने प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान को भी प्रमाण माना है। सांख्य में प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त एक तीसरा प्रमाण शब्द माना गया है। नैयायिक लोग उपमान नामक एक चौथे प्रमाण को भी स्वीकार करते हैं। प्रभाकर मतावलम्बी मीमांसकों ने अर्थापत्ति नामक एक पाँचवें प्रमाण की कल्पना की है। भट्ट लोग अनुपलब्धि नामक एक छठा प्रमाण मानते हैं। शंकराचार्य इन छहों प्रमाणों में विश्वास करते थे। इन छः के अतिरिक्त प्रमाणों की संख्या निश्चित नहीं मानी गई और ऐतिह्य और परिशेष नामक कई नए प्रमाण कल्पित किए गए। योगवासिष्ठ में इन प्रमाणों में से किसी की भी चर्चा नहीं मिलती। उनमें सबसे अधिक महत्त्व प्रत्यक्ष[2] और अनुभव[3] को दिया गया है। किन्तु यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि योगवासिष्ठ का प्रत्यक्ष चार्वाकों के प्रत्यक्ष से सर्वथा भिन्न अर्थ रखता है। उनका प्रत्यक्ष बुद्धिवादी है। उसके अर्थ को स्पष्ट करते हुए योगवासिष्ठकार[4] ने लिखा है कि यह सब प्रमाणों का सार रूप है सब प्रकार के ज्ञान वेदना, अनुभूति, प्रतिपत्ति और संविद् का अपरनाम है। वही जीव है वही प्रत्यक्ष रूप है,

---

[1] ज्ञानं ज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु
तानि ज्ञानावभासानि सारस्यानवबोधनात्—फिलासफी आफ योगवासिष्ठ पृ० १२१।

[2] दे० फिलासफी आफ योगवासिष्ठ—पृ० १४४ प्रमाणपरम ... में प्रत्यक्ष नाम प्रमाण ३।१४२।१४।

[3] अनुभूतिं विना तत्त्वं नानाशास्त्रैरपि भूयते।
अनुभूतिं विना रूपं नाममात्रानुभूयते॥ यो० वा० ५।१६।१४३।

[4] सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव
एकं प्रत्यक्षमेवेह तत्प्रत्यक्षं प्रत्यक्षम्। फिलासफी आफ योगवासिष्ठ पृ० १४५
बी० एल० आत्रेय जी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

यही प्रमाण रूप है, यही अर्थ रूप है। इस प्रकार योगवशिष्ठ का प्रस्थान एक विशेष महत्त्वशाली प्रमाण कहा जा सकता है।

अब हम कल्पनावाद के मूल सिद्धांत पर आते हैं। योगवशिष्ठ में ब्रह्म को केवल बोधमात्र[1] या चिन्मात्र कहा गया है। ब्रह्म की चिन्मात्रता के प्रकाश में ही महर्षि वशिष्ठ ने कल्पनावाद का सिद्धांत स्पष्ट किया है। वशिष्ठ जी सारे संसार को कल्पनामात्र मानते थे।[2] वे उसका वास्तविक अस्तित्व स्वीकार नहीं करते थे।[3] उनके मतानुसार संसार मन में ही उत्पन्न होता है और उसी में निवास करता है।[4] मन की प्रक्रिया ही दोनों तत्त्वों को जन्म देती है।[5] सारा विश्व मन का ही विस्तार है। यह एक दीर्घ और महास्वप्नमात्र है।[6] देश काल द्रव्य सम्पत्ति सब कुछ[7] मन की भावना में ही निवास करते हैं। जिस तरह से स्वप्न जगत् व्यक्ति-विशेष की भावना और कल्पना से निर्मित होता है उसी प्रकार यह बाह्य जगत् भी भावना या कल्पना विनिर्मित है।[8] संसार की समस्त वस्तुएँ ठीक उसी प्रकार चित्त का विविध रूप कही जा सकती हैं जिस प्रकार धारा जलकण, ऊर्मि और फेन आदि जल का ही विविध रूप होते हैं।[9] संक्षेप में इस जगत् के सम्बन्ध में वशिष्ठ जी का यही मत है।

वशिष्ठ जी कल्पनावादी होते हुए नियतिवादी भी थे। यहाँ पर हम उनके नियतिवाद पर भी कुछ प्रकाश डाल देना चाहते हैं क्योंकि उनके नियतिवाद का प्रभाव संत कवियों पर भी दिखाई पड़ता है। वशिष्ठ जी का कहना था कि नियति अपरिवर्तनीय होती है। किंतु उसके रूप का स्पष्टीकरण मन के द्वारा होता है। अतएव संस्कार के अनुरूप ही नियति होती है।[1] *संस्कार को परिवर्तित करना सरल नहीं है* उसके लिए कठिन साधना की आवश्यकता होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कठिन

---

[1] दी फिलासफी आफ योगवशिष्ठ पृ० १५० और १५१

[2] *'समस्त कल्पना मात्रमिदम्'* फिलासफी आफ यो० व० पृ० १५५

[3] *'विश्व मास्त्येव मनागपि'* फिलासफी आफ योगवशिष्ठ पृ० १५५

[4] *मनसीदं जगत्कृत्स्नं—'स्फार स्फुरति चासित च।'* यो० व० ४, ४, ११

[5] मनोविजृम्भणमिदं संसार इति संमतम् यो० व० ४, ११, २१

[6] *जगद् दीर्घ महास्वप्नः सो प्यमत्र समुत्थित*—दी फिलासफी आफ यो० व० पृ० १५६

[7] दी फिलासफी आफ योगवशिष्ठ पृ० ५५५

[8] दी फिलासफी आफ योगवशिष्ठ पृ० ५५५

[9] दी फिलासफी आफ योगवशिष्ठ पृ० ५५५

[1] योगवशिष्ठ—३।६२।८ ३।६२।३६

साधना के अभाव में नियति का रूप नियत और स्थिर ही रहेगा। संकल्प साधना पर इसीलिए वशिष्ठ जी ने अत्यधिक भार दिया है। उनके अनुसार मन या चित्त[1] सर्व शक्तिमान है और उसमें[2] सब कुछ करने की क्षमता रहती है। जैसी वह कल्पना करता है उसके अनुरूप बाह्य क्रिया व्यापार चलता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि योगवशिष्ठ के अनुसार मन की भावना[3] या संकल्प ही सब बातों का मूल है। उन्होंने भावना को बहुत अधिक महत्व दिया है।

योगवशिष्ठ में साधना मार्ग के रूप में कुण्डल कुण्डलनी योग तथा ज्ञान मार्ग[4] की चर्चा की गई है किन्तु उनमें भी सबसे अधिक बल भावना के परिष्कार, बुद्धि की शुद्धता और मन की पवित्रता पर दिया गया है।

योगवशिष्ठ में कई स्थलों पर शून्य की विवेचना भी की गई है। ब्रह्म का विवेचन करते हुए एक स्थल पर लिखा है कि ब्रह्म का रूप शून्य नहीं कह सकते हैं क्योंकि ब्रह्म में सारे विश्व की स्थिति उसी में होती है किन्तु फिर भी वह शून्य रूप कहा जाता है। शून्य का अर्थ ऐसे स्थलों पर आकाश से लिया गया है। शून्य इसलिए कहते हैं कि यह राग और विराग आदि स्वरूपों से परे है। इस प्रकार हम देखते हैं कि परमात्मा के लिए शून्य का प्रयोग योगवशिष्ठ के समय से ही किया जाने लगा था। निर्गुणियाँ कवियों ने इसी के अनुकरण पर ब्रह्म के लिए शून्य का प्रयोग किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि योगवशिष्ठ का बुद्धिवादी कल्पनावाद कोरी कल्पना मात्र नहीं है। इसमें सदाचार और योग की गहरी पुट दी गई है जिससे वह पूर्ण व्यावहारिक भी प्रतीत होने लगा है।

निर्गुण काव्यधारा पर योगवशिष्ठ दर्शन की छाया

संतों पर योगवशिष्ठ दर्शन के निम्नलिखित सिद्धान्तों की छाया दिखाई पड़ती है। १—चित्त के शमन का विचार। २—वासना का निराकरण। ३—कल्पनावाद। ४—नियतिवाद। ५—भावनावाद। ६—शून्यवाद। ७—ज्ञानवाद।

संतों ने अपनी रचनाओं में चित्त के शमन पर विशेष बल दिया है। संत पलटू ने लिखा है कि चित्त का सुधार बहुत सोच-विचारकर करना चाहिए। बिना

---

[1] दी फिलासफी आफ योगवाशिष्ठ पृ० २३९

[2] दी फिलासफी आफ योगवाशिष्ठ पृ० २६६

[3] दी फिलासफी आफ योगवाशिष्ठ पृ० २२४

[4] दी फिलासफी आफ योगवाशिष्ठ पृ० ११०

सोचे-विचारे शिष्य बना लेने से गुरु पर बहुत भार पड़ जाता है[1]। संत लोग वासना की भयंकरता से भी परिचित थे। उन्होंने इसीलिए सर्वत्र उसके त्याग का उपदेश दिया है। दादू ने स्पष्ट लिखा है—साधु को चाहिए कि वासनाओं का परित्याग करके सहज सत्याचरण के मार्ग में प्रवृत्त हो[2]। सहजोबाई तो लोक-परलोक की वासना से रहित साधु को साक्षात् ब्रह्म ही मानती थी[3]। कल्पनावाद भी संतों का प्रिय सिद्धांत है। संत सुन्दरदास ने उसकी अभिव्यक्ति बड़े सुन्दर ढङ्ग से की है। वे लिखते हैं कि मन[4] के ही भ्रम से यह संसार दिखाई पड़ता है। मन के भ्रम विहीन हो जाने पर यह विलुप्त हो जाता है। कर्ममार्ग से उदासीन संतों को नियतिवाद का सिद्धांत भी प्रिय लगता है[5]। दादू की दृढ़ धारणा थी कि भगवान् ने जो रच दिया है वह सहज भाव से स्वयं ही होगा, उसके लिए दुखी होना व्यर्थ है। संत चरनदास ने भी लिखा है कि जो होनहार है वह होकर रहेगा कोई उसको मेट नहीं सकता[6]। भावनावाद की झाँकी भी संतों में दिखाई पड़ती है। संत सुन्दरदास ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि मनुष्य की दृष्टि वैसी ही होती है जैसा उसका भाव होता है। सच तो यह है कि मनुष्य का व्यक्तित्व ही वैसा होता है जैसा भाव होता है[7]। शून्यवाद और ज्ञानवाद के प्रति भी संतों की अटूट आस्था थी। हाँ इन पर योगवाशिष्ठ के वास्तविक शून्यवाद का प्रभाव दादू के इन शब्दों में अनुमानित किया जा सकता है—मानव शून्य से ही प्रादुर्भूत होता है और अन्त में शून्य में ही वह लय को प्राप्त हो जाता है। उस चेतन शून्य की प्राप्ति सुरति के सहारे लय योग के द्वारा ही जाननी

---

[1] दादू शिष्य जो कीजिए सोचि बूझि विचार
बिन बूझे शिष्य करोगे परि है तुम पै भार ॥ दादू दयाल की बानी भाग १, पृ ६०

[2] काम तजै सहजै रहै और सत्य विचारे ॥ संत सुधासार पृ० ४४४

[3] इहलोक परलोक की नहीं वासना जाहि।
सो यह ब्रह्म स्वरूप है सागर जहाँ समाय ॥ सहजोबाई की बानी पृ० २२

[4] मन के ही भ्रम तें जगत यह देखियत
मन ही के भ्रम गए जगत यह विलात है ॥ सुन्दरविलास पृ० १४८

[5] दादू सहजै सहजै होयगा जे कुछ रचिया राम।
काहे कूं कलपै मरै दुखी होत बेकाम ॥ संत सुधासार पृ ४८८

[6] होत सोई जो होनहार है कापै मेटी जात। चरनदास भाग २ पृ [illegible]

[7] (क) जैसोई आपनो भाव है सुंदर तैसो ही दृग व्यापि के बीसो सुंदरविलास पृ १२१
(ख) सुन्दर जैसोइ भाव है आपनो
तैसोइ होय गया यह प्रानी ॥ सुंदरविलास पृ० १२२

चाहिए[1]। इसी प्रकार सुन्दरदास[2] के निम्नलिखित शब्दों में ज्ञानवाद की पूर्ण सौरभ दिखाई पड़ती है। समुद्र के सदृश अनन्त एवं गम्भीर ज्ञान की महिमा का वर्णन कोई नहीं कर सकता। यह अमृत का समुद्र होता है। उसे लवण के सदृश खारा नहीं समझना चाहिए। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि संतों पर योगवशिष्ठ दर्शन का भी प्रभाव पड़ा था।

षड्दर्शन और संतकवि

भारतीय दर्शन क्षेत्र में षड्दर्शनों की बड़ी प्रतिष्ठा है। षड्दर्शनों के नाम क्रमशः योग वेदान्त मीमांसा न्याय और वैशेषिक हैं। मध्ययुग में ये दर्शन पद्धतियाँ पंडितों का वाग्विलास मात्र थीं। सामान्य जनता में इनका प्रचार न था। इनमें भी सबसे अधिक प्रतिष्ठा वेदान्त की थी। विविध परम प्रतिभा सम्पन्न आचार्यों की विवेचना का विषय होने के कारण दृष्टिकोण भेद से इसकी भी कई शाखाएँ प्रशाखाएँ प्रस्फुटित हुईं। इनमें अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत विचार उल्लेखनीय हैं। अद्वैत भी कई प्रकार के हैं। सत्याद्वैत, ब्रह्माद्वैत, विज्ञानाद्वैत, शिवाद्वैत आदि। केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैतवाद आदि सत्याद्वैत के भेद माने गए हैं। अद्वैत के भी अजातवाद और मायावाद दो प्रमुख भेद होते हैं। केवला भेदाभेदों का उदय और विकास मध्ययुग में हुआ था। वेदान्त के इन समस्त इन विविध पद्धतियों के सम्यक विकास और प्रचार के आगे सांख्ययोग, मीमांसा, न्याय वैशेषिक आदि प्राचीन दर्शन पद्धतियाँ शिथिल पड़ गई थीं। संतों को रूढ़िवादी इन षड्दर्शन पद्धतियों से विशेष घृणा थी।[3] इसीलिए उन्होंने सर्वत्र उनकी निन्दा की है। उनकी इन सिद्धान्तपरक उक्तियों से स्पष्ट प्रकट है कि उन्होंने षड्दर्शन में किसी को भी शास्त्र से समझने की चेष्टा नहीं की थी। उनकी विचारधारा पर वेदान्त के अतिरिक्त षड्दर्शनों में से और किसी भी दर्शन पद्धति का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई भी नहीं पड़ते। कुछ आलोचकों ने संतों के सृष्टि विकास क्रम पर सांख्य का प्रभाव दिखाने की चेष्टा की है। किन्तु मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। मेरी दृढ़ धारणा है कि संतों का सृष्टि विकास क्रम भी वेदान्ती है। शंकराचार्य ने सांख्य और वेदान्त के अंतर का स्पष्ट करते हुए

---

[1] मूरति माया आइया मूरति माया आप।
केवल देखत मुक्ति का दादू बहु न्यौ व्याप॥ संत सुधासार पृ० ४१६

[2] सुन्दर ज्ञान समुद्र की महिमा कहिए कौन।
अमृत रस से है भरो तुम बिन जानै कौन। संत सुधासार पृ० ५८१

[3] सुन्दर ब्रह्म चराचर माहिं भया भार
जाके अनुभव ज्ञान कहुँ मैं न बरना है। सुन्दरविलास पृ० १९१

लिखा है—'प्रकृति और पुरुष के परे इस जगत् का परमार्थ रूपी एक ही मूल तत्त्व है और उसी प्रकृति पुरुष आदि से सब सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। सांख्य शास्त्र के शेष सिद्धांत हमें मान्य हैं।'[1] शंकराचार्य कृत सांख्य और वेदान्त के इस विभाजन रेखा से संत लोग पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने अपना रुझान स्पष्ट रूप से वेदांत की ओर इंगित किया है। संत सुन्दरदास ने ब्रह्म ते पुरुष और प्रकृति प्रगट भए लिखकर[2] वेदांत के प्रति ही अपनी आस्था प्रगट की है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि संतों की विचारधारा पर वेदांत के अतिरिक्त षड्दर्शनों[3] में से किसी का भी कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं पड़ा है। अतएव यहाँ पर उनका विवेचन नहीं किया जा रहा है। वेदांत की भी केवल अद्वैतवादी पद्धति ही ने उन्हें प्रेरणा प्रदान की थी। अद्वैतवाद की दो शाखाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं गौड़पाद का अजातवाद और शंकर का मायावाद। वे इन दोनों से प्रभावित हुए थे। इनके अतिरिक्त शब्दाद्वैतवाद और शिवाद्वैत का भी उनपर पूरा-पूरा प्रभाव है। विज्ञानाद्वैत की हलकी छाया भी ढूँढी जा सकती है। आगे इन प्रभावों का उल्लेख किया जा रहा है।

श्रीमद्भगवद्गीता और संत कवि

श्रीमद्भगवद्गीता हिंदू धर्म और दर्शन का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। भारत का चप्पा चप्पा उसकी विचारधारा से प्रभावित है। संत लोग भी इसी भारत भूमि में अवतरित हुए थे। अतएव उपनिषदों के बाद सब से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ से उनकी विचारधारा का प्रभावित होना स्वाभाविक था।

निष्काम योग—गीता में सबसे अधिक महत्त्व निष्काम योग को दिया गया है। भगवान् का स्पष्ट आदेश है कि 'मानवों को केवल कर्म करने मात्र का

---

[1] वेदान्त सूत्र भाष्य—२।१।१

[2] सुन्दरविलास—पृ० ११०

[3] षड्दर्शन की पं० परशुराम चतुर्वेदी जी ने एक अत्यंत मौलिक और नवीन व्याख्या की है। यहाँ पर उसे अविकल उद्धृत कर देना अनुपयुक्त न होगा। वह इस प्रकार है—'षड्दर्शन शब्द का अर्थ यहाँ कदाचित् कोई भेष या सम्प्रदाय है जिसे प्रधानतः छः रूपों की परम्परा कबीर साहब के पीछे तक चली आई है। उदाहरण के लिए संत दादूदयाल सं० (१६०१—१६६०) ने भेष की चर्चा की अपनी एक साखी में इसका प्रयोग सम्भवतः इसी अर्थ में किया है और छः दरसनों के नाम भी दिये हैं। वे कहते हैं—
जोगी जंगम सेवड़े बौध सन्यासी सेख।
षट दरसन दादू राम बिन सबै कपट के भेख॥' कबीर साहित्य की परख पृ० ४१

अधिकार है। फल ईश्वराधीन रहता है। ऐसी अवस्था में फल की अनिच्छा रखते हुए ही साधना मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिए।'[1] गीता के इस निष्काम योग का प्रभाव संतों पर प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। संत चरनदास[2] ने लिखा है कि हमारे गुरु सुखदेव जी ने जिनके चरणों के हम सेवक हैं, हमें निष्काम साधना का ही उपदेश दिया है।

समत्व योग—गीता का दूसरा प्राणभूत सिद्धान्त समत्व योग है। इस समत्व योग का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने लिखा है कि सिद्धि और असिद्धि पर सम दृष्टि रखना ही समत्व योग कहलाता है।[3] उनके मतानुसार वही धीर पुरुष अमृतत्व को प्राप्त करता है जो समत्व योग का आचरण करते हुए दुःख-सुख को समान समझता है। इसी समत्व योग के महत्त्व को व्यक्त करते हुए भगवान् कृष्ण[4] ने अर्जुन से कहा था कि अर्जुन तुम दुःख सुख, हानि-लाभ, जय-पराजय को समान समझते हुए युद्ध करो। तुम किसी पाप के भागी नहीं बनोगे। गीता के समत्व योग का प्रभाव संतों पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। संत पलटू[5] साहब ने लिखा है—उस महात्मा के दर्शनों

---

[1] कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। गीता २।४७

[2] कहैं गुरु सुखदेव जी चरनदास गुलाम।
ऐसी साधन चाहिए रहिए निष्काम॥
चरनदास की बानी भाग २ पृ० ३९

[3] सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते २।४८

[4] सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
गीता २ श्लोक ३८

[5] काम क्रोध जिनके नहीं लोभ न भूख पियास।
लोभ न भूख पियास रहै निरगुन से न्यारा॥
काम मार हथियार बीट की गरदन मारा।
शत्रु मित्र सब एक-सम है राजा रंका।
दुःख-सुख जीवन मरन तनिक व्यापै ना शंका॥
कंचन काँटा एक सम है नारी पाना।
अस्तुति निन्दा एक सम है मान दुलारा॥
पलटू उनके हाथ से होय पाप का नास।
काम क्रोध जिनके नहीं लोभ न भूख पियास॥
पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० १४

से पाप नष्ट हो जाते हैं जो समत्व योग का आचरण करते हुए शत्रु-मित्र, राजा-रंक, दुःख-सुख, जीवन-मरण लोष्ठकांचन स्तुति निंदा आदि सभी द्वंद्वों को समान भाव से देखता है। ऐसे महात्माओं को भूख-प्यास और काम-क्रोध अभिभूत नहीं कर पाते हैं। ऐसे लोग त्रिगुणातीत कहे जाते हैं। गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ की अवस्था भी लगभग ऐसी ही होती है।

इन्द्रिय जय और प्रपत्ति—गीता में इन्द्रिय संयम पर भी विशेष बल दिया गया है। इन्द्रियों पर बिना विजय प्राप्त किये कोई भी साधक बुद्धि और मन को केन्द्रित नहीं कर सकता है। भगवान्[1] ने कहा है कि जिस प्रकार कछुआ अपने सब अवयव सिकोड़ लेता है उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को खींच लेता है तभी उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

इन्द्रिय संयम के साथ ही साथ संतों ने गीता की आत्मसमर्पण की भावना को भी अपनाने की चेष्टा की है। संत सुंदर दास[2] ने लिखा है वही सच्चा भक्त है वही सच्चा प्रेम मार्गी है जिसका मन ईश्वर से पल भर के लिए भी अलग नहीं होता। अनन्य आत्मसमर्पण की भावना का विकास प्रपत्तिभाव में देखा जाता है। गीता में भगवान् ने प्रपत्तिभाव[3] का उपदेश बड़े प्रवेग पूर्ण शब्दों में किया है। अठारहवें अध्याय में भगवान अर्जुन से कहते हैं—हे अर्जुन तू मुझमें अपना संपूर्ण मन समर्पण करके मेरा भक्त बन जा। मुझको मेरी ही वंदना और अर्चना करनी चाहिए। तू मुझमें ही लीन हो जायेगा। सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा। गीता के इस प्रपत्तिवाद ने संतों को बहुत अधिक प्रभावित किया था। उनकी वाणी में स्थान-स्थान पर इसकी व्यंजना मिलती है। संत दादू लिखते[4] हैं—

> शरण तुम्हारी आय परे।
> जहाँ तहाँ हम सबि फिरि आए राखि राखि हम दुखित खरे॥

इसी प्रकार सहजोबाई[5] ने भी प्रपत्तिभाव की व्यंजना निम्नलिखित सूक्तियों में की है :—

---

[1] यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
गीता २ श्लोक ५८

[2] चित्त एक ईश्वरसों नेकहु न न्यारो होय
वही भक्ति कहियत वही प्रेममार्ग। सुन्दरविलास पृ १४८

[3] गीता १८ अध्याय ६५, ६६ श्लोक

[4] दादू बानी भाग २ पृ० १०९

[5] संत सुधासार पृ० १६६

शरण तेरी ऐसी आई।
टेक ऐसी गही तुम बिन आन को नाहीं जानूं॥

जीवन में भगवद् अनुग्रह का बड़ा महत्त्व होता है। भगवान का अनुग्रह प्राप्त कर लेने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है। वास्तव में संसार में सब कुछ उसके अनुग्रह और कृपा का परिणाम है। विविध कामनाओं और वासनाओं का परित्याग भी आवश्यक होता है। गीता[1] में भगवान् ने कहा है कि जो निस्पृह होकर जीवन व्यतीत करता है उसी को सच्ची शांति मिलती है। इसी प्रकार उन्होंने तीसरे अध्याय में उनके त्याग की ओर भी संकेत किया है। गीता की इस सदाचारप्रियता ने संतों की सदाचारप्रियता को विशेष बल प्रदान किया था। संत लोग सदाचरण को संतमत का प्राण मानते थे। कबीर ने लिखा[2] है—

निर्बैरी निहकामता साईं सेती नेह।
विषया सूं न्यारा रहै संतन का अंग येह॥ *

इसी प्रकार संत दादू ने भी लिखा है[3]।

कहै दादू माहि अपराध भारी।
हृदय कपट क्यों मिलै मुरारी॥

संत सुन्दरदास[4] तो वासना रहित मनुष्य की वंदना करने तक को तैयार थे।

कामना न काहू जाकी ऐसी मति सदा जाकी।
सुंदर कहत ताहि वंदना हमारी है॥
संत सुधासार खंड १ पृ० ६२७

गीता में भगवान् ने ईश्वर में पूर्ण आत्मसमर्पण का उपदेश दिया है। उन्होंने अर्जुन से कहा है[5]—हे अर्जुन तुम मुझमें अध्यात्म बुद्धि से सब कर्मों का अर्पण और मेरी शरण हो जाओ। उन्होंने नवम[6] अध्याय में तो यहाँ तक कहा है—हे कौन्तेय तू जो करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान करता है, जो तपस्या करता है वह सब कुछ मुझको ही अर्पित कर।

दयाबाई[7] ने इस बात को सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है—

---

[1] गीता द्वितीय अध्याय श्लोक ६८
[2] कबीर ग्रंथावली पृ० ५०
[3] संत सुधासार ४४९
[4] संत सुधासार पृ० ६८३
[5] गीता—अठारहवाँ अध्याय। श्लोक ५०
[6] गीता—९।२७, २८
[7] संत सुधासार पृ० १०८।

योग जग्य जप तप बरत तीरथ नेम अपार।
चार बेद षटशास्त्र सब प्रभु कृपा की लार।।

गीता में भगवान् ने ज्ञान भक्ति और योग की समन्वित साधना को ही मह[त्त्व] दिया है। गीता के इस रहस्य से सन्त लोग भी परिचित थे। उन्होंने ज्ञानभक्ति और योग की त्रिवेणी में अवगाहन किया है[1]। सहजोबाई ने अपने गुरु को भक्ति ज्ञान और योग का सम्राट् कहकर गीता के उपर्युक्त सिद्धांत का ही समर्थ[न] किया है।

अद्वैतवाद—गीता अद्वैतवाद का एक प्रमुख ग्रंथ है। प्रस्थानत्रयी [के] अंतर्गत इसकी भी गणना की जाती है। गीता में भगवान् ने अनेक प्रकार से अद्वै[त] भावना की प्रतिष्ठा की है। वे अद्वैत दृष्टि को ज्ञान की चरम सीमा मानते थे। भगवा[न्] ने कहा है—संसार में ऐसा ज्ञानी दुर्लभ है जो सबको वासुदेव रूप देखता है[2] गीता में और भी कई स्थलों पर अद्वैतवाद की अभिव्यक्ति मिलती है। संत लोग गी[ता] के अद्वैतवाद से अत्यधिक प्रभावित थे। संतों की दर्शन-पद्धति के सम्बन्ध में हम इ[स] प्रभाव को अधिक स्पष्ट रूप से दिखलावेंगे।

अध्यात्म—गीता के अध्यात्म चिंतन का प्रभाव भी संतों पर पड़ा था। उनके आध्यात्मिक विचारों का विश्लेषण करते समय उन प्रभावों का संकेत कि[या] जायेगा। यहाँ पर इतना ही कहना चाहते हैं कि गीता के मूल सिद्धांतों ने संतों [की] विचारधारा के स्वरूप को सँवारने की चेष्टा की थी।

निर्गुण काव्यधारा में शब्दाद्वैतवाद के सिद्धान्तों की अवतारणा

वैयाकरण के प्रसंग में विद्वान् लोग प्रायः इसका भी उल्लेख करते हैं। प्रणववाद, स्फोटवाद, शब्दवाद[3], व्याकरण दर्शन आदि सभी शब्द इसी दर्शन [के] पर्यायवाची माने जाते हैं। इस दर्शन के बीजाणु ऋग्वेद में मिलते हैं किन्तु इसका सांग प्रकार शास्त्रीय स्वरूप हमें सर्वप्रथम पतंजलि[4] के महाभाष्य में मिलता है। ए[...]

---

[1] भक्ति ज्ञान जोग के राजा, सहजो के सब गुरु ही काजा। सहजोबाई की बा[नी] पृ० २।

[2] वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः गीता अध्याय ७ श्लोक १९।

[3] इस दर्शन का वर्णन निम्नलिखित स्थलों पर देखिए—
क—बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन पृ० ५९८।
ख—पाणिनीय दर्शन सर्वदर्शन संग्रह वासुदेव शास्त्री—(G O S) पृ० १८८-२१०

[4] कल्याण का वेदांताङ्क पृ० २००

शताब्दी में होनेवाले आचार्य भर्तृहरि[1] ने अपने वाक्यपदीय नामक ग्रंथ में इसी दर्शन का विस्तार से प्रतिपादन किया है। सत्रहवीं शताब्दी के नागेश भट्ट ने मंजूषा में भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। इनमें सबसे अधिक प्रामाणिक विवेचन भर्तृहरि का माना जाता है। इस दर्शन के अनुसार स्फोटरूप शब्द ही एकमात्र अद्वैत तत्त्व है। यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी अद्वैत तत्त्व का विवर्त है। इस शब्द के चार स्वरूप माने गये हैं। परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी। इनमें पश्यन्ति रूप पर ब्रह्म स्वरूप कहा गया है। यह चैतन्य और अद्वैत तत्त्व है। शब्द का जब वह पश्यन्ति स्वरूप शब्दों के अर्थ को व्यक्त करने लगता है तब उसे मध्यमा का अभिधान दिया जाता है। इन्द्रियों के सम्पर्क से प्राण में जिस शब्द का उदय होता है उसी को वैखरी कहा जाता है। बाहरी अर्थ की व्यंजना करनेवाली ध्वनि यही है।[2] ऋग्वेद में इन चारों का वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखा है—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

अर्थात् ये चार का पद, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी हैं। इनमें से परा मूलाधार में है, पश्यन्ती नाभि में, मध्यमा हृदयाकाश में और जो हम सुनते अथवा बोलते हैं वह वैखरी में है। प्रथम तीन तो अति सूक्ष्म शक्तिवाले योगियों को ही मालूम हैं। जिस किसी को वाक् दर्शन देना चाहती है वही उसको जान सकता है। इस शब्द वाद की प्रतिष्ठा उपासना के रूप में पातञ्जलि के योग दर्शन में मिलती है। उसमें[3] 'तस्य वाचकः प्रणवः' कहकर शब्दवाद का प्रणववाद का रूप दे दिया गया है। इस प्रणव के संबंध में कठोपनिषद् में लिखा है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥[4]

अर्थात् ओ ही अक्षर कभी नाश न होनेवाला ब्रह्म है। यही परब्रह्म है। इसके ज्ञान से साधक जो चाहे वह प्राप्त कर सकता है। ओंकार की उपासना का उल्लेख

[1] कल्याण का वेदान्तांक पृ० ९७०
[2] ऋग्वेद—१।१६४।४५
[3] योग सूत्र—१।२७
[4] कठोपनिषद्—१।२।१६

प्रश्नोपनिषद्[1] में किया गया है। उसमें लिखा है कि इसके उच्चारण भेद से ही साधक को विविध प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति होती है। ओंकार की तीन मात्राओं का भिन्न-भिन्न उच्चारण साधक के अभ्यांतर का कारण होता है। यदि उसकी मात्रायें समपाशिक उच्चारण में एक दूसरे से सम्बद्ध करके उच्चरित की जावें और बाह्य आभ्यांतर और मध्यमा क्रियाओं में सम्यक् क्रम से प्रयुक्त हों तो साधक को ध्यान क्रिया में सफलता प्राप्त होती है।

शब्द साधना या प्रणव साधना का मूल-मंत्र क्या है, यह बात मुण्डक श्रुति[2] के निम्नलिखित वाक्यों से प्रकट है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्य मुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

अर्थात् प्रणव धनु है, आत्मा शर है, ब्रह्म लक्ष्य है, साधक का शांत चित्त से ओंकार के द्वारा शब्द ब्रह्म में लीन होना चाहिए। उपर्युक्त श्लोक में प्रणव रूप में ओंकार को और प्रणवतम रूप में शब्द ब्रह्म को ध्वनित किया गया है। अर्थात् दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि ओंकार के सहारे साधक जीव ध्वनि को ब्रह्मध्वनि में लीन कर सकता है। प्रणववादी इस शब्दलय योग का सम्यक् विकास और विस्तार संत मतसिद्ध मत, नाथ पंथ में दिखाई पड़ा। आगे हम उसी का विवेचन करेंगे। शब्दाद्वैत का प्रभाव संतों के साधना पक्ष पर बहुत अधिक पड़ा है। उनका शब्द सुरति योग शब्दाद्वैत से ही सम्बन्धित है। जिस प्रकार शब्दाद्वैत वादियों की साधना प्रणव रूपी धनु और आत्मा रूपी शर से परमात्मा रूपी लक्ष्य को भेदन करने में प्रवृत्त होती है उसी प्रकार संतों का शब्द सुरति योग अजपाजाप रूपी धनुष सुरति रूपी आत्मा को निरति रूपी परमात्मा में लीन करने का लक्ष्य रखता है। शब्दाद्वैत का प्रभाव संतों के अध्यात्मपक्ष पर भी ढूँढा जा सकता है। शब्दाद्वैत वादियों के सदृश ही संतों ने भी शब्द को ही सर्वस्व माना है। संत दादू लिखते[3] हैं कि—

शबद ही सुषिम भया सबदै ही सहज समान।
सबदै ही निर्गुण मिलै सबदै निर्मल ज्ञान॥

शब्द का वर्णन कभी-कभी उन्होंने कहीं-कहीं नाद के अभिधान से भी किया है। संत पलटूदास जी[4] की निम्नलिखित सूक्तियाँ उदाहरण के रूप में दी जा सकती हैं—

---

[1] प्रश्नोपनिषद् ५।२
[2] मुण्डकोपनिषद् २।४
[3] दादू बानी भाग १ पृ० १६६
[4] संत बानी संग्रह भाग १ पृ० १६६

अनहद शब्द अपार दूर सूं दूर है।
चेतन निर्मल शुद्ध देह भरपूर है॥
निःअच्छर है ताहि और निःकर्म है।
परमातम तेहि जानि यही परब्रह्म है॥
या के कीन्हे ध्यान होत है ब्रह्म हीं।
धारे देह अपार आहि सब भर्म हीं॥
या को जाने नाहिं सदा रहे लीन हीं।
यही जो अनहद सार जानि परवीन हीं॥

संतों ने शब्द ब्रह्म की अनुभूति के विविध स्वरों का वर्णन भी किया है। दयाबाई[1] लिखती हैं—

घण्टा ताल मृदंगध्वनि सिंह गरज पुनि होय।
दया सुनत गुरु कृपा तें बिरला साधु कोय॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि संत लोग शब्दाद्वैतवाद से पूर्णतया प्रभावित हुए थे।

गौड़ पादाचार्य का अजातवाद और निर्गुण काव्यधारा

अजातवाद नामक प्रथम दार्शनिक सिद्धांत के प्रतिपादक आचार्य गौड़पाद आचार्य शंकर के गुरु कहे जाते हैं। शंकर के मायावाद का बीजारोपण भी इन्होंने ही किया था। अतः शंकराचार्य के सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि के रूप में इनकी विचारधारा का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि गौड़पाद बौद्ध विद्वान् थे उन्होंने वेदान्त का स्पष्टीकरण बौद्ध दर्शन के प्रभाव में किया है।[2] किन्तु मैं इस मत से सहमत नहीं हूँ। यह श्रुति प्रमाणवादी आचार्य थे। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ माण्डूक्यकारिका के प्रारम्भ में सर्वप्रथम माण्डूक्योपनिषद् की व्याख्या की है। यदि वह बौद्ध होते तो श्रुति प्रामाण्यवादी नहीं हो सकते थे। यह हो सकता है कि वह बौद्ध दर्शन से प्रभावित हों।

माण्डूक्यकारिका में दो सौ पन्द्रह कारिकाएँ हैं और चार प्रकरण हैं। आगम प्रकरण, वैतथ्य प्रकरण, अद्वैत प्रकरण और अलातशान्ति प्रकरण। आगम प्रकरण में

---

[1] दयाबाई की बानी पृ० ११

[2] श्री सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता लिखित—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग १ पृ० ४२३—(१९५१)

गौड़पाद ने तुरीय के सिद्धांत की प्रतिष्ठा की है[1]। इन्होंने वैश्वानर, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर तथा जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाओं से विलक्षण तुरीय तत्त्व की कल्पना की है। इसे उन्होंने ओंकार का चतुर्थ[2] पाद कहा है। इस तुरीय का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—'अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुरीयो विभुः स्मृतः'[3] अर्थात् तुरीय ब्रह्म अद्वैतस्वरूप प्रभुस्वरूप और सर्वव्यापी तत्त्व है।

दूसरी कारिकाओं में उन्होंने इसे 'सुखमनुत्तमं सनिर्वाच्यम् अनामरूप अद्वैत सम-ताभिगतम्' विशारद अमित प्रशान्त प्रकृतिविप्रोत तर्कज्ञान और स्वप्नावस्था से अप्रभावित कहा है। इस तुरीय अद्वैत तत्त्व के लिए गौड़पाद ने आत्मा ब्रह्म और आकाश आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

गौड़पाद का मूलभूत सिद्धांत अजातवाद था। उनका कहना था कि कोई भी वस्तु कभी उत्पन्न नहीं होती। उन्होंने यह बात इसलिए नहीं कही थी कि वे बौद्धों के शून्यवाद में विश्वास करते थे। बल्कि इसलिए कही थी कि वह आत्मतत्त्व के अतिरिक्त किसी को भी पारमार्थिक सत्य नहीं मानते थे। उन्होंने स्पष्ट उद्घोषित किया था कि कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता उसका कोई कारण भी नहीं है[4]। यही मान्य सत्य है। कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती[5]। प्रश्न यह उठता है कि जब कोई वस्तु उत्पन्न ही नहीं होती तो प्रत्यक्ष प्रपंच का क्या समाधान होगा। इसका उत्तर उनका मायावाद का सिद्धांत है। माया के लिए उन्होंने वैतथ्य, मिथ्या, अविद्या, आभास, विपर्यय, संवृति आदि शब्दों का प्रयोग किया[6] है।

गौड़पाद ने अपने मायावाद की स्थापना[7] तीन मूलभूत सिद्धांतों पर की है। पहला सिद्धांत है कि आत्मा आत्मा के द्वारा ही आत्मा की कल्पना करती है जैसे—

कल्पयति आत्मानः आत्मानम् आत्मा[8]।

गौड़पाद का दूसरा सिद्धांत है कि अद्वैत तत्त्व में भेद स्थापित करनेवाली

---

[1] भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ० ३१६, १९४८ ।

[2] वही पृ० ।

[3] मांडूक्य कारिका—१।१०।२।११ ।

[4] गौड़पाद—महादेवन्—पृ० १८० ।

[5] गौड़पाद—महादेवन् १९५७ पृ० १२१ पर देखिए

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ।

एतदेव परमं सत्यम् यत्र किंचिन्न जायते ॥

[6] गौड़पाद—महादेवन् लिखित पृ० १५० ।

[7] वही पृ० १५० ।

[8] मांडूक्य कारिका—२। १

शक्ति माया है। तीसरे सिद्धान्त के अनुसार यह सारा द्वैत मनोदृश्यमात्र माना गया है।

मनोदृश्यं इदं द्वैतम्[1]।

इन तीनों सिद्धांतों पर यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इस संसार का कारण माया विशिष्ट आत्मतत्त्व ही है। इस माया विशिष्ट आत्म तत्त्व को माया कहते हैं। गौड़पाद ने गीता के सदृश समस्त मानवों के हृदय में ईश्वर का स्थान माना है। यही ईश्वर बाह्य वस्तुओं का सृजन करता है और आन्तरिक वस्तुओं का विधान करता है। उन्होंने अपने माया के सिद्धांत को अलात के दृष्टान्त से स्पष्ट करने की चेष्टा की है। अलात का अर्थ है मशाल। वह संसार को उसी प्रकार मन का भ्रम मानते हैं जिस प्रकार मशाल घुमाए जाने पर अग्निगोलक का भ्रम होता है। उनके मतानुसार मन ही संसार की कल्पना का कारण है। मन के व्यापार फलस्वरूप ही संसार की सत्ता प्रतीत होती है और उसका निरोध कर लेने पर उसका अस्तित्व लुप्त हो जाता है। गौड़पाद ने मन को कहीं-कहीं आत्मा का वाचक भी कहा है। इस अर्थ में मन प्रपंच की आधारभूमि कहा जा सकता है।

गौड़पाद ने माया को एक स्थल पर अनादि कहा है। किंतु अनादि से उनका तात्पर्य ब्रह्म की समरूपता से नहीं है। वरन् उसकी अभावरूपता से है। गौड़पाद माया को मात्र रूप मानते थे और उससे उद्भूत प्रपंच को अचिन्त्य कहते थे। उनके मतानुसार जगत् का उदय और विकास यह सब कल्पनामात्र है।[2]

सृष्टि विकास क्रम के सम्बन्ध में गौड़पाद ने कुछ अधिक नहीं लिखा है। एक स्थल पर उन्होंने प्राण को सब सृष्टि का उत्तरदायी माना है। और एक दूसरे स्थल पर उन्होंने पुरुष को सृष्टि का कर्ता कहा है। प्राण और पुरुष वास्तव में आत्म तत्त्व के ही वाचक हैं।[3]

यहाँ पर हम प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद का भी संक्षेप कर देना चाहते हैं। बिम्बवादियों का कहना है कि जीव चैतन्य का प्रतिबिंब है जो अहंकार तत्त्व में प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ता है। वास्तव में वह आत्मतत्त्व ही है केवल अहंकार या माया के कारण ही वह भिन्न दिखाई पड़ता है। अवच्छेदवादी ब्रह्म की अपरोक्ष सत्ता में विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार वायु घट के अन्दर भी होती है और बाहर भी रहती है। उसमें कोई भेद नहीं होता केवल घट का बाह्य स्थाकार

[1] माण्डूक्य कारिका ३।२९
[2] गौड़पाद—महादेवन पृ० १४१
[3] वही—पृ० १४४-४५

को व्यावहारिक भेद का कारण मान जाता है। जीव और ब्रह्म में इसी प्रकार का अंतर है। इस अंतर का कारण अविद्या मात्र है। गौड़पाद अवच्छेदवादी आचार्य थे। कहीं-कहीं पर उन्होंने आभास शब्द का प्रयोग करके प्रतिबिंबवाद का समर्थन भी किया है। शंकराचार्य दोनों के अनुयायी थे। इस बात का प्रमाण यह है कि इनमें दोनों वादों के दृष्टान्त मिलते हैं।[1]

गौड़पाद ने माया के निराकरण के लिए उपाय के रूप में ज्ञान और उपासना दोनों को महत्त्व दिया है।[2] ज्ञान के साथ-साथ उन्होंने ध्यान योग का भी प्रतिपादन किया है। ध्यान योग के अंतर्गत वह प्रणववाद के समर्थक थे। यहाँ पर हम इस बात का स्पष्ट संकेत कर देना चाहते हैं कि गौड़पाद का दार्शनिक सिद्धांत जिस प्रकार बौद्धों के शून्यवाद से प्रभावित था उसी प्रकार वह प्रणववाद, शब्दवाद या व्याकरण दर्शन से भी अनुप्राणित था। उन्होंने अस्पर्श योग को विशेष महत्त्व दिया है। अस्पर्श योग का अर्थ है अद्वैतानुभव। जब साधक समस्त भेदों और विकारों से ऊपर उठकर अद्वैत तत्त्व में लीन होने का प्रयास करता है तब उसे अस्पर्शवाद कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि गौड़पाद का दर्शन निवृत्तिमार्गी भी था।

संतों पर गौड़पाद के अजातवाद का प्रभाव निम्नलिखित रूपों में मिलता है—

१—तुरीय का सिद्धांत।
२—कल्पनावाद।
३—अवच्छेदवाद।
४—अद्वैतवाद।

संतों ने अपनी बानी में सर्वत्र तुरीय के सिद्धांत को महत्त्व दिया है। इस तुरीय के सिद्धांत की अभिव्यक्ति उन्होंने चौथा पद शब्द से की है। संत मलूक ने लिखा है कि तीन अवस्थाओं से ऊपर उठकर ही चौथे पद की प्राप्ति हुई है।[3] इन्हीं संत ने एक दूसरे स्थल पर पुनः लिखा है[4]—

"तीन पदों में सारा संसार बँधा हुआ है। चौथा पद अनिर्वचनीय और अपरम्पार है।" इसी प्रकार अन्य संतों ने भी तुरीय के सिद्धांत की अभिव्यंजना की है। संत सुन्दरदास ने ब्रह्म या आत्मा को तुरीय रूप कहा है। गौड़पाद के कल्पनावाद का प्रभाव भी संतों पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार गौड़पाद इस संसार को भ्रम

---

[1] वही—पृ० १४८-१४९
[2] वही पृ०—१६५ १६६
[3] तीनों दशा बिसार करि चौथा पद पाया। मलूकदास की बानी पृ० २१
[4] तीनै पद मैं सब जग बंधा चौथा अपरम्पारा। मलूकदास की बानी पृ० २१

का भ्रम मात्र मानते हैं उसी प्रकार संत लोग भी इसे मनोद्भूत ही समझते हैं। संत सुन्दरदास ने लिखा है[1] इस संसार की उत्पत्ति मन के भ्रम से ही हुई है। उस भ्रम के दूर हो जाने पर संसार भी विलीन हो जाता है।

संतों ने गौड़पाद के अवच्छेदवाद को भी अपनाने की चेष्टा की थी।[2] संत सुन्दरदास की निम्नलिखित पंक्तियों में हमें उसी की झलक दिखाई पड़ती है—

देह के संजोग पाइ जीव ऐसे नाम भयो,
घट के संजोग घटाकास ही कहायो है।
इस्वर सकल विराट में बिराजमान,
मठ के सयोग मठाकास नाम पायो है॥
महाकास माहिं सब घट मठ देखियत,
बाहिर भीतर एक गगन समायो है।
ऐसे ही सुन्दर ब्रह्म ईश्वर अनेक जीव,
त्रिविध उपाधि भेद वेदन में गायो है॥[3]

इसी प्रकार सन्तों पर गौड़पाद के अद्वैत सिद्धांत की छाया भी दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए हम संत सुन्दरदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं—

आप कूं समुझि देखौ आपही सकल माहिं,
आपही में सकल जगत देखियतु है।
जैसे भूमि व्यापक अखंड परिपूरण है,
बासन अनेक नाना रूप लेखियतु है॥
जैसे भूमि पर जल तरंग पावक दीप,
वायु में अपूरा सोई विस्व रेखियतु है।
ऐसे ही विचारत विचारहू लीन होइ,
सुन्दर ही सुन्दर रहत पेखियत है॥[4]

इस प्रकार हम निःसंशय कह सकते हैं कि संतों पर गौड़पाद का भी ऋण है।

---

[1] सुन्दरविलास पृ० ६१

[2] मन ही भ्रम ते जगत यह देखियत।
मन ही के भ्रम गये जगत बिलात है॥ सुन्दरविलास पृ० ६२

[3] सुन्दरविलास पृ० १०६

[4] सुन्दरविलास पृ० १०५ और १०६

शंकराचार्य का मायावाद और निर्गुण काव्यधारा के कवि

सिद्धान्त विवेचन—दार्शनिक सार्वभौम स्वामी शंकराचार्य ने जिस अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की थी उसमें सबसे प्रथम आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो सम्पूर्ण विश्व द्रष्टा और दृश्य इन दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक समस्त प्रतीतियों का अनुभव करता है और दूसरा समस्त अनुभवों का विषय। समस्त प्रतीतियों के अनुभवकर्त्ता को आत्मा और समस्त प्रतीतियों के अनुभव के विषय को अनात्मा कहा गया है। इन दोनों का सूक्ष्म दार्शनिक विवेचन करना ही शंकरवाद का प्रमुख लक्ष्य रहा है।

शंकराचार्य ने आत्मा को नित्य, निर्विशेष, निर्विकल्प निरवयव, निर्विकार असंग, अद्वैत और कूटस्थ कहा है। आत्मा एक स्वयंसिद्ध सत्य है। उसे जब द्रष्टा मानते हैं तो उसकी स्वयंसिद्धता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। आत्मा की स्वयंसिद्धता के पक्ष में तर्क देते हुए आचार्य ने लिखा[1] है—

आत्मा तु प्रमाणादि व्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिद्ध्यति।

अर्थात् आत्मा प्रमाणादि सकल प्रमाणों का आश्रयरूप होने के कारण स्वयंसिद्ध है। इसी प्रकार के अन्य तर्कों के द्वारा आत्मा की स्वयंसिद्धता प्रतिपादित की गई है। आत्मा की यह स्वयंसिद्धता ही आस्तिकता की आधारभूमि है। दूसरे शब्दों में हम यूं कह सकते हैं कि शाङ्कर दर्शन कट्टर आस्तिक दर्शन है।

आत्मा ज्ञाता ही नहीं ज्ञानरूप भी कहा गया है। 'आत्मा आत्मानं जानाति' का सिद्धान्त शांकर वेदान्त को भी मान्य है। इनके मतानुसार एक ही पदार्थ कर्त्ता और करण दोनों रूपों में भासित होता है। शंकराचार्य आत्मा को अद्वैत तत्त्व भी मानते थे। यह बात भी 'आत्मा आत्मानम् जानाति' वाले सिद्धांत से प्रकट है। श्रुतियों में बार बार आत्मा की इन विशेषताओं का वर्णन मिलता है। इसी आत्मतत्त्व को शांकर वेदान्त में ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। शंकराचार्य केवल निर्गुण ब्रह्म के ही अनुयायी थे। उनके मतानुसार उपनिषदों का प्रधान प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म ही था। इसी निर्गुण ब्रह्म को वह पारमार्थिक सत्ता मानते थे। यद्यपि सगुण ब्रह्म का भी वर्णन उनके दर्शन में मिलता है। किंतु उसकी सत्ता उन्होंने मायिक ही मानी है। शंकराचार्य ने ब्रह्म का निरूपण दो विधियों से किया है—तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण। तटस्थ लक्षण के अन्तर्गत उन अचिर विशेषताओं का वर्णन किया जाता है जो उदय और अस्त होती रहती हैं।

[1] शांकर भाष्य—२।३।७

स्वरूप लक्षण के अन्तर्गत वस्तु के सत्य और तात्विक गुणों का निरूपण किया गया है।

ब्रह्म की ज्ञानरूपता, अद्वैतता और सच्चिदानन्द स्वरूपता आदि विशेषताएँ ब्रह्म स्वरूप लक्षण से सम्बन्धित हैं। ब्रह्म के तटस्थ लक्षणों में उसका जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लयरूप होना है। वेदान्त ग्रन्थों में ब्रह्म के तटस्थ और स्वरूप लक्षणों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। स्वरूप लक्षण का सम्बन्ध अधिकतर निर्विशेष और निर्गुण ब्रह्म से माना जाता है और तटस्थ लक्षण अधिकतर ब्रह्म के सगुण और सविशेष स्वरूप से सम्बन्ध रखते हैं। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि निर्विशेष ब्रह्म से सविशेष जगत् और जीव की उत्पत्ति कैसे हुई? इस समस्या को सुलझाने के लिए आचार्य को माया की कल्पना करनी पड़ी है। शंकर का मायावाद दर्शन जगत् की सबसे अद्भुत और महत्त्वपूर्ण घटना है। अब हम थोड़ा-सा विचार माया के स्वरूप पर करेंगे। शंकराचार्य ने ब्रह्म के स्वरूप लक्षणों में अव्यक्त माया का भी उल्लेख किया है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में लिखा है—

बीजशक्तिरव्यक्त शब्दनिर्देश्या मायामयी महासुषुप्ति[1]

अर्थात् अव्यक्त शब्द से उस बीज शक्ति का बोध होता है जो माया विशिष्ट होकर महासुप्तावस्था में है। इस अव्यक्त को उन्होंने मांडूक्य कारिकाभाष्य में प्राण का अभिधान दिया है।[2] माया और अव्यक्त के लिए उन्होंने माया शब्द का प्रयोग भी किया है।[3] माया और ब्रह्म के संबंध पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने एक स्थल पर लिखा है कि अव्यक्त प्राण या माया ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। प्राण और माया जब तक ब्रह्म में लीन रहते हैं तब तक उनमें अपनी कोई क्रिया शक्ति नहीं रहती। किन्तु विकासावस्था में ब्रह्म अधिष्ठान बन जाता है और माया क्रियाशील होकर नाम रूप का विस्तार करती है। माया का विस्तार त्रिगुणी कहा गया है।[4] माया के इन तीनों रूपों का कारण, सूक्ष्म और स्थूलावस्था के सदृश माना गया है। यह पहले कारण रूप में विकसित होती है फिर सूक्ष्म रूप में और उसके पश्चात् स्थूल रूप धारण करती है। माया के इस विकसित रूप को आभास स्वरूप अविद्या अथवा अज्ञान कहा गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में आचार्य ने स्पष्ट किया है कि नाम रूप की कल्पना अविद्या के कारण की जाती है।

---

[1] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।४।३

[2] मांडूक्य कारिका भाष्य १।२

[3] मांडूक्य कारिका भाष्य १।२

[4] श्व श्वेताश्वतर भाष्य पृ० १९७।१४२

ईश्वरस्य आत्मभूते इव अविद्याकल्पिते नामरूपे संसार प्रपंचबीजभूते माया शक्ति[1] नामरूप का कल्पना की कारणरूपा अविद्या का निराकरण विद्या ही कर सकती है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में आचार्य ने यही बात इस प्रकार लिखी है —

अविद्याध्यस्तो ब्रह्मण्येकस्मिन्नयं विद्यया प्रविलाप्यते[2]

किन्तु विद्या से केवल व्यष्टि अविद्या का ही निराकरण हो सकता है समष्टि विद्या का नहीं। समष्टि अविद्या से माया का अर्थ लिया जाता है और व्यष्टि अविद्या से प्रपंच का अभिधान करनेवाली माया का बोध होता है। आत्मा के मुक्त होते ही संसार नष्ट नहीं हो जाता वरन् मुक्ति की अवस्था में मुक्तात्मा की दृष्टि अविद्या विमोहित नहीं रह जाती। अविद्या के निराकरण से केवल व्यष्टि माया का ही बोध होता है। समष्टि माया ब्रह्म के साथ-साथ अवशिष्ट रहती है। शंकर की माया या अज्ञान के संबंध में कुछ लोगों की धारणा है कि वह केवल मन की भ्रांति मात्र है किन्तु वास्तव में शंकर की माया भावरूपा है। इसीलिए उन्होंने उसे त्रिगुणात्मिका कहा है। वैसे भी उन्होंने एक स्थल पर मांडूक्य कारिका के भाष्य में स्पष्ट लिखा है श्रुतियों में सत् शब्द से कारण रूप प्राण का संकेत किया गया है और नेति से निर्विकल्प निर्विशेष और निर्गुण ब्रह्म का। माया की कारण रूपता के संबंध में उन्होंने स्पष्ट लिखा है :—

इतरान सवाभावन मायाजनबीजात्म प्रवेहि[3]

उनके इस कथन से भी माया का विषय प्रधान होना प्रकट होता है। गौडपादाचार्य और शंकराचार्य के माया संबंधी दृष्टिकोण में सबसे बड़ा मौलिक अंतर एक ही है। गौडपाद जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है माया को विषयी प्रधान मानते थे किन्तु शंकराचार्य की दृष्टि में वह विषय प्रधान तत्व थी। शंकराचार्य का अनिर्वचनीयता वाद भी बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि उनके अनिर्वचनीयतावाद का उनके विषयवाद से किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकेगा। जब वह माया को सत् रूप मानते थे फिर वह अनिर्वचनीय क्यों कहते थे। किन्तु अभी हम ऊपर कह आये हैं कि सत् से उनका अभिप्राय कारणभूत सत्ता मात्र से था, निर्विशेष सत्ता से नहीं। निर्विशेष सत्ता की तुलना में वह माया को न तो सत् कह सकते थे और न असत्। वह इसीलिए नहीं कह सकते हैं कि वह ब्रह्म के सदृश त्रिकालाबाधिता से रहित नहीं है। प्रत्यक्ष प्रतीयमान होने के कारण उसे असत् भी नहीं कह

[1] बृ० भा० १।१७

[2] ब्रह्मसूत्र भाष्य १।२।२१

[3] मांडूक्य कारिका ६

सकते, इसीलिये उसे अनिर्वचनीय कहा गया है। इस प्रसंग में एक प्रश्न पुनः उठ खड़ा होता है वह यह कि जब माया अनिर्वचनीय है तो फिर उसे मिथ्या क्यों कहा जाता है। वास्तव में माया ब्रह्म की तुलना में मिथ्या कही जाती है। वह ब्रह्म के सदृश नहीं है। इसीलिए उसे मिथ्या कहा जाता है किंतु इससे यह अर्थ नहीं निकलना चाहिए कि माया भ्रमात्मका होती है। ऊपर हम उसकी भावरूपता स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर चुके हैं।

शांकरवेदान्त में ब्रह्म को जगत् का उपादान और निमित्त दोनों कारण कहा गया है। अधिष्ठान रूप से तो वह निमित्त कारण कहा गया है। उसका माया से अप्यस्त रूप उपादान कारण होता है। इस सिद्धांत की तार्किक व्याख्या करने के लिए शंकराचार्य को विवर्तवाद की कल्पना करनी पड़ी थी। उन्हें परिणामवाद मान्य नहीं था। परिणामवाद में कारण द्रव्य की कार्यरूप में परिणति चित्रित की जाती है। निर्विशेष और निर्विकार कारणब्रह्म से इस कार्यरूप सविशेष जगत् की उत्पत्ति कैसे सिद्ध की जा सकती है। इसीलिए शंकराचार्य को विवर्तवाद की कल्पना करनी पड़ी थी। विवर्तवाद के स्वरूप का संकेत कर देना आवश्यक है। विवर्तवाद अध्यासवाद, अध्यारोपवाद, अज्ञानवाद आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। अध्यास का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य ने लिखा[1] है :—

अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धि

किसी वास्तविक वस्तु में किसी दूसरी अवास्तविक वस्तु का भ्रांतिपूर्ण आभास अध्यास के नाम से प्रसिद्ध है। अध्यास का दूसरा नाम अविद्या भी है।

प्रभावपक्ष—संतों पर शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धांतों का बहुत बड़ा प्रभाव है। इसका मुख्य कारण युग का प्रभाव था। वह युग शंकराचार्य के सिद्धांतों की ध्वनि से प्रतिध्वनित हो रहा था। उस प्रतिध्वनि से संत लोगों की हृदयतंत्री भी निनादित हो उठी थी। यही कारण है कि उनकी विचारधारा पर शंकराचार्य का बहुत अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। यहाँ पर हम उस प्रभाव का संक्षेप में ही संकेत करेंगे।

शंकराचार्य ने निर्गुण और अव्यक्त को ही ब्रह्म कहा है। उन्होंने उपनिषदों में वर्णित सर्वकर्मा सर्वज्ञ ईश्वर की ब्रह्म का पारमार्थिक रूप नहीं माना है। उसे वह अविद्यात्मक उपाधि से विशिष्ट मानते थे। उनकी दृष्टि में निर्विशेष ब्रह्म केवल निर्गुण और निराकार ही है। शंकराचार्य के इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर ही संतों ने अपनी विचारधारा में निर्गुण ब्रह्म का ही ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप कहा है। निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण ही उन्हें निर्गुणियाँ संत कहा जाने

[1] वेदान्तसूत्र शारीरक भाष्य।

लगा है। यहाँ पर एक बात अवश्य स्मरण रखनी पड़ेगी वह यह कि शंकर के निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म से संतों का निर्गुण ब्रह्म थोड़ा विलक्षण था। उनकी निर्गुण ब्रह्म-सम्बन्धी धारणा योगियों और तांत्रिकों से प्रभावित होने के कारण सगुण निर्गुण उभयात्मक अधिक प्रतीत होती है शुद्ध निर्गुण कम। किंतु शंकराचार्य की ब्रह्म सम्बन्धी धारणा ब्रह्म के शुद्ध निर्गुण स्वरूप से ही समन्वित है।

आत्मा का स्वरूप निरूपण भी संतों ने बहुत कुछ शंकराचार्य के ढंग पर किया है। शंकराचार्य के सदृश ही वे उसे चेतन, स्वयं प्रकाशरूप, निर्विशेष, निर्विकल्प, निष्कल निसंग और अद्वैतरूप मानते थे। आत्मा की स्वयं प्रकाशिता का उल्लेख करते हुए सुन्दरदास ने लिखा है—

देखहु सुन्दर आतम आपहु आपु के ज्ञान तें आपु प्रकाशै[१]।

इसी प्रकार उसकी असंगता का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

सुन्दर कहत एक आतम असंग जानि[२]।

संत लोग शंकराचार्य के सदृश ही आत्मा और ब्रह्म की एकता और असंगता में विश्वास करते थे। संत सुंदरदास[३] की निम्नलिखित उक्ति से यह बात प्रकट होती है—'सुन्दर ज्ञेय ब्रह्म जानहु ब्रह्महि आपहु जानहि जानत ज्ञानी'। इन पंक्तियों में ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय की एकता प्रतिपादित करके आत्मा और ब्रह्म की अद्वैतता व्यंजित की गई है। अद्वैत आत्मा जब अज्ञानाच्छादित हो जाती है तब वह जीव कहलाने लगती है। शंकर के इस सिद्धांत से भी संत लोग सहमत थे। संत सुंदरदास ने इस सिद्धांत का अनुसरण करते हुए लिखा है कि चैतन्य आत्मा ही अपने अज्ञान से बंधन में पड़ जाती है।[४]—उन्हीं संत ने एक दूसरे स्थल पर लिखा है कि जीव अपने को अपने भ्रम से ही भूल गया है। भ्रम का निराकरण हो जाने पर जीव शुद्ध आत्मरूप हो जाता है।[५] जीव को शंकराचार्य ब्रह्म का अंश नहीं स्वरूप मानते थे। संतों ने भी कहीं-कहीं पर शंकराचार्य के इस दृष्टिकोण की स्वीकृति प्रकट की है।

---

[१] सुंदरविलास पृ० ११६

[२] सुंदरविलास—पृ० १५५।

[३] सुंदरविलास पृ १५१।

[४] तसेहि सुंदर यह आप ही चैतन्य जाहि।
अपने अज्ञान करि और सू बंधाना है॥ सुंदरविलास पृ० १२१

[५] जैसेहि सुंदर यह भ्रम करि भूल्या आप।
भ्रम के गए तें यह आत्मा स्वरूप है। सुंदरविलास पृ० ६७

शंकराचार्य ने ब्रह्म को सृष्टि विकास क्रम का मूल स्रोत माना है। संत लोग इनके इस सिद्धांत से भी सहमत थे। संत सुंदरदास ने लिखा है कि पुरुष और प्रकृति ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं और इन्हीं पुरुष और प्रकृति से आगे चलकर सृष्टि का विकास हुआ[1] है। निर्विशेष ब्रह्म से दृश्य जगत् की संभावना सिद्ध करने के लिए शंकराचार्य ने विवर्तवाद का आश्रय लिया है। विवर्तवाद की अभिव्यक्ति कनक कुंडल रजत, सीप आदि के दृष्टांतों के सहारे की गई है। संतों ने इन दृष्टांतों का उल्लेख करके विवर्तवाद के प्रति अपनी मान्यता प्रकट की है। उदाहरण के रूप में हम संत सुंदरदास की निम्नलिखित उक्तियाँ ले सकते हैं[2]—

१—कनक समाय ज्यों ही होय रह्यो आभूषण।
कनक कह्यो न कोऊ आभूषण कह्यो है॥
२—भासत है कछु और को औरहि
ज्यों रजु में अहि सीप में रूपा॥[3]

संत लोग शंकर की माया संबंधी धारणा से भी प्रभावित प्रतीत होते हैं। ये लोग शंकर के तरह ही माया को मिथ्या रूप मानते थे। संत सुंदरदास ने लिखा है कि जहाँ तक नाम रूप दिखाई पड़ता है वह सब मिथ्या माया है।[4] शंकर के तरह ही ये लोग माया को त्रिगुणात्मिका भी मानते थे। संत कबीर ने[5] लिखा है—माया सतोगुण रजोगुण, और तमोगुण से बनी हुई है। इन्हीं गुणों के सहारे उसने समस्त प्रपंच का विस्तार किया है।

शंकराचार्य ने जीव की कल्पना स्पष्ट करने के लिए प्रतिबिम्बवाद का आश्रय लिया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार एक ही चन्द्र का प्रतिबिम्ब जल में पड़ने पर वीचियों के भेद से अनेक रूप दिखाई पड़ता है उसी प्रकार एक अखंड आत्मा ही अज्ञान और भ्रम के कारण अनेक दिखाई पड़ती है। संत सुन्दरदास ने शंकराचार्य के इस सिद्धांत की सूर्य और घटों के मौलिक दृष्टांतों के सहारे और भी सुन्दर ढंग से अभिव्यक्ति की है। वह लिखते हैं कि जिस प्रकार सुगन्धित जल, दुर्गन्धित जल, गंगा जल, मदिरा तथा तेल एवं घृत आदि विविध तरल पदार्थों से भरे हुए घटों पर एक ही सूर्य की छाया विविध प्रकार से प्रतिबिंबित होती है उसी प्रकार से देह भेद

---

[1] ब्रह्म से पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई॥ सुंदर विलास पृ० ११०
[2] सुंदरविलास पृ० १२१
[3] सुंदरविलास पृ० १४०
[4] नाम रूप जहाँ लगि मिथ्या माया मानिए। सुंदर विलास पृ० १२६
[5] सत रजतम थे कीन्ही माया। चारि खानि विस्तारि उपाया॥ क० ग्र० पृ० २६८

से एक ही आत्मा विभिन्न जीवों के रूप में लक्षित होती है।[१] शंकराचार्य की मुक्ति सम्बन्धी धारणा ने भी संतों को प्रभावित किया है। उनका कहना है कि जीव के अज्ञान का जब निराकरण हो जाता है तभी वह सच्चिदानन्द आत्मरूप हो जाता है। इस सिद्धांत की झलक संत सुन्दरदास की निम्नलिखित उक्ति में मिलती है[२]—

तैसेहि सुन्दर यह भ्रम करि भूल्यो आप।
भ्रम के गये से यह आत्मा अनूप है॥

भ्रम के निराकरण के साधन रूप में शंकराचार्य ने ज्ञान को विशेष महत्व दिया है। उनका विश्वास था कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती है। संत लोग ज्ञान के महत्त्व से पूर्णतया परिचित थे। सुन्दरदास ने ज्ञान के महत्त्व की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि ज्ञान अमृत के समुद्र के सदृश है। उसकी महिमा का वर्णन कोई नहीं कर सकता।[३] यहाँ पर हमने संतों पर पड़ी हुई प्रतिच्छाया की बहुत साधारण झाँकी प्रस्तुत की है। मेरी समझ में संत लोग शंकराचार्य से सर्वाधिक प्रभावित थे। यदि समस्त प्रभावों की विवेचना की जाय तो एक नई थीसिस लिख जायेगी।

जैन दर्शन और संत कवि

जैन दर्शन भी भारत का एक प्रसिद्ध प्राचीन दर्शन है। इस दर्शन के आदि प्रवर्तक पार्श्वनाथ माने जाते हैं। इनका जन्म काशी में ८१७ ई० पूर्व में हुआ था। इन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में ही संन्यास ग्रहण करके कैवल्य की उपलब्धि कर ली

---

[१] एक घट माहिं ज्यौं सुगंध जल भरि राख्यौ,
एक घट माहिं ज्यौं दुर्गंध जल भरयो है।
एक घट माहिं पुनि गंगाजल राख्यो आनि,
एक घट माहिं आनि मदिराहू धरयो है॥
एक घट एक तक एक माहिं नवनीत,
सबही में सविता को प्रतिबिम्ब परयो है।
तैसे ही सुन्दर ऊँच नीच मध्य एक ब्रह्म,
देह भेद देखि भिन्न-भिन्न नाम धरयो है॥
सुन्दरविलास पृ० ११९

[२] सुंदरविलास पृ० ६७

[३] सुंदर ज्ञान समुद्र की महिमा कहिए कौन।
अमृत रस से है भरयो तुम बिन जानत कौन॥
संत सुधासार पृ० ५८१

थी। इस मत के अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी माने जाते हैं। इनका जन्मकाल ५९९ ई० पूर्व में माना जाता है। इन्होंने भी तीस वर्ष की अवस्था में ही संन्यास लेकर अर्हतावस्था प्राप्त कर ली थी।

जैन वास्तववादी दर्शन है। इसका वास्तववाद अन्य दर्शनों के वास्तववाद से थोड़ा भिन्न है। कुछ वास्तववादी जगत् को इन्द्रियगम्य ज्ञानगम्य मानते हैं और कुछ मन और बुद्धिगम्य ज्ञानगम्य सिद्ध करते हैं। किन्तु जैनी जगत् के अस्तित्व का स्वरूप प्रमाणित करने में इन्द्रिय मन और बुद्धि तीनों का आश्रय लेते हैं। ये लोग बहुत्ववादी भी हैं। उनका कहना है कि संसार की प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मी है। किन्तु वस्तुओं के इस अनंत धर्मात्मक स्वरूप का ज्ञान सब मानवों को नहीं होता है। उसकी अनुभूति उसी को होती है जिसने कैवल्य की उपलब्धि कर ली है।

जैन दर्शन में ज्ञान साधारणतया तीन प्रकार का बतलाया गया है—दुर्णय, नय और प्रमाण। दुर्णय वह ज्ञान है जिसमें विद्यमान वस्तु की विद्यमानता का ही ज्ञान होता है। इसमें अन्य प्रमाणों का निषेध रहता है। जब अन्य प्रमाणों का निषेध किए बिना ही किसी वस्तु की विद्यमानता निश्चित की जाती है तब उस ज्ञान को नय कहते हैं। विद्यमान वस्तु के प्रति किंचित् संदेहपूर्ण ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है।

जैन दर्शन में तत्त्वों की मीमांसा द्रव्यों के अभिधान से की गई है। जैन न्याय में गुण और पर्याय विशिष्ट वस्तु को द्रव्य कहा गया है। वस्तु सत्ता के अनिवार्य धर्म गुण कहे जाते हैं और देशकाल आदि से प्रभावित होकर परिणमित होनेवाले धर्म पर्याय के नाम से प्रसिद्ध हैं। द्रव्य के भी दो विभाग किये गए हैं एक देशव्यापी द्रव्य और बहुदेशव्यापी द्रव्य। एक देशव्यापी द्रव्य कालमात्र है किन्तु बहुदेशव्यापी द्रव्य के दो स्थूल विभाग किए जाते हैं—जीव और अजीव। आगे इनके भी कई विभाग और उपविभाग किए गए हैं। संतों पर इनका कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता इसलिए उनका कोई निर्देश नहीं किया जा रहा है।

यहाँ पर हम जैन दर्शन के स्याद्वाद या अनेकांतवाद को भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। दार्शनिकों का कहना है कि यह संसार नानात्मक है। भिन्न-भिन्न व्यक्ति तत्त्व की अनुभूति भिन्न-भिन्न रूप में अपने अपने दृष्टिकोण से करते हैं। ऐसी दशा में तत्त्व का वास्तविक रूप क्या है, यह निश्चित नहीं हो सकता। इसी लिए जैन दार्शनिकों ने स्याद्वाद का प्रतिपादन किया था। वे प्रत्येक परामर्श को अपेक्षित करने के लिए उसमें स्यात् का प्रयोग आवश्यक मानते थे। अतः एक विचार परामर्श को स्पष्ट करने के लिए जैन दार्शनिक उसमें पहले स्यात् का प्रयोग अवश्य कर देते

है। प्रत्येक परामर्श के साथ स्यात् का प्रयोग ही स्याद्वाद है। इसी को कुछ लोग अनेकांतवाद कहते हैं।

जैन दर्शन में जीव तत्त्व पर भी विस्तार से विचार किया गया है। उसमें उसे चेतन द्रव्य माना गया है। षट् दर्शन[1] समुच्चय में स्पष्ट लिखा है—'चैतन्य लक्षणो जीव' अर्थात् जीव का सामान्य लक्षण चैतन्यता है। इसके अतिरिक्त जीव में अनंतज्ञान, अनंत दर्शन और अनंत स्वाभाविक गुण पाये जाते हैं किन्तु जीवों के कर्म बन्धन से यह स्वाभाविक धर्म आवृत रहते हैं। यही कारण है कि जीव इन गुणों की अनुभूति नहीं कर पाता किन्तु शुभ कर्मों से जब यह आवरण क्षीण हो जाता है तब उसे इन शुभ कर्मों का ज्ञान होता है। जैनी लोग जीव को कर्मों का भोक्ता और कर्ता दोनों ही मानते हैं। इनके मतानुसार जीव शरीर के बराबर परिमाणवाला होता है। हाथी विशालकाय होता है इसीलिए उसका जीव भी चींटी जैसे लघुकाय जंतु के जीव की अपेक्षा बड़ा है। इनका सिद्धांत है कि जितना बड़ा शरीर होता है उतना ही बड़ा जीव भी होता है। इस दर्शन में जीव का परम लक्ष्य मुक्तावस्था जिसे ये अर्हतावस्था कहते हैं प्राप्त करना है। इसकी प्राप्ति के लिए इस दर्शन में तीन साधन बतलाये गये हैं। सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र। इन तीनों को जैन दर्शन में रत्नत्रय कहा गया है।[2] इसमें इनका बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। इनमें से सम्यक् चरित्र के पाँच महाव्रत विशेष उल्लेखनीय हैं। ये क्रमशः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं। चारित्रिक दृष्टि से उदात्त होने पर कोई भी दर्शन बहुत दिनों तक निरीश्वरवादी बना नहीं रह सकता। उसमें ईश्वर की भावना किसी न किसी रूप में स्वयमेव आ जाती है। जैन दर्शन में भी ऐसा ही हुआ है। उसमें सिद्धों ने ईश्वर का स्थान ग्रहण कर लिया है। साधारण जनता उन्हें ईश्वर रूप में पूजने लगी।

जैन दर्शन में साधना मार्ग का भी बड़ा विस्तृत वर्णन मिलता है। ये लोग साधना के लक्ष्य मुक्ति तक पहुँचने में चौदह सोपानों को पार करना अनिवार्य बतलाते हैं। यह सोपान उनके यहाँ गुण स्थान कहलाते हैं।

संतों ने जैन दर्शन के सिद्धांतों का प्रत्यक्ष रूप से अपनाने की संभवतः कोई चेष्टा नहीं की थी। फिर भी तत्कालीन जैन मुनियों की सत-संगति के प्रभाव से जैन दर्शन के कुछ सिद्धांतों की छाया उनकी विचारधारा पर पड़ ही गई है। अध्यात्मपक्ष की अपेक्षा संत लोग जैन दर्शन के आचार पक्ष से अधिक प्रभावित हुए हैं। उनमें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र से सम्बन्धित अनेक उक्तियाँ मिलती हैं। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान पर बल देते हुए संत सुन्दरदास ने लिखा है—जो साधन सर्व को

[1] षट् दर्शन समुच्चय कारिका ४८

[2] सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः तत्व सूत्र १।१ भारतीय दर्शन पृ० १६०

तथा जगत् को असत्य समझता है वही सच्चा ज्ञानी होता है। उसी सम्यक् ज्ञान से भ्रम का निराकरण होता है[1]। संत सुन्दरदास ने सम्यक् चरित्र का उपदेश भी दिया है। वह लिखते हैं कि जैन मत के चार रूप सम्यक् दान, तप शील एवं सदाचरण हैं। सच्चा जैनी मन, वचन, कर्म से शुद्ध होकर सबके प्रति सहानुभूति और दया का भाव रखता है और अपनी बुद्धि से विकारों को दूर कर देता है[2]। कुछ संतों में हमें कहीं-कहीं पर चौदह गुण स्थानों का संकेत भी मिलता है। निम्नलिखित पंक्तियों में संत दरिया साहब ने संभवतः उन्हीं की ओर इंगित किया है।

चौदह[3] चौकी जमकै होय
बिन सद्गुरु नहीं पावै कोय।
चौदह में भेद जो मावै जाए अपलोक बहुरि न आवै॥

जैन दर्शन के आध्यात्म पक्ष की दो एक बातों का प्रभाव भी संतों की बानियों पर ढूँढ़ा जा सकता है। जैन-दर्शन में जीव को शरीर परिमाणी माना गया है अर्थात् जिस प्राणी का जितना बड़ा शरीर होता है उसका जीव भी उतना ही बड़ा होता है। संतों में एक आध स्थल पर जैन-दर्शन के इस सिद्धान्त की छाया मिलती है। संत सुन्दरदास ने इस सिद्धान्त की व्यंजना करते हुए लिखा है—जिस प्राणी का जैसा शरीर होता है वैसा ही उसमें चेतना होता[4] है—इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों की बानियों में जैन-दर्शन के कुछ सिद्धांतों की झलक भी मिलती है।

बौद्ध-धर्म और निर्गुण काव्यधारा

बौद्ध-धर्म विश्व का एक महान् धर्म है। इसके आदि प्रवर्तक गौतम बुद्ध माने गये हैं। कहते हैं कि उन्होंने अपने अनेक पूर्व जन्मों में पारमिता का अभ्यास किया था। इनके पिता का नाम शुद्धोदन और माता का नाम महामाया था। ५०५ विक्रमी[5]

---

[1] आतम अनुभव एक ही जैन सब सुन्दर कहत यह ज्ञान भ्रम भाग है। सुंदरविलास पृ० १९८।

[2] — जैन मत कौ चिन्ह चारक न भूलि जाय।
दान तप शील सत्य भावना के सहित॥
मन बच काय शुद्ध सबसूं दयाभाव हूँ।
ज्ञान बुद्धि दूरि कर या अर आनिए॥ सुंदरविलास पृ० १००

[3] दरिया साहब बिहार वाले के चुने हुए पद पृ० २

[4] जा घट की उनहार है तैसेहि ता घट चेतन तैसोहि दीसै॥ सुन्दरविलास पृ० ६६

[5] बौद्ध दर्शन पृ० ४

पूर्व में लुम्बनी नामक स्थान में इनका जन्म हुआ था। २९ वर्ष की अवस्था में यह अपनी प्रिय पत्नी महारानी यशोधरा और नवजात शिशु राहुल का मोह बंधन त्याग कर महाभिनिष्क्रमण[1] कर गये। घोर साधना के बाद लगभग ४०१ विक्रमी[1] पूर्व वैशाखी पूर्णिमा को उरुवेला नामक स्थान में इन्हें समाधि की प्राप्ति हुई और उसी समय उन्होंने चार प्रसिद्ध आर्य सत्यों का साक्षात्कार किया। उसी दिन से वह बुद्ध कहलाने लगे। इसी वर्ष आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन इन्होंने काशी में पाँच भिक्षुओं को अपने धर्म का उपदेश दिया। यह घटना बौद्ध-धर्म में धर्म प्रवर्तन[3] के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद वे ८० वर्ष की आयु तक जनता को सद्धर्म का उपदेश देते रहे और अस्सीवाँ वर्ष लगने पर कुशीनगर नामक स्थान में यह निर्वाण को प्राप्त हो गये।

भगवान् बुद्ध के उपदेश पाली भाषा में पिटक नामक ग्रंथों में संग्रहीत हैं। ये पिटक तीन हैं। विनय पिटक, सुत्त पिटक, अभिधम्म पिटक। इन तीनों को मिलाकर त्रिपिटक की संज्ञा दी गई। विनय पिटक[4] भिक्षु भिक्षुणियों के नियमों का संकलन है। सुत्त[5] पिटक में संघ धर्म का प्रतिपादन किया गया है। अभिधम्म[6] पिटक में सुत्त पिटक के सिद्धांतों का विवरीकरण मिलता है। इस प्रकार त्रिपटक ग्रंथ भगवान् बुद्ध उपदिष्ट बौद्ध धर्म के मूल सिद्धांतों के सार हैं।

की पारिभाषिक संज्ञा है।

१ महाभिनिष्क्रमण भगवान् के महात्याग की यह परिभाषिक संज्ञा है।

२ बौद्ध दर्शन पृ० ५

३ बौद्ध सिद्धान्तों के प्रथम बार २ उपदेश दिये जाने की यह परिभाषिक संज्ञा है।

४ विनयपिटक तीन भाग है—१ सुत्त विभंग, २ खंधक परिवार, सुत्त विभग के भी दो भाग हैं। भिक्षु प्राति मोक्ष और दूसरा भिक्षुणी प्राति मोक्ष खंधक के भी भाग महावग्ग और चुल्लवग्ग। इसका विस्तृत विवेचन—८ हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर भाग २ पृ० २१ ३३

५ सुत्तपिटक—इसके पाँच भाग हैं जो निकायों के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे निकाय क्रमशः १ दीघनिकाय २ मज्झिम निकाय ३ संयुत्त निकाय ४ अंगुत्तरनिकाय अंगुत्तर निकाय। इनमें से खुद्दकनिकाय बहुत प्रसिद्ध है। इसमें १५ पुस्तकें संग्रहीत हैं। १ खुद्दक पाठ २ धम्मपद ३ उदान ४ इतिवुत्तक ५ सुत्तनिपात ६ विमानवत्थुपेतवत्थु थेरगाथा ९ थेरीगाथा १० जातक ११ निद्देस १२पटिसम्भिदा मग्ग १३ अपदान १४ बुद्धवंश १५ चरियापिटक ८ हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर भाग २ पृ० ३४।१५५

६ अभिधम्म पिटक के सात ग्रंथ हैं—१—धम्मसंगणि २—विभंग ३—धातुकथा ४—पुग्गल पञ्ञत्ति ५—कथावत्थु ६—यमक ७—पट्ठान। ८ हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर विण्टरनिट्स पृ० १६५—१७३

बौद्ध धर्म में बुद्ध धर्म और संघ इन तीन को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। सच्चा बौद्ध वही है जो इन तीन रत्नों का शरणागत होता है। इन तीन रत्नों के अतिरिक्त भगवान् बुद्ध की शिक्षा के कुछ रत्न और बहुत प्रसिद्ध हैं। उनमें सबसे प्रमुख बुद्धिवाद[1] है। भगवान् बुद्ध ने अंधानुसरण की घोर निंदा की थी। उनका कहना था कि जिस प्रकार बुद्धिमान् पुरुष स्वर्ण को अग्नि में डालकर या कसौटी पर परीक्षित करके उसे ग्रहण करते हैं उसी प्रकार मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मेरे वचनों की सार्थकता और सत्यता की परीक्षा करके ही उन्हें ग्रहण करे। बौद्ध धर्म में स्थल स्थल पर पुद्गलशरणता की निंदा और बुद्धिशरणता की प्रशंसा की गई है। बौद्ध धर्म की यह बुद्धिवादिता विश्व के लिए उसकी महान् देन है।

भगवान् बुद्ध के उपदेशों की दूसरी विशेषता उनकी व्यावहारिकता है। वह कोरे तर्कवाद में विश्वास नहीं करते थे। वह अव्याकृत प्रश्नों का उत्तर देना अनावश्यक मानते थे। मिथ्या तर्कजाल में पड़कर समय का दुरुपयोग करने से वह मौन समाधि में अधिक विश्वास करते थे। वास्तव में लंकावतार[2] सूत्र में बहुत सही लिखा है कि उन्होंने कभी किसी को उपदेश नहीं दिया था। उनका मौन ही उनका वचन था। जन्मदिन से लेकर निर्वाण दिन तक का उनका जीवन-चरित ही उनका प्रधान उपदेश था।

भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट चार आर्य सत्य बौद्ध-धर्म की आधार[3] भूमि हैं। ये चारों सत्य क्रमशः इस प्रकार हैं—

१—दुःख[4] अर्थात् यह सांसारिक जीवन जन्म-मरण के कारण अनंत दुःखमय है।

२—समुदय[5] अर्थात् दुःख के उदय होने के कारणों पर विचार करना।

---

[1] ज्ञानसार समुच्चय—आर्य देव का २८वाँ श्लोक।

[2] देखिए लंकावतार—मूल हिन्दी अनुवाद पृ० १४३ १४४

[3] निर्वाण में विश्वास करनेवाले मार्गों में अष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है। सत्यों में चार सत्य श्रेष्ठ हैं। सब धर्मों में विराग धर्म श्रेष्ठ है। धम्म पद—२०।१

[4] अगले पृ० में देखिए।

[5] देखिए बौद्ध दर्शन—पृ० ९५

हे भिक्षुओ! यह दुःख समुदय दूसरा आर्यसत्य है। दुःख का वास्तविक हेतु तृष्णा है जो बार बार प्राणियों को उत्पन्न करती है। जीवनप्रियता विषयों के राग से युक्त है तथा उन विषयों का अभिनन्दन करवाती है। यहाँ वहाँ सर्वत्र अपनी तृप्ति खोजती रहती है। यह तृष्णा तीन प्रकार की है—काम तृष्णा, भव तृष्णा तथा विभव तृष्णा। संक्षेप में दुःख समुदय के यही स्वरूप हैं।

१—निरोध[1] गामिनी प्रतिपद अर्थात् दुखों के विनाश के लिए प्रतिपद मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। यहाँ पर हम प्रतिपद मार्ग को थोड़ा अधिक स्पष्ट कर देना चाहते हैं। इस मार्ग का दूसरा नाम अष्टांगिक मार्ग भी है।[2] यह अष्टांग मार्ग प्रज्ञाशील और समाधि नामक त्रिरत्न विविध पक्षों से ही बना है। इसके आठ-आठ अंग इस प्रकार हैं—

१—सम्यक् दृष्टि
२—सम्यक् संकल्प
३—सम्यक् वाचा
४—सम्यक् कर्मान्त
५—सम्यक् आजीविका
६—सम्यक् व्यायाम
७—सम्यक् स्मृति
८—सम्यक् समाधि

बौद्ध-धर्म में इस अष्टांगिक मार्ग की बड़ी महिमा का वर्णन मिलता[3] है। सम्यक् से अभिप्राय अष्टांगिक मार्ग में सभी अंगों के आगे सम्यक् शब्द जुड़ा हुआ है। मध्यमाव लिया गया है। भगवान् बुद्ध का कहना था कि किसी भी वस्तु में न अत्यधिक-रत होना चाहिए और न विरत होना चाहिए। वास्तव में सम्यक् या मध्य भाव से उसका सेवन करना चाहिए। इस सम्यक् या मध्यमाव की साधना को ही बौद्ध मत में मध्यम प्रतिपदा का नाम दिया गया है। इस मध्यम मार्ग या मध्यम प्रतिपदा का प्रतिपादन भगवान् बुद्ध ने इस प्रकार किया[4] था।

---

१ दुःख निरोध को ही निर्वाण भी कहते हैं।
बौद्ध दर्शन पृ० १५-१६ पर इस प्रकार देखिए— यो तस्सायेव तण्हाय असेसविराग निरोधो चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो। अर्थात् दुःख निरोध आर्यसत्य उस तृष्णा से अशेष सम्पूर्ण वैराग्य का नाम है उस तृष्णा का त्याग प्रतिसर्ग मुक्ति तथा अनालय स्थान न देना यही है।
२ बौद्ध दर्शन—पृ० ६६।
३ धम्मपद में लिखा है—मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो—२०।१
धम्मपद में ही २०।२ में लिखा है—एसो व मग्गो नत्थञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया एत हि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेत पमोहनम्
४ बौद्धदर्शन बलदेव उपाध्याय पृ० ७२ (१६४६)

हे भिक्षुगण! संसार का परित्याग कर निवृत्तिमार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति प्रव्रजित को चाहिए कि दोनों अन्तों का सेवन न करें। कौन से दो अन्त? एक अन्त है—काम वस्तुओं में काम की इच्छा से सदा लगा रहना। यह विषयानुयोग, हीन, ग्राम्य साधारणजनों से पृथक् से आनेवाला अनार्य तथा अनर्थ उत्पन्न करनेवाला है। दूसरा अन्त है—शरीर को कष्ट देना। यह भी दुःख अनार्य तथा हानि उत्पन्न करनेवाला है। इन दोनों अन्तों के सेवन करने से मानव भवचक्र से कभी उद्धार नहीं पा सकता। उसके उद्धार का रास्ता इन अन्तों को छोड़कर बीच का मार्ग है। बुद्ध ने इसी का प्रतिपादन किया है। यह मार्ग नेत्र उन्मीलन करनेवाला ज्ञान उत्पन्न करनेवाला है। यह चित्त को शान्ति प्रदान करता है, सम्यक् ज्ञान उत्पन्न करता है तथा निर्वाण उत्पन्न करता है। इसी मार्ग का सेवन प्रत्येक प्रव्रजित के लिए हितकर है।

दर्शन क्षेत्र में भगवान् बुद्ध की सबसे महान् देन प्रतीत्यसमुत्पादवाद[1] है। प्रतीत्यसमुत्पादवाद बौद्ध-दर्शन के कार्य कारण सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डालता है। उनका कहना था कि एक वस्तु से दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है। दूसरी वस्तु से तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है। इस प्रकार कार्य कारण का प्रवाह सदैव इस जगत् में जागरूक रहता है। प्रतीत्य का तात्पर्य अर्थ है किसी वस्तु को प्राप्ति होने पर और समुत्पाद का अर्थ है प्राप्त होने पर अर्थात् एक कारण के उपस्थित होने पर दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है। बौद्ध का यह तत्त्व कारणतावाद जड़ और चेतन का इतिहास स्पष्ट करता है। इसमें मनुष्य की उत्पत्ति १२ अवस्थाओं पर विस्तार से विचार किया गया है। इस १२ संख्या के १२ धर्म[2] और ३ काण्ड[3] माने गये हैं। इस तत्त्व का बौद्ध ग्रंथों में बड़े विस्तार से उल्लेख किया गया है। बौद्ध लोग कारणता के इस चक्र को अनंत और चिरंतन मानते हैं। यही कारण है कि वे ईश्वर को तथा शेष जगत् के किसी मूल कारण[4] की कल्पना निरर्थक मानते हैं। इसीलिए उनका दर्शन निरीश्वरवादी हो गया है।

बौद्ध लोग निरीश्वरवादी ही नहीं अनात्मवादी भी थे। भगवान् बुद्ध आत्मा के अस्तित्व की चर्चा करना भी अनर्थ मानते थे। उनका कहना था कि आत्मा के अस्तित्व की भावना ही अहंकार की जननी है। उनका विश्वास था कि काम का उदय

---

[1] प्रतीत्यसमुत्पादवाद—बौद्धदर्शन ४९

[2] देखिए अभिधर्म कोष ३।२० । ये बारह अङ्ग इस प्रकार हैं—बौद्ध दर्शन पृ० ४९

[3] बौद्ध दर्शन बलदेव उपाध्याय पृ० ८८-९१

[4] दीघनिकाय के तेविज्ज सुत्त और केवट्टसुत्त में ईश्वर के कर्तृत्व का खण्डन किया गया है।

[5] दीघनिकाय हिन्दी पृ० ८१ बौद्ध दर्शन पृ० ९२

आत्मविश्वास की भूमिका पर ही होता है। अतएव काम पर विजय प्राप्त करने के लिए आत्म-विचार का निषेध परमावश्यक है।[1] नागार्जुन ने भी इसी बात का प्रतिपादन किया है। उन्होंने लिखा है—

> यः पश्यत्यात्मानं तस्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
> स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥ इत्यादि

अर्थात् जो आत्मदर्शन करता है उसका अहं से शाश्वत स्नेह हो जाता है और यह स्नेह से तृष्णा उत्पन्न होती है। तृष्णा से ही समस्त दोषों का उदय होता है। बौद्धों का यह अनात्मवाद पुद्गल नैरात्म्यवाद[2] या सत्काय दृष्टिवाद[3] के नाम से भी प्रसिद्ध है। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से बौद्ध धर्म में आत्मवाद का विस्तार से खंडन किया गया है।[4] किन्तु व्यावहारिक रूप से आत्मा की भावना उन्हें मान्य थी ऐसा उस दर्शन के विवेचनों से प्रकट होता है। आत्मा के लिए बौद्ध लोगों ने संतान शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु उनका कहना है कि इन्द्रिय, इन्द्रिय विषय तथा तद् जन्य विज्ञान आदि अठारह धातुओं की प्राप्ति नामक संस्कार के द्वारा अविच्छिन्न संघात ही संतान के नाम से प्रसिद्ध है[5]। यही बौद्धों का संतानवाद है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बौद्धों को आत्मा का आध्यात्मिक सिद्धांत मान्य नहीं था। उनका आत्मा सम्बन्धी दृष्टिकोण बहुत कुछ विकासवादी था। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने मन और मन की वृत्तियों की तथा में सर्वत्र धारणा प्रकट की है। उन्होंने व्यक्ति का विश्लेषण किया है और उसे रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का संघात माना है[6]।

बौद्ध-दर्शन में यद्यपि आत्मवाद का खण्डन किया गया है किन्तु अन्यान्यवाद[7] की प्रतिष्ठा मिलती है। इस विरोधात्मक सिद्धांत का प्रतिपादन मिलिन्द प्रश्न नामक ग्रंथ में बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। बौद्धों का कहना है कि जिस प्रकार दीप शिखा[8] प्रत्यक्ष देखने में तो अपरिवर्तित प्रतीत होती है किन्तु वह प्रतिक्षण परिवर्तन

---

[1] बोधिचर्यावतार—पंजिका पृ० ४९१ ।

[2] ,, ,, पृ० ४९

[3] ,, ,, पृ० ४९

[4] मिलिन्द प्रश्न २।१।१ और २।७।१५ और सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट खंड ३५ भूमिका पृ० २३ और २५

[5] बौद्ध दर्शन—पृ० १८ ।

[6] बुद्धिस्ट डेवलपमेण्ट थ्रू दि एजेज—स्पीगे। ई० कांज़े (१९५१) पृ० ८

[7] बोधिचर्यावतार—९।१ ९ के अनुसार बुद्धिस्ट डेवलपमेण्ट थ्रू दि एजेज पृ० ७६ ईस्टर्न भारतधारा १९५४ ।

[8] बौद्ध दर्शन—१०७ ।

शील है। जिस प्रकार दीपशिखा को हम न तो बदली हुई कह सकते हैं और न वही कह सकते हैं उसी तरह से पुनर्जन्म लेनेवाले जीव को न तो हम पूर्वजन्म का जीव कह सकते हैं और न नया जीव ही कह सकते हैं। वास्तव में वह प्रवाह रूप जीव है जो एक जन्म के विज्ञान के रूप में क्षीण होते ही दूसरे जन्म के विज्ञान के रूप में प्रस्फुटित हो उठता है। दीपक के अतिरिक्त इस सिद्धांत का स्पष्टीकरण दूध[1] से बनी हुई चीजों के दृष्टान्त से भी किया गया है। जिस प्रकार दूध से बनी हुई वस्तुएँ दूध नहीं कहलातीं फिर भी वे दूध की ही होती हैं उसी प्रकार दूसरा जन्म लेने वाला जीव न तो पूर्व जन्म का जीव होता है और न उससे भिन्न ही होता है। इस प्रकार संक्षेप में भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म और दर्शन के मूल सिद्धांत यही हैं।

बौद्ध धर्म निवृत्तिमार्गी धर्म है। यही कारण है उसमें वैराग्य को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। धम्मपद[2] में लिखा है—'विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानां च चक्खुमा' अर्थात् सब धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में चक्षुष्मान ज्ञानी बुद्ध श्रेष्ठ है। इस उद्धरण से यह बात भी प्रकट होती है कि बौद्ध धर्म में वैराग्य के साथ साथ ज्ञान को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। ज्ञान और वैराग्य में पूरी आस्था रखते हुए भी भगवान् बुद्ध ने काया क्लेश प्रधान कठोर तपस्या की उपेक्षा की थी[3]। उनका कहना था कि कठोर तपस्या से ही सम्बोधि प्राप्त नहीं हो सकती। यह बात उन्होंने स्वयं अपने जीवन में अनुभव की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म में यहाँ पर भी मध्यमार्ग को ही ग्रहण किया है।

बौद्ध धर्म की उपर्युक्त विशेषताओं को देखकर कुछ लोग उसे भौतिकवादी कह सकते हैं। किन्तु बौद्ध-धर्म लेशमात्र भी भौतिकवादी नहीं है यह बात इस धर्म की आचार निष्ठा से ही प्रकट है। भौतिकवादी के लिए ज्ञान वैराग्य और सदाचार कोई महत्त्व नहीं रखते हैं किन्तु बौद्ध-धर्म में ज्ञान वैराग्य और सदाचार को महत्त्व दिया गया है, अतएव वह भौतिकवादी नहीं कहा जा सकता।

भगवान् बुद्ध के पश्चात् बौद्ध धर्म विविध निकायों में विभाजित हो गया था। ये निकाय संख्या में १८ बताए गए हैं। कथावत्थु नामक ग्रंथ में तथा पाली भाषा में अनुवादित महत्त्व वसुमित्र रचित सम्प्रदाय निकाय नामक बौद्ध-ग्रंथ में इन १८ निकायों का थोड़ा हेर फेर के साथ वर्णन किया गया है। इन १८ सम्प्रदायों की

---

[1] बौद्धदर्शन—पृ० १०५।

[2] धम्मपद—२० १।

[3] महावग्ग—१।१।१७।

स्थापित तो अशोक से पहले ही हो चुकी थी। अशोक के बाद इनकी और शाखाएँ प्रशाखाएँ विकसित हुईं। इन शाखाओं-प्रशाखाओं में वैभाषिक निकायों[1] की बड़ी प्रसिद्धि रही है। इन्हीं वैभाषिक निकायों से आगे चलकर महायान का विकास हुआ। महासांघिकों[2] ने उसमें अपने उन सिद्धांतों की प्रतिष्ठा की जिनके कारण वे स्थविर वादियों से अलग हो गये थे। हीनयान भगवान् बुद्ध के प्राचीन सिद्धांतों को लेकर स्थिर रहा। हीनयानियों को स्थविरवादी भी कहते थे। हीनयानी और महायानियों के मौलिक सिद्धांतों में बड़ा अंतर पड़ गया है। ऊपर हमने जिन सिद्धांतों का विवेचन किया है वे हीनयानियों के ही हैं। अब हम संक्षेप में महायानियों के सिद्धांतों पर भी प्रकाश डालेंगे।

महायान धर्म के सिद्धांतों का विवेचन महायान सूत्रों में किया गया है। ये महायान सूत्र संख्या[3] में १६ हैं। उनके नाम क्रमशः अष्ट साहस्रिका, प्रज्ञा पारमिता, सद्धर्म पुंडरीक, ललित विस्तर, लंकावतार सूत्र, सुवर्णप्रभास, गंडव्यूह, तथागत गुह्यक, तथागत गुह्यवास, समाधिराज दशभूमीश्वर हैं। इस महायान धर्म में हीनयान की अपेक्षा निम्नलिखित नवीन तत्वों की प्रतिष्ठा हुई—बोधिसत्व का महत्व, त्रिकाय का सिद्धांत दशभूमि की कल्पना, निर्वाण की भावना, भक्तितत्व का समावेश, पारमिता की साधना, धर्मशून्यता की धारणा। इनमें से कुछ सिद्धांतों का थोड़ा समावेश उत्तर कालीन हीनयान में होने लगा था किन्तु उनका सम्यक् विकास हमें महायान में ही दिखाई दिया। अब हम इन सिद्धांतों का संक्षेप में विवेचन करेंगे।

महायान की सबसे पहली विशेषता बोधिसत्व की कल्पना है। इस बोधिसत्व की धारणा का समावेश सबसे पहले करनेवाले बोधिसत्वयान से हुआ था। बोधि[4] चर्यावतार में इस बोधिसत्व की बड़ी महिमा का वर्णन किया गया है। बोधिसत्व की प्रधानभूत विशेषता महाकरुणा है। महायान की इस विशेषता ने बौद्ध धर्म को लोक[5] संग्रह का धर्म बना दिया था। महायानियों का विश्वास है कि संसार के प्रत्येक व्यक्ति में सम्यक् सम्बुद्ध होने की क्षमता रहती है। यदि महाकरुणा का आश्रय लेकर कोई साधना करे तो वह इस जीवन में ही बुद्ध हो सकता है। बुद्ध होने पर भी साधक का सबसे बड़ा कर्तव्य लोक-कल्याण करना ही कहा गया है। ध्यान देने की बात यह है कि महायानी निर्वाण के उस रूप में विश्वास नहीं करते

---

[1] बौद्ध दर्शन पृ ११५

[2] बौद्ध दर्शन पृ० ११८

[3] अ हिस्ट्री आफ इंडियन लिट्रेचर भाग २ विन्टर निट्ज पृ० २९७ ३४१

[4] देखिए इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ में बोधिसत्व।

[5] इन्ट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म डा० दास गुप्त पृ० ४

जिसका वर्णन हीनयानी लोग पहले कर चुके थे। महायानियों का अंतिम लक्ष्य अर्हतावस्था की प्राप्ति करना न था। उनकी परम साधना बोधिचित्त की अवस्था की साधना में लगी हुई थी। इस साधना में संलग्न साधक की संज्ञा बोधिसत्व थी। बोधिचित्त को पूर्ण कल्याण की अवस्था माना जा सकता है। बोधिचित्त [redacted] सर्व धर्म साधन की योग्यता रखता है। भवजाल से मुक्ति पानेवाले जीवों के लिए बोधिचित्त का आश्रय नितान्त अपेक्षणीय है। ज्ञान में चित्त को प्रतिष्ठित करना महायानी साधना का प्रथम सोपान है।[1]

बोधिचित्त की अवस्था की प्राप्ति के हेतु महायानी साधना में अनुत्तर पूजा का विधान दिया गया है। इस अनुत्तर[2] पूजा के प्रधान सात अंग बतलाये गये हैं। ये क्रमशः पापदेशना, पुण्यानुमोदन, बुद्धाध्येषण बुद्धयाचना तथा बोधिपरिणामना हैं। इस अनुत्तर पूजा की सबसे प्रधान विशेषता उसकी मानसिकता[3] है। साधक को पहले बुद्ध संघ और धर्म की शरण में जाना चाहिए और फिर अनुत्तर पूजा के प्रकार बुद्धों की तथा बोधिसत्वों की पूजा करनी चाहिए। इतनी साधना करने पर [redacted] साधक बोधिचित्त की अवस्था को प्राप्त कर पाता है।

बोधिचित्त की अवस्था प्राप्त कर लेने के पश्चात् साधक को पारमिताओं की साधना करनी चाहिए।[4] पारमिताओं का साधारण अर्थ कुछ विशेष उदात्त गुण लिया जाता है। किंतु इसका वास्तविक अर्थ पूर्णत्व है। महायान धर्म में दस पारमिताएँ या उदात्त वृत्तियाँ बताई हैं। उनके नाम क्रमशः दान, शील, नैष्कर्म्य प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री तथा उदासीनता हैं। कहते हैं [redacted] भगवान् बुद्ध ने इन्हीं पारमिताओं की साधना में ५५०[5] जन्म व्यतीत किए थे। इन पारमिताओं की साधना पूर्ण होने पर ही उन्हें सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हुई थी। इस बात से स्पष्ट है कि महायान धर्म में पारमिताओं या उदात्तगुणों को कितना अधिक महत्त्व दिया गया है।

महायान धर्म का दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त[6] त्रिकाय का है। त्रिकाय के सिद्धान्त का क्षीण संकेत हमें उत्तरकालीन हीनयान में मिलता है। किंतु इसका स्पष्ट और प्रौढ़ विकास उत्तरकालीन महायान धर्म में ही हुआ था। महायानियों ने तथागत के तीन

---

1 बौद्धदर्शन—पृ० १४५
2 ,, ,,—पृ० १४८
3 ,, ,,—पृ० १५०
4 ,, ,,—पृ० १५० १५१
5 ,, ,,—पृ० १४०
6 ,, ,,—पृ० १५८ और ए० दासगुप्त इ० टु तांत्रिक बुद्धिज्म पृ० १४।

कायों की कल्पना की है। इन कायों के नाम क्रमशः निर्माणकाय, संभोगकाय और धर्मकाय हैं।

निर्माणकाय[1]—महायानियों का कहना है कि भगवान् बुद्ध ने संसार के कल्याण के हेतु निर्माणकाय धारण किया था। इस निर्माणकाय का वर्णन करते हुए महायान सूत्रालंकार में लिखा है कि शिल्प जन्म और काम निर्वाण की शिक्षा देकर जगत् के कल्याण के लिए भगवान् बुद्ध ने इस शरीर को धारण किया था। इसी शरीर में स्थित होकर उन्होंने दान, शील, समाधि आदि का उपदेश दिया था। जिससे लोक का बहुत कल्याण हुआ था[2]।

संभोगकाय[3]—यह काय निर्माणकाय से अधिक सूक्ष्म माना गया है। इस काय को धारण करने की सामर्थ्य केवल बोधिसत्व में बतलाई गई है। संभोगकाय के दो भेद[4] प्रसिद्ध हैं। एक पर संभोगकाय और दूसरा स्व संभोगकाय। पर संभोगकाय बोधिसत्वों को प्राप्त होता है। तथागत ने इसी काय को धारण करके महायान सूत्रों का उपदेश किया था। यह संभोगकाय ज्योतिर्मय माना गया है। स्व संभोगकाय भगवान् बुद्ध का अपना एक विशेष शरीर कहा गया है।

धर्मकाय[5]—धर्मकाय को कुछ बौद्ध ग्रन्थों में स्वाभाविककाय पद से भी अभिहित किया गया है। यह धर्मकाय संभोगकाय से भी सूक्ष्म होता है। बुद्ध का संभोगकाय एक ही माना गया है। यह धर्मकाय बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार अनिर्वचनीय होता है। यह धर्मकाय महायानियों की शून्यता के सदृश भावात्मक तत्त्व[6] है। धर्मकाय के सम्बन्ध में नागार्जुन का मत है कि जगत् के मूल में जो पारमार्थिक सत्ता है वही धर्मकाय है। योगाचार[7] दर्शन में धर्मकाय की कल्पना नागार्जुन से थोड़ी भिन्न प्रतीत होती है। असंग कहता है कि धर्मकाय निराभास है। इस प्रकार धर्मकाय के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न महायानी बौद्ध सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न धारणाएँ प्रचलित हैं।

---

१ महायान बुद्धिज्म डा॰ एन॰ दत्त पृ॰ १११

२ महायान सूत्रालंकार—९।६४। शिल्पजन्म महाबोधि सदा निर्वाण दर्शने
बुद्ध निर्माण कायोऽयं महामायो विमोचने।

३ आसपैक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म पृ॰ ११०

४ बौद्धदर्शन—पृ॰ १६१

५ देखिए आसपैक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म—पृ॰ १२१

६ देखिए बौद्धदर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ॰ १६५

७ बौद्धदर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ॰ १६६

महायान धर्म में साधना की दश भूमियों की विलक्षण कल्पना भी मिलती है। हीनयानियों ने अर्हत् की प्राप्ति साधना में केवल चार सोपान माने थे—स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी, अर्हत्। महायानियों ने इन चार अवस्थाओं की कल्पना न स्वीकार करके अपने ढंग पर साधना की दश भूमियाँ कल्पित की हैं। उनके नाम क्रमशः मुदिता[1], विमला[2], प्रभाकरी[3], अर्चिष[4], मति सुदुर्जया[5], अभिमुक्ति[6], दूरंगमावस्था[7], अचला[8], साधुमती[9], धर्म[10] मेघ हैं। संक्षेप में यही दश भूमियाँ महायान साधना की दश अवस्थाएँ हैं।

अब हम निर्वाण के स्वरूप को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। यों तो निर्वाण की धारणा हीनयानियों को भी मान्य थी किंतु उनके निर्वाण का स्वरूप महायानियों के निर्वाणस्वरूप से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। यहाँ पर हम दोनों का संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन कर देना आवश्यक समझते हैं। एन० दत्त महाशय ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म में तथा पं० बलदेव उपाध्याय ने अपने बौद्ध दर्शन में दोनों यानों के निर्वाण का बहुत ही सुन्दर तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। उपाध्याय जी ने दोनों यानों के निर्वाणस्वरूप की निम्नलिखित समान बातों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार निर्वाण की निम्नलिखित बातें दोनों ही यानों को समान रूप से स्वीकार हैं—

(क) यह शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। निष्प्रपंच यह असंस्कृत धर्म है, अतः न तो इसकी उत्पत्ति है, न विनाश है और न परिवर्तन है।

(ख) इसकी अनुभूति अपने ही अन्दर स्वतः की जा सकती है। इसको योगाचारी लोग प्रत्यात्मवेद्य कहते हैं और हीनयानी लोग 'पच्चत्तं वेदितब्ब' शब्द के द्वारा व्यक्त करते हैं।

---

[1] बौद्ध-दर्शन पृ० १९६
[2] आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म पृ० २९०
[3] बौद्ध दर्शन पृ० १९८-१९९
[4] आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म पृ० २७०
[5] आस्पेक्ट्स आफ महायान पृ० २७१
[6] वही पृ० २७१
[7] बौद्धदर्शन पृ० १९८
[8] वही
[9] वही
[10] वही

(ग) यह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के बुद्धों के लिए एक है और सम है।

(घ) मार्ग के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है।

(ङ) निर्वाण में व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है।

दोनों मत वाले बुद्ध के ज्ञान तथा शक्ति को लोकोत्तर अर्हत् के ज्ञान से बहुत ही उन्नत मानते हैं। महायानी लोग अर्हत् के निर्वाण को निम्नकोटि का तथा असिद्धावस्था का सूचक मानते हैं। इस बात को हीनयानी लोग भी मानते हैं।[1]

अब हम दोनों यानों में निरूपित निर्वाण के स्वरूप भेद को भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं। १—हीनयान में निर्वाण सत्य, नित्य और दुःखाभाव रूप माना गया है।[2] महायानी इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि निर्वाण वास्तव में सुखावस्था है। किन्तु महायान के माध्यमिक और योगाचार[3] सम्प्रदाय इस मत से भी सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि निर्वाण में सुख असुख नित्य और अनित्य की बात उठती ही नहीं है, क्योंकि वह अनिर्वचनीय[4] अवस्था है। हीनयानी निर्वाण को लोकोत्तर स्थिति मानते हैं। उनकी दृष्टि में प्राणी विकास की इससे ऊँची स्थिति हो ही नहीं सकती, किन्तु महायानी लोग निर्वाण की लोकोत्तर अवस्था[5] से भी ऊपर लोकोत्तरतम अवस्था मानते हैं। हीनयानी लोग निर्वाण को केवल एक प्रकार से मुक्ति की अवस्था मात्र समझते हैं। किन्तु[6] महायान की दृष्टि में वह सर्वज्ञता और धर्मकाय की स्थिति[7] है। दोनों यानों में किये गये भेदों के अभिधान भी अलग-अलग हैं। हीनयान में निर्वाण के दो प्रकार माने गये हैं। उनके नाम क्रमशः सोपाधिशेष और निरुपाधिशेष[8] हैं। महायान के योगाचार सम्प्रदाय को भी निर्वाण के दो ही भेद मान्य हैं किन्तु उनके नाम हीनयानियों के नाम और स्वरूपों से भिन्न हैं। उनके नाम क्रमशः प्रकृति शुद्ध निर्वाण और अप्रतिष्ठित निर्वाण बताये[9] गये हैं। हीनयानियों का निर्वाण और

---

[1] वही पृ० १८१

[2] आसपैक्टस आफ महायान बुद्धिज़्म एण्ड इट्स रिलेशन टु हीनयान पृ० १२६

[3] बौद्ध दर्शन पृ० १८७

[4] वही पृ० १८० से १८२

[5] वही पृ० १६५

[6] वही पृ० १४७

[7] आसपैक्टस आफ महायान बुद्धिज़्म पृ० १६२

[8] बौद्धदर्शन पृ० १८४ १८५

[9] वही पृ० १८४ १८५

संसार की धर्म समता स्वीकार नहीं है। किन्तु महायान के माध्यमिक संप्रदाय में दोनों की धर्म समता का सिद्धान्त एक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया गया है। उस[1] संप्रदाय वालों का कहना है कि निर्वाण एक निराधार परमार्थ सत्ता है। संसार के मूल में भी यही परमार्थ सत्ता प्रतिष्ठित है। इस दृष्टि से निर्वाण और संसार में धर्म समता का संबंध निश्चित हो जाता है।

हीनयानी निर्वाण के सदृश ही जगत् के पदार्थों की सत्ता सत्य मानता है। किन्तु महायान मत में ऐसी सत्ता के लिए अवकाश नहीं है। वह जगत् को प्रपंच और मायिक मानता है। उसकी दृष्टि में केवल निर्वाण सत्ता मात्र ही सत्य है। वह सांसारिक पदार्थों के मूल में वर्तमान है। उनके बाह्य नामरूप मिथ्या हैं[2]।

महायान मत में निर्वाण प्राप्ति के बाधक रूप दो आवरण माने गये हैं जिनके नाम क्रमशः क्लेशावरण और ज्ञेयावरण हैं[3]। उनका कहना है कि हीनयानी केवल क्लेशावरण से ही मुक्त हो सकता है ज्ञेयावरण से नहीं जब कि महायान निर्वाण प्राप्ति के लिए इन[4] दोनों आवरणों का उच्छेद करने में समर्थ होते हैं। हीनयानियों के आचार्यों का यह सिद्धांत मान्य नहीं है। इस प्रकार संक्षेप में हम देखते हैं कि हीनयानियों की निर्वाण कल्पना महायानियों की निर्वाण कल्पना से कुछ अंशों में साम्य रखते हुए भी अधिकांश में भिन्न है।

अभी तक हमने हीनयान और महायान के सामान्य भेदों पर प्रकाश डाला है। अब हम अत्यन्त संक्षेप में बौद्धदर्शन के लब्धप्रसिद्ध[5] चार दार्शनिक पद्धतियों पर विचार करेंगे। ये चार दार्शनिक पद्धतियाँ क्रमशः इस प्रकार हैं—१—वैभाषिक मत २—सौत्रान्तिक मत ३—माध्यमिक सम्प्रदाय ४—योगाचार सम्प्रदाय। इनमें से पहला मत हीनयान से संबंध रखता है अन्य तीन दार्शनिक पद्धतियाँ महायान की सीमा के अन्तर्गत आती हैं। इन उपर्युक्त चार मतों की प्रसिद्धि क्रमशः बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद, बाह्यार्थ अनुमेयवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद के अभिधान से भी है। निर्गुणियाँ[6] संतों की दार्शनिक विचारधारा की पृष्ठभूमि के रूप में इनमें से केवल माध्यमिक मत और योगाचार के विज्ञानवाद ही महत्त्वपूर्ण हैं। संतों की विचारधारा की आधारभूमि

---

[1] बौद्धदर्शन पृ० १४१ १४२

[2] देखिए नरी आसपैक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म निर्वाण का सिद्धान्त नामक प्रकरण

[3] आस्पैक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म एण्ड इट्स रिलेशन हीनयान पृ० ११२

[4] आस्पैक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म-चैप्टर आफ डाक्ट्रिन्स आफ निर्वाण

[5] बौद्धदर्शन—पृ० १६१

[6] वही पृ० १६२

के ये दोनों मत दो स्तंभ समझे जा सकते हैं अतएव यहाँ पर हम केवल उन्हीं दो के उन प्रधान सिद्धांतों का उल्लेख करेंगे जिनसे निर्गुण काव्यधारा का संबंध है।

माध्यमिक मत या शून्यवाद

शून्यवाद बौद्धदर्शन का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण मतवाद है। इसके प्रवर्तकों ने इसका मूल तथागत की शिक्षाओं में ढूँढ निकाला है[1]। यों तो प्रज्ञा पारमिता सूत्रों में इस मत का विवेचन किया जा चुका था किंतु इसकी प्रथम प्रतिष्ठा करनेवाले आचार्य नागार्जुन ही माने जाते हैं। उनकी माध्यमिक कारिका नामक रचना में इस सिद्धांत का बड़े प्रौढ़ ढंग से प्रतिपादन किया गया है। इस दर्शन में शून्यता के सिद्धांत का बड़े ही विस्तार से विवेचन मिलता है। इसको दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठित करके पोषित करनेवाले आचार्यों में नागार्जुन और आर्यदेव[2] बहुत प्रसिद्ध हैं। नागार्जुन रचित माध्यमिक कारिका तो इस दर्शन का प्राणभूत ग्रंथ[3] है। आर्यदेव के ग्रंथों में ज्ञान सार समुच्चय चतुः पीठ तंत्र राज आदि की सर्वाधिक ख्याति है। आचार्य चन्द्रकीर्ति[4] और शांतिदेव[5] ने भी इस दर्शन पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे थे। आचार्य शांतिदेव का बोधिचर्यावतार नामक ग्रंथ इस दर्शन का बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। आठवीं शताब्दि के आचार्य शांतरक्षित[6] भी इस दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् थे। इन्होंने तिब्बत में शून्यवाद का खूब प्रचार किया था। शून्यवादी आचार्यों ने वास्तविक सत्ता को शून्य-रूप[7] कल्पित किया है। अपने इस मत की पुष्टि शून्यवादी आचार्यों ने अनेक सयुक्त तर्कों के आधार पर की है।[8] यहाँ पर हम थोड़ी-सी व्याख्या शून्य शब्द की भी कर देना चाहते हैं। बौद्धों ने शून्य शब्द का प्रयोग समस्त सत्ता के निषेध के अर्थ में नहीं किया है। उन्होंने शून्य शब्द से उस परम तत्त्व का कथन किया है जिसकी अभिव्यक्ति, अस्ति नास्ति, तदुभय और नोभय नामक पक्षस्वरूप निर्देश की चार प्रणालियों के द्वारा नहीं की जा सकती।[9] हमारी समझ में उपनिषदों ने जिस भाव की अभिव्यक्ति नेति

---

[1] बौद्धदर्शन—पृ० ११२
[2] भारतीय दर्शन पृ० २११
[3] भारतीय दर्शन पृ० २११ और बौद्धदर्शन पृ०—११५।
[4] बौद्धदर्शन—पृ० ११०
[5] " " —पृ० १११
[6] " " —पृ० ११३
[7] " " —पृ० १२५
" " —पृ० १११
[9] न सन् नासन् न सदसन् चाप्यनुभयात्मकम्
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥ माध्यमिक कारिका १।७

रा की है बौद्धों ने उसी का प्रतिपादन शून्य से किया है। साधारणतया उनका शून्य शब्द द्वैताद्वैत विलक्षण अनिर्वचनीय पारमार्थिक सत्ता के लिए प्रयुक्त हुआ है। हीनयानी बौद्ध ने जिस प्रकार आचार पक्ष में मध्यमाप्रतिपदा का प्रयोग किया था उसी प्रकार माध्यमिकों ने दर्शन पक्ष में मध्यवर्ती सिद्धान्त स्वीकार किया है।[1] उनका कहना है कि पारमार्थिक सत्ता न तो पूर्णतया सत् रूप है और न केवल असत् रूप, वह वास्तव में शून्य रूप है। इस प्रकार शून्य को हम सत् और असत् भाव और अभाव दोनों के मध्य की स्थिति मान सकते हैं। यह तत्त्व सर्वश्रेष्ठ और अपराह्य माना गया है। सारा प्रपंच इसी का विवर्त है।[2] इतना होते हुए भी यह वेदान्तियों के ब्रह्म तत्त्व से भिन्न है। वेदान्ती लोग ब्रह्म तत्त्व को विश्व के समस्त पदार्थों के मूल में आधार रूप से कल्पित करते हैं। किन्तु माध्यमिकों की दृष्टि में संसार के समस्त पदार्थ किसी तत्त्व के आधार पर नहीं आधारित हैं। वे निरालम्ब और निःस्वभाव रूप हैं। अपनी निरालम्बता और निःस्वभावता के कारण ही वे शून्य रूप कहे जाते हैं।[3] नागार्जुन ने शून्य रूप का लक्षण देते हुए लिखा[4] है—

अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्।
निर्विकल्पमनानार्थं मेतत् तत्त्वस्य लक्षणम्॥

इस परिभाषा में शून्य की निम्नलिखित विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है—

१—अपर प्रत्ययता :—अर्थात् एक व्यक्ति दूसरे से इसका पूर्णरूपेण स्वरूप निरूपण नहीं कर सकता।

२—शान्त :—अर्थात् यह कि स्वभाव और निरालम्ब है।

३—प्रपंचों द्वारा अप्रपंचित होना :—यहाँ पर प्रपंच शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इसका अर्थ है शब्द। शून्य का विवेचन शब्दों के द्वारा नहीं किया जा सकता।

४—निर्विकल्पत्व :—शून्यता का चित्त से कोई संबंध नहीं होता है। यह भिन्न रूप भी नहीं होता है।

---

[1] कर्माणि मार्गाणि अपि तथा
गुहा अपूर्वाणि इमानि तथा॥
तस्मात् मैं तत्त्व विवर्जिता
मन हि ध्यान प्रमाणि कल्पित सामाधिरत॥ भारतीय दर्शन पृ० २१६

[2] बौद्ध दर्शन—पृ० ३६०

[3] „ „—पृ० ३६३

[4] „ „—पृ० ३६६

५—अनानार्थता :—शून्य से विविध अर्थों का बोध नहीं होता। इसीलिए यह तत्त्व नानार्थरहित माना गया है। शून्य के संबंध में माध्यमिक वृत्ति में लिखा है कि जो वस्तु प्रत्ययों के आधार पर जीवित रहती है वह वास्तव में अजात रूप होती है। शून्य भी प्रत्ययों पर आधारित रहता है इसलिए वह भी अजात ही है।[1]

माध्यमिक दर्शन में शून्य को निर्वाणस्वरूप भी कहा गया है। लिखा है—तदेवमशेषप्रपंचोपशमशिवलक्षणां शून्यतामागम्य यस्मात् शेष कल्पना जाल प्रपंचविगमो भवति। प्रपंचविगमाच्च विकल्पनिवृत्तिः। विकल्पनिवृत्त्या चाशेषकर्म क्लेशनिवृत्ति कर्म क्लेशनिवृत्त्या जन्मनिवृत्तिः तस्मात् शून्यतैव सर्वप्रपंचनिवृत्तिलक्षणत्वान्निर्वाण मुच्यते। अर्थात् समस्त प्रपंच के शांत करने में समर्थ कल्पना रूपी शून्यता जिसमें कि समस्त कल्पना जालों के प्रपंच विलीन हो जाते हैं सर्वथा आदरणीय है। इसमें पहुँच कर समस्त प्रपंचमय विकल्प भी नष्ट हो जाते हैं और जब चित्त के प्रपंचमय विकल्प नष्ट हो जाते हैं तो तज्जन्य कर्म क्लेश भी निवृत्त हो जाते हैं। कर्म क्लेश की निवृत्ति से जन्म की निवृत्ति हो जाती है, इसीलिए शून्यता ही सर्व प्रपंच निवृत्ति रूप निर्वाण कही गई है। माध्यमिकों ने शून्य तत्त्व का निरूपण एक दूसरे ढंग से भी किया है। उन्होंने सत्य[2] दो प्रकार का माना है। एक सांवृतिक सत्य दूसरा पारमार्थिक सत्य। सांवृतिक सत्य का प्रयोग अविद्या उद्भूत प्रपंच व्यावहारिक सत्ता के लिए किया जाता है। पारमार्थिक सत्य से प्रज्ञाजनित वास्तविक रूप का बोध किया गया है। उन्होंने इन दो प्रकार के सत्यों की विस्तृत व्याख्या करके शून्यता को समझाने की चेष्टा की है। उन्होंने शून्यता का यथार्थ रूप माना है। जगत् के सारे पदार्थ हेतु प्रत्ययों से उद्भूत माने जाते हैं, अतएव उनका कोई अपना स्वभाव नहीं होता। यह निःस्वभावता ही पारमार्थिक सत्य है यही निर्वाण रूप है। उसमें पूर्ण अद्वैतता रहती है इसीलिए शून्य वाद एक प्रकार का अद्वैतवाद माना जाता है। इस बात को अधिक स्पष्ट करते हुए बोधिचर्यावतार नामक ग्रंथ में लिखा है[3]—

सर्वधर्माणां निःस्वभावता शून्यता तथता भूतकोटि धर्मधातुरिति पर्यायाः।
सर्वस्य हि प्रतीत्यसमुत्पन्नस्य पदार्थस्य निःस्वभावता पारमार्थिक रूपम॥

अर्थात् समस्त पदार्थों की निःस्वभावता शून्यता तथता भूतकोटि धर्मधातु आदि सब शब्द पर्यायवाची हैं। समस्त प्रतीत्य समुत्पन्न पदार्थों की निःस्वभावता पारमार्थिक

---

[1] (क) माध्यमिक वृत्ति—पृ० १०२
(ख) बौद्ध दर्शन—पृ० १५९
[2] भारतीय दर्शन पृ० २२०
[3] बोधिचर्यावतार पृ० ३५४, बौद्धदर्शन पृ० १५१

होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिकों ने सत्य स्वरूप के विवेक के सहारे शून्यता का निरूपण किया है। अनुरूप शून्य का यही स्वरूप है। माध्यमिकों के इस मतवाद से हीनयानी सहमत नहीं[1] हैं। उनका कहना है कि जब परमार्थ वाक्यावाच्य परे है और व्यावहारिक सत्य भ्रममात्र है तो फिर विविध संस्कृत और असंस्कृत तत्त्वों के उपदेश की क्या आवश्यकता है। उनके इस आक्षेप का स्पष्टीकरण हमें नागार्जुन में मिलता है उन्होंने लिखा है कि परमार्थ सत्य के ज्ञान के हेतु व्यावहारिक सत्य की सहायता नितान्त आवश्यक होती है और निर्वाण का प्रश्न ही नहीं उठता। आचार्य[2] चन्द्रकीर्ति ने भी पंचविंशति साहस्रिका प्रज्ञापारमिता—में इसी सिद्धांत का समर्थन किया है। उसमें लिखा है—संस्कृत के बिना असंस्कृत का निदान नहीं किया जा सकता। माध्यमिकों का यह सिद्धांत ऋषियों के 'पर्दे पुरुष में पूरे पुरुष देखना है' से मिलता-जुलता है। हीनयानी लोग सत्य के उपर्युक्त दो भेद स्वीकार नहीं करते थे। उसका प्रमुख कारण यह था कि वे शून्य को अभावरूप मानते थे परमार्थ तत्त्वरूप नहीं। माध्यमिकों के और हीनयानियों के शून्यवाद में यही मौलिक अंतर है।

महायान ग्रंथों में शून्य के विविध प्रकार का उल्लेख मिलता[3] है। सामान्यतया उसके निम्नलिखित १० प्रकार बहुत प्रसिद्ध हैं।

१—अध्यात्म शून्यता[4]—इससे आत्मा का निराकरण हो जाता है। क्योंकि इसके समर्थक पदार्थों का विज्ञान अध्यात्म अर्थात् छः विज्ञानों से रहित घोषित करते हैं।

२—बहिर्धाशून्यता[5]—यह सिद्धांत महायानियों का प्रतीत होता है। इसके अनुसार बाहरी वस्तुएँ शून्यरूप होती हैं।

३—अध्यात्मबहिर्धा शून्यता[6]—इसके समर्थक वस्तुओं के बाह्य और आंतरिक दोनों प्रकार के धर्मों को शून्यरूप मानते हैं।

४—शून्यताशून्यता[7]—शून्यतानुसार भी इस अवस्था में शून्य तत्त्व पारमार्थिक सत्य के रूप में आभासित होने लगता है।

---

[1] बौद्ध दर्शन पृ० १५२
[2] ,, ,, १५३।
[3] ,, ,, १५३।
[4] ,, ,, १५४।
[5] ,, ,, १५४।
[6] ,, ,, १५४।
[7] ,, ,, १५४।

५—महाशून्यता[1]—जब दिशाएँ भी शून्य प्रतीत होने लगती हैं तब यह मह शून्यता की अवस्था होती है।

६—परमार्थ शून्यता[2]—इस शून्यता का आभास निर्वाण की अवस्था होता है।

७—संस्कृतशून्यता[3]—बौद्धदर्शन में वर्णित संस्कृत तत्त्वों की शून्यरूप मे प्रतीति संस्कृतशून्यता कहलाती है।

८—असंस्कृतशून्यता[4]—बौद्धदर्शन में वर्णित तत्त्वों को शून्यरूप कल्पि करना असंस्कृत शून्यता कहलाती है।

९—अत्यन्त शून्यता[5]—प्रत्येक अंतों को शून्यरूप कल्पित करना ही अत्यन्त शून्यता है।

१०—अनवराग्र शून्यता[6]—आरम्भ मध्य और अंत इन तीनों को शून्यरू कल्पित करना अनवराग्र शून्यता होती है।

११—अनवकार शून्यता[7]—अनवकार का अर्थ होता है अनुपाधिशेष निर्वाण। निर्वाण शून्यरूप कल्पित किया जाता है तब उस शून्यता को अनवकार शून्यता कहते हैं।

१२—प्रकृति शून्यता[8]—जब वस्तु प्रकृति को शून्यरूप मान लिया जाता है तो उसे प्रकृति शून्यता कहते हैं।

१३—सर्वधर्म[9] शून्यता—समस्त पदार्थ स्वभाव से रहित हैं यह कल्पना सर्व धर्म शून्यता की है।

१४—लक्षण शून्यता[10] —वस्तुओं के लक्षणों को शून्यमात्र मानना लक्षण शून्यता है।

---

1 बौद्धदर्शन पृ० १६४
2 " " १६५
3 " " १६५
4 " " १६५
5 " " १६५
6 " " १६५
7 " " १६५
8 " " १६६
9 " " १६६
10 " " १६६

१५—उपलम्भ शून्यता[1]—विविध काम की कल्पना गत शून्यता उपलम्भ शून्यता कहलाती है।

१६—अभाव स्वभाव[2] शून्यता—विविध तत्त्वों के योग से बनी हुई वस्तु में पाई जानेवाली शून्यता अभाव स्वभाव शून्यता कहलाती है।

१७—भाव शून्यता[3]—विविध स्कन्धों के भाव की शून्यता भावशून्यता कहलाती है।

१८—अभाव शून्यता[4]—आकाश और प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्या निरोध भी शून्यमात्र हैं इस बात की कल्पना अभाव शून्यता कहलाती है।

१९—स्वभाव शून्यता[5]—वस्तुओं के स्वभाव की शून्यता स्वभाव शून्यता कहलाती है।

२०—परभाव शून्यता[6]—वस्तुओं के यथार्थ रूप की शून्यता परभाव शून्यता हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिकों ने शून्य भाव को स्पष्ट करने के लिए २० प्रकार की शून्यताओं की कल्पना की है।

शून्य का इतना विवेचन करने के पश्चात् हमारे सामने तत्सम्बन्धी एक प्रश्न उपस्थित होता है वह यह है कि क्या शून्यवाद नास्तिक है या आस्तिक। इस सम्बन्ध में हमारे सामने दो प्रकार की धारणाएँ हैं। प्राचीन विद्वान् जिनमें आचार्य कुमारिल[7] और आचार्य शङ्कर[8] आदि प्रमुख हैं शून्यवाद को नास्तिक मत मानते थे। इन लोगों ने शून्य का अर्थ अभाव किया था। इसके विपरीत कुछ आधुनिक विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचने लगे हैं कि शून्यवाद आस्तिक मत था। इन विद्वानों में आचार्य बलदेव उपाध्याय विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा[9] है। नागार्जुन नास्तिक न थे। वह पूरे आस्तिक थे उनका शून्य भी यथार्थ सत् वस्तु है। एक दूसरे स्थल पर वह फिर लिखते हैं कि शून्य तत्त्व की मर्यादा से यह स्पष्ट प्रतीत

---

[1] बौद्धदर्शन पृ० १६६
[2] ,, ,, ,, १६६
[3] ,, ,, ,, १६६
[4] ,, ,, ,, १६७
[5] ,, ,, ,, १६७
[6] ,, ,, ,, १६७
[7] ,, ,, ,, २०० और श्लोक वार्तिक के पृ० २६८ १४५
[8] शंकर भाष्य २।२।३१
[9] बौद्ध दर्शन पृ० २६८

होता है कि शून्य परम तत्त्व है। यह वही वस्तु है जिसके लिए वेदान्तियों ने ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया[1] है। इस प्रकार नागार्जुन के शून्यवाद के संबंध में स्पष्ट रूप से दो मत दिखलाई पड़ते हैं। हमारी समझ में नागार्जुन का शून्यवाद न तो पूर्ण आस्तिक कहा जा सकता है और न पूर्ण नास्तिक। उनका शून्य अस्ति और नास्ति के बीच की एक अनिर्वचनीय विशेषता है। इसीलिए उसका वर्णन माध्यमिक कारिका के प्रारम्भ में ही निषेधात्मक[2] शैली में किया गया है। उसमें लिखा है—वह नाशहीन है, उत्पत्ति हीन है, लय रहित है, अंत एकार्थहीन, नानार्थ हीन, आगमन और निर्गमन रहित है। शून्य के उक्त विवेचन से भी उसकी अस्ति नास्ति विलक्षणता ही प्रकट होती है। जिस प्रकार से शून्य तत्त्व अस्ति और नास्ति विलक्षण है उसी प्रकार वह द्वैताद्वैत विलक्षण भी[3] है। उसे हम केवल अद्वैतरूप नहीं मान सकते यदि शून्य अद्वैतरूप और आस्तिरूप होता तो आचार्य[4] शंकर को उसका इतना खंडन न करना पड़ता। उन्होंने लिखा है—शून्यवादिपक्षस्तु सर्व प्रमाण प्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते। यह उक्ति इस खण्डन का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

योगाचार अथवा विज्ञानवाद

माध्यमिक मत के साथ ही बौद्धों का योगाचार संप्रदाय भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों में मैत्रेय असंग डिंगनाग धर्म कीर्ति बहुत प्रसिद्ध हैं। लंकावतार इस संप्रदाय का सबसे प्रामाणिक और प्रतिष्ठित ग्रंथ माना जाता है।

योगाचार मत में विज्ञान या चित्त को ही एकमात्र सत् तत्त्व माना गया है इसीलिए इसे विज्ञान वाद भी कहते हैं। इन्होंने चित्त विज्ञान को ८ प्रकार का माना है। ७ प्रकार[5] वही हैं जो वैभाषिकों को मान्य हैं। केवल अपवर्ग विज्ञान इनकी अपनी कल्पना[6] है। इनकी धारणा है कि समस्त संसार चित्त का ही परिणाम है और उपर्युक्त आठ प्रकार के चित्तों में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है। इस मत के लोग वस्तुओं के अस्तित्व को सत्य नहीं मानते उनको वह उपचारमात्र समझते हैं। ये उपचार भी २ प्रकार के बताए हैं—आत्मोपचार और धर्मोपचार। आत्मोपचार के अंतर्गत जीव आत्मा और मनुष्य आदि आते हैं। धर्मोपचार से स्कन्ध धातु आयतन

---

१ " " पृ० १०१

२ अनिरोध मनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्

३ माध्यमिक कारिका पृ० ३ अनेकार्थमनानार्थं मनागममनिर्गमम्। माध्य १।१

४ शांकर भाष्य २।२।३१

५ वैभाषिकों में मान्य विज्ञान के ७ प्रकार देखिए। बौद्ध दर्शन पृ० २१२

६ विज्ञानवाद के ८ प्रकार देखिए। बौद्ध दर्शन पृ० २४४

रूप वेदना संज्ञा और संस्कार आदि प्रतीत होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञानवादियों ने चित्त को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है। लंकावतार सूत्र में तो इसका और भी सुन्दर शब्दों में समर्थन किया[1] गया है।

> चित्तं वर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते।
> चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते॥

अर्थात् चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही निवृत्ति होती है। चित्त को छोड़कर न अन्य वस्तु उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। चित्त ही एकमात्र तत्त्व है। इस चित्त को मन विज्ञप्ति विज्ञान आदि की भी संज्ञा दी जाती है। विज्ञानवाद का सारभूत सिद्धांत यही है।

विज्ञानवादियों का भ्रमस्वरूप विवेचन भी महत्त्वपूर्ण है। उनका भ्रम संबंधी सिद्धांत आत्मख्याति यथार्थवाद के नाम से प्रसिद्ध है। उनके अनुसार बाह्य तत्त्व असत्य है और मन की कल्पना उसमें सत् का आरोप कर देती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि विज्ञानवादी मन या चित्त को ही संसार का कारण मानते हैं।

सन्तों पर बौद्धदर्शन का प्रभाव

बौद्ध दर्शन के उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में यदि संतों की बानियों का अध्ययन किया जाय तो यह स्वीकार किए बिना नहीं रहा जा सकता कि संत लोग बौद्ध दर्शन से बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। यह हो सकता है कि यह प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से न पड़ा हो। बौद्ध श्रमणों की सत्संगति ने अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें प्रभावित किया है।

बौद्ध धर्म एक बुद्धिवादी धर्म है। बौद्धों की बुद्धिवादिता संतों को बहुत प्रिय प्रतीत हुई थी। इसीलिए उन्होंने भी अपनी विचारधारा में बुद्धिवादिता को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने जो कुछ लिखा है वह सब उनकी स्वतः आत्मानुभूति का परिणाम है। रूढ़ि लोक और वेद के अंधानुसरण से उन्हें विशेष घृणा थी। कबीर ने लिखा है[2]—मैं लोक और वेद के प्रवाह में बह रहा था। मुझे सद्गुरु ने कृपा करके सन्मार्ग पर लगा दिया। संतों की बुद्धिवादिता ही धीरे-धीरे अतिवादिता में परिणत हो गई थी जिससे उनकी उक्तियों में काफी कटुता भी आ गई है। इसी

---

[1] बौद्ध दर्शन—पृ० २४१

[2] पीछे लागा जाइ था लोक वेद के साथ।
आगे ते सतगुरु मिल्या दीपक दीया हाथ॥ कबीर ग्रन्थावली पृ० १

भक्तिभावना से प्रेरित होकर उन्होंने रूढ़िवाद का आमूल परित्याग कर दिया था। कबीर लिखते हैं कि पंडित और मुल्ला ने जो कुछ लिखा है हमें उसका परित्याग करके सत्यान्वेषण मार्ग में प्रवृत्त हुये हैं।[1]

बौद्धदर्शन के चार आर्य सत्यों की छाया भी संतों की विचारधारा पर स्पष्ट दिखाई पड़ती है। पहला आर्य सत्य दुःख है। संतों ने दुःख की सार्वभौमिकता और सार्वजनीनता पर विशेष बल दिया है। संत[2] कबीर ने एक स्थल पर लिखा है—दुखिया सब संसार है सुखिया दास कबीर। इसी भाव का विस्तार करते हुए संत चरनदास ने लिखा है—*जो राम का भजन करता है वही सुखी है शेष सभी लोग चाहे राजा हों या प्रजा नेमी हो या दाता दुःखी दिखाई पड़ते*[3] हैं। बौद्धदर्शन के अनुसार इस विश्व व्यापी दुःख का कारण कर्मवाद और उससे प्रादुर्भूत होनेवाले जन्मान्तरवाद हैं। कर्मवाद की आधारभूमि वासना और अज्ञान हैं। इसीलिए उस दर्शन में वासना के परित्याग और वैराग्य पर बड़ा बल दिया गया है। संतों की बानियों में हमें कर्मवाद, जन्मान्तरवाद, तृष्णा और वासना आदि का दुःख के मूलभूत कारणों के रूप में उल्लेख मिलता है। कर्मवाद पर कुठाराघात करते हुए संत कबीर ने *लिखा*[4] है कि कर्म बन्धन रूप है उसमें सारा संसार उसी प्रकार फँसा हुआ है जिस प्रकार मछलियाँ धीवर के जाल में फँस[5] जाती हैं। जन्मान्तरवाद किस प्रकार दुःख का कारण होता है इसकी ओर संकेत करते हुए भी संत कबीर ने लिखा[6] है—जीव विविध योनियों में भ्रमण करके थक जाता है और अत्यधिक दुःख से दुःखी होकर निरपेक्ष हो जाता है। वासना के परित्याग पर भी संतों ने विशेष बल दिया है। संत सुंदरदास ने लिखा है कि सच्चा मुनि उसी को कहते हैं जो अपने अंतःकरण की वासना का परित्याग कर देता[7] है। इसी प्रसंग में संत सुंदरदास[8] ने वैराग्य की भी परिभाषा दी है। उसमें भी उन्होंने वासना के

---

[1] पंडित मुल्ला जो लिख दिया छाँड़ि चले हम कछु न लिया। कबीर ग्रन्थावली—पृ०

[2] साधो राम भजै से सुखिया—*राजा परजा नेमी दाता सबही देखे दुखिया।* इत्यादि संत चरनदास की बानी भाग १ पृ० ४२

[3] कबीर ग्रन्थावली—पृ० ४६०

[4] कबीर ग्रन्थावली पृ० २२८

[5] कर्मफँस जगजाल पसारा ज्यों धीवर मछरी गहिमारा—कबीर ग्रन्थावली पृ० २२८

[6] भरमत आदि अनम थकि निकस्यो अब दुःख करि हम हारया रे। कबीर ग्रन्थावली पृ० १६२।

[7] अन्तःकरणहु की वासना निवृत्त होय ताहूँ मुनि कहत है यहै बड़ा त्याग है। सुंदर विलास—पृ० १४८।

[8] सबसौं उदास होय आशिमन भिन्न करै ताका नाम कहियत परम वैराग है।

त्याग की ओर ही संकेत किया है। वह लिखते हैं कि सबसे उदासीन होकर मन को सबसे तटस्थ रखना ही परम वैराग्य है। दुःख के विविध कारणों का निर्देश समुदय नामक आर्य सत्य कहलाता है। कर्मवाद, जन्मांतरवाद, वासना और अज्ञान आदि के वर्णन समुदय से ही संबंधित हैं। उन दुःख के कारणों से निवृत्ति पाने की चेष्टा को निरोध कहते हैं। वैराग्य का उल्लेख इसी के अंतर्गत माना जायेगा। चौथा आर्य सत्य मार्ग है इसके अंतर्गत दुःख के निवारणार्थ की गई साधनाएँ आयेंगी। संतों ने मार्ग के रूप में ज्ञानभक्ति और वैराग्य का उपदेश दिया है। प्रत्येक साधक को उसकी अपनी प्रकृति के अनुकूल ही ज्ञानभक्ति और योग का आचरण करना चाहिए। इसी भाव की व्यंजना करते हुए सहजोबाई[1] ने लिखा है। सद्गुरु का लक्षण है कि वह अपने शिष्य की प्रकृति को पहचानकर उसकी बुद्धि के अनुकूल ज्ञान भक्ति एवं योग में से किसी एक का उपदेश दे। बौद्ध दर्शन में ज्ञान को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। संत लोग तो इस ज्ञान मार्ग के कट्टर अनुयायी थे। कोई आश्चर्य नहीं कि उन्हें ज्ञान मार्ग को अपनाने के लिए बौद्ध दर्शन से प्रेरणा मिली है। संत सुंदरदास ने ज्ञान के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ज्ञान समुद्र के सदृश है उसकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। वह अकूपार है वारपार नहीं[2]। इसी प्रसंग में हम बौद्ध दर्शन के एक प्रभाव का उल्लेख और कर सकते हैं। उसके साधना पक्ष के अंतर्गत व्यथा क्लेशमय साधना का विरोध मिलता है। संत लोग भी संभवतः इस विशेषता से प्रभावित हुए थे। उन्होंने भी सर्वत्र व्यथा क्लेशमय साधना का विरोध किया है। संत गुलाल साहब ने लिखा है कि लोग आत्मरूपी परमात्मा को तो जानने की चेष्टा नहीं करते व्यर्थ ही व्यथा क्लेशमयसाधनाएँ करते रहते[3] हैं।

बौद्ध दर्शन में बहुत से सामाजिक तत्त्व भी उपलब्ध होते हैं जैसे महाकरुणा की भावना से प्रेरित लोक संग्रह का भाव वर्णव्यवस्था का विरोध, आत्मवाद, अंध विश्वास का त्याग, सदाचरण और सत्याचरण का महत्त्व आदि बौद्ध दर्शन के इन सामाजिक तत्त्वों की छाया भी संतों की विचारधारा पर दिखाई पड़ती है। महाकरुणा और लोकसंग्रह की ओर संकेत करते हुए संत मलूकदास[4] ने लिखा है कि परमात्मा उन्हीं को प्राप्त होता है जो दूसरों के दुःख को अपना दुःख समझता है और

---

[1] ज्ञान भक्ति और जोग का यह भेदे पहचान।
जैसी जाकी बुद्धि ताहि ताहि बतावै ध्यान॥ सहजोबाई की बानी पृ० २

[2] सुंदर ज्ञान समुद्र की महिमा कहिय कौन।
अकूपार भी इह भाति तुम जिनि जाना कौन॥ संत सुधासार पृ० ५८१

[3] आतम राम न जानहि करनी करत बहु भाव दिखावें। गुलाल साहब की बानी पृ० २

[4] औरन का दुख समझ कर जाने ताहि मिले भगवान। संत मलूकदास की बानी पृ० १८

महाकरुणा से आप्लावित रहता है। संत सुन्दरदास ने लोक संग्रह की ओर संकेत करते हुए लिखा है। सच्चा ज्ञानी लोक संग्रह के कार्य में लगा रहता[1] है। वर्णाश्रम धर्म के विरोधी तो संत लोग थे ही। वर्णाश्रम धर्म पर कुठाराघात करते हुए चरनदास[2] ने लिखा है।

चारबरन आश्रम माहिं नाहिं कमना कोई

इन्हीं संत ने एक दूसरे स्थल पर पुनः लिखा[3] है।

चरनदास भए बावरे जाति बरन कुल छोर

साम्यवाद भी संतों का प्रिय सिद्धांत है। साम्यवाद की प्रतिष्ठा उनकी बानियों में सर्वत्र मिलती है। हो सकता है कि बौद्धों के साम्यवाद से उन्हें प्रेरणा मिली हो किंतु बौद्ध के साम्यवाद से उनका साम्यवाद भिन्न है। संतों का साम्यवाद सामाजिक और आत्मिक साम्य है किंतु बौद्धों का केवल सामाजिक है। बौद्धों की प्रज्ञा परिमिताओं ने संतों को आचरण प्रवण होने की प्रेरणा अवश्य दी होगी। संत चरनदास जी की निम्नलिखित पंक्तियों पर बौद्धों की प्रज्ञा परिमिताओं का स्पष्ट प्रभाव दिखाई[4] पड़ता है—

दया नम्रता दीनता छमा शील संतोष।
इनकूं ले सुमिर न करै निश्चय पावै मोष ॥

बौद्धों की अष्टांगिक मार्ग साधना भी बहुत प्रसिद्ध है। उसका प्रधान सिद्धांत मध्य मार्गानुसरण से संबंधित है। संतों पर इस सिद्धांत का भी प्रभाव पूरा-पूरा दिखाई पड़ता है। संत दादू ने इस मध्यमार्ग साधना की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि हिंदू और मुसलमानों की साधना विधियाँ अपनी-अलग हैं। साधु का मार्ग उन दोनों के मध्य भाग से संबंधित रहता[5] है। इसी प्रकार संत कबीर ने भी परम तत्त्व के निरूपण में मध्यमार्ग का अनुसरण किया है वह लिखते हैं—वाणी से जिसका वर्णन किया जाता है वह अक्षर ब्रह्म है और जो वाणी के परे है वहाँ मन स्थिर नहीं रहता

---

[1] ज्ञानी लोक संग्रह के करत व्यवहार है। सुंदरविलास पृ० १५१

[2] चरनदास की बानी भाग २ पृ० ११

[3] चरनदास की बानी भाग २ पृ० १५

[4] संत सुधासार खंड २—पृ० १६४

[5] दादू अरबी हिंदू तुरक की अपनी अपनी ठौर।
दोहूँ बीच मारग साधु का संतों की राह और ॥ संतसुधासार—पृ० ४८६

है। वास्तव में वह परमात्मा वाणी और मौन दोनों के मध्य की वस्तु है। वह जैसा है उसे वैसा ही समझना चाहिए। वह किसी को दिखाई नहीं देता है।[1]

अनक्षर तत्त्व के संबंध में बौद्ध दर्शन मौन भाव का ग्रहण करना ही उचित समझता है। नागार्जुन ने महायान विंशक में परम तत्त्व को वाच्यावाच्य परे[2] कहा है। बोधिचर्यावतार में भी बौद्ध धर्म को अनक्षर कहा गया है। इसी प्रकार आचार्य[3] चन्द्रकीर्ति ने भी लिखा है आर्यों के लिए परमार्थ मौन रूप है। संत लोग बौद्ध दर्शन के इस सिद्धांत से भी प्रभावित हुए थे। इसी प्रभाव के फलस्वरूप कबीर ने लिखा है[4]—

भारी कहौं तो बहु डरौं हल्का कहौं तो झूठ।
मैं का जाणौं राम को नैनों कबहूं न दीठ॥

संत लोग बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद, शून्यवाद और विज्ञानवाद से भी प्रभावित हुए थे। इनमें भी शून्यवाद और विज्ञानवाद का प्रभाव कुछ अधिक दिखाई पड़ता है। शून्यवाद को उन्होंने अपने ढंग पर अपनाने की चेष्टा की थी। बौद्धों का शून्यवाद नास्तिक है और संतों का आस्तिक। जहाँ तक क्षणिकवाद का संबंध है वह सत्कार्यवाद से प्रभावित प्रतीत होता है। वास्तव में संत लोगों में क्षणिकवाद और सत्कार्यवाद का समन्वित रूप मिलता है। जगत् वर्णन के प्रसंग में इस बात पर विशेष प्रकाश डालेंगे। विज्ञानवाद के उदाहरण के रूप हम सुंदरदास और संत दादू के उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं। संत सुंदरदास ने लिखा है—यह संसार मन के भ्रम के कारण ही दिखाई पड़ता है। मन का भ्रम दूर हो जाने पर इस संसार का तिरोभाव हो जाता है।[5] यहाँ पर हमें बौद्धों के विज्ञानवाद के भ्रम संबंधी सिद्धांत का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस सिद्धांत का स्पष्टीकरण हम ऊपर कर चुके हैं। संत दादू ने भी चित्त के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—जब चित्त

---

[1] जहाँ बोल तहँ आखर आवा, जहँ अबोल तहँ मन न रहावा।
बोल अबोल मध्य है सोई, जस है तस कोइ लखै न कोई॥ क० ग्र०—पृ० २२१

[2] बोधिचर्यावतार—पृ० ३६५

[3] माध्यमिक वृत्ति—पृ० ५६

[4] कबीर ग्रन्थावली—पृ० ६७

[5] मन ही के भ्रम तें जगत यह देखियत,
मन ही के भ्रम गये जगत का विलास है॥ सुन्दरविलास पृ० ६६

चित्त में समा जाता है तब केवल भगवान् ही भगवान् शेष रह जाते हैं। यही विज्ञानवाद[1] है। संतों पर बौद्धों की निर्वाण संबंधी भावना का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इसका स्पष्टीकरण मुक्ति के प्रसंग में किया जायेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों पर बौद्ध-दर्शन का अच्छा प्रभाव पड़ा है।



[1] जब चितहि चित समाना।
तब हरि बिन और न जाना॥ दादू साहब की बानी भाग २ पृ० ३५

तीसरा अध्याय

आध्यात्मिक पृष्ठभूमि (उत्तरार्द्ध)

शैवदर्शन पद्धतियाँ

- पाशुपत दर्शन
  - सिद्धांत विवेचन—प्रभाव निर्देश

शैव सिद्धांत मत

- सिद्धांत विवेचन—प्रभाव निर्देश

वीर शैव मत

- सिद्धांत विवेचन—प्रभाव निर्देश

प्रत्यभिज्ञा दर्शन

- सिद्धांत पक्ष—प्रभाव पक्ष

कुछ अन्य छोटी दर्शन पद्धतियाँ

- रसेश्वर दर्शन—

शैव शाक्त तंत्र और तन्त्रों की विचारधारा

प्रमुख प्रवृत्तियों और सिद्धांतों का निर्देश

- तांत्रिक—महत्त्व – दैवी उत्पत्ति – प्राचीनता – साहित्य
- शाक्तवाद—साधनाव्यवस्था – वामाचार विरोध – ईश्वर
- साधना—भुक्ति-मुक्तिव्यवस्था – ज्ञान का महत्त्व – गुरु – रहस्यवाद
- वर्णविरोध—मोक्ष चैतन्य – दार्शनिक पक्ष – तांत्रिकों की बुद्धिमूलक
- विचारधारा—शक्ति तत्त्व – शिव और शक्ति की अद्वैतता
- माया शक्ति—महामाया माया – साधारण माया – प्रतिष्ठा कला
- निवृत्तिकला—साधारण माया – मायातत्त्व – नाद – बिंदुतत्त्व
- तांत्रिकों के जगत् संबंधी विचार—आभासवाद – इच्छाशक्ति – पंचकर्मात्मा
- आमावीरादि

साधना पद्धति—

- साधनात्मक साधना का रूप—तांत्रिक उपासना, कुण्डलिनी साधना
- कुण्डलिनी मार्ग—कुण्डसाधना, नाद और शक्तिपात, निर्गुण पन्थ

निर्गुण सम्प्रदाय पर शैव शाक्त तंत्रों का प्रभाव

बौद्ध तंत्र साधना और हिंदी के निर्गुणियाँ कवि
बौद्ध तांत्रिकों की विविध शाखाएँ
मंत्रयान और उसके प्रमुख तत्व

वज्रयान—सहजयान, कालचक्रयान, बौद्ध तांत्रिकों का नैतिक दृष्टिकोण

निर्गुणियाँ कवियों पर बौद्ध तांत्रिकों का ऋण

जैन तांत्रिक और संत कवि

नाथ पंथ—

नाथ पंथी साहित्य—नाथ सम्प्रदाय का ऐतिहासिक विकास—
मत्स्येन्द्रनाथ का योगिनी कौल ज्ञान—मत्स्येन्द्रनाथी मत में बिंदु का स्वरूप

निर्गुण काव्यधारा पर मत्स्येन्द्रनाथी धारा के प्रभाव—

गोरखनाथी धारा—परिचय, दार्शनिक सिद्धांत,
साधना पद्धति—निर्गुण काव्यधारा पर गोरखनाथी
मार्गपंथ के प्रभाव—

सन्तों पर इस्लाम धर्म की छाया—

प्रभाव की सीमाएँ—सत्यनिष्ठा – दीन – इमान,
साम्यवाद—निर्वाविचार – सन्तों की प्रतिष्ठा
कर्मवाद संहारात्मक प्रवृत्ति—

सूफीमत और सन्तकवि—

इस्लाम और सूफी मत में अंतर—अध्यात्म चिंतन, तरीका या साधना पथ,
सन्तमत पर सूफियों के प्रभाव—

शैवदर्शन और निर्गुण काव्यधारा

शैवदर्शन पद्धतियाँ—मध्य युग के प्रभावशाली दर्शनों में शैव दर्शन का स्थान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। शैवदर्शनों को स्थूल रूप से दो भागों में विभाजित करते हैं :—

आगमिक और पाशुपत

इसमें आगमिक दर्शनों को पाशुपत की अपेक्षा वैदिक विचारधारा से अधिक संबंधित माना जाता है। आगमिक दर्शन की, बहुत सी शाखाएँ और

मथाम्नाएँ हैं। जिनमें शैव सिद्धांत प्रत्यभिज्ञा दर्शन, वीर शैवमत, तामिल भक्ति सम्प्रदाय विशेष प्रसिद्ध हैं। पाशुपत दर्शनों के अंतर्गत पाशुपत, नकुलीश, कापालिक, रसेश्वर, गोरखनाथी आदि आते हैं। इनमें सबसे प्रमुख चार हैं —

१ पाशुपत।
२ शैवमत।
३ वीर शैव मत।
४ प्रत्यभिज्ञा दर्शन।

संतों पर थोड़ी-बहुत छाया इन्हीं चारों दर्शनों की दिखाई पड़ती है। शैव दर्शन बड़ा कठिन है। मध्ययुग में भी ये सामान्य जनता की पहुँच के बाहर थे। केवल अलौकिक प्रतिभाशाली दार्शनिकों की प्रतिभा का ही क्रीड़ा केन्द्र बने हुए थे। संभवतः इसीलिए संतों पर शैव दर्शनों के सिद्धांतों का बहुत अधिक प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है।

पाशुपत दर्शन

सिद्धांत विवेचन—इस दर्शन का दूसरा नाम नकुलीश या लकुलीश भी बताया जाता है। पशुपति शब्द से पाशुपत शब्द व्युत्पन्न हुआ है। पशुपति शिव[1] का ही दूसरा नाम है। इस दर्शन का संकेत हमें सर्वप्रथम महाभारत[2] में मिलता है। महाभारत के बाद इसकी झलक वामन-पुराण[3], शिव पुराण[4] आदि में दिखाई पड़ती है। पुराण ग्रंथों के पश्चात् इस दर्शन की विवेचना अभिनव गुप्त ने अपने तंत्रालोक में, माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शन संग्रह में, उदयनाचार्य ने अपनी न्याय कुसुमांजलि में, और भासर्वज्ञ नामक आचार्य ने गण कारिका में, अधिक व्यवस्थित और सांगरूप में की है। मुझे ऐसा लगता है कि इस दर्शन के बहुत से प्रामाणिक ग्रंथ लुप्त हो गए हैं। उनके अनुसंधान की आवश्यकता है।

---

[1] देखिए प्राचीन साहित्य में निम्नलिखित स्थलों पर पशुपति शब्द का प्रयोग मिलता है—
(क) शुक्ल यजुर्वेद १६।१८
(ख) अथर्ववेद ११।२।२८
(ग) आश्वलायन गृह्य सूत्र ४।८
(घ) पारस्कर गृह्य सूत्र ३।८
[2] महाभारत १३।१४ १८
[3] वामन पुराण ६।८६-९१
[4] शिव पुराण वायवीय संहिता अध्याय

इस दर्शन में पंच पदार्थों की विवेचना की गई है। उनके नाम क्रमशः कार्य कारण, योग, विधि और दुखांत हैं।

कारण के सम्बन्ध में सर्वदर्शन संग्रह में लिखा है कि पति ही सब का कारण है। वही इस जगत् का कर्ता-भर्ता और संहर्ता है। वह वस्तुतः अद्वैत रूप है किन्तु गुण क्रिया आदि के भेद से अनेक प्रतीत होता है। वह अनंत ज्ञानरूप है, अनंत शक्ति रूप है।

दूसरा तत्त्व कार्य है, जो कुछ पराधीन है, वही कार्य कहलाता है। कार्य अपने कारण पति पर अवलम्बित रहता है। इस कार्य के तीन भेद बताये गये हैं—विद्या, कला और पशु। पशु के गुणों को अविद्या कहते हैं। यह अचेतन तत्त्व है। इसके भी दो प्रकार होते हैं—बोध और अबोध। विवेक ही जब लक्ष्य पर आश्रित होता है तब उसे चित कहते हैं। इसी के द्वारा प्राणियों को चित्-वित् वस्तुओं का बोध होता है। विद्या तत्त्व भी अविद्या समान प्रतीत होते हैं।

कला तत्त्व भी चेतन पति पर अवलम्बित रहनेवाला अचेतन तत्त्व है। उसके भी कार्याख्या और कारणाख्या नामक दो भेद माने गये हैं। कार्याख्या के अंतर्गत पाँच भूत और उनके पंच गंधादि पंच गुण आते हैं। कारणाख्या के अंतर्गत पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, त्रिविधा अंतःकरण माने गये हैं।

पशु शब्द जीव को कहते हैं। उसकी दो कोटियाँ बताई गई हैं—सांजन और निरंजन। शरीर विशिष्ट जीव को सांजन और अशरीरी जीव को निरंजन कहते हैं। पशु जब पाश से मुक्त हो जाता है तभी वह शिवस्वरूप हो जाता है।[1] इस दर्शन में पशु या जीव पति और जगत् से भिन्न बताये गये हैं। यद्यपि उसके गुण मूलतः वे ही होते हैं जो पति में हैं। इसे माहेश्वर का अंश भी माना गया है। इस दृष्टि से यह वेदांत सिद्धांत के अधिक समीप है। अंतर केवल इतना है कि वेदांत में जीव का बंधन भ्रांतिमय होता है किन्तु यहाँ पर पशु का पशुत्व भ्रांति नहीं है। वेदांत दर्शन में जीव और परमात्मा के सम्बन्ध में यहाँ एक और अन्तर दिखलाई पड़ता है। वेदान्त में जीव माया से मुक्त होकर ब्रह्म से नीर क्षीर की तरह एक हो जाता है, किन्तु पशु बंधन से मुक्त होकर भी निरंजन पशु के रूप में पति के विराट् स्वरूप में अपना अस्तित्व बनाये रखता है। वेदान्त के अनुसार जीव को माया आवद्ध करती है किन्तु इस दर्शन के अनुसार जीव को मल या पाश आबद्ध करता है। वह मल तीन प्रकार का कहा गया है। अविद्या, कर्म और माया। यहाँ हम माया पर थोड़ा अधिक विचार कर लेना

[1] देखिए बलदेव उपाध्याय का वेदान्त पृ० ४४६

जाता है, क्योंकि इसको संत कवियों ने बार-बार प्रयुक्त किया है। इस दर्शन में माया को विश्व का उपादान कारण माना गया है।[1] मृगेन्द्र तन्त्र में स्पष्ट लिखा है कि यह जगत् का कारण यह माया होनी ही चाहिए। इस दर्शन में माया वेदान्त की भाँति मिथ्या नहीं मानी गई। किन्तु यह प्रवाहरूप नित्यत्व सिद्ध कर दी गयी है।[2] वेदान्तिक माया और पाशुपतों की माया में यही अंतर है।

योग तत्त्व :—साधना रूप में इस दर्शन में योग तत्त्व की बड़ी महिमा बतलाई गई है। जिस द्वारा आत्मा और परमात्मा के संबंध स्थापन का योग कहते हैं। इसके योग की एक बहुत बड़ी विशिष्टता है। पातंजलि-योग की भाँति इसका यहाँ साधक साध्य से योगावस्था में पूर्ण अद्वैत लाभ प्राप्त नहीं कर पाता। दोनों की सत्ता अलग-अलग बनी रहती है। इस दर्शन में इस योग के दो भेद बतलाए गए हैं। एक क्रियात्मक और दूसरा उपरमात्मक। यह क्रमशः कर्म और वैराग्य के पर्याय माने हैं।[3]

विधि :—यह तत्त्व भी साधक मार्ग का ही एक अंग प्रतीत होता है। जिस व्यापार से धर्म और अर्थ की सिद्धि प्राप्त होती है उसे विधि कहते हैं जैसे भस्म, उपहार, जप आदि। पाशुपतों का पाँचवाँ तत्त्व दुःखान्त है। वेदान्त की भाषा में इसे मोक्ष कह सकते हैं। दुःखान्त का अर्थ इस आध्यात्मिक दर्शन में आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों की निवृत्ति मानी गयी है। इस दृष्टि से इसकी दुःखान्त की धारणा सांख्य-दर्शन की मुक्ति से मिलती है। संक्षेप में पाशुपत दर्शन यही है।

प्रभाव निर्देश :—इस दर्शन के प्रकाश में यदि निर्गुण काव्यधारा का अध्ययन किया जाए तो हमें स्वीकार करना होगा कि निर्गुणियाँ संत लोग इस दर्शन से बहुत अधिक प्रभावित नहीं हुए थे। इसके कई कारण हो सकते हैं। पहला कारण तो यह है कि उस युग में इस दर्शन का प्रचार और प्रसार बहुत कम था। दूसरे इस दर्शन के ग्रंथ भी सब उपलब्ध न थे जिनका ज्ञान वह पंडितों की सहायता न कर सकते। ऐसा होते हुए भी उन पर इस दर्शन के निम्नलिखित प्रभाव ढूँढ़े जा सकते हैं।

---

[1] शिवसूत्र १।१।

[2] मृगेन्द्र तंत्र १।३।१८

[3] कौण्डिन्य भाष्य पाशुपतसूत्रम्—गोपीनाथ कविराज पृ० १०१
सरस्वती भवन स्टडीज भाग ९ पृ० ९९, १०४

१—ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण मानना

यद्यपि अधिकांश संत लोग शंकराचार्य से ही प्रभावित थे। उन्हीं के आधार पर वे ब्रह्म को जगत् का निमित्त उपादान कारण मानते थे। किन्तु फिर भी कुछ संतों की झुकाव पाशुपत दर्शन की ओर था। उससे प्रभावित होकर उन्होंने ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण माना। उदाहरण में हम संत पलटू साहब की निम्नलिखित उक्ति ले सकते हैं—

> ऐसी कुदरति तेरी साहिब, ऐसी कुदरति तेरी है॥
> धरती नभ बिनु भीत उठाया, तिसमें घर इक छाया है।
> तिस घर भीतर हाट लगाया, लोग तमासे आया है[1]॥

२—निरंजन की कल्पना को आत्मसात् करने की चेष्टा

पाशुपतों की निरंजनवादी कल्पना से भी संत लोग प्रभावित प्रतीत होते हैं। हम ऊपर बता चुके हैं कि पाशुपत दर्शन का विकास कई रूपों में हुआ था। उनमें से एक धारा गोरखनाथी भी थी। हो सकता है कि कोई शाखा निरंजनमार्गियों की भी हो। आगे चलकर उसी से निरंजन मत का उदय हुआ है। उसी शाखा से निरंजन शब्द का प्रयोग संत कवियों ने सीखा हो। वैसे भी इसका प्रयोग गोरखपंथी संतों में बहुत मिलता है। हमारी दृढ़ धारणा है कि निरंजन शब्द निर्गुण काव्यधारा के कवियों में पाशुपत दर्शन की किसी शाखा के माध्यम से ही आया है। चाहे वह गोरखनाथी शाखा हो या कोई अन्य। सन्त कवियों पर पाशुपत दर्शन का केवल इतना ही प्रभाव प्रतीत होता है।

शैव सिद्धान्त मत

सिद्धान्त विवेचन—इस मत का प्रचार एवं प्रसार शैव-तामिल देश रहा है। इस मत में भक्ति की अच्छी मान्यता रही है। इसीलिए तामिल देश में उच्चकोटि के शैव भक्त उत्पन्न हुए थे। इस दर्शन के प्रतिपाद्य तीन तत्त्व हैं—शिव, शक्ति और बिंदु। शिव उसके रचयिता, शक्ति सहायिका और बिंदु उपादान माने गये हैं।

शिव तत्त्व—शिव के लिए इस दर्शन में 'पति' शब्द का प्रयोग किया गया है। परम ऐश्वर्य, स्वातंत्र्य तथा सर्वज्ञत्व इनके असाधारण गुण माने गये हैं। उनकी कल्पना पंचमंत्रतनु के रूप में की गई है। उनके पाँच कृत्य

---

[1] पलटू साहिब भाग ३ पृ० ४

वर्णित किये गये हैं। ये क्रमशः सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह करते हैं। ये शिव दो अवस्थाओं में रहते हैं—कभी लयावस्था में कभी भोगावस्था में। लयावस्था में शक्ति शिव में अवस्थित रहती है और भोगावस्था में शक्ति उन्मेष को प्राप्त हो जाती है।[1]

पशु—वेदान्त में जिसे जीव कहते हैं, शैव मत में उसी को पशु कहते हैं। ये लोग पशु को अणुरूप और अनेक मानते हैं। इस मत में इसे ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति से समन्वित होने के कारण कर्ता भी कहा गया है। यह पशु तीन प्रकार का होता है—विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। इनको विमूढ़ित करनेवाला मल भी तीन प्रकार का होता है—आणवमल, कार्मणमल और मायीयमल। पशुओं को बाँधनेवाला पाश भी चार प्रकार का होता है—मल, कर्म, माया और रोध शक्ति। यहाँ पर विस्तारभय से सब का विवेचन नहीं करेंगे। हाँ, माया का स्पष्टीकरण अवश्य करना चाहते हैं। इस मत में माया वेदान्त की भाँति मिथ्या नहीं मानी गई है। यह वस्तु रूप एक और नित्य कही गई है।[2]

इस दर्शन का लक्ष्य पशु के मल एवं पाश का निराकरण करके उसे मोक्ष दिलाना है। ज्ञान, तप आदि नाना साधनों को ये इस लक्ष्य की पूर्ति में अपर्याप्त मानते हैं। इन्होंने शक्तिपात नामक साधन पर अधिक बल दिया है। शक्तिपात का अर्थ है भगवान् की अनुग्रह शक्ति का प्राप्त करना। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि ये लोग भगवान् की कृपा साध्यता में ही विश्वास करते हैं क्रिया साधना में इन्हें विशेष आस्था नहीं है। शक्तिपात के लिए दीक्षातत्त्व की बड़ी आवश्यकता बतलाई गई है। भगवान् स्वरूपी गुरु दीक्षा द्वारा शिष्य का उद्धार करता है और उसे भवबंधन से मुक्त करता है।

इनका मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त भी वेदान्तियों से सर्वथा भिन्न है। मोक्ष का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अभिनव गुप्त ने लिखा है "मोक्ष का न तो कोई स्थान होता है और न उसके लिए अन्यत्र कहीं जाना पड़ता है। अज्ञान भेदन करनेवाली स्वशक्ति का उन्मेष ही मोक्ष है। स्पष्ट सत्य है कि ये लोग केवल ज्ञान की प्राप्ति को ही मोक्ष नहीं मानते। उसके लिए क्रिया शक्ति का उन्मेष होना आवश्यक होता है।"

बिन्दु तत्त्व—ऊपर अभी हम बतला आए हैं कि शैव सिद्धान्ती आचार्य बिन्दु को उपादान मानते हैं। इसका दूसरा नाम महामाया भी है। जब यह बिन्दु

[1] देखिए—"शैव स्कूल आफ हिन्दुइज्म"—शिवाचार सुंदरम् ५५ से ६६ तक

[2] भारत दर्शन संग्रह—वेंकटेश्वर प्रेस सं० १६८२ पृ० १६० १६१

क्षुब्ध होता है तभी शुद्ध देह, ऐन्द्रिक भोगों और भुवनों की उत्पत्ति होती है। बिन्दु के विक्षोभ से अध्वाओं का जन्म होता है। इस सम्बन्ध में भी कई मत हैं। पहला मत है—बिन्दु विक्षुब्ध होकर एक ओर तो शुद्ध अध्वाओं को जन्म देता है और दूसरी ओर नाद को जन्म देता है। यह नाद भी कई प्रकार का होता है। दूसरे मत के अनुसार शुद्ध एवं अशुद्ध दोनों अध्वाओं का कारण बिन्दु ही है। इस मत वाले बिंदु की तीन अवस्थाएँ मानते हैं—परा, जिसे महामाया, परमाकाश और कुंडलिनी आदि भी कहते हैं। यह परम कारण और नित्यरूप है। दूसरी दो अवस्थाएँ सूक्ष्मा और स्थूला नाम से प्रसिद्ध हैं। ये कार्यरूप होने के कारण अनित्य हैं। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि बिंदु में क्षोभ किस कारण से उत्पन्न होता है। तन्त्र ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि बिंदु का क्षोभ शिव या परमेश्वर के स्पर्श से होता है।

परमेश्वर, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, पंचकृत्यकारी कहा गया है। अपने पाँचों कृत्यों के संपादनार्थ उसे बिंदु का क्षोभ करना पड़ता है। बिंदु को क्षोभित करने के लिए शिव का सक्रिय होना आवश्यक होता है। ज्यों-ज्यों लयावस्था से शिव और शक्ति का क्रियावस्थाओं में विकास होता जाता है उसी क्रम से बिंदु का भी विविध अवस्थाओं में विकास होता है। ये अवस्थाएँ कलाएँ कहलाती हैं ये संख्या में पाँच हैं—निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यातीत। अंतिम अवस्था बिंदु की स्वावस्था मानी जायेगी और शेष चार अवस्थाओं से ही योगसिद्धियों का जन्म होता है[1]।

बिंदु के सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का मत उपर्युक्त मत से भिन्न है। ये लोग परमेश्वर की दो प्रधान शक्तियाँ मानते हैं—समवायिनी शक्ति और परिग्रहरूपा शक्ति। परिग्रह शक्ति अचेतन होती है और समवायिनी शक्ति चेतन और निर्विकार। परमेश्वर की परिग्रह शक्ति ही इनके मतानुसार बिंदु कहलाती है। बिंदु के भी ये लोग दो भेद मानते हैं—शुद्ध और अशुद्ध। इन्हें क्रमशः महामाया और माया कहा जाता है।

बिंदु के सम्बन्ध में एक मत और प्रसिद्ध है। बिंदु, संप्रदायवादियों का कहना है कि शिव की समवायिनी शक्ति दो प्रकार की होती है—एक दृक् शक्ति और दूसरी क्रिया शक्ति या कुण्डलिनी शक्ति। दूसरी शक्ति को ही बिंदु कहते हैं। यह बिंदु ही शुद्ध एवं अशुद्ध अध्वाओं का कारण कहा गया है। संक्षेप में शैव सिद्धांत का मत यही है।

---

[1] देखिए—गोपीनाथ कविराज लिखित—तांत्रिक दृष्टि नामक लेख, कल्याण के साधनांक में।

प्रभाव निर्देश—संतों पर इस दर्शन के दो प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। एक मोक्षधारणा विषयक और दूसरा बिंदु धारणा सम्बन्धी। इस दर्शन के आचार्यों के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् मुक्तात्मा को कहीं आना-जाना नहीं पड़ता है। उनके मतानुसार अज्ञान भेदन करनेवाली स्वशक्ति का उन्मेष ही मोक्ष है। मोक्ष संबंधी इस धारणा की अभिव्यक्ति हमें कहीं-कहीं संतों की बानियों में मिल जाती है। उदाहरण के लिए हम कबीर की निम्नलिखित पंक्ति ले सकते हैं—

कहै कबीर परम पद पाया कहीं जाऊँ न आऊँ[1]

जहाँ तक बिन्दु धारणा का संबंध है संतों ने उसकी अभिव्यक्ति अपने ढंग पर की है। वे नाद को ब्रह्मरूप मानते थे और जीव को बिंदु रूप। उनकी साधना का लक्ष्य इन दोनों में तादात्म्य स्थापित करना था। तादात्म्य स्थापित करनेवाली इस साधना को उन्होंने नाद बिंदु योग कहा है। वे नाद और बिन्दु दोनों की स्थिति शरीर के अंतर्गत ही मानते थे। यह बात उनकी बानियों से प्रकट है। उदाहरण के लिए हम भीखा साहब की निम्नलिखित पंक्ति ले सकते हैं—

नाद बिंदु को जोड़ु गगन में मन माया तब मरै[2]

एक दूसरे स्थल पर उन्होंने नाद बिंदु में स्वामी-सेवक भाव का संबंध दिखलाया है—

नाद बिंदु को जूह होय, वे साहब वे सेवक जोय।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि संतों ने इस दर्शन की बिंदु धारणा को अपने ढंग पर अपनाने का प्रयत्न किया था। उन्हें अपनी नाद बिंदु साधना के स्वरूप निरूपण में अवश्य इस दर्शन से प्रेरणा मिली होगी।

वीर शैव मत

सिद्धान्त विवेचन—वीर शैव मत का प्रचार दक्षिण में ही अधिक था। इस मत का दार्शनिक पक्ष उतना महत्त्वशाली नहीं है जितना धार्मिक पक्ष।[4] इस मत में शिव की कल्पना ईश्वर के रूप में की गयी है। यह मत बहुदेववाद का विरोधी है। इस मत के अनुयायी ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आदि

---

[1] कबीर ग्रन्थावली पृ० १९४
[2] भीखा साहब की बानी पृ० ७
[3] भीखा साहब की बानी पृ० ४०
[4] ए हैण्डबुक आफ वीरशैविज्म—पृ० ९१, एस० सी० [illegible]—डा० नन्दीमठ

किसी पर भी विश्वास नहीं करते हैं। ये लोग शिवलिंग की पूजा में विश्वास करते हैं।

वीर शैव मत[1] का दूसरा नाम शक्ति विशिष्टाद्वैत भी है। शक्ति विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ है शक्ति विशिष्ट जीव और शक्ति विशिष्ट शिव। इन दोनों का सामरस्य अर्थात् परस्पर एकाकार होना। भाव यह है कि स्थूल चिदचिदात्मक शक्ति विशिष्ट जीव और सूक्ष्म चिदचिदात्मक विशिष्ट शिव—इन दोनों का अद्वैत ही विशिष्टाद्वैत कहा जाता है।

इस वीर शैव सिद्धांत या शक्ति विशिष्टाद्वैत दर्शन में शक्ति और शक्तिमान् तत्त्वों का भेदाभेद संबंध स्थिर किया गया है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि इस मत में शिव और शक्ति का नित्य संबंध माना जाता है। उस शक्ति को *विमर्शशक्ति* कहते हैं। यदि शिव में *विमर्शशक्ति* न रहे तो वह जड़वत् हो जाये। इस सूक्ष्म शक्ति को ही चिदचिदात्मिका शक्ति कहा गया है। चिद् शक्ति सर्वज्ञरूपा होती है और अचिद् शक्ति सर्वकर्तृत्व रूपा कही गयी है। इस विमर्शशक्ति में त्रिगुण अन्तर्निहित रहते हैं। सृष्टि का विकास इन्हीं त्रिगुणों से होता है। इनके मत में तमोगुण शक्ति ही जगन्माता कहलाती है। यह तमोगुण शक्ति ही विमर्श शक्ति में क्षोभ पैदा करती है जिससे आगे सृष्टि का विकास होता है। अन्य दर्शनों की भाँति वीर शैव मत के मत का लक्ष्य आत्मा को परमात्मा में लीन करना है। इस भावना ने इस दर्शन वालों को आत्मा और परमात्मा में भेदीकरण करने की प्रेरणा प्रदान की है। आत्मा को परमात्मा से मिलने के लिए छः सोपानों से गुजरना पड़ता है। प्रथम सोपान पर जो भक्ति के नाम से प्रसिद्ध है, पहुँचने पर परमात्मा ईश्वर की भाँति भावित होता है। इसी प्रकार अन्य सोपानों की कल्पना की गई है। आत्मा जितने सोपानों को पार करती जाती है, वह परमात्मा के उतने ही समीप आती जाती है। पाँचवाँ सोपान शरण स्थल कहलाता है। यहाँ पहुँचकर आत्मा परमात्मा में पूर्ण आत्मसमर्पण कर देती है। अन्त में आत्मा उसी प्रकार परमात्मा में लीन हो जाती है जिस प्रकार घटाकाश महदाकाश में लीन हो जाता है। इसीलिए छठे स्थल को ऐक्य स्थल कहते हैं। इसीलिए इस दर्शन को भदाभेद अथवा द्वैताद्वैत दर्शन कहते हैं।[2] इस ऐक्य स्थापना के लिए साधक को कर्म और ज्ञान दोनों प्रकार की साधनाओं में निरत होना पड़ता है।

इस मत में जीव की कल्पना शिव के अंश के रूप में की गई है और उसे

[1] द हैण्डबुक आफ वीरशैविज्म—पृ० १४० पर इसका विवेचन देखिए।

[2] द हैण्ड बुक आफ वीर शैविज्म डा० नन्दीमठ पृ० ६६-२०

स्वरूप चिदचिदात्मक शक्ति से विशिष्ट माना गया है। यह इच्छाशक्ति से विशिष्ट रहता है। इनका अंशांशी भाव द्वैताद्वैतवादी माना जाता है। इस दर्शन में छत्तीस तत्वों की मान्यता है जिनका उदय विमर्श शक्ति के स्फुरण से होता है। इस मत के अनुसार परम कारण शिव में, जो पूर्ण ज्ञानरूप[1] है से सर्वप्रथम विमर्श या इच्छाशक्ति उत्पन्न होती है। इच्छाशक्ति से ज्ञान शक्ति और ज्ञान शक्ति से क्रिया शक्ति का आविर्भाव होता है। जब परशिव 'मैं सर्वज्ञ हूँ,' इस प्रकार के अभिमान से विशिष्ट हो जाता है, तब उसे शिव तत्व कहते हैं। इसी प्रकार जब परशिव क्रियाशक्ति में अन्तर्निहित होकर अपने को कर्ता समझने लगता है तब उसको शक्ति तत्व कहा जाता है। शक्ति तत्व को चराचर जगत् का उपादान कारण और शिव तत्व को निमित्त कारण कहा गया है। जब शक्ति तत्व ज्ञान शक्ति की उन्मेषावस्था में प्रवेश करके, मैं यह प्रपंच हूँ, इस प्रकार अनुभव करने लगती है तब उसी को इस दर्शन में शिव तत्व कहा जाता है। इसी प्रकार जब शक्तितत्व क्रियाशक्ति में प्रवेश करके, मैं यह प्रपंच हूँ इस प्रकार अनुभव करने लगती है तब इस दर्शन में ईश्वर तत्व की संज्ञा दी जाती है। इसी प्रकार मैं यह प्रपंच हूँ, इस कथन में मैं और यह प्रपंच, इन दोनों का अभेद ज्ञान को विद्यातत्व कहा गया है। यह विद्यातत्व और उसी में अन्तर्निहित भावी प्रपंच में विकीर्ण स्वरूप तत्वों में अनेकात्मक भाव ही मंद बुद्धि से विशिष्ट होकर माया तत्व कहा जाता है। इसी प्रकार कला, विद्या, राग, काल, नियति आदि की कल्पना भी विस्तार से की गई है। विस्तारभय से इन सबकी व्याख्या हम यहाँ नहीं कर रहे हैं। इस दर्शन में वर्णित ३६ तत्वों का क्रमिक विकास हम शैव शाक्त ग्रंथों के प्रसंग में यथास्थान संकेतित करेंगे[2]।

प्रभाव निर्देश—निर्गुणियाँ संतों पर इस दर्शन का कुछ विस्तृत प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। एक आध स्थलों पर इसके विशिष्टाद्वैत अंशांशीभाव तथा सृष्टि विकास क्रम की छाया भर मिल जाती है। शक्ति विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त को तो संतों ने कहीं कहीं दासपने की चर्चा की है। संत सुन्दरदास ने ऐक्यभाव को लक्षित करने के लिए इसके दृष्टांत तक का पुनरुद्धरण किया है। इन लोगों ने परमात्म और महात्म के मिलन का उदाहरण तक अपना लिया है। यही दृष्टांत देते हुए सुन्दरदास लिखते हैं—

देह को संयोग पाइ जीव कहो नाम भयो[3],
घट के संयोग घटाकाश ही कहायो है।

---

[1] द हिस्ट्री आफ वीर शैविज्म डा० नन्दीमठ पृ० १२७
[2] देखिए—द हिस्ट्री आफ वीर शैविज्म पृ० ११०
[3] सुन्दरविलास पृ० १०६

ईस्वर सकल विराट में विराजमान
मठ के संयोग मठाकास नाम पायो है ॥
महाकास माहि सब, घट मठ देखियत,
बाहिर भीतर एक, गगन समायो है।
तैसे ही सुन्दर ब्रह्म, ईस्वर अनेक जीव।
त्रिविध उपाधि भेद, ग्रंथ में गायो है ॥

इसी प्रकार ढूँढने से संभवतः दो एक सिद्धांतों की झलक और मिल सकती है। किंतु इस दर्शन का संतों पर कोई व्यापक प्रभाव दिखाई नहीं पड़ा है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन

सिद्धान्त पक्ष—इस मत के प्रधान आचार्यों में श्रीमद् अभिनवगुप्ताचार्य, श्री सोमानन्दाचार्य, श्री वसुगुप्ताचार्य आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। काश्मीर में उदित होकर विकसित होनेवाली शैव दर्शन की शाखा प्रत्यभिज्ञा दर्शन[1] के नाम से प्रसिद्ध है। इसे त्रिकदर्शन भी कहते हैं। यह शैव दर्शन की अद्वैतवादी शाखा है। ये लोग एक ही परमेश्वर को अद्वैततत्त्व या परमतत्त्व या शिवतत्त्व मानते हैं। इनके मतानुसार इसमें परमेश्वर परमेश्वरी का सामरस्य रहता है। परमेश्वर को शिव और परमेश्वरी को शक्ति कहा जाता है। शिवतत्त्व निर्विकार रूप से समस्त पदार्थों में परिव्याप्त है। चैतन्य परासंवित अनुत्तर परमेश्वर तथा परम शिव सब इसी अद्वैत तत्त्व के पर्यायवाची हैं। वेदान्त में इसी को आत्मा कहा गया है।

इस मत में परमेश्वर की क्रिया, इच्छा और ज्ञान नामक शक्तियों को विशेष महत्त्व दिया गया है। यह दर्शन सत् कार्यवादी दर्शन कहा जा सकता है। इनके मतानुसार जगत् प्रलय काल में भी शिव शक्ति में ही अन्तर्निहित रहता है। व्यक्त जगत् का परमेश्वर से इस दर्शन में प्रतिबिंबवादी संबंध माना गया है। अभिनवगुप्त के मतानुसार—"जिस प्रकार निर्मल दर्पण में ग्राम, नगर, वृक्षादि पदार्थ प्रतिबिंबित होने पर उससे भिन्न न होने पर भी परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार पूर्ण संविद्रूप परमेश्वर में प्रतिबिंबित यह विश्व अभिन्न होने पर भी घटपटादिरूप से भिन्न अवभासित होता है। एक बात ध्यान देने योग्य है। लोक में प्रतिबिंब की सत्ता बिंब पर अवलम्बित है। पर त्रिकदर्शन में परमेश्वर की स्वातंत्र्य शक्ति के कारण बिना रूप

---

[1] इस दर्शन का विवेचन निम्नलिखित स्थलों पर देखिए—
(क) सर्वदर्शन संग्रह पृ० १९०
(ख) भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ० ५५३ ५५९ (१९४८)
(ग) सरस्वती भवन स्टडीज़—दशम भाग पृ० ८१-९१

के ही जगत् रूप का प्रतिबिंब स्वतः उत्पन्न होता है।"[1] यहाँ पर वेदान्त के प्रतिबिंबवाद से शिवदर्शन के प्रतिबिंबवाद का भेद बिल्कुल स्पष्ट प्रकट है। वेदान्त में प्रतिबिंब के लिए बिंब की कल्पना अनिवार्य मानी गई है। किन्तु शिवदर्शन में बिना बिंब के ही प्रतिबिंब की कल्पना की गई है।[2] शिवदर्शन का यह प्रतिबिंबवाद आभासवाद के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर एक बात और ध्यान देने की है कि वेदान्त में जगत्‌रूपी प्रतिबिंब को भ्रांतिमात्र माना गया है। उसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं समझा जाता। किन्तु शिवदर्शन को स्वातन्त्र्यवाद का सिद्धान्त मान्य है। ये लोग विवर्तवाद और परिणामवाद दोनों ही नहीं मानते हैं। परिणामवाद में वस्तु का स्वरूप मूलतः बदल जाता है। यदि परिणामवाद स्वीकार न किया जाय तो प्रकाशरूप शिव के जगत्‌रूपी नव परिणाम के विकसित होने पर हो सकता है कि शिव के प्रकाशत्व का उदय जगत्‌रूपी परिणाम में न हो। ऐसी अवस्था में जगत् बिल्कुल प्रकाशहीन और अंधकाररूप रह जायेगा और यदि वेदांत का विवर्तवाद स्वीकार किया जाय तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसके लिए बिंब रूपी आधार तत्त्व की आवश्यकता अनिवार्य है। जगत्‌रूपी प्रतिबिंब का परम शिव को बिंबाधार मान लेने पर अद्वैतता खंडित होती है। इसीलिए ये लोग न तो परिणामवाद मानते हैं और न विवर्तवाद। इन दोनों से विलक्षण स्वातंत्र्यवाद की कल्पना की है।[3]

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इनका कहना है कि जब परमेश्वर के हृदय में सिसृक्षा उत्पन्न होती है तब उसके दो स्वरूप हो जाते हैं—शिव और शक्ति। शिव प्रकाशरूप माना जाता है और शक्ति विमर्शरूपिणी मानी जाती है। जिस प्रकार बिना दर्पण के मुख नहीं देखा जाता उसी प्रकार शिव का प्रकाशरूप भी विमर्शशक्ति के बिना व्यक्त नहीं होता है। शक्ति के बिना शिव शव ही रहेंगे। फिर इन दोनों के सहारे आगे विकास क्रम चलता है। शिवशक्ति की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को सदाशिव और बहिर्मुखी प्रवृत्ति को ईश्वर कहते हैं। इसी प्रकार क्रमशः छत्तीस तत्त्वों का विकास क्रम दिखलाया गया है।[4]

प्रत्यभिज्ञा दर्शन आनंदवादी दर्शन है। इस दर्शन में साध्य को 'चिदानंद लाभ'' कहा गया है। यह चिदानन्द लाभ ही उनकी भाषा में ... और

[1] भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ० ५८३

[2] सरस्वती भवन स्टडीज भाग ६, में देखिए गोपीनाथ कविराज द्वारा स्पष्टीकृत आभासवाद का स्वरूप पृ० ६०-६१

[3] भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ० ५८७-५८८

[4] भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ० ५८९

सार्वभौम[1] के नाम से भी प्रसिद्ध है। जीव या पशु को इसकी प्राप्ति अहं महेश्वर के ज्ञानोदय के साथ ही साथ होती है। इस ज्ञानोदय के लिए ही प्रत्यभिज्ञा शब्द का प्रयोग किया जाता है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का साधना मार्ग ज्ञान भक्ति और योग तीनों का समन्वित रूप कहा जा सकता है। वे लोग इन तीनों की समन्वित साधना से ही आनन्द की उपलब्धि मानते हैं।

प्रभाव पक्ष—संतों पर हमें प्रत्यभिज्ञा दर्शन के दो-तीन प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। पहला प्रभाव आनंदवादी धारणा का है। इस धारणा से कुछ संत लोग बहुत प्रभावित प्रतीत होते हैं। संत चरनदास[2] की निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट रूप से आनंदवाद की छाया झलक रही है—

आदिहुँ आनंद अन्तहुँ आनंद,
मध्यहुँ आनंद, ऐसहि जानी।
बंधहुँ आनंद, मुच्छहुँ आनंद
आनंद ज्ञान, अज्ञान पिछानी॥
लटेहुँ आनंद, बैठेहुँ आनंद,
डोलत आनंद, आनंद आनी।
चरनदास विचारि, सबै कुछ आनंद,
आनंद छाँड़ि के, दुक्ख न ठानी॥

संतों पर इस दर्शन का दूसरा प्रभाव साधना संबंधी था। जिस प्रकार वे लोग अपनी साधना में ज्ञान, भक्ति और योग तीनों को महत्व दिया है। ज्ञान और भक्ति के सामंजस्य पर बल देते हुए संत पलटू[3] ने लिखा है—

'भक्ति बीज जब बोवै निसिदिन करै विवेक'

संत पलटू[4] साहब ने एक दूसरे स्थल पर भक्ति, योग और ज्ञान तीनों की साधना के महत्व की ओर संकेत किया है—

---

[1] भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ० ५८८ पर तंत्रसार ग्रन्थ का उद्धरण देखिए।
[2] चरनदास की बानी भाग १ पृ० ४०
[3] पलटू साहब भाग १ पृ० ५७
[4] संत बानी संग्रह भाग १ पृ० १०१

"मेरे सतगुरु गैबस निज बसन्त, जाकी महिमा गावत साधु संत।
ज्ञान विवेक के फूले फूल, जहँ सांख्य जोग और भक्ति मूल॥"

कहीं-कहीं इस दर्शन में प्रतिबिम्बवाद की छाया का आभास भी प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए हम संत भीखा[1] साहब की निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं—

"जल भरि थल भरि पूरन समग्यो, भाव रहस्य बतावत।
जहँ देखो तहँ रूपहि भासे, अपुहि आपु दरसावत॥"

इन प्रमाणों के अतिरिक्त संतों को इस दर्शन से नाद, बिंदु, उन्मनी, सहज आदि अनेक पारिभाषिक शब्द भी मिले थे। इनसे संबंधित धारणाओं के स्वरूप निर्धारण में भी उन्हें इस दर्शन से पर्याप्त प्रेरणा अवश्य ही मिली होगी। यों भी हम इतना कहे बिना नहीं रह सकते कि मध्यकालीन शैव दर्शन पद्धतियों ने भी संतों की विचारधारा को यदि प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य प्रभावित किया था।

कुछ अन्य छोटी-छोटी दर्शन पद्धतियाँ —कालामुख, कापालिक और रसेश्वर उपर्युक्त प्रसिद्ध शैव दर्शन पद्धतियों के अतिरिक्त रसेश्वर दर्शन तथा कालामुख और कापालिक संप्रदायों की भी प्रसिद्धि है। मध्ययुग में इन सबका भी अच्छा प्रचार था। साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि के अंतर्गत हम कालामुख साधुओं का वर्णन करेंगे। उनकी दार्शनिक विचारधाराओं का अभी तक कोई निश्चित ज्ञान नहीं है। मेरी अपनी धारणा है कि ये दोनों ही वाम साधना प्रधान संप्रदाय थे। इनमें किसी व्यवस्थित और विशुद्ध दर्शन पद्धति का विकास नहीं हुआ था। आगे चलकर ये दोनों ही संप्रदाय सिद्ध और नाथ मतों में अंतर्भुक्त हो गये। कालामुख और कापालिक संप्रदायों में संभवतः कापालिक मत में दार्शनिक तत्वों का विकास हुआ था। इनका सोम सिद्धान्त विशेष उल्लेखनीय है। कहते हैं—नर कपाल में पी जाने वाली मदिरा को ये सोम कहते थे। सोम की व्याख्या परवर्ती शैव और तांत्रिक ग्रंथों में विविध प्रकार से की गई है। कुछ इसका अर्थ शिव और शक्ति का सामरस्य रूप लेते हैं और कुछ इसका अर्थ सहस्रार में स्थित चन्द्र से झरनेवाला अमृत लेते हैं। हमारी अपनी धारणा है कि वाम सिद्धान्त का संबंध सहस्रार में स्थित चन्द्र तत्व से झरनेवाले अमृत से है। वाम साधना के सारे सहस्रार में स्थित चन्द्र तत्व से गलित होनेवाले अमृत का पान

---

[1] भीखा साहब की शब्दावली पृ० ११

करना ही सोम साधना है और उस साधना के तात्त्विकरूप को ही सोम सिद्धांत कहा गया है।

रसेश्वर दर्शन .—इस दर्शन का लक्ष्य साधक को दिव्य शरीर की उपलब्धि कराना है। इस मत के अनुयायियों का विश्वास है कि इस व्याधिग्रस्त नश्वर शरीर से ब्रह्म साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। अतएव वे पहले इस शरीर को विविध रासायनिक प्रयोगों के सहारे अपने शरीर को दिव्य, दृढ़, नित्य और स्थिर बनाते हैं। फिर ब्रह्म साधना करते हैं। शरीर को दिव्य बनानेवाला सबसे प्रसिद्ध रसायन पारद है। इसी का रस भी कहते हैं। पारद को शिव का वीर्य माना जाता है। इसी प्रकार अभ्रक को भगवती का रज मानते हैं। इन दोनों के समन्वित प्रयोग से दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है। इस दर्शन का थोड़ा सा स्वरूप निर्देश सर्वदर्शन संग्रह में किया गया है। किन्तु उस विवरण से इसके आध्यात्मिक सिद्धांत स्पष्ट नहीं हो पाते हैं। हमारी समझ में यह भी शाक्ति व और शिवशक्ति की साधना में विश्वास करते थे। इस साधना की पूर्ण सफलता के लिए वे पहले शरीर को पारद और अभ्रक आदि के प्रयोग से दिव्य बनाते थे और फिर सोम और नाथ साधनाओं का आश्रय लेते थे। संतों पर इस दर्शन का कोई विशेष प्रभाव दिखाई नहीं पड़ता। यह बात दूसरी है कि उनकी साधना आदि की एक आध स्थलों पर चलते-फिरते चर्चा कर दी गयी हो।

हिन्दू तंत्र और सन्तों की विचारधारा

भ्रान्तियाँ—मध्यकालीन संत मत तंत्र और मंत्र साधना एवं दर्शन से अत्यधिक प्रभावित है। अतएव हम तंत्र-मंत्र साधना एवं उसके दर्शन आदि का स्पष्ट संकेत कर देना चाहते हैं। तंत्र मत बहुत प्राचीन है। पहले वैदिक मत के सदृश यह भी मान्य और प्रतिष्ठित समझा जाता था।[1] वायव्य संहिता में भारतवर्ष में केवल ३ मत प्रधान बताये गये हैं। उनमें तंत्र मत भी एक है। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट[2] ने तंत्रों को श्रुतिरूप कहा है। कुलार्णव[3] तंत्र में तांत्रिक साधना को कलियुग का प्रधान धर्म कहा गया है। इतना होते हुए भी आजकल तंत्र साधना के सम्बन्ध में बड़ी भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। बहुत से पाश्चात्य विद्वानों ने इस

---

[1] देखिए—प्रिंसिपिल्स आफ तन्त्राज आर्थर एवेलन पृ० ५९

[2] वैदिक तान्त्रिकश्चैव त्रिविधा श्रुति कीर्तिता—(कुल्लूक भट्ट)

[3] प्रिंसिपिल्स आफ तन्त्राज—आर्थर एवेलन पृ ४९

मत की घोर निन्दा की है। इन विद्वानों में वार्ड साहब[1], ब्रायन हाडसन[2], मोनियर विलियम्स[3] तथा विल्सन[4] आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इन्हीं पाश्चात्य विद्वानों से प्रभावित हो अँगरेजी चश्में से भारतीय धर्म साधना को देखनेवाले हिन्दुस्तानी बाबू लोग भी इस मत की निन्दा करते सुने जाते हैं। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उनकी उपेक्षा और निन्दा के मूल में तत्सम्बन्धी अज्ञानता ही है। उनकी अज्ञानता का प्रमुख कारण तंत्र मत की गुह्यता कही जा सकती है।

महत्त्व—भारतवर्ष की समस्त धर्म पद्धतियों और साधनाओं में तंत्र साधना सबसे अधिक गुप्त और रहस्यमय है। तांत्रिकों में उसकी गुह्यता बड़ी श्लाघनीय मानी जाती है। उनका कहना है कि वेद शास्त्र और पुराणादि सामान्य गणिका के सदृश हैं जिन तक सबकी पहुँच हो सकती है किन्तु शाम्भवी विद्या कुल वधू के सदृश आवरणाच्छन्न रहती है। उस तक अधिकारी की ही पहुँच हो पाती है।[5] इसी प्रकार तंत्रसार नामक ग्रन्थ में तांत्रिक साधना की गुह्यता पर बल देते हुए लिखा गया है कि उसे भी प्रकट नहीं होने देना चाहिए।[6] विश्वसार[7] नामक तंत्र में तांत्रिक साधना को मातृजारवत् छिपाने का आदेश दिया गया है। तंत्रमत की इस रहस्यप्रियता और गुप्ततानिष्ठता ने उसके वास्तविक स्वरूप को साधारण जनता के समक्ष नहीं आने दिया। तांत्रिक साधकों ने प्रायः अन्य तत्त्वों की अभिव्यक्ति सांकेतिक प्रतीकों के माध्यम से करने की चेष्टा की। साधारण जनता इन्हीं प्रतीकों में उलझकर रह गई। परिणाम यह हुआ कि प्रतीकों के सांकेतिक अर्थ की परंपरा ही लुप्त हो गई। इसीलिए लोग तंत्रमत के वास्तविक स्वरूप से परिचित न हो सकने के कारण उसके भौतिक प्रतीकों को ही उसका वास्तविक रूप समझकर उसकी

---

[1] ए व्यू आफ दि हिस्ट्री, लिटरेचर एण्ड माइथालाजी आफ दि हिन्दूज बाइ वार्ड पृ० ४९९ ५०२

[2] प्रिंसिपल्स आफ तंत्राज—आर्थर एवलन पृ० ४ (भूमिका)

[3] ब्राह्मनिज्म एण्ड हिन्दूइज्म मोनियर विलियम्स पृ० १०० (१८९१)

[4] हिन्दू सेक्ट्स—विल्सन—भाग १ पृ० ८ तथा भाग २ पृ० ७०

[5] तांत्रिकों में निम्नलिखित उक्ति प्रसिद्ध है—

"वेदशास्त्र पुराणानि सामान्य गणिका इव।
या पुनः शाम्भवी विद्या गुप्ता कुल वधूरिव॥"

[6] तंत्रसार—आर० एम० चटर्जी द्वारा सम्पादित पृ० १६१

[7] प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्याद्वामाचार गतौ प्रिये
अतो वाम पथे देवि गोपयेत् मातृजारवत्॥

(कल्याण के योगांक—पृ० १०२ से उद्धृत)

निन्दा करने लगे। वास्तव में तन्त्रमत वैदिक धर्म के सदृश ही दिव्य, महान् और सात्विक है। मनस्वी पाश्चात्य विद्वानों ने भी यह बात स्वीकार की है। यही कारण है कि मध्यकालीन संत कवियों ने उस परम्परा को अपने ढंग पर जीवित रखने की चेष्टा की थी। निम्नलिखित विवेचन से बात स्पष्ट हो जायेगी।[1]

दैवी उत्पत्ति—तंत्रों की दैवी उत्पत्ति के प्रति तांत्रिकों की बड़ी आस्था है। इस सम्बन्ध में कई किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। अधिकांश तांत्रिकों का कहना है कि मूल तंत्रों का आविर्भाव शिव के ईशानादि ५ मुखों से हुआ है।[2] कुछ दूसरे तांत्रिकों के अनुसार शिव के चार मुखों से चार वेदों की अभिव्यक्ति हुई है और पाँचवें से तंत्रों की उत्पत्ति हुई।[3]

परिभाषाएँ— अब थोड़ा-सा तंत्र की प्रचलित परिभाषाओं पर विचार कर लेना चाहते हैं। तंत्र से आजकल प्रायः हिंदुओं की धार्मिक रचनाएँ या शाक्तों के धर्म ग्रंथों अथवा जादू-टोने के ग्रंथों का अर्थ लिया जाता है।[4] किन्तु तंत्र का वास्तविक अर्थ उपर्युक्त अर्थों से कहीं व्यापक है। उसकी शास्त्रानुरूप व्याख्या करते हुए आर्थर एवेलन साहब[5] ने लिखा है—It denotes that body of religious scripture which is stated to be revealed by shiva as the specific scripture of the faurth or present Kaliyug

अर्थात् तंत्रों से उन धार्मिक ग्रंथों का संकेत किया जाता है जिनको कलयुग के लिए भगवान् शिव ने प्रकाशित किया है। निगम, आगम, यामल, डामर, उड्डीश कक्षपुट इत्यादि अनेक भेद बताये जाते हैं।[6] बहुत से विद्वानों की धारणा है कि तंत्र बहुत ही अर्वाचीन ग्रंथ हैं। इसी आधार पर वे तंत्र मत को भी अर्वाचीन कहते हैं। इस मत के

---

[1] रिलीजन्स आफ इण्डिया पृ० १९९ (१८८९)

[2] तांत्रिक दृष्टि नामक लेख—लेखक गोपीनाथ कविराज कल्याण के साधनांक में पृ० ७८०। इसमें विद्वान् लेखक ने लिखा है कि शिव के ईशान तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर नामक पाँच मुखों से भेद प्रधान १ शिव तंत्र भेदाभेद प्रधान १८ रुद्रतंत्र और अभेद प्रधान ६४ भैरव तंत्र, उत्पन्न हुए हैं। (देखिए)

[3] प्रिंसिपिल्स आफ तंत्र—आर्थर एवेलन पृ० ५१ (भूमिका) १९५२ मद्रास।

[4] प्रिंसिपिल्स आफ तन्त्र—आर्थर एवेलन पृ० ११४०

[5] प्रिंसिपिल्स आफ तंत्र—आर्थर एवेलन पृ० ४१ (भूमिका)

[6] शक्ति एण्ड शाक्त—आर्थर एवेलन पृ० १०१

समर्थक पाश्चात्य विद्वान्[1] ही नहीं अपितु कुछ भारतीय विद्वान् भी हैं। कृष्णमाचारी[2] ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में कुछ इसी प्रकार की भावना प्रकट की है। इन लोगों का तर्क है कि अमरकोष में तंत्र शब्द नहीं मिलता अतएव ये अमरकोष के बाद के ग्रंथ हैं। किन्तु यह तर्क तर्कसंगत नहीं है। अमरकोष में अथर्ववेद का उल्लेख भी नहीं किया गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अथर्ववेद अमरकोष के बाद की रचना है। अतएव केवल इस आधार पर तंत्र मत को अर्वाचीन नहीं मान सकते। इन लोगों का दूसरा मत[3] यह है कि चौथी शताब्दी से लेकर ७वीं शताब्दी के बीच में जो चीनी यात्री आये उन्होंने तंत्र मत का कहीं उल्लेख नहीं किया है। यह तर्क भी सरलता से खंडित किया जा सकता है। प्रायः चीनी यात्री बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए ही भारतवर्ष में आया करते थे। अपने प्रिय धर्म के अतिरिक्त उनकी बुद्धि दूसरे धर्मों, मतों और सम्प्रदायों की ओर नहीं जा पाती थी। इसमें उनका कुछ दोष भी नहीं था।

प्राचीनता—तांत्रिक विचारधारा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद के दशम मंडल के देवी सूक्त में इस मत की उपासना का स्पष्ट चित्रण मिलता है। ऋग्वेद के बाद अथर्ववेद[4] में तांत्रिक भावना के आधार विचारों का अच्छा विकास दिखाई दिया। महाभारत[5] में भी बहुत से ऐसे श्लोक दिये हुए हैं जिनमें देवी की महिमा का वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवत[6] में भी एक स्थान पर कात्यायनी देवी की पूजा की बात कही गयी है। मार्कण्डेय[7] पुराण में भी देवी की महिमा का वर्णन मिलता है। अन्य पुराणों में भी तंत्र मत संबंधी विविध बातों का उल्लेख पाया जाता है। अतएव तंत्रमत को हम अर्वाचीन नहीं कह सकते। तथा हम अनार्यों[8] या विदेशियों की देन भी नहीं कह सकते। जिस प्रकार भारतवर्ष की

---

[1] इलियट ने अपने हिन्दूइज्म और बुद्धिज्म के दूसरे भाग में पृ० १६५ पर इस मत का समर्थन किया है।

[2] हिस्ट्री आफ क्लासिकल लिटरेचर—कृष्णमाचारी पृ० २४

[3] दि तन्त्राज—एवलान पृ० ६२ (१९२१ संस्करण)

[4] [illegible] दि शाक्त पूजा आफ्टर [illegible]—बी० एम० बापु पृ० ३

[5] हेस्टिंग्स—[illegible] आफ [illegible]—माधव पृ० १४ (भूमिका)

[6] वही

[7] [illegible] दि शाक्त पूजा आफ्टर [illegible]—बी० एस० बासु पृ० ३

[8] दि तन्त्राज में आर्थर एवलान ने पृ० ११ पर तंत्र मत का अनार्यों [illegible] कहा है।

अन्य धर्म-पद्धतियों का विकास श्रुतियों से हुआ है उसी प्रकार तंत्र-साधना का जन्म भी वेदों से ही हुआ है।[1]

अन्य विद्वानों[2] ने भी हमारी इस बात का समर्थन किया है। वैदिक धर्म की ही एक धारा होने के कारण तंत्रमत मध्यकालीन संतों को प्रभावित भी कर सका। वेद बाह्य तामसिक धर्म पद्धतियों से संत लोग कभी प्रभावित नहीं हो सकते थे।

साहित्य—तंत्र साहित्य बहुत विस्तृत[3] है। आज भी सैकड़ों ग्रंथ उपलब्ध हैं। इनका वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जाता है। कुछ तांत्रिकों[4] के मतानुसार तंत्रों के ३ विभाग किये जा सकते हैं—विष्णुक्रान्त, रथक्रान्त और अश्वक्रान्त। इनमें से प्रत्येक विभाग के अन्तर्गत चौंसठ-चौंसठ ग्रंथ गिनाये गये हैं। कुछ तांत्रिकों[5] के द्वारा किये गये एक अन्य विभाजन क्रम का संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। उनके मतानुसार तंत्रों का वर्गीकरण दार्शनिक दृष्टि से किया गया है। भेदप्रधान तंत्रों के वे लोग शिवतंत्र का अभिधान देते हैं। ये शिवतंत्र संख्या में दस माने गये हैं। भेदाभेद प्रधान तंत्र रुद्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये संख्या में अठारह बताये जाते हैं। अभेद प्रधान तंत्र भैरव तंत्र कहलाते हैं। ये संख्या में चौंसठ बताये जाते हैं। तंत्रों का वर्गीकरण एक दूसरे प्रकार से भी किया जा सकता है। इस वर्गीकरण में प्रत्येक प्रधान देवता को केन्द्र मानकर चलते हैं और उसी के नाम पर विभाग का नामकरण कर देते हैं। जैसे शाक्त तंत्र[6], शिवतंत्र[7], विष्णुतंत्र[8] बुद्ध

---

[1] शक्ति एण्ड दि शाक्त—आर्थर एवेलन पृ० ७० से ११२ तक

[2] (क) डा० कमलाराम बाजपेयी पृ० २४ पर चक्रवर्ती साहब का मत

(ख) तंत्राज देयर फिलासफी एण्ड देयर अकल्ट सीक्रेट्स—डी० एन० बोस पृ० ५२

[3] देखिए—तंत्राज देयर फिलासफी एण्ड देयर आकल्ट सीक्रेट्स—डी० एन० बोस पृ० ३२

[4] प्रिंसिपल्स आफ तंत्राज—आर्थर एवेलन पृ० ८८-८९ (भूमिका)

[5] कल्याण के साधनांक में गोपीनाथ कविराज लिखित तांत्रिक दृष्टि नामक लेख पृ० ४८० का फुटनोट

[6] शाक्त तंत्रों को भी तीन भागों में बाँटा जाता है —

(क) कौलमार्ग—यह संख्या में ६४ बताये जाते हैं।

(ख) मिश्र—यह संख्या में आठ हैं।

(ग) समयाचार तंत्र—यह संख्या में पाँच हैं।

देखिए शक्ति एण्ड दि शाक्त आर्थर एवलन पृ० ५६

[7] इनका विवरण स्टडीज इन शैव सिद्धान्त—एम० पिल्लई पृ० १९४

[8] देखिए—अहिर्बुध्न्य संहिता—डा० श्रेडर की भूमिका

तंत्र आदि आदि। इस प्रकार स्पष्ट है कि तंत्रों का अपना एक अलग विरुद्ध साहित्य है।

साम्यवाद—तंत्रमत वैदिकमत की अपेक्षा अपनी कुछ अलग विशेषताएँ रखता है। यहाँ पर हम थोड़ी सी उन विशेषताओं का संकेत कर देना चाहते हैं जिनका विशेष प्रभाव निर्गुणियाँ संतों पर पड़ता है। तंत्रमत की सबसे प्रधान विशेषता उसका साम्यवाद है। तंत्रमत जाति लिंग, वर्ण आदि का कोई भी भेद स्वीकार नहीं करता। गौतमीय[1] तंत्र में स्पष्ट लिखा है कि तंत्र शास्त्र की मंत्र दीक्षा के अधिकारी सभी वर्णों के स्त्री-पुरुष होते हैं। इसी प्रकार महानिर्वाण[2] तंत्र में भी लिखा है—"जो कौल को अपने मत में चाण्डाल यवन या स्त्री आदि को, अभिमानवश दीक्षित करने को प्रस्तुत नहीं होते वे पतित हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य तंत्र[3] ग्रन्थों में भी वर्ण गत भेदभाव की निन्दा की गई है। तंत्रमत की दूसरी प्रधान विशेषता उसकी साधना परकता है। इसीलिए इसे कुछ लोग साधना शास्त्र भी कहते हैं।

साधनापरकता[4]—इस साधना शास्त्र का लक्ष्य स्वराट का विराट में लीन करना होता है।[5] इसके लिए साधक को प्रसुप्त शक्ति जिसे कुण्डलनी कहते हैं, जाग्रत करनी पड़ती है। तंत्र मत में दार्शनिक पक्ष गौण समझा जाता है और साधना पक्ष प्रधान। तंत्रों का कहना है कि सुयोग्य गुरु[6] की अध्यक्षता में साधना प्रारम्भ करो। यदि सिद्धि की प्राप्ति न हो तो साधना छोड़ दो। तंत्र मत की इस साधना परकता ने ही भारत के धर्मों को एकांतिक और निर्जीव होने से बचा लिया है। इस मत के प्रभाव से ही भारतीय जीवन में थोड़ी कर्मपरता का संचार हुआ था। यह बात अवश्य है कि यह कर्मपरता एकांगी थी।

बाह्याचार विरोध:—तंत्रमत में बाह्याचारों मिथ्याडम्बरों की घोर निंदा की गयी है। महानिर्वाण तंत्र में लिखा है कि जिसे मूल में विश्वास है उसके लिए यात्राएँ और व्रत कोई महत्व नहीं रखते हैं।[7] इसी तंत्र में एक दूसरे

---

[1] गौतमीय तंत्र—प्रथम अध्याय

[2] महानिर्वाण तंत्र—१४।१९

[3] प्रिंसिपिल्स आफ तंत्र—आर्थर एवलान पृ० ६३ (भूमिका)

[4] (क) शक्ति एण्ड शाक्त—आर्थर एवलान पृ० १५, १६
(ख) प्रिंसिपिल्स आफ तंत्र—आर्थर एवलान पृ० ६५

[5] देखिए—प्रिंसिपिल्स आफ तंत्र—आर्थर एवलान पृ० ४४९

[6] वही पृ० ५५९ की अन्तिम पंक्ति

[7] प्रिंसिपिल्स आफ तंत्र—आर्थर एवलान पृ० ७६ (भूमिका)

स्थल पर बाह्याचारों को साधना का निकृष्टतम अंग कहा गया है।[1] इसी प्रकार कुलार्णव तंत्र में भी मिथ्या कर्मकांड की निंदा की है। उसमें लिखा है कि बहुत से ऐसे मूर्ख भी होते हैं जो कर्मकांड के नाम से प्रसन्न हो जाते हैं। वे अपने को अनेक मिथ्याचारों में फँसाकर धोखा देते हैं।[2] इसी तंत्र में एक दूसरे स्थल पर भस्म लगाने आदि की निंदा की गयी है। उसमें लिखा है कि यदि केवल शरीर में कीचड़ और भस्म लगाने से मुक्ति मिल जाती तो गाँव के कुत्ते भी जो दिन-रात कीचड़ और मिट्टी में लोटा करते हैं मुक्ति प्राप्त कर लेते। इस मत में अनावश्यक तपस्या के प्रति भी उपेक्षा भाव प्रकट किया गया है। कुलार्णव तंत्र[3] में लिखा है कि "दिन में केवल एक बार भोजन कर शरीर को कष्ट देने से ही सत्यानुभूति नहीं हो सकती।" इस प्रकार अन्य तंत्र ग्रंथों में भी मिथ्याचारों की निंदा की गई है। तांत्रिकों की इस विचारधारा का प्रत्यक्ष प्रभाव हमें निर्गुणियाँ संत कवियों पर दिखलाई पड़ता है। इन लोगों ने भी तांत्रिकों के सदृश ही मिथ्याचारों व मिथ्याडम्बरों का खंडन किया है। इसका हम आगे संकेत करेंगे।

ईश्वर भावना[3]—तंत्रों की ईश्वर भावना भी अपनी अलग विशेषता रखती है। ये लोग ईश्वर का अस्तित्व साधक के शरीर से अलग नहीं मानते हैं। तंत्र मत[4] के अनुसार साधक का शरीर ही सारा विश्व है और उसकी आत्मशक्ति ही उसकी इष्ट देवता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि तंत्र सर्वव्यापी बहिर्यामी ईश्वर में विश्वास नहीं करते, इसीलिए उनमें अवतारवाद को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। तांत्रिकों का ईश्वर अन्तर्यामी होता है। उसकी साधना में वे लीन रहते हैं। *तंत्र मत की यह विशेषता भी निर्गुणियाँ संतों ने पूर्ण रूप से अपनाई थी।*

भुक्ति मुक्तिपरकता—तंत्र मत की एक विशेषता[5] और है। इसमें प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग दोनों को समान स्थान दिया गया है। तंत्र ग्रंथों[6] में अनेक स्थलों पर स्पष्ट लिखा हुआ है कि तांत्रिक साधक का लक्ष्य भुक्ति और मुक्ति

---

[1] वही पृ० १७ (भूमिका)

[2] कुलार्णव तंत्र प्रथम उल्लास

[3] प्रिंसिपिल्स आफ तंत्र—आर्थर एवेलॉन पृ० ६७ (भूमिका)

[4] प्रिंसिपिल्स आफ तंत्र—आर्थर एवेलन पृ० ५९२

[5] शक्ति एण्ड शाक्त—आर्थर एवेलन पृ० १०० और पृ० ११० (१९१८ का संस्करण)

[6] कुलार्णव संहिता ५।२२९

दोनों की ही प्राप्ति करना होता है। कुछ तंत्रों में तो भोग को मोक्ष की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है।

ज्ञान का महत्त्व—तंत्र मत में ज्ञान को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। कामाख्या तंत्र के[1] निम्नलिखित उद्धरण से यह बात बिल्कुल स्पष्ट है—

सर्वेषां भुवने मर्त्य ज्ञानाय गुरुरेव हि।
ज्ञानान्मोक्षमवाप्नोति तस्माज्ज्ञानं परात्परम्॥
अतो यो ज्ञानं न दत्ते न कुर्मेतं स्वर्जन्गुरुम्।
अमोक्षकांक्षी निरस्नं हि सदा सत्यवसि प्रिये॥
ज्ञानं यत्र समामाति स गुरु शिव एव हि।
अज्ञानिनं वर्जयित्वा शरणं ज्ञानिनं भजन्॥
मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं भजेत्।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं भजन्॥

अर्थात् गुरु से साधक को सब प्रकार का ज्ञान मिलता है। ज्ञान ही से मुक्ति मिलती है। इसीलिए ज्ञान ही सबसे महान् है। उस गुरु का जो सच्चा ज्ञान देने में असमर्थ हो परित्याग कर देना चाहिए। सच्चा गुरु वही है जो ज्ञानस्वरूप है। उसे ही शिव स्वरूप समझना चाहिए। साधक का कर्तव्य है कि अज्ञानी गुरु को छोड़कर ज्ञानी गुरु की शरण में जावे। जिस प्रकार से भ्रमर मधु की खोज में एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर जाता है उसी तरह से साधक को ज्ञान प्राप्ति के हेतु सद्गुरु की खोज करनी चाहिए।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि तंत्र मत में ज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और उसकी प्राप्ति गुरु से बतलाई है।

गुरु—जैसा कि ऊपर के उद्धरण से प्रगट है कि ज्ञान के साथ ही साथ ज्ञान के दाता गुरु का भी स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता है।[3] तंत्र ग्रंथों में गुरु की महिमा का वर्णन विविध प्रकार से किया गया है। उनमें देवोपासना के पंचांग के सदृश ही गुरु कवच, गुरु पद्धति, गुरु स्तव, गुरु सहस्रनाम,

---

[1] निम्नलिखित शाक्त मंत्र—पावर ऑफ़ दि मन्त्र पृ० ६३० से उद्धृत

[2] कल्याण के साधनांक में डा० भगवान दास लिखित 'गुरु साधना शीर्षक' लेख पृ० ३१० पर देखिए

[3] गुरु का महत्त्व निम्नलिखित श्लोक से समझा जाता है—

गुरु पूजा विना देवि स्वर्ग्यपूजां करोति यः।
अपरं तस्य नैवाप्ति हन्ते चैव न संशयः॥ (कालीविलास तंत्र ११।१३)

गुरुस्तोत्र आदि मिलते हैं।[1] स्कन्द पुराण की गुरु गीता प्रसिद्ध ही है। रुद्रयामल तंत्र में गुरु पादुका स्तोत्र एक रहस्यमय स्तोत्र समझा जाता है। कामकेश्वर तंत्र में भी एक गुरु स्तव मिलता है। कुब्जिका तंत्र में भी एक सुन्दर गुरु स्तोत्र संगृहीत है।[2] अब प्रश्न यह है कि तंत्र में गुरु से मानवी गुरु का संकेत मिलता है या दैवी गुरु का। अधिकांश तांत्रिकों ने गुरु से भगवान् शिव का ही अर्थ लिया है। कुछ ग्रंथों में देवी[3] को ही गुरुरूपा कहा गया है। शिव और शक्ति के अतिरिक्त कहीं-कहीं हमें मानव गुरुओं का भी संकेत मिलता है। रुद्रयामल[4] तंत्र की निम्नलिखित पंक्ति से यह बात प्रकट होती है—

"आश्रमी ध्याननिष्ठश्च मंत्रतन्त्रविशारद।"

अर्थात् गुरु को गृहस्थ, ध्याननिष्ठ और मंत्र-तंत्र विशारद होना चाहिए। इसी प्रकार निरुत्तार तंत्र[5] में भी लिखा है कि उसी गुरु से दीक्षा लेनी चाहिए जो गृहस्थ हो और अपने ही देश का भी हो। इसी प्रकार अन्य तंत्रों[6] में भी मानव गुरुओं का संकेत किया गया है। वास्तव में गुरुवाद तंत्रों की प्रधान देन है। तंत्र साधना

---

[1] देखिए कल्याण का साधनांक पृ० ३१०

[2] वही

[3] तामिष्टासिन्धो देवीगुरुरूपां विभावयेत—
शिव हृदय नामक तंत्र से कल्याण के साधनांक पृ० ३० पर उद्धृत है।

[4] प्रिंसिपल्स आफ तंत्र—आर्थर एवलेन पृ० ११८

[5] वही पृ० ११९ पर निरुत्तार तंत्र की निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत की गई है।
आश्रमी देशस्थाई च गुरुरेवं विधीयेत्।

[6] देखिए यामल तंत्र में
मातामहं च पितरं पतिं च वनवासिनम्।
वर्जयित्वा च सिध्येच्या दीक्षाविधिपरायणा।
अन्यथा तद्विरोधेन मरणाय भवेद् ध्रुवम्
और देखिए—गणेश विमर्श तंत्र में
पतेर्दीक्षा पितुर्दीक्षा दीक्षा च वनवासिनः।
विविक्त आश्रमी दीक्षा न सा कल्याणदायिनी।
मत्स्य सूक्त में भी
पुत्र भ्रातरश्च भाग्यजो गुरु त्याज्य संमता।
प्रिंसिपल्स आफ तंत्र से उद्धृत पृ० ११८

परक शास्त्र है। इसकी साधना भी अत्यन्त रहस्यपूर्ण होती है। अतएव उसका ज्ञान बिना गुरु के नहीं हो सकता।

रहस्यवाद—तंत्रों में हमें रहस्यवाद की भी अच्छी अभिव्यक्ति मिलती[1] है। तंत्रों में पाया जानेवाला रहस्यवाद भावात्मक रहस्यवाद नहीं कहा जा सकता क्योंकि तंत्र मत साधना परकमत है उसमें साधनाओं की अभिव्यक्ति ही पारिभाषिक एवं रहस्यात्मक शैली में की गई है[2]। यही कारण है कि तंत्रों में हमें या तो साधनात्मक रहस्यवाद के दर्शन होते हैं या अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद की झाँकी मिलती है। तांत्रिक रहस्यवाद का कुछ विद्वानों ने क्रियात्मक रहस्यवाद का अभिधान दिया है। वास्तव में यह अभिधान साधनात्मक रहस्यवाद का पर्यायवाची ही प्रतीत होता है। इसको स्पष्ट करते हुए प्रो॰ महेन्द्रनाथ सरकार ने लिखा है कि क्रियात्मक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति हमें वैष्णव धर्म और तंत्रों में मिलती है। दोनों ने ही जीवन के शक्ति स्वरूप पर ही विशेष बल दिया है। उसमें आत्मा की आकाशिक समरसता की अंतर्दृष्टि भी आवश्यक मानी गई है[3]।

तर्क विरोध—तंत्रमत में मिथ्या तर्क की भी निंदा की गई है। आर्थर एवेलेन[4] ने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि तर्क और अनुमान का आश्रय दूसरे शास्त्र लेते हैं। तंत्र शास्त्र का लक्ष्य प्रत्यक्ष मंत्रों के सहारे दैवी और अतिमानवीय सिद्धि प्राप्त करना होता है। इसके अतिरिक्त मंत्रों के सहारे बहुत से भौतिक कार्य भी सिद्ध कर लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि तंत्रमत में साधना और अनुभव का ही विशेष महत्त्व दिया गया है। पुस्तकज्ञान एवं तर्कज्ञान की उसमें उपेक्षा की गई है। इसी बात को एक दूसरे स्थल पर आर्थर एवेलेन ने निम्नलिखित शब्दों में और सुन्दर ढंग से स्पष्ट कर दिया है—"पुस्तकज्ञान तांत्रिक विद्यार्थी को सन्मार्ग पर सफलतापूर्वक नहीं ले जा सकता जब तक उसे तांत्रिक गुरुओं और आचार्यों से सही दीक्षा न मिले। इस प्रकार प्राप्त ज्ञान को उसे अपने अनुभव से परीक्षित करना चाहिए"[5]। इसी

---

[1] तंत्राज देयर फिलासफी एण्ड देयर आकल्ट सीक्रेट्स डी॰ एन॰ बोस पृ॰ १०१

[2] प्रिंसिपल्स आफ तंत्र—आर्थर एवेलॉन पृ॰ ८

[3] तंत्राज देयर फिलासफी एण्ड देयर आकल्ट सीक्रेट्स—डी॰ एन॰ बोस में पृ॰ १०५ उद्धृत

[4] प्रिंसिपल्स आफ तंत्र—आर्थर एवेलॉन पृ॰ ११ (भूमिका)

[5] वही ग्रन्थ पृ॰ ११

प्रकार आनन्द लहरी[1] नामक तांत्रिक रचना में तर्क वितर्क करनेवालों का अच्छा मजाक बनाया गया है।

मंत्र चैतन्य—तंत्रशास्त्र की सबसे प्रमुख विशेषता उसका मंत्र पक्ष[2] है। आध्यात्मिक क्षेत्र में शक्ति का व्यक्त रूप नाद के नाम से प्रसिद्ध है।[3] वैष्णव दर्शन का सगुण ब्रह्म मंत्र क्षेत्र में नाद के रूप में ही व्यक्त होता है। समस्त तांत्रिक साधना नाद योग को लेकर ही चली हुई है। उसके दर्शन का एक पक्ष पूर्णतया नाद योग पर ही आधारित है। यह बात तांत्रिकों के दर्शन और साधना पक्षों के विवेचन से आगे स्पष्ट हो जायगी। यहाँ पर हम इतना ही कहना चाहते हैं कि तंत्रमत का मंत्र पक्ष बड़ा ही महत्वपूर्ण है। यह शुद्ध विज्ञान की पीठिका पर आधारित है। उसका इतिहास अत्यन्त जटिल और रहस्यपूर्ण है। कुंडलनी साधना भी उसके इसी पक्ष से ही संबंधित है। कुंडलनी साधना तांत्रिक साधना की प्रधानभूत विशेषता है। तांत्रिकों का कहना है कि शरीर के अन्दर चक्रों के भिन्न-भिन्न दलक, भिन्न भिन्न अक्षरों की ध्वनि स्वरूप हैं। जब कुंडलनी जाग्रत करके षट्चक्रों के भेदन में प्रवृत्त की जाती है तब क्रमशः ५० अक्षरों की ध्वनियों का आविर्भाव होता है।[4] जो इन ध्वनियों को सुनता है वह माया से मुक्त हो जाता है।

दार्शनिक पक्ष—यद्यपि तंत्रमत साधना प्रधान माना जाता है किन्तु इसमें एक व्यवस्थित दर्शन पद्धति की रूपरेखा भी दिखाई पड़ती है। यहाँ पर हम उसी रूपरेखा का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

तंत्र दर्शन के संबंध में विद्वानों का मतभेद है। कुछ लोग तो इसे वेद बाह्य[5] दर्शन मानते हैं। इसके विरुद्ध दूसरे विद्वान् वैदिक दर्शन का ही रूपान्तर मानते हैं।[6]

किन्तु यदि इस दर्शन का मनोयोग के साथ अध्ययन किया जाय तो हमें पता चलेगा कि वैदिक आधार पर भूमि बनाया हुआ यह भव्य महल है।

---

[1] शक्ति एण्ड दि शाक्त—आर्थर एवैलोन पृ० ३०

[2] (क) प्रिंसिपिल्स आफ तंत्र—आर्थर एवैलन पृ० ५९४

(ख) शक्ति एण्ड दि शाक्त— " " " ५६१

[3] प्रिंसिपिल्स आफ तंत्र— " " " ५९७

[4] वही ग्रन्थ पृ० ६००

[5] संस्कृत पेपर फिलासफी एण्ड आफ्टर सीरीज़

डी० एन बोस, पृ० ५८ पर इस प्रकार के मतों से मत दिये हैं

[6] अव कमीनारोत्तम बाह्मण पृ० ६७ पर ऐसे कई मतों का उल्लेख किया है।

वैदिक दर्शन के सदृश ही तांत्रिक दर्शन भी अद्वैतोन्मुखी है।[1] किन्तु भेदवादी और भेदाभेदवादी विचारधाराएँ तंत्र साहित्य में सरलता से ढूँढी जा सकती हैं। तांत्रिक दर्शन का विकास हमें २ धाराओं में दिखाई पड़ता है। १—बुद्धिक्षेत्र में और २—मंत्रक्षेत्र में। बुद्धिक्षेत्र में तांत्रिक लोग शिव और शक्ति को लेकर चलते हैं। मंत्रक्षेत्र में अद्वैत तत्त्व की अभिव्यक्ति नाद और बिन्दु के रूप में मानी गई है। अभेदवादी दार्शनिक शक्ति नाद और बिन्दु शिव में समवेत मानते हैं किन्तु भेदवादी तांत्रिक शिव, शक्ति और बिन्दु इन तीनों तत्त्वों को अलग मानते हैं।[2] बिन्दु महामाया का पर्यायवाची माना जाता है। बुद्धिक्षेत्र में जिसे महामाया कहते हैं, मंत्र क्षेत्र में उसी को बिन्दु कहते हैं।[3] पहले हम बुद्धिमूलक दार्शनिक पक्ष का विवेचन करेंगे, बाद में हम तांत्रिकों के शब्दवाद की व्याख्या करेंगे।

तांत्रिकों की बुद्धिमूलक विचारधारा—तांत्रिक कुछ तो शैव होते हैं और कुछ शाक्त। जो शैव तांत्रिक होते हैं वे मूल तत्त्व का निरूपण शिव के अभिधान से करते हैं और जो शाक्त हैं वे शक्ति को मूल तत्त्व मानकर चलते हैं। यही कारण है कि तंत्रों में शिव और शक्ति का बड़े विस्तार से निरूपण किया गया है। दोनों ही परात्पर तत्त्व माने गए हैं।

शिव का निरूपण—तंत्र ग्रंथों में शिव तत्त्व का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। कुलार्णव तंत्र[4] में शिव का वर्णन करते हुए लिखा गया है—

(क) शिव अखंड परात्पर ब्रह्म रूप है।
(ख) वह समस्त सृष्टि का स्रष्टा है।
(ग) वह निष्कल होते हुए भी सबके पति हैं।
(घ) वह अद्वैत रूप है।
(ङ) वह प्रकाश रूप है।
(च) वह आदि अंत रहित अनन्त रूप है।
(छ) वह निर्गुण होते हुए भी सच्चिदानन्द रूप है।

इसी प्रकार अन्य तंत्र ग्रंथों में भी शिव का वर्णन ठीक उसी शैली में किया गया है जिसमें वेदान्ती लोग अपने परात्पर ब्रह्म का करते हैं।

---

[1] शक्ति एण्ड शाक्त—आर्थर एवलन पृ० ६५

[2] इण्डिया—तांत्रिक दृष्टि नामक गोपीनाथ कविराज लिखित कल्याण के साधनांक का अंक पृ० ४८०

[3] वही पृ० ४८१

[4] शक्ति एण्ड शाक्त—आर्थर एवलन पृ० १३०

शक्ति तत्त्व—शिव तत्त्व के सदृश ही शक्ति को भी परात्पररूपा व्यक्त किया गया गया है। किन्तु फिर भी शक्ति के निरूपण में शिव की अपेक्षा कुछ विशेष बातें मिली हैं। शक्ति को तंत्रों में द्वैताद्वैत विलक्षण व्यक्त किया गया है। कुलार्णव तंत्र में लिखा है—

> अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
> मम तत्त्वं विजानन्तो द्वैताद्वैत विवर्जिता[1] ॥

अर्थात् कुछ लोग तो मुझे अद्वैतरूपा देखना चाहते हैं और कुछ लोग मुझे द्वैतरूप में देखना चाहते हैं। किन्तु जो मेरे रहस्य को समझते हैं वे द्वैताद्वैत के झगड़े में नहीं पड़ते।

शक्ति की भावना तंत्र ग्रंथों में निर्गुण रूप बतलाई गई है। हरिवरानन्दजी[2] के सर्वतमाश्न मेरु स्तोत्र में लिखा है कि देवी की भावना निर्गुण रूप से शून्य में करनी चाहिए। शक्ति को तंत्र ग्रंथों में शिव या ब्रह्म की छाया कहा गया है। ब्रह्म यामल तंत्र में लिखा है—

> "देवी शक्तिरियं छाया ब्रह्मदेहादिनिर्गता[3]।"

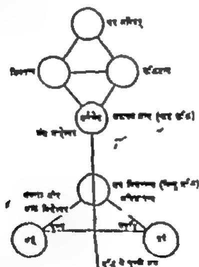
शिव के सदृश ही शक्ति के भी निर्गुण और सगुण दो रूप माने गये हैं। कुब्जिका तंत्र[4] में लिखा है कि शक्ति अपने निर्गुण रूप में चैतन्य रूपणी, आनन्दरूपणी और ब्रह्मानन्द प्रकाशरूपी होती है। अपने सगुणरूप के द्वारा सर्वभूत प्रकाशनी कहलाती है। शक्ति के सगुण रूप से ही सारी सृष्टि का विकास हुआ है। यहाँ यह भी स्पष्ट रखना चाहिए कि शक्ति अपनी निर्गुणावस्था में केवल विमर्श या चित्रूपणी ही नहीं होती वरन् प्रकाशविमर्शरूपणी होती है[5]। यद्यपि शक्ति की कल्पना प्रधान रूप से स्त्रीरूपणी दिखाई पड़ती है, किन्तु तंत्रों में उसके परात्पर रूप पर ही जोर दिया गया है। महाकाल संहिता[6] में लिखा—"देवि तुम न तो कन्या हो, न युवती हो और न वृद्धा रूप ही तुम इन सबसे परे हो।"

---

[1] प्रिंसिपिल्स आफ तंत्र—आर्थर एवेलेन पृ० १९२
[2] ,, ,, ,,—,, ,, पृ० १२२
[3] ,, ,, ,,—,, ,, पृ० १२२।
[4] कुब्जिका तन्त्र अध्याय प्रथम
[5] शक्ति एण्ड शाक्त—आर्थर एवेलेन—पृ० १९५
[6] ,, ,, ,, ,,—,, ,,—पृ० २८

शिव और शक्ति की अद्वैतता—शिव शक्ति के उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट है कि दोनों में थोड़ा-सा अन्तर है। किन्तु यह अन्तर बिंब प्रतिबिंब भाव का है। देवी को मन या शिव की छाया कहा गया है। हमारी समझ में यह सम्बन्ध भी शिव शक्ति भाव को पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर पाता है। इसे स्पष्ट करने के लिए तंत्रों में दिया गया चने का उदाहरण अधिक उपयुक्त लगता है।[1] जिस प्रकार से चने के छिलके के अन्दर दो दल निकलते हैं उसी प्रकार से परात्पर तत्त्व भी शिव और शक्ति रूप है। अलग्न ये दोनों एक ही हैं किन्तु सूक्ष्म बुद्धिवाद में एक भेद स्थापित कर देती है। बिना शक्ति के शिव अपूर्ण होते हैं और बिना शिव के शक्ति अपूर्ण होती है।[2] तंत्र ग्रंथों में शिव देवी से बार-बार कहते हुए दिखलाए गये हैं कि "हे देवी मुझमें और तुममें कुछ भी भेद नहीं है। जिस प्रकार अग्नि और अग्नित्व में कुछ भेद नहीं होता।"

शिव प्रकाशरूप माना जाता है और शक्ति विमर्श या स्फूर्ति रूप। सृष्टि से पूर्व शिव चिद्रूप और शक्ति चिद्रूपाणी होती है। आगे चलकर इन्हीं शिव और शक्ति से विश्व का विकास होता है। शिव शक्ति और उनसे उद्भूत जगत् का विकास क्रम इस प्रकार निर्दिष्ट किया जा सकता है।[3]



[1] शक्ति एण्ड शाक्त—आर्थर एवलान—पृ० १५७

[2] तंत्र देयर फिलासफी एण्ड ऑकल्ट सीक्रेट्स—डी० एन० बोस पृ० ११

[3] यह चक्रक्रम शक्ति एण्ड शाक्त नामक ग्रन्थ में पृ० २८४ पर दिया गया है। यही चक्रक्रम आर्थर एवलान के गारलैंड आफ लैटर्स नामक ग्रन्थ में पृ० १५१ पर दिया गया है।

ऊपर डायग्राम में निर्दिष्ट परसंवित तत्व ही निष्कल शिव या परात्पर ब्रह्म है। इस अवस्था में शक्ति अव्यक्त रहती है, शिव तत्व निष्क्रिय शुद्ध और समित् रूप रहता है, परमेश्वर की यह समावस्था है।

समावस्था के पश्चात् शिव में शक्ति का उन्मेष होता है। इस अवस्था में शक्ति ज्ञान और क्रिया का संचार करती है। यह शिव की भोगावस्था कहलाती है। इस अवस्था में शिव और शक्ति दो व्यक्त रूप दिखाई पड़ते हैं। इन दोनों से फिर सदाख्य तत्व का जन्म होता है। इसे नाद शक्ति भी कहते हैं। यही मन महेश्वर का स्वरूप है। इनसे फिर मंत्रेश्वर उदय होते हैं। यही ईश्वर तत्व है। इसी को बिन्दु शक्ति भी कहते हैं। इस ईश्वर तत्व या मंत्रेश्वर से ८ विद्येश्वर और अविद्या तत्व उत्पन्न होता है। इसी प्रकार क्रमशः अन्य तत्वों का विकास होता है जैसा कि डायग्राम में दिखलाया गया है। इस विषय का विस्तार जगत् विकास के प्रसंग में किया जायगा।

माया शक्ति—शक्ति-विवेचन के प्रसंग में हम थोड़ा-सा माया शक्ति पर भी विचार कर लेना चाहते हैं। जैसा कि हम अभी ऊपर दिखला चुके हैं कि शैव मत में शिव प्रकाश रूप माने गये हैं और शक्ति चेतना रूप या विमर्श रूप और परात्पर तत्व प्रकाश और विमर्श उभय प्रधान होता है। शक्तिमान की शक्ति भी उभयरूपा होती है।[1] चिद्रूपा और मायारूपा दोनों में अविना-भाव सम्बन्ध माना गया है।[2] शाक्त मतानुसार मायावाद् वस्तु नहीं[2a] है। वह ब्रह्म की ही एक शक्ति है। ब्रह्म की शक्ति होने के कारण वह ब्रह्म के समान ही अन्ततोगत्वा चिद् रूप[3] है। यही इस विश्व का उपादान कारण भी है।[4] दूसरे शब्दों में हम माया को चिद्रूपणी शक्ति का सगुण रूप मान सकते हैं। माया इस चिद्रूपणी शक्ति में इस प्रकार प्रच्छन्न रहती है जिस प्रकार काष्ठ में[5] अग्नि। माया त्रिगुणात्मक मानी जाती है।[6] प्रकृति माया की ही एक शक्ति है। यह माया ही भेद बुद्धि कहलाती है।[7] तन्त्र संदोह नामक ग्रंथ में लिखा है कि माया जीवों की जो उनका ही अंश होते हैं, भेद बुद्धि है। जिस तरह से वह

---

१ शक्ति एण्ड शाक्त—आर्थर एवेलन पृ०

२ वही पृ० १११

२क वही पृ० १०६

३ वही

४ वही पृ० २०१

५ प्रिंसिपल्स ऑफ तन्त्र—आर्थर एवेलन पृ० ५८५

६ शक्ति एण्ड शाक्त—आर्थर एवेलन पृ० २००

७ वही

समुद्र को आच्छन्न किये रहता है, उसी तरह से माया आत्मा को आच्छन्न किये रहती है[1]। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में भी यह भाव कुछ हेर-फेर के साथ दोहराई गई है। यहाँ पर हम मायाशक्ति और विद्याशक्ति के अंतर को भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं। जो शक्ति पशु में ऐश्वर्यमयी शक्ति का प्रकाशन करती है उसे विद्याशक्ति कहते हैं[2]। और जो पशु की आत्मशक्ति का तिरोधान करती है उसे मायाशक्ति कहते हैं। उसी ग्रंथ में लिखा है कि शिव के प्रधान दो क्रिया व्यापार होते हैं[3]—

१—तिरोधान और २—अनुग्रह।

१—तिरोधान व्यापार के सहारे शिव अपने को अपने भक्तों से छिपाए रखते हैं।

२—अनुग्रह व्यापार के सहारे वह शक्तिपात के द्वारा अपने भक्तों को अपना ज्ञान कराते हैं। यह शक्तिपात या शक्ति अनुग्रही या मायारूपा होती है। इसीलिए माया मधुर और आकर्षक लगती है।

गोपीनाथ कविराज ने कल्याण के साधनांक में "तांत्रिक दृष्टि" नामक लेख लिखा है। इसमें उन्होंने भिन्न भिन्न तांत्रिक सम्प्रदायों के दृष्टिकोण से माया का विवेचन किया है। उसी को आधार लेकर हम माया सम्बन्धी विविध अवान्तर भेदों का संकेत करना भी आवश्यक समझते हैं। तंत्रों में इसके प्रायः ३ शब्द मिला करते हैं—१—महामाया, २—माया, ३—मायातत्त्व।

महामाया—इस सम्बन्ध में तांत्रिकों में २ मत प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग शिव की शुद्ध परिच्छिन्न शक्ति या बिंदु को ही महामाया का रूप कहते हैं[4] और अशुद्ध परि[illegible] शक्ति को माया कहते हैं।

---

[1] दि गारलैण्ड आफ लैटर्स पृ० १४२

माया विभेदबुद्धि निजांशजातेषु निखिलजीवेषु

नित्यं तस्य निरंकुशविभवं वेलेव वारिधे रुन्धे। तत्त्वसन्दोह ५।

[2] दि गारलैण्ड आफ लैटर्स पृ० १९१

भेदबुद्धिरेव भावेषु अकर्तर्यात्मनोऽपि या

माया शक्त्येव सा विद्याशक्तिरेश्वर यथा। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ३।१।७

[3] दि गारलैण्ड आफ लैटर्स पृ० १९१

[4] 'तांत्रिक दृष्टि' गोपीनाथ कविराज साधनांक पृ० ४८१

"परिच्छिन्न शक्ति स्वभावतः दो प्रकार की परिणामशीला होती है। इसका नाम बिन्दु है। बिन्दु के शुद्ध और अशुद्ध दो रूप हैं। शास्त्रानुसार शुद्ध रूप को ही बिन्दु या महामाया कहा जाता है। अशुद्ध रूप का नाम माया है।"

कुछ दूसरे आचार्यों[1] का कहना है कि बिन्दु की ३ अवस्थाएँ होती हैं। उनमें से परावस्था महामाया कहलाती है। वही परमकारण और नित्यरूप मानी जाती है। इस महामाया के विक्षुब्ध होने पर ही शुद्ध धामों तथा उनमें निवास करनेवाले मंत्रों अथवा मंत्रेश्वरों का जन्म होता है।

माया—के संबंध में प्रसिद्ध मत[2] यही है कि यह बिन्दु की सूक्ष्मावस्था होती है। उसकी ज्ञान शक्ति से शिव का जगत् संबंधी ज्ञान प्रकट होता है और उसकी क्रियाशक्ति से जगत् रचना होती है। इस माया के कुछ आचार्यों[3] ने २ भेद माने हैं। १—साधारण, २—असाधारण।

साधारण माया[4]—इसका विस्तार बहुत बड़ा है। समस्त आत्माओं की भोग्य रूप भुवनावली का आधार रूप यही है। यह माया बिन्दु की निम्नलिखित ३ कलाओं में स्थित रहती है। १—विद्या, २—प्रतिष्ठा और ३—निवृत्ति। विद्या कला में सात भुवनाधार माने गये हैं, वे क्रमशः इस प्रकार हैं। माया, कला, काल, नियति, विद्या, राग और प्रकृति। इन भुवनाधारों पर अंगुष्ठमात्र भुवन से लेकर वामदेव भुवन तक २८० भुवन स्थित हैं।

प्रतिष्ठा कला—इसमें गुणों से लेकर जला तक २१ तत्त्व रूप भुवनाधार माने गये हैं। इन भुवनाधारों पर श्रीकंठ भुवन से लेकर अमरेश भुवन तक ५६ भुवन माने गये हैं।

---

[1] वही पृ० ४८१
"महामाया या बिन्दु की तीन अवस्थाएँ हैं—परा, सूक्ष्म और स्थूल।
परावस्था को महामाया, कुण्डली आदि नामों से पुकारा जाता है। यही परम कारण और नित्य है।"

[2] "महामाया की सूक्ष्म या दूसरी अवस्था का नाम माया है। कलादितत्त्व समूह का अविभक्त रूप ही माया है।" "तांत्रिक दृष्टि" गोपीनाथ कविराज पृ० ४८१ कल्याण का साधनांक।

[3] वही पृ० ४८०
"कलादितत्त्वों की समष्टिरूपा माया साधारण और असाधारण भेद से दो प्रकार की होती है।"

[4] वही पृ० ४८०
"साधारण माया अत्यन्त विस्तृत एवं समस्त आत्माओं की भोग्यरूपा भुवनावली की आधार है।"

निवृत्ति कला—इसमें केवल पृथ्वी तत्त्व ही भुवनाधार रूप माना गया है। इस भुवनाधार पर भद्रकालीपुर से लेकर कालाग्नि भुवन तक १०८ भुवन हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधारण माया सैकड़ों भुवनों का विस्तार करती है।[1]

असाधारण माया[2]—माया के इस विशाल महासागर में सूक्ष्म देहमय पुर्यष्टक तत्त्वों की समष्टि विचरती रहती है। यह सूक्ष्म देह संकोच और विकासशील होती है। उपर्युक्त विभिन्न भुवनों में जो स्थूल देह उत्पन्न होते हैं वे इन्हीं सूक्ष्म देहों का स्थूल रूप होते हैं।

इस प्रकार साधारण और असाधारण माया ने मिलकर विविध भुवनों और विविध जीवों की सृष्टि की है। यह भुवन ही जीवों को बाँधते हैं। इन्हीं के पाशों से बद्ध होने के कारण जीव पशु कहलाते हैं।

माया तत्त्व—जिस साधारण और असाधारण माया का वर्णन ऊपर किया गया है वह अपने मूल रूप में अद्वैतरूपा होती है। शक्तिमान की शक्ति होने के कारण वह विभु और निराकार भी रहती है।[3] इस अवस्था में माया को माया तत्त्व कहा जाता है। अनंत नामक विद्येश्वर की शक्ति इस माया तत्त्व में जब विक्षोभ उत्पन्न करती है तभी साधारण और असाधारण माया के रूपों का विकास होता है। इस प्रकार संक्षेप में तंत्रमत में किये गये माया-सम्बन्धी मतों का विवेचन हो गया है। माया के विवेचन प्रसंग में बिन्दु शब्द कई बार आया है। इसलिए हम उस पर थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे। बिन्दु का स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता जब तक हम नाद के सिद्धांत को न समझें। नाद और बिन्दु की चर्चा तंत्र मत के प्रकरण से संबंधित है निर्गुणियों संतों पर तंत्र दर्शन के मंत्र दर्शन का ही प्रभाव अधिक है, इसलिए अब हम तंत्र दर्शन में आये हुए नाद बिन्दु आदि पर क्रमशः विचार करेंगे।

नाद—तंत्रमत में नाद की बड़ी चर्चा मिलती है, क्योंकि शिव और शक्ति का मिलन, शिवत्व नाद के रूप में ही माना गया है।[4] 'गारलैंड आफ लैटर्स' नामक ग्रंथ

---

[1] वही—पृ० ४८०

[2] वही—पृ० ४८३

[3] देखिए कल्याण के साधनांक में दिये गये गोपीनाथ कविराज-लिखित शाक्तिक दृष्टि नामक लेख के निम्नलिखित शब्द पृ० ४८० पर—"माया तत्त्व नित्य विभु और एक है। सृष्टि के आरम्भ में यह ईश्वर शक्ति के द्वारा क्षुब्ध होकर कला, काल और नियति, तीन तत्त्वों को जन्म देता है।"

[4] [illegible] पृ० ११६

में आर्थर एवेलेन ने लिखा है कि So it is said in the Shakta Tantra (शिव शक्ति संयोगात् जायते सृष्टि कल्पना) (From the union of Shiva & Shakti arises creative ideation This union and mutual relation is called नाद As the relation is not some substantial thing apart from Shiva and Shakti passing from the state of mere potency into that of the first idealing movement from which at lenth when finally perfected the whole universe is evolved

अर्थात् शाक्त तंत्रों में कहा गया है कि शिव और शक्ति के संयोग से सृष्टि कल्पना उत्पन्न हुई। शिव और शक्ति का यह संयोग और उन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध नाद कहलाता है। चूँकि शम्भु और शक्ति कोई ठोस वस्तु नहीं है उसमें शिव केवल शक्तिमात्र रहते हैं। जब शिव और शक्ति स्थिर शक्तिरूप से क्रियात्मक रूप में बदलने लगते हैं तभी नाद का उदय होता है। इसी नाद से विश्व का विकास हुआ है। शिव और शक्ति में नाद का उदय उस समय होता है जब उनमें विकास की चेतना जाग्रत होती है इसलिए नाद क्रियात्मक माना जाता है। तांत्रिक ग्रंथ में जिसे सदाख्य तत्त्व कहा गया है[१], मंत्रग्रंथ में उसी को नाद कहा जाता है।[२] जिस प्रकार से सदाख्य तत्त्व शिव और शक्ति से विवर्तित होता है उसी प्रकार से यह नाद तत्त्व भी क्रियाशक्ति रूपा परनाद रूपी ब्रह्म से उत्पन्न होता है। प्रयोगसार[३] नामक ग्रंथ में लिखा है 'हे देवि! कुंडलनी नाद के रूप में प्रस्फुटित होती है वही वायु (अर्थात् जीवों में प्राणवायु) से प्रेरित होकर अक्षरों का रूप धारण करती है।' नाद के भी कई स्वरूप माने गये हैं—जैसे

महानाद या नादांत से शब्द ब्रह्म का प्रथम क्रियात्मक विकास कहा जा सकता है।

नाद वह स्वरूप है जो सारे विश्व को नादांत से भरे हुए है। दूसरे शब्दों में हम इसे नादांत की पूर्वावस्था कह सकते हैं।

निरोधनी नाद की वह अवस्था है जिसमें बिन्दु को निष्क्रिय करने की क्षमता रहती है।[४]

---

१ गारलैण्ड आफ लेटर्स—आर्थर एवेलेन पृ० १०८ (१९५२)
२ ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ११२
३ ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ११४
४ आर्थर एवलेन के गारलैण्ड आफ लेटर्स पृ० ११४

नाद की कुछ सूक्ष्म अवस्थाएँ भी बतलाई गयी हैं। इन सूक्ष्म अवस्थाओं में निष्कल उन्मनी बहुत प्रसिद्ध है। आर्थर एवेलोन ने उसका वर्णन करते हुए लिखा है—बिन्दु से पर शक्तियाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप धारण करती चली जाती हैं। अन्त में निष्कल उन्मनी अवस्था आ जाती है। इसे अनुत्पन्न निष्पन्दवाक् कहा गया है। इस अवस्था में शून्य संविद् और उन्मुखीभाव उत्सुकावस्था सुषमा का सामंजस्य रहता है। उन्मनी अवस्था कारणरूपा शक्ति की अवस्था है। इस अवस्था में काल कला देवता आदि किसी का भान नहीं होता। यह 'स्व-निर्वाणपर पद' कहलाता है। यह निर्विकल्प निरंजन शिव शक्ति है।[1] इस उन्मनी को और अधिक स्पष्ट करते हुए आर्थर एवेलोन ने एक दूसरे स्थल पर लिखा है[2]—उन्मनी is निराकार and निरुच्चार soundless less and without utterance defined by any adjective, being beyond mind and speech and universe.

अर्थात् उन्मनी अवस्था निराकार, निरुच्चार, निरूप तथा विशेषण रहित अनक्षरावस्था होती है। यह अवाङ्मनसगोचरावस्था है।

कुछ तांत्रिकों ने बिन्दु से भी तीन प्रकार के नादों की उत्पत्ति बतलाई है—१—सूक्ष्मनाद, २—अक्षरनाद, ३—वर्णनाद।

सूक्ष्मनाद—अविनश्वर तत्त्व होता है, इसे अभिदेय बुद्धि का कारण एवं बिन्दु का प्रथम प्रसार माना गया है।

अक्षरनाद—यह सूक्ष्मनाद का कार्य रूप होता है। यह परामर्श ज्ञान समन्वित माना जाता है।

वर्णनाद—इसकी उत्पत्ति आकाश और वायु से मानी गई है। ये विविध प्रकार के नाद निश्चय सृष्टि का विकास करते हैं। तंत्र ग्रंथों में कुंडलनी शक्ति को भी नादरूपा माना गया है।[3] किन्तु तांत्रिक विद्वानों ने नाद से बिन्दु की उत्पत्ति मानी है और तंत्र दर्शन में बिन्दु की ठीक वही स्थिति मानी है जो वेदान्त दर्शन में ईश्वर की है।[4] जिस प्रकार नाद शक्ति का ही एक रूप माना जाता है, उसी प्रकार बिन्दु को भी शक्ति का एक स्वरूप माना जाता है।[5] शक्ति के इन दोनों रूपों अर्थात् नाद और बिन्दु में क्रिया शक्ति निहित[6] रहती है जो क्रमशः सृष्टि के विकास

---

[1] गारलैण्ड आफ लैटर्स पृ० ११७ ११५

[2] वही पृ० ११५

[3] वही पृ० ११०

[4] "दि गारलैण्ड आफ लैटर्स"—आर्थर एवेलोन पृ० १११, ११६, १२१

[5] वही पृ० ११७

[6] वही पृ० ११५

में सहायक होती है। राघवभट्ट ने शारदातिलक नामक ग्रंथ में इन दोनों का वर्णन करते हुए लिखा है कि नाद और बिन्दु शक्ति की वे अवस्थाएँ हैं जो सृष्टि को जन्म देने के लिए उन्मुख रहती हैं। उसने बिन्दु को घनावस्था[1] कहा है। प्रपंचसार[2] तंत्र में इसी को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि शक्ति में जब उत्पन्न करने की इच्छा जाग्रत् होती है तब वह घनीभूत हो जाती है और उससे उसी प्रकार सृष्टि का विकास होता है जिस प्रकार दूध के घनीभूत होने पर दही, मक्खन, मट्ठा आदि का जन्म होता है।

बिन्दु के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तोडल तंत्र को उद्धृत करते हुए षट्चक्र नामक ग्रंथ की टीका में कालीचरण ने लिखा है कि बिन्दु में शून्यता और गुण दोनों की एक साथ प्रतिष्ठा पाई जाती है।[3] इसी टीका में यह भी लिखा गया है कि बिन्दु की तंत्र मत में वही स्थिति होती है जो पुराणमत में महाविष्णु की मानी जाती है।[4] तांत्रिकों का विश्वास है कि बिन्दु सत्यलोक की विभूति है और मानव शरीर में उसकी स्थिति सहस्रार कमल में रहती है। इसमें शिव और शक्ति उसी तरह से अपनी माया शक्ति से आवृत रहते हैं जिस तरह से चने के छिलके में उसके दोनों दल आवृत रहते हैं।[5]

तंत्रमत में बिन्दु के भी कई भेद किये गये हैं। इनमें सर्वप्रथम परबिन्दु का उल्लेख किया गया है। यह परबिन्दु सृष्टि विकास का आदि कारण माना गया है। सारी सृष्टि इसी का परिणाम मानी गई है।[6] प्रपंचसार नामक तंत्र में लिखा है कि परबिन्दु के भी दो भाग होते हैं। इसका दक्षिण भाग पुरुषरूप होता है उसे "ह" और वाम भाग स्त्रीरूप है जिसे "स" कहा गया है। दोनों मिलकर "हंस" बन गये। हंस प्रकृति और पुरुष की संयोगावस्था है।[7] कुछ तंत्रों में लिखा है कि परबिन्दु काल के द्वारा तीन भागों में विभाजित कर दिया जाता है—बिन्दु, नाद, बीज। शारदा-तिलक नामक ग्रंथ तंत्र में लिखा है कि हंस का अर्थ एक प्रकार का संघर्ष होता है। मिश्र नाद कहा गया है। बीज में बिन्दु और नाद दोनों रहते हैं। इस प्रकार एक ही परबिन्दु नाद और बीज में विभाजित हो जाता है।[8] इसी बात को शारदातिलक में इस प्रकार कहा गया है —

---

1 बही पृ० १२४
2 ,, ,, १२५
3 गारलैण्ड आफ लेटर्स पृ० १२५
4 ,, ,, ,, १२६
5 ,, ,, ,, १२६
6 ,, ,, ,, १२८
7 ,, ,, ,, १२९
8 ,, ,, ,, १२९

"बिन्दु शिवात्मको बीजंशक्तिर्नाद तयोर्मिथ
सर्वांगम-विशारदै" समवायः समाख्यात

अर्थात् आगम शास्त्र के भी विद्वानों ने बिन्दु को शिव और बीज को शक्ति तथा नाद को इन दोनों का समवाय स्वरूप माना है।[1] पराबिन्दु में बिन्दु और बीज अर्थात् शिव और शक्ति की समवाय संबंध से अवस्थिति रहती है। यह समवाय संबंध ही नाद है। इसीलिए पर बिंदु से बहुत लोग नाद का जन्म मानते हैं। वास्तव में नाद और बिन्दु का संबंध इतना सूक्ष्म है पृथकता स्पष्ट नहीं किया जा सकता। बीज, बिन्दु और नाद की समन्वित अवस्था को त्रिबिंदु कहा गया है। इसी का कुछ तंत्रों में 'काम'कला का भी अभिधान दिया गया है। काम कला से वर्णों के सूक्ष्म रूप अर्थात् मातृकाओं का जन्म होता है। इन्हीं सूक्ष्म मातृकाओं से स्थूल वर्ण उत्पन्न होते हैं। वर्णों से मंत्र बनते हैं। इस प्रकार नाद से मंत्रों का घनिष्ठ संबंध निर्धारित किया गया है।[2] ऊपर जिस त्रिबिन्दु का संकेत हमने किया है वे क्रमशः सूर्य, चन्द्र, अग्नि और इच्छा, ज्ञान, क्रिया अथवा सत्, रज और तम इन तीनों की समष्टि भी माना जाता है।[3] इन त्रिबिंदुओं में एक का श्वेत, दूसरे का लाल और तीसरे का मिश्र भी माना गया है। यह प्रकाश, और विमर्श, दोनों का समष्टि रूप भी कहा जाता है।[4] इस त्रिबिन्दु की उत्पत्ति पराबिन्दु से ही मानी गई है। इस बात को स्पष्ट करते हुए आर्थर एवेलॉन ने लिखा है—"पराबिन्दु शिव और शक्ति की अविभाजित अवस्था है। विस्फोट होने पर ३ भाग हो जाते हैं—बिन्दु, बीज और नाद। नाद, बिन्दु और बीज साम्यावस्था का परिणाम होता है। इन दोनों का आंतरिक संबंध भी रहता है। काम प्रक्रिया में बिन्दु और बीज में से एक कामक का कार्य करता है और दूसरा काम्य होता है।

तंत्र ग्रंथों में बिन्दु की ४ अवस्थात्मिका शक्तियाँ भी मानी गई हैं। बीजमात्र में इस पृथिवी को छाया देती है। इन शक्तियों के भेद से ही इनके परस्पर ज्ञान में अंतर पड़ता है। इनको साधिकार साधक ही वाचक विशिष्ट लाभ कर सकता है। बिंदु की अवस्थात्मिका शक्तियाँ इस प्रकार हैं—

वैखरी—ये स्थूल शब्द रूप होती हैं। भौतिक कानों से यह सुनी जा सकती है। इसके उच्चारण में वायु और आकाश सहायक होते हैं

[1] शारदा तिलक प्रथम अध्याय
[2] 'दि गारलैण्ड आफ लैटर्स' का निम्नलिखित अंश एवलोन—पृ० १११
[3] गारलैण्ड आफ लैटर्स—आर्थर एवलोन पृ० १२१
[4] ,, ,, ,, ,,

मध्यमा—ये अंतःसंकल्परूप होती है। भौतिक कान इसे सुन नहीं सकते। इसी का दूसरा नाम परामर्शज्ञान भी है।

पश्यन्ती—कुछ लोग इसे अक्षर बिन्दु भी कहते हैं। यह स्वयं प्रकाशरूप होती है।

परावाक्—इसका स्वरूप ज्योतिर्मय माना जाता है। द्वैत मतावलम्बी तांत्रिक इसका अतिक्रम होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं। अद्वैतवादी तांत्रिक इसे परमेश्वर की स्वतंत्र शक्ति मानते हैं।

अधिकांश तांत्रिक परावाक् से ही इच्छा क्रिया और ज्ञान रूपात्मक त्रिबिंदु का उदय मानते हैं। त्रिबिन्दु से पंचाशत मातृकायें उत्पन्न होती हैं। इनमें स्वर वर्णों में बीज अथवा शिवांश रहते हैं तथा व्यंजनों में योनी अथवा शक्त्यंश रहते हैं। अ से लेकर क्ष तक के वर्णों में ही सारा विश्व बँधा हुआ है। इन वर्णों का जब सही ज्ञान हो जाता है तभी मुक्ति मिल जाती है।

तांत्रिकों के जगत् संबंधी विचार—तांत्रिक लोग संसार को मिथ्या[1] नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि संसार शिव और शक्ति से विकसित हुआ है। शिव और शक्ति सत्स्वरूप हैं इसलिए उनका परिणामस्वरूप जगत् भी सत् स्वरूप ही है। क्योंकि दर्शन का यह नियम है कि सत् से सत् की उत्पत्ति होगी, असत् की नहीं हो सकती।[2] यह बात भी स्पष्ट कर देनी चाहिए कि माया मिथ्या नहीं हो सकती। वह शिव की ही एक शक्ति है और उसी के कारण सत्स्वरूपा है।[3] कुछ लोग माया को सत्य मानने का एक दूसरा तर्क भी देते हैं। वे उसे शिव की अनुभूति मानते हैं। शिव की अनुभूति होने के कारण ही वह सत्य कही गई है।[4] किन्तु यह सत्यता शिव की सत्यता से थोड़ा भिन्न है। जगत् आगमापायमय है किन्तु शिव वास्तव अनादि अनंत और अव्यय रूप है।

आभासवाद—तांत्रिकों की जगत् संबंधी धारणा को अधिक स्पष्ट करने के लिए उनके आभासवाद को समझ लेना आवश्यक है। गोपीनाथ कविराज[5] के

---

१ प्रिंसिपल्स आफ तन्त्र आर्थर एवलन पृ० ५८०
२ नासतो विद्यते भावो न भावो विद्यते सतः। (गीता २।१६)
३ शक्ति एण्ड शाक्त आर्थर एवेलेन पृ० १८८
४ " " " " " १६२
५ सरस्वती भवन स्टडीज नवाँ वाल्यूम—गोपीनाथ कविराज का लेख पृ० ९१

मतानुसार शैव मत के अनुसार संसार शिव की इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति है। यह उसी का सदृश रूपान्तरण है। संसार अपनी लयावस्था में शिव की इच्छा शक्ति में ही लीन हो जाता है। इस इच्छा शक्ति को तंत्रों में स्वातंत्र्य शब्द से प्रकट किया गया है। वेदान्ती भ्रम में इस स्वातंत्र्य शक्ति का अभाव मानते हैं। इसीलिए वे आभासवाद के सिद्धांत को न मानकर विवर्तवाद के सिद्धांत की कल्पना करते हैं। इस प्रकार तांत्रिक दृष्टि से शिव का स्वातंत्र्य ही आभास का विधायक है। चित् शक्ति शुद्ध चित् स्वरूपी शिव में आभासित होती हुई विश्व विकास की ओर उन्मुख होती है। इसी समय माया का जन्म होता है और फिर विवर्त का सिद्धांत लागू होता है। विकास की तीसरी अवस्था संसृति को जन्म देती है। माया से स्थूल भूतों का जन्म होता है। ये स्थूल भूत माया के परिणाम होते हैं। विकास की चौथी अवस्था में, जब कि भूतों से इस जगत् का आरम्भ होता है तब आरम्भवाद का सिद्धांत लागू होता है। शैव की दृष्टि से सारी सृष्टि आभास रूप ही मानी जाती है विवर्त, परिणाम और आरम्भ रूप नहीं, क्योंकि सबसे आदि में आभास की प्रक्रिया ही जगत् के विकास का कारण होती है।

हंस धारणा—अब हम तांत्रिकों के हंस पर थोड़ा-सा प्रकाश डाल देना चाहते हैं क्योंकि संत कवियों ने इसका प्रयोग बहुत अधिक किया है। अभी हम ऊपर बतला चुके हैं कि 'ह' शिव का वाचक है और 'स' प्रकृति का वाचक है। इनकी स्थिति शरीर में अनाहत चक्र में बतलाई गई है। आनंदलहरी में लिखा है कि हम तुम्हारे अनाहत चक्र में निवास करनेवाले 'ह' और 'स' को प्रणाम करते हैं। वे उस महात्मा या महान् के मस्तिष्क में जिसने अपना मन ज्ञान के विकसित कमल के मधु में लगा रखा है निवास करते हैं। तंत्रों में हंस आत्मा का वाचक भी माना गया है। ज्ञानार्णव तंत्र में[1] आत्मायें चार प्रकार की बतलाई गई हैं—आत्मा, अंतरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा। हंस के रहस्य का निरूपण इन्हीं विविध आत्माओं के आधार पर किया गया है। तंत्रों में[2] आत्मा को प्राणरूप माना गया है। इसी को हंस भी कहा गया है क्योंकि श्वास के पूरक और रेचक से हंस की ही ध्वनि निकलती है। श्वास प्राण का ही दूसरा नाम है। ज्ञानात्मा[3] को वास्तविक भगवान् शिव स्वरूप मानते हैं। यह बुद्धि आदि में प्रतिबिंबित रहते हुए उसी प्रकार अलग रहता है कि चंद्रमा पानी में प्रतिबिंबित रहते हुए भी पानी से अलग रहता है।

प्रेम—

[1] ज्ञानार्णव तन्त्र १।१२२—गारलैण्ड आफ लेटर्स पुस्तक के पृ० १५० से उद्धृत।

[2] गारलैंड आफ लैटर्स पृ० १५०

[3] गारलैण्ड आफ लैटर्स की निम्न पंक्तियाँ पृ० १५०

अंतरात्मा[1]—इसे रहस्य सूक्ष्म रूपक कहा गया है। आत्मा का यही रूप साक्षीमात्र में परिव्याप्त रहता है। इसकी अनुभूति केवल योगी लोग कर पाते हैं इस लिए इसे यौगिक हंस भी कहते हैं। इसका वर्णन करते हुए तंत्रग्रंथों में लिखा गया है कि तारा या प्रणव इसकी चोंच है। निगम और आगम इसके दो पंख हैं। शिव और शक्ति इसके दो चरण हैं। त्रिबिंदु इसकी तीन आँखें हैं। विद्वान् लोग इसी को परमहंस कहते हैं। जब यह परमहंस व्याप्त होता है तभी समस्त पंचभूतों का विकास होता है। इन पाँचों की आधारभूमि चित्त है। यह हंस प्रधान की कोख में मोह पंक से उद्भूत विश्व कमल में निवास करता है। किंतु जब यह हंस निष्पन्न हो जाता है तब यह आत्मा को प्रदर्शित करता है। उस समय इसका परिच्छिन्न नष्ट हो जाता है और 'सोऽहं' आत्मभाव शेष रह जाता है। इसी को परमात्मा कहा गया है। कलार्णव-तंत्र में इसी का ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तन्त्रों में हंस आत्मा का वाचक माना गया है।

आत्माजीवादि—अब हम तांत्रिक दृष्टि से आत्मा और जीवादि पर विचार करेंगे। तंत्रमत में आत्मा शब्द का प्रयोग वेदान्तियों से भिन्न अर्थ में किया हुआ जान पड़ता है। यह बात आत्माओं के उपर्युक्त विभागों से ही प्रकट होती है। वैसे भी तान्त्रिक आत्मा को शिव शक्ति का सम्मिलित रूप ही मानते हैं। किंतु वेदान्ती उसे केवल ब्रह्म का अंशमात्र मानते हैं। तांत्रिकों और वेदान्तियों में यही तात्त्विक भेद है। वैसे बहुत दृष्टियों से दोनों के विचार मिलते-जुलते हैं। तांत्रिकों की दृष्टि में निराकार चित्स्वरूपी आत्मा ही परमात्मा है वही जब माया शक्ति और कंचुक आदि से परिच्छिन्न हो जाती है तब उसे जीवात्मा कहने लगते हैं।[2] तांत्रिकों के अनुसार शरीर और मन प्रकृति का कार्यरूप होते हैं[3]। प्रकृति ही सम्पूर्ण विश्व का उपादान कारण है। इसीलिए इसे महद्योनि का अभिधान दिया गया है। यह प्रकृति तंत्रमत में त्रिगुणात्मक मानी गई है।

शरीर—तंत्रमत में शरीर तीन प्रकार[4] के माने गये हैं—कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। आत्मा इन तीनों शरीरों से सम्बद्ध रहती है।

---

[1] गारलैण्ड आफ लैटर्स—पृ० १९०

[2] सर्पेन्ट पावर—आर्थर एवेलेन पृ० ४६

[3] ,, ,, ,, ,, ,, ५१

[4] ,, ,, ,, ,, ,, ५४

ये तीनों शरीर प्रकृति विनिर्मित[1] होते हैं। ये शरीर ही पाश हैं। इनसे बद्ध होकर जीव पशु कहलाता है। सदाशिव[2] इनसे विनिर्मुक्त रहता है। इसीलिए उसे पशुपति कहते हैं। शैवसिद्धान्त के मतानुसार ईश्वरी माया पर शासन करती है और जीव माया पर अपना आधिपत्य रखती है। इस दृष्टि से जीव ईश्वर के समकक्ष नहीं होता। जीवों का कारण शरीर[3] अविद्या शक्ति से विनिर्मित होता है। यह शरीर तब तक नष्ट नहीं होता जब तक पशु को मुक्ति नहीं मिल जाती। सुषुप्ति अवस्था में जीव इसी कारण शरीर में स्थित रहता है। सूक्ष्म शरीर[4] को लिंग शरीर भी कहते हैं। यह विकृतियों से बना होता है। स्थूल शरीर[5] पंचभूतों का बना रहता है। इस प्रकार तंत्रों में वेदान्त सांख्य आदि दर्शनों के ढंग पर जीव का विश्लेषण किया गया है।

साधना पद्धति—शैवमत एक साधना प्रधान मत है। इसकी साधना द्विमुखी मानी गयी है—बाह्य और आन्तरिक।

बाह्य साधना—इसके अंतर्गत साधना, उपासना आदि का उल्लेख किया गया है।[6] आंतरिक साधना यौगिक होती है।[7] उसके अन्तर्गत षट्चक्र भेदन तथा मुद्रा साधनाएँ आती हैं। अब हम पहले तो तांत्रिकों की बाह्य साधना के विविध पक्षों का संकेत करेंगे और फिर आन्तरिक साधना का उल्लेख करेंगे।

तांत्रिकों की बाह्याचारात्मक साधना—इसके अंतर्गत आचार्यों ने संध्या और उपासना को सबसे प्रमुख बतलाया है।

संध्या[8]—तांत्रिक साधना में संध्या का बड़ा महत्त्व माना गया है। इस संध्या के उन्होंने चार पक्ष माने हैं—ध्यान, धारणा, प्राणायाम और जप। इन अंगों में ध्यान दो प्रकार का बतलाया गया है स्थूल और सूक्ष्म। वामतंत्र[9]

---

[1] वही पृ० ५४
[2] " " ५५
[3] " " ५५
[4] " " ५६
[5] " " ५६
[6] मिस्टिसिज्म आफ तन्त्र पृ० ११९
[7] वही पृ० ११९
[8] " " १४३
[9] " " १४५

और महानिर्वाण तन्त्र[1] में इन दोनों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। सूक्ष्म ध्यान में देवता के मन्त्रमय विग्रह का ही चिन्तन किया जाता है इसके विरुद्ध स्थूल ध्यान देवता के स्थूल विग्रह से सम्बन्धित होता है। तन्त्रमत साधना में तीन समयों की संध्या[2] का विधान मिलता है। प्रातः, मध्याह्न और सायं। प्रातःकाल की संध्या में शक्ति का ध्यान मूलाधार की संज्ञा में किया जाता है।[3] मध्याह्न[4] में हृदय में गरुडवाहिनी का ध्यान किया जाता है। सायं में वृषभवाहिनी[5] का ध्यान किया जाता है और ध्यान के साथ-साथ बीजमन्त्र का जाप भी किया जाता है। मूल शुद्धि तन्त्र[6] में लिखा है—

"यस्य यस्य च मंत्रस्योद्दिष्टा याच देवता।
चिंतयित्वा तदाकारं मनसा जपं आचरेत्॥"

अर्थात् मन्त्र के अनुरूप देवता का ध्यान करते हुए जप करना चाहिए। जप तन्त्र ग्रंथों में तीन प्रकार का बतलाया गया है। वाचिक, मानसिक, उपांशु।[7] तन्त्र साधना में अजपाजाप को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। संत कवियों ने भी इस अजपा की बड़ी महिमा वर्णित की है।

तान्त्रिक उपासना—तांत्रिक दृष्टि से उपासना का अर्थ आत्मशक्ति की साधक के इष्ट मन्त्रों की वाचक शक्ति से पूजा करना होता है। तन्त्र ग्रंथों में उपासना एक आंतरिक दूसरी बाह्य। आंतरिक उपासना केवल संन्यासियों के लिए ही विशेष मानी गई है और बाह्य का आचरण गृहस्थ और संन्यासी दोनों कर सकते हैं।[8] आंतरिक साधना चक्रों के भेदन से सम्बन्धित मानी गई है। इस आंतरिक साधना में साधक हृत्पद्म को देवी का आसन बनाता है। तदनुसार

1 प्रिंसिपिल्स आफ तंत्र पृ० १४६
2 वही ,, १४७
3 वही ,, १४७
4 वही ,, १४७
5 वही ,, १४८
6 वही ,, १४८
7 वही ,, १४९
8 वही ,, १५१
9 वही ,, १५१

तन्त्र संहिता का निम्नलिखित उद्धरण देखिए —
"द्विविधं स्यात् मन्त्रमोपासनमनु वासयम्। न्यासिना चान्तरं आचरमन्ये बाह्यमुभयंतथा"
प्रिंसिपिल्स आफ तन्त्र पृ० १५१ से उद्धृत

से प्लावित होनेवाले अमृत से देवी के चरण धोता है और मन का समर्पण ही उसका अर्घ्य होता है। आकाश ही उसके वस्त्र होते हैं। चित्त शक्ति ही पुष्प है। प्राणों की सुगंधि ही धूप है, तेजस ही दीपक होता है। अमृत का सागर ही देवी का भोग बन जाता है। अनहद नाद घंटाध्वनि का कार्य करता है, प्राणायाम की प्रक्रिया ही देवी पर पवमान की चँवर होती है इत्यादि इत्यादि[1]—इस प्रकार हम देखते हैं कि तन्त्रों की आन्तरिक उपासना बहुत कुछ यौगिक और मानसिक मानी गई है।

तंत्र ग्रन्थों में बाह्य उपासना[2] पर भी प्रकाश डाला गया है। उसमें बाह्य उपासना के आवश्यक तत्त्व निम्नलिखित माने गये हैं—विनय, गुरु, आसन, भूत शुद्धि, न्यास, पंचतत्त्व साधना आदि[3]। इनमें हम भूत शुद्धि, न्यास और पंचतत्त्व साधना पर थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहते हैं[4]। भूत शुद्धि तांत्रिकों की बहुत प्रसिद्ध साधना है। भूत शुद्धि तंत्र में इसका बड़े विस्तार से उल्लेख किया गया है। संक्षेप में भूत शुद्धि का अर्थ होता है, सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों की शुद्धि करना। भूत शुद्धि के बाद ही न्यास साधना भी तंत्रमत में बड़ा महत्त्वपूर्ण समझी जाती है[5]। न्यास साधना में साधक को देवमन्त्रों और मातृका वर्णों को शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में प्रतिष्ठित करना पड़ता है। अब हम थोड़ा सा विचार तान्त्रिकों की पञ्चतत्त्व साधना पर कर लेना चाहते हैं। क्योंकि इसके सम्बन्ध में लोगों में बड़ी भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं।

लोक में ये तत्त्व पंचमकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। पंचतत्त्व साधना का मूलाधार यही है। ये क्रमशः मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन और मुद्रा हैं[6]। ये पाँचों तत्त्व प्रत्यक्ष देखने में घोर तामसिक प्रतीत होते हैं। तंत्रमत में इनका अर्थ प्रतीकात्मक लिया गया है। साधकों के आधार पर ये प्रतीक भी तीन प्रकार के माने गये हैं। सात्त्विक, राजसिक, तामसिक अर्थात् दिव्य, वीर और पशु। पंचतत्त्वों का सात्त्विक प्रतीकार्थों का स्पष्टीकरण आगमसार, योगिनी तन्त्र, महानिर्वाण तन्त्र आदि ग्रन्थों में किया गया है[7]। आगमसार में पंचतत्त्वों के प्रतीकार्थ इस प्रकार बतलाए गये हैं। मदिरा यौगिक ज्ञान का प्रतीक माना गया है, मांस वह साधन कहा गया है जिसके सहारे साधक अपने कर्मों का समर्पण माँ के प्रति कर देता है।

---

[1] [illegible] पृ० १५५
[2] „ „ „ [illegible] पृ० १५९
[3] „ „ „ „ „ पृ० १५९
[4] „ „ „ „ „ पृ० १५८
[5] „ „ „ „ „ पृ० १६०
[6] [illegible] „ „ पृ० १०५
[7] „ „ „ „ „ „ पृ० १०७

मत्स्य उस सात्विक ज्ञान को कहते हैं जिसके सहारे साधक समस्त जीवों के दुख सुखों में उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करता है। मुद्रा उस साधना का प्रतीक है जिसके सहारे साधक दुष्ट शक्तियों का संसर्ग त्याग देता है। इसी प्रकार मैथुन का अर्थ मूलाधार चक्र में स्थित कुंडलनी शक्ति का सहस्रार में स्थित शिव से मिलन कराना होता है।[1] आगमसार[2] नामक तंत्र में पंच तत्त्वों के प्रतीकार्थ उपर्युक्त प्रतीकार्थों से कुछ भिन्न दिये गये हैं। उसमें मदिरा[3] को सहस्रार से स्रवित होने वाले अमृत का वाचक माना गया है।[4] मांस का अर्थ उसमें वाणी संयम बतलाया गया है। इसी प्रकार मत्स्य इड़ा पिंगला रूपी नदियों में विचरण करने-वाली वायु के लिए प्रयुक्त हुआ है।[5] ज्ञान को सहस्रार में प्रकाशित करना ही उसके अनुसार मुद्रा है। कुंडलनी शक्ति और सहस्रार स्थित शिव का संयोग ही मैथुन कहा गया है। इस प्रकार अन्य तंत्र ग्रंथों में भी पंचतत्त्वों के तात्त्विक प्रतीकार्थ[6] दिये गये हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश साधारण बुद्धिवालों ने इन पंचतत्त्वों का अभिधामूलक अर्थ लगाना शुरू कर दिया जिससे कि तंत्र साधना अत्यधिक बदनाम हो गई है।

तन्त्रों की कुंडलनी साधना[7]—तंत्रों में कुंडलनी-योग क्रिया का बड़ा महत्त्व[8] है। यहाँ पर हम उस पर थोड़ा सा प्रकाश डाल देना चाहते हैं। ऊपर हम महामाया की चर्चा कर आये हैं। इसी का दूसरा नाम महाकुंडलनी है। जिस तरह से महामाया सृष्टि के विकास का कारण समझी जाती है उसी तरह कुंडलनी भी सृष्टि की कारणरूपा है। इस महाकुंडलनी का तंत्र ग्रंथों में बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। यह शब्दमयी और चिद्रूपा मानी जाती है। इसे ज्योतिर्मयी भी कहते हैं।[9] यही विश्व की चेतना शक्ति है।[10] जो देश और काल से अपरिछिन्न

---

[1] शक्ति एण्ड दि शाक्त थार्ड एडीशन पृ० ६०६
[2] वही ,, ६०७
[3] ,, ,, ६००
[4] ,, ,, ६०७
[5] ,, ,, ६०७
[6] देखिए इनके विविध प्रतीकार्थ—शक्ति एण्ड दि शाक्त—पृ० ६०८ और देखिए प्रिंसिपिल्स आफ तन्त्र पृ० ७१७-१९
[7] इस कुंडलनी योग साधना को तन्त्र मत में भूतशुद्धि का नाम भी दिया गया है। देखिए सर्पेन्ट पावर पृ० १ (इन्ट्रोडक्शन)
[8] शक्ति एण्ड दि शाक्त पृ० ६०९
[9] सर्पेन्ट पावर ,, ८१
[10] शक्ति एण्ड दि शाक्त ,, ६९८

रहती है। जब सृष्टि के विकास का समय आता है तो यह शक्ति अपने को प्रकृति उद्भूत करती है। इसीलिए इसे विश्व प्रकृति भी कहते हैं। यही आद्या शक्ति है। यह शिव शक्तिरूपा भी है। इससे विश्व का विकास शिव और शक्ति अर्थात् स्त्री और पुरुष के रूप में होता है। इसके शिव शक्ति रूप से रौद्री ज्येष्ठा और वामा शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इसके रुद्र शिव रूप से रुद्र ब्रह्म और विष्णु उत्पन्न होते हैं। इनके क्रमिक गुणयोग से अग्नि चन्द्र सूर्य, तमस, रजस और सत्व, ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि का जन्म होता है। इसे विकास की पहली अवस्था कहा गया है। विकास का दूसरा क्रम अर्थसृष्टि के नाम से प्रसिद्ध है। यह दो भागों में विभाजित है—पहले भाग में अधिष्ठाता आते हैं और दूसरे में तत्त्व। यही त्रिविध लोक हैं। पर शिव इनके प्रधान देव हैं। इसका विवरण इस प्रकार है—

लोक	अधिष्ठाता	अधिष्ठात्री
सत्यम	परशिव	आद्याशक्ति
	महाविष्णु	महालक्ष्मी
तपः	शम्भू	सिद्धलक्ष्मी
जन	सदाशिव	महागौरी
मह	ईश	भुवनेश्वरी
स्व	रुद्र	भद्रकाली
भुव	विष्णु	राधा
भू	ब्रह्मा	वागीशी

महाकुंडलनी से विश्व का विकास क्रम भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न प्रकार से बताया गया है। उपर्युक्त विकास क्रम बहुत प्रसिद्ध है अतएव हमने उसी का संकेत किया है।[1]

तंत्र का प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि जो कुछ ब्रह्मांड में है वही पिंड में है।[2] इस आधार पर ही तांत्रिक महाकुंडलनी का लघु संस्करण की स्थिति पिंड में भी मानते हैं। उसी को वे कुंडलनी शक्ति[3] कहते हैं। सम्पूर्ण जगत् का कारण कहलानेवाली महाकुंडलनी व्यापक मानी जाती है। किन्तु व्यष्टि रूप

[1] जिस प्रकार महाकुंडलनी से उपर्युक्त अन्य भावों का विकास बताया गया है उसी प्रकार शारीरिक कुंडलनी का विकास भाव भी भाव भावों में बाँटा गया है—गारलैण्ड आफ लेटर्स पृ० २०१

[2] सर्पेन्ट पावर आर्थर एवेलोन पृ० ५

[3] शक्ति एण्ड दि शाक्त आर्थर एवेलोन पृ० ११८

जीव को चलाने वाली कुंडलनी शक्ति अथवा कुण्डलनी कही गई है।[१] यह कुण्डलनी शक्ति शरीर में मूलाधार में निवास करती है।[२] यह सुषुप्तावस्था में रहती है और साढ़े तीन वलय लेकर त्रिकोण से लिपटी रहती है। इसके बाईं ओर इड़ा नाड़ी रहती है और दाहिनी ओर पिंगला नाड़ी रहती है। इन दोनों के बीच में सुषुम्ना नाड़ी का प्रवाह रहता है। इड़ा और पिंगला रूपी कुण्डलों से आवृत्त रहने के कारण इसका नाम कुण्डलनी पड़ गया है।[३] कुण्डलनी मातृकामयी भी कही गई है।[४] तांत्रिकों का कहना है कि जब यह कुण्डलनी शक्ति जाग्रत कर सहस्रारोन्मुख की जाती है तब कुण्डलनी की मातृकाएँ व्यक्त होती चलती हैं। मूलाधार से लेकर सहस्रार तक कुण्डलनी मात्राओं का तन्त्र ग्रंथों में विविध प्रकार से वर्णन किया गया है। कुछ तांत्रिकों ने छः की कुण्डलनी मात्राओं के अंतराल में छः चक्रों की स्थिति मानते हैं। कुछ तांत्रिकों ने छः लोग इन मात्राओं के अंतराल से छः चक्रों की और भी अधिक विस्तार किया है। उन्होंने चक्रों का वर्णन किया है। कुछ ने इसका और भी अधिक विस्तार किया है। किन्तु मूलाधार से लेकर सहस्रार तक के मार्ग को २५ भागों में विभाजित किया है। किन्तु एक बात से सभी लोग सहमत हैं वह यह कि कुंडलनी को सहस्रार तक पहुँचते-पहुँचते ५२ मातृकाएँ व्यक्त करनी पड़ती हैं। कुंडलनी शक्ति नाड़ियों के मार्ग से सहस्रार तक पहुँचती है इसीलिए तन्त्रों में नाड़ी साधना का विशेष महत्व दिया गया है। शरीर में भूतशुद्धि तन्त्र के अनुसार बहत्तर हजार और प्रपंचसार तन्त्र के अनुसार तीन लाख और शिव संहिता के अनुसार तीन लाख पचास हजार नाड़ियाँ होती हैं।[५] इनमें से चौदह नाड़ियों की चर्चा अधिक की गई है।[६] इन चौदह में भी सबसे प्रमुख तीन हैं—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना और इन तीन में भी सबसे अधिक महत्वशालिनी सुषुम्ना है क्योंकि कुण्डलनी इसी में होकर सहस्रार[७] तक पहुँचती है। इस सुषुम्ना के अंदर भी वज्रा, चित्रा और ब्रह्म नाड़ी की कल्पना की गई है।[८] इनमें से प्रथम वह्निस्वरूपा और दूसरी सूर्यस्वरूपा और तीसरी चन्द्रस्वरूपा मानी गई है।[९] चित्रसी नाड़ी

---

१ योगांक (कल्याण) पृ० १८८ पर कुंडलनी सक्ति नाम शीर्षक लेख

२ घेरंड संहिता में देखिए—

"मूलाधार आत्मशक्ति कुण्डलनी पर देवता।"

३ कल्याण का योगांक पृ० १८८

४ सर्पेन्ट पावर—आर्थर " ८१

५ इन सब मतों के लिये देखिए—सर्पेन्ट पावर—आर्थर पृ० ११०

६ वही पृ० ११०

७ वही " १११

८ षट् चक्र निरूपण " १११ २

९ षट् चक्र निरूपण " १११

को पुरु ब्रह्मद्वार[1] कहलाता है। कुण्डलिनी शक्ति इसी ब्रह्मद्वार से सहस्रार के शिव की ओर जाती है। इसी को कुलमार्ग भी कहते हैं। सुषुम्ना के दाहिनी ओर पिंगला नाड़ी होती है।[2] इसे यज्ञात्मिका भी कहते हैं। इसी का प्रतीकात्मक नाम यमुना भी है। इसे सूर्य भी कहते हैं। सुषुम्ना के बाईं ओर इड़ा[3] नाड़ी है। यह अमृतगर्भा कही जाती है। इसे चन्द्र शशि आदि के नामों से भी पुकारते हैं। प्रतीकात्मक भाषा में इसी को गंगा कहते हैं। ये दोनों नाड़ियाँ काल (समय) स्वरूपा कही गयी हैं। सुषुम्ना से प्रवाहित होनेवाली कुण्डलिनी शक्ति इनको आक्रान्त कर लेती है इसीलिए प्रसिद्ध है कि सुषुम्ना काल का भक्षण कर लेती है। इड़ा पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों का मूल मूलाधार कहा गया है। इस प्रतीकात्मक भाषा में युक्त त्रिवेणी[4] भी कहते हैं। क्योंकि यह गंगा, यमुना और सरस्वती का मूल स्थान है। ये तीनों नाड़ियाँ चक्रों को बाँधे हुए हैं। जब ये इड़ा और पिंगला आज्ञा चक्र के पास पहुँचती हैं तब ये सुषुम्ना से फिर मिल जाती हैं। इसीलिए इस स्थान को मुक्त त्रिवेणी[5] कहा गया है। सुषुम्ना नाड़ी जिस स्थान में खत्म होती है, उसे ब्रह्मरंध्र कहते हैं। नाड़ियों के इस मार्ग में कुछ लोग ६ तथा कुछ लोग ८[6], कुछ इससे भी अधिक चक्रों की स्थिति मानते हैं। तंत्र ग्रंथों में इन चक्रों का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। पहले हम षट्चक्रों का वर्णन करेंगे फिर ८ चक्रों का। अंत में हम अन्य योगियों द्वारा किये गये सुषुम्ना मार्ग के विविध विभागों का वर्णन करेंगे।

पहला चक्र मूलाधार[7] है। यह सुषुम्ना नाड़ी का मूल होने के कारण

---

[1] वही ११२

[2] मेरोस्तु पिंगला नाम नाड़ी सूर्य विग्रहा ।
दीप्ताग्निका महारौद्री दाडिमी कुसुमप्रभा ॥
सम्मोहन तन्त्र (षट्चक्रनिरूपण की टीका में उद्धृत)

[3] वामगा या इड़ा नाड़ी शुभ्रा चन्द्र स्वरूपिणी ।
शक्तिरूपा हि सा देवी साक्षादमृत विग्रहा ॥
(सम्मोहन तन्त्र षट्चक्रनिरूपण) श्लो १

[4] इड़ा यमुना देवी पिंगला सरस्वती ।
सुषुम्ना भवद्गंगा तथा सार्गप्रभा भवेत् ॥
संगमो यत्र मूर्ध्नि च त्रिगुणः परिपालनः ।
त्रिवेणी स्नान न भाग्य तत्र स्नान महत्फलम् । (षट्चक्रनिरूपण ११३ पृ० ४)

[5] मर्गेट प्रकर । पायर सर्पेन्ट पृ० ११२

[6] शक्ति क्रम कि नामक ग्रन्थ में पृ० ६८१ पर ४० तक चक्रों का वर्णन है।

[7] षट्चक्र निरूपण ११ ९

मूलाधार कहा जाता है। कुण्डलिनी शक्ति यहीं पर साढ़े तीन वलय लेकर ब्रह्म द्वार की ओर मुख किये हुए विश्राम करती है। यह चक्र उपस्थ और लिंग के बीच में स्थित रहता है। इसका रंग लाल पीला बताया जाता है। इसमें चार दल होते हैं। इन दलों की वृत्तियाँ ४ प्रकार के आनन्द के रूप में प्रस्फुटित होती हैं। उनके नाम क्रमशः परमानन्द, सहजानन्द, योगानन्द और वीरानन्द[1] हैं। इन चार दलों पर चार स्वर्णिम अक्षरों का प्रकाश होता है। ये वर्ण क्रमशः वं, शं, षं, सं हैं। प्रत्येक वर्ण अपने वैखरी रूप में सूक्ष्म शब्द का स्थूल रूप होता है। ये वर्ण मंत्र रूप होते हैं। मंत्र देवता के सूक्ष्म रूप माने जाते हैं। इसलिए ये वर्ण देवतामय होते हैं। इस चक्र का प्रेरक तत्त्व पृथ्वी है। इसका बीजमंत्र लं है। इस बीज का वाहन ऐरावत हाथी माना गया है, इसका गुण गंध है। इसके अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं। इसकी अधिष्ठात्री देवी डाकिनी हैं। इसका आकार चतुष्कोणात्मक है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय नासिका और कर्मेन्द्रिय गुदा है। इसका ध्यान करनेवाला सर्व विद्याविशारद, पुष्पेन्द्रवक्ता, अरोग्य और आनन्दचित होता है। काव्य रचना में उसकी अलौकिक गति होने लगती है। इसी मूलाधार चक्र में ही त्रिपुर[2] की कल्पना भी की गई है। कहते हैं इसमें एक त्रिकोणात्मक योनि होती है, यही त्रिपुर का शक्तिपीठ है। इसमें स्वयंभू नामक शिव लिंग जो नवीन कौशल के सदृश सुन्दर होता है प्रतिष्ठित है। इस त्रिपुर का तंत्र ग्रंथों में बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। षट्चक्र निरूपण नामक ग्रन्थ में दिया हुआ इसका वर्णन इस प्रकार है—

> वज्राख्या वक्त्रदेशे विलसति सततकर्णिकामध्यसंस्थं,
> कोणं तत् त्रैपुराख्यं तडिदिव विलसत्कोमलं कामरूपम्।
> कन्दर्पो नाम वायुर्निवसति सततं तस्य मध्ये समन्ता
> ज्जीवेशो बन्धुजीवप्रकरमभिहसन् कोटिसूर्य प्रकाशः॥[3]

अर्थात् वज्रानाड़ी के मुख के समीप मूलाधार चक्र की कर्णिका में तड़ित के सदृश ज्योतिर्मय कामरूप एक त्रिकोण होता है। इसे त्रैपुर कहते हैं। इसमें कंदर्प नामक वायु विचरण करती रहती है। यह बंधुक फूल की तरह रक्त वर्ण रहता है। जीवों का स्वामीभूत यह कामरूप सहस्र सूर्यों के सदृश ज्योतिर्मय होता है।

दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान[4] के नाम से प्रसिद्ध है। स्व का अर्थ है परम लिंगम्।

---

[1] सर्वेश्वर पाठक—भाषा पूर्वकोष पृ० ११६
[2] ,, ,, ,, ,, पृ० ११८
[3] षट्चक्र निरूपण ११८
[4] स्वाधिष्ठान चक्र का वर्णन सर्वेश्वर पाठक नामक ग्रन्थ के ११८ पृ० पर देखिए।

इस चक्र में परम शिवम् प्रतिष्ठित रहता है, इसीलिए इसे स्वाधिष्ठान[1] चक्र कहते हैं। ध्यान बिन्दु[2] उपनिषद् में स्वाधिष्ठान का अर्थ शक्ति का अपना ही स्थान लिया गया है। इसका सिंदूर जैसा वर्ण माना गया है। शरीर में मेरु के पास इसकी स्थिति मानी गई है। इसमें छः दल होते हैं। दलों के बीजाक्षर क्रमशः बं, भं, मं, यं, रं, लं होते हैं। इसका तत्त्व जल माना गया है। इसीलिए इस चक्र को वरुणालय भी कहते हैं। यह अर्द्धेन्दु रूपतः लक्षित कहा गया है। इसका तत्त्व बीज वं है। इसका लोक भुवः माना गया है। इसका गुण रस बतलाया गया है। इसके अधिष्ठातृ देव विष्णु और इसकी अधिष्ठात्री देवी राकिनी है। इसका यंत्र चन्द्राकार बनता है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय रसना मानी गई है और कर्मेन्द्रिय लिंग होती है। इसके बीज का वाहन मकर होता है। इसका ध्यान करने से योगी को भय, पर रचना की अलौकिक शक्ति प्राप्त होती है और अहंकार आदि विकार नष्ट हो जाते हैं।

तीसरा चक्र मणिपूरक[3] नाम से प्रसिद्ध है। यह नाभि में होता है। इसमें दस दल होते हैं। इसका वर्ण नीला होता है। यह स्वः लोक का प्रतीक समझा जाता है। इसके दस दलों के वर्ण क्रमशः इस प्रकार बतलाए गए हैं—डं, ढं, णं, तं, थं दं, धं, नं, पं, फं। यह चक्र तेज तत्त्व की दीप्ति के कारण मणि के सदृश चमकता रहता है इसीलिए इसका नाम मणिपूरी चक्र रखा गया है। इसका आधार तत्त्व अग्नि, उसका बीज मन्त्र रं, वाहन मेष कहा गया है। इसका गुण रूप बतलाया गया है। वृद्धरुद्र इसके देवता माने गये हैं। लाकिनी इसकी अधिष्ठात्री देवी हैं। इसका यंत्र त्रिकोणात्मक होता है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय चक्षु और कर्मेन्द्रिय चरण है। इसके त्रिकोण मन्त्र में तीन स्वस्तिक बने रहते हैं। इसका ध्यान करनेवाला योगी संहार पालन में समर्थ और वचन रचना में चतुर हो जाता है। उसकी जिह्वा पर सरस्वती निवास करने लगती है।

चतुर्थ चक्र का नाम अनाहत[4] है। यह हृदय देश में स्थित रहता है। इसमें १२ दल होते हैं। इसका प्रतीक धूम्र वर्ण माना जाता है। यह महर्लोक का प्रतीक होता है। इसके दलों के अक्षर क्रमशः—कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं हैं। इसका आधार तत्त्व वायु, उसका बीज मन्त्र यं

---

[1] सर्पेन्ट पावर—आर्थर एवलॉन पृ० ११४ पर इसका वर्णन देखिए।

[2] इसका स्वरूप निरूपण श्री सर्पेन्ट पावर नामक ग्रन्थ में पृ० ११८ पर देखिए।

[3] (क) सर्पेन्ट पावर—आर्थर एवलॉन अध्याय ५

(ख) षट्चक्र निरूपण—आर्थर एवलॉन द्वारा सम्पादित पृ० २८

[4] " " " " " " " ११

और वाहन मृग माना गया है। स्पर्श नामक गुण की स्थिति भी इसमें रहती है। इसके अधिष्ठाता देव ईशान रुद्र और अधिष्ठात्री देवी काकिनी कही गई हैं। इसका मंत्र यकारात्मक होता है। त्वचा इसकी ज्ञानेन्द्रिय और कर कर्मेन्द्रिय कहे गये हैं। इसका ध्यान करनेवाला योगी पर काया प्रवेश करने की शक्ति प्राप्त करता है। उसे ईशत्व नामक शक्ति भी प्राप्त होती है। इस चक्र के समीप कल्पतरु और मणिपीठ नामक दो और स्थान बतलाये गये हैं। इस चक्र में अनाहत ध्वनि उत्पन्न होती है। यही सदा शिव है। त्रिगुणस्य प्रधान इसी स्थान में व्यक्त होता है। दीप ज्योति के सदृश जीवात्मा इसी स्थान में रहती है। इस चक्र का इसीलिए बड़ा महत्त्व है।

पाँचवें चक्र का नाम विशुद्ध चक्र[1] है। इसका स्थित स्थान कंठ माना गया है। इसमें १६ दल होते हैं। इसका वर्ण धूम्र के सदृश होता है। यह जनलोक का प्रतीक होता है। इसके दलों के वर्ण क्रमशः अ, आ, इ, ई, उ ऊ ऋ, ॠ, ऌ ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः हैं। इस चक्र के तत्त्व का नाम आकाश है। बीजमंत्र हं माना गया है। बीज का वाहन हाथी माना गया है। इसका गुण शब्द बतलाया गया है। पंचानन इसके देवता कहे गये हैं। इसकी अधिष्ठात्री देवी शाकिनी हैं, इसका मंत्र शून्याक्षर बनता है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय क्रमशः कर्ण और वाक् हैं। इस कमल का ध्यान करनेवाला त्रिलोकदर्शी और चिरंजीवी होता है।

आज्ञाचक्र[2] छठा चक्र माना गया है। यह भ्रूमध्य में स्थित रहता है। इसमें दो दल होते हैं। इसका वर्ण श्वेत होता है। दलों के अक्षर 'ह' और 'क्ष' माने गये हैं। प्रणव इसका तत्त्व बीज है। नाद इसका वाहन है, लिंग इसके देवता हैं। इसकी अधिष्ठात्री हाकिनी देवी हैं। इसका मंत्र लिंगाक्षर बनता है। इसका लोक तपः माना गया है। इसका ध्यान करनेवाले योगी को वाक् की सिद्धि प्राप्त होती है। इस आज्ञा चक्र के समीप क्रमशः शरीर रूप आठ चक्र माने गये हैं। ये क्रमशः इन्दु, बोधिनी, नाद, अर्ध, चन्द्रिका, महानाद, कला और उन्मनी हैं। उन्मनी चक्र में पहुँचकर जीव मुक्त हो जाता है और उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। इस आज्ञाचक्र के समीप ही एक मनःचक्र होता है। इसके ६ दल माने गये हैं। उनके नाम क्रमशः शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध पाँच तो यह होते हैं और स्वप्नस्थाना एक दल और होता है। मनःचक्र के ऊपर सोमचक्र होता है। इसमें १६ दल होते हैं। उपर्युक्त ७ चक्रों और सहस्रार के बीच में एक १२ दल का [illegible] चक्र और होता है।

---

[1] वही पृ० २६
सर्पेन्ट पावर—आर्थर एवेलोन अध्याय ५.

[2] षट्चक्र निरूपण—आर्थर एवेलोन द्वारा सम्पादित पृ० ४२.

इसी आज्ञाचक्र में वाराणसी नामक स्थान है। यहाँ पर इड़ा को वरणा कहा गया है और पिंगला को असी कहा गया है। ये दोनों नाड़ियाँ यहाँ मिलती हैं। इसीलिए इस स्थान को वाराणसी कहा गया है। इन दोनों के बीच शिव या विश्व नाथ का स्थान माना गया है। कुछ तंत्र ग्रंथों में आज्ञाचक्र के ऊपर तीन पीठ स्थान माने गये हैं। उन तीनों के नाम क्रमशः बिन्दु, पीठ, नादपीठ, शक्तिपीठ हैं। ये तीनों पीठ स्थान कपाल में रहते हैं। शक्तिपीठ ओंकार स्वरूपी है। इससे नीचे निरालम्ब पुरी की कल्पना की गई है। सोमचक्र जिसका वर्णन अभी ऊपर कर चुके हैं। यह इसी निरालम्ब पुरी के नीचे है। इस सोमचक्र के नीचे भी एक गुप्त-षट्दल कमल माना गया है। इसके नीचे आज्ञाचक्र है। इस आज्ञाचक्र के भी नीचे एक गुप्त चक्र की और कल्पना की गई है। इसको द्वादश दल युक्त रक्त वर्ण का कमल कहा गया है।

यह सहस्र दल कमल मस्तक प्रदेश में[1] स्थित माना गया है। इसका नाम शून्य चक्र बतलाया गया है। इसमें अक्षरदल होते हैं। यह सत्यलोक का प्रतीक कहा जाता है। यह चक्र वर्णातीत होता है। विसर्ग इसका बीजमन्त्र है। बीज का वाहन बिन्दु बतलाया गया है। परमहंस इसके देवता और महाशक्ति इसकी देवी कही गई है। निराकार पूर्णचन्द्र के समान इसका यंत्र होता है।

इस सहस्रार की भीतर कर्णिका के बीच में एक गोलाकार चन्द्रमंडल माना गया है। कहते हैं यह चन्द्रमंडल छत्राकार रूप से एक ऊर्ध्वमुखी द्वादश दल कमल को ढंके हुए है। इस चक्र की कर्णिका में विद्युत् के सदृश दीप्तिमान अकथादि त्रिकोण स्थित है। यह त्रिकोण चारों ओर से अमृत से आक्रान्त होने के कारण मणिद्वीप के सदृश प्रतीत होता है। इस मणिद्वीप के मध्य में मणिपीठ की कल्पना की गई है। इस मणिपीठ के भी मध्य में नाद बिन्दु के ऊपर एक हंसपीठ नामक स्थान माना गया है। यहीं पर गुरु के चरणों का ध्यान करना पड़ता है। ये गुरु स्वयं परम शिव ही होते हैं। इस सहस्रार के चन्द्रमंडल में एक षोडशी कला की कल्पना भी की गई है। इसके अन्त में भी एक निर्वाण कला मानी गई है। इस निर्वाण कला के बीच में भी मूल प्रकृति रूपा बिन्दु और विसर्ग शक्ति परम शिव का आलिंगित किए हुए रहती है। बहुत से लोग इस पद्म को आनंदमय कोष भी मानते हैं। इस सहस्रार में ही आकर सुषुम्ना नाड़ी समाप्त होती है। जहाँ पर यह समाप्त होती है वहीं ब्रह्मरंध्र है। कुछ तंत्र ग्रंथों[2] में ६ चक्रों का वर्णन किया गया है। यथा सम्मोहन

[1] षट्चक्र निरूपण—आर्थर एवलन द्वारा अनुवादित पृ० १२

[2] इन चक्रों के नाम और संख्या के सम्बन्ध में कई मत हैं—

तंत्र के अनुसार ९ चक्र क्रमशः इस प्रकार हैं—१ सर्वानन्दमय चक्र, यह सिर स्थान में माना गया है और इसकी अधिष्ठात्री ललिता माता कही गई है। २ सर्वसिद्धि चक्र—इसका स्थान शिखर में माना गया है, इसकी अधिष्ठात्री त्रिपुराम्बा देवी है। ३ सर्वरोगहर चक्र—इसकी अधिष्ठात्री त्रिपुरा सिद्धि नामक देवी मानी गई है। ४ सर्वरक्षाकर चक्र—इसकी अधिष्ठात्री त्रिपुर मालिनी कही गई है। ५. सर्वार्थ साधक चक्र—इसकी देवी श्री त्रिपुरा श्री चक्रेश्वरी हैं। ६ यह चक्र सर्वसौभाग्य प्रदायक है। त्रिपुरवासिनी इसकी अधिष्ठात्री कही गई हैं। ७ सर्वसंक्षोभणी चक्र—इसकी अधिष्ठात्री त्रिपुर सुन्दरी कही गई हैं। ८. सर्वाशापरिपूरक चक्र—इसकी त्रिपुरेशि नामक देवी इसमें निवास करती हैं। ९. त्रैलोक्यमोहन चक्र—इसकी अधिष्ठात्री त्रिपुराम्बा कही गई है। अन्य तंत्र ग्रंथों में ये ९ चक्र नहीं दिये हुए हैं। नौ चक्रों का वर्णन महानिर्वाण तंत्र में भी दिया गया है। किन्तु उनके आकार और बीज भिन्न भिन्न हैं।

कुछ लोगों ने षट्चक्रों में से कुछ चक्रों के आसपास कई छोटे-छोटे और चक्र भी कल्पित किये हैं जैसे मनः चक्र,[1] ललना चक्र,[2] सोमचक्र[3] आदि। मनःचक्र की कल्पना अनाहत चक्र के पास की गई है। इसमें ८ दल माने गये हैं। इसी प्रकार विशुद्धि चक्र के पास जरा ऊपर की तरफ ललना चक्र[4] है। इसमें १२ दल माने गये हैं। श्रद्धा संतोष, अपराध, दम, मान, स्नेह, शुद्धता, आरती, सम्भ्रम और ऊर्मि उसके दलों की १२ वृत्तियाँ मानी गयी हैं। मनः चक्र के ऊपर सोमचक्र होता है। इसमें १६ दल माने गये हैं। कुछ तांत्रिकों ने षट्चक्रों के अतिरिक्त त्रिकूट, श्रीहाट, गोल्लाट और पीठ और भ्रमर गुफा नाम के ५ चक्र और बतलाये हैं।[5] त्रिकूट

(क) कुछ तांत्रिकों के अनुसार नौ चक्रों के नाम इस प्रकार हैं—
(१) आधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपुर (४) अनाहत (५) विशुद्ध (६) ललना (७) भूचक्र (८) ब्रह्मरन्ध्र (९) आज्ञाचक्र—इस मत के लिए कल्याण का साधनांक देखिए पृ० २२९
(ख) विद्वानों के दूसरे वर्ग के अनुसार ९ चक्रों के नाम षट्चक्रों में चार, बिन्दु और सहस्रार के नाम जोड़ने से प्राप्त हो जाते हैं। नौ की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इनका विवरण सिद्धसिद्धान्त नामक ग्रन्थ में १७२ पृ० पर दखिए —

[1] शाक्तिस एण्ड शाक्त—पृ० १८१
[2] वही ,, १८२
[3] ,, ,, १८२
[4] सर्पेन्ट पावर , १११
[5] देखिए कल्याण के साधनांक में तांत्रिक दृष्टि नामक गोपीनाथ कविराज का लेख

चक्र पीले वर्ण का होता है। मकार इसका वर्ण माना गया है। पृथ्वी इसका स्थान है। ऋग्वेद इसका वेद कहा गया है। वैखरी वाणी इसमें निवास करती है। इसकी साधना करनेवाला सालोक्य मुक्ति प्राप्त करता है। दूसरा चक्र श्रीहाट है। इसका रंग नये मुक्ता के सदृश होता है। इसका देवता विष्णु है। इसकी वाणी मध्यमा है। उकार इसका अक्षर माना गया है। जल इसका तत्त्व कहा गया है। इसका वेद यजु और अवस्था स्वप्न मानी गयी है। इसके साधक को सामीप्य मुक्ति मिलती है। तीसरा चक्र गोल्लाट है। इसका रंग श्वेत है। गुण इसका तम माना गया है। इसका अक्षर म और तत्त्व तेज होता है। इसमें पश्यन्ती वाक् निवास करती है। सामवेद इसका वेद और सुषुप्ति इसकी अवस्था मानी गयी है। शिव इसके अधिष्ठाता होते हैं। इसके साधक को सारूप्य मुक्ति मिलती है। चौथे चक्र का नाम औटपीठ है। विद्युत् जैसा इसका रंग होता है। ओंकार इसका अक्षर, वायु तत्त्व और ईश्वर देवता होता है। इसका वेद अथर्व और इसके साधक को सायुज्य मुक्ति मिलती है। इसकी अवस्था तुरीया कही गयी है। पाँचवाँ चक्र भ्रमर गुहा के नाम से प्रसिद्ध है। सगुण इसका वर्ण, अर्धमात्रा अक्षर, आकाश स्थान, सूक्ष्म इसका वेद और उन्मनी इसकी अवस्था होती है। इसमें परात्पर वाक् निवास करती है। सदाशिव इसके देवता होते हैं। इसका साधक कैवल्य मुक्ति प्राप्त करता है।

कुण्डलिनी मार्ग—कुछ तान्त्रिकों ने नाद की क्रमिक व्यक्तता के अनुसार और मातृकाओं के क्रमिक प्राकट्य के अनुसार सहस्रारोन्मुख कुंडलिनी के मार्ग का वर्णन किया है। इनके मतानुसार ओंकार से उद्भूत होनेवाली पचास अक्षरात्मक मातृकाओं का मूल स्थान सहस्रार चक्र माना है। इस स्थान को वह लोग अकुल कहते हैं। यह मदनादी नवग्रह का निवास स्थान कहा गया है। इस अकुल स्थान से उत्पन्न होने वाली मातृकाएँ और उनके स्थान इस प्रकार हैं।[1]

	ध	
अ	अकुल	म
आ	महाबिन्दु	द
इ	उन्मना	मं
ई	समना	प
उ	व्यापिका	ढ
ऊ	शक्ति	ब
ऋ	मान्त	म

[1] देखिए—कल्याण का शक्ति अंक पृ० १४६ पर यह तालिका दी हुई है।

ऋ	नाद	रं
ॠ	रोधिनी	यं
ऌ	अर्धचन्द्रिका	मं
ए	बिन्दु	मं
ऐ	आज्ञा	
ओ	अंतराल	फं
औ	लम्बिका	पं
अं	विशुद्धि	नं
अः	अंतराल	धं
कं	अनाहत	दं
खं	अंतराल	थं
गं	अंतराल	तं
घं	मणिपुर	णं
ङं	स्वाधिष्ठान	ढं
चं	आधार	डं
छं	त्रिपथ	ठं
जं	कुलदम्भन	टं
झं	कुम्भा	ञं

तांत्रिकों में इन सबका बड़े विस्तार से वर्णन किया है। इनमें हम उन्मनी पर थोड़ा-सा प्रकाश डालेंगे। क्योंकि संत कवियों ने इसका बार-बार प्रयोग किया है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि उन्मनी अवस्था अनुत्तम निरंजन बाद की अवस्था होती है। शक्ति और शून्य इन दोनों का उसमें सुन्दर समन्वय देखा जाता है। यह उन्मनी कारणरूप शक्ति के परे मानी जाती है। इस स्थान में पहुँचकर जीव आवागमन के बंधन से छूट जाता है। तंत्र ग्रंथों में उन्मनी चक्र भी कहा गया है और उन्मनी अवस्था भी होती है। जीव उन्मनी चक्र में पहुँचकर स्वयं ही उन्मनी अवस्था को प्राप्त हो जाता है।[1]

मुद्रा साधना—कुंडलिनी साधना के अतिरिक्त तांत्रिकों में मुद्रा साधना[2]

---

[1] दि गारलेंड आफ लेटर्स—आर्थर एवेलोन पृ० ११४

[2] प्रिंसिपल्स आफ तंत्र पृ० १११७

भी प्रचलित है। उनका कहना है कि कुंडलिनी का जागरण[1] करने के लिए पहले साधक को १० मुद्राओं की साधना करनी पड़ती है। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—महामुद्रा, महाबंध, खेचरी, मूलबंध, उड्डियान, जालन्धर बंध, विपरीत करणी, वज्रोली, शक्ति चालिनी और महावेध। तंत्रग्रंथों में इन सबका बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। किंतु हम यहाँ इस विषय का विस्तार नहीं करेंगे क्योंकि संत कवियों में हमें मुद्रासाधना बहुत कम मिलती है। केवल दो चार संतों ने कहीं एक-आध मुद्रा का नाम भर ले लिया है।

न्यास और शक्तिपात—तन्त्रमत में साधना-सम्बन्धी दो विषयों की बहुत चर्चा मिलती है। इनमें से एक तो न्यास का प्रयोग है और दूसरा शक्तिपात के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर इन दोनों का संक्षिप्त परिचय दे देना हम आवश्यक समझते हैं।

न्यास का प्रयोग[2]—न्यास का अर्थ होता है स्थापन। बाह्य और आंतरिक सभी अंगों में इष्ट देवता और मंत्र का स्थापन करना ही न्यास है। शरीर को पवित्र करने का यह सर्वोत्तम साधन माना जाता है। न्यास प्रयोग से शरीर के प्रत्येक अवयव में सोती हुई शक्ति तथा इष्टदेव भावना शक्ति स्वयमेव जग उठती है। तन्त्र ग्रंथ में न्यास कई प्रकार का बतलाया गया है। इनमें सबसे प्रसिद्ध मातृकान्यास, मंत्रन्यास, तत्त्वन्यास, देवन्यास आदि हैं।

मातृकान्यास—स्वर और वर्णों का होता है।

मंत्रन्यास—पूरे मंत्र का, मंत्र के पदों का, मंत्र के एक-एक अक्षर का और साथ ही सब अक्षर का होता है।

तत्त्वन्यास—वह है जिसमें संसार के कार्य कारण के रूप में परिव्याप्त और इनसे परे रहनेवाले तत्त्वों का शरीर में यथास्थान न्यास किया जाता है।

देवतान्यास—शरीर के बाह्य आभ्यन्तर अंगों में अपने इष्टदेव अथवा अन्य देवताओं के यथास्थान स्थापन को न्यास कहते हैं।

न्यास चार प्रकार से किए जाते हैं—मन से, संन्यास से, मंत्र से, वर्णों से, मन से—शरीर के भिन्न भिन्न स्थानों में देवता, मंत्रवर्ण, तत्त्व आदि की स्थिति की भावना की जाती है। भिन्न भिन्न अंगों के स्पर्श के लिए विविध अंगुलियों का प्रयोग किया जाता है।

---

[1] हठयोग प्रदीपिका ३।१२२ १२६

[2] इसके लिए देखिए कल्याण का साधनांक पृ० ११२

संन्यास से—कुछ ग्रन्थों में इस बात पर जोर दिया गया है कि केवल संन्यास के द्वारा ही देवत्व की प्राप्ति और मंत्रसिद्धि हो जाती है। जब न्यास सिद्ध हो जाता है तो भगवान् से एकाकार हो जाता है।

मंत्र से—प्रत्येक मंत्र के प्रत्येक पद के और प्रत्येक अक्षर के अलग-अलग ऋषि, देवता, छन्द, बीज, शक्ति और कीलक होते हैं। भगवान् शंकर से जिस ऋषि ने जो मंत्र प्राप्त किया था वह मंत्र उसी ऋषि के नाम पर प्रसिद्ध हो गया। मंत्र का देवता जीवन का संचालक होता है, वही समस्त भावों का प्रेरक माना जाता है, उसी को हृदय का अधिकारी भी कहते हैं और हृदय में ही उसके न्यास का स्थान है।

वर्णों से—वर्णों के न्यास से वर्णमयी सृष्टि का उद्बोध होकर परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान और प्राप्ति हो जाती है। वर्णों के न्यास और इनकी वर्णात्मकता के ध्यान से इनका वास्तविक रूप दृष्टिगोचर होने लगता है

इस प्रकार जितने भी न्यास हैं सबका एक विज्ञान है। जब न्यास किया जाता है तो वह शरीर और अंतःकरण को दिव्य बनाकर स्वयं ही अपनी महिमा का अनुभव करा देता है। सृष्टि के गंभीर रहस्यों की दृष्टि से न्यास भी एक अतुलनीय साधन है। दिव्यता को स्पष्ट करने के लिए वर्णन्यास अथवा मंत्रन्यास सर्वोत्तम साधनों में से एक है। पीठन्यास, योग पीठन्यास, तत्वन्यास आदि के द्वारा भी साधक साधना के अंतिम लक्ष्य पर पहुँच जाता है। वास्तविक तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है इसलिए साधक को विदित हो जाता है कि सब कुछ भगवान् ही है, उनके अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं है।

शक्तिपात—शक्तिपात[1] का अर्थ साधारणतया भगवद्' अनुग्रह लिया जाता है। तंत्र ग्रन्थों में इस भगवदनुग्रह या शक्तिपात की साधनों के विविध प्रकार दिये हुए हैं।

कुछ आचार्यों ने ज्ञानोदय[2] को शक्तिपात का मूल कारण माना है। उनका कहना है कि कर्मों से कभी शक्तिपात नहीं हो सकता क्योंकि कर्म और उनके फल में आमस्य दोर बना ही रहेगा। इसलिए ये लोग ज्ञान से कर्मों का नाश स्वीकार करते हैं।

---

[1] कल्याण के साधनांक में महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज लिखित 'शक्तिपात रहस्य' शीर्षक निबन्ध पृ० ८९

[2] वही—पृ० ८०

कुछ दूसरे आचार्य ज्ञान को शक्तिपात का वास्तविक कारण नहीं मानते। उनके अनुसार कर्मसाम्य[1] से ही शक्तिपात हो सकता है। कर्मसाम्य साधना में साधक को दो समान बलवाले, विरुद्ध कर्मों के पारस्परिक प्रतिबंध की ओर ध्यान देना पड़ता है। इसी प्रकार कुछ द्वैतवादियों[2] तान्त्रिक ज्ञान और कर्मसाम्य में से किसी को भी शक्तिपात का कारण स्वीकार नहीं कर सकते। ये लोग मलपाक को शक्तिपात का कारण मानते हैं। इनका मत है कि शक्तिपात बिना मलपाक हुए किसी प्रकार हो ही नहीं सकता है। मंत्रागम को उद्धृत करते हुए ये लिखते हैं कि "मलपाक किये बिना शुद्ध दीक्षा परमेश्वर के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का हेतु बनती है।'

कुछ आचार्य[3] लोग शक्तिपात को निरपेक्ष और स्वतंत्र मानते हैं। इनका कहना है कि शक्तिपात के लिए ज्ञान, कर्म साम्य, मलपाक आदि किसी की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। शैव दर्शन के प्रकांड पंडित उत्पल देव[4] ने भी शक्तिपात की निरपेक्षता पर बल देते हुए लिखा है—"हे भगवान् तुम शक्तिपात के समय अर्थात् जीवों पर कृपा करने के समय स्वभावतः प्रवृत्त होने पर भी कभी-कभी पात्र अपात्र का विचार नहीं करते" इत्यादि। मंत्रागम के टीकाकार[5] अनिरुद्ध ने भी शक्तिपात के निरपेक्षतासम्बन्धी सिद्धांत का ही समर्थन किया है।

निर्गुण काव्यधारा पर शैवागम तन्त्रों का प्रभाव

संतों पर तंत्रमत का बड़ा व्यापक प्रभाव दिखाई पड़ता है। उसकी अधिकांश विशेषताएँ संत विचारधारा में किसी न किसी रूप में अवतरित हुई हैं। तंत्रमत की सबसे प्रमुख विशेषताएँ गुह्यता प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति, वाह्याचारविरोध साम्यवाद, प्रवृत्ति निवृत्ति मार्गों का समन्वय, गुरुवाद, नादवाद, प्रणव, वैराग्य, निम्ना वर्ण, विरोध, शब्द भावना, मन्त्र चैतन्य, कुण्डलिनी साधना, नादबिंदु साधना, द्वैताद्वैत विलक्षणवाद, द्वैताद्वैतवाद, माया मातृवाद, इष्टसाधना मानसिक पूजा आदि हैं। संतों ने इन सबको किसी न किसी रूप में अपनाने की चेष्टा की है।

तंत्रमत के सदृश संत लोग भी अपने मत को गुह्य और रहस्यपूर्ण बनाये रखना चाहते थे। संत सुन्दरदास ने लिखा है—"हमारा तंत्रमत परम गुह्य है, उसका वर्णन प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया जाना चाहिए। उसको मन में उसी प्रकार छिपाकर

[1] वही—पृ० ८०
[2] वही—पृ० ८०
[3] वही पृ० ८०
[4] ,, ,, ६०
[5] ,, ,, ६० का फुटनोट

रखना चाहिए जिस प्रकार विधवा के पास को छिपाया जाता[1] है। अपने मत को गुप्त रखने के लिए तांत्रिकों के सदृश संतों को भी प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग करना पड़ा है। उदाहरण के लिए हम गुलाल साहब की निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं :—

ससि औ सूर पवन भरि मेला।
दृढ़ करि आसन बैठ अकेला॥
उलटै नाद गगन घर आवै।
बिगसै कमल चंद दरसावै॥

भाषा की प्रतीकात्मकता के अन्य[2] विविध कोटि के उदाहरण अभिव्यक्ति के प्रसंग में दिये जायेंगे। संतों की बाह्याचारों के विरोध की प्रवृत्ति भी संतों में पाई जाती है। संत दादू[3] ने स्पष्ट लिखा है—"मेरा स्वामी भेषाडंबर से नहीं रीझता है।" संतों पर तांत्रिकों के साम्यवाद का पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। तांत्रिकों का साम्यवाद सामाजिक साम्यवाद है। वे वर्णभेद में विश्वास नहीं करते थे। उन्हीं के अनुकरण पर संतों ने भी वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया है। संत चरनदास[4] ने वर्णाश्रम का खंडन करते हुए लिखा है कि संत लोग वर्णाश्रम और कर्मकांड तीनों में विश्वास नहीं करते हैं। संतों की प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों के समन्वय की प्रवृत्ति की झलक भी संतों में दिखाई पड़ती है। संत लोग घर त्यागकर साधना करने में विश्वास नहीं करते थे। उनका प्रयोजन मन के विकार त्यागने मात्र से था। घर त्यागने से नहीं। कबीर[5] कहते हैं "वन में रहने से क्या लाभ यदि मन

---

[1] सन्तबानी संग्रह भाग २ पृ० १०६ पर निम्नलिखित पंक्तियाँ :—
सूक्ष्म यह मत गुप्त है प्रगट न करी बखान।
ऐसे राखु छिपाय करि जैसे विधवा औधान॥

[2] गुलाल साहब की बानी पृ० २७

[3] (दादू) जे तू समझै तौ कहौं, साचा एक अलेख।
डाल पात तजि मूल गहि, क्या दिखलावै भेख॥
दादू सतु बिन साईं ना मिलै, भावै भेष बनाइ।
भावै करवत उरध-मुखि, भावै तीरथ जाइ॥ दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० १०

[4] चरनदास की बानी भाग २ पृ० ११ चारि बरन आश्रम चौथौ नहीं कर्मे ना काई।

[5] क० ग्र० पृ० १८ बनहि बसे क्यों पाइए, जा लौं मनहु न तजै विकार॥

से विमुख नहीं हुए हैं।" इनका लक्ष्य ज्ञान प्राप्त करना था चाहे वह घर में रहकर प्राप्त हो या वैरागी बनकर।

× × ×

तांत्रिकों के सदृश संतों को मिथ्या तर्क और वाद विवाद से घृणा थी। दादू ने स्पष्ट किया है कि वाद-विवाद और तर्क किसी से नहीं करना चाहिए। कबीर[1] तो तर्क करनेवालों की बुद्धि को स्थूल मानते थे।[2] संत लोग तांत्रिकों के रहस्यवाद से भी प्रभावित हुए थे। तांत्रिकों का रहस्यवाद साधनात्मक रहस्यवाद है। इसी को कुछ लोग क्रियात्मक रहस्यवाद भी कहते हैं। रहस्यवाद के प्रसंग में साधनात्मक रहस्यवाद का विस्तृत विवेचन किया गया है।

संतों पर तंत्रों का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव मंत्र चैतन्य सिद्धांत का है। संतों का सुमिरन इसी सिद्धांत पर ही आधारित है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं तंत्र मत के अनुसार आत्मा मंत्र का शब्दरूपिणी है। अतः वे इसी मंत्र रूपिणी आत्मा को जगाने का प्रयत्न किया जाता है। संतों ने नामजाप और सुमिरन पर जो इतना अधिक बल दिया है उसका रहस्य यही है। तांत्रिकों की नाद बिंदु साधना और कुल कुण्डलिनी साधना ने संतों के साधना पथ को प्रभावित किया है। हठयोग साधना के प्रसंग में इनका विस्तृत उल्लेख किया गया है।

तंत्र एक साधना प्रधान मार्ग है। साधना सिद्धांत का अनुगामी रहती है इसीलिए इस मत में सिद्धांत और साधना को समान भाव से महत्त्व दिया गया है। तंत्रों की इस विशेषता को संतों ने कथनी (सिद्धांत) और करनी (साधना) को समान भाव से महत्त्व देकर स्वीकार किया है—संत चरनदास लिखते हैं—'करनी (साधना) के बिना कथनी (सिद्धांत) का ठीक उसी प्रकार कोई महत्त्व नहीं होता जिस प्रकार चंद्र के बिना रजनी[3] का।

द्वैताद्वैत विलक्षणवाद तो संतों को मान्य है ही। दरिया साहब लिखते हैं[4]—

ना निर्गुण ना सगुण कहिए ये तो दोऊ से भीना।

इस सिद्धांत के प्रतिपादन में संतों पर तांत्रिकों से प्रेरणा मिली होगी।

संत लोग कहीं कहीं पर वैदिक अद्वैतवाद से भी प्रभावित दिखाई पड़ते हैं।

---

[1] वाद-विवाद काहू सौं नाहीं। संत दादू की बानी पृ० ९९

[2] कहत कबीर तर्क दुइ साधै तिनकी मति है मोटी। क० ग्र० पृ० १०५

[3] करनी बिन कथनी इमी ज्यों ससि बिन रजनी—चरनदास की बानी भाग २ पृ० २८

[4] दरिया साहब के चुने हुए पद पृ० ४६

तांत्रिक अद्वैतवाद शांकर अद्वैतवाद से थोड़ा भिन्न है। शंकर केवल ब्रह्म तत्त्व का अस्तित्व मानते हैं। उसके अतिरिक्त उनकी दृष्टि में सब कुछ मिथ्या है। इसीलिए उनका अद्वैतवाद केवलाद्वैतवाद भी कहलाता है। तांत्रिक लोग इसके विपरीत ब्रह्म या शिवतत्त्व को केवला रूप नहीं मानते। उनका विश्वास है कि परम शिव में शिव और शक्ति उसी तरह से अंतर्निहित रहते हैं जिस प्रकार एक बीज में दो दालें। उनका यह भी विश्वास है कि शिव में जगत् भी अंतर्निहित रहता है। इस बात का स्पष्टीकरण उन्होंने अग्नि और अग्नित्व तथा फूल और सुगन्ध के उदाहरणों से किया है। जिस प्रकार अग्नि का अग्नित्व की पुष्प की सुगंध क्रमशः अग्नि और पुष्प के सत्य स्वरूप होते हैं उसी प्रकार शिव में अंतर्निहित रहनेवाली जगत्सत्ता सत् रूप ही मानी जायेगी। इस सिद्धांत को तांत्रिकों का सत्कार्यवाद कहते हैं। कुछ संत लोग तांत्रिकों के इन सिद्धांतों से प्रभावित दिखलाई पड़ते हैं। संत सुंदरदास ने तांत्रिकों के अद्वैतवाद का अनुकरण करते हुए उन्हीं के द्वारा प्रयुक्त बीज के दृष्टांत से अद्वैतवाद की अभिव्यक्ति की है। वह लिखते हैं—जिस प्रकार अर्धनारी नटेश्वर का रूप एक होते हुए भी उभयात्मक है तथा जिस प्रकार एक बीज में दो दालें होती हैं ठीक उसी प्रकार ब्रह्मरूप उभयात्मक दिखाई देने पर भी अद्वैतरूप[1] है। इन्हीं संत ने एक दूसरे स्थल पर ब्रह्म और जगत् के संबंध पर तंत्रदर्शनानुकूल विचार प्रकट किये हैं। वह लिखते हैं—"ब्रह्म में जगत् इसी प्रकार अन्तर्निहित रहता है जिस प्रकार फूल में सुगंध"।[2]

संतों की माया सम्बन्धी धारणा तांत्रिकों से मेल नहीं खाती है। ढूँढ़ने पर तांत्रिकों की माया की केवल एक ही विशेषता की झलक संतों पर मिलती है वह है उसकी मधुरता। संत लोग भी माया को अत्यधिक मधुर मानते थे। कबीर ने उसे मीठी कहा है—

वह लिखते हैं[3]—

मीठी-मीठी माया तजी नहीं जाई।
अज्ञानी पुरुष को भोलि भोलि खाई॥

---

[1] जैसे कोई अर्धनारी नटेश्वर रूप धरे,
एक बीज हू तें द्वे दालि नाम धारे हैं।
[illegible] ही सुंदर ब्रह्म ज्यूं है त्यूं ही बहुरूप—सुंदरविलास पृ० १९९

[2] ब्रह्म में जगत् यह ऐसी बिधि देखियत।
जैसी बिधि देखियत फूली मही में॥ सुंदरविलास पृ० १९९

[3] क० ग्र० पृ० १६९

तांत्रिकों की इस सम्बन्धी कल्पना से भी संत लोग प्रभावित प्रतीत होते हैं। तांत्रिकों के ढंग पर ही उन्होंने भी इस शब्द का प्रयोग किया है।

इसी प्रकार संतों में तांत्रिकों के और भी बहुत से सामान्य सिद्धांतों की छाया देखी जाती है। निश्चय ही उन्हें तांत्रिकों से पूरी-पूरी प्रेरणाएँ प्राप्त हुई थीं।

बौद्ध तन्त्र साधना और हिन्दी के निर्गुण योगी कवि

बौद्ध तांत्रिकों की विविध शाखाएँ और उनके प्रमुख सिद्धान्त—

मध्यकाल में उत्तरी भारत में बौद्ध तांत्रिकों का बड़ा प्रभुत्व था।[1] इस भूभाग के कोने कोने में बौद्ध तांत्रिकों की साधना फैली हुई थी। इन बौद्ध तांत्रिकों ने सामान्य जनता को बहुत अधिक प्रभावित किया। संत लोग इसी सामान्य जनता से सम्बन्धित थे। यही कारण है कि उनपर बौद्ध तंत्रों का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इसलिए यहाँ पर हम बौद्ध तांत्रिकों के मत का स्पष्ट विवेचन कर देना चाहते हैं।

मंत्रयान—बौद्ध तंत्र मतों का उदय महायान उत्तरी शाखाओं एवं उप शाखाओं में हुआ। यों तो तंत्र-मंत्र की हल्की झलक प्राचीन[2] बौद्ध साहित्य में भी मिलती है किन्तु तंत्र मत का उदय महायान की मंत्रयान शाखा से स्पष्ट दिखाई दिया। महायान के योगाचार सम्प्रदाय ने कुछ दिन तक साधारण जनता को अपने में उलझाये रखा, किन्तु जब उसमें योगाचार सम्प्रदाय के कठिन सिद्धांतों का प्रवेश होने लगा तो साधारण जनता की अभिरुचि उससे हटने लगी। जिसके परिणामस्वरूप मंत्रयान का उदय हुआ। इस मंत्रयान में तंत्र-मंत्र तथा मुद्रा मंडल आदि को विशेष महत्त्व दिया[3] गया है। इस सम्प्रदाय का सबसे प्रथम ग्रंथ मंजु श्रीमूल कल्प माना जा सकता है। इसका रचना-काल प्रथम या दूसरी शताब्दी ई० माना जाता है।[4]

इससे स्पष्ट है कि मंत्रयान का उदय दूसरी शताब्दी के आस-पास हो गया था। किन्तु मंत्रों के गूढ़ रहस्यों का प्रचार साधारण जनता में न हो सका। परिणाम यह हुआ कि मंत्रयान को अपनी वेश-भूषा बदलनी पड़ी और उसे जन सामान्य जादू-टोना, तंत्र-मंत्र तथा यौनमूलक यौगिक साधना अपनानी पड़ी, जिनकी प्रतिष्ठा सामान्य जनता में पहले ही से थी। इन लोगों ने इतना अवश्य किया कि इन पूर्व प्रचलित तंत्र-मंत्र, जादू-टोने, यौन यौगिक प्रक्रियाओं आदि को बौद्धिक विचारधारा के अनुकूल करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया। मंत्रयान का यह नया रूप ही वज्रयान

---

[1] इण्ट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म (१९३२) पृ० १९९

[2] बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय पृ० ३२४

[3] इण्ट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म—दास गुप्त पृ० ६९

[4] साधन माला—भाग २ (भूमिका)

कहलाया।[१] निर्गुणियों सन्तों पर वज्रयान की बहुत-सी बातों का पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है अतएव हम वज्रयान पर थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे।

वज्रयान—वज्रयान मत का उदय किस प्रदेश में हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग दक्षिण के श्रीपर्वत को इसका उद्भवस्थान मानते हैं। उनका कहना है कि मंत्रयान का तृतीय चक्र परिवर्तन श्रीधान्य कटक में हुआ था। श्रीपर्वत[२] इसी धान्य कटक के पास है। मंत्रयान वज्रयान की ही एक शाखा है इसीलिए इसी स्थान पर उसका जन्म हुआ होगा। कुछ दूसरे विद्वानों की धारणा है कि वज्रयान का जन्म हिमालय की तराइयों में हुआ था किंतु इस मत के समर्थक उपयुक्त तर्क नहीं दे पाते हैं। हमारी धारणा भी यही है कि वज्रयान का उदय दक्षिण के श्रीपर्वत के ही आस-पास हुआ था। क्योंकि वहाँ पर आज भी वज्रयानी साधना पद्धति का प्रचार चिह्न उपलब्ध हैं और आज भी वहाँ बहुत से वज्रयानी साधक साधना करते रहते हैं।

वज्रयान का साहित्य संस्कृत व लोकभाषा दोनों में मिलता है। संस्कृत में लिखे हुए कुछ वज्रयानी ग्रंथों के नाम व पते इस प्रकार हैं—

१—हेवज्र तंत्र, (लेखक पद्मवज्र) २—गुह्य सिद्धि (लेखक पद्मवज्र) ३—प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि (लेखक अनंगवज्र) ४—कुरुकुल्ला साधन (इंद्रभूति) ५—ज्ञान सिद्धि[३] (इंद्रभूति) ६—अद्वयसिद्धि (लक्ष्मीकरा) ७—व्यक्त भावानुगत तत्त्व सिद्धि (सहजयोगिनी) ८—सहजसिद्धि (डोंबी) इत्यादि।

लोकभाषा में वज्रयानी सिद्धांतों की प्रतिष्ठा करनेवाले आचार्य कवि ८४ सिद्धों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन चौरासी सिद्धों में सरहपा, लुइपा, कुक्कुरीपा, पद्मवज्र, जालन्धर पा, अनंगवज्र, आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इन चौरासी सिद्धों की कुछ रचनाएँ 'बौद्ध गान और दोहा' नामक ग्रंथ में संग्रहीत है। इनका स्वतंत्र प्रकाशन भी हो चुका है[४]।

---

[१] (क) बौद्ध-दर्शन मीमांसा बलदेव उपाध्याय पृ० ४२५
(ख) एन इन्ट्रोडक्शन टू तांत्रिक बुद्धिज्म —दास गुप्त १९५० पृ०

[२] पुरातत्त्व निबन्धावली—राहुल सांकृत्यायन पृ० १३०

[३] इंद्रभूति विरचित २२ ग्रन्थों की एक सूची डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने दो वज्रयान नामक ग्रन्थ की भूमिका पृ० ११ पर दी है।

[४] (क) दोहाकोष—प्रबोधचन्द्र बागची
(ख) मेटीरियल्स फार दि क्रिटिकल एडीशन आफ दि ओल्ड बंगाली दोहाज कलकत्ता। यूनीवर्सिटी प्रेस।
(ग) चर्यापद—डी० एन० चौधरी

वज्रयान मत भी कई उपसम्प्रदायों में विभक्त है। काज़ीदावा[1] सम्दुप ने अपने श्रीचक्रसंभार तंत्र की भूमिका में वज्रयान के ६ उपविभाग बताए हैं। ये क्रमशः इस प्रकार हैं—क्रियायान, उपायवर्यायान, योगतंत्रयान, फिर योगतंत्रयान के भी ३ विभाग किए हैं—महायोगतंत्रयान, अनुत्तरतंत्रयान, अतियोगतंत्रयान। कुछ दूसरे विद्वान वज्रयान के ४ विभाग मानते हैं। ये क्रमशः क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र और अनुत्तर[2] तन्त्र हैं। वैडेल साहब[3] ने उपर्युक्त चार विभागों में से प्रथम दो को निम्नतन्त्र और अंतिम दो को उच्चतंत्र कहा है। कुछ दूसरे विद्वान्[4] वज्रयान के तीन विभाग मानते हैं—१—मंत्रयान, २—सहजयान, ३—कालचक्रयान। हमारी समझ में बौद्ध तंत्रवाद का विकास स्थूल रूप से तीन धाराओं में हुआ। पहली धारा मंत्रयान के नाम से प्रसिद्ध हुई। दूसरी धारा वज्रयान के नाम से प्रचलित हुई। बाद को इसी वज्रयान से सहजयान का प्रवर्तन[5] हुआ। बौद्ध तांत्रिकों की एक चौथी धारा भी है। वह है कालचक्रयान की। हरप्रसाद शास्त्री[6] ने तो नाथपंथ को भी बौद्ध तांत्रिकों की ही एक शाखा कहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि नाथपंथ बौद्ध तांत्रिकों से बहुत अधिक प्रभावित है किन्तु उसे हम बौद्धतंत्र मतों के अन्तर्गत नहीं ले सकते। क्योंकि नाथपंथ में बौद्ध सिद्धांतों की अपेक्षा शैव और योगदर्शन की बातों की प्रतिष्ठा अधिक मिलती है। अब हम क्रमशः मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान आदि के प्रमुख तत्त्वों पर विचार करेंगे।

मंत्रयान और उसके प्रमुख तत्त्व—तत्त्व रत्नावली[7] नामक ग्रन्थ में महायान के दो विभाग किए गए हैं—पारमितानय और मंत्रनय। मंत्रनय के सिद्धांत बड़े कठिन समझे जाते हैं, क्योंकि इनमें मंत्रों व रहस्यों का वर्णन किया गया है। चार इन्हीं आगमों में उल्लिखित महायान का उपसम्प्रदाय मंत्रनय बाद में मंत्रयान के रूप में विकसित हुआ। यह मंत्रनय बौद्ध तन्त्रों का प्रारम्भिक रूप है। बाद में इसी से वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान का उदय हुआ। मंत्रयान के मतों का

[1] इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म—दास गुप्ता—पृ० ७१ का फुटनोट
[2] वही पृ०
[3] वही "
[4] वही "
[5] वही " ७१
[6] लामाइज्म—वैडेल
[7] अद्वय वज्र संग्रह पृ० २१
[8] आब्सक्योर रिलिजस कल्ट्स—डा० दास गुप्ता—पृ० १०

उल्लेख हमें विशेष रूप से श्री मंजुश्रीमूलकल्प गुह्य समाजतन्त्र तथा पुण्डरीक कल्कि राज की विमलप्रभा टीका में मिलते हैं[1]।

प्रारम्भिक बौद्ध धर्म अपने नैतिक नियमों के कारण सामान्य जनता को थोड़ा कठोर प्रतीत होने लगा था। सामान्य जनता धर्म के बाह्य स्वरूपों में ही अपनी रुचि रखती है। सामान्य जनता की रुचि परितुष्टि के रूप में ही महायान की मंत्रयान शाखा में मंत्र मुद्रा, मण्डल आदि का प्रचार बढ़ा। धीरे-धीरे इसमें गौण यौगिक प्रक्रियाएँ भी प्रवेश पाने लगीं। इन सबके समावेश से बौद्ध मत में तंत्र मत का रूप धारण कर लिया। यों तो कुछ विद्वानों की[2] धारणा है कि बौद्ध धर्म में भगवान् बुद्ध के समय में ही यौगिक प्रक्रियाओं का समावेश हो चला था। कुछ दूसरे विद्वानों का कहना है कि बौद्ध धर्म में तांत्रिक तत्त्वों की सर्वप्रथम प्रविष्टि महाविद्वान्[3] असंग के समय में हुई थी। कुछ दूसरे विद्वान् बौद्ध धर्म में यौगिक प्रक्रियाओं के समावेश का उत्तरदायी नागार्जुन को ठहराते हैं। जो भी हो बीज के रूप में जिन तांत्रिक तत्त्वों का अस्तित्व बौद्ध धर्म में पहले ही से था वह समय पाकर महायान की मंत्रयान शाखा के रूप में प्रस्फुटित हुआ। मंत्रयान की सबसे प्रधान विशेषता उसका मंत्रतत्त्व है। इन मंत्रों का विकास इस सम्प्रदाय में विविध रूपों में हुआ। जैसे धारणी, बीजमंत्र, उपहृदय, रक्षा आदि बीजमंत्र एक अक्षर के मंत्र होते हैं। ये किसी देवता विशेष के प्रतीक माने जाते हैं। जैसे 'अ' वैरोचन का 'य' को अक्षोभ्य का और 'त' को अमोघ शक्ति का प्रतीक कहते[4] हैं। इसी प्रकार 'अ' स्वर को प्रज्ञा या शून्यता का भी प्रतीक माना गया है। इस सम्प्रदाय वालों का कहना है कि इन बीज मंत्रों की देवता की भावना धीरे-धीरे शून्यता को देवता के रूप में परिणत कर देती है।[5] अद्वैत वज्र के महासुख प्रकाश नामक ग्रंथ में लिखा है कि शून्यता से बीजमंत्र निकलते हैं और बीजमंत्र से देवताओं का विकास होता है।

'शून्यतो बोधितो बीजम् बीजात् बिम्बं प्रजायते'

कुछ विद्वान्[6] तो इन बीजमंत्रों के विकास के मूल में एक पूरा इतिहास मानते हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वान् इन बीज मंत्रों की निरर्थकता को ही उनकी सार्थकता

---

[1] वही—पृ०
[2] एन इंट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म—विनयतोष भट्टाचार्य पृ० ८८
[3] एन इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म—दास गुप्ता पृ० ६२
[4] वही पृ० ६६
[5] अद्वय वज्र संग्रह पृ० ५०
[6] एन इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म—दास गुप्ता पृ० ६६

मानते हैं।[1] वर्णों का मंत्र के रूप में ग्रहण करना ही मंत्रयान की विशेषता रही है। एस० एन० दास गुप्ता ने इसके मूल में मीमांसकों का शब्दवादी सिद्धांत माना है।[2] मीमांसकों का कहना है कि शब्द अनादि और अनंत तथा चिरन्तन होता है। लोक में वर्णों के द्वारा इस चिरंतन शब्द की अभिव्यक्ति हुआ करती है। बीजमंत्र इन्हीं वर्णों के द्वारा अक्षर शब्द ब्रह्म का बोधन करते हैं इसलिए जैसे वर्ण होते हैं वैसा ही उनका महत्त्व होता है।

मंत्रयान का दूसरा प्रसिद्ध आवश्यक तत्त्व मुद्रा है।[3] मुद्रा का सामान्य अर्थ शरीर, हाथ, पैर आदि की विशेष स्थितियों से लिया जाता है। जिस प्रकार मंत्रतत्त्व शब्द शक्ति के रहस्यों से अनुप्राणित रहता है, उसी प्रकार मुद्रा तत्त्व का सम्बन्ध रहस्यों के रहस्यों से परिपूर्ण रहता है। मंत्रयान का तीसरा तत्त्व मंडल[4] माना जाता है। मंडल का अर्थ रहस्यपूर्ण गोलाकार रूप लिया जाता है। साधक लोग विविध प्रकार के मण्डलों के सहारे जो जादू-टोने जैसी रहस्यात्मक शक्ति रखते थे, विविध प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करते थे। संक्षेप में मंत्रयान के प्रमुख तत्त्व यही हैं। आगे चलकर इन तत्त्वों में कुछ नये तत्त्वों का और समावेश हुआ और आगे ये वज्रयान के नाम से नये सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुए।

वज्रयान मंत्रयान का विकसित और परिवर्धित रूप कहा जा सकता है। मंत्रयान में जब वज्र की धारणा का समावेश हुआ तब उसे वज्रयान कहा जाने लगा। वज्र का अर्थ है शून्यता। वज्रयान में सब कुछ पूर्ण शून्य रूप माना जाता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए एस० बी० दास गुप्ता[5] ने अपने 'तांत्रिक बुद्धिज्म' में लिखा है कि वज्रयान की सबसे प्रमुख विशेषता जो कि उसके नाम की सार्थकता को प्रकट करती है वह वज्र की धारणा है। वज्र का अर्थ शून्यता होता है।[6] वज्रयान में सब कुछ पूर्ण शून्य रूप माना जाता है। देवता की पूजा करते समय उसे वज्र सत्त्वी माना जाता है। उसकी मूर्ति भी वज्र स्वरूप मानी जाती है। उसका पुजारी भी वज्र कहा जाता है। पूजा मंत्रों को भी वज्र कहते हैं। साधना विधि भी वज्र होती है। यहाँ तक कि सब कुछ वज्र ही वज्र रहता है।

---

[1] तांत्रिक भूमि—[illegible] (   ) द्वारा सम्पादित की भूमिका
[2] [illegible]—एस० एन० दास गुप्ता में इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म नामक ग्रन्थ देखिए।
[3] आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स—दास गुप्ता पृ० २१
[4] वही पृ० २१
[5] एन इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म—दास गुप्ता पृ० ८०, ८१
[6] अद्वयवज्र संग्रह पृ० १७

[1] वज्रयान के प्रमुख देवता का नाम वज्रसत्व है। इन्हें विशप्ति मात्रतास्वरूपी माना गया है।[1] वज्रयानी ग्रंथों में वज्रसत्व का वर्णन बहुत कुछ उसी ढंग पर किया गया है जैसा कि उपनिषदों में आत्मा या ब्रह्म का वर्णन मिलता है।[2] महायानियों के बोधिचित्त की धारणा ने भी वज्रयान को प्रभावित किया। बोधिचित्त शून्यता और करुणा की मिश्रित अवस्था कही गई है।[3] इसको पूर्ण आनंद की अवस्था कहा गया है। बोधिचित्त[4] की अवस्था ने वज्रयान के योगक्षेत्र में स्त्री और पुरुष के मिलन की आनंदावस्था का रूप धारण किया और प्रज्ञा तथा उपाय की साधना का प्रचलन हुआ। महायानी शून्यता प्रज्ञा के रूप में परिणत हुई और करुणा ने उपाय का रूप धारण किया।[5] इस प्रकार वज्रयान में शिव और शक्ति की युगल-अवस्था का प्रज्ञा और उपाय के रूप में वर्णन हुआ।[6] वज्रयानियों ने अपने बोधिसत्व को बोधिचित्त का पर्याय माना। उसे प्रज्ञा और उपाय का युगनद्ध रूप कहते हैं।[7] बोधिसत्व में पाँच प्रकार के ज्ञान की अवस्थिति मानी गई है। इन पाँच प्रकार के ज्ञानों से ही पाँच प्रकार के ध्यानों का प्रादुर्भाव माना गया। इन्हीं पाँच प्रकार के पाँच ध्यानों के आधार पर पंच ध्यानी बुद्धों की कल्पना की गई।[8]

प्रज्ञा और उपाय का योग बाद में नाड़ीपरक अर्थ लिया गया।[9] प्रज्ञा इडा का प्रतीक और उपाय पिंगला का वाचक माने गये हैं। इन दोनों के मध्य में स्थित *सुषुम्ना नाड़ी युगनद्ध या महासुख* का प्रतीक कही गई और यौगिक साधना विधियाँ बतायी गईं। इसके फलस्वरूप वज्रयान में एक ओर तो नाड़ी साधना का विकास हुआ और दूसरी ओर उसमें घोर यौगिक साधनाओं का उदय हुआ। उपाय योगी का प्रतीक माना गया और प्रज्ञा (योग साधना में काम आने वाली स्त्री) मुद्रा[1] का वज्रयान साधना पर शैव शक्ति तांत्रिकों की पंचमकार साधना का भी प्रभाव पड़ा। इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप में वज्रयान की यही रूपरेखा है।

---

[1] एन इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म—दास गुप्ता पृ० ८७
[2] वही पृ ९१
[3] वही—,,
[4] आब्स्क्योर रिलीजस कल्टस—दास गुप्ता—पृ० २९
[5] वही—पृ० ३०
[6] वही—पृ ३१
[7] एन इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म—दास गुप्ता—पृ० १२५
वही—अध्याय—पृ० ६४
[8] वही—पृ० ११८
[9] वही—पृ० ११६

सहजयान—जिस प्रकार वज्र की धारणा लेकर वज्रयान का उदय हुआ था उसी प्रकार सहज का सिद्धान्त लेकर सहजयान का प्रवर्तन हुआ। जिस प्रकार वज्रयानी सब कुछ वज्र रूप मानते थे उसी प्रकार सहजयानी लोग समस्त वस्तुओं को सहज रूप समझते थे। हेवज्रतंत्र में लिखा है—

"तस्मात् सहजं जगत् सर्व सहजं स्वरूपमुच्यते
स्वरूपमेव निर्वाणं विशुद्धाकार चेतसा"[1]

अर्थात् समस्त संसार सहज रूप है। सहज ही सबका स्वरूप[2] है। शुद्ध चित्तवालों के लिए सहज ही निर्वाण रूप होता है। यह सहज तत्त्व शरीर में होते हुए भी शरीरज नहीं कहा जा सकता। शरीर में यह महासुख रूप में विद्यमान रहता है। योग के द्वारा इसकी अनुभूति की जा सकती है किन्तु फिर भी यह शरीर से परे तत्त्व[3] है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उपनिषदों का आत्म तत्त्व ही सहजयानियों का सहज तत्त्व है। इनकी यह सहज धारणा जहाँ कुछ अंशों में उपनिषदों से प्रभावित प्रतीत होती है वहीं यह महायान के विज्ञानवाद, योगाचार, शून्यवाद और सिद्धांतों से भी पूर्णतया प्रभावित है। इस सहज तत्त्व का सहजयान में विविध प्रकार से निरूपण किया गया है। हेवज्रतंत्र में लिखा है —

"न मन्येन कथ्यते सहजं न कस्मिन्नपि लभ्यते
आत्मना ज्ञायते पुण्यात् गुरुपादोपसेवया"[4]

अर्थात् सहज तत्त्व का कोई कथन कर सकता है और न किसी वाणी से उसकी अभिव्यक्ति की जा सकती है। गुरु के चरणों की सेवा के उपरान्त ही कोई इसका अनुभव कर सकता है। गुह्यसिद्धि नामक[5] ग्रंथ में भी सहज तत्त्व की अनुभवगम्यता पर ही बल दिया गया है। उसमें लिखा है कि सहज तत्त्व की उपलब्धि केवल अनुभव मात्र से हो सकती है। वाणी के द्वारा हम उसको प्रकट नहीं कर सकते हैं। सरहपाद[6]

---

[1] हेवज्र तंत्र—(आर० ए० एस० बी० एम० ११३१७ पृ० ३६ बी) (हस्तलिखित)

[2] सरहपाद ने भी अपने एक दोहे में लिखा है—
(सहजस्वभावेन सकलानि वस्तूनि) दोहा कोष—पी० सी० बागची पृ० १

[3] हेवज्रतंत्र—(हस्तलिखित, पृ० ३ (ब)

[4] ,, ,, ,, ,, २२ (अ)

[5] गुह्यसिद्धि निर्दिष्ट तत्त्वम्—दास गुप्ता पृ० ९१

[6] वही पृ० ६१

भी अपने एक गीत में इसी बात को और अधिक सुन्दर ढंग से कहा है —"मन जो कुछ कहता है, आगमों में जो कुछ बताया गया है, धार्मिक ग्रंथों में जो कुछ कहा गया है, माला पर जो कुछ जपा जाता है वह सब भ्रमात्मक है, क्योंकि उस तत्त्व की अभिव्यक्ति किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती जो उसे समझाने की चेष्टा करते हैं वे तत्त्व को गलत रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस सहज तत्त्व के सम्बन्ध में गुरु मूक होता है और शिष्य बधिर रहता है। अर्थात् जैसे मूक बधिर व्यक्ति को केवल संकेत के द्वारा अपने भाव समझा देता है उसी प्रकार गुरु भी सांकेतिक शैली में अपने शिष्य को सहज का सारा रहस्य स्पष्ट कर देता है। क्रिया संग्रह पंजिका[1] नामक ग्रंथ में दिये गये एक उद्धरण से प्रकट होता है कि सहज अमृत के सदृश है। जिस प्रकार अमृत के स्वाद को न कोई गुरु बता सकता है और न कोई शिष्य उसके कथन के अनुरूप समझ ही सकता है उसी प्रकार सहजवाद भी मूर्खों के लिए अज्ञात, विद्वानों के लिए अगम्य रहता है। केवल सच्चा शिव ही सद्गुरु की कृपा से इसे प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सहजयानियों ने अपने सहज तत्त्व को वाच्या-वाच्य परे ही माना है। सहजयानियों का सहज उपनिषदों के वेदान्त, बौद्धों के निर्वाणवाद और अश्वघोष की तथता, नागार्जुन की द्वैताद्वैत विलक्षणता और विज्ञानवादियों की विज्ञप्ति मात्रता और वज्रयानियों की वज्रधातु आदि सभी की धारणाओं से प्रभावित माना गया है।[2]

सहजयानियों ने सहजावस्था को महासुख की अवस्था[3] माना है। तिल्लोपाद[4] ने एक जगह पर लिखा है कि जब सहजावस्था में शून्य और चित्त का सुहाग स्थापित होता है तभी महासुख की अवस्था उदय होती है और उस समय अन्य लौकिक सुखों का नाम तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदू तंत्रों की शिव शक्ति भावना, बौद्धों की शून्यता और करुणा, वज्रयानियों के प्रज्ञा और उपाय की एकता का सिद्धान्त सहजयानियों की सहज धारणा में भी प्रतिबिंबित है।

यद्यपि सहजयानियों का शून्य चित्त के सुहाग की अवस्था का द्योतक माना गया है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि वज्रयानी द्वैतवादी थे। वास्तव में वे पूर्ण अद्वैतवादी[5] थे उनका सहज तत्त्व चित्त और शून्य का समन्वित रूप होते हुए भी अखंड और अद्वितीय तत्त्व है। सरहपाद ने स्पष्ट लिखा है कि "सहज

---

[1] आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स पृ० ६४ से उद्धृत

[2] आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स—दास गुप्ता पृ० ६७

[3] वही पृ० ६५

[4] दोहा कोष—बागची पृ० ३, दोहा ६

[5] वही पृ० ११ दोहा १६, १७

में द्वैतता की भावना नहीं रहती। यह आकाश की तरह अखंड तत्त्व है।" फिर एक दूसरे दोहे में सरहपाद ने पुनः लिखा है कि सहजानंद केवल भावनाओं की अनंतता ही नहीं कहा जा सकता अपितु इससे सम्पूर्ण तत्त्वों की अनंतता प्रकट होती है।

सहजयान में सहज तत्त्व की द्वैताद्वैत[1] विलक्षणता पर भी बड़ा बल दिया गया है। सरहपाद ने अपने एक दोहे में लिखा है कि सहज न तो जाता हुआ कहा जा सकता है न आता हुआ कहा जा सकता है। इसी प्रकार न वह भीतर कहा जा सकता है और न बाहर। सहज तत्त्व की यह द्वैताद्वैत विलक्षणता उसकी सबसे प्रधान विशेषता है।

सहजयान में शून्य की भावना भी ग्रहण की गई। इस दृष्टि से हम सहजयान को नागार्जुन पद से प्रभावित मान सकते हैं। नागार्जुनपाद[2] के पंच क्रम नामक ग्रंथ में शून्यता के चार स्तर बतलाये गये हैं—शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और सर्वशून्य। तत्त्व और अर्थ की दृष्टि से ये चारों एक दूसरे से भिन्न कहे गये हैं। शून्य[3] की अवस्था को आलोकरूप कहा गया है। इस अवस्था में प्रज्ञा और चित्त क्रियाशील रहते हैं।[4] कुछ दृष्टियों से यह पराभ्यवस्था नहीं आ सकती है। इस अवस्था में मन में ३३ दोष वर्तमान रहते हैं। दुःख, भय, भूख, प्यास, वेदना आदि दोष इनमें[5] से बहुत प्रसिद्ध हैं। मन की यह शून्यावस्था स्त्री के प्रतीक[6] के द्वारा भी व्यक्त की गई है। इसे चन्द्र भी कहते हैं। यह अवस्था 'आ' स्वर का प्रतीक भी कही गई है। दूसरी अवस्था अतिशून्यता की कही गई[7] है। ये आलोकाभास रूप मानी जाती हैं। इसे उपाय भी कहते हैं। अपने रूप में यह परिकल्पित कही गई है। इसी को दक्षिण भी कहते हैं। सूर्य मंडल और वज्र भी इसी के नाम हैं। ४० प्रकृति दोष इसमें समन्वित माने गए हैं।[8] तीसरी अवस्था महाशून्य की होती है। ये प्रज्ञा, उपाय, आलोक, आलोकाभास, शून्य या अतिशून्य के संगम से उत्पन्न होती है।[9] इसे परिनिष्पन्नावस्था भी कहा गया है। यह अविद्या

---

[1] आब्स्क्योर रिलीजस कल्ट्स—दास गुप्ता पृ० ९०

[2] वही पृ० ५१

[3] दर्शन दिग्दर्शन—डा० [illegible] द्वारा सम्पादित पृ० ४१७, ४१८

[4] आब्स्क्योर रिलीजस कल्ट्स—दास गुप्ता—पृ० ५१-५४ (१९४६)

[5] पंचक्रम हस्तलिखित ग्रन्थ पृ० १० बी०

[6] वही ,, ,, १० ए०

[7] आब्स्क्योर रिलीजस कल्ट्स पृ० ५२

[8] वही ,, ,, ,,

[9] वही ,, ,, ,,

भी कहलाती है। इससे सम्बन्धित सात मानसिक दोष बतलाये जाते हैं। इस प्रकार चित्त की इन तीन अवस्थाओं से १६० दोष उत्पन्न होते हैं। प्राणवायु के रेचक और पूरक के साथ-साथ इनका विस्तार होता है।[1] चौथी अवस्था[2] सर्वशून्यावस्था कही गई है। इस अवस्था में उपर्युक्त ३ अवस्थाओं के मानसिक दोष नहीं पाये जाते। यह स्वयं प्रकाश रूप होती है। यही परात्पर ज्ञान है, यही महान् तत्त्व है, चार शून्यों का यह सिद्धांत सहजयानियों को पूर्णतया मान्य था। इसकी अभिव्यक्ति उन्होंने प्रतीकात्मक और रूपकात्मक शैली में जगह-जगह पर की है। कण्हपाद ने एक दोहे में महासुख का वर्णन करते हुए लिखा है कि महासुख के चार मृणाल और चार पत्ते होते हैं। एस० बी० दास गुप्ता ने 'ओब्सक्योर 'रिलीजस कल्ट्स' में चार पत्तियों को चार प्रकार के शून्यों का प्रतीक माना है। और चार मृणाल चार मूल स्थान कहे जा सकते हैं।[3]—सर्वशून्य महासुख रूप है और यही परात्पर तत्त्व है। यहीं पर अवधूती अर्थात् पूर्णानन्द की प्रकृति निवास करती है।[4] उपर्युक्त चार शून्यों और प्रकृति दोषों के वर्णन सिद्धों ने और भी विविध प्रकार से किए हैं। ढेंढण[5]—पाद का एक दोहा है जिसका अर्थ है—"मेरा घोड़ा एक ऊँची जगह पर स्थित है, हमारा कोई पड़ोसी भी नहीं है, घड़े में चावल भी नहीं है किन्तु अतिथि लोग नित्य प्रतिदिन आते रहते हैं, इत्यादि—इसी गीत के अंत में उलटबाँसी के ढंग की पंक्ति दी हुई है जिसका अर्थ है बैल तो बियाता है और गाय बाँझ रहती है। दूध का बर्तन दिन में तीन बार भरता है" इस गीत का अर्थ करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि इसमें वर्णित ऊँचाई पर स्थित भवन महासुख चक्र का प्रतीक है।[6] चन्द्र और सूर्य आदि पड़ोसी माने गए हैं। प्रकृति दोषों के परिहार के साथ ही साथ चन्द्र और सूर्य के व्यापार भी समाप्त हो जाते हैं। अंतिम पंक्तियों का अर्थ करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि बैल आभासत्रय का प्रतीक है। यह आभासत्रय बाह्य संसार को जन्म देता है। गाय शून्यता की प्रतीक है। इसके ज्ञान से बाह्य ज्ञान तिरोहित हो जाता है। इसी ढंग की एक उक्ति सरहपाद[7] ने भी कही है। वह लिखते हैं कि "जिसमें दाहिम पगलता पयमाञुमनं'

---

[1] ओब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स पृ० ५१
[2] वही „ „ ५३
[3] वही „ „ ५४
[4] वही „ „ ५५
[5] ढेंढणपाद चर्यापद—गीत ३३
[6] ढेंढणपाद चर्यापद—गीत ३३ प० ५१
[7] चर्यापद ३९ गीत

अर्थात् दाहिक आचरण के दूसरी ओर निवास करता है। यहाँ पर आचार्य प्रथम तीन प्रकार के शून्यों का घातक है। इन तीनों को पार करके साधक सर्वशून्य की अवस्था में पहुँचता है यहीं पर वह निवास करता है। भुसुकपाद[1] ने सहज और शून्य का प्रयोग करते हुए लिखा है कि सहज का रूप तीनों लोकों में प्रकाशमान है। प्रत्येक वस्तु शून्य रूप है। यहाँ पर कोई किसी को नहीं बाँधता। जिस प्रकार से पानी पानी में मिल जाता है उसी प्रकार मन शून्य में पर्यवसित हो जाता है। कंकणपाद[2] ने भी शून्य की चर्चा करते हुए लिखा है कि जब शून्य (तीन प्रकार के शून्य जिनका अभी ऊपर उल्लेख कर चुके हैं) शून्य (चौथे प्रकार का शून्य) शून्य में लीन हो जाता है तभी साधकों को द्वैताद्वैत विलक्षण तत्त्व की अनुभूति होती है।

सहजयानियों में हमें नाद और बिन्दु की भी चर्चा मिलती है। इनकी नाद बिंदु धारणा बौद्धों के विज्ञानवाद से प्रभावित प्रतीत होती है। कंकणपाद[3] ने एक जगह पर लिखा है कि नाद और बिंदु हृदय में प्रवेश नहीं करते बल्कि वे एक दूसरे में स्वयं ही लीन हो जाते हैं। इस प्रकार अवस्था में सभी विकार लुप्त हो जाते हैं। सहजयान में बिंदु को अर्द्ध रूप और नाद को इन्दु कहा जाता है।[4] ज्ञाता चार शून्य के इस निरूपण के मूल में विज्ञानवादियों का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। शून्यों की भाषा में यदि हम नाद बिंदु को प्रकट करना चाहें तो हम प्रथम तीन शून्यों को बिंदु का प्रतीक और चौथे शून्य को नाद कहा जा सकता है।[5] इस प्रकार सहजयानियों ने बौद्धों के शून्य सिद्धांत और हिंदु तांत्रिकों के नाद बिंदु को अपने ढंग पर अपनाने की चेष्टा की है।

सिद्धों की रचनाओं में हमें जगत् सम्बन्धी विचारों की झाँकी भी मिलती है। यह सहजयानी सिद्ध इस संसार को नश्वर और मन की सृष्टि मानते थे। भुसुकपाद[6] ने अपने एक गीत में लिखा है कि संसार आदि से ही मिथ्या (असत्य) रूप ही है। यह अज्ञान या माया के कारण नाम रूपों में दिखाई पड़ता है। यह ठीक रज्जु सर्पवत् प्रतीत होता है। जिस प्रकार रज्जु का सर्प हमें नहीं मार सकता उसी प्रकार इस संसार के दुःख-सुख भी अवास्तव हैं। यदि संसार को इस रूप में समझ लिया जाए तो वासनाएँ

---

¹ चर्यागीत पृ० ४३ देखिए
² [illegible] पृ० ७५
³ वही ,, पृ० ७९
⁴ वही ,, पृ० ७९
⁵ वही ,, पृ० ७९
⁶ चर्यागीत पृ० ४१

स्वतः ही नष्ट हो जायेगी। यह मृग-मरीचिका सम है। इसको हम गंधर्व नगर के समान भी कह सकते हैं। बंध्या के पुत्र के दृष्टांत से भी इसका स्पष्टीकरण हो सकता है। एक दूसरे स्थल पर लिखा हुआ है कि जिस तरह से स्वप्न मन की उपज होते हैं उसी तरह से मनुष्य भी मन की उपज है। इस प्रकार सहजयानी सिद्धों की जगत् सम्बन्धी धारणा शून्यवादी, मायावादी एवं मिथ्यात्ववादी सिद्धांतों से पूर्णतया प्रभावित प्रतीत होती है।

सहजयान की एक सबसे प्रमुख विशेषता उसकी खण्डन-की प्रवृत्ति है। सहजयानी सिद्ध लोग मिथ्या विधि-विधानों और आडम्बरों के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने विविध धर्मों के बाह्याडम्बरों और विधि-विधानों की भी खोलकर निन्दा की है। ब्राह्मण धर्म के प्रति उनकी विरोध भावना उग्ररूप धारण किये हुए थी। सरहपाद की निम्नलिखित उक्तियों से उनकी खण्डनात्मक प्रवृत्ति की उग्रता का आभास हो जायेगा :—

बाम्हणो हि म जानन्त हि भेउ।
एवइ पढ़िअउ ए च्चउ वेउ॥ १॥

मट्टी पाणी कुस लइ पढ़न्त।
घरहिं बइसी अग्गि हुणन्त॥
कज्जे विरहिअ हुअवह होमे।
अक्खि डहाविअ कडुएँ धूमें॥ २॥

एकदण्डी त्रिदण्डी भअवँवेसे।
विणुआ होइ अइ हंस उएसे॥
मिच्छेहिं जग बाहिअ भुल्ले।
धम्माधम्मण जाणिअ तुल्ले॥ ३॥

अइरिएहिं उद्दूलि अच्छारे।
सीससु वाहिअ ए जड़ भारे॥
घरही बइसी दीपा जाली।
कोणहिं बइसी घण्टा चाली॥ ४॥

यह तो हुई ब्राह्मणों और उनके बाह्य विधानों की निंदा। अब थोड़ा प्रकाश हम उनकी उस तर्कपूर्ण शैली पर डाल देना चाहते हैं जिसका आधार लेकर इन सिद्धों ने ब्राह्मण धर्म के विधि-विधानों आदि की आलोचना की है। ये लोग जब किसी बाह्य विधान का खंडन करना चाहते थे तो उसके विरोध में कोई बुद्धिवादी तर्क

मगुरा धरते थे जिससे उनके खंडन का मूल्य बढ़ जाता था। श्रमण नंगे रहकर तपस्या करते थे। सिद्धाचार्य[1] सरह ने देखिए कैसी तर्कमूलक आलोचना की है :—

> जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह,
> लोमु पाडणे अत्थि सिद्धि तो जुवई णिअम्बह।
> पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख ता मोरह चमरह,
> उच्छे भोअणें हो जाणता करिह तुरंगह॥[2]

इन सिद्धाचार्यों ने केवल सनातन धर्म का ही खंडन नहीं किया था अपने समय की अन्य धर्म पद्धतियों का भी यहाँ तक कि बौद्ध धर्म का भी डटकर विरोध किया था। सरह एक स्थल पर कहते हैं कि मूर्ख ब्राह्मणों में से कुछ तो महायान की ओर दौड़ते हैं और कुछ आगम और तर्क-शास्त्रादि के पीछे भागते हैं। इसी प्रकार कुछ साधक भ्रम से मण्डल चक्र की भावना करते हैं और इसी प्रकार कुछ चतुर्थ तत्त्व का उपदेश देते हैं। वास्तव में यह सब असली धर्म को नहीं समझ पाते हैं।

> अवरउ तहि महजाणहि धा (वइ)
> तहि सुत्तन्त तक्कसत्थ होइ
> कोइ मण्डलचक्क भावई
> अवरउ चउत्थतत्त दीसई

इन सिद्धों ने पुस्तक ज्ञान की भी घोर निंदा की थी। पुस्तक ज्ञान के साथ साथ वे पुस्तक रचनाओं के भी विरोधी थे। तिल्लोपाद[3] ने लिखा है कि तत्त्व की अनुभूति स्वयं ही की जा सकती है। विद्वानों से उसका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि स्वभाव तत्त्व मस्तिष्क की सीमा के अन्दर नहीं बाँधा जा सकता। कन्हपाद[3] में भी एक स्थान पर लिखा है कि पांडित्य और वाद में उलझे हुए विद्वान् धर्म के सच्चे मार्ग से दूर रहते हैं। इसी प्रकार इनकी रचनाओं में हमें और भी बहुत से स्थलों पर तत्कालिन मानी पंडितों की आलोचना मिलती है।

वज्रयान[4] में शरीर की सहजावस्था पर विशेष भार दिया गया है उसका स्वरूप

---

[1] दोहा कोष—पी० सी० बागची पृ० ७ (१९३८)
[2] दोहा कोष पृ०
[3] दोहा कोष पृ० १६ बागची
[4] दोहा कोष पी० सी० बागची दोहा नं० ३
[5] अब्दधोर त्रिमोहन कल्प नं० ११
[6] वही पृ० ५३

सहजस्वरूपी परमसत्ता का अनुभव करना माना जाता है। यह परमसत्ता जिस तरह से ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त है उसी तरह से इस पिंड में भी परिव्याप्त है। सहजयानी साधक इस सहज की अनुभूति अपने शरीर में ही सहज साधना के सहारे कर सकता है। यह सहज साधना योगात्मक बतलाई गयी है। साधक यौगिक प्रक्रियाओं के सहारे अपने अन्तस्थ सहज की अनुभूति कर सकता है। यही कारण है कि सहजयान में तांत्रिकों की योग साधना अपने ढंग पर अवतरित हुई है। सहजयान में वैराग्य की अपेक्षा राग[1] को विशेष महत्त्व दिया गया है क्योंकि जीवन का सहज रूप राग में ही दिखाई पड़ता है वैराग्य में नहीं[2]। यही कारण है कि सहजयान में त्याग और तपस्या के प्रति उपेक्षा प्रकट की गयी है। कर्माचार्य विनिश्चय के दूर्रापादकृत प्रथम पाद की टीका में सरहपाद के निम्नलिखित वचन जो राग मार्ग का गौरव करते हुए प्रतीत होते हैं द्रष्टव्य हैं।

"तनुतरचित्तांक कुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यतेशुद्धैः।[3]
गगनव्यापी फलदः [illegible] कल्पतरुत्वं कथं लभते॥

अर्थात् देहरूपी वृक्ष के चित्तरूपी अंकुर को विशुद्ध विषय रस के द्वारा सिक्त करने पर यह वृक्ष कल्पवृक्ष बन जाता है और आकाश के समान निरंजन फल फलता है महासुख की प्राप्ति साधक को तभी होगी। यह निश्चित मत था कि राग से ही लोक बँधता है और राग से ही उसकी मुक्ति होती है। अनंगवज्र ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है।—

अनल्प-संकल्प तमोभिभूतं प्रभंजनोन्मत्त-तडिच्चलंच।
रागादि दुर्वारमलावलिप्तं चित्तं हि संसार मुवाचवज्री॥[4]

अर्थात् चित्त समय चित्त विविध प्रकार के संकल्पों से आच्छन्न रहता है, एवं तड़ित् के सदृश चंचल होता है तथा रागादि दुर्निवार्य विकारों से लिप्त रहता है तभी वह संसार कहलाता है। यह तो हुई राग जनित बंधन की स्थिति। अब मुक्ति की स्थिति का वर्णन देखिए—

"प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं प्रहीण रागादिमल प्रलेपम्।[5]
ग्राह्यं न च ग्राहकमग्रसत्त्वं, तदेव निर्वाण जगाद॥

१ बौद्ध दर्शन बलदेव उपाध्याय पृ० ३८६
२ इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म „
३ बलदेव उपाध्याय कृत बौद्ध दर्शन पृ० ४०६ से उद्धृत
४ प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि ४।२१
५ प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि ४।२४

अर्थात् जब चित्त कल्पना विमुक्त हो, प्रभास्वर ही उगता है तथा उसके रागादि मल छूट जाते हैं तथा ग्राह्य ग्राहक भाव से ऊपर उठ जाता है तभी यह चित्त निर्माण कहलाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सहजयान में राग तत्त्व को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। अब हम सहजयान के साधना-पक्ष का स्पष्टीकरण करेंगे। जिस प्रकार हिन्दू तंत्रों का लक्ष्य परमतत्त्व या शिवशक्ति तत्त्व की प्राप्ति के हेतु उचित साधना प्रस्तुत करना था उसी प्रकार सहजयानी सिद्ध भी अपने सम्प्रदाय का लक्ष्य सहज तत्त्व की प्राप्ति के हेतु एक सहज साधना मार्ग का निर्देश करना समझते थे।

जितने भी साधना प्रधान मत हैं उनमें गुरुवाद को विशेष महत्त्व दिया गया है। गुरुवाद सहजयान की तो आधारभूमि[1] ही है। सिद्धों ने बार बार इस बात पर जोर दिया है कि पुस्तकों से सहज साधना नहीं समझी जा सकती। उसका ज्ञान सद्गुरु की कृपा से ही हो सकता है।[2] इनकी गुरु की धारणा द्विगुणी मालूम पड़ती है—लौकिक और आध्यात्मिक।

[illegible] तंत्र में सहजिया लोग गुरु को मिथुनाकार मानते हैं। उनके अनुसार गुरु प्रज्ञा और शून्यता उपाय और प्रज्ञा का सम्मिलित साकार स्वरूप होता है। लौकिक क्षेत्र में इस समरस सिद्ध गुरु का यथेष्ट ज्ञान और महती करुणायुक्त होना बताया गया है और आध्यात्मिक क्षेत्र में गुरु सहज तत्त्व का वाचक माना जा सकता है। इन लोगों की मान्यता है कि सच्चा सहजयानी गुरु साधक को राग मार्ग के द्वारा महासुख की अनुभूति कराता है।

सहजयानियों ने साधना में शरीर के महत्त्व पर भी बहुत बल दिया है। हेवज्र[3] के [illegible] और भगवान् के कथोपकथन से इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है। एक बोधिसत्त्व ने भगवान् से पूछा कि "हे भगवान् जब संसार में सब कुछ शून्य ही शून्य है फिर इस भौतिक संसार और स्थूल शरीर की क्या आवश्यकता है।" इस पर भगवान् ने कहा कि शरीर के बिना महासुख की अनुभूति नहीं की जा सकती। इसी से शरीर का महत्त्व है। सरहपाद[4] ने भी एक जगह पर लिखा है कि इस शरीर में ही गंगा,

---

[1] इण्ट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म—दास गुप्ता पृ० १०७ और देखिए प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि का दूसरा परिच्छेद

[2] प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि ३।१

[3] देखिए—हे वज्रतंत्र हस्तलिखित ग्रन्थ पृ० ३६ (क)

[4] देखिए—दोहा कोष सरहपाद दोहा सं० ४७, ४८

यमुना, गंगा सागर, प्रयाग, वाराणसी, सूर्य, चन्द्र आदि सभी वर्तमान हैं। यही हमारा शरीर गुरु का स्थान भी है। आगे वह फिर लिखते हैं कि वह घर के अन्दर है पर तुम उसे घर के बाहर पूछते फिरते हो, तुम्हारा स्वामी तुम्हारे हृदय में है किन्तु तुम पड़ोसियों से उसका पता पूछते हो। मूर्खों तुम अपने को समझो। परमतत्त्व न तो मनन् के योग्य है, शरीर में वह परछाई या अंश के रूप में भी नहीं कहा जा सकता। विद्वान् लोग धर्म-ग्रंथों का विवेचन करते हैं किन्तु वे यह नहीं जानते कि भगवान् बुद्ध इस शरीर के अन्दर ही निवास करते हैं। हमारे शरीर के अन्दर कोई निरञ्जनरूपी छिपा हुआ है। शरीर में जा उसकी खोज कर देखा है वही मुक्त हो जाता है।[1]

शरीर के महत्त्व का प्रतिपादन चर्या पदों में भी मिलता है। कन्हा पाद[2] अपने एक पद में कहते हैं कि कन्ह योगी कापाली हो गये हैं। और उन्होंने योग साधना प्रारम्भ कर दी है वह अपने शरीर रूपी नगर में अद्वैत रूप से क्रीड़ा करता है। आगे वह फिर कहते हैं कि पाँच तथागतों की पाँच पतवार बनाइये, और शरीर रूपी नौका को खेइये तथा माया के जाल को नष्ट कर दीजिए।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि सहजयान में शरीर को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। शरीर के इस महत्त्व के फलस्वरूप ही सहजयान में योग साधना का विकास हुआ। शरीर में विविध चक्रों की कल्पना हिन्दू तांत्रिक और योगी कर ही चुके थे उसी का आधार लेकर इन सहजयानी तांत्रिकों ने उन्हें बौद्ध मत के अनुकूल अपने अनुसार ढालने की चेष्टा की। बौद्धमत में त्रिकाय[4] का सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध है। सहजयानियों ने इस सिद्धान्त को ही दृष्टि में रखकर शरीर में केवल तीन चक्रों की कल्पना की है। नाभि कमल को इन्होंने पहला चक्र माना है और उसे निर्माण काय का प्रतीक कहा है। दूसरा चक्र हृदय में माना गया है, इसे धर्मकाय का वाचक कहा गया है। कंठ के समीप एक तीसरा चक्र कल्पित किया गया है वह सम्भोग या सहजकाय का द्योतक माना गया है।[5] इन तीनों चक्रों के ऊपर उष्णीष कमल माना गया है, यह हिन्दू तांत्रिकों में सहस्रार के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ लोग इसे महासुख कमल भी कहते हैं। यह एक चौथी काया का प्रतीक है जिसे हम महासुख काय कह सकते हैं।[6]

---

[1] ओब्स्क्योर रिलीजस कल्ट्स पृ० १०१ से उद्धृत
[2] चर्यापद ११
[3] चर्यापद १३
[4] देखिए एवोल्यूशन आफ महायान बुद्धिज्म पृ० ९९ से ११८
[5] ओब्स्क्योर रिलीजस कल्ट्स पृ० १०१
[6] हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग २ पृ० ३८८

सहजयानियों ने नाड़ी[1] साधना पर भी बल दिया है। इनके अनुसार शरीर में ३२ नाड़ियाँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं।[2] इन ३२ में भी ३ नाड़ियों को इन्होंने बहुत अधिक महत्त्व दिया है[3]। इनमें २ तो मेरुदंड के दोनों पक्षों में रहती हैं और एक बीच में रहती है। मेरुदंड की बाईं ओर स्थित इड़ा, दाईं ओर स्थित पिंगला नाड़ियों को प्रज्ञा और उपाय का प्रतीक माना गया है। तीसरी नाड़ी को सहज मार्ग अवधूति मार्ग या केवल अवधूति कहा गया है[4]। प्रथम दो नाड़ियाँ जो क्रमशः प्रज्ञा और उपाय का प्रतीक कही गई हैं मिलकर बोधिचित्त अवस्था को जन्म देती हैं। इनमें से दक्षिण नाड़ी हिन्दू तंत्रों में पिंगला के नाम से प्रसिद्ध है और वाम नाड़ी इड़ा के नाम से। इन नामों के अतिरिक्त इन नाड़ियों के और भी सैकड़ों नाम तंत्र ग्रंथों में मिलते हैं।

सहजयानियों ने अपनी यौगिक साधना में सर्वप्रथम काय साधना को स्थान दिया है। काय साधना के लिए उन्हें हठयोग की साधना अपनानी पड़ी थी। उनकी धारणा थी कि जब तक हठयोग की साधना से शरीर के स्कंध दृढ़ नहीं किए जायेंगे तब तक महासुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

हम पीछे वज्रयान के प्रसंग में इस बात का संकेत कर चुके हैं कि बौद्ध तांत्रिक प्रज्ञा[5] और उपाय[6] की अभिव्यक्ति स्त्री और पुरुष के प्रतीक[7] से किया करते थे। कभी कभी तो उन्होंने उनके वाचक गुप्तांगों को ही इनका वाच्यार्थ लिया। प्रज्ञा

---

[1] ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स पृ० १०६ १०७

[2] बागचि हस्तलिखित ग्रन्थ पृ० १ (बी) (आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स में उद्धृत पृ० १०६)

[3] ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स पृ० १०६ १०७

[4] वही

[5] प्रज्ञा—को कमला, नार, उपाय को—रसना—व्यंजन भी कहा जाता है इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म दास गुप्ता—पृ० ११९ (१९५०)

[6] सेकोद्देश टीका में पाँच नाड़ियों को महत्त्व दिया गया है और पाँच तथागतों को क्रमशः उनका अधिष्ठाता माना गया है।
इं० टु तान्त्रिक बुद्धिज्म पृ० १७१

[7] आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स पृ० १ ४
इं० टु तान्त्रिक बुद्धिज्म पृ० ११४
प्रज्ञा के लिए बौद्ध तंत्रों में भगवती महामुद्रा
वज्रकन्या, युवती, जननी, भगिनी, रजकी, नटी, योगिनी, डोम्बी, आदि।

योगी की साधक हुई, और उपाय शिव के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा। इसके लिए उन्होंने क्रमशः कमल और कुलिश जैसे शब्द नाम भी कल्पित[1] किये हैं। सहजियों की प्रमुख हठयौगिक साधनाओं का लक्ष्य प्रज्ञा और उपाय के योग से मणिपूर चक्र[2] में बोधिचित्त[3] को उत्पन्न करना होता था। फिर इस बोधिचित्त को वे धर्मचक्र और सम्भोग चक्र और अंत में उष्णीष चक्र में ले जाकर सुख का अनुभव करते थे। इन लोगों की धारणा थी कि बोधिचित्त के २ पक्ष होते हैं। अपने सामान्य स्थूल रूप में वह वीर्यस्वरूप मूलक यौन सुख का वाचक है। बोधिचित्त के इस स्वरूप के लिए उन्होंने संवृत[3] नाम दिया है। बोधिचित्त का एक दूसरा पक्ष भी वे मानते हैं। वह पक्ष है उसका शांत और निश्चल स्वरूप। इसे विवृत या पारमार्थिक की संज्ञा दी गई है। बोधिचित्त का संवृत स्वरूप सत्य का मौलिक पक्ष कहा जा सकता है। बोधिचित्त का पारमार्थिक स्वरूप ही महायान दर्शन का परात्पर सत्य कहा जा सकता है।[4] सहजयानी लोग पहले तो संवृत सत्य की प्राप्ति के हेतु प्रज्ञा और उपाय की मौलिक रूप में साधना करते थे और फिर इसके द्वारा अनुभूति संवृत सत्य को वे पारमार्थिक सत्य में बदलते थे।[5] इसीलिए इनके कुछ साधकों में प्रत्यक्ष यौन संबंध को साधना का प्रथम अंग माना गया है।[6] इन लोगों का कहना है कि प्रज्ञा और उपाय जनित आनंद जब तक मणिपूर चक्र में अनुभव होता है तब तक वह योगी को इस मौलिक जगत् में बनाये रखता है किन्तु जब वह इस बोधिचित्त की भूमि को पार करता हुआ वज्र या सहजकमल तक पहुँचता है तब वह आध्यात्मिक महासुख का अनुभव करता है।[7] आध्यात्मिक महासुख अद्वैत रूप माना जाता है। इसमें किसी प्रकार के द्वैत बोध नहीं रहते,[8] यह पूर्ण आनंदात्मक है।[9]

महायान दर्शन के प्रभाव के फलस्वरूप सहजयानी साधना में मध्य मार्ग पर बल दिया गया है। मध्य मार्ग की यह भावना योग क्षेत्र में भी अपनाई गई और

---

[1] इंट्रोडक्शन टु बुद्धिज्म पृ० ११७

[2] " " पृ० १२५

[3] बोधिचित्त के बिन्दुशब्द का प्रयोग भी किया गया है।

[3] बोधिचित्त के लिए बिन्दु शब्द का प्रयोग भी किया गया है

[4] इंट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म पृ १५५

[5] हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर भाग २—विण्टरनित्ज़ पृ० ३९१

[6] वही पृ० ३९८

[7] आब्स्क्योर रिलीजस कल्ट्स—दास गुप्ता पृ० १०३

[8] इंट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म—दास गुप्ता पृ० ११८ से १४१

[9] प्रज्ञोपाय विनिश्चय १।१०

मध्य मार्ग को जिसे बौद्ध तंत्रों ने अवधूतिका कहा है, सहजमार्ग कहा गया है और इसकी साधना आवश्यक ठहराई गई। सिद्धों के गानों और दोहों में जगह जगह पर इस साधना की चर्चा की गई है। इस मध्य मार्ग की साधना से साधक बोधिचित्त का ऊर्ध्वोन्मुख करता है। इसके लिए वह प्राण वायु का संयम करता है। क्योंकि प्राण वायु ऊर्ध्वोन्मुखी होती है और वही उसे उष्णीष कमल में महासुख की प्राप्ति कराती है। महासुख की इस साधना के सहजयानियों ने ४ विभाग माने हैं—इन्हें मुद्रा[1] कहा गया है। इनके नाम क्रमशः कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा और समयमुद्रा हैं। इन मुद्राओं के अनुरूप ही मन के विकास की भी चार अवस्थाएँ कल्पित की गई हैं—विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षण। इनके समकक्ष आनंद के भी चार स्वरूप माने गये हैं—आनंद, परमानंद, विरमानंद और सहजानंद।[2] आनंद की प्राप्ति उस समय होती है जब बोधिचित्त निर्माणचक्र में पहुँचता है। परमानंद की स्थिति धर्मचक्र में पहुँचकर अनुभूत होती है। विरमानंद संभोग चक्र में अनुभूत होनेवाला आनंद है। सहजानंद महासुख चक्र में प्राप्त होनेवाला अनिर्वचनीय आनंद कहा गया है।

सहजयानी साधना में कुछ तांत्रिकों के प्रभाव से मुद्रा साधना का भी बड़ा प्रचार हुआ। मुद्रा का अर्थ ये लोग स्त्री लेते थे।[3] इसके लिए ये चांडाली, डोम्बी, शबरी योगिनी, सहज सुन्दरी आदि शब्दों का भी प्रयोग करते थे। ये शब्द पहले तो आध्यात्मिक शक्ति के वाचक रहे किन्तु बाद में ये सब पार्थिव शरीरधारी स्त्री के लिए प्रयुक्त होने लगे। प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि में मुद्रा के लौकिक और अलौकिक दोनों स्वरूपों के संकेत मिलते हैं। देखिए निम्नलिखित श्लोकों में मुद्रा के लौकिक रूप का ही वर्णन किया गया है।

"नवयौवन सम्पन्ना प्राप्य मुद्रां सुलोचनाम्।
स्वरूप तेन सुगन्धाद्यै भूषयित्वा निवेदयेत्॥
गन्धमाल्यादिसत्कारैः क्षीर धूपादि विस्तरैः।
मत्वा सम्पूज्य यत्नेन गुरुणा सह नायकम्॥"[4]

अर्थात् शिष्य को स्वरूपार्थ के सहित नवयौवन-सम्पन्न सुलोचना मुद्रा का या माल्य चन्दन आदि से विभूषित की या गुरु के पास लेकर जाना चाहिए। शिष्य को चाहिए

[1] इण्ट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म—दास गुप्ता पृ० १६५ से १९२ तक
[2] वही
[3] प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि परिच्छेद
[4] प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज ४४ बड़ौदा पृ० ११

कि वे गन्ध-मालादि के साथ नमस्कारपूर्वक भक्ति से यत्नपूर्वक मुद्रा के साथ गुरु की पूजा करे इत्यादि—प्रज्ञोपाय विनिश्चय के तृतीय परिच्छेद में स्त्री-रूपिणी मुद्रा साधना का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। मुद्रा की लौकिक साधना सब वज्रयानी और सहजयानी साधकों को मान्य नहीं थी। बहुत से लोग उसका प्रयोग यौगिक अर्थ में ही करते थे। ज्ञानसिद्धि के निम्नलिखित श्लोकों में देखिए, उसका प्रयोग लौकिक अर्थ में ही किया गया है।

"मुद्रामयवज्रमंत्राद्यैर्जपमासनतत्परैः ।
नैव सिद्धिः परो नास्ति कल्पासंख्ये च कोटिभिः"[1] ॥

अर्थात् बिना मुद्रा मंडल मंत्र जाप आदि की साधना के साधक असंख्य कोटि कल्पों में भी सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार सहजयान में मुद्रा साधना अपने लौकिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों में विकसित हुई।

कालचक्रयान—अब हम कालचक्रयान के स्वरूप का विवेचन करेंगे। वज्रयान सहजयान, मंत्रयान से मिलती-जुलती एक धारा और बहुत प्रसिद्ध है। वह है कालचक्रयान की। इस सम्प्रदाय की धारणाएँ शैव तांत्रिकों से बहुत मिलती-जुलती हैं। यही कारण है उसके स्वरूप का निरूपण बौद्ध तांत्रिकों ने तो किया ही है, शैव तंत्रियों में भी किया है।

इस सम्प्रदाय का साहित्य अभी अनुपलब्ध है। प्रकाशित ग्रंथों में केवल सेकोद्देश टीका ही एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त कुछ विस्तार से वर्णित हैं। इस ग्रंथ के लेखक नारोपाद या नरोपा नामक सिद्धाचार्य थे। इनका समय १०वीं शताब्दी के आसपास निश्चित किया गया है।[2] इस ग्रंथ में इन्द्रभूति नामक वज्रयानी आचार्य के प्रसिद्ध ग्रंथ ज्ञानसिद्धि से वज्रयान का उद्धरण उद्धृत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह सम्प्रदाय वज्रयान के बाद प्रवर्तित किया गया होगा। सेकोद्देश टीका के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का संकेत हमें प्रत्यभिज्ञा शैव दर्शन के प्रधान आचार्य अभिनव गुप्त के तंत्रालोक में भी मिलता है।[3]

जिस प्रकार वज्रयान में वज्रतत्त्व और सहजयान में सहजतत्त्व पारमार्थिक सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किये गये थे उसी प्रकार इस मत में काल-चक्र भी पारमार्थिक तत्त्व के स्वरूप में ही प्रतिपादित किया गया है। जिस प्रकार वज्रतत्त्व और सहजतत्त्व

---

[1] ज्ञानसिद्धि—गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज नं० ४४ बड़ौदा

[2] बौद्धदर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ० ३९५

[3] इन्ट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म—दास गुप्ता पृ० ७७

प्रज्ञा और उपाय का युगनद्ध-स्वरूप माने गये हैं। इसी प्रकार कालचक्र भी प्रज्ञा और उपाय का ही समरस विग्रह कहा जा सकता है।[1] कालचक्र में काल प्रज्ञा का वाचक है और चक्र उपाय का। दोनों के समन्वित विग्रह को पारमार्थिक सत्ता के रूप में स्वीकार करनेवाला सम्प्रदाय कालचक्र यान के नाम प्रसिद्ध से हुआ।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी तांत्रिक सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों में पारमार्थिक सत्ता की धारणा एक जैसी है। अपने अपने सम्प्रदायों को अलग करने के लिए इन लोगों ने उसका अभिधान भर बदल दिया है।

कालचक्र योगियों की धारणा है कि जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। अतः साधक को चाहिए कि वह अपने पिण्डस्थ कालचक्र का दर्शन करे। इसके लिए उसे सबसे प्रथम काया की शुद्धि करनी चाहिए। कायाशुद्धि हो जाने पर चित्तशुद्धि और प्राणशुद्धि स्वयं हो जायेगी। सर्वतोमुखी शुद्धि हो जाने से साधक अपनी साधना में सफल हो सकता है।[3]

कालचक्रयान में 'आदि बुद्ध'[4] की धारणा भी मान्य है। कालचक्र का ही दूसरा नाम आदि बुद्ध है। आदि बुद्ध करुणा और शून्यता की मूर्ति माने गये हैं।

आदि बुद्ध के बौद्ध मतों में चार काय माने गये हैं। उनके नाम क्रमशः सहज काय, धर्मकाय, संभोगकाय और निर्माणकाय हैं। यह विभाग वैदिक दर्शन से मिलता जुलता है। वैदिक दर्शन में अवस्थाओं के आधार पर भिन्न-भिन्न नामों से अभिधान किया जाता है जैसे—जाग्रतावस्था की स्थिर दशा के चैतन्य को वैश्व और सुषुप्ति के साक्षी को प्राज्ञ कहते हैं। तुरीयावस्था वही चैतन्य आत्मा का अभिधान ग्रहण कर लेता है।[5] कालचक्रयान में आदि बुद्ध की चार कायों वाली कल्पना इस वैदिक धारणा से बहुत मिलती-जुलती है। इनसे सम्बद्ध चक्र तथा पद्म का निर्देश भी इस सम्प्रदाय में किया गया है। निम्नलिखित तालिका[6] से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

---

[1] वही पृ० ७६

[2] बौद्धदर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ० ४०६

[3] वही पृ० ४१६

[4] वही पृ० ४४०

[5] वेदान्त सार हिरियन्ना पृ० ३ ११

[6] बौद्धदर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ० ४४०

१ सहजकाय	करुणा	ज्ञान वज्र	विशुद्ध योग	तुरीय
२ धर्मकाय	मैत्री	चित्त वज्र	धर्मात्मक योग	सुषुप्ति
३ संभोगकाय	मुदिता	वाग वज्र	मंत्र योग	स्वप्न
४ निर्माणकाय	उपेक्षा	काय वज्र	संस्थान योग	जाग्रत

'आदि बुद्ध (१) सहजकाय ही परमार्थतः सत्य है, वह शून्यता का ज्ञान होने से विशुद्ध है। यह तुरीयावस्था के क्षय होने पर उदित होती है तथा महासुख रूप है। यही वास्तव में करुणा का रूप इसी काय में है। अतः यह ज्ञान वज्र कहा गया है। सुषुप्ति का विशुद्ध योग है। (२) धर्मकाय में बिना निमित्त ही ज्ञान का उदय होता है। क्षय होने से यह मित्र आदि द्वैत से रहित और मैत्री रस है। जिससे दोनों कायों के द्वारा जगत् का समग्र कार्य सम्पन्न होता है। यह निर्विकल्पक चित्त की भूमि होने से चित्त वज्र तथा धर्मात्मक योग कहलाता है। (३) संभोगकाय स्वप्न की दशा का सूचक है। इसमें अक्षय अनाहतध्वनि का उदय होता है। सब प्राणियों के नाद रूप होने से मंत्र मुद्रिताक्ष है। मंत्र के उदय का सम्बन्ध इसी काय से है। इसे वागवज्र तथा मंत्रयोग कहते हैं। इसी काय के द्वारा आदि बुद्ध सभी सत्वों की शिक्षा प्रदान करते हैं। निर्माण काय का संबंध जाग्रत दशा से है। नाना निर्माण कायों को धारण कर बुद्ध क्लेश का नाश करते हैं। यही काय मार्ग तथा संस्थान योग कहलाता है।'[1] इन चारों कायों की कल्पना योगाचार को भी मान्य थी। इस कल्पना में अनेक नवीन बातें मनन करने योग्य हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'कालचक्रयान' के सिद्धांत बौद्ध संप्रदायों पर आधारित होते हुए भी मौलिक हैं।

बौद्ध तांत्रिकों का नैतिक दृष्टिकोण

बौद्ध तांत्रिकों की धारणा थी कि कर्म कोई बुरा नहीं होता। कर्म का औचित्य और अनौचित्य उसके प्रेरक मूल भाव की शुद्धता और अशुद्धता पर आधारित रहता है। इसीलिए इन्होंने चित्त और मन की शुद्धता पर सबसे अधिक जोर दिया है। आर्य देव के चित्त विशुद्धि प्रकरण में इस सिद्धांत का विस्तार से वर्णन किया गया है। मन के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए उसमें लिखा है कि—

---

[1] सेकोद्देश टीका—कैरोली द्वारा सम्पादित—भूमिका पृ० ५१

मनः पूर्वांग धर्मस्य मनः श्रेष्ठ मनोमयः ।
मनसा हि प्रसन्नेन भासते वा करोति वा ॥[1]

अर्थात् मन ही धर्म का प्रथम अंग है। मन ही श्रेष्ठ है और मन ही इच्छाओं का वहन करनेवाला है। मन के प्रसन्न या अप्रसन्न होने से ही हमारी वाणी और कर्म उचित और अनुचित बनते हैं। यही कारण है कि ये लोग कर्म मार्ग में भी प्रज्ञा और उपाय को ही महत्त्व देते हैं। यहाँ पर प्रज्ञा का अर्थ वस्तुओं की शून्यता के पूर्ण ज्ञान से और उपाय का अर्थ विशुद्ध करुणा से लिया गया है। जब कोई कर्म वस्तुओं की शून्यता का अनुभव करते हुए अर्थात् निष्काम एवं करुणा भाव से प्रेरित होकर किया जाता है तब वह पवित्र और शुद्ध समझा जाता है। सिद्धों की रचनाओं में हमें उपर्युक्त सिद्धांत का विविध शैलियों और विभिन्न रूपों में प्रतिपादन मिलता है। इन लोगों की धारणा थी कि वासना के बाह्याडम्बरों से मन या चित्त मलिन या अशुद्ध हो जाता है। यही कारण है कि इन्होंने इन सब का खण्डन किया है। सरहपाद की निम्न लिखित पंक्तियों से यही बात प्रकट होती है—

मन्तण तन्तण धेय ण धारण ।
सव्वपि रे बढ विब्भम कारण ॥
असम मल चित्त म झाणे खरडह ।
सुह अच्छन्त म अप्पण झगडह ॥[2]

अर्थात् 'मंत्र-तंत्र ध्यान धारण आदि सब विभ्रम के कारण होते हैं। निर्मल चित्त को इन सबसे लिप्त नहीं करना चाहिए।' इसी प्रकार एक दूसरे स्थान पर सरहपाद ने लिखा है कि परम निर्वाण की प्राप्ति मनोमोक्ष से ही मिल सकती है।

'धम्मइ कम्मेण मणो बन्ध विमुक्केण होइ मणमोक्खं।
मण मोक्खेण अणुत्तं पाविज्जइ परमणिव्वाणं ॥[3]

अर्थात् 'कर्म से मन बद्ध होता है और कर्म से मुक्त होकर ही मन मुक्त होता है। मन मुक्ति के पूर्ण होने ही परम निर्वाण की प्राप्ति होती है।' इसका कारण बतलाते हुए सरहपाद आगे पुनः लिखते हैं—

चित्तक राअलरो खं पवणावणागो वि अरम विपुरथन्ति ।
सं चिन्तामणि रूपं परजमद इच्छाफल देन्ति ॥[4]

---

[1] चित्त विशुद्धि प्रकरण—आर्य देव श्लोक १०
[2] दोहा कोष—पृ० ९०
[3] वही पृ० २४
[4] वही पृ० १४

अर्थात् चित्त ही सब भावों का ही बीज है। यह चिंतामणि रूप है। उसी के स्फुरित होने पर जीवात्मा संसार से विमुक्त होती है। इस प्रकार सिद्धों की वाणियों में हमें मन और चित्त की शुद्धता का विस्तार से प्रतिपादन मिलता है।

निर्गुणियाँ कवियों पर बौद्ध तांत्रिकों का प्रभाव

बौद्ध तांत्रिकों से संतों का सीधा सम्बन्ध था। यही कारण है कि वे लोग उनसे बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। उनकी तत्व की अनुभवगम्यता, धर्मग्रंथों की अमान्यता तत्व का वाच्यावाच्य परे होना, सहज तत्व की स्वरूप धारणा, सहजावस्था की धारणा, शून्यवाद, अभिव्यक्ति विलक्षणता, नाद बिन्दु साधना, अन्तस्साधना, खंडन मंडन की प्रवृत्ति, साधना में काम या राग का महत्व, अध्यात्मीकरण, गुरुवाद एवं योग साधना आदि बातों ने संतों को पूरी-पूरी प्रेरणा प्रदान की थी। उनकी बानियों पर इस सबका प्रभाव परिलक्षित होता है।

वेदान्त दर्शन की भाँति बौद्ध तांत्रिक लोग तत्व की अनुभवगम्यता में ही विशेष विश्वास करते थे। कोई आश्चर्य नहीं कि संतों का इस दिशा में भी प्रेरणा मिली हो। उन्हीं से प्रेरित होकर उन्होंने तर्क का विरोध और अनुभव का महत्व प्रतिपादित किया है। यही नहीं, उन्होंने बौद्ध तांत्रिकों के अनुकरण पर षट् शास्त्रादि की भी निंदा की है। संत सुन्दरदास[1] कहते हैं—

> सुन्दर कहत षट्शास्त्र माहीं मथोसार।
> जाके अनुभव ज्ञानसार में न कह्यो है ...

संतों ने वेद शास्त्र की निंदा भी खोल कर की है। संत दरिया 'वेद कतेब' को बंधन रूप मानते थे।[2] मलूकदास[3] ने तो यहाँ तक लिखा है। कि वेद शास्त्र पढ़कर पंडित भी भ्रम में पड़ गये हैं।

सहजयान की सहजतत्व धारणा ने भी संतों को प्रभावित किया है। उन्हीं के सदृश वे भी तत्व को सहजरूप में मानते हैं। दादू लिखते हैं[4]—'मैं सदैव उस परमात्मा के सर्वव्यापी सहजरूप में लीन रहता हूँ।' उन्होंने ही सहज का स्वरूप निरूपण करते हुए एक दूसरे स्थल पर लिखा है—"मैंने परमात्मा का सहजरूप देखा

---

[1] संत बानी संग्रह पृ० १११

[2] वेद कतेब छोड़ कर रसिया पंछी फिर संसार ॥ दरिया बिहार बिहारवाले के चुने हुए पद पृ० ७५ ॥

[3] वेद पढ़-पढ़ पंडित भूले—मलूकदास की बानी, पृ० ४

[4] सदा लीन आनन्द में सहजरूप सब ठौर—दादू ११५४

है। वह परम तेजमय है। उसमें मेरा मन सरलता से रम जाता है।" इसे संतों ने द्वैताद्वैत विलक्षण भी कहा है।[२]

बौद्ध तांत्रिकों के शून्यवाद का भी ऋण संतों पर है। वज्रयान में सब कुछ पूर्णशून्य रूप ही माना गया है। वज्रयान के इस सिद्धांत की व्यंजना करते हुए दादू ने लिखा है कि चेतन जीव शून्य से आया और शून्य में ही लय होगा। अतः उसे उसी शून्य का ध्यान करना चाहिए।[३] सहजयान के चार शून्यों की धारणा भी संतों को अपने ढंग पर मान्य थी। उसका संकेत करते हुए संत दादू लिखते हैं—'तीन शून्य तो नाम रूप से संबंधित हैं। चौथा शून्य ही निर्गुण रूप होने से सहज कहलाता है। वह सर्वव्यापी है'।[४] सत्य के सहज और शून्य रूप होने के कारण ही संतों ने उसे अनिर्वचनीय और वाच्यावाच्य परे कहा है। संत दादू कहते हैं 'वह कुछ नहीं है, अर्थात् अवस्तु रूप है वह अनिर्वचनीय है। उसको नाम रूप देकर वाणी के बंधन में बाँधकर लोग भ्रमित हो रहे हैं।'[५]

बौद्ध तांत्रिकों का कल्पनावाद जो विज्ञानवाद का ही रूपांतर है, बहुत प्रसिद्ध है। संतों के कल्पनावाद को इनके कल्पनावाद से प्रेरणा मिली होगी। सम्भवतः उसी से प्रेरित होकर संत दरिया ने मन को कर्त्ता विष्णु रूप[६] कहा है। संत सुंदरदास ने कल्पनावाद के सिद्धांत की अभिव्यक्ति और अधिक स्पष्ट शब्दों में की है। वह लिखते हैं "मन के भ्रम से ही यह संसार उत्पन्न होता है और उस भ्रम के निराकृत हो जाने पर उसका लय हो जाता है।"[७]

---

[१] अविनासी अंग तेज का, ऐसा तत्त अनूप।
सो हम देख्या नैन भरि सुन्दर सहज स्वरूप॥
परम तेज परकास है, तहाँ मन रह्या समाइ।
दादू खेलै पीव सौं नहिं आवै नहिं जाइ॥ दादू बानी भाग १ पृ० ५५

[२] 'निर्गुन सगुन दुहुन से न्यारा, सत स्वरूप आहि विमल विचारा।' द० सागर पृ० ५४

[३] सुन्नहि मारग आइया सुन्नहि मारग जाइ।
चेतन पैंडा सुरति का दादू रहु ल्यौ लाइ॥ स० मु० सार नवम ४६६

[४] तीन सुन्न आकार की, चौथा निर्गुण नाम।
सहज सुन्न में रमि रह्या जहाँ तहाँ सब ठाम॥ दादू, भाग १, पृ० ७०

[५] कछु नाहीं का नाँव धर भरम्या सब संसार॥ दादू बानी, भा० १, पृ० १४८

[६] यह मन कर्त्ता विष्णु रूप कहावै—दरिया सागर पृ० ११

[७] मन ही के भ्रम तें जगत यह देखियत
मन ही के भ्रम गये जगत को विनाश है। सुंदरविलास, पृ० १२२

बौद्ध तांत्रिकों की खंडन मंडन की प्रवृत्ति से संतों को प्रतिक्रियात्मक प्रेरणा प्रदान की थी। सम्भवतः उन्हीं से प्रेरित होकर उन्होंने समस्त मिथ्याचारों और आडंबरों का डटकर विरोध किया है। उदाहरण के लिए हम मूर्ति पूजा का खंडन ले सकते हैं। संत दादू लिखते हैं "जो लोग कंकड़-पत्थर की सेवा करते हैं, वे अपना मूल भी गँवा बैठते हैं।"[१] इसी प्रकार संतों ने अन्य आडंबरों और आचारों का विरोध किया है।

काया शोधन बौद्ध तांत्रिकों की साधना पद्य का प्रायभूत सिद्धांत है। संत दरिया ने स्पष्ट लिखा है कि काबिगत[२] ज्योति के दर्शन तभी होते हैं, जब साधक काया शोधन में प्रवृत्त होता है। संत दादू ने इस सिद्धांत पर सबसे अधिक बल दिया है।[३] कायाशोधन गुरु की कृपा के बिना सम्भव नहीं हो सकता। इसीलिए बौद्ध तांत्रिकों ने हिन्दू तांत्रिकों, वेदान्तियों और योगियों के सदृश गुरु का महत्त्व दिया था। संतों के गुरुवाद को बौद्ध तांत्रिकों से भी प्रेरणा मिली होगी। संत दादू बौद्ध तांत्रिकों के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं कि सद्गुरु के मिलने से ही मुक्ति और भुक्ति की प्राप्ति होती है।[४]

बौद्ध तंत्रों में काम या राग के सदुपयोग पर विशेष बल दिया गया है। उनकी धारणा है कि काम को यदि सत्पथ पर प्रेरित कर दिया जाय तो वही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। काम साधना से मुक्ति और भुक्ति दोनों की प्राप्ति होती है। संत लोग इस सिद्धांत से भी पूर्णतया परिचित थे। संत मलूक ने एक स्थल पर इसी सिद्धांत की व्यञ्जना करते हुए लिखा है—"काम राम से मिला सकता है, यदि इस पर विजय प्राप्त करके उसका सत्पथ पर नियोजन किया जाय।"[५]

बौद्ध तांत्रिकों ने साधना क्षेत्र में नाद बिन्दु और योग साधनाओं को महत्त्व दिया है। संतों की साधना के भी ये प्रतिष्ठित तत्त्व थे। इससे प्रकट होता है कि वे लोग बौद्ध तांत्रिकों से इस दृष्टि से भी प्रभावित हुए हैं।

बौद्ध तांत्रिकों ने शिष्यों की गुरुता पर हिंदू तांत्रिकों के सदृश ही बल दिया है। अपने शिष्यों को गुरु बनाने की कामना से ही उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक

---

[१] जिनि कंकड़ पत्थर सेविया सौं अपना मूल गवाई—दादू बानी, भाग १, पृ० १६७

[२] काया परचै मूल जब पावै, अविगत ज्योति दृष्टि में आवै—द० सा० पृ० १२०

[३] देखिए—संत दादू बानी, भाग २, पृ० १५२ १५३ १५७

[४] सद्गुरु मिलै तो पाइए,
भुगति मुकति भंडार—दादू बानी, भाग १, पृ० ६

[५] काम मिलावै राम से जो कोई जाने जीत।
दास मलूक यों कहै जो आवै प्रतीत ॥ मलूकदास की बानी, पृ० ४०

अपनाई गई है। उनकी अभिव्यक्ति शैली से संत लोग अनेकधा प्रभावित हुए थे। सच तो यह है कि संतों की अभिव्यक्ति में प्राण प्रदान करने का श्रेय बौद्ध तांत्रिकों को ही है। कहीं-कहीं तो उन्होंने उनके शब्दों, यहाँ तक कि वाक्यों तक को दोहरा दिया है। कबीर की इस साखी[1] को लीजिए—

"जिहि बन सिंह न संचरै पंछी उड़ै नहिं जाय।
रैन दिवसा का गम नहीं तहाँ कबीर रहा ल्यौ लाय॥"

सरहपाद[2] की साखी इस प्रकार है—

"जहि मन पवन न संचरै रवि ससि नाह-प्रवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु सरहे कहिय उवेस॥"

उपर्युक्त साखियों से एक बात और स्पष्ट प्रगट होती है, वह यह कि संत लोग सिद्धों की रहस्य साधना से भी बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। सच तो यह है कि संतों का रहस्यवाद सिद्धों के रहस्यवाद का ही अभिनव रूपान्तर है, जिसके प्रधान स्तम्भ उपनिषद् और सूफी मत हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों पर बौद्ध तांत्रिकों का भी बहुत बड़ा प्रभाव है।

जैन तांत्रिक—वैष्णव, शैव, शाक्त और बौद्ध तांत्रिकों के अतिरिक्त मध्ययुग में कुछ जैन तांत्रिक भी अपने-अपने स्वतंत्र सम्प्रदायों के प्रवर्तन में लगे हुए थे। इन सम्प्रदायों के अनुसन्धान की बड़ी आवश्यकता है। इनका अभी तक कोई भी प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं है। विंहम[3] नामक विद्वान् ने एक जैन-तांत्रिक सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार यह सम्प्रदाय निर्ग्रंथ जैनियों का एक उप सम्प्रदाय था। इसकी साधना और सिद्धांतों का स्वरूप अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया है। हो सकता है संतों की कुछ प्रवृत्तियों को इससे थोड़ी-बहुत प्रेरणा मिली हो।

नाथ-सम्प्रदाय

परिचय—मध्यकालीन धर्म-साधनाओं में नाथपंथ बहुत महत्वपूर्ण है। इस पंथ के मूल प्रवर्तक आदि नाथ या भगवान् शिव माने जाते हैं।[4] मध्य युग में इस मार्ग प्रवर्तन करने का श्रेय गोरखनाथ और उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को है। मध्य

---

[1] हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ६६ से उद्धृत
[2] वहीं से उद्धृत
[3] पुटिनम पमार्थंदिग्न, पृ० १०११ २
[4] नाथ सम्प्रदाय पृ० १

युग में यह मत विविध नामों से प्रसिद्ध था, जिनमें सिद्ध[1] मत, योग मार्ग[2], योग सम्प्रदाय[3], अवधूत सम्प्रदाय[4], गोरखनाथी सम्प्रदाय, मत्स्येन्द्रनाथी सम्प्रदाय आदि नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। इस मत के अनुयायी योगी, कनफटा, दर्शनी आदि के नाम से पुकारे जाते हैं।[5] नाथ शब्द की व्याख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् इसका अर्थ मुक्ति देनेवाला करते हैं।[6] और कुछ लोग 'ना' का अर्थ अनादि रूप और 'थ' का अर्थ भुवनत्रय लेकर उसे अनादि धर्म का वाचक और भुवनत्रय की स्थिति का कारण मानते हैं।[7] इसी प्रकार इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है। कुछ लोग तो इसे स्वतंत्र दर्शन पद्धति मानते हैं, जिसका विकास अपने समय की कई धाराओं के योग से हुआ था।[8] इसके विपरीत कुछ दूसरे विद्वान् उसे वज्रयान और सहजयान का ही विकसित और परिष्कृत रूप मानते हैं।[9] कुछ विद्वानों की धारणा है कि नाथपंथ का मूल उद्गम स्रोत तांत्रिक बौद्ध धर्म है।[10] कुछ दूसरे विद्वानों का कहना है कि यह एक शैव शाक्ति साधना पद्धति है। जिस पर बाद में बौद्ध तंत्रों का प्रभाव पड़ा है।[11] इस प्रकार इसके सम्बन्ध में विविध मतवाद प्रचलित हैं। हमारी अपनी धारणा है कि यह सम्प्रदाय स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ था। हिन्दू शैव शाक्त तंत्रों, बौद्ध तंत्रों, शैव दर्शन और योग साधना आदि विविध धर्म और साधना पद्धतियों ने मिलकर इसकी प्राण प्रतिष्ठा की थी। दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि नाथ सम्प्रदाय मध्यकाल की सामान्य जनता में प्रचलित सभी साधना और धर्म-पद्धतियों का एक अभिनव समन्वित स्वरूप है। अपने समय की समस्त विचारधाराओं और साधनाओं के सुन्दर तत्वों को आत्मसात करने की प्रवृत्ति निर्गुण सम्प्रदाय में भी थी। यही कारण है कि निर्गुण सम्प्रदाय की प्रवृत्ति

---

[1] गो० सि० संग्रह पृ० १२

[2] " पृ० २१

[3] " पृ० ५८

[4] " पृ० १८

[5] गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज—ब्रिग्स पृ० १ (१९३८)

[6] हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा

[7] नाथ सम्प्रदाय पृ० ३

[8] नाथ सम्प्रदाय—हजारीप्रसाद पृ० १

[9] मीनपाद, जलपाद, कम्बलपाद और अन्य सिद्ध—राहुल सांकृत्यायन—गंगा पुरातत्त्वांक पृ० २११ २२६

[10] मार्डर्न बुद्धिज़्म एण्ड इट्स फॉलोवर्स इन ओरिसा—पृ० ३६

[11] नाथ सम्प्रदाय पृ० ४-५

साम्य के कारण नाथपंथ के अत्यधिक समीप है। हमारी अपनी दृढ़ धारणा है कि नाथपंथ और निर्गुण सम्प्रदाय में पिता पुत्र का संबंध है। नाथ सम्प्रदाय को अच्छी तरह से समझे बिना संतों का निर्गुण सम्प्रदाय किसी प्रकार भी समझा नहीं जा सकता।

नाथपंथी साहित्य—नाथपंथी सम्प्रदाय का साहित्य कम विस्तृत नहीं है। इसके अन्तर्गत नव नाथों की रचनाएँ एवं गीत आदि तो आते ही हैं, हठयोग से संबंधित एक विस्तृत साहित्य भी इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत पढ़ा जाता है। मिश्र[1] ने नाथपंथी साहित्य का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित ग्रंथों की विशेष चर्चा की है। गोरक्षबोध, गोरक्षसंहिता, गोरक्षशतक, हठयोग प्रदीपिका, घेरंडसंहिता, शिव संहिता, सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति, और गोरक्ष पद्धति। इनके अतिरिक्त उसने इस सम्प्रदाय के साहित्य के अंतर्गत कुछ और ग्रंथों का उल्लेख भी किया है। इनमें कुछ तो तंत्र ग्रन्थ और कुछ शैव शाक्त तंत्र ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में देवी भागवत, योग चिन्तामणि, योग मंजरी, शिवगीता शिवपुराण, निरंजन पुराण, शिव रहस्य तंत्र, रुद्रयामल तंत्र आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कौलमार्गी नाथ मत का निरूपण मत्स्येन्द्र नाथ, रचित कौलज्ञान निर्णय तथा अकुल वीरतंत्र, कुलानन्द तंत्र, ज्ञानकारिका आदि ग्रन्थों में भी किया गया है।

नाथ सम्प्रदाय का ऐतिहासिक विकास

नाथपंथ के कुछ मूल प्रवर्तक नव नाथ माने जाते हैं। किन्तु इन नव नाथों के नाम के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। महार्णव तंत्र में नव नाथों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं।[2]

१—गोरक्षनाथ २—जालन्धरनाथ, ३—नागार्जुन, ४—सहस्रार्जुन, ५—दत्तात्रेय, ६—देवदत्त, ७—जड़भरत, ८—आदिनाथ और ९—मत्स्येन्द्र नाथ।

'नाथ सम्प्रदायाविष्कृति'[3] नामक ग्रन्थ में नव नाथों के नाम महार्णव तंत्र के नामों से कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ में नव नाथों को नव नारायणों का अवतार माना गया है। इसके अनुसार नव नाथों के नाम क्रमशः —

---

[1] गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज पृ० १३१

[2] नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृ०

[3] वही

१ मत्स्येन्द्रनाथ, २ गैनीनाथ, ३ जालन्धरनाथ, ४ करणिपानाथ, ५. धरणनाथ, ६ रेवानाथ, ७ भर्तृनाथ, ८. गोपीचन्द्रनाथ और ९. नागनाथ या आदिनाथ।

सुधाकर चन्द्रिका[1] नामक ग्रंथ में नव नाथों के नाम उपर्युक्त नामों से मेल नहीं खाते। इसी प्रकार नैपाल की परम्परा में जिन नव नाथों का नाम लिया जाता है वे बिल्कुल नये प्रतीत होते हैं। जिनका उल्लेख किसी ग्रंथ में भी नहीं मिलता। इसी प्रकार अन्य बहुत से ग्रंथों में नव नाथों के नाम और उनकी परम्परा का उल्लेख बिल्कुल स्वतंत्र रूप से पाया जाता है।[2] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाथपंथ का क्रमिक इतिहास लिखना वास्तव में कठिन है।

नाथपंथ के इतिहास में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इसका कारण यह है कि दोनों ही नाथपंथ दो भिन्न-भिन्न धाराओं के प्रवर्तक थे। मत्स्येन्द्रजी ने योगिनी कौल मार्ग नामक नाथपंथी धारा का प्रवर्तन किया था। यह मत प्रोफेसर बाग्ची का है।[3] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस मान्यता की आलोचना की है।[4] उनका कहना है कि मत्स्येन्द्रनाथ पहले सिद्धयान अथवा सिद्धांतमार्ग के अनुयायी थे। बाद में वह वाममार्गी साधना में प्रवृत्त हो गये। वाममार्गी साधना को अपनाने के कारण ही उन्हें कौल कहा जाने लगा। बाद में इनके शिष्य गोरखनाथ ने इनको वाममार्गी साधना से विमुक्त किया था। गोरखनाथ जी ने नाथपंथ में हठयोग को विशेष महत्व दिया था। इसीलिए उनका साधना मार्ग गोरखनाथी हठयोग के नाम से प्रसिद्ध है। आजकल गोरखनाथ के मत को ही सामान्यतः नाथपंथ के नाम से अभिहित किया जाता है। हमारी धारणा है कि निर्गुणियाँ संतों को नाथपंथ की उपर्युक्त दोनों ही धाराओं ने प्रभावित किया था। सच तो यह है कि इन दो आधार शिलाओं पर ही संत मत का भवन खड़ा हुआ है। यहाँ पर हम नाथपंथ की इन दोनों धाराओं के सिद्धांतों का विवेचन कर देना उपयुक्त समझते हैं। क्योंकि उनके सिद्धांतों को समझे बिना निर्गुण काव्यधारा का रहस्य नहीं समझा जा सकता।

मत्स्येन्द्रनाथ का योगिनी कौल मार्ग

मत्स्येन्द्रनाथ के साधना मार्ग में कौल शब्द का प्रयोग योग के अर्थ में किया गया है। इसके प्रमाण में हम कौल-ज्ञान निर्णय की निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत कर सकते हैं—

---

[1] नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० २५ (१९५०)

[2] " " " " २६, २७

[3] कौल ज्ञान निर्णय—डा० प्रबोधचन्द्र बागची सम्पादित भूमिका पृ० ३६

[4] नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ५७-५४

"पंचपंचाशिकादेवि भवन्ति योगलक्षणम्"[१]

अर्थात् हे देवि । योग का पचपन प्रकार का कहा गया है। इस पंक्ति के पश्चात् फिर ५५ प्रकार के योगों का वर्णन किया गया है। उनमें सबसे प्रथम कौल योग का वर्णन किया गया है। इससे प्रकट है कि मत्स्येन्द्र नाथ ने कौल उपयोग योग शब्द के अर्थ में किया है। अब प्रश्न यह है कि इस योग साधना को योगिनी कौल मार्ग क्यों कहा गया है। इस सम्बन्ध में हमारी धारणा है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने मत का प्रचार काम रूप देश की स्त्रियों में किया था।[२] योग मार्ग में दीक्षित किये जाने के कारण वे स्त्रियाँ योगिनियाँ कहलाती थीं। उनसे सम्बन्धित कौल मार्ग को योगिनी कौल मार्ग कहा जाने लगा होगा।

योगिनी कौल मार्ग की भी दो शाखाएँ बतलाई गई हैं। अकुल वीरतंत्र में लिखा है—

कौल मार्ग द्वयो सन्ति कृतका सहजा तथा।
कुंडली कृतका ज्ञेया सहजा समरसे स्थिता॥

अर्थात् कौल मार्ग का योग साधना दो प्रकार की होती है—एक तो कुण्डलनी योग साधना और दूसरी सहज योग साधना। मत्स्येन्द्र ने अकुल वीर तंत्र नामक ग्रन्थ में सहज योग को कुण्डलनी योग की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया था।[३]

मत्स्येन्द्रनाथ का दार्शनिक दृष्टिकोण शैव शाक्त मतों से बहुत अधिक प्रभावित प्रतीत होता है। मत्स्येन्द्रनाथी मत में त्रिपुरा की उपासना शाक्तों के सदृश ही मान्य है। शैव शाक्त तांत्रिकों के सदृश वह शक्ति को शिव में समवेत मानते थे।[४] तांत्रिकों का सत्कार्यवाद उन्हें थोड़ा हेर-फेर के साथ स्वीकार था। शैव दर्शन के ३६ तत्त्वों के प्रति भी उन्हें आस्था थी। इस मत में शिव को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। वे ही देवाधिदेव और भक्ति मुक्ति दाता कहे गये हैं। जब शिव मत्स्य बनकर तीन प्रकार के मलों से आवृत हो जाते हैं तभी उनकी संज्ञा जीव हो जाती है। मत्स्येन्द्रनाथ पूर्ण अद्वैतवादी थे। वे समस्त विश्व को शिवमय मानते थे। इस दर्शन में शिव के लिए अकुल और शक्ति के लिए कुल शब्द का प्रयोग किया है।[५]

---

१ कौलज्ञान निर्णय २।१९
२ कौलज्ञान निर्णय—डा० प्रबोध चन्द्र द्वारा सम्पादित पृ० ६७
३ अकुल वीर तंत्र श्लोक संख्या ५६, ६०
४ कौलज्ञान निर्णय २।६-७
५ "कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते"
भास्कराचार्य की टीका से कौलज्ञान निर्णय में उद्धृत पृ० ७० (१९३४)
कुलार्णव तंत्र में भी यही बात लिखी है
"अकुलं शिव इत्युक्तं कुलं शक्तिः प्रकीर्तितः"
कौलज्ञान निर्णय भूमिका पृ० ४० (१९३४)

अब हम योगिनी-कौल-मार्ग के कुंडलनी साधना-मार्ग-पक्ष पर विचार करना चाहते हैं। कुंडलनी-साधना-मार्ग को समझने के लिए हमें मत्स्येन्द्र नाथ द्वारा प्रयुक्त बिन्दु, नाद और कला आदि कुछ पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण सबसे पहले करना होगा।

मत्स्येन्द्रनाथी मत में बिन्दु का स्वरूप

भगवान् शिव की शक्ति को बिन्दु की संज्ञा दी गई है। यह बिन्दु सब शक्तियों से अयोम्य रहता है।[1] इस बिन्दु को अव्यक्त रूप भी कहा गया है। इसे तदवावरण्य का अत्यान्तिक रूप मानते हैं। यह मुक्तावस्था के उदय स्वरूप माना गया है। सृष्टि के विकास और विनाश दोनों का कारण भी यही माना गया है। यह कुल और अकुल दोनों से परे तत्त्व है। कुछ स्थलों पर बिन्दु को पर शिव तथा सूक्ष्म शक्ति कहा गया है। इस बिन्दु से ही सर्वप्रथम नाद का उदय माना गया है। और नाद से ही सम्पूर्ण शक्ति विकसित हुई है। पुण्यानन्द के काम-कला-विलास में बिन्दु के लिए महाबिन्दु शब्द का प्रयोग किया गया है। बिन्दु में जो शाश्वत ध्वनि उठती है उस ध्वनि की शक्ति का नाम कला बताया गया है। इस कला को ही काम कला कहते हैं।[2] बिन्दु की कल्पना मद मान और मेय इन तीनों विशेषताओं से विशिष्ट रूप में की गई है।[3]

अभी हम कह चुके हैं कि बिन्दु से नाद का उदय होता है। नाद मंत्र, वाणी और पद रूप होता है। इसीलिए इस मत में भी तंत्र मत की भाँति मांत्रिक वर्णों की कल्पना की गई है। इस नाद सिद्धांत के आधार पर ही इस मत में यह बतलाया गया है कि सर्वत्र चार तत्त्व-स्थान, ध्यान, वर्ण और लक्ष्य है।[4]

स्थान लिंग को कहते हैं। ध्यान का अर्थ पद होता है। वर्ण रूप का वाचक है और लक्ष्य अरूप का द्योतक माना जाता है। लिंग नाद या ब्रह्म शब्द का केन्द्र स्थल होता है। इसकी स्थिति ब्रह्मद्वार में होती है। नाद के उदय होने पर वर्ण पद और वाक्य का उदय होता है।[5] इन सबका प्रभाव पिंड और ब्रह्मांड दोनों पर पड़ता है। मत्स्येन्द्रनाथी कौल मार्ग का लक्ष्य शक्ति का शिव में लय करना है। शरीर में यह शक्ति का केन्द्र मूलाधार चक्र और शिव का केन्द्र स्थल ब्रह्मरन्ध्र माना जाता है। ब्रह्मरन्ध्र में स्थित शिव तत्त्व में स्थित कुंडलनी शक्ति का शिव में लय कर

---

1 "अयोम्या सर्वशक्तीनां—कौलज्ञान निर्णय पृ० ४७ १०।२० २१

2 वही पृ० ४७

3 वही पृ० ४५

4 वही पृ० ४५

5 कौलज्ञान निर्णय—डा० बागची, पृ० ४६

देना ही सामान्यतया कुण्डलनी लय योग कहा जाता है। मत्स्येन्द्रनाथ ने कुंडलनी लय योग के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर अधिक बल दिया था। कौल ज्ञान निर्णय में लिखा है कि शक्ति का लय शिव में किया जाता है और शिव का लय क्रिया में तथा क्रिया का लय ज्ञान में और ज्ञान का लय इच्छा में। इसी प्रकार इच्छा का लय शिव में किया जाना चाहिए। यहाँ पर अन्तिम शिव, शिव का वाचक है।[1] गोरखनाथी योग में हठ पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। मनोवैज्ञानिक पक्ष पर कम। मत्स्येन्द्रनाथ कुण्डलनी योग और गोरखनाथी कुंडलनी योग में यही अन्तर है।

मत्स्येन्द्रनाथी लय योग में और भी कई पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है, जैसे हंस उन्मनि आदि। इस मत में कुल या कुंडलनी शक्ति के ऊर्ध्वमुखी करने को ही मोक्ष माना गया है। इस मोक्ष की प्राप्ति लिंग स्वामी शिव की साधना से बताई गई है। यह शिव की साधना का ज्ञान हंस के रहस्य ज्ञान पर ही अवलंबित बताया गया है।[2] हंस विश्व में अनुस्यूत उसका कारण रूप परमात्मा का वाचक शब्द है। हंस के इस स्वरूप ज्ञान के प्राप्त होते ही साधक को एक प्रकार की अतीन्द्रिय और अलौकिक अवस्था की अनुभूति होती है। इसी को उनके मत में उन्मना अवस्था कहा गया है।[3]

इस मत में शिव की मूर्ति की पूजा का निषेध करके मानस लिंग की पूजा का उपदेश दिया गया है। इस मानस लिंग की पूजा का सबसे उत्तम उपचार अहिंसा रूपी पुष्प है। दूसरा इन्द्रियजय है, तीसरा क्षमा है और चौथा आत्मप्रसाद, पाँचवाँ उदारता, छठा शौचाश्रय, सातवाँ ध्यान और आठवाँ ज्ञान है। अन्यथा बहला या कि जो लोग सांसारिक मार्ग का अनुसरण करते हैं उन्हें सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। इस मत में सर्व काम क्रोध दम्भ आदि के त्याग का उपदेश दिया गया[4] है। भौतिक शास्त्रों की भी निन्दा की गई है। क्योंकि यह सब शास्त्र मिथ्या उपासना की ओर प्रेरित करते हैं।[5]

---

[1] कौलज्ञान निर्णय—३।१०

शिवं सम्यगता शक्ति क्रियामध्ये स्थितः शिवः ।
ज्ञानमध्ये स्थिता सा च क्रिया ज्ञानेन इच्छया
इच्छाशक्ति लयं यान्ति तस्मिन् स्थाने परः शिवः ।

[2] कौलज्ञान निर्णय १०।१४ ११

[3] कौलज्ञान निर्णय—डा० बागची—भूमिका पृ० ७०

[4] कौलज्ञान निर्णय— " " पृ० ६८

[5] " " " पृ० ७१

इस मत में सबसे अधिक महत्व ध्यान योग को दिया है। उनकी रचनाओं में ध्यान योग का स्पष्ट स्वरूप निरूपण नहीं किया गया है। केवल एक स्थल पर अनहदनाद की अनुभूति का संकेत मिलता है। उसमें लिखा है कि जब साधक सिद्धि के समीप पहुँचने लगता है तो नादोदय के प्रथम मृदु रूप की, पुनश्च तीव्र रूप की अनुभूति होती है। उस समय साधक के हाथ-पैर और सिर सब हिलने लगते हैं। विविध प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई पड़ने लगती हैं। साधक को समस्त देवताओं के दर्शन होने लगते हैं।[1]

ध्यान योग की साधना से ही साधक को उन्मनावस्था की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में ही मन खेचरी चक्र में प्रवेश करके अमृत का पान करता है। इस अमृत को कामकला कहा गया है।[2] इस उन्मनावस्था को सहजावस्था भी कहा गया है। यह सहजावस्था विकल्प और विनाश प्रभृति कुल सबसे परे मानी गयी है। इस सहजावस्था का कौल ज्ञान-निर्णय में विस्तार से निरूपण किया गया है।[3] यहाँ पर यह एक शरीरस्थ चक्र के रूप में कल्पित किया गया है। इसके लिए वज्र शब्द का प्रयोग भी किया गया है।

जब साधक वज्र तक पहुँच जाता है तब उसका शरीर वज्र के समान स्थिर हो जाता है। फिर उसे जरा और मृत्यु नहीं सताते[4] अकुल वीर तंत्र में इस सहजावस्था को सहजानन्द की अवस्था कहा गया है।[5] यह सर्वेशता सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता की अवस्था कही जाती है। सब प्रकार की आत्मिक उपलब्धियाँ और सिद्धियाँ इसी अवस्था में प्राप्त होती हैं। इस अवस्था में पहुँचकर मन शान्त और स्थिर हो जाता है। उस समय रस, रूप, स्पर्श, गंध आदि की ऐन्द्रिक अनुभूतियाँ उसी में लीन हो जाती हैं। इस अवस्था को न तो अस्ति रूप कहा जाता है और न नास्ति रूप। यह एक पूर्ण शान्त अवस्था है जिसमें पहुँचकर मन पूर्ण मुक्त होता है। यह पूर्ण अद्वैतावस्था होती है। इसके प्राप्त होते ही सब प्रकार के द्वैतभाव नष्ट हो जाते हैं। उस समय किसी भी प्रकार की साधना-संबंधी क्रियाओं की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह अवस्था पाप और पुण्य से अछूती है। इस अवस्था को योगी की आदर्श अवस्था माना गया है। इसी अवस्था के संबंध में बहुत से योगियों की धारणा है कि मन शून्य में लीन हो जाता है। इस सहजावस्था का वर्णन नाथपंथी ग्रंथों में अनेक प्रकार

---

[1] कौलज्ञान निर्णय १४।१६ १८

[2] कौल ज्ञान निर्णय—डा० बागची—भूमिका पृ० ५२

[3] " " १५।१०

[4] " " १५।१६

[5] अकुल वीर तंत्र बी० ४०

से अनेक रूपों में किया गया है।[१] गोरक्ष संहिता में इस अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह अवस्था सर्व शून्य निराधार निर्द्वंद और परमानंद स्वरूपी होती है। इस अवस्था में दुःख और सुख सबका सामरस्य हो जाता है। पूर्ण समत्वयोग, जिसमें शत्रु और मित्र सब एक प्रतीत होते हैं, भी भी यही अवस्था है। इसी ग्रंथ में एक दूसरे स्थल पर इसे महानन्द रूप कहा गया है। इस अवस्था का वर्णन बहुत से स्थलों पर उत्तर या ब्रह्म के रूप में भी किया गया है और उसे निरंजन की संज्ञा दी गयी है तथा उसमें मन को लीन करने का उपदेश दिया गया है।[२]

मत्स्येन्द्रनाथ का कौल मार्ग पूर्ण तांत्रिक था। यह बात निम्नलिखित उदाहरण से प्रकट है[३] :—

मद्यमेव रतो, मत्स्य मैथुन मांसभक्षणे
ते सर्वे नरकं यान्ति इति सत्यं यथा मम।

अर्थात् जो मद्य मत्स्य मांस मैथुन में लिप्त रहता है वह नरक को जाता है, मेरे यह वचन सत्य हैं।

इस मत में भावना को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। गोरक्ष संहिता नामक ग्रंथ में लिखा है जिसकी जैसी भावना होती है उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।[४]

कौल-ज्ञान मत में विविध धर्मों के बाह्य मिथ्याचारों की निन्दा की गयी है। गोरक्ष संहिता में एक स्थल पर लिखा है कि सब तीर्थ और आचार आदि कर्म, क्षेत्र पीठ का सेवन, पूजन, होम, दान, जप, नैवेद्य और संध्या आदि सब बाह्य-भावना के आगे महत्त्वहीन होते हैं।[५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मत्स्येन्द्रनाथ ने संत मत के लिए पूरी पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। यदि हम दोनों मतों की तुलना करें तो हमें निश्चय हो जायगा कि निर्गुण काव्य-धारा की सच्ची पृष्ठभूमि मत्स्येन्द्रनाथ का योगिनी कौल मार्ग ही है। उनकी दार्शनिक विचारधारा अथवा साधना क्रम और उनके पारिभाषिक शब्द संत कवियों में ज्यों के त्यों उपलब्ध होते हैं। हमारी अपनी दृढ़ धारणा है कि निर्गुण काव्य-धारा के संत जितने नाथपंथ की मत्स्येन्द्रनाथी धारा से प्रभावित हुए थे उतने गोरक्ष

[१] अनुभव प्रेम ग्रंथ पृ० ११।१४
[२] कौलज्ञान निर्णय—भूमिका पृ०
[३] कौलज्ञान निर्णय—भूमिका " ६३
[४] "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"—कौलज्ञान निर्णय, भूमिका पृ० ६७
[५] कौलज्ञान निर्णय—भूमिका पृ० ६५

नाथी धारा से नहीं हुए थे। इसका प्रमुख कारण यह है कि मत्स्येन्द्रनाथी धारा में भावना और मानसिक साधना पर ही विशेष बल दिया गया है। गोरखनाथ पर हमें हठयौगिक साधना का प्रभाव अधिक दिखलाई पड़ता है।

निर्गुण काव्यधारा पर मत्स्येन्द्रनाथी धारा के प्रभाव

संतों को नाथ पंथ की मत्स्येन्द्रनाथी धारा से पर्याप्त प्रेरणा मिली थी। मत्स्येन्द्रनाथी दर्शन शैव शाक्त अद्वैती दर्शन से मिलता-जुलता है। उन्हीं के सदृश ये लोग भी शिव में शक्ति को समवेत मानते हैं और शिव में जगत् के पूर्व अस्तित्व की कल्पना करके सत्कार्यवाद के प्रति आस्था प्रकट करते हैं। कहीं-कहीं पर कुछ संत लोगों ने इनसे मिलते जुलते भाव प्रकट किये हैं। पीछे हम संत सुन्दरदास[1] के दो उदाहरण उद्धृत कर चुके हैं, उनका पिष्टपेषण करना अनावश्यक है।

संतों का प्रभाव दिखाते समय हम संतों पर भावनावाद, कल्पनावाद, नाद बिन्दु साधना और कुल कुंडलनी साधना के प्रभावों का निर्देश कर चुके हैं। जिस प्रकार तांत्रिकों की कुल कुंडलनी और नाद बिन्दु साधना और मत्स्येन्द्रनाथियों की इन दोनों साधनाओं में किञ्चित् अंतर दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार संतों की कुल कुंडलनी एवं नाद बिन्दु साधना मत्स्येन्द्रनाथियों से थोड़ा भिन्न है। इसका स्पष्टीकरण योग के प्रसंग में करेंगे। यहाँ पर हम इतना ही कहना चाहते हैं कि संतों को इन साधनाओं की एक क्रमबद्ध परम्परा प्राप्त हुई थी। मत्स्येन्द्रनाथियों के अनुकरण पर ही संतों ने उन्मनी अवस्था सहजावस्था आदि के वर्णन भी किये हैं। उन्मनी अवस्था का वर्णन करते हुए दादू लिखते हैं[2]—

न घर भला न वन भला जहाँ नहीं निज नाँव।
दादू उन्मनि मन रहै भला न सोई ठाँव॥

उन्मनी अवस्था ही सहजावस्था होती है। यह परमात्मा ही सहज स्वरूप, सर्वव्यापी और तेज रूपी है। यह बात दादू के उद्धरण देकर हम शैव तांत्रिकों के प्रभावों के प्रसंग में स्पष्ट कर चुके हैं। मत्स्येन्द्रनाथियों की मन साधना को संतों ने अपना प्रमुख सिद्धांत अभिव्यंजित किया है। संत दरिया लिखते हैं—"मन के कारण ही संसार भ्रम में फँसा हुआ है। जो मन के रहस्य को जान लेता है वह बुद्धिमान है।"[3]

---

[1] सुंदरविलास पृ० ११६, १८वाँ अंग

[2] दादूबानी भाग १, पृ० २४

[3] मन पीछे सब जगत भुलाना।
मन चीन्हे सो चतुर सुजाना॥
दरिया सागर पृ० ३

दादू ने भी लिखा है—'मन कालुष्य को नष्ट देनेवाला है और वही कालुष्य का प्रक्षालन कर सकता है अतः उसी की साधना करनी चाहिए।'[1]

अपने पूर्ववर्ती तांत्रिक साधकों की भाँति मत्स्येन्द्रनाथी साधक लोग भी साधनाओं के निरंजक थे। संतों ने उसी परम्परा का अनुसरण किया था। मत्स्येन्द्रनाथी योगियों से निरंजन योगियों की परम्परा मिली थी। उन्हीं के अनुसरण पर संतों ने निरंजन योगियों का वर्णन किया है। जिस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथी साधक भावात्मक पूजा और साधना को महत्त्व देते थे उसी प्रकार संत लोगों ने भी साधना क्षेत्र में सभी प्रकार के साधनों और साधनाओं का मानसीकरण किया है। निरंजन योगियों के स्वरूप निर्देश से उपर्युक्त दोनों बातें स्पष्ट हो जायेंगी।[2]

जोगिया बैरागी बाबा, रहै अकेला उन्मनि लागा।
आत्मा जोगी धीरज कंथा, निश्चल आसण आगम पंथा॥
सहजै मुद्रा अलख अधारी अनहद सींगी रहणि हमारी।
काया वन खण्ड पायो चेला ज्ञान गुफा में रहै अकेला॥
दादू दरसन कारन जागे निरंजन नगरी भिक्षा माँगे॥

इसमें संदेह नहीं कि संत मत मत्स्येन्द्रनाथी विचारधारा से प्रभावित है।

गोरखनाथी धारा

परिचय—नाथपंथ की हठयोगी धारा के प्रवर्तक गोरखनाथ जी माने जाते[3] हैं। मत्स्येन्द्रनाथी और गोरखनाथी साधना पद्धति में एक बड़ा मौलिक अंतर दिखलाई पड़ता है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, मत्स्येन्द्रनाथ ने अपनी साधना में मानसिकता को बहुत अधिक महत्त्व दिया है और शारीरिक हठयोग को कम। इसके विपरीत गोरखनाथ ने साधना में मानसिकता को कम महत्त्व दिया है हठयोग को अधिक। जहाँ तक सदाचरण का सम्बन्ध है, इस पर दोनों ने ही बल दिया था। मत्स्येन्द्रनाथ की सदाचारनिष्ठा का संकेत ऊपर किया जा चुका है। गोरखनाथ जी ने सदाचरण विषयक रक्षा करने के लिए बाह्य आडम्बरविहीन मानव धर्म को

---

[1] मन ही सो मन ऊजलै मन ही सा मन धोई।
दादूबानी भाग १ पृ० ११४

[2] दादूबानी भाग २ पृ ६८

[3] दादू जी ने गोरखनाथ का अनुयायी संत माना है—
देखिए—संतदास, [illegible] और [illegible]—पृ० १११

दी गई एक कथा की ओर संकेत किया जा सकता है। कहते हैं कि एक पंथ के प्रधान आचार्य गोरखनाथजी जब वाममार्गी शक्तों के केन्द्र स्थान पहुँचे तो वहाँ भगवती की प्रचलित पद्धति के अनुसार उन्हें प्रसाद रूप में मद्य-मांसादि देना चाहा तो योगिराज ने उसे सविनय अस्वीकार कर दिया और भगवती से सात्त्विक प्रसाद की प्रतिष्ठा करवा ली।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि सदाचरणप्रियता की प्रतिष्ठा नाथपंथ की मत्स्येन्द्रनाथी और गोरखनाथी दोनों धाराओं में समान रूप से थी।

दार्शनिक सिद्धांत—गोरखनाथी धारा के दार्शनिक सिद्धान्तों के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। डा० रामकुमार वर्मा उनके अध्यात्म को शैव दर्शन से प्रभावित मानते हैं।[2] डा० मोहनसिंह ने उनके दर्शन पर उपनिषदों का प्रभाव निर्दिष्ट किया है।[3] डा० हजारीप्रसाद ने उसे बौद्ध और शाक्त मतों से अनुप्राणित सिद्ध करने की चेष्टा की है।[4] हमारी समझ में गोरखनाथी विचारधारा उपनिषद्, शैव, शाक्त और बौद्ध सभी विचारधाराओं से प्रभावित थी।

गोरखनाथी लोग वेद शास्त्रों में आस्था नहीं रखते थे। उन्होंने वेद दो प्रकार के बतलाये हैं—स्थूल और सूक्ष्म। उनके मतानुसार ब्राह्मण लोग अधिकतर स्थूल वेदों के अनुयायी होते हैं। सूक्ष्म वेद का प्रतीक उनकी दृष्टि में ओंकार या प्रणव है। ये लोग अपने को सूक्ष्म वेद का ही उपासक मानते हैं।[5]

गोरखनाथ ब्रह्मतत्त्व को द्वैताद्वैत विलक्षण मानने के पक्ष में थे। इस दृष्टि से वह नागार्जुन के अनुयायी कहे जा सकते हैं। उनके द्वारा वर्णित किया गया ब्रह्म द्वैताद्वैत विलक्षण रूप देखिए—

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसति अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर में बालक बोले, ताका नाँव धरौगे कैसा ॥[6]

उनका यह द्वैताद्वैत विलक्षण ब्रह्म संभवतः शब्दरूपी था। उन्होंने सर्वत्र शब्द की

---

[1] योग सम्प्रदायाविष्कृति—१८वाँ अध्याय

[2] हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा पृ० १४१

[3] देखिए—डा० मोहनसिंह रचित 'गोरखनाथ और मेडिवल मिस्टीसिज्म'

[4] नाथ सम्प्रदाय पृ० ५२

[5] नाथ सम्प्रदाय पृ० ११५

[6] गोरखबानी संग्रह पृ० १०

किया है। वह शब्द को ही सर्वस्व और अद्वैतरूप मानते थे। उन्होंने कहा है[1]—

सब्दहि ताला सब्दहि कूँची, सब्दहि सब्द समाया
सब्दहि सब्द स परचा भया सब्दहि सब्द समाया।

इनकी मुक्ति सम्बन्धी धारणा भी अपनी अलग है। नाथ स्वरूप में लय होने को ही वह अपनी मुक्ति मानते हैं। इनकी दृष्टि में नाथ ही एकमात्र मुक्त आत्मा है, शेष सभी आत्माएँ [illegible] होने से बन्धन में हैं।

साधना पद्धति—नाथपंथ में हठयौगिक साधना को भी अधिक महत्त्व दिया गया है। हठयौगिक साधना में कोई साधक तब तक सफलता नहीं प्राप्त कर सकता जब तक उसे सुयोग्य गुरु न मिले। इसीलिए इस पंथ में गुरु को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है।

गुरु साधक शिष्य को आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का उपदेश करता है। यह बात गोरक्षशतक के इस श्लोक से स्पष्ट है—

'आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥'[2]

उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट है कि गोरखनाथ अष्टांग योग के स्थान पर षडङ्ग योग के अनुयायी अधिक होते हैं। यम, नियम को उन्होंने विशेष महत्त्व नहीं दिया है। वास्तव में यम नियम योग की प्रारम्भिक भूमिका मात्र है। वस्तुतः हठयोग के साधन आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार माने जाते हैं। ध्यान, धारणा और समाधि राजयोग के अंग हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि गोरखनाथ ने अपनी साधना-पद्धति में हठयोग और राजयोग दोनों का विधान भी किया था। यद्यपि उन्होंने यम और नियम का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु अपने उपदेशों में [illegible] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी[3] ने अपने नाथ सम्प्रदाय में गोरखनाथ के [illegible] दोहों का संग्रह किया है। उन्होंने अनेक इन्द्रियनिग्रह की साधना का [illegible] प्रतिपादन किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी यौगिक साधना त्रिस्तरीय थी—(१) इन्द्रिय निग्रह, (२) प्राण-साधना, (३) मन साधना।

[1] गोरखबानी, सबद ५० ८
[2] गोरक्षशतक श्लोक
[3] [illegible]—नाथ सम्प्रदाय—पृ० १८३ १८६

(१) इन्द्रिय-निग्रह—इन्द्रिय निग्रह का आधारभूत पक्ष बिन्दु-रक्षा है। बिंदु-रक्षा तभी हो सकती है, जब स्त्रियों से विरक्त रहा जाये। इसीलिए गोरखनाथ ने स्त्रियों की निंदा की है। क्योंकि वे ही साधक को बिंदु-रक्षा से विरक्त करती हैं। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है[1]—

> "भुगिया सूवे अजहु न जागे, भोग नहीं रे रोग अभागे।
> भुगिया को मत भोग हमारा, मन दूस नारी किया तन छारा॥"

(२) प्राण-साधना—प्राण साधना के अन्तर्गत आसन प्राणायाम और प्रत्याहार विचारणीय हैं। आसन शरीर को यौगिक स्थितियों को कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने चौरासी लाख आसनों का उल्लेख किया था। उनमें चौरासी सबसे प्रसिद्ध माने जाते हैं। उनमें सिद्धासन और कमलासन सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। ज्ञान प्राप्त कर लेने पर साधक को षट्चक्र, षोडश, आधार, तीन लाख नाड़ियों की साधना और पाँच व्योमों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और अपनी काया का शोधन करना चाहिए। गोरक्षशतक में यही बात निम्नलिखित श्लोकों में व्यक्त की गयी है[2]—

> (क) "षट्चक्रं षोडश आधारं त्रिलक्ष्यं व्योम पंचकम्।
> स्वदेहे योन न जानाति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥"
> (ख) "एक स्तंभ नव द्वारं ग्राम पंचधी दैवतम्।
> स्वदेहे योन जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥"

इन सबका ज्ञान प्राप्त करने के बाद योगी को कुंडलनी शक्ति का उत्थापन करना चाहिए। कुंडलनी शक्ति को वायु के द्वारा उत्थापित किया जाता है।[3] वायु दस बतायी गई हैं—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय।[4] वे शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में निवास करती हैं। इनकी साधना से कुंडलनी शक्ति परिचालित की जानी चाहिए। वायु साधना के लिए अजपाजाप आवश्यक होता है। अजपाजाप के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए गोरक्षशतक में लिखा है—[5]

---

[1] गोरखबानी सबद, पृ० ११८
[2] गोरक्षशतक १३, १४
[3] ,, ,, ७६
[4] ,, ,, ११
[5] ,, ,, ३२, ३३, ३४

'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशति पुनः ।
हंसं सेत्यमुना मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ॥'
'षट्शतानि अहोरात्रे सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितम् जीवो जपति सर्वदा ॥
अजपानाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः संकल्प मात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

अर्थात्—जब वायु 'ह' ध्वनि करती हुई बाहर जाती है और 'स' ध्वनि करते हुए अन्दर जाती है तब उसे हंस मंत्र कहते हैं। एक दिन और रात्रि में इक्कीस हजार मंत्रों का जाप अजपा गायत्री के नाम से प्रसिद्ध है। इस अजपाजाप में किसी प्रकार का शब्दोच्चारण नहीं होता है। श्वास के आवागमन की ध्वनि ही इस मंत्र का उच्चारण मानी जाती है।

कुंडलिनी साधना में गोरखनाथ ने मुद्राओं को भी बड़ा महत्त्व दिया था। प्रसिद्ध मुद्राएँ महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान, जालंधर और मूलबंध कही गई हैं।[1] इन मुद्राओं की साधना करके साधक अनेक सिद्धियों को प्राप्त कर अमर और अजर हो जाता है। मोक्षपंथ में प्राणायाम का भी बड़ा महत्त्व है। उनमें लिखा है कि जब तक वायु चलायमान रहती है तब तक बिन्दु भी चलायमान रहता है। वायु के स्थिर हो जाने पर बिन्दु भी स्थिर हो जाता है। जब प्राणवायु शरीर में स्थिर कर ली जाती है तब मृत्यु का भय नहीं रहता है।[2] प्राण बाएँ और दाहिने नथुने से बत्तीस अंगुल आगे जाता और आता है। इसीलिए इसे प्राण कहते हैं।[3] प्राण साधना के लिए गोरखनाथ ने नाड़ी शोधन को आवश्यक बताया है। नाड़ी-शोधन कर लेने पर साधक को पद्मासन से बैठकर बाएँ नथुने से सांस खींचकर रोकनी चाहिए। उसके बाद उसे दाहिने नथुने से निकाल देना चाहिए। इसमें चन्द्रमण्डली ज्योति का ध्यान करते हुए साधक को साधना करनी चाहिए। इसी प्रकार साधक को दाएँ नथुने से सांस खींचकर उदर में भरनी चाहिए और बाद में उसे बाएँ नथुने से निकाल देना चाहिए। इस बार उसे नाभिस्थल पर स्थित सूर्य पर सूर्य की प्रचंड ज्योति पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करते-करते नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं।[4] गोरखनाथ ने ध्यानयोग का

[1] गोरक्ष शतक ५०
[2] " " ९१, ९२
[3] " " ९४
[4] " " ९५-९६-९७

भी वर्णन किया है। गोरक्षशतक में एक स्थल पर लिखा है कि साधक को पद्मासन से बैठकर शरीर और गर्दन को सीधा करके एकांत स्थल में नासाग्र पर दृष्टि केन्द्रित करके ओम् का जाप करना चाहिए।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि गोरखनाथ ने प्राण-साधना पर विशेष बल दिया है।

मन साधना—गोरखनाथ ने मन साधना का भी उल्लेख किया है। संसार की विविध मायिक प्रवृत्तियों से मन को खींचकर उसको ध्यान में अंतःकरण की ओर मन को उन्मुख करना चाहिए। मन को उलटने की इस प्रक्रिया को विपर्यय या उल्टी चाल कहा जाता है।" देखिए गोरखनाथ की निम्नलिखित पंक्तियों में मन साधना को स्पष्ट रूप से संकेतित किया गया है।[2]

यह मन सकती यह मन सीव।
यह मन पाँच तत्त्व का जीव॥
यह मन ले उनमनि रहै।
तो तीन लोक की बाता कहै॥

मन साधना का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग 'उल्टी चाल' 'विपर्यय' मन के उलटने की प्रक्रिया है। हो सकता है कि उलटवासियों की परम्परा को इस उल्टी चाल से भी कुछ प्रेरणा मिली हो।

इन्द्रिय निग्रह से आसन, प्राण साधना से प्राणायाम और मन साधना से प्रत्याहार सिद्ध होते हैं। इनके सिद्ध होने पर साधक नाड़ी शोधन और कुण्डलनी जागरण के मार्ग पर अग्रसर होता है। कुंडलनी जागरण प्रक्रिया के अंतर्गत ही षट्चक्र भेदन का प्रसंग आता है। इन सबमें नाथपंथी साधना में विशेष बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त उसमें अजपाजाप की भी बड़ी मान्यता है। नाथपंथियों में शब्द सुरति योग के बीजाणु भी मिलते हैं। अनाहत शब्द योग वह नाद कुण्डलनी जागरण की पूर्वावस्था में सुनाई पड़ता है। प्रारम्भिक अवस्थाओं और विविध प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। नाथपंथियों की समस्त साधना पद्धति का लक्ष्य सहस्रार में स्थित चन्द्ररस अमृत का पान करना होता है। उस अमृत सरोवर का वर्णन गोरखनाथ ने औंधे कुएँ के प्रतीक से किया है। उस औंधे के अमृत का पान सद्गुरु ही कर सकता है।[3]

---

[1] गोरक्षशतक ८३
[2] " सं० पृ० १८
[3] नाथपंथ में योग—डा० कृष्णदास अग्रवाल गोपाल से उद्धृत

"गगन मण्डल में औंधा कुआँ तहँ अमृत का वासा।
सगुरा होय सो भर भर पिया निगुरा जाय पियासा॥"

इस अमृत का पान करके ही सांसारिक माया-मोह पाश से मुक्त हो जाता है। नाथ का वास्तविक अर्थ भी यही है। इस अमृत का पान करने के लिए वैराग्य भी बड़ा आवश्यक होता है। इस वैराग्य की प्राप्ति गुरुकृपा से ही होती है। नाथपंथ की इस साधना पद्धति का विस्तृत वर्णन संतों की योग साधना के प्रसंग में किया गया है इसीलिए हमने उन सबका यहाँ संकेत मात्र किया है।

नाथपंथियों की भाषा और अभिव्यक्ति भी विशेष विचारणीय है। संत लोग उससे भी बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। नाथपंथी संतों की भाषा की चार प्रमुख विशेषताएँ हैं—

(१) उसमें योग के पारिभाषिक प्रतीकों की अधिकता।

(२) भाषा में साधना पक्ष की अभिव्यक्ति करने का एक विशेष ढंग है।

(३) उसमें शब्दों के तोड़ने मरोड़ने की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है, जैसे जिन्दगी के लिए "जिंद" शब्द प्रयुक्त किया गया है।

(४) किसी एक स्थान की भाषा नहीं है। उसमें विविध स्थानों की भाषा के चिह्न मिलते हैं।

नाथपंथी साधुओं की वेशभूषा भी एक विशेष प्रकार की होती है। इनमें कान फड़वाकर कुंडल पहनने की प्रथा है। इसीलिए इन्हें 'कनफटा' भी कहते हैं। इनके अतिरिक्त वे किंगरी, मेखला, सींगी, जनेऊ, धंधारी रुद्राक्ष, अधारी, गूदड़ी, खप्पर और झोला आदि भी धारण करते हैं। 'किंगरी' एक प्रकार का बाजा होता है। 'मेखला' मूँज की रस्सी का कटिबन्ध कहलाता है। 'सींगी' हरिण की सींग से बना हुआ एक बाजा होता है। यह लोग एक प्रकार का जनेऊ भी धारण करते हैं इसी को सेली भी कहते हैं। यह काली भेड़ के ऊन का बना होता है। मिश्र का कहना है कि कुमायूँ के योगी सूत का जनेऊ भी धारण करते हैं।[1] इसी सूत में एक पवित्री भी बँधी रहती है। यह हरिण के सींग, पीतल और सोना आदि की बनी रहती है। इसमें एक रुद्राक्ष की मनिका भी लटकी रहती है। 'धंधारी' एक प्रकार का यंत्र होता है। लकड़ी या लोहे की शलाकाओं से चक्र के रूप में बना रहता है। उसके बीच में एक छिद्र रहता है। इस छेद में एक डोरी डाल दी जाती है। फिर मंत्र पढ़कर उसे निकाला जाता है। यही धंधारी गोरख धंधा है। 'अधारी' काठ के डंडे से लगा हुआ एक काष्ठ का टुकड़ा होता है। इनके

---

[1] गोरखनाथ और कनफटा योगी मिश्र पृ० ११

गेरुए वस्त्र को गूदड़ी कहते हैं। झाड़-फूँक करने के लिए एक डंडा होता है। खप्पर—मिट्टी के घड़े के आधे भाग को खप्पर कहते हैं। योगी लोग शरीर में भस्म लगाते हैं और बाहु मूल पर त्रिपुण्ड लगाया करते हैं।

निर्गुण काव्यधारा पर गोरखनाथी धारा के प्रभाव

संत लोगों का नाथपंथियों से सीधा सम्बन्ध है। संतों की विचारधारा पर उनका अद्भुत्स्व प्रभाव पड़ा है। मेरी तो अपनी धारणा यहाँ तक है कि संतमत नाथपंथ का ही परिवर्तित, विकसित और परिष्कृत रूप है। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति उनकी नाथपंथी प्रवृत्ति की अनुगामिनी है। अंतर केवल इतना है कि संतों की विचारधारा अन्य दर्शनों से भी प्रभावित है जिससे उसका स्वरूप नाथपंथ से विलक्षण लगने लगा है।

नाथ सम्प्रदाय के अध्यात्म पक्ष का पूरा-पूरा प्रभाव संतों पर दिखलाई पड़ता है। नाथपंथी ब्रह्म को द्वैताद्वैत विलक्षण मानते थे। उन्हीं के अनुकरण पर संतों ने भी बहुत से स्थलों पर द्वैताद्वैत विलक्षण कहा है। संत दरिया साहब ने लिखा है—"वह परमात्मा सगुण निर्गुण दोनों से विलक्षण निर्मल सत स्वरूप है।"[1] नाथपंथियों के शब्दवाद का भी पूरा-पूरा प्रभाव संतों पर परिलक्षित होता है। जिस प्रकार नाथपंथी लोग शब्द को ही सर्वस्व मानते थे, उसी प्रकार संतों ने भी वहीं शब्द को ही सर्वस्व व्यक्त किया है।[2]

नाथपंथी मन को शून्य में लीन करने को ही मुक्ति मानते हैं। उन्हीं का अनुकरण करते हुए संतों ने भी शून्य में मन के लय को ही मुक्ति व्यक्त किया है। संत दादू लिखते हैं—"चेतन जीव शून्य से उत्पन्न होता है और अंत में मुक्ति प्राप्त करने पर उसी में लीन हो जाता है।"[3]

नाथपंथी साधना से तो संत लोग बहुत अधिक प्रभावित हुए ही थे। संतों की हठयोग साधना नाथपंथी साधना का ही रूपान्तर है। नाथपंथियों की ही भाँति संत लोग गुरु को महत्व देते थे। गुरु के महत्व की ओर संकेत करते हुए दयाबाई

---

[1] निर्गुण सगुण सुमन्न ते न्यारा।
सत स्वरूप दोहि विमल सुधारा॥ दरिया सागर पृ० ५७

[2] दरिया सागर पृ० ८ पंक्ति ३ व ५

[3] सुन्नहि मारग आइया सुन्नहि मारग जाय।
चेतन पैंडा सुरति का दादू रहौ ल्यौ लाय। संत सुधासार पृ० ४६९

ने लिखा[1] है '—गुरु देवाधिदेव भगवान होता है। उसका गौरव और रहस्य सरलता से नहीं समझा जा सकता।'

गोरखनाथी साधना के तीनों तत्त्व—प्राणसाधना, इन्द्रियसाधना और मन साधना सन्तों के प्रमुख साधन थे। प्राणसाधना के अन्तर्गत कुंडलनी शोधन, नाड़ी शोधन, स्वर शोधन, नादानुसन्धान, अष्टांगयोग, हठयोग, वायुसाधना, [illegible] आदि सैकड़ों विषयों का समावेश माना जाता है। संतों की योगसाधना के अन्तर्गत इन सबका विस्तार से उल्लेख किया जायेगा यहाँ पर विस्तार करना अनुपयुक्त मालूम पड़ता है।

इन्द्रियजय के सिद्धान्त को सन्तों ने अपना प्रमुख मन्तव्य बनाया था। सिद्धान्त रूप में कही हुई उनकी जितनी उक्तियाँ हैं, उनमें सदाचार एवं इन्द्रियजय तथा मिथ्याचारों का खण्डन मिलता है। उदाहरण रूप में सन्त दादू की निम्नलिखित उक्ति ले सकते हैं—'भेष रचाने भेष से प्रसन्न नहीं होता अतः उसके लिए प्रेम से रहना चाहिए; जो दुराचारी विविध प्रकार के भेष बनाकर रहते हैं तथा शील और सत्य का आचरण नहीं करते उनसे परमात्मा प्रसन्न नहीं होता है।'[2] इस प्रकार की सैकड़ों उक्तियाँ सन्तों में पाई जाती हैं।

नाथपंथियों की मनसाधना का सिद्धान्त संतों को बहुत प्रिय था। उन्हीं के ढंग पर उन्होंने सर्वत्र मन के महत्त्व और उसके परिष्करण पर बल दिया है। सन्त हरिदास ने लिखा है[3]—'मन के पीछे सारा जगत् भ्रमित है जो मन के रहस्य को समझ लेता है वही बुद्धिमान् है।' एक दूसरे स्थल पर उन्होंने पुनः लिखा है[4]—'मन ही नियम और आचारों का पालन कराता है और मन ही मन को पूजा चढ़ाता है।' इस प्रकार संतों ने सैकड़ों बार सैकड़ों प्रकार से मन के महत्त्व और उसके परिष्करण का संकेत दिया है। विस्तारभय से सबका उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

---

[1] गुरु है देवन के देवा गुरु को कछु नहिं आवत भेवा।
सतगुरु अगम रहस्य है समुझाय मत काम ॥ दयाबाई की बानी पृ० २

[2] भेष न रीझे मेरा निज भरतार।
तातें पीठै प्रानि विचार ॥
दुराचारि रचि भेष बनावै।
शील साच नहि पिव क्यों पावै ॥ दादूबानी भाग २, पृ० ११

[3] मन के पीछे सब जग भरमाया।
मन चीन्हें सो चतुर सुजाना ॥ हरिदास बा० पृ० ९

[4] मन ही नेम अचार कराई मन ही मन को पूजा चढ़ाई। हरिदास बानी पृ० १०

कहीं-कहीं संतों ने नाथपंथियों की तीनों साधनाओं के प्रति एक साथ मान्यता प्रकट की है। संत दादू लिखते हैं[1]—

"तन मन पवना पंच गहि निरंजन ल्यौ लाय।
जहाँ आतम तहाँ परमात्मा दादू सहज समाय॥"

संतों पर नाथपंथी भाषा और अभिव्यक्ति का भी बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है। कबीर आदि संत तो उससे इतना अधिक प्रभावित हुए थे कि कहीं-कहीं पर उन्होंने शब्द, वाक्यांश, वाक्य, यहाँ तक कि पूरे पद ज्युँ-के-त्युँ ले लिये हैं। उदाहरण रूप में हम यहाँ पर निम्नलिखित पद दे रहे हैं। यह वाणी गोरख और कबीर में समान रूप से पाई जाती है।[2]

"यहु मन सकती यहु मन सींव यहु मन पाँच तत्त्व को जीव।
यहु मन लै उन्मनि रहै तो तीन लोक की बाता कहै॥"

संतों की पारिभाषिक शब्दावली लगभग पच्चीस प्रतिशत नाथपंथियों से ही ली गई है। संतों के किसी शब्द का अर्थ यदि समझ में न आये तो उसकी खोज सबसे पहले नाथपंथी साहित्य में करनी चाहिए।

संत लोग नाथपंथी योगी के स्वरूप से भी पूर्णतया परिचित थे। कबीर आदि संतों ने उनके इस स्वरूप का वर्णन या तो विविध पंथों के साधुओं के वेषाडम्बर की आलोचना के प्रसंग में किया है या फिर उसका मानसीकरण करने का प्रयास किया है। नाथपंथी साधु के वेषाडम्बर के प्रति उपेक्षा भाव प्रकट करते हुए कबीर लिखते हैं—[3]

बाबा जोगी एक अकेला जाके तीरथ बरत न मेला।
झोली पत्र विभूति न बटुवा अनहद बेन बजावै॥ इत्यादि

इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर नाथपंथी योगी का भावात्मक स्वरूप चित्रित किया गया है।[4]

सो जोगी जाके मन मुद्रा राति दिवस न करई निद्रा।
मन में आसण मन में रहणा मन का जप तप मन सूँ कहणा॥
मन में खपरा मन में सींगी अनहद बेन बजावै रंगी।
पंच परजारि भसम करि भूका कहै कबीर सो लहसै लंका॥

---

[1] दादूबानी भाग १ पृ० ८८
[2] गोरखबानी सबद पृ० १८ तथा संत कबीर प० ८२
[3] क० ग्र पृ० १५८ (११२८)
[4] क० ग्र० पृ० १५८ (११२८)

यहाँ पर नाथ सम्प्रदाय के प्रभावों का उल्लेख बहुत संक्षेप में किया गया है। सच तो यह है कि दोनों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक नई थीसिस लिखने की आवश्यकता है। नाथ सम्प्रदाय का पूरा ज्ञान हुए बिना निर्गुण विचारधारा को समझना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही है।

संतों पर इस्लाम धर्म की छाया

प्रभाव की सीमाएँ—मध्य युग में हिन्दू और बौद्ध धर्म के बाद इस्लाम धर्म की ही मान्यता और प्रतिष्ठा थी। शासक वर्ग का धर्म होने के कारण उसका प्रचार व प्रसार और भी अधिक बढ़ा। शासक वर्ग का धर्म शासित वर्ग को किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित करता है। यद्यपि संत लोग सब प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक बंधनों से मुक्त थे। किन्तु फिर भी वे अपने युग की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की उपेक्षा नहीं कर सके। यह अवश्य है कि उन पर इस्लाम का प्रत्यक्ष और गहरा प्रभाव दिखलाई नहीं पड़ता। इस्लाम एक आस्था प्रधान धर्म है उसमें बुद्धिवादिता का कोई स्थान नहीं है। इसके विपरीत संत मत की आधारभूमि बुद्धिवादिता रही है। संतगण ऐसी कोरी आस्था में जो अंधविश्वास की सीमा तक पहुँच गयी थी, विश्वास नहीं करते थे। इसीलिए उन्होंने कोरी आस्था प्रधान इस्लाम धर्म का महत्व हृदय से नहीं स्वीकार किया। इस्लाम धर्म का जो कुछ प्रभाव उन पर दिखाई पड़ता है वह अधिकतर सत्संगागम, संस्कार जनित और वातावरण मूलक है।

सत्यनिष्ठा—इस्लाम धर्म के संबंध में बहुत से अन्य धर्म वालों का विश्वास है कि वह सत्यनिष्ठ धर्म नहीं है। वास्तव में यह विश्वास भ्रमपूर्ण है। विश्व के प्रत्येक धर्म की प्रतिष्ठा सत्य और सदाचार की नींव पर ही की गयी है। इस्लाम इसका अपवाद नहीं है। उसमें जो प्रत्यक्ष दोष दिखलाई पड़ते हैं उनके उत्तरदायी उसके अनुयायी हैं वह स्वयं नहीं। कुरान में लिखा है कि सच्चा मुसलमान वही है जो सदा सत्य मार्ग की तलाश में रहता है।[1] अमीर अली साहब ने इस्लाम का अर्थ ही सत्यनिष्ठ माना है।[2] इस्लाम धर्म की सत्यनिष्ठा से भी संत कवियों ने यदि प्रेरणा ग्रहण की हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

दीन—इस्लाम का सबसे महत्वपूर्ण रूप दीन कहलाता है। इसे हम इसका आचार पक्ष कह सकते हैं। दीन के अंतर्गत चार अंगों को सबसे अधिक महत्व

---

[1] कुरान अध्याय ११।१४

[2] दि स्पिरिट आफ इस्लाम पृ० २२६ (१८९१ संस्करण)

दिया गया है—रोजा,[1] नमाज[2], जकात[3] और हज्ज[4]। सच्चे मुसलमान को चारों का बड़ी श्रद्धा के साथ पालन करना पड़ता है। कुरान शरीफ में इनसे सम्बन्धित विशेष नियम दिये गये हैं। विविध धर्मों के आडम्बर पक्ष का विरोध करनेवाले निर्गुणियाँ संत इस्लाम धर्म के दीन-पक्ष के विशेष नियमों से विशेष सहमत नहीं थे। उन्होंने उनके मानसिक पक्ष पर ही बल दिया है। यही उनकी मौलिकता थी। नमाज के लिए वे किसी समय विशेष को आवश्यक नहीं मानते थे। किसी दिशा विशेष की अभिमुखता भी उनके लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती थी। देखिए संत दादू ने भावात्मक नमाज का कैसा सुन्दर वर्णन किया है।[5]

(दादू) दीन हजूरी दिल ही भीतर, गुस्ल हमारा सारं।
ऊजू साजि अलह के आगे, तहाँ निमाज गुजारं॥

(दादू) काया मसीत करि पंचजमाती, मन ही मुल्ला इमामं।
आप अलेख इलाही आगे तहं सिजदा करै सलामं॥ इत्यादि

नमाज के सदृश ही इन्होंने रोजा, जकात और हज्ज के मानसिक पक्ष पर ही बल दिया है। उनका विश्वास था कि जिसका मन और हृदय पवित्र है वही सच्चा धार्मिक है। चरनदास जी ने लिखा है[6] कि हे मानव तू अपने घट में ही तीर्थों की खोज क्यों नहीं करता है, तू व्यर्थ ही तीर्थों की खोज में इधर-उधर घूमकर अपना जीवन गँवा देता है। तुझे सुमति रूपी गोमती को पहचानना चाहिए और उसमें स्नान करके अपने पापों को दूर करना चाहिए। इसी प्रकार शील के सरोवर में स्नान करके संत को अपनी कामाग्नि बुझानी चाहिए—इत्यादि-इत्यादि। तीर्थों के सम्बन्ध में कही गयी चरनदास जी की यह बात हज्ज के सम्बन्ध भी लागू है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों ने इस्लाम के दीन के मानसिक पक्ष को ही महत्त्व दिया है। उसके बाह्य पक्ष का पालन वह आवश्यक नहीं मानते थे।

---

[1] कुरान शरीफ २।१८२
[2] " २३।८, १०, ११, १५
[3] " ९।११
[4] " ११।१६९
[5] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ
[6] घट में तीरथ क्यों न नहावो।
इत उत डोलो पथिक बने ही, भरमि भरमि क्यों जन्म गवांयो॥
गोमती धर्म सुकारज कीजै, अधरम मैल छुड़ावो॥
सील सरोवर दिलकरि नहैये, काम अगिनि की तपन बुझावो॥

ईमान—दीन के अतिरिक्त इस्लाम में ईमान को भी बहुत महत्त्व दिया गया है। ईमान के अंतर्गत दो बातें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं—एक ईश्वर में आस्था और दूसरी पैगम्बर में विश्वास। इन दोनों का संकेत करते हुए कुरान शरीफ में लिखा है 'कि सच्चा आस्तिक वही है जो एक अल्लाह[1] और उसके पैगम्बर के अतिरिक्त और किसी में विश्वास नहीं करता।' ईमान के इन दोनों प्रमुख तत्त्वों का महत्त्व प्रतिपादन पृथक्-पृथक् रूप से भी किया गया है। एक ईश्वर के सम्बन्ध में उसमें लिखा है, तुम्हारा ईश्वर एक है और उसके अतिरिक्त और कोई दूसरा ईश्वर नहीं है।[2] वह बहुत ही कृपालु और दयालु है। इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर लिखा है कि वास्तव में तुम्हारा ईश्वर एक है। वही आकाश और पृथ्वी का स्वामी है। कुरान शरीफ में इस एक ईश्वर की बहुत सी विशेषताएँ भी अंकित की गई हैं। इन विशेषताओं में से सर्वज्ञता[3], ज्ञान विशिष्टता[4], शक्तिमत्ता, स्वेच्छाकारिता[5], क्षमाशीलता[6], दण्डक्षमता[7] आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। कुरान शरीफ में उसका नूर रूप भी कहा गया है। उसके इस नूरवाद का प्रमुख रूप संत कवियों पर भी दिखाई पड़ता है। कबीर[8], दादू[9] आदि ने अनेक स्थलों पर इस नूर की झाँकी सजाई है। नूरवाद के अतिरिक्त संतों पर एकेश्वरवाद की छाया भी दिखलाई पड़ती है। किन्तु उनका एकेश्वरवाद शुद्ध इस्लामी बहुत कम रह पाता है। भारतीय अद्वैतवाद के सम्मिश्रण से वह वैदिक एकेश्वरवाद में परिणत हो गया है। संत कबीर[1] की निम्नलिखित पंक्तियों में इसी अद्वैत मिश्रित एकेश्वरवाद की झाँकी सजी हुई है।

हम तो एक एक करि जानां
दोइ कहै तिनही कौं दोजग, जिन नाहिंन पहिचाना ॥टेक॥
एकै पवन एक ही पानीं, एक जोति समाना ।

---

[1] कुरान शरीफ २९।३५
[2] " २।१५८
[3] " २२।२२
[4] " २२।८
[5] " १७।४, २२
[6] " ५
[7] " ६।१०५
[8] एक नूर तें सब जग उपज्या कौन भले को मंदे क० ग्र० पृ० ११८
[9] नूर तेज का सेहरा दादू नर पहरैया। दादूबानी भाग २ पृ० १३१
[1] क० ग्र० पृ० १०५

एकही खाक घड़े सब भाँडे, एक ही सिरजन हारा ॥
निरभै भया कछू नहीं व्यापै, कहै कबीर दिवाना ॥

एकेश्वरवाद के तरह ही संतों पर पैगम्बरवाद की भी कहीं-कहीं हल्की छाया दिखलाई पड़ जाती है। किन्तु सिद्धान्त रूप से उन्होंने उसके प्रति आस्था नहीं प्रकट की है।

साम्यवाद—इस्लाम धर्म की आधारभूत विशेषता साम्यवाद है। उनके यहाँ धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से सभी बराबर समझे जाते हैं। वर्णव्यवस्था संबंधी प्रत्यक्ष भेद-भाव उनमें नहीं मिलता है। अपनी अंतिम तीर्थयात्रा करते समय मोहम्मद साहब ने अपने अनुयायियों को उपदेश दिया था।[1] सभी मुसलमान आपस में भाई-भाई होते हैं। उन्हें अन्याय से अपनी रक्षा करनी चाहिए। जो गुलाम भी अपराध करते हैं उनके प्रति भी भाई जैसा व्यवहार करना चाहिए। संतों पर इस्लाम के सामाजिक और धार्मिक साम्यवाद का पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। वे लोग मुसलमानों के तरह ही पारस्परिक भेदभाव वर्णव्यवस्था आदि में विश्वास नहीं करते थे। उनके सामाजिक विचारों का विश्लेषण करते समय इस कथन की सत्यता प्रकट की जायेगी।

नियतिवाद—इस्लाम एक नियतिवादी धर्म है। मुसलमानों का विश्वास है कि ईश्वर के समस्त कार्य, समस्त घटनायें और समस्त व्यापार पूर्व निश्चित रहते हैं। उनमें कोई भी किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं ला सकता। इस्लाम के इस भाग्यवाद की छाया भी संतों पर पड़ी थी। एक स्थल पर संत दादू[2] ने लिखा है—रे मनुष्य तू व्यर्थ ही दुखी होता है। होगी वही है जो कुछ ईश्वर ने निश्चित कर रखा है।[1] इसी प्रकार संत कबीर[3] ने लिखा है। "ईश्वर ने जिसके लिए जो कुछ लिखा बना दिया है उसको वही उतना ही प्राप्त होता है। उसमें से न तिल भर बढ़ सकता है और न रत्ती भर घट सकता है। संत पलटूदास[4] ने भी भाग्यवाद का समर्थन

---

[1] [illegible] इस्लामिक [illegible]—[illegible] पृ० १०१

[2] दादू बाझी-बाझी [illegible], जो कुछ रचिया राम।
[illegible] दुखी होत [illegible] ॥ (संत सुधासार पृ० ४८८)

[3] [illegible] लेख [illegible] लेख होय।
[illegible] ॥ [illegible] भाग १ पृ० ११७

[4] [illegible] होनहार की बात।
होत सोई जो होनहार है [illegible] ॥ इत्यादि
पलटूदास की बानी भाग १ पृ० ४०

करते हुए लिखा है—'साधुओ, होता वही है जो होने के लिए निश्चित हो चुका है। उसमें कोई किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं ला सकता।'

संतों की प्रतिष्ठा—इस्लाम धर्म में साधु संतों की भी बड़ी प्रतिष्ठा रही है। अलगजाली के समय से सूफी मुसलमानों में संतवाद का प्रचार बहुत बढ़ गया था। ये लोग संतों को ईश्वर का समीपवर्ती समझते थे। इस्लाम के इस संवाद ने भी संतों को कुछ न कुछ प्रेरणा अवश्य प्रदान की होगी। इस्लाम में त्याग और वैराग्य का भी बहुत महत्त्व है। कुरान शरीफ में लिखा है—"तुम्हें यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि सांसारिक जीवन एक प्रवञ्चना है। धन और संतान की वृद्धि ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार वर्षा के बाद वनस्पति उग आती है और उसे देखकर कृषक प्रसन्न होते हैं किन्तु वह वनस्पति क्षणिक होती है। वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। इसी वनस्पति की तरह सांसारिक वैभव को देखकर जीव प्रसन्न होता है किन्तु वह वैभव है क्षणिक ही।[1] इस्लाम के इस त्याग और वैराग्य प्रधान नश्वरतावादी दृष्टिकोण ने भी संतों की विचारधारा को बल प्रदान किया था। उनकी बानियों में सर्वत्र त्याग और वैराग्य विशिष्ट नश्वरतावाद की झलक दिखाई पड़ती है। संत कबीर का उपदेश है,[2] 'यह संसार सेंबर के फूल के सदृश आकर्षक प्रतीत होता है पर मूल में उसी की भाँति निस्सार है। इस क्षणिक संसार के व्यवहार में जीव को भ्रमित नहीं होना चाहिए।' इसी प्रकार दयाबाई[3] ने लिखा है कि 'यह संसार तुहिन-बिंदु के सदृश है। जिस प्रकार तुहिन-बिंदु पल भर में नष्ट हो जाता है उसी प्रकार यह भी नश्वर है। अतएव जीव को भगवान् की दया में विश्वास करना चाहिए।'

कर्मवाद—इस्लाम एक कर्मवादी धर्म है। इस धर्म के अनुयायियों का दृढ़ विश्वास है कि जो जैसा करता है उसे वैसा फल भोगना पड़ता है कुरान शरीफ में लिखा है कि प्रत्येक मनुष्य के कर्मों का लेखा उनके गले से बँधा रहता है। क़यामत के दिन उन कर्मों के अनुसार उसे फलाफल मिलता है। इस्लाम के इस विश्वास की अभिव्यक्ति भी संतों में मिल जाती है। उदाहरण के रूप में संत सुन्दरदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं।[4]

---

[1] कुरान ६।२१

[2] यहु ऐसा संसार है, जैसा सेंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार कौं, झूठे रंगि न भूलि ॥ कबीर ग्रन्थावली पृ० २१।

[3] जैसो मोती ओस को, तैसा यह संसार,
बिनस जाय छिन एक में, दया प्रभू उर धार (संत सुधासार पृ० २१)

[4] सुन्दरविलास पृ० ११

एकही खाक गढ़े सब भाँडे, एक ही सिरजन हारा ॥
निरभै भया कछू नहीं व्यापै, कहै कबीर दिवानां ॥

एकेश्वरवाद के साथ ही संतों पर पैगम्बरवाद की भी कहीं-कहीं हल्की छाया दिखलाई पड़ जाती है। किन्तु सिद्धान्त रूप से उन्होंने उसके प्रति आस्था नहीं प्रकट की है।

साम्यवाद—इस्लाम धर्म की प्राणभूत विशेषता साम्यवाद है। उनके यहाँ धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से सभी बराबर समझे जाते हैं। वर्णव्यवस्था संबंधी प्रत्यक्ष भेद-भाव उसमें नहीं मिलता है। अपनी अंतिम तीर्थयात्रा करते समय मोहम्मद साहब ने अपने अनुयायियों को उपदेश दिया था।[1] सभी मुसलमान आपस में भाई-भाई होते हैं। तुम्हें अन्याय से अपनी रक्षा करनी चाहिए। जो गुलाम भी नमाज पढ़ते हैं उनके प्रति भी भाई जैसा व्यवहार करना चाहिए। संतों पर इस्लाम के सामाजिक और धार्मिक साम्यवाद का पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। वे लोग मुसलमानों के समान ही पारस्परिक भेदभाव वर्णव्यवस्था आदि में विश्वास नहीं करते थे। उनके सामाजिक विचारों का विश्लेषण करते समय इस कथन की स्पष्टता प्रकट की जायेगी।

नियतिवाद—इस्लाम एक नियतिवादी धर्म है। मुसलमानों का विश्वास है कि संसार के समस्त कार्य, समस्त घटनाएँ और समस्त फलाफल पूर्व निश्चित रहते हैं। उनमें कोई भी किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं ला सकता। इस्लाम के इस भाग्यवाद की छाया भी संतों पर पड़ी थी। एक स्थल पर संत दादू[2] ने लिखा है—"हे मनुष्य तू व्यर्थ ही दुखी होता है। होती वही है जो कुछ ईश्वर ने निश्चित कर रखा है।' इसी प्रकार संत कबीर[3] ने लिखा है। 'ईश्वर ने जिसके लिए जो कुछ जितना बना दिया है उसको वही उतना ही प्राप्त होता है। उसमें से न तिल भर घट सकता है और न रत्ती भर बढ़ सकता है। संत चरनदास[4] ने भी भाग्यवाद का समर्थन

---

[1] आउट लाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर—वोल्यूम प० १०१

[2] दादू सहजै-सहजै होइगा, जे कुछ रचिया राम।
काहेको कलपै मरै, दुखी होत बेकाम ॥ (संत सुधासार प० ४८८)

[3] जाको जेता निरमया ताको तेता होय।
रत्ती घटै न तिल बढ़ै जो सिर कूटै कोय ॥ सं० स० सा० खण्ड १ पृ० १९७

[4] साधो होनहार की बात।
होत सोई जो होनहार है काहे फेरी जात ॥ इत्यादि
चरनदास की बानी भाग १ पृ० ४०

कहते हुए लिखा है—'साधुओ, होता नहीं है जो होने के लिए निश्चित हो चुका है। उसमें कोई किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं ला सकता।'

संतों की प्रतिष्ठा—इस्लाम धर्म में साधु-संतों की भी बड़ी प्रतिष्ठा रही है। मलकाबाली के समय से सूफी मुसलमानों में संतवाद का प्रचार बहुत बढ़ गया था। वे लोग संतों को ईश्वर का समीपवर्ती समझते थे। इस्लाम के इस संतवाद ने भी संतों को कुछ न कुछ प्रेरणा अवश्य प्रदान की होगी। इस्लाम में त्याग और वैराग्य का भी बहुत महत्त्व है। कुरान शरीफ में लिखा है—"तुम्हें यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि सांसारिक जीवन एक प्रवंचना है। धन और संतान की वृद्धि ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार वर्षा के बाद वनस्पति उग आती है और उसे देखकर कृषक प्रसन्न होते हैं किन्तु यह वनस्पति क्षणिक होती है। वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। इसी वनस्पति की तरह सांसारिक वैभव को देखकर जीव प्रसन्न होता है किन्तु यह वैभव है क्षणिक ही।"[1] इस्लाम के इस त्याग और वैराग्य प्रधान नश्वरतावादी दृष्टिकोण ने भी संतों की विचारधारा को बल प्रदान किया था। उनकी वाणियों में सर्वत्र त्याग और वैराग्य विशिष्ट नश्वरतावाद की झलक दिखाई पड़ती है। संत कबीर का उपदेश है,[2] 'यह संसार सेंबर के फूल के सदृश आकर्षक प्रतीत होता है पर मूल में उसी की भाँति निस्सार है। इस क्षणिक संसार के व्यवहार में जीव को भ्रमित नहीं होना चाहिए।' इसी प्रकार दयाबाई[3] ने लिखा है कि 'यह संसार तुहिन बिंदु के सदृश है। जिस प्रकार तुहिन बिंदु पल भर में नष्ट हो जाता है उसी प्रकार यह भी नश्वर है। अतएव जीव को भगवान् की दया में विश्वास करना चाहिए।'

कर्मवाद—इस्लाम एक कर्मवादी धर्म है। इस धर्म के अनुयायियों का दृढ़ विश्वास है कि जो जैसा करता है उसे वैसा फल भोगना पड़ता है कुरान शरीफ में लिखा है कि प्रत्येक मनुष्य के कर्मों का लेखा उसके गले से बँधा रहता है। प्रलय के दिन उन कर्मों के अनुसार उसे फलाफल मिलता है। इस्लाम के इस विश्वास की अभिव्यक्ति भी संतों में मिल जाती है। उदाहरण के रूप में संत सुन्दरदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं।[4]

---

[1] कुरान ६।२१

[2] यहु ऐसा संसार है, जैसा सेंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार कौ, झूठे रंगि न भूलि ॥ कबीर ग्रन्थावली पृ० २१।

[3] जैसो मोती ओस को, तैसो यह संसार,
बिनसि जात छिन एक में, दया समुंदर प्यार (संत सुधासार पृ० २१)

[4] सुन्दरविलास पृ० ११

"होवेगा हिसाब जब तब न आवेगा जवाब कुछ।
सुन्दर कहत गुनहगार है खुदाय का॥"

खण्डनात्मक प्रवृत्ति—संतों पर इस्लाम की कुछ खंडनात्मक प्रवृत्तियों का भी प्रभाव पड़ा था। इनमें मूर्ति पूजा के विरोध की प्रवृत्ति विशेष उल्लेखनीय है। इस्लाम धर्म में मूर्तिपूजा का खंडन बड़ी दृढ़ता से किया गया है। कुरान शरीफ में लिखा है कि मूर्तिपूजा एक अक्षम्य अपराध है। इसी प्रकार मूर्तिपूजकों के प्रति घृणा प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि वह उस मकड़े के सदृश होता है जो अपने बनाये हुए जाल में आप ही फँस जाता है। संतों ने मूर्तिपूजा का विरोध उसी कट्टरता के साथ किया है जिस कट्टरता के साथ मुसलमान लोग करते हैं। *सामाजिक विचारों के प्रसंग में इस बात का पूर्णतया स्पष्टीकरण किया गया है।* इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञानाश्रयी संत लोगों ने हिंदू विचारधारा को ही अपनाने की चेष्टा नहीं की थी वरन् उन्होंने इस्लाम के कुछ तत्वों का ग्रहण भी स्वीकार किया था।

सूफीमत और सन्तकवि

इस्लाम और सूफीमत में अन्तर—सूफीमत का उदय आत्मप्रधान इस्लाम धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। इसीलिए दोनों में बड़ा अन्तर दिखलाई पड़ता है। सूफी लोग अन्य मुसलमानों की भाँति शरायतों में विशेष विश्वास नहीं करते यह बात दूसरी है कि बाह्य रूप से वे उनके प्रति थोड़ी बहुत श्रद्धा प्रकट कर दें। किन्तु वास्तव में वे उन्हें सत्य और सूफी साधना मार्ग दोनों से ही हेय कम भले हैं[1]। सूफी लोग मुहम्मद साहब को पैगम्बर के रूप में स्वीकार नहीं करते। वे उन्हें ईश्वर की ज्योति का प्रकाश मानते हैं। उनके मतानुसार सारी सृष्टि का निर्माण उसी प्रकाश की लीला का हेतु हुआ[2] है। इस्लाम धर्म में बाह्य आचारों पर विशेष बल दिया गया है किन्तु सूफी लोग आन्तरिक शुद्धता को ही धर्म का सर्वस्व मानते हैं। इस्लाम में आध्यात्मचिन्तन के लिए कोई स्थान नहीं है किन्तु इसके विपरीत सूफी मत में स्वतन्त्र चिन्तन और निरपेक्ष मनन को ही सबसे अधिक महत्व दिया गया है। सच तो यह है कि एक इस्लाम की आधारभूमि कोरी आस्था है जो अन्धविश्वास की सीमा को छूने लगी है। इसके विपरीत दूसरे की प्रतिष्ठा भावनामूलक बुद्धिवादिता की पृष्ठभूमि पर हुई है। इस्लाम और सूफीमत में यही मौलिक अन्तर है।

---

[1] लाइट आफ्टर्स आफ इस्लामिक कल्चर भाग २ खुदाबख्श पृ० ४८३।

[2] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स— भाग १२ पृ० १५।

अध्यात्म चिंतन—सूफी मत में स्वतन्त्र चिन्तन के फलस्वरूप अध्यात्म निरूपण की परम्परा प्रवर्तित हुई। प्रायः सभी सूफियों ने सत्य सम्बन्धी आध्यात्मिक विषयों के सम्बन्ध में अपनी धारणाएँ प्रस्तुत की हैं। इस धारणा वैभिन्न्य का कारण सत्य को स्वानुभूति के सहारे अनुभव करना था। वे सत्य के अन्वेषक एवं सच्चे साधक सन्त थे। अपनी-अपनी व्यक्तिगत साधनाओं के अनुरूप ही वे सत्य के स्वरूप का अनुभव करते थे। उनकी वाणी में उसी का रहस्यात्मक वर्णन मिलता है। जलालुद्दीन[1] रूमी ने भिन्न-भिन्न सूफियों द्वारा सत्य के भिन्न भिन्न पक्षों की अनुभूति की प्रक्रिया को समझाने के लिए बहुत से अंधों के बीच में खड़े हुए हाथी का दृष्टांत दिया है। जिस प्रकार सैकड़ों अन्धे एक ही हाथी के भिन्न-भिन्न अंगों को छूकर उसके स्वरूप की व्याख्या उसी अंग के अनुरूप करते हैं उसी प्रकार सूफी साधकों ने अपनी-अपनी साधना[2] के अनुरूप सत्य के पक्ष विशेष का अनुभव कर उसी का उद्घाटन किया है। उसका परिणाम हुआ कि आध्यात्मिक विषयों के सम्बन्ध में सूफी साधना क्षेत्र में अनेक मतवादों का उदय हो गया।

अध्यात्म का विषय बड़ा ही जटिल है। बिना किसी सच्चे पथ-प्रदर्शक के सत्य के स्वरूप का अनुभव करना बड़ा ही कठिन होता है। इसीलिए सूफी लोगों में पीर की बड़ी प्रतिष्ठा है। पीर ही मुरीद को सत्य के मार्ग में प्रवृत्त करता है। शिया लोगों में जो इमाम का स्थान होता है, सूफियों में वही पीर का स्थान होता है। सूफियों में पीर के महत्त्व का अनुमान प्रसिद्ध सूफी जुन्नून[3] के उन शब्दों से किया जा सकता है जिसमें उसने पीर को ईश्वर से भी अधिक महत्त्व दिया है। उसने लिखा है सच्चा मुरीद वही है जो पीर की आज्ञा का पालन ईश्वर की आज्ञा से भी अधिक तत्परता से करता है। जलालुद्दीन रूमी ने अपने शमसये-तबरीज के प्रति जो श्रद्धा प्रकट की है उससे भी पीर के महत्त्व का आभास होता[4] है। सूफीमत की सबसे पहली शिक्षा यही होती है कि मुरीद सदैव मुरशिद के ध्यान में ही मग्न रहे। जब उसका ध्यान मुरशिद में केन्द्रित हो जाता है तो मुरशिद उसके उस ध्यान परमात्मा में केन्द्रित करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफीमत में मुरशिदवाद का प्रचंड रूप में विकास हुआ है। मुरशिद ही मुरीद को सच्चे आध्यात्म की दीक्षा देता[5] है।

---

[1] देखिए निकलसन अनुवादित जलालुद्दीन रूमी की मसनवी—पृ० संख्या

[2] इन्साइक्लो आफ इस्लाम—तारातत्व—पृ० ८१

[3] दीवान-ए-शमस-ए तबरीज-इन्ट्रोडक्शन पृ० २२

[4] इंसाइक्लोपीडिया आफ इस्लाम पृ० ८१

[5] दि डरविशेज-जे० पी० ब्राउन पृ० १२५।२६

सूफीमत के अनुसार आध्यात्म तत्त्व अद्वैत तत्त्व है। वही ईश्वर या परमात्मा है वही उपास्य है, वही सर्वस्व है। उस परमात्मा का ज्ञान हमें उसी के सहारे प्राप्त हो सकता है। हुजविरी के 'कश्फुल महजूब' नामक ग्रंथ में लिखा है कि मैं ईश्वर के सहारे ही जानता हूँ हमारे शरीर में भी ईश्वर का अंश है। जिससे वह केवल दिखाई पड़ता है। उसका निवासस्थान हृदय है। हम ईश्वर अंश विशिष्ट उसी हृदय से अखंड ईश्वर का अनुभव करते[1] हैं। सूफियों का यह सिद्धांत भी भारतीय उपनिषदों के सिद्धांत से मेल खाता है। भारतीय उपनिषदों में भी आत्मा के दो भेद किये गये हैं—एक परमात्मा और दूसरी मानवात्मा[2]। ज्ञाता और ज्ञेय की यह एकता ही दर्शन की पराकाष्ठा है। इन दोनों के मध्यस्थ भेद को मिटा देना ही सूफी मत का लक्ष्य है।

इश्क—सूफी मत में परमात्मा के लिए इश्क शब्द का प्रयोग किया गया है। इश्क के संबंध में भिन्न-भिन्न सूफियों की भिन्न भिन्न धारणायें हैं। कुछ सूफियों ने उसकी कल्पना अखंड इच्छाशक्ति के रूप में की है। कुछ लोग उसे अखंड ज्ञान का प्रतीक मानते हैं। कुछ नूरवादी हैं। उनका कहना है कि वह परमात्मा ज्योतिस्वरूपी है। किन्तु अधिकांश सूफी उसे सौन्दर्य और प्रेम स्वरूपी मानते[3] हैं। नूरवाद के सबसे प्रसिद्ध समर्थक शेख शहाबुद्दीन सोहरावर्दी माने जाते हैं। ज्ञानवादियों में इब्ने अरबी का नाम लिया जाता[4] है। इब्नेसिना प्रसिद्ध सौंदर्यवादी थे।[5] प्रेमवाद के प्रवर्तक का श्रेय मन्सूर हल्लाज को दिया जाता है।[6] जैसा कि हम अभी कह चुके हैं अधिकांश सूफी अद्वैतवादी ही हैं। ये लोग अपने अद्वैतवाद का स्पष्टीकरण प्रतिबिम्बवाद के सहारे करते हैं। इन लोगों का कहना है कि संसार वास्तव में उस परमात्मा की ही नश्वर छाया-मात्र है। उसका अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं है। वह स्वयं असत्य है। सत्य ही उसका एक रूप[7] है। द्वैतवादी लोग इसके विपरीत जगत् को परमात्मा का प्रतिबिम्ब और छायामात्र न मानकर उसका अस्तित्व स्वरूप मानते हैं और ईश्वर से लेकर जगत् तक विकास की स्थितियों का स्पष्टीकरण करते हैं।[8] द्वैतवादी और अद्वैतवादी दोनों प्रकार के सूफी लोगों ने परमात्मा की कुछ विशेषताओं को

---

[1] आउट लाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर भाग १, पृ० ५००

[2] कठोपनिषद् १।३।१ मुंडकोपनिषद् ३।१-२

[3] आउट लाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर भाग २, पृ० ३९८

[4] " " " " " " २ पृ० ४१८

[5] " " " " " " २—पृ ३९०

[6] — ...

[7] " " " " " " १— " सूफियोंवाला अध्याय

[8] " " " " " " १— " ३९९

मान्यता दी है। उनके मतानुसार परमात्मा का वास्तविक जमाल सौन्दर्य जलाल (ऐश्वर्य) कमाल (पूर्णता है)।[1]

इन्सान—सूफी लोग इन्सान को परमात्मा का प्रतिरूप मानते हैं। वह दर्पण स्वरूप है जिसमें परमात्मा के रूप और गुण प्रतिबिंबित रहते हैं। वह इनके मतानुसार परमात्मा और प्रकृति दोनों के बीच की कड़ी है। उनके कथनानुसार मनुष्य सबसे पहला रूप है जिसमें परमात्मा ने अपने को प्रतिबिम्बित किया था। सूफियों के एक वर्ग के अनुसार सृष्टि के दो भेद हैं—आलमे अम्र और आलमे खल्क। मनुष्य या इन्सान इन दोनों तत्वों की समष्टि माना गया है। उसे आलमे सगीर कहते हैं। आलमे अम्र के तत्व हैं—कल्ब, रूह, सिर्र, खफी और अखफा। आलमे खल्क के तत्व हैं—नफ्स तथा अनासिर अरबआ पञ्चतत्व क्षिति जल पावक गगन एवं समीर।[2] सूफियों के एक और सम्प्रदाय के अनुसार इन्सान के चार विभाग होते हैं—नफ्स (इन्द्रियाँ) रूह (चित्त) कल्ब (हृदय) और अक्ल (बुद्धि) रूह को वे लोग ईश्वर का अंश मानते हैं।[3] उनकी धारणा है कि वह अपने पूर्वांश से मिलने के लिए सदैव व्याकुल रहता है। उस रूह का पूर्वांश में मिलन के लिए जन्म-जन्मान्तर साधना करनी पड़ती है। तभी वह तादात्म्य प्राप्त कर पाती है। इसी प्रसंग में सूफियों की एक वह विशेषता प्रगट हो जाती है जो इस्लाम धर्म के अनुयायियों को मान्य नहीं है। सूफी लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। इसके विपरीत मुसलमान लोग इस विश्वास में अविश्वास रखते हैं। मुसलमानों और सूफियों में यह एक बड़ा अंतर है। कल्ब को भी सूफी लोग कोरा भौतिक पदार्थ नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वह भी एक मूल्यवान पदार्थ है। उनका विश्वास है कि कल्ब ही ईश्वर का सिंहासन है। उसकी आठ दृष्टियाँ ही उस सिंहासन के आठ[4] पाये हैं। ये लोग अक्ल को भी कोरा भौतिक तत्व नहीं मानते थे किंतु उसे कल्ब की अपेक्षा हेय अवश्य समझते हैं। अक्ल के तीन विभाग किये गये हैं—अक्ले अव्वल, अक्ले कुल और अक्ल। सूफी साधना का लक्ष्य नफ्स के प्रति प्रहार करते हुए अक्ल के सहारे ईश्वर के सिंहासन रूप कल्ब को परिष्कृत रखना तथा उस पर प्रतिष्ठित ईश्वर व आत्मिक प्रतिरूप रूह में तन्मय होना होता है।

अब्दुल करीम नामक सूफी ने अपने इन्सानुल कामिल नामक ग्रंथ में इन्सान

[1] आउट लाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर भाग २—सूफियोंवाला अध्याय देखिए
[2] मुस्लिम हरस सेक्ट्स् एण्ड आइन—पृ० १६२
[3] जायसी ग्रन्थावली भूमिका—पृ० १६९
[4] आउट लाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर—आत्मा सेवेनर।

के सम्बन्ध में कुछ अधिक विस्तृत विचार किया है। उसने इन्सान के चार प्रधान विभाग बतलाये हैं—शरीर, आन्तरिक आत्मा, ज्ञान और दैवी अंश। वास्तव में उसके ये चार विभाग ऊपर बताये गये इन्सान के चार विभागों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। आत्मा के सम्बन्ध में भी सूफियों में बहुत से मतवाद प्रचलित हैं। कुछ लोग अंशांशिवादी हैं। इनका कहना है कि आत्मा परमात्मा का ही एक अंश होता है। ये लोग उसे परमात्मा के सदृश ही सत्य और प्रकाश रूप भी मानते हैं। कुछ सूफियों का कहना है कि आत्मायें दो प्रकार की होती हैं—एक दैवी और दूसरी इन्सानी। इसी प्रकार कुछ लोगों की धारणा है कि आत्माओं का निर्माण परमात्मा करता है और वे संख्या में अनेक होती[1] हैं। इन सबमें पहला मत ही अधिक मान्य और प्रचलित समझा जाता है। यह मत हमारे यहाँ के वेदांत के मत से बहुत मिलता-जुलता है।

सृष्टि या खल्क के सम्बन्ध में भी सूफियों में बड़ा मतभेद है। ईशारिया वर्ग के सूफियों का कहना है कि परमात्मा ने असत से सृष्टि का निर्माण किया है। वहदिया वर्ग प्रतिबिम्बवादी है। उसके अनुसार संसार एक दर्पण जिसमें अरूप परमात्मा ही दृश्यमान हो रहा है। कुछ दूसरे सूफियों का कहना है कि सृष्टि परमात्मा का विवर्तन-मात्र है। ये लोग जगत् को अनित्य नहीं मानते केवल उसके रूप और नाम को ही अनित्य मानते हैं। इनका कहना है कि जगत् की सत्यता चित की सत्यता के कारण होती है। उसी के सहारे हम अन्तिम सत्य को उपलब्ध कर सकते[2] हैं। किसी साहब ने सृष्टि का विकास बहुत कुछ भारतीय ढंग पर निरूपित किया है। उनका कहना है कि सबसे पहले हकीकते मुहम्मदिया मात्र था। ब्रह्म और जगत् दोनों उसी में अन्तर्निहित थे। ब्रह्म ने इच्छा होने पर अपनी कलापूर्ण दृष्टि से जल की सृष्टि की। फिर कमालपूर्ण दृष्टि से जल में विलोड़न उत्पन्न हुआ। उसके परिणाम-स्वरूप स्थूल तत्त्वों का उदय हुआ। सात संसारों, सात आसमानों तथा सात समुद्रों की रचना उन्हीं से हुई।

सूफियों ने जगत् के भी कई रूप कल्पित किये हैं। अलमस्तवाली ने दो प्रकार के जगत् बतलाये हैं। एक दृश्य जगत् जिसे वह आलमे खल्क मुल्क कहता है और दूसरा आलमे मलकूत। वह देवदूतों के रहने का स्थान बतलाता है। मंसूर हल्लाज ने इसी प्रकार के पाँच संसारों की कल्पना की थी। उनके नाम क्रमशः आलमे नासूत आलमे मलकूत, आलमे जबरूत, आलमे लाहूत और आलमे हाहूत है।[3] एक दूसरे मुसलमान दार्शनिक ने सात संसारों का उल्लेख किया है। मंसूर हल्लाज के पाँच संसारों

[1] वही भाग २ पृ० ४९१।
[2] कबीर की विचारधारा—पृ० १७०।
[3] कबीर की विचारधारा—पृ० १७१

के अतिरिक्त तशीह, शुव और ममा नामक तीन प्रकार के संसारों की ओर कल्पना की थी। उसने आलमे नासूत का उल्लेख नहीं किया है।[1] यदि आलमे नासूत को भी मिला दिया जाय तो संसारों की संख्या आठ हो जायगी। यह तो हुआ सूफी मत का सैद्धांतिक पक्ष। अब हम उसके साधना पक्ष पर विचार करेंगे।

साधना या तरीका—सूफियों का साधना मार्ग एक नहीं है। जो जिस मार्ग में दीक्षित हो जाता है वह उसी में आस्था रखने लगता है। प्रमाण वैविध्य के कारण ही मार्ग वैविध्य दिखाई पड़ता है। इतना होते हुए भी साधना के लक्ष्य की दृष्टि से सभी सूफी संत समान कहे जा सकते हैं। सभी का लक्ष्य माशूक के प्रति फनाए और बका एवं रूह आदि का विकास करना होता है। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे एक विस्तृत साधना मार्ग का अनुसरण करते हैं। सूफी मत में साधक को सालिक या यात्री कहा जाता है।[2]

साधना मार्ग में अग्रसर होने के पूर्व ही साधक रूपी सालिक को बहुत सी तैयारियाँ करनी पड़ती हैं। सबसे पहली तैयारी नैतिक आचरणों के पालन के रूप में की जाती है। सूफी मत के ग्रंथों में इन नैतिक आचरणों का बड़े विस्तार से उल्लेख किया गया है। कुछ प्रसिद्ध नैतिक आचरण जिनका पालन सालिक के लिए नितान्त आवश्यक होता है, इस प्रकार हैं—

१—त्याग और वैराग्य। २—गुरु के प्रति आत्मसमर्पण।
३—ईश्वर के प्रति भक्ति। ४—पापों के प्रति पश्चात्ताप की अनुभूति।
५—ईश्वर भय। ६—विशाल हृदयता।
७—ईश्वर विश्वास। ८—संगति प्रियता।
९—आध्यात्मिक गुरुओं का अनुपालन। १०—आध्यात्मिक ज्ञान की वृद्धि।
११—ध्यान की अवस्था। १२—ईश्वर स्मरण।
१३—अपने को ईश्वर में लय कर देना। १४—आंतरिक और बाह्य दुर्गुणों के प्रति उदासीनता।

आचरण सम्बन्धी इन उपायों के पालन से सालिक अपने मन को पवित्र करता है। जब उसका मन पवित्र हो जाता है तब मुर्शिद उसे आध्यात्मिक प्रेम और विरह के मार्ग में दीक्षित करता है। सूफी लोगों ने प्रेम को अत्यधिक महत्व दिया है। मंसूर हल्लाज, जामी, जलालुद्दीन रूमी आदि सूफियों ने प्रेम के महत्व का

[1] आउट लाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर पृ० ५५४
[2] ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ९६ ११०-११२

विविध प्रकार से प्रतिपादन किया है।[1] मंसूर हल्लाज ने लिखा है—ईश्वर की मूल सत्ता प्रेम ही है। प्रेम के सहारे ही उसने अपनी अभिव्यक्ति की है और प्रेम के सहारे ही वह अद्वैतरूप में प्रकाशित होता[2] है। जामी ने प्रेम को सृष्टि का आध्यात्मिक कारण[3] माना है। जलालुद्दीन रूमी प्रेम को समस्त धर्मों का सार मानते थे। रूमी ने अपनी मसनवी में प्रेम को वासना रूपी भयंकर सर्प का विनाशक कहा है। वह प्रेम ही साधक को ज्ञान के द्वार पर ले जाता[4] है। उसने एक दूसरे स्थल पर प्रेम की विशेषता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रेम कभी सच्चे प्रेमी को थकने नहीं देता। उसे वह नित्य नवीन शाश्वत सौन्दर्य की अनुभूति कराता रहता है। और पद-पद पर नित्य नवीन विभूति प्रदान करता है। एक दूसरे स्थल पर उसने प्रेम और विरह के सम्बन्ध की ओर संकेत किया है। उसने लिखा है कि प्रेम की व्यथा ने ही मुझे प्रकाशित किया है। उसी की मदिरा ने मुझे उन्मत्त बनाया है। प्रेम नरकुल की भाव की तरह का होता है। जिस प्रकार नरकुल की पास को वही प्राप्त कर सकता है जो खून बहाने को तैयार हो। उसी प्रकार प्रेम का अधिकारी भी वही है जो बलिदान के लिए तैयार[5] हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफियों ने प्रेम ही ईश्वर प्राप्ति का एक मात्र साधन स्वीकार किया है सौन्दर्य तत्त्व, विरह तत्त्व, मादन तत्त्व और आनन्द तत्त्व आदि सब प्रेम की ही शाखाएँ प्रशाखाएँ हैं।

प्रेम में बलिदान का बहुत बड़ा महत्त्व होता है—यह बात अभी हम ऊपर बता आये हैं। सूफियों ने साधना में त्याग, वैराग्य और बलिदान का महत्त्व चार प्रकार की मृत्युओं की कल्पना करके[6] किया है।

(१) श्वेत मृत्यु—अर्थात् उपवास और व्रत से शरीर का मारना।
(२) काली मृत्यु—कष्टों को शांतिपूर्वक धैर्य के साथ सहन करना।
(३) लाल मृत्यु—समस्त वासनाओं को अपने अधीन करना।
(४) हरी मृत्यु—मोटे और कर्कश वस्त्रों का प्रयोग करना।

जब साधक नैतिक आचरणों के पालन द्वारा तथा प्रेम-प्राप्ति के सहारे उपर्युक्त चार प्रकार की मृत्युओं को सहन कर लेता है तब वास्तव में उसकी साधना का प्रारम्भ

---

[1] आउट लाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर—भाग २ पृ० ३०८ ३८०

[2] देखिए इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग १२ पृ० १४१

[3] यूसुफ जुलेखा—ई० जी० ब्राउन द्वारा अनुवादित—देखिए रिलीजस सिस्टम्स आफ दि वर्ल्ड—पृ० ३२८

[4] रूमी बाई निकलसन—पृ० २९

[5] " " " —पृ० ३१ टिप्पणी नं० १

[6] आउट लाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर भाग २ पृ० ३६७

समझा जाता है। इस साधना मार्ग के बहुत से सूफियों ने चार विभाग किये हैं। उनके नाम क्रमशः शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत हैं। बाशरा सूफी इन चारों को महत्त्व देते हैं किन्तु बेशरा सूफी केवल अंतिम तीन को ही मान्य समझते हैं। साधना मार्ग के इन चार पड़ावों के अतिरिक्त बहुत से सूफियों ने सात मुकामात और बहुत से हालात की कल्पना की है। ये सात मुकामात क्रमशः इस प्रकार हैं। १—प्रायश्चित्त, २—अकिंचनता, ३—त्याग, ४—संतोष, ५—ईश्वरविश्वास, ६—धैर्य तथा ७—विरोध।[1] प्रसिद्ध हालात इस प्रकार हैं— ध्यान या मनन (मुराकबा), ईश्वर सामीप्य (कुर्ब), प्रेम (मुहब्बत), भय (खौफ), आशा (रिजा), इच्छा (शौक), अतिपरिचय (उन्स) शान्ति (इतमिनान), चिन्तन (मुशाहदा) और निश्चय यकीन।[2] ऊपर हमने जिन १४ आचरण सम्बन्धी नैतिक विशेषताओं का उल्लेख किया है उनमें सातों का भी समावेश हो गया है।

यहाँ पर सूफियों की प्रसिद्ध चार अवस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख कर देना आवश्यक है—प्रथम अवस्था शरीयत[3] की है। इसके अंतर्गत धार्मिक ग्रंथों में वर्णित विधि-विधानों का पालन आता है। बाशरा सूफी सबसे पहले इसी अवस्था में सिद्धि लाभ करते हैं। किन्तु बेशरा सूफी इसको महत्त्व नहीं देते। दूसरी अवस्था तरीकत कहलाती है। इस अवस्था में पहुँचकर साधक बाह्य विधि-विधानों का त्याग कर देता है और मानसिक एवं धार्मिक शुद्धि की ओर प्रवृत्त होता है। तीसरी अवस्था का नाम हकीकत[4] है। इस अवस्था में पहुँचकर साधक को सत्य का बोध होने लगता है।[5] हुजवरी ने हकीकत ज्ञान के तीन लक्षण माने हैं। वे क्रमशः खुदा की एकता का ज्ञान, उसके गुणों का ज्ञान और उसकी कृपा का ज्ञान है। चौथी अवस्था मारिफत नाम की है। इसे हम सत्यानुभूति-जनित सिद्धावस्था कह सकते हैं। हुजवरी ने इसके दो भेद माने हैं—हाली और इल्मी। हाली सत्यानुभूतिजनित अवस्था की प्राप्ति, सूफी, सुरा और नृत्य आदि से बतलाई जाती है। कुछ सूफी हाल की हालत तक पहुँचने तक इन बाह्य साधनों का प्रयोग अनावश्यक मानते हैं। उन्हें हम आदर्शवादी सूफी कह सकते हैं। वे इसकी प्राप्ति का मूल साधन ज्ञान मानते हैं। हुजविरी ने इसी को इल्मी मारिफत की अवस्था[6] कहा है। हाल या ईश्वरप्रेमाद्र की अवस्था के भी कई पद कल्पित किये गए हैं। स्थूलतम से त्याग पक्ष और प्राप्ति पक्ष विशेष उल्लेखनीय हैं। त्याग पक्ष के अन्तर्गत फना

[1] आउट लाइंस आफ इस्लामिक कल्चर भाग १ पृ० ४८७
[2] दि मिस्टिक्स आफ इस्लाम निकल्सन प्रथम अध्याय
[3] आउट लाइंस आफ इस्लाम कल्चर पृ० ४००
[4] वही पृ० ४७१
[5] काफ अल महजूब पृ० १७
[6] आउट लाइंस आफ इस्लामिक कल्चर भाग १ पृ० ४७१

अपनी सत्ता का विस्मरण, फक्त अहंकार का मद, शुद्ध प्रेम का मद, प्राप्ति पक्ष के अन्तर्गत (बका), परमात्मा में स्थिति (जम्म), परमात्मा की प्राप्ति और (ग्राह)[1] पूर्ण शान्ति नामक स्थितियाँ आती हैं। कुछ सूफियों ने उपर्युक्त चार अवस्थाओं के स्थान पर चार यात्राओं की कल्पना की है। पहली यात्रा मारिफत से फना तक मानी जाती है। दूसरी यात्रा फना से बका तक की है। इस स्थान पर पहुँचकर साधक कुतुबपूर्ण पुरुष हो जाता है। तीसरी यात्रा में सफल होकर साधक लोकसंग्रह बन जाता है। इसी अवस्था में उसे शेख की पदवी दी जाती है। चौथी अवस्था मृत्यु की है जिसमें पहुँचकर साधक सत्य से मिल[2] जाता है।

असीम सत्य को ससीम शब्दों में बाँधना बड़ा कठिन होता है। सूफी साधक सत्य सम्बन्धी रहस्यानुभूतियों का अनुभव समय-समय पर करता है। वह उनकी रस्सी सदा अभिव्यंजन के लोभ का भी नहीं कर पाता इसीलिए वह उनकी अभिव्यक्ति करने के लिए प्रतीकों, रूपकों, अन्योक्तियों और समासोक्तियों आदि का संबरण आश्रय लेता है। सूफियों में तो इनका और भी अधिक प्रचार था। चन्द्रबली पाण्डेय ने हमारी इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि सूफियों के रक्षक उनके प्रतीक ही रहे हैं। यूँ तो किसी भी भक्ति-भावना में प्रतीकों की प्रतिष्ठा रहती है पर वास्तव में सूफीमत में उनका पूरा प्रचार है। रहस्यवाद की अभिव्यक्ति में प्रतीक पद्धति सर्व प्रकार से व्यापक होती है। अनिर्वचनीय को वचनीय बनाने के अतिरिक्त प्रतीक विरोधी मतों के खंडन और समान मतों के मंडन में भी समर्थ होते हैं। सूफी आचार्य शरीफ ने प्रतीकों के द्विविध महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है—इनके प्रयोगों से दो प्रत्यक्ष लाभ होते हैं। एक तो प्रतीकों की ओट लेने से धर्म बाधा टल जाती है दूसरे इनके प्रयोगों से उन बातों की अभिव्यंजना भी सरल हो जाती है। जिनके निर्वचन में वाणी मूक अथवा असमर्थ होती है। सूफियों का मावस्वरूप तत्त्व एकीभाव है। एकीभाव की चरम अभिव्यक्ति दाम्पत्य प्रतीकों के सहारे ही हो सकती है। इसीलिए सूफी लोगों में इन प्रतीकों की बड़ी मान्यता रही है।

सन्तमत पर सूफियों के प्रभाव

मध्ययुग में सूफी मत का भी बहुत व्यापक प्रचार था। स्थान-स्थान पर सूफी सन्त रहते थे। निर्गुणियाँ सन्त उनकी सत्संगति किया करते थे। उस सत्संगति के फलस्वरूप वे लोग कुछ बातों में उनसे भी प्रभावित हुए थे।

सूफीमत के आधारभूत तत्त्व प्रेम और विरह हैं। यह दोनों तत्त्व सन्तों को बहुत

[1] जायसी ग्रन्थावली भूमिका—पृ० १६८।

[2] मिस्टिक्स आफ इस्लाम—पृ० १६४ १६५।

प्रिय थे। इसीलिए अपनी विचारधारा में उन्होंने इन दोनों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। मन को वशीभूत करने के लिए यह दोनों तत्त्व बहुत श्रेयस्कर हैं। दादू कहते हैं[1] कि विरह और प्रेम की लहरियों में मन पंगु अर्थात् शुद्ध हो जाता है। दादू पुनः कहते हैं—विरह मन के विकारों को दूर करता[2] है। आध्यात्मिक प्रेम उसमें रस की प्रतिष्ठा करता है। आध्यात्मिक प्रेम का स्वरूप क्या है इसको स्पष्ट करते हुए दादू लिखते हैं[3]—सच्चा प्रेमी वही होता है जिसमें प्रेमी और प्रियतम एक रूप हो जाते हैं। सच्चा प्रेम ईश्वरपरक होता है। आध्यात्मिक प्रेमी के स्वरूप का वर्णन करते हुए दादू ने लिखा है[4]—सच्चे मारिफत वाले प्रेमी वो हैं जो संसार को त्याग कर सब प्रकार से संतुष्ट हैं तथा जो अपने प्रियतम के ध्यान में निरन्तर निरत रहते हैं और प्रेम विरह की मधुर पुकार से मुखरित रहते[5] हैं।

प्रेम और विरह के साथ ही साथ सन्तों ने सुरा को भी महत्त्व दिया है। किन्तु उनकी सुरा भावात्मक है भौतिक नहीं। उस मदिरा को पीने का उपदेश देते हुए सन्त चरनदास[6] लिखते हैं—

अवधू ऐसी मदिरा पीजै।
पैठि गुफा में यह जग बिसरै चंद सूर सम कीजै॥
जहाँ कुलाल चढ़ाई भाठी ब्रह्म अगन पर जारी।
भरि-भरि प्याला देत कलाली चाखे भक्ति खुमारी॥
माता ह्वै करि ज्ञान खड़ग लै काम क्रोध कूँ मारै।
घूमत रहै गहै मन चंचल दुविधा सकल बिडारै॥
जो चाखै यह प्रेम सुधारस निज पुर पहुँचै सोई।
अमर होय अमरा पद पावै आवागमन न होई॥

सूफी लोग साधक को सालिक या यात्री कहते हैं और साधना को एक यात्रा मानते हैं। उस यात्रा में चार पड़ाव और सात मुकामात कल्पित किये गये हैं। सन्तों ने सूफियों की साधना संबंधी इस धारणा के प्रति अपनी स्वीकृति प्रकट की है।[7]

---

१ विरह प्रेम की लहरी में यह मन पंगुल होय। दादू भाग १ पृ० ४१
२ विरह अगिनि में जल गए मन के मैल विकार। दादू भाग १ पृ० ४३
३ आसिक माशूक होइ गया इसक कहावै सोई
४ दादू उस मासूक का अल्लाह आसिक सोई। दादू भाग १ पृ० ४४
५ दादू बानी भाग १ पृ० ६०। साखी २६
६ सन्त चरनदास की बानी भाग १ पृ० ३८
७ दादूबानी भाग १ पृ० ५८-५६ तक यात्रा के चार साधना मार्गों का वर्णन किया गया है

सूफी साधना मार्ग के चार पड़ावों के नाम क्रमशः शरीअत, तरीक़त, हक़ीक़त और मारिफ़त हैं। सन्त लोग अधिकतर बेशरा सूफी थे अतः वे सीधे मारिफ़त तक पहुँचने में विश्वास करते थे। प्रथम तीन को प्रेममार्ग का अनुसरण करनेवाले साधक के लिए व्यर्थ समझते थे। दादू लिखते हैं[1] शरीअत के साधक की पुर मंज़िल उनकी देह ही है। वे मन के वशीभूत रहते हैं। अहंकार, क्रोध, अपनपो शारीरिक इंतज़ाम, मूँठ लोभवाद विवाद आदि विकारों से उनकी आत्मा कलंकित रहती है। उनके मन में परोपकार का भाव नाममात्र को नहीं रहता है।

एक दूसरे स्थल पर शरीअत के प्रति उपेक्षा भाव प्रकट करते हुए उन्होंने फिर लिखा है[2]—शरीअत के साधक या तो अज्ञान से भ्रमित रहते हैं या हलाल, हराम, नेकी, बदी आदि के जाल में जो मिथ्या बुद्धिवालों ने फैला रखे हैं, फँसे रहते हैं। इन उद्धरणों से प्रकट है कि सन्त लोग बेशरा सूफियों से प्रभावित थे। इसीलिए उन्होंने शरीअतवाले की निंदा की है। अन्य तीन अवस्थाओं के प्रति उन्हें आस्था थी। हक़ीक़तवालों के प्रति सद्भाव रखते हुए उन्होंने लिखा है[3]—उनका इष्ट अलख परमेश्वर है जो भेखों में भेद और देवों में देव पुरुष है। उसके दर्शन करके आँखें मस्त जाती हैं। वे प्रेम की मधुर मदिरा में मस्त रहते हैं। इसी प्रकार तरीक़त का वर्णन किया गया है। दादू लिखते हैं[4]—तरीक़तवालों की पुर मंज़िल उनकी आत्मा है और उनका मार्ग प्रेमाभक्ति है। भजन, सुमिरन, दया, परोपकार, सहानुभूति आदि उनके प्रधान गुण हैं। मारिफ़त की अवस्था के प्रति विलक्षण आदरण हम ऊपर प्रेम के स्वरूप निर्देश के प्रसंग में दे चुके हैं सर्वाधिक आस्था थी, इसी प्रकार हाल मुक़ामात की चर्चा भी सन्तों की बानियों में ढूँढ़ने से मिल जाती है। उन सबका निर्देश विस्तारभय से नहीं कर रहे हैं।[5]

सूफियों के अद्वैत सिद्धान्त की छाया भी सन्तों में दिखाई पड़ती है। सन्त दादू ने लिखा है[6]—मर्द उसी को कहना चाहिए जिसने द्वैत का परित्याग कर दिया है।

---

[1] मज़्हब गालिब जिस काबिज गुस्सा भी ऐस
दरोग हिर्स हुज्जत नामे नेकी नेस्त।
हैवान काबिल गुमराह गाफिल मज़्हब शरीअत मंज़
हलाल हराम नेकी-बदी दर्से दानिश मंद ॥ दादू साहब की बानी भाग १ पृ० ५६

[2] दादू दयाल की बानी भाग १ पृ० ५६

[3] मके नूर ख़ूबे नूरों दीवानी हैरा।
अजब चीज ख़ुर्दनी प्याला। मस्त ॥ दादू बानी भाग १ पृ० ५६

[4] इश्क इबादत बन्दगी यगानगीय इख़लास।
मिहर मुहब्बत ख़ैर ख़ूबी नाम नेकी पास ॥ भाग १ पृ० ५६

[5] देखिए दादू बानी भाग २ पृ ० और १८० देखिए

[6] बाबा मरदे मरदां गोई प हिस कदर याई ॥ दादू भाग २ पृ० ६०

एकाध स्थलों पर तो सर्वात्मवाद तक की झलक दिखाई पड़ती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये दोनों सिद्धान्त सूफियों को अद्वैतवादियों से मिले थे। किन्तु प्रेरणा सूफियों से भी मिली थी।

सन्तों में खोज करने पर एकाध स्थलों पर सूफियों के विविध आलमों की चर्चा भी मिल सकती है। किन्तु वे उनमें विशेष विश्वास नहीं करते थे।

सूफियों की प्रतीकात्मक शैली ने भी सन्तों को प्रभावित किया है। सूफी लोग अपने प्रणय भाव की अभिव्यक्ति दाम्पत्य प्रतीकों से करते हैं। वे ईश्वर को प्रेमी और अपने को प्रेमिका मानकर अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करते हैं। संतों ने सूफियों के प्रेम और विरह तत्त्व के साथ-साथ इन दाम्पत्य प्रतीकों को अपनाने की चेष्टा की थी। उदाहरण रूप में हम सन्त कबीर की निम्नलिखित पंक्तियाँ दे सकते हैं[2]—

हरि मेरा पीव हरि मेरा पीव माई हरि पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव॥
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥
काहे न मिलो राजा राम गुसाईं।
अबकी बेर मिलन जो पाऊँ॥
कहै कबीर भौजल नाहिं आऊँ॥

सूफियों के इन बड़े-बड़े प्रभावों के अतिरिक्त सन्त लोग उनकी बहुत सी छोटी बातों से अनुप्रेरित थे। ऐसी बातों में स्वप्नदर्शिता, भावना मूलक बुद्धिवादिता, धार्मिक विधि विधानों के प्रति उपेक्षाभाव प्रकट करने की प्रवृत्ति, सदाचारप्रियता, मुर्शिद अथवा पीर की प्रतिष्ठा, आत्मा, परमात्मा का संयोगाभिमान ईश्वरोन्माद की अनुभूति आत्मबलिदान और त्याग की भावना आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। सन्तों की बानियों में इन सबसे संबंधित उदाहरण मिलते हैं। इन सब बातों ने उन्हें चाहे प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित न किया हो किन्तु प्रेरणा तो अवश्य ही प्रदान की होगी।

---

[1] देखिए दादू बानी भाग २—पृ० १४०

[2] कबीर ग्रन्थावली—पृ० १२५

चौथा अध्याय

साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि

निर्गुणिया सन्तों के पूर्व की साधु परम्पराएँ,

प्राचीन साधु परम्पराएँ

ब्राह्मण साधुओं की परम्पराएँ,

ऋषि—ब्रह्मर्षि और राजर्षि

मुनि—श्रमण, वैखानस अथवा भिक्षु

तपस्वी—दन्तोलूखलिन, अश्मकुट्ट, कुम्भधारी, धूम्रपानी, पञ्चाग्निसाधक, शैवालभोजी, आदि,

कृत्रिम साधु—ब्राह्मण बौद्ध और जैन

पाणिनिकालीन कुछ अन्य ब्राह्मण साधु परंपरा

दंड धारिसाधु—गार्ग्य वार्षिक, भैक्षाविक साधु, कौलटिक साधु

ब्राह्मणेतर साधु परम्पराएँ

आस्तिक प्रतिक्रियावादी, भागवत, पाञ्चरात्रिक, कालामुख, पाशुपत, लकुलीश, नाथपन्थी, अघोरी, दक्षिण के तामिल शैव सन्त, ब्राह्मणेतर नास्तिक साधु परम्पराएँ, अक्रियावादी, उच्छेदवादी, अहेतुवादी, अनिश्चिततावादी, चातुर्याम संवरवादी, आजीवक सम्प्रदाय, बौद्ध साधु सम्प्रदाय, जैन सन्तों की परम्पराएँ—

उपर्युक्त साधु परम्पराओं की निर्गुण ज्ञानधारा पर क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ

मध्ययुगीन साधु और परम्पराएँ

रूढ़िवादी धारा—

वेशाडम्बरी साधु—महंत योगी

सुधारवादी धारा

खंडन मंडन की प्रवृत्ति लेकर चलनेवाले शैव, शाक्त तथा सिद्ध तांत्रिक साधु।

खंडन मंडन की प्रवृत्ति लेकर चलनेवाले नाथपन्थी साधु।

खंडन मंडन की प्रवृत्ति लेकर चलनेवाले सूफ़ी साधु।

प्रतिक्रियावादी दार्शनिक आचार्य तथा सुधारक वर्ग

शंकराचार्य शैव—रामानुजाचार्य वैष्णव, मध्वाचार्य वैष्णव,

निम्बकाचार्य वैष्णव—रामानन्द वैष्णव, विष्णुस्वामी वैष्णव

सुधारवादी साधु वर्ग

अवधूत साधु—वैरागी, अघोरी

दक्षिण का प्रतिक्रियावादी शैव लिंगायत सम्प्रदाय

समन्वयवादी भक्त सुधारक

भारतीय—दक्षिण के आलवार भक्त सन्त, दक्षिण के समन्वयवादी शैव भक्त सन्त—महाराष्ट्रीय रहस्यवादी भक्त सन्त—(वारकरी सम्प्रदाय) निरंजनमत और निरंजनी साधु—बंगाल के सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय और उसके सन्त, चैतन्यस्वामी, आसाम के गोसाईं और महापुरुषिया सम्प्रदाय, मानभाव वैष्णव सम्प्रदाय, दत्तात्रेय का अवधूत सम्प्रदाय, कश्मीरी सन्त परंपराएँ लालदे लालदेवी अथवा लल्लेश्वरी वाल्मीकि और पद्म सिरिमा सम्प्रदाय

अभारतीय—सूफी सन्त सम्प्रदाय—ईसाई सन्त संप्रदाय

मिश्रित—बाउल सन्त, धर्ममत के साधु

मध्यकालीन सन्त परंपराओं की निर्गुण भावधारा के प्रति प्रेरणाएँ।

निर्गुणियाँ संतों के पूर्व की साधु परम्पराएँ

प्राचीन साधु परम्पराएँ

भारतवर्ष आदि काल से ही विविध साधु परम्पराओं से महीयान रहा है। आर्य सभ्यता में ही नहीं, सिंधु घाटी सभ्यता में भी साधुओं की प्रतिष्ठा थी। पुरातत्त्व विभाग के अनुसंधानों ने यह बात प्रमाणित कर दी है। उस सभ्यता के भग्नावशेष चिन्हों में एक योगी साधु की टूटी फूटी मूर्ति भी मिली है।[1] इसी से मिलती-जुलती एक दूसरी मूर्ति भी उपलब्ध हुई है। इस मूर्ति में प्रणाम करता हुआ एक साधु चित्रित किया गया है।[2] विद्वानों की धारणा है कि यह मूर्ति किसी देवता की है जिसे साधु प्रणाम कर रहा है। मेरा अनुमान है कि यह मूर्ति किसी सिद्ध साधु की है जिसे कोई दूसरा उसका शिष्य साधु प्रणाम कर रहा है।[3] जो भी हो यह तो निश्चित ही है कि सिंधु सभ्यता युग में भी साधु लोग वर्तमान थे। सम्भवतः समाज में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा भी थी। आर्य सभ्यता में साधु जीवन पर प्रारम्भ से ही बल दिया गया था किन्तु पूर्व कालीन वैदिक युग और वेदोत्तर कालीन साधु जीवन में एक बहुत

[1] हिन्दू सिविलीजेशन—राधाकुमुद मुकर्जी १९५० बाम्बे पृ० १९–

[2] के० एम० मुन्शी द्वारा सम्पादित वैदिक एज पृ० १८० देखिए।

[3] हिन्दू सिविलीजेशन—राधाकुमुद मुकर्जी पृ० २०

मौलिक अंतर दिखाई पड़ता है। पूर्वकालीन वैदिक साधु परम्परायें प्रायः प्रवृत्ति मार्गपरी थी। ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर दोनों साधु-परम्पराओं में स्त्री सेवन निषिद्ध नहीं माना जाता था। वैदिक ऋषि और उनके लोग अधिकतर गृहस्थ ही[1] थे। ब्राह्मणेतर ब्रात्य साधु लोग तो वेश्या सेवन तक[2] को निषिद्ध नहीं मानते थे। इस युग की प्रायः सभी साधु परम्पराओं में आचारवाद का सम्यक् संचार था।

वैदिक साधुओं की रुचि में शनैः शनैः परिवर्तन होने लगा। वह प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति मार्ग की ओर जाने लगी। उपनिषद् युग में आकर अधिकांश ऋषि निवृत्ति मार्गी हो गये थे।[3] इसके आगे जितनी भी साधु-परम्परायें उदित हुईं उनमें अधिकांश निवृत्त्योन्मुखी थीं।

पूर्व वैदिक युग में हमें साधुओं की केवल दो स्थूल परम्परायें मिलती हैं। १—ब्राह्मण साधुओं की परम्परायें। २—ब्राह्मणेतर साधुओं की परम्परायें। १—ब्राह्मण साधुओं की परम्परायें—वैदिक संहिताओं में हमें २ प्रकार के साधुओं का वर्णन मिलता है। एक ऋषि[4] और दूसरे मुनि। ऋषियों[5] के भी दो वर्ग थे।—एक ब्रह्मर्षियों[6] का दूसरा राजर्षियों[7] का।

ऋषि साधुओं का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर मिलता है।[8] ये लोग सीधा सादा जीवन व्यतीत करते थे। तपस्या उनके जीवन का प्रधान अंग था[9]। इनमें से कुछ संन्यासी[10] और कुछ गृहस्थ होते थे। समाज[11] में उनका विशेष सम्मान था। उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा से वे लाभ भी उठाते थे। परावृज नामक ऋषि ने अंधे और लँगड़े होते हुए भी कई कन्याओं से विवाह किया था।[12] इन ऋषियों में तपस्या का एक विशेष

---

[1] इसके प्रमाण में देखिए—ऋग्वेद में ब्राह्मण का उपाख्यान प्रथम मण्डल २१ सूक्त
[2] इन्डिया—ए० एल० बाशम पृ० २३ या २४
[3] कम्प्रिहेन्सिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी
[4] ऋषियों का वर्णन देखिए ऋग्वेद मं० १।१।५
[5] ऋग्वेद प्रथम मंडल का ११६ वां सूक्त
[6] विश्वामित्र राजर्षि थे
[7] वसिष्ठ आदि ऋषि ब्रह्मर्षि थे
ऋग्वेद संहिता प्रथम अष्टक—रामगोविन्द त्रिवेदी की टीका पृ० ९
[9] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृ० ८८
[10] संन्यासी का उदाहरण ऋग्वेद १।४।११ भाग ३ पृ० ८८
[11] ऋग्वेद
[12] " संहिता—रामगोविन्द त्रिवेदी द्वितीय अष्टक ११२वाँ सूक्त मंत्र ५

तेज पाया जाता था। यह बात पठरवा ऋषि के वर्णन से प्रतीत होती है। उनका शरीर अग्निशिखा सदृश तेज से आभासमान रहता था।[1]

ऋग्वेद में एक स्थल पर मुनियों के साधु का उल्लेख भी किया गया है।[2] उसमें लिखा है कि मुनि वह होता है जिसकी मेखला वायु की होती है अपने मौन में सृष्टि का अनुभव करता है। पक्षी और गंधर्वों के सदृश वह आकाशगामी भी होता है।

इस प्रकार के मुनि साधुओं के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग तो इन्हें ब्राह्मणेतर परम्परा के साधु मानने के पक्ष में हैं और कुछ के अनुसार ये ब्राह्मण साधु-परम्परा से संबंधित थे। पहले मत के समर्थकों में प्रोफेसर कीथ[3] और प्रोफेसर हार[4] विशेष उल्लेखनीय हैं। भारतीय विद्वान द्वितीय मत के समर्थक हैं। मैं स्वयं दूसरे मत के पक्ष में हूँ मेरी दृढ़ धारणा है कि मुनि लोग ब्राह्मण साधु ही थे। अपने मत के समर्थन में हम कई तर्क[5] दे सकते हैं। पहली बात तो यह है कि बृहदारण्यकोपनिषद् में जहाँ पर इन साधुओं का वर्णन किया गया है उस वर्णन से रत्ती-भर भी इस बात का संकेत नहीं मिलता कि ये लोग ब्राह्मण साधुओं से संबंधित नहीं थे। अन्य उपनिषदों में भी जहाँ कहीं इनका उल्लेख मिलता है, वहाँ ये ब्राह्मण साधु के रूप में ही चित्रित किये गये हैं। दूसरी बात यह है कि मुनि लोगों का वर्णन सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य अर्थात् अधिकांश श्रुतियों और स्मृतियों में किया गया है। यदि वे ब्राह्मणेतर साधु होते तो श्रुतियों व स्मृतियों और पुराणों में उनका इतना उल्लेख नहीं किया गया होता जितना हमें आज उपलब्ध है। हमारी समझ में मुनि लोग उन सिद्ध ऋषियों को कहते थे जो संसार से उदासीन होकर जीवन मुक्त और परम हंस हो जाते थे। डायसन[6] साहब ने ऋषि और मुनि के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मुनि उन ऋषि को कहते थे जो आध्यात्मिक सम्पन्नता की स्थिति को पहुँच जाता था ऋषि साधारण परिव्राजक थे। डायसनकृत इस भेदीकरण से यह भी व्यंजना निकलती है कि ऋषियों के सदृश मुनि भी ब्राह्मण साधु ही होते थे।

---

[1] वही—प्रथम मण्डल ११२ सूक्त १०वाँ मन्त्र

[2] रिलीजन आफ दी ऋग्वेद ग्रिसवोल्ड आक्सफोर्ड १९२३ पृ० ११८
दशम मण्डल का १३६वाँ सूक्त सायणकृत पृ० २११

[3] रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ वेद कीथ कैम्ब्रिज १९२५—भाग २ पृ० ४०२

[4] डर योग ग्यास—हॉफमन स्टटगार्ट १९१९ पृ० १२ हाउअर

[5] हिन्दू सिविलिजेशन मुकर्जी लन्दन १९५० पृ० २११

[6] हिस्ट्री आफ हिन्दू मायथोलोजी—डायसन पृ० ११२ (१९५०)

ऋग्वेद के पश्चात् ऋषि-मुनियों का उल्लेख हमें अथर्ववेद में मिलता है। अथर्ववेद में वर्णित साधुओं के जीवन में तपस्या और वैराग्य का विशेष महत्व व्यक्त किया गया है। अथर्ववेद में बहुत से ऐसे ऋषियों का उल्लेख मिलता है जो घोर तपस्या करके पंचतत्वों पर अधिकार कर लेते थे और विविध प्रकार की गूढ़ सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते[1] थे।

उपनिषद् और आरण्यक काल में ऋषि-साधुओं की परंपराएँ अपने विकास की परमकाष्ठा पर पहुँच गई थीं। उनकी प्रवृत्ति पूर्णतया निवृत्त्योन्मुखी हो गई। ज्ञान और वैराग्य उनके जीवन के प्रधान अंग बन गये। इतना होते हुए भी अधिकांश ऋषि लोग गृहस्थ जीवन ही व्यतीत करते थे।[2] महर्षि याज्ञवल्क्य के तो दो स्त्रियाँ थीं फिर भी वह अपने युग के सबसे महान् सन्त दार्शनिक समझे जाते थे। इन गृहस्थ ऋषियों का जीवन सरल सात्विक और आडंबरशून्य होता था।[3] वे ब्रह्म[4] ज्ञान और तत्त्व[5] की खोज में अपना सर्वस्व लगा देते थे। इस युग को हम गृहस्थ साधुओं का स्वर्णयुग कह सकते हैं। उनमें वास्तव साधुओं के सच्चे आदर्श गुण पाये जाते थे। उधर उपनिषद् काल[6] में एक नई प्रवृत्ति उदित होती हुई दिखाई दी थी। वह थी साधुता को मानव जीवन का प्रधान अंग बनाने की। आश्रम[7] प्रथा का विकास इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से हुआ था। आश्रम व्यवस्था का संकेत हमें सर्वप्रथम उत्तरकालीन उपनिषदों में मिलता है। उसका पूर्ण और चरम विकास सूत्र और स्मृति युग में हुआ। सूत्रों में आकर हमें वास्तव साधु के लिए एक नया श्रमण[8] शब्द भी मिलता है। हमारी समझ में यह शब्द भी वास्तव साधुओं के एक वर्ग का द्योतक है। सम्भवतः यह शब्द बौद्धों ने सूत्र ग्रंथों से ही प्राप्त किया था। स्मृति युग में आकर द्विज जाति के लिए साधु जीवन अनिवार्य बन गया। जीवन के चार भाग कर दिये गये। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। जीवन के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ आश्रम साधु जीवन के ही तीन पक्ष कहे जा सकते हैं। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में रहकर साधुजीवन

[1] इण्डियन फिलासफी राधाकृष्णन कृत प्रथम भाग पृ० १११

[2] छांदोग्य ५।१०।१

[3] कंस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी पृ० ११८।७६

[4] तैत्तरीय उपनिषद् २।१

[5] कंस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी पृ० १११

[6] एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन्स आफ इण्डिया न्यूयार्क १९०२ पृ० ७२

[7] देखिए एंसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग १ न्यूयार्क १९५१ पृ० १२८

[8] बौधायन श्रौत सूत्र १८।१० ए० एस० बी० एडीशन पृ० ९०१

व्यतीत करनेवालों को वैखानस[1] या भिक्षु की संज्ञा दी गई है। स्मृति[2] ग्रन्थों में इन्हीं को यति या संन्यासी कहा गया है। पाणिनी[3] की अष्टाध्यायी से हमें पता चलता है कि वैखानसों के कर्तव्य शास्त्र की भी रचना हुई थी। यह ग्रंथ वैखानस सूत्र कहलाते थे। पाणिनी ने दो वैखानस सूत्रकारों[4] का उल्लेख किया है एक पाराशर्य और दूसरे कर्मन्द। इन वैखानस सूत्रों के अतिरिक्त भिक्षुओं और संन्यासियों[5] के कर्तव्यों और आचरणों की व्यवस्था सूत्र और स्मृति ग्रंथों में भी की गई है। यहाँ पर उनका थोड़ा सा दिग्दर्शन करा देना अनुचित न होगा। विष्णु स्मृति में लिखा है कि संन्यासी को सर्वप्रथम वानप्रस्थ आश्रम में रहकर तपस्या के द्वारा अपने शरीर को पवित्र और शुद्ध करना चाहिए।[6] शरीर के शुद्ध होने पर ही संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। उसी स्मृति में यह भी लिखा है कि उसे केवल सात घरों में ही भिक्षा माँगनी चाहिए। भिक्षा न मिलने पर दुःखी नहीं होना चाहिए। उसे भिक्षु से भिक्षा भी नहीं लेनी चाहिए। मिट्टी या लकड़ी के बर्तन में ही उसे भोजन करना चाहिए। उसे शून्य घर में या वृक्षमूल में निवास करना चाहिए। दो रात्रि से अधिक किसी एक स्थान पर नहीं रहना चाहिए। उसे अपनी दृष्टि मन और वाणी पवित्र रखनी चाहिए। उसे जीवन, मरण, आशा और निराशा से उदासीन भी होना चाहिए।[7] इसी प्रकार के बहुत से यति नियमों का उल्लेख स्मृति ग्रंथों में किया गया है। विस्तार भय से यहाँ पर उन सब का उल्लेख नहीं कर सकते। स्मृतियों की इस आश्रम व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि आधी से अधिक हिन्दू जाति साधु-जीवन व्यतीत करने लगी[8]। विविध प्रकार की घोर तपस्याओं का प्रचार बढ़ गया। पुराणों में हमें सैकड़ों प्रकार की घोरातिघोर तपस्याओं की चर्चा मिलती है। लिंग पुराण[9] में केवल जल पीकर अथवा केवल वायु भक्षण कर तपस्या करनेवाले साधुओं का उल्लेख किया गया

[1] गौतम धर्मशास्त्र भाग ३ पृ० २९

[2] स्मृति संदर्भ भाग १ पृ० ४४० कलकत्ता १९५२ और देखिए वही पृ० ५५९-६०

[3] इण्डिया ऐज नोन टू पाणिनी—वी० एस० अग्रवाल लखनऊ १९५३ पृ० ३८०

[4] पाणिनी अष्टाध्यायी ४।३।११० पाराशर्य। ४।३।१११ कार्मन्दम

[5] फर्कुहर साहब का मत है कि स्मृतियों में जिन यतियों या सन्यासियों का उल्लेख किया गया है उन पर जैनों और बौद्धों का प्रभाव नहीं। यह दोनों सम्प्रदाय जैन और बौद्ध धर्मों के उदय के पूर्व के हैं। देखिए दी फाइटिंग एसिटिक्स आफ इण्डिया बुलेटिन आफ दी जानरीलैण्ड्स लाइब्रेरी भाग ९ नं० २ जुलाई १९२५

[6] स्मृति संदर्भ भाग १ कलकत्ता १९५२ पृ० ५२९

[7] वही पृ० ५३१

[8] हिन्दू सिविलीजेशन-मुकर्जी लखनऊ १९५० पृ० २१०

[9] लिंग पुराण अध्याय ८९ तथा १०७।१०

है। धातु पान कर साधना करनेवाले कुछ साधुओं का उल्लेख वायु और वामन पुराणों में भी मिलता[1] है। बहुत से ऐसे साधु होते थे जो केवल वृक्ष का पका हुआ पत्ता खाकर ही साधना करते थे। वायु[2] और स्कंध[3] पुराणों में इस कोटि के तपस्वियों के वर्णन मिलते हैं। इसी प्रकार की उनमें दन्तोलूखलिन अश्मकुट्ट,[4] फलाहारी, धूम्रपानी[5], पंचाग्निसाधक, शैवालभोजी, अभ्रावकाशिका[6] आदि न मालूम कितने प्रकार के वर्णन आते हैं। इन सब प्रमाणों से प्रकट है कि पौराणिक युग में जनता गृहस्थाश्रम से भी अधिक वानप्रस्थ और संन्यास को महत्त्व देती थी। समाज में सच्चे साधुओं का बहुत आदर था। ३२६ ई० पू० में जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था उस समय वहाँ सैकड़ों सच्चे और आदर्श साधु वर्तमान थे। तत्कालीन इतिहासकारों ने कुछ साधुओं का उल्लेख भी किया है।[7] साधु जीवन का आदर्श अधिक दिन स्थिर न रह सका। उसमें शनैः-शनैः स्वार्थ भावना आ घुसी। रामायण और महाभारत में बहुत से ऐसे लोगों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने साधु जीवन केवल किसी स्वार्थवश ही स्वीकार किया था। उस स्वार्थ के सिद्ध हो जाने पर पुनः गृहस्थ बन गये थे। रामायण के रावण और विराध ऐसे ही पात्र हैं। महाभारत के आदि पर्व में इसी प्रकार के दो दैत्यों का उल्लेख किया गया है।[8] लिंग पुराण के तिक राक्षस ने भी स्वार्थवश ही साधु-जीवन स्वीकार किया था।[9] इस प्रकार के साधकों को हम एक स्वार्थी साधुओं की परम्परा का प्रवर्तक मान सकते हैं। स्वार्थी साधुओं ने ही धीरे-धीरे आडम्बरी साधुओं को जन्म दिया होगा। आडम्बरी और धूर्त साधुओं की परम्परा भी कम प्राचीन नहीं है। एक प्राचीन जैन धर्मग्रंथ में एक आडम्बरी और धूर्त साधु का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से दिया हुआ है।

[1] ऐ साधु तुम्हारे ओढ़ने में बहुत सी[1] छेद हैं। हाँ, क्योंकि मैं उनमें मछलियाँ छिपा लेता हूँ। तो क्या तुम मछली भी खाते हो? हाँ, मैं मदिरा के साथ

---

[1] वायु पुराण ७७।१ तथा वामन पुराण १०।८

[2] वायु पुराण ७२।९

[3] स्कंध पुराण १।२१।१५१

[4] लिंग पुराण ९६।७९

[5] वायु पुराण ६७।११७

[6] लिंग पुराण ११।२१-२६

[7] दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग १ पृ० ३५८

[8] आदि पर्व अध्याय

[9] हिंदू पैगिज्म—[illegible] १८१० पृ० ५१ से ५३ तक

[1] हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर—भाग २—विंटरनित्ज़ पृ० ४८५

उन्हें भी खाता हूँ। तो तुम मदिरा भी पीते हो ? हाँ, अपनी वेश्या के साथ। तो तुम वेश्यागामी भी हो ? जब मैं अपने शत्रुओं का दमन कर चुकता हूँ। तो तुम्हारे शत्रु भी हैं ? हाँ केवल वे ही लोग मेरे शत्रु हैं जिनके घर मैंने लूटे हैं। तो तुम चोरी भी करते हो ? हाँ, केवल द्यूत के लिए। तो तुम जुआरी भी हो ? हाँ, क्योंकि मैं एक दासी पुत्र ही तो हूँ। इस प्रकार के आडम्बरी साधुओं के कुछ सम्प्रदायों का संकेत पाणिनि ने भी किया है। एकदण्डिक अमरशक्त और मस्करी ऐसे ही आडम्बरी साधुओं के सम्प्रदाय थे।[1]

आडम्बर के साथ-साथ साधु-समाज में साम्प्रदायिकता भी प्रविष्ट हो गई। शनैः-शनैः साधुओं के विविध सम्प्रदाय उत्पन्न होने लगे। साधु जगत् की इस साम्प्रदायिकता का संकेत हमें प्राचीन जैन[2] और बौद्धग्रंथों[3] में मिलता है। किन्तु इन ग्रंथों में जिन साधु सम्प्रदायों का संकेत किया गया है वे प्रायः नास्तिक और प्रतिक्रियावादी हैं। हमारा अनुमान है कि ब्राह्मण साधुओं में अन्य धर्म के साधुओं की अपेक्षा साम्प्रदायिकता कम थी। पाणिनी ने अपने समय के ब्राह्मण साधुओं के सम्प्रदायों का उल्लेख किया[4] है। उसने एक सम्प्रदाय उंछवृत्ति[5] नामक साधुओं का संकेतित किया है। ये लोग खेत पर भविष्य के लिए थोड़ा-सा अन्न छोड़कर एकत्रित कर लिया करते थे। साधुओं का दूसरा वर्ग सार्ववर्णिकों[6] का था। ये लोग भिक्षा में भोजन सभी प्रकार के लोगों से बिना किसी वर्णिक भेदभाव के स्वीकार कर लेते थे। तीसरा सम्प्रदाय नैकटिक[7] साधुओं का था। इन्हें नैकटिक इसलिए कहते थे क्योंकि वे निकेत बनाकर रहते थे। चौथा वर्ग कौक्कुटिक[8] साधुओं का था। ये अपनी दृष्टि सदैव पृथ्वी की ओर रखते थे कि कहीं उनसे हिंसा न हो जाय। ये चारों वर्ग ब्राह्मण साधुओं के ही थे। ये लोग अधिकतर पाराशर्य या कर्मन्द नामक आचार्यों के भिक्षु सूत्रों के नियमों का पालन करते थे। इनके अतिरिक्त पाणिनी में हमें मासपोखर[9] साधुओं का भी उल्लेख मिलता है।

---

[1] इंडिया एज नोन टु पाणिनी—वी० एस० अग्रवाल पृ० ३८१
[2] देखिए सूत्र कृतांग २।६
[3] दीघ निकाय—हिंदी अनुवाद पृ० ६, १०
[4] इण्डिया एज नोन टु पाणिनी—वी० एस० अग्रवाल पृ० ३८०-८१
[5] पाणिनी ४।४।३२।
[6] वही ५।२।१४।
[7] वही ४।४।७३।
[8] वही ४।४।४६।
[9] इण्डिया एज नोन टु पाणिनी पृ० ३८२

किन्तु उनके सम्प्रदायों का निर्देश कहीं पर भी नहीं किया गया है।

बौद्ध और जैन ग्रंथों में जिन जिनको साधु सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है वे सब ब्राह्मणेतर साधुओं के ही थे। उनका विवेचन ब्राह्मणेतर साधु सम्प्रदायों की परम्पराओं का निर्देश करते समय किया जायेगा।

योगवाशिष्ठ ब्राह्मण धर्म और दर्शन का बड़ा प्रतिष्ठित ग्रंथ माना जाता है। इस ग्रंथ में हमें ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर दोनों कोटि के साधुओं के संकेत मिलते हैं। वे ऋषि[1] मुनि[2] योगी[3] और तपस्वी[4] आदि विविध वर्ग के थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मण साधुओं की परम्परा वैदिक काल से ही अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। मध्ययुग में यह अपने आदर्शों से च्युत हो गई थी। उनमें मिथ्या पाखण्ड का प्रचार हो गया था। मध्ययुग के विवेचन से यह और अधिक स्पष्ट हो जायगी।

ब्राह्मणेतर साधु-परम्पराएँ—भारत में ब्राह्मण साधु सम्प्रदायों की अपेक्षा ब्राह्मणेतर साधु सम्प्रदाय कहीं अधिक रहे हैं। ये सम्प्रदाय अधिकतर प्रतिक्रियावादी थे। स्थूलरूप से ये सब दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—

१—आस्तिक प्रतिक्रियावादी ब्राह्मणेतर साधु।

२—नास्तिक प्रतिक्रियावादी ब्राह्मणेतर साधु।

आस्तिक प्रतिक्रियावादी ब्राह्मणेतर साधु-परम्पराएँ—हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि वैदिकयुग में ऋषि साधुओं के साथ ब्राह्मणेतर व्रात्य[5] साधु भी वर्तमान थे। ये लोग प्रतिक्रियावादी थे इनका लक्ष्य वैदिक विधि-विधानों और पुरोहितवाद का विरोध करना था। ये सहज मानव धर्म में विश्वास करते थे। इनका स्वभाव फक्कड़ और घुमक्कड़ होता था। साधना की दृष्टि से इन्हें योगी कहा जा सकता है। इनकी वेषभूषा ब्राह्मण ऋषियों से भिन्न होती थी। इनके एक हाथ में एक भीख माँगने का पात्र होता था और दूसरे में त्रिशूल। ये लोग प्रजापति और रुद्र देवता की उपासना करते थे। इन व्रात्यों को हम शैव मानने के पक्ष में हैं। शैव साधु परम्परा के मूल प्रवर्तक ये ही थे।

---

[1] दी फिलासफी आफ योगवासिष्ठ—बी० एल० आत्रेय पृ० ८५ पर अत्रि ऋषि का वर्णन और पृ० ४१ पर वीतहव्य ऋषि।

[2] उसी ग्रन्थ में पृ० ८८ पर उद्दालक मुनि का उल्लेख देखिए।

[3] देखिए वही ग्रन्थ पृ० ६५

[4] वही ग्रन्थ सातवाँ अध्याय

[5] व्रात्यों का उल्लेख निम्नलिखित ग्रन्थों में किया गया है—
(क) हठयोग एण्ड टीचिंग्स हर पृ० ८। (ख) मिस्टिक्स, मिस्टिसिज्म—एपेन्डिक्स पृ० २११

कीथ और हर मोहन[1] वैदिक मुनि साधुओं को भी शैव मानने के पक्ष में हैं। उनके मत का निराकरण हम पहले ही कर चुके हैं। हमारी समझ में ये ब्राह्मण साधु ही थे। अतएव उन्हीं के प्रसंग में इनका उल्लेख कर दिया गया है।

वैदिक शास्त्रों से क्रमशः शैव साधु परंपरा का विकास होता गया। ह्वेनसांग ने अपनी यात्रा के प्रसंग में बहुत प्रकार के शैव साधुओं का उल्लेख किया है। उनमें से कुछ नंगे रहते थे, कुछ भभूत लगाते थे, कुछ हड्डियों की माला पहनते थे और कुछ नर-कपालों की माला पहननेवालों का नाम उसने नर कपालधारी दिया है। ह्वेनसांग[2] से भी पूर्व हमें शैव साधुओं का उल्लेख दंडी के दशकुमारचरित[3] नामक ग्रंथ में मिलता है। बाणभट्ट के हर्षचरित से भी हमें कई प्रकार के साधुओं का संकेत मिलता है। उनमें कापालिक और मस्करी विशेष उल्लेखनीय हैं।[4] हर्षचरित का भैरवाचार्य संभवतः शाक्त कापालिक ही था। शैव साधुओं का उल्लेख आनंदगिरि ने अपने शंकर विजय नामक ग्रंथ में किया है।[5] भवभूति के मालतीमाधव में अघोर घंट नाम के कापालिक साधु का ही उल्लेख किया गया है।

कुछ अरब यात्रियों ने अपनी यात्रा के प्रसंग में कुछ ऐसे साधुओं की चर्चा भी की है जो सम्भवतः शैव ही थे। सुलेमान सौदागर ने बेकोर नामक साधुओं को देखा था[6]। ये लोग गर्मी में केवल चार अंगुल की लँगोटी पहनते थे और जाड़ों में चटाई ओढ़ते थे। उसने कुछ ऐसे भी साधु देखे थे जो अपने वस्त्र बहुत से टुकड़ों को जोड़कर बनाते थे और शरीर में जली हुई हड्डियों की राख मलते थे तथा गले में आदमी की खोपड़ी लटकाये रहते थे। २१७ हिजरी में यात्रा करनेवाले एक अन्य अरब यात्री[7] ने भी शैव साधुओं का उल्लेख किया है। नवीं शताब्दी में

---

[1] (क) रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ वेद भाग २ पृ० ४०२। (ख) इण्डिया पृ० एस० बाशम १९५४ लन्दन पृ० २६ २४ (ग) हर्स्टोरा एण्ड—ईसवंश—रीपर स्टुअर्ट—१९१२ पृ० २२

[2] (क) बील सी यू की—बुद्धिस्ट रिकार्डस् आफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड पृ० ५५
(ख) कुमार स्वांग—ऐन्शल आफ इण्डिया पृ० १११

[3] जरनल आफ दी अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी भाग ४० पृ० २१२

[4] हर्षचरितसार-बाणभट्ट-शैव—पृ० ११ २० तक

[5] जरनल आफ दी अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी भाग ४० पृ० २०६ २०७

[6] मालतीमाधव-देवधर और मूल—पृ० [illegible] १७ १९३५

[7] अरब और भारत के संबंध पृ० ८९

आनेवाले सुलेमान[1] सौदागर ने भी शैव साधुओं को अपनी यात्रा में देखा था। उनका वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि भारत में ऐसे लोग भी हैं जो पहाड़ों और जंगलों में घूमा करते हैं और लोगों से नहीं मिलते हैं। जब भूख लगती है तो वे लोग जंगल के फल या घास खा लेते हैं। उनमें से कुछ लोग बिलकुल नंग-धड़ंग रहते हैं। हाँ केवल एक चीते की खाल का टुकड़ा अवश्य तन पर पड़ा रहता है। मैंने इसी प्रकार के एक आदमी को धूप में बैठे हुए देखा था। सोलह वर्ष बाद जब मैं उसी ओर से गया तब भी मैंने उसको उसी प्रकार और उसी दशा में [illegible] पाया। मुझे आश्चर्य होता था कि धूप की गर्मी से उसकी आँखें क्यों न बह गईं।

परवर्ती संस्कृत साहित्य में शैव साधुओं के उल्लेख बराबर मिलते रहे हैं। प्रबोध-चन्द्रोदय[2] नामक नाटक में शैव शाक्त कापालिकों का संकेत किया गया है। शैव सम्प्रदायों का उल्लेख [illegible] सबसे पहले स्वामी रामानुजाचार्य[3] के श्री भाष्य में मिलता है। उसमें उन्होंने कालमुख और कापालिक नामक २ सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। कालमुख[4] साधुओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि वे सब प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिए कई प्रकार के आचरण बतलाते हैं। उनके मतानुसार कालमुख साधु को खप्पर में मद्य पीना चाहिए। मुर्दे की राख शरीर में लगानी चाहिए। मुर्दे का मांस खाना चाहिए तथा अपने एक हाथ में डंडा और दूसरे में मदिरा का पात्र भी रखना चाहिए। उन्हें हाथ में रुद्राक्ष की माला भी पहननी चाहिए। रामानुजाचार्य ने जिस दूसरे शैव सम्प्रदाय का उल्लेख किया है उसका नाम कापालिक है।[5] यह सम्प्रदाय कालमुख सम्प्रदाय से अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। क्योंकि इसका उल्लेख छठी शताब्दी के ग्रन्थ दशकुमारचरित[6] तक में मिलता है। ह्वेनसांग[7] ने तो इन्हें स्वयं देखा था। कापालिक सम्प्रदाय का कालमुख सम्प्रदाय से केवल साधना

---

[1] देखिए—अर्ली मुस्लिम अकाउंट आफ हिंदू रिलीजन-जरनल आफ दी बाम्बे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी पृ० ११९
अरब और भारत के संबंध हिंदी अनुवाद रामचंद्र वर्मा—१९३० इलाहाबाद पृ० ५९
[2] प्रबोध चन्द्रोदय—टेलर साहब का ट्रान्सलेशन पृ० ३१ बी० पी
[3] वेदान्त सूत्र विद रामानुजस कमेन्ट्री-थीबत १९०४—थिबाउट कृत पृ० ५२०-५२१
[4] थिबाउट ट्रांसलेशन इन एस० बी० ई० लन्दन १९०४ पृ० ५२१
[5] वही पृ० ५२० व २१
[6] जरनल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी—भाग ४४ पृ० ११२
[7] वाटर्स युवानच्वांग—ट्रेवल्स इन इंडिया १—१२१

संबंधी भेद ही नहीं था, वरन् इन दोनों की बाह्य वेशभूषा में भी अन्तर होता है। कालमुख सम्प्रदाय के अनुयायी लिंग में अपना यंत्र भी रखते थे पर कापालिकों का लिंग केवल साफ ही होता था। वे कपालों की माला अवश्य ही पहनते थे। मध्य युग में इनका सम्प्रदाय बहुत अधिक प्रभुत्वशाली था। गोरक्ष[1] सिद्धांत संग्रह में तो यहाँ तक लिखा है कि शंकराचार्य की पराजय एक कापालिक के द्वारा ही हुई थी। आगे चलकर कापालिक सम्प्रदाय से ही गोरख का नाथपंथ निकला। कापालिकों में जिन बारह आचार्यों की मान्यता है उनमें एक गोरखनाथ भी हैं। औघड़ और अघोरी पंथ भी कापालिक सम्प्रदाय से ही निकले हैं।

कालमुख और कापालिक सम्प्रदाय के अतिरिक्त शैवों के पाशुपत[2] और लकुलीश[3] नामक सम्प्रदाय और प्रसिद्ध हैं। इन दोनों का उल्लेख सर्वप्रथम माधव के सर्वदर्शन संग्रह में मिलता[4] है। इनमें पाशुपत सम्प्रदाय बहुत प्राचीन है। इसका उल्लेख हमें महाभारत में मिलता[5] है। आठवीं शताब्दी में यात्रा करनेवाले अरब यात्री अलशहरिस्तानी ने भी पाशुपतों का वर्णन किया है।[6] लकुलीश पाशुपतों की ही एक शाखा थी। सर्वदर्शन संग्रह में इनके दार्शनिक पक्ष का विवेचन किया गया है।

मध्ययुग में शैव साधुओं के और भी कई सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये थे। इनमें नाथ, अघोरी और औघड़ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके भी अलग-अलग बहुत से उपसम्प्रदाय बताये जाते[7] हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं मध्ययुग में शैव साधुओं के सम्प्रदाय थे। इसी प्रसंग में हम दक्षिण के तामिल शैव संतों का भी उल्लेख कर देना चाहते हैं। इन संतों की परम्परा का उदय तो पाँचवीं शताब्दी में ही हो गया था। किंतु सम्यक् विकास ११वीं शताब्दी के बाद ही हुआ। ये संत आगमवादी उपासक थे इसी लिए वेद और आगम दोनों में ही अपने विश्वास रखते थे। वे दया-दाक्षिण्य और प्रेमप्रधान भगवान् शिव की उपासना करते थे। इनके सिद्धांत वैष्णव आचार्य वल्लभाचार्य से बहुत मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं। दोनों में केवल इतना ही अंतर है

---

[1] नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद १९५० पृ० ७

[2] देखिए वैष्णविज्म शैविज्म—भण्डारकर पृ०

[3] भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय पृ०

[4] सर्वदर्शन संग्रह—ई० बी० कौवेल—सम्पा० १८८२ पृ० २०३ तक

[5] दी ग्रेट एपिक होपकिन्स पृ ११८

[6] अरली मुस्लिम अकाउंट आफ दी हिंदू रिलीजन जरनल ऑफ बाम्बे ब्रांच सोसाइटी भाग १४ पृ० ९९

[7] नाथपंथ—डा० हजारीप्रसाद पृ० ७८

कि वल्लभाचार्य प्रेम में मर्यादा को विधेय नहीं मानते थे जब कि वे मर्यादापूर्ण भक्ति में विश्वास करते थे।

ब्राह्मणेतर नास्तिक साधु परम्पराएँ—साधारणतया लोगों की धारणा है कि बौद्ध जैन और लोकायत मत ही नास्तिक हैं। इनसे संबंधित साधु ही नास्तिक साधु होते होंगे। किन्तु यह धारणा बहुत सारपूर्ण नहीं है। जहाँ तक बौद्ध और जैन साधुओं का संबंध है वे सिद्धांत रूप से चाहे नास्तिक ही कहे जाते हैं। किन्तु उनमें आस्तिकता किसी न किसी प्रच्छन्न रूप में अवश्य मिलती है। हाँ, लोकायत मत अवश्य पूर्ण निरीश्वरवादी है। इस मत के साधुओं को हम नास्तिक ब्राह्मणेतर साधुओं की कोटि में ले सकते हैं। नास्तिक साधुओं के और भी बहुत से सम्प्रदाय भारत में थे। इनका प्रवर्तन जैन और बौद्ध मतों के उदय से पहले ही हो चुका था। प्राचीन जैन और बौद्ध ग्रंथों में हमें इनका संकेत मिलता है। ये नास्तिक मत सैकड़ों की संख्या में थे। जैन उत्तराध्ययन[1] सूत्र और सूत्रकृतांग नामक ग्रन्थों में तीन सौ त्रेसठ प्रतिक्रियावादी नास्तिक मतों का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार दीघनिकाय नामक बौद्ध ग्रंथ के ब्रह्मजाल सुत्त में भी बासठ[2] कुछ तत्कालीन नास्तिक मतों की चर्चा की गई[3] है। कुछ प्राचीन नास्तिक मतों का उल्लेख [illegible] उपनिषद् ग्रंथों में भी मिलता है। केवल श्वेताश्वतर[4] उपनिषद् में ही कालवादी स्वभाववादी, नियतिवादी और भूतवादी नास्तिक मतों का संकेत किया गया है। उपर्युक्त ग्रन्थों में जिन अनेकानेक नास्तिक संत-सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है उनमें उपर्युक्त चार के अतिरिक्त शाश्वतवाद, नित्य अनित्यवाद, अंतानंतवाद, अमराविक्षेपवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद, दैववाद, अनिश्चिततावाद, चतुर्यामसंवरवाद आदि विशेष प्रसिद्ध[5] हैं। इनमें जिनका थोड़ा विस्तृत विवेचन किया गया है वे केवल ६ ही हैं। शेष तो केवल नामावशेष ही रह गये हैं। यहाँ पर हम उन्हीं ६ का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

पूर्णकाश्यप का अक्रियवाद[1]—इस मत का विवेचन आचार्य पूर्ण काश्यप ने मगध नरेश अजातशत्रु के प्रति किया था। दीघनिकाय नामक ग्रंथ में

---

[1] उत्तराध्ययन सूत्र १८।२३ और सूत्र कृतांग २।२।७९ बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० २१

[2] दीघनिकाय हिंदी अनुवाद पृ० ६ १४ श्री बलदेव उपाध्याय लिखित बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० २३ बनारस सम्वत २००६

[3] हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ दि आजीविकास पृ० २३

[4] श्वेताश्वतर उपनिषद् १।२

[5] इन सब का संक्षिप्त परिचय बलदेव उपाध्याय लिखित बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० २४ से २६ तक देखिए बनारस सं० २००६ का संस्करण।

[6] वही पृ० २८ और भी देखिए हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन्स आफ दि आजीविकास पृ० ११

इसका उल्लेख मिलता है। इसका थोड़ा सा संकेत हम ऊपर भी कर चुके हैं। यहाँ पर हम इसे थोड़ा और स्पष्ट कर देना चाहते हैं। आचार्य काश्यप कर्म और अकर्म के भेद को स्वीकार नहीं करते थे। उनका कहना था कि अच्छे कर्म करने से न तो पुण्य मिलता है और न बुरे कर्म करने से पाप। दीघ निकाय[1] के अनुसार इस मत का प्रतिपादन इस प्रकार है—करते-कराते छेदन करते, छेदन कराते, पकाते-पकवाते, शोक करते, परेशान होते, परेशान कराते, चलते-चलाते, प्राण मारते, बिना दिया लेते, सेंध मारते, गाँव लूटते, चोरी करते, बटमारी करते, परस्त्रीगमन करते, झूठ बोलते भी पाप नहीं किया जाता। छुरे के तेज चक्र द्वारा जो पृथ्वी के मनुष्यों का मांस का खलिहान बना दे, मांस का पुंज दे तो इसके कारण उसे पाप नहीं, पाप का आगम नहीं। यदि घात करते-कराते, काटते-कटाते, पकाते पकवाते गंगा के दक्षिण तीर पर भी जाय तो भी इस कारण उसे पाप नहीं, पाप का आगम नहीं होगा। दान देते दान दिलाते यज्ञ करते, यज्ञ कराते यदि गंगा के उत्तर तीर भी जाय तो इसके कारण उसे पुण्य का आगमन नहीं होगा। दान दम संयम सत्य के आचरण से न पुण्य है न पुण्य का आगम है।

आचार्य अजित केश कम्बल प्रवर्तित[2] उच्छेदवाद—आचार्य अजित के मतानुसार सृष्टि चतुर भूतों का संघात है। मानव शरीर भी पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन्हीं चार महाभूतों से बना है। मृत्यु के पश्चात् ये चारों महाभूत क्रमशः अपने-अपने मूल तत्त्वों में विलीन हो जाते हैं। ये लोग आत्मतत्त्व या अमृतत्त्व जैसी कोई नहीं मानते। परलोकवाद में भी इन्हें विश्वास नहीं था। इनकी दृष्टि में स्वर्ग और नर्क मानव मन की कल्पना मात्र थे।

अकृततावाद[3]—आचार्य प्रकुध कात्यायन ने इस वाद का प्रवर्तन किया था। इनका कहना था कि संसार में केवल सात पदार्थों की सत्ता है। चार महाभूत सुख-दुःख तथा जीवन। इन्हीं सात तत्त्वों को इन लोगों ने सात कायों की संज्ञा दी है। दीघनिकाय[4] में इस मत का वर्णन इस प्रकार किया गया है—यह सात काय (समूह) अकृत के समान, अनिर्मित के समान, अवध्य कूटस्थ स्तम्भवत् अचल हैं। यह चल नहीं होते, विकार को प्राप्त नहीं होते, न एक दूसरे को हानि पहुँचाते

---

[1] दीघनिकाय हिंदी अनुवाद पृ० १९, २०

[2] बौद्धदर्शन पृ० ११ प्रथम संस्करण और भी देखिए—हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ दि आजीविकाज पृ० १५ ले० ए० एल० बाशम लंदन १९५१

[3] बौद्धदर्शन पृ० ११ प्रथम संस्करण

[4] दीघनिकाय हिंदी रूपांतर पृ० ११

हैं। एक दूसरे के सुख दुःख या सुख दुःख के लिए पर्याप्त हैं। कौन से सात ? पृथ्वीकाय (पृथ्वीतत्त्व), आपकाय, तेजकाय, वायुकाय, सुख, दुःख और जीवन यह सात। यह सात काय अकृत सुख दुःख के योग्य नहीं हैं। यहाँ न हन्ता है न घातयिता (मार डालनेवाला) न सुननेवाला न सुनानेवाला न जाननेवाला न जतलानेवाला जो तीक्ष्ण शस्त्र से शीश भी काटे तो भी किसी को कोई प्राण से नहीं मारता। सात कायों से अलग विवर में (खाली जगह में) शस्त्र गिरता है।

अनिश्चिततावाद[1]—इस मत के प्रधान आचार्य संजय बेलट्ठि[2] पुत्त हैं। किसी भी तत्त्व के संबंध में इन्होंने कोई निश्चित सिद्धांत निर्धारित नहीं किया था इसीलिए इनके मत को अनिश्चिततावाद के अभिधान से अभिहित करते हैं। दीघनिकाय[3] में इनके मत का विवरण इस प्रकार दिया गया है।

यदि आप पूछें क्या परलोक है और यदि मैं समझूँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता और मैं वैसा भी नहीं कहता। मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि यह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि यह नहीं नहीं है, परलोक नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी। परलोक न है और न नहीं है। देवता अयोनिपपाती हैं नहीं हैं हैं भी और नहीं भी न हैं और न नहीं हैं। अच्छे बुरे काम के फल हैं, नहीं हैं हैं भी और नहीं भी न हैं और न नहीं हैं। तथागत मुक्त पुरुष मरने के बाद होते हैं नहीं होते हैं। यदि मुझे ऐसा पूछें और मैं ऐसा समझूँ कि मरने के बाद तथागत रहते हैं और न नहीं रहते हैं तो मैं ऐसा भी नहीं कहता और मैं वैसा भी नहीं कहता। उपर्युक्त अवतरण में संजय ने प्रधान तत्त्वों की विवेचना करते समय अस्ति नास्ति अस्ति नास्ति न अस्ति न नास्ति इन चारों कोटियों का निषेध किया है। अतएव कोई निश्चित मत ही स्पष्ट नहीं होता।

चतुर्याम संवर नामक[4] मतवाद—इस मत के प्रधान आचार्य निगंठनातपुत्त थे। ये नगंठनातपुत्त[5] जैनियों के अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी के नाम से भी प्रसिद्ध थे। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। इनकी पत्नी का नाम यशोदा देवी था। ३० वर्ष की अवस्था में इन्होंने संन्यास

[1] बौद्ध दर्शन पृ० १९ प्रथम संस्करण

[2] हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ आजीविक्स पृ० १६ डॉ० एल० बाशम १९५१ संस्करण।

[3] दीघनिकाय हिंदी अनुवाद पृ० २१

[4] बौद्ध दर्शन पृ ३०

[5] हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ दि आजीविक्स पृ० २६
डॉ० ए० एल० बाशम संस्करण १९५१।

ग्रहण कर लिया था। इनके सिद्धांतों का विवेचन जैन ग्रंथों के अतिरिक्त बौद्ध निकायों में भी मिलता है। इन्होंने चार प्रकार के संयम को ही साधना का साध्य माना था। वे चार प्रकार के संयम क्रमशः इस प्रकार हैं—

१—जीवहिंसा के भय से निग्रन्थ जल के व्यवहार का संयम करता है।

२—वह सभी पापों से बचता रहता है।

३—वह सब पापों को दूर करने का प्रयत्न करता है।

४—सब पापों को दूर करके उनसे मुक्त रहता है। इस मत[1] के प्रवर्तकों ने शारीरिक कष्टों पर विशेष बल दिया है। इस मत के प्रवर्तक ज्ञातपुत्र ने तपस्या के सहारे सर्वज्ञता प्राप्त कर ली थी। बौद्धाचार्यों ने उनकी सर्वज्ञता का उपहास किया है।

मक्खलिगोशाल का दैववाद अथवा आजीवक[2] सम्प्रदाय—

बुद्ध के समकालीन मतवादों में सबसे अधिक ख्याति इसी सम्प्रदाय की[3] थी। इसके प्रधान प्रवर्तक आचार्य मक्खलिगोशाल माने जाते हैं। यह मत आजीवक सम्प्रदाय के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस मत[4] के अनुयायी साधु मस्करी कहलाते हैं। हमारी समझ में मस्करी मक्खलि का ही पाली रूप है।

मक्खलिगोशाल का मृत्युकाल विद्वानों ने ५०० बी० सी० के पास निश्चित किया[5] है। यदि हम इनकी आयु १०० वर्ष की भी मानें तो हम इस सम्प्रदाय का उद्भवकाल छठी शताब्दी ई० पू० के आसपास निश्चित कर सकते हैं। इन आचार्य का निश्चित जीवनवृत्त बहुत कुछ अज्ञात ही है। जैन[6] और बौद्ध ग्रन्थ[7] में इनके सम्बन्ध में किंवदन्तियाँ दी हैं वे परस्पर विरोधिनी हैं। कहते हैं कि वे गोबहुल नामक ब्राह्मण की गोशाला में एक मस्करी अर्थात् भिक्षु स्त्री से उत्पन्न हुए थे। इसी लिए इन्हें मस्करी गोशाल या मक्खलिगोशाल कहा जाने लगा था। जैन ग्रंथों में लिखा है वे जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी के समकालीन और कुछ दिन उनके शिष्य भी रहे थे। बाद में इनका उनसे मतभेद हो गया। यह मतभेद इतना बढ़ गया कि एक बार दोनों

---

[1] बौद्ध दर्शन पृ० ४१

[2] हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन्स आफ आजीविका लंदन १९५१ एल बाशम।

[3] बौद्ध दर्शन मीमांसा—पृ० ३० बनारस २००१

[4] देखिये इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स वाल्यूम १ पृ० २६१ न्युयार्क १९५१

[5] वही—पृ० २६१

[6] भगवती सूत्र—१५।१ बिबलियोथिका इण्डिका में हार्नेल द्वारा सम्पादित।

[7] दीघनिकाय पर बुद्ध घोष की टीका में इसका विवरण दिया हुआ है।

हैं। एक दूसरे के सुख दुःख या सुख दुःख के लिए पर्याप्त हैं। कौन से सात? पृथ्वीकाय (पृथ्वीशरीर) आपकाय, तेजकाय, वायुकाय, सुख, दुःख और जीवन यह सात। यह सात काय अकृत सुख दुःख के योग्य नहीं है। यहाँ न हन्ता है न घातयिता (मार डालनेवाला) न सुननेवाला न सुनानेवाला न जाननेवाला न जतलानेवाला जो तीक्ष्ण शस्त्र से शीश भी काटे तो भी "किसी को कोई प्राण से नहीं मारता। सात कायों से अलग विवर में (खाली जगह में) शस्त्र गिरता है।

अनिश्चिततावाद[1]—इस मत के प्रधान आचार्य संजय वेलट्ठिपुत्त[2] हैं। किसी भी तत्त्व के संबंध में इन्होंने कोई निश्चित सिद्धांत निर्धारित नहीं किया था इसीलिए इनके मत को अनिश्चिततावाद के अभिधान से अभिहित करते हैं। दीर्घनिकाय[3] में इनके मत का विवरण इस प्रकार दिया गया है।

यदि आप पूछें क्या परलोक है और यदि मैं समझूँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता और मैं वैसा भी नहीं कहता। मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि यह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि यह नहीं नहीं है, परलोक नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी। परलोक न है और न नहीं है। देवता अयोनिजप्राणी हैं नहीं हैं हैं भी और नहीं भी न हैं और न नहीं हैं। अच्छे बुरे काम के फल हैं, नहीं हैं हैं भी और नहीं भी न है और न नहीं है। तथागत मुक्त पुरुष मरने के बाद होते हैं नहीं होते हैं। यदि मुझे ऐसा पूछे और मैं ऐसा समझूँ कि मरने के बाद तथागत रहते हैं और न नहीं रहते हैं तो मैं ऐसा भी नहीं कहता और मैं वैसा भी नहीं कहता। उपर्युक्त अवतरण में संजय ने प्रधान तत्त्वों की विवेचना करते समय अस्ति नास्ति अस्ति नास्ति न अस्ति न नास्ति इन चारों कोटियों का निषेध किया है। अतएव कोई निश्चित मत ही स्पष्ट नहीं होता।

चतुर्याम संवर नामक[4] मतवाद—इस मत के प्रधान आचार्य निगंठनाथपुत्त थे। ये नगंठनाथपुत्त[5] जैनियों के अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी के नाम से भी प्रसिद्ध थे। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। इनकी पत्नी का नाम यशोदा देवी था। ३० वर्ष की अवस्था में इन्होंने संन्यास

---

[1] बौद्ध दर्शन पृ० ३१ प्रथम संस्करण

[2] हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ आजीविकाज पृ० २६ ले० ए० एल० बाशम १९५१ लन्दन।

[3] दीघनिकाय हिंदी अनुवाद पृ० २२

[4] बौद्ध दर्शन पृ ४०

[5] हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ दि आजीविकाज पृ० १६ ले० ए० एल० बाशम लंदन १९५१।

ग्रहण कर लिया था। इनके सिद्धांतों का विवेचन जैन ग्रंथों के अतिरिक्त बौद्ध निकायों में भी मिलता है। इन्होंने चार प्रकार के संयम को ही साधना का मार्ग माना था। वे चार प्रकार के संयम क्रमशः इस प्रकार हैं—[1]

१—जीवहिंसा के भय से निर्ग्रन्थ जल के व्यवहार का संयम करता है।

२—वह सभी पापों से बचता रहता है।

३—वह सब पापों को दूर करने का प्रयत्न करता है।

४—सब पापों को दूर करके उनसे मुक्त रहता है। इस मत[1] के प्रवर्तकों ने शारीरिक कर्मों पर विशेष बल दिया है। इस मत के प्रवर्तक ज्ञातपुत्र ने तपस्या के सहारे सर्वज्ञता प्राप्त कर ली थी। बौद्धाचार्यों ने उनकी सर्वज्ञता का उपहास किया है।

मक्खलिगोशाल का दैववाद अथवा आजीवक[2] सम्प्रदाय—बुद्ध के सम सामयिक मतवादों में सबसे अधिक ख्याति इसी सम्प्रदाय की[3] थी। इसके प्रधान प्रवर्तक आचार्य मक्खलिगोशाल माने जाते हैं। यह मत आजीवक सम्प्रदाय के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस मत[4] के अनुयायी साधु मस्करी कहलाते हैं। हमारी समझ में मस्करी मक्खलि का ही पाली रूप है।

मक्खलिगोशाल का मृत्युकाल विद्वानों ने ५०० बी० सी० के पास निश्चित किया[5] है। यदि हम इनकी आयु १०० वर्ष की भी मानें तो हम इस सम्प्रदाय का उदयकाल छठी शताब्दी ई० पू० के आसपास निश्चित कर सकते हैं। इन आचार्य का निश्चित जीवनवृत्त बहुत कुछ अज्ञात ही है। जैन[6] और बौद्ध ग्रन्थ[7] में इनके सम्बन्ध में किंवदन्तियाँ दी हैं वे परस्पर विरोधिनी हैं। कहते हैं कि ये गोबहुल नामक ब्राह्मण की गोशाला में एक मस्करी अर्थात् भिक्षु पिता से उत्पन्न हुए थे। इसी लिए इन्हें मस्करी गोशाल या मक्खलिगोशाल कहा जाने लगा था। जैन ग्रंथों में लिखा है ये जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी के समकालीन और कुछ दिन उनके शिष्य भी रहे थे। बाद में इनका उनसे मतभेद हो गया। यह मतभेद इतना बढ़ गया कि एक बार दोनों

---

[1] बौद्ध दर्शन पृ० ४१

[2] हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन्स आफ आजीविकाज सन् १९५१ एक बाशम।

[3] बौद्ध दर्शन मीमांसा—पृ० ३० बनारस २००१

[4] देखिये इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स वाल्यूम १ पृ० २५९ न्यूयार्क १९५१

[5] वही—पृ० २६१

[6] भगवती सूत्र—१५।१ बिबलियोथिका इण्डिका में हार्नेल द्वारा सम्पादित।

[7] दीघनिकाय पर बुद्ध घोष की टीका में इसका विवरण दिया हुआ है।

में उत्पन्न हुआ[1] था। महावीर स्वामी से संबंध तोड़कर इन्होंने अपना आजीवक सम्प्रदाय चलाया होगा। इनके प्रसिद्ध ६ शिष्य थे जिनके नाम क्रमशः शान, कलन्द, कर्णिकार, अच्छिद्र अग्नि वैश्यायन गोमायुपुत्र अर्जुन हैं। ये लोग चारों ओर घूम घूमकर अपने आचार्य के मत का प्रतिपादन करते थे।[2]

इनके सिद्धान्तों का संकेत प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रंथों में किया गया है। दीर्घनिकाय में इनके सिद्धान्तों का संक्षिप्त रूप शब्दों में इस प्रकार मिलता है— सत्वों के क्लेश का हेतु नहीं है, प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु के और बिना प्रत्यय के सत्व क्लेशापन्न हैं। सत्वों की शुद्धि का कोई हेतु नहीं है बिना हेतु के और बिना प्रत्यय के सत्व शुद्ध होते हैं। अपने भी कुछ नहीं कर सकते हैं पराये भी कुछ नहीं कर सकते। कोई पुरुष भी कुछ नहीं कर सकता। बल नहीं है, वीर्य नहीं है। पुरुष का कोई पराक्रम नहीं है। सभी सत्व सभी प्राणी सभी भूत और सभी जीव अपने में नहीं हैं। निर्बल निर्वीर्य भाग्य और संयोग के फेर से छः जातियों में उत्पन्न होकर सुख और दुःख भोगते हैं। सुख और दुःख द्रोण माप से तुले हुए हैं। संसार में घटना-बढ़ना उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं होता। जैसे सूत की गोली फेंकने पर उकलती हुई गिरती है वैसे ही पंडित और मूर्ख दौड़कर आवागमन में पड़कर दुःख का अन्त करेंगे।[3]

उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट है कि आजीवक सम्प्रदाय कट्टर नियतिवादी था। आजीवकों के नियतिवाद की छाया भारत के अधिकांश संत सम्प्रदायों पर दिखाई पड़ती है। यह बात आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगी।

बौद्ध साधु सम्प्रदाय

ब्राह्मणेतर नास्तिक साधु सम्प्रदायों पर विचार करते हुए हम अभी ऊपर भगवान् बुद्ध के समकालीन अनेक साधु सम्प्रदायों का उल्लेख कर आये हैं। उनमें से प्रमुख ६ के सिद्धान्त पक्ष का भी स्पष्टीकरण हो चुका है। उन्हीं ६ के अन्तर्गत जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी की संत परम्परा की चर्चा भी कर चुके हैं। अब यहाँ पर हम थोड़ा-सा संकेत बौद्ध साधु सम्प्रदायों का करेंगे।

बौद्ध-धर्म में प्रारम्भ से ही साधु जीवन को विशेष महत्त्व दिया गया था। भगवान् बुद्ध स्वयं एक उच्चकोटि के तपस्वी साधु नेता थे। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म की व्यवस्था भी कुछ ऐसी थी कि कोई भी व्यक्ति साधु हुए उसका सच्चा अनुयायी नहीं हो सकता था। इस धर्म में निर्वाण की प्राप्ति केवल दो प्रकार से बतलाई गई

[1] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड एथिक्स भा० पृ० २६९ १० न्यूयार्क १९५१
[2] बौद्ध दर्शन मीमांसा बलदेव उपाध्याय—पृ० ६६।
[3] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स—भाग १ पृ० २६१ न्यूयार्क १९५१।

३—संघ में प्रवेश करके या शरीर त्याग करके[1]। इसका प्रभाव यह हुआ कि बौद्ध धर्म में दीक्षित होनेवाली अधिकांश जनता भिक्षु या साधु जीवन व्यतीत करना ही उपयुक्त समझने लगी। बौद्ध धर्म में दीक्षित होना साधु जीवन में दीक्षित होने के समान हो गया। जिससे भारतवर्ष में साधुओं और भिक्षुओं की बाढ़ सी आ गई। बौद्ध धर्म[2] में संघ को बड़ी महत्ता प्रतिपादित की गई है। उसके महावाक्यों में एक वाक्य संघं शरणं गच्छामि भी है।

संघ प्रथा का जन्म भगवान् बुद्ध के समय में ही हो गया था। बौद्ध संघ के सर्वप्रथम अधिष्ठाता और अधिनायक वह स्वयं ही थे[3]। वे कुछ दिन तक तो संघ की एकता अखंडता और पवित्रता स्थिर रखने में समर्थ रहे। किन्तु शनैः शनैः उसमें भेद भावना प्रवेश पाने लगी और संघ विविध अंगों में बँट गए। संघ भेद के कई कारण थे। सबसे प्रमुख कारण भगवान् बुद्ध के प्रतिद्वन्द्वियों का दुष्प्रभाव था। उनका सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी देवदत्त था। बौद्ध ग्रन्थों में देवदत्त और भगवान् बुद्ध के पारस्परिक विरोध की व्यंजना करनेवाली बहुत सी कथाएँ और घटनाएँ वर्णित हैं। संघ[4] भेद का दूसरा कारण भगवान् बुद्ध का अपने कुछ शिष्यों के प्रति पक्षपात प्रदर्शन भी था। उन्होंने अपने अनेक शिष्यों में से केवल १० शिष्य चुन लिये थे। उन्हें उन्होंने पृथक् पृथक् साधु वर्गों का मुखिया नियुक्त कर दिया था। उनका विवरण संक्षेप में इस प्रकार है —

१—शारिपुत्र—यह बुद्धिमानों का मुखिया था।

२—अनुरुद्ध—यह दैव दृष्टि सम्पन्न संतों का मुखिया था।

३—महाकस्सप—यह धूत मतावलम्बी संतों का मुखिया था।

४—पुण्णमन्तानी पुत्र—यह धर्मोपदेशक साधुओं का मुखिया था।

५—महाकच्चायन—यह बुद्धवचनों की व्याख्या करनेवाले भिक्षुओं का मुखिया था।

६—राहुल—यह विद्यार्थी भिक्षुओं का मुखिया था।

७—पुण्णमन्तानी पुत्र—यह वनवासी भिक्षुओं का नेता था।

---

[1] बुद्धिज्म—सी० एच० बी० कीन्स पृ० ५४—आक्स फोर्ड १९११।

[2] संघ का अर्थ भिक्षु समुदाय होता है। देखिए वही ग्रन्थ—पृ० ११।

[3] यह बात भगवान बुद्ध के प्रति कहे गये देवदत्त के निम्नलिखित शब्दों से जो विनय पिटक में दिये हुए हैं प्रगट है भगवान अब आप वृद्ध हो गये हैं। अब संघ की बागडोर मुझे सौंप दीजिए—देखिए बुद्धिज्म देवदत्त पृ० ३० डा० कीन्स

[4] वही ग्रन्थ—पृ० १०-११ पर एक कथा देखिए।

८—आनन्द—यह विद्वान् भिक्षुओं का नेता था।

९—उपालि—यह विनय प्रधान भिक्षुओं का नायक था।

१०—महामोग्गलायन—ऋद्धिबलवादी भिक्षु के नायक थे।

संयुत्तनिकाय[1] नामक ग्रंथ में उपर्युक्त १० थेरों के भी शिष्य प्रशिष्य गिनाये गये हैं। इन सबने मिलकर पृथक्-पृथक् भिक्षुओं संघों को जन्म दिया होगा इसी लिए बौद्ध धर्म अनेक भिक्षु सम्प्रदाय पाये जाते हैं।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि बौद्ध भिक्षु संघों का निर्माण भौगोलिक आधार पर किया गया था। प्रोफेसर प्रिजुल्स्की ने भौगोलिक दृष्टि से बौद्ध भिक्षु संघों के तीन भेद परिगणित किये हैं—

१—वैशाली के भिक्षु।

२—कौशाम्बी के भिक्षु।

३—मथुरा के भिक्षु।

वैशाली पूर्व के महा संघि नामक भिक्षुओं का केन्द्र था। कौशाम्बी दक्षिण-पश्चिम के थेरवादियों का केन्द्र था।[2] मथुरा में सर्वास्तिवादियों की प्रधानता थी।[3]

बौद्ध धर्म में भिक्षु संघों का उदय विनय के १० सिद्धांतों के मतभेद के कारण भी हुआ होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि विविध तत्त्वों ने बौद्ध संघ को विविध संप्रदायों में विभक्त कर दिया। बौद्ध ग्रंथों में इस प्रकार के १८ संप्रदायों का उल्लेख पाया जाता है। आचार्य विनीतदेव[4] ने इन संप्रदायों को भी ५ वर्गों में बाँट दिया है वे इस प्रकार हैं—

प्रथम और द्वितीय—महासंघिक—पूर्वशैल अपरशैल हैमवत, लोकोत्तरवाद प्रज्ञप्तिवाद।

तृतीय—सर्वास्तिवादी—मूलसर्वास्तिवादी, काश्यपीय, महीशासक, धर्मगुप्त बहुश्रुतीय, ताम्रशाटीय विभज्यवादियों का एक वर्ग।

चतुर्थ—सम्मितीय, कौरुकुल्लक, आवन्तक, वात्सीपुत्रीय।

पंचम—स्थविर—जैतवनीय, अभयगिरि, वाडी, और महाविहारवासी।

इनके अतिरिक्त और भी कई संप्रदाय थे जिनका उल्लेख कुछ दूसरे बौद्ध ग्रंथों में किया है।[5] ये संप्रदाय नित्यप्रति बढ़ते ही गये। ज्यों-ज्यों संप्रदाय बढ़ते गये, त्यों-त्यों

[1] देखिए अरली मोनास्टिक बुद्धिज्म—पृ० १६

[2] संयुत्तनिकाय—१।१६७।

[3] अरली मोनास्टिक बुद्धिज्म वाल्यूम १—डी० एन० दत्त कलकत्ता १९४१ पृ० २६ ३०।

[4] देखिए अरली मोनास्टिक बुद्धिज्म २—पृ० ४०-४८ कलकत्ता १९४१।

[5] इसके विवरण के लिए उपर्युक्त ग्रन्थ का दूसरा अध्याय देखिए।

बौद्ध भिक्षुओं का नैतिक पतन होता गया। शंकराचार्य ने इन्हीं बौद्ध भिक्षुओं का मूलोच्छेदन किया था।

जैन सन्तों की परम्पराएँ और उनका प्रभाव

निर्गुण-काव्यधारा की कई महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों को प्रेरणा प्रदान करने का श्रेय जैन सन्तों को भी है। जैन[1] मत बहुत प्राचीन है। ऋषभदेव नामक कोई पौराणिक पुरुष इसके प्रधान प्रवर्तक माने जाते हैं। इस मत का क्रमबद्ध इतिहास महावीर स्वामी से जिनका स्थिति काल ५२१ ५४६ वि० पू० माना जाता है मिलता है। वह अन्तिम तीर्थंकर थे। इनसे पहले २३ तीर्थंकर और हो चुके थे। इससे स्पष्ट है यह मत बौद्ध मत से भी अधिक प्राचीन है।

जैन मत के प्रमुख संप्रदाय दो हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। इनमें श्वेताम्बर लोग श्वेत वस्त्र धारण की हुई मूर्तियों की पूजा करते हैं। किन्तु दिगम्बर लोग नग्न मूर्तियों में श्रद्धा रखते हैं। मूर्ति-पूजा सम्बन्धी यह भेद उनके साधुओं के रहन सहन में भी दिखाई पड़ता है। श्वेताम्बरी साधु सफेद वस्त्र पहनते हैं जब कि दिगम्बर साधु नग्न रहना पसन्द करते हैं।

इन जैन संप्रदायों का उदय सुधारवादी भावना लेकर हुआ था किन्तु पौराणिक धर्म इतना बलवान निकला कि उसने इनको भी प्रभावित कर अपने अनुरूप बना लिया। इनमें भी विविध आचारों और अनुष्ठानों का प्राधान्य हो गया। इसी प्रकार शैव मत के बलवान पड़ने पर जैन मत उससे भी दब गया और उसने बहुत सी बातें उससे भी ले ली। आठवीं-नवीं शताब्दी के जैन मरमी सन्तों पर शैव शाक्त मतों की अच्छी छाया दिखाई पड़ती है। आचार्य हजारीप्रसाद ने इन सन्तों का खोज पूर्ण अध्ययन किया है।[2] उन्होंने प्रमाणित कर दिया है कि निर्गुण कवियों का इन मरमी सन्तों से सीधा संबंध है। नाथपंथियों के सदृश इन मरमी सन्तों ने भी अलख निरंजन शिव का वर्णन किया है।[3] उन्हीं के सदृश ये सामरस्य[4] के सिद्धांत में विश्वास करते थे। जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में भाग का यह सिद्धांत इन्हें भी मान्य है।[5] मध्य युग के अन्य सुधारवादी धर्म प्रचारकों की भाँति वेद शास्त्रों तथा

[1] इसके लिए पं० परशुराम चतुर्वेदी लिखित 'संत साहित्य और जैन हिन्दी कवि' शीर्षक लेख 'भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ' नामक ग्रंथ में द्रष्टव्य।

[2] देखिए 'मध्यकालीन धर्म साधना' में जैन मरमी नामक प्रकरण पृ० २२ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

[3] वही पृ० २२

[4] वही पृ० २४

[5] वही पृ० २३

अन्य धार्मिक ग्रंथों[1] की निरर्थकता का प्रतिपादन ये भी किया करते थे। पंथवाद की विरोध भावना इनमें भी पाई जाती है।

आगे चलकर लगभग १०वीं ११वीं शताब्दी में सुधारवादी संतों की परम्परा प्रचलित हुई। इस परम्परा के संतों का लक्ष्य मिथ्याचारों और पाखंडों का खण्डन करना था। पंडितों और वेद शास्त्रों के यह कट्टर विरोधी थे। इस सुधारवादी परम्परा के सबसे प्रमुख कवि मुनि रामसिंह हैं। 'पाहुड़ दोहा' में इनकी रचनाएँ संग्रहीत हैं। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने इनकी कुछ सुधारवादी उक्तियाँ अपनी संत-परम्परा में उदाहरणों के रूप में उद्धृत की हैं। उनसे इस परम्परा के कवियों की सुधारवादी प्रवृत्ति का अच्छा परिचय मिलता है। यहाँ पर उनमें से कुछ उद्धरण दिए जा रहे हैं।
"छह दंसणधंधइ पडिय मणहं ण फिट्टिय भंति एक्कु देउ छहभेउ किउ तेण ण मोक्खहं जंति[2]।"

अर्थात् षट्दर्शनों के चक्कर में पड़कर मन भ्रमित हो जाता है। एक भगवान् के छः भेद करके कोई उसे प्राप्त नहीं कर सकता। मोक्ष उससे दूर हो जाता है।

मुंडिय मुंडिय मुंडिया सिर मुंडिय चित्तु ण मुंडिया चित्तहं मुंडणु जिं कियउ संसारहं खंडणु तिं कियउ।[3]

अर्थात् हे मूड़ मुड़ाने वाले संन्यासी तूने मूड़ तो मुड़ा लिया है किंतु चित्त बिना मुड़ा ही रह गया है। वास्तविक आवश्यकता चित्त मूड़ने की है। संसार का खण्डन वही कर सकता है जिसने अपने चित्त को मुड़ा लिया है।

मंतुण तंतुण धेयण धारणि उच्छासह किज्जइकारणा।
एमइ परम सुक्खु मुणि सुम्मइ एहिगलगल कासु परुच्चई॥

अर्थात् मंत्र-तंत्र ध्येय धारणा उच्छ्वास का कारण बनाया जाता है तभी मुनि परम सुख से सोता है।

इस प्रकार की सैकड़ों उक्तियाँ उपलब्ध हैं जो हिंदी की सुधारात्मक उक्तियों से बहुत मिलती-जुलती हैं। कहीं-कहीं तो दोनों की भाषा और अभिव्यक्ति में एक विचित्र साम्य दिखाई पड़ता है। जैन सन्तों की इन प्रवृत्तियों ने निर्गुणियाँ कवियों को बहुत अधिक प्रभावित किया था। यह सभी प्रवृत्तियाँ उनमें ज्यों की त्यों पाई जाती हैं।

---

[1] वही पृ० २८

[2] पाहुड़ दोहा कारंजा जैन सिरीज ३ दोहा ८० पृ० २० उत्तरी भारत की सन्त परम्परा पृ० २१ से उद्धृत

[3] पाहुड़ दोहा कारंजा जैन सिरीज ३ दोहा १३५ पृ० ४२ उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० २१ से उद्धृत।

उपर्युक्त साधु परम्पराओं की निर्गुण काव्यधारा पर क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ

उपर्युक्त साधु परम्पराओं ने निर्गुण काव्यधारा के लिए पृष्ठभूमि का काम किया। निर्गुणियाँ साधु सन्तों पर इन साधु परम्पराओं के क्रियात्मक और प्रतिक्रियात्मक दोनों प्रकार के प्रभाव दिखाई पड़ते हैं। वैदिक साधुओं की गृहस्थ होते हुए भी साधना करने की प्रवृत्ति निर्गुण सन्तों में ज्यों की त्यों परिलक्षित होती है। वैदिकोत्तर कालीन साधुओं की सर्वस्वत्यागता, ज्ञान, वैराग्य, तपस्या आदि का भी पूरा-पूरा प्रभाव इन सन्तों पर पड़ा था। तामिल शैव साधुओं की सदाचारप्रियता प्रेम-निष्ठा और आस्तिकता आदि विशेषताएँ भी इन निर्गुण सन्तों को प्रभावित किये बिना न रह सकीं। इन क्रियात्मक प्रेरणाओं के अतिरिक्त कुछ प्रतिक्रियात्मक प्रेरणाओं ने भी निर्गुण काव्य धारा के स्वरूप को सँवारने की चेष्टा की थी। वैदिकोत्तरकाल में कुछ कृत्रिम साधुओं का उदय भी हो चला था। यह लोग आध्यात्मिक साधना में अपनी स्वार्थ-सिद्धि के हेतु ही प्रवृत्त होते थे। इनमें पाखण्ड और आडम्बरप्रियता का प्राधान्य था। इनमें साम्प्रदायिकता की दुष्प्रवृत्ति भी बलवती होती जा रही थी। निर्गुणियाँ सन्तों में इन सब के प्रति प्रतिक्रिया की भावना जाग्रत हुई। उन्होंने साधु जीवन की कृत्रिमता का अवरोध किया और सदाचारपूर्ण पवित्र जीवन का उपदेश दिया।

निर्गुणियाँ सन्तों को ब्राह्मणेतर साधु परम्पराओं ने भी प्रभावित किया था। ऊपर हम दिखला चुके हैं कि यह ब्राह्मणेतर साधु परम्पराएँ वैदिक काल में ही उदित हो चली थीं। आगे चलकर इनका और भी प्रमुख बढ़ गया। यह ब्राह्मणेतर साधु परम्पराएँ भी दो प्रकार की थीं—आस्तिक और नास्तिक। इन दोनों प्रकार की परम्पराओं में हमें कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

(क) क्रान्ति और विरोध की प्रवृत्ति।

(ख) बुद्धिवादिता का अतिरेक।

(ग) नये सम्प्रदायों के प्रवर्तन की प्रवृत्ति।

(घ) ब्राह्मण और उनके मानाधिक ग्रन्थों तथा उनकी धारणाओं और निष्ठाओं के प्रति अविश्वास।

ब्राह्मणेतर साधु परम्पराओं की इन प्रवृत्तियों का निर्गुण काव्यधारा पर पूरा-पूरा प्रभाव दिखलाई पड़ता है। उनमें यह प्रवृत्तियाँ किसी न किसी रूप में मूर्तिमान मिलती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्गुण काव्य-धारा के सन्तों के लिए साधना मार्ग बहुत प्राचीन काल से ही चिन्हित किया जाने लगा था। भारत भूमि में इनका उदय आकस्मिक और अप्रत्याशित न था।

मध्य-युग में संतों, साधु सम्प्रदायों और मतों की प्रेरणाएँ

निर्गुण सम्प्रदायेतर मध्य-युगीय साधु सन्त-परम्पराएँ और मत

मध्य युग प्राचीन काल से चली आती हुई सैकड़ों साधु परम्पराओं का मिलन बिन्दु था। इस युग में आकर साधु जगत् में कई विकृत प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो गई थीं। वे इस प्रकार हैं—

१—कई सम्प्रदायों के सामंजस्य से एक नवीन सम्प्रदाय के उत्पन्न होने की प्रवृत्ति।

२—रूढ़िवादिता और आडम्बर की पूजा।

३—भयंकर साम्प्रदायिकता का उदय।

इन सब दोषों की प्रतिक्रिया के रूप में नये स्वतंत्रतावादी एवं सुधारवादी सन्तों एवं आचार्यों के सम्प्रदाय उठ खड़े हुए। कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय थे जो दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण किये हुए थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्य-युग में साधु सम्प्रदायों की तीन धाराएँ प्रवहमान थीं :—

१—रूढ़िवादी धारा।
२—सुधारवादी धारा।
३—सामंजस्यवादी धारा।

(१) रूढ़िवादी धारा—रूढ़िवादी धारा के अन्तर्गत प्राचीन ढंग के ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर सभी साधु परम्पराएँ आयेंगी। मध्य-युगीय ब्राह्मण साधु परम्परा बहुत विकृत हो चली थी। ऋषि-मुनि वैखानस और संन्यासी आदि सभी अपने आदर्शों से पतित हो गये थे। इन सबमें आडम्बर और पाखंड दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। हजारों में कहीं एक ही सच्चा साधु दिखाई पड़ता था। अधिकांश ब्राह्मण साधु महन्त बन गये थे। ये लोग अधिकतर मन्दिरों में रहते थे। वहाँ साधु जीवन व्यतीत करने के साथ-साथ वे पुरोहित और पुजारी का भी काम करते थे। जनता में इनका बड़ा सम्मान था। ये लोग धर्म के अधिष्ठाता समझे जाते थे। ये चाहे जो कुछ भी करते उन्हें सब कुछ क्षम्य था। ये लोग अधिक पढ़े-लिखे भी नहीं होते थे। इसी कारण इनमें विलास

और विवेक बहुत कम होता था। मध्य-युग की देवदासी[1] प्रथा ने इन लोगों को घोर व्यभिचारी बना दिया था। धर्म के नाम पर ये घोर अधर्म फैलाये हुए थे।

इन रूढ़िवादी महन्तों के अतिरिक्त रूढ़िवादी बौद्ध भिक्षु भी समाज में घोर आडम्बर फैलाये हुए थे। इनमें मूर्ति-पूजा, स्तूप-पूजा, चैत्य पूजा का प्रभावपूर्ण प्रचार था। बौद्धों के सदृश जैनी संत लोग भी अपने धर्म को त्यागकर धर्माभास की पूजा करने लगे थे। इनमें दिगम्बर सम्प्रदाय में भिक्षुणियों के संयोग से व्यभिचार फैल रहा था। इनके और हिंदुओं के मंदिर और बौद्धों के विहार व्यभिचार के केन्द्र बन गये थे। यदि हम इन रूढ़िवादी संतों और महन्तों और साधुओं की गाथा कहें तो इनके पाखंडों और पापों की कथाओं से पोथा भर जायेगा। इनको देखकर निर्गुणियाँ संतों में प्रतिक्रिया सुधार और क्रांति की भावना जग उठी। निर्गुण संप्रदाय उसी का फल है।

(२) सुधारवादी सम्प्रदाय—मध्ययुग में सुधारवादी संतों के भी विविध संप्रदाय थे। उन सब को हम सुविधा के लिए निम्नलिखित वर्गों में बाँट सकते हैं—

प्रतिक्रियावादी सुधारक संप्रदाय। सामंजस्यवादी सुधारक संप्रदाय।

प्रतिक्रियावादी सुधारक संप्रदायों के भी हमें ४ वर्ग दिखाई पड़ते हैं—

(क) खंडन-मंडन की प्रवृत्ति लेकर चलनेवाले प्रतिक्रियावादी योगी संप्रदाय।

(ख) आचार्य सुधारकों के संप्रदाय।

(ग) कुछ सुधारवादी साधु।

(घ) प्रतिक्रियावादी समाज-सुधारक सिमायत।

(क) इनमें भी खंडन-मंडन की प्रवृत्ति लेकर चलनेवालों के दो वर्ग दिखाई पड़ते हैं—

१—तांत्रिक साधुओं का वर्ग। २—नाथपंथियों का वर्ग।

---

[1] देखिए दि प्रिंस आफ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज भाग ८ में देवदासी प्रथा पर मन्मथ राय का खोजपूर्ण निबन्ध पृ० ११९ से २२१ तक उनके अनुसार देवदासी प्रथा आर्यों को द्रविड़ों से प्राप्त हुई थी। सातवीं शताब्दी तक यह बड़ी ही पवित्र थी बाद में यह विकृत हो गई और क्रम में व्यभिचार का कारण बन गई। इस बात का पता अनुमान लगभग ८१० ए० डी० के ताम्रलेखों से लगता है। उसमें लिखा है धार्मिक प्रवृत्ति के लोग मूर्ति पर भविष्य में उत्पन्न होनेवाली बालिका संतान को समर्पित करने की मान्यता कर देते थे। कन्या का जन्म होते ही वह मंदिर को सौंप दी जाती थी। युवा होने पर वह वेश्यावृत्ति से धन कमाकर मंदिर के महन्त को देती थी।

तांत्रिक साधु भी २ प्रकार के थे—एक हिंदू, दूसरे बौद्ध। शैव और शाक्त तांत्रिक हिंदू कहलाते थे और वज्रयानी सहजयानी सिद्ध लोग बौद्ध तांत्रिक कहलाते थे। इन संप्रदायों के दर्शन का विस्तृत विवेचन दार्शनिक पृष्ठभूमि के प्रसंग में किया गया है। यहाँ पर हम गोरखनाथ और उनके कनफटा साधुओं का थोड़ा-सा परिचय देकर उनकी विशेषताओं का विवेचन करेंगे। इनका उदय रूढ़िवादी साधु सम्प्रदायों की प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ था और उनमें सुधार-भावना का भी प्राधान्य था किंतु विविध कारणों से वे अपने उच्च आदर्शों को स्थिर न रख सके। निर्गुण संप्रदाय के उदय और विकास को इनसे प्रतिक्रियात्मक प्रेरणा मिली होगी।

खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति को लेकर चलनेवाले योगी साधुओं का दूसरा वर्ग नाथ-संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इस संप्रदाय के साधु योगी, अवधूत, कनफटा, दर्शनी, गोरखनाथी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

नाथ सम्प्रदाय और उसके दो प्रमुख संत

मध्यकालीन धार्मिक साधनाओं में नाथपंथ बहुत प्रसिद्ध है। हिंदी के निर्गुणियाँ कवियों का इस संप्रदाय से सीधा संबंध है। यदि इन दोनों धाराओं का तुलनात्मक सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो निर्विवाद रूप से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि निर्गुण संतों का संप्रदाय नाथपंथ का ही एक परिष्कृत वैष्णव रूपान्तर है।

मध्ययुग में यह मत विविध नामों से प्रसिद्ध था जिनमें सिद्धमत, योगमार्ग, योगसंप्रदाय, अवधूत संप्रदाय, गोरखपंथ, मत्स्येन्द्रनाथी संप्रदाय आदि नाम बहुत प्रसिद्ध हैं।[1] इस मत के अनुयायी भी योगी, कनफटा, दर्शनी, गोरखपंथी आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हैं।[2]

नाथ शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विद्वानों का बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् इसका अर्थ मुक्ति देनेवाला करते[3] हैं। और कुछ लोग 'ना' का अर्थ अनादिरूप और थ का अर्थ भुवनत्रय लेकर इसे अनादि धर्म का पोषक और भुवनत्रय की स्थिति का कारक मानते[4] हैं। इसी प्रकार इसकी उत्पत्ति के संबंध में भी मतैक्य नहीं है कुछ लोग तो इसे स्वतंत्र दर्शन पद्धति मानते हैं जिसका उदय मध्ययुग की कई धार्मिक धाराओं के योग से हुआ था[5]। इसके विपरीत कुछ दूसरे विद्वान् इसे वज्रयान और

---

१ नाथ सम्प्रदाय डा० हजारीप्रसाद, इलाहाबाद १९५०, पृ० १

२ गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़ ब्रिग्स पृ० १

३ हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास द्वितीय संस्करण पृ० १४८

४ नाथपंथ—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० २, १९५०

५ वही

सहजयान का ही विकसित और परिष्कृत रूप मानते[1] हैं। कुछ लोग इसे शैव साधना पद्धति मानने के पक्ष में हैं। इस प्रकार इसकी उत्पत्ति के संबंध में विविध मतवाद प्रचलित हैं। हमारी अपनी धारणा है कि यह संप्रदाय स्वतन्त्ररूप से अपने समय की समस्त प्रसिद्ध धर्म पद्धतियों के योग से उद्भूत हुआ था।

इस संप्रदाय के उद्भवकाल के संबंध में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् गोरखनाथ को इसका प्रमुख प्रवर्तक मानकर इसका उद्भवकाल १०वीं शताब्दी के पश्चात् निश्चित करते हैं[2]। कुछ दूसरे विद्वान् इसका उद्भवकाल ईसा की दूसरी शताब्दी मानने के पक्ष में हैं[3]। हमारी अपनी धारणा यह है कि इसका उदय लगभग आठवीं शताब्दी के आस-पास हुआ था। मत्स्येन्द्रनाथ इसके मूल प्रवर्तक थे। उनके बाद उनके शिष्य गोरखनाथ ने इसको व्यवस्थित और परिष्कृत करके लोक में प्रचारित किया। गोरखनाथ के बाद इस संप्रदाय के पोषक संतों में जालन्धरनाथ, गहनीनाथ, करवीरा नाथ, चरपटनाथ, भर्तृहरि नाथ, गोपीचंद्र नाथ विशेष प्रसिद्ध[4] हैं। ये संत संख्या में ९ माने गये हैं और नवनाथों के नाम से प्रसिद्ध हैं। नवनाथों के अन्तर्गत कौन-कौन से संत आते हैं यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में नवनाथों की भिन्न-भिन्न प्रकार की लिस्टें दी हुई हैं[5]। जो भी हो मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ को सभी विद्वान् नाथपंथ का आचार्य मानते हैं। भर्तृहरिनाथ, गोपीनाथ, जालन्धरनाथ, और कर्णिपनाथ ये चार नाथपंथी संत और बहुत प्रसिद्ध हैं। भगवान् आदिनाथ इस मत के मूल प्रवर्तक थे

---

[1] मंत्रयान, तंत्रयान, वज्रयान और ८४ सिद्ध—राहुल सांकृत्यायन गंगा पुरातत्त्वांक पृ० २२१

[2] हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा पृ०

[3] सिद्धसिद्धांत पद्धति—श्रीमती कल्याणी मल्लिक, भूमिका पृ० ७, पूना १९५४

[4] देखिए नाथ सम्प्रदाय—हजारीप्रसाद द्विवेदी।

[5] महार्णव तंत्र में नवनाथों के नाम इस प्रकार दिये हैं। क—१—गोरख, २—जालन्धर, ३—नागार्जुन, ४—सहस्रार्जुन, ५—दत्तात्रेय, ६—देवदत्त ७—जड़ भरत, ८—आदि नाथ, ९—मत्स्येन्द्रनाथ।

ख—योग सम्प्रदाय विष्कृति में नवनाथों की लिस्ट इस प्रकार दी है। १—मत्स्येन्द्र नाथ, २—गहनीनाथ ३—जालन्धरनाथ ४—कानिफा नाथ ५—रेवानाथ, ६—चरपटनाथ, ७—भर्तृहरिनाथ ८—गोपीचन्द्र नाथ ९—आदिनाथ।

ग—सुधाकर चन्द्रिका में दिये गये नवनाथ भी अलग ही हैं। नैपाली परम्परा में बिल्कुल दूसरे ही नाथों के नाम पर हैं। देखिए—नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद पृ० २४-२६।

तांत्रिक साधु भी २ प्रकार के थे—एक हिंदू, दूसरे बौद्ध। शैव और शाक्त तांत्रिक हिंदू कहलाते थे और वज्रयानी सहजयानी सिद्ध लोग बौद्ध तांत्रिक कहलाते थे। इन संप्रदायों के दर्शन का विस्तृत विवेचन दार्शनिक पृष्ठभूमि के प्रसंग में किया गया है। यहाँ पर हम गोरखनाथ और उनके कनफटा साधुओं का थोड़ा-सा परिचय देकर उनकी विशेषताओं का विवेचन करेंगे। इनका उदय रूढ़िवादी साधु सम्प्रदायों की प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ था और उनमें सुधार-भावना का भी प्राधान्य था किंतु विविध कारणों से वे अपने उच्च आदर्शों को स्थिर न रख सके। निर्गुण संप्रदाय के उदय और विकास को इनसे प्रतिक्रियात्मक प्रेरणा मिली होगी।

खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति को लेकर चलनेवाले योगी साधुओं का दूसरा वर्ग नाथ-संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इस संप्रदाय के साधु योगी, अवधूत, कनफटा, दर्शनी, गोरखनाथी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

नाथ सम्प्रदाय और उसके दो प्रमुख संत

मध्यकालीन धार्मिक साधनाओं में नाथपंथ बहुत प्रसिद्ध है। हिंदी के निर्गुणिये कवियों का इस संप्रदाय से सीधा संबंध है। यदि इन दोनों धाराओं का तुलनात्मक सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो निर्विवाद रूप से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि निर्गुणिये संतों का संप्रदाय नाथपंथ का ही एक परिष्कृत वैष्णव रूपान्तर है।

मध्ययुग में यह मत विविध नामों से प्रसिद्ध था जिनमें सिद्धमत, योगमार्ग, योगसंप्रदाय, अवधूत संप्रदाय, गोरखपंथ, मत्स्येन्द्रनाथी संप्रदाय आदि नाम बहुत प्रसिद्ध हैं।[1] इस मत के अनुयायी भी योगी, कनफटा, दर्शनी, गोरखपंथी आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हैं।[2]

नाथ शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विद्वानों का बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् इसका अर्थ मुक्ति देनेवाला करते[3] हैं। और कुछ लोग 'ना' का अर्थ अनादिरूप और थ का अर्थ भुवनत्रय लेकर उसे अनादि धर्म का द्योतक और भुवनत्रय की स्थिति का वाचक मानते[4] हैं। इसी प्रकार इसकी उत्पत्ति के संबंध में भी मतैक्य नहीं है कुछ लोग तो इसे स्वतंत्र दर्शन पद्धति मानते हैं जिसका उदय मध्ययुग की कई धार्मिक साधनाओं के योग से हुआ था[5]। इसके विपरीत कुछ दूसरे विद्वान् इसे वज्रयान और

[1] नाथ सम्प्रदाय डा० हजारीप्रसाद, इलाहाबाद १९५०, पृ० १

[2] गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगी ब्रिग्स पृ० १

[3] हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास द्वितीय संस्करण पृ० १२८

[4] नाथपंथ—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० १, १९५०

[5] वही

सहजयान का ही विकसित और परिष्कृत रूप मानते[1] हैं। कुछ लोग इसे शैव साधना पद्धति मानने के पक्ष में हैं। इस प्रकार इसकी उत्पत्ति के संबंध में विविध मतवाद प्रचलित हैं। हमारी अपनी धारणा है कि यह संप्रदाय स्वतंत्ररूप से अपने समय की समस्त प्रसिद्ध धर्म पद्धतियों के योग से उद्भूत हुआ था।

इस संप्रदाय के उदयकाल के संबंध में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् गोरखनाथ को इसका प्रमुख प्रवर्तक मानकर इसका उदयकाल १०वीं शताब्दी के पश्चात् निश्चित करते हैं[2]। कुछ दूसरे विद्वान् इसका उदयकाल ईसा की छठी शताब्दी मानने के पक्ष में हैं[3]। हमारी अपनी धारणा यह है कि इसका उदय लगभग आठवीं शताब्दी के आस-पास हुआ था। मत्स्येन्द्रनाथ इसके मूल प्रवर्तक थे। उनके बाद उनके शिष्य गोरखनाथ ने इसको व्यवस्थित और परिष्कृत करके लोक में प्रचारित किया। गोरखनाथ के बाद इस संप्रदाय के पोषक संतों में जालन्धरनाथ, गहनीनाथ, चर्पटीनाथ, चरपटनाथ, भर्तृहरि नाथ, गोपीचंद नाथ विशेष प्रसिद्ध[4] हैं। ये सब कुल संख्या में ९ माने गये हैं और नवनाथों के नाम से प्रसिद्ध हैं। नवनाथों के अन्तर्गत कौन-कौन से सन्त आते हैं यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में नवनाथों की भिन्न-भिन्न प्रकार की सूचियाँ दी हुई हैं[5]। जो भी हो मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ को सभी विद्वान् नाथपंथ का आचार्य मानते हैं। भर्तृहरिनाथ, गोपीनाथ, जालन्धरनाथ, और कर्णिपानाथ ये चार नाथपंथी संत और बहुत प्रसिद्ध हैं। भगवान् आदिनाथ इस मत के मूल प्रवर्तक थे

---

[1] मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान और नाथ सिद्ध—राहुल सांकृत्यायन गंगा पुरातत्वांक पृ० २२१

[2] हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा पृ०

[3] सिद्धसिद्धांत पद्धति—श्रीमती कल्याणी मल्लिक, भूमिका पृ० ७, पूना १९५४

[4] देखिए नाथ सम्प्रदाय—हजारीप्रसाद द्विवेदी।

[5] महार्णव तंत्र में नवनाथों के नाम इस प्रकार दिये हैं। क—१—गोरख, २—जालन्धर, ३—नागार्जुन, ४—सहस्रार्जुन, ५—दत्तात्रेय, ६—देवदत्त, ७—जड़ भरत, ८—आदि नाथ ९—मत्स्येन्द्रनाथ।
ख—योग सम्प्रदाय विष्कृति में नवनाथों की सूची इस प्रकार दी है। १—मत्स्येन्द्र नाथ २—गहनीनाथ ३—जालन्धरनाथ ४—कानिफा नाथ ५—रेवानाथ, ६—चर्पटनाथ, ७—भर्तृहरिनाथ, ८—गोपीचन्द्र नाथ ९—आदिनाथ।
ग—सुधाकर चन्द्रिका में दिये गये नवनाथ भी अलग ही हैं। नेपाली परम्परा में नितान्त दूसरे ही नामों के नाम पर हैं। देखिए—नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद पृ० २१-२२।

इस सम्बन्ध में भी २ मत नहीं हैं। आदिनाथ भगवान् शिव का ही नाम है। इससे प्रकट होता है कि नाथपंथ मूलतः एक शैव सम्प्रदाय है। यहाँ पर हम थोड़ा सा परिचय मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, भर्तृहरि, गोपीचन्द्र और जालन्धरनाथ का दे देना आवश्यक समझते हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ जी के लिखे हुए बहुत से ग्रन्थ बतलाए जाते हैं इनमें कौलज्ञाननिर्णय, अकुलवीरतंत्र, कुलानन्दतंत्र और ज्ञानकारिका विशेष प्रसिद्ध हैं।[1]

मत्स्येन्द्रनाथ के साधना मार्ग का नाम डा० बागची ने योगिनीकौल मार्ग बतलाया है।[2] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस नामकरण की आलोचना की है।[3] उनका कहना है कि मत्स्येन्द्रनाथ पहले सिद्ध या सिद्धामृत मार्ग के अनुयायी थे। बाद में कामरूप में जाकर वह वाममार्गी साधना में दीक्षित हो गये थे। उसी समय से वह कौल कहे जाने लगे थे। किन्तु अपने शिष्य गोरखनाथ के द्वारा प्रबुद्ध किये जाने पर पुनः सिद्ध मत के समर्थक हो गये थे। हमारी अपनी धारणा यह है कि हजारीप्रसादजी ने अपना मत कौल शब्द के आधार पर निर्धारित किया है। वह कौल का अर्थ वाममार्ग समझे हैं। किन्तु कौल का अर्थ वाममार्ग नहीं है। कौलज्ञान निर्णय में उसे योग का एक प्रकार घोषित किया गया है। उसमें लिखा है कि योगमत ५५ प्रकार का होता है उनमें सर्वप्रथम कौल नामक योग है। हमारी अपनी धारणा है कि मत्स्येन्द्रनाथ शैवशाक्त ढंग के तांत्रिक योगी थे वामपंथी शाक्त नहीं। नाथपंथ और शैवशाक्त तंत्र साधना के बीच की कड़ी मत्स्येन्द्रनाथ का कौल योग ही है।

अकुलवीर तंत्र नामक ग्रन्थ में कौल साधना के दो स्वरूप बताए गये हैं—एक कुण्डलनीयोग और दूसरा सहजयोग। इन दोनों में सहजयोग श्रेष्ठ बतलाया गया है। गोरखनाथजी का झुकाव सहजयोग की ओर अधिक था किन्तु मत्स्येन्द्रनाथ दोनों के ही समर्थक थे।

मत्स्येन्द्रनाथ का दार्शनिक सिद्धान्त शैव शाक्त तंत्रों से मिलता-जुलता है। वह शाक्तों के सदृश ही त्रिपुरा की साधना में विश्वास करते थे।

मत्स्येन्द्रनाथ—इनके संबंध में सैकड़ों जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं।[4] बहुत से प्राचीन ग्रंथों में भी इनका उल्लेख मिलता है किन्तु जनश्रुतियों के और प्राचीन ग्रंथों

---

[1] डा० बागची ने इन ग्रंथों को कौलज्ञान निर्णय में संग्रहीत किया है।

[2] कौलज्ञान निर्णय—डा० बागची पृ० ३९ कलकत्ता १९३४

[3] नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

[4] कुछ जनश्रुतियों का संग्रह डा० बागची ने अपने कौलज्ञान निर्णय नामक ग्रंथ में किया है—देखिए पृ० ६ से १८ तक।

के विवरण अत्युक्तिपूर्ण, चमत्कारपूर्ण और अधूरे हैं। प्रायः उनमें पारस्परिक विरोध भी दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि न तो उनकी निश्चित जीवन तिथि निर्धारित की जा सकी है और न प्रामाणिक जीवन वृत्त का ही निर्माण हो सका है।[1] कुछ लोग तो उनकी इस परस्पर विरोधी जीवनसामग्री के वैषम्य को देखकर यह सोचने लगे हैं कि यह काल्पनिक व्यक्ति का नाम है।[2] तन्त्रालोक की टीका में इनका उल्लेख किया गया है।[3] अभिनवगुप्त ने स्वयं भी तंत्रालोक में इनका वर्णन किया है।[4] ये जाति के ब्राह्मण थे।[5] उसी ग्रंथ में इन्हें धीवर भी व्यक्त किया गया है।[6] गोरक्षविजय नामक ग्रंथ में मत्स्येन्द्र को मीननाथ कहा गया है और इन्हें ब्रह्मा का पुत्र बतलाया गया है।[7] नेपाल की कुछ जनश्रुतियों में अवलोकितेश्वर का ही दूसरा नाम मत्स्येन्द्र कहा गया है। पंजाब की जनश्रुतियों में इन सबसे भिन्न बातें पाई जाती हैं।[8] बागची अनुमान है कि यह जातिभ्रष्ट ब्राह्मण ही थे। ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में ही इन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया था। इनका उदय और विकासकाल १०वीं शताब्दी से है। तंत्रालोक के रचयिता अभिनवगुप्त का समय ९५० से लेकर १० हजार ई० तक माना गया है। अभिनवगुप्त के समय तक मत्स्येन्द्रनाथ अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके होंगे तभी अभिनवगुप्त ने उनका उल्लेख किया होगा। अतएव आठवीं शताब्दी के आसपास इनका समय निर्धारित करना अनुपयुक्त नहीं है। मत्स्येन्द्र उपासना में विश्वास रखते थे। तांत्रिकों का सत्कार्यवाद[10] भी उन्हें यत्किंचित परिवर्तन के साथ स्वीकार था। शैवशास्त्र ग्रंथों के ३६ तत्त्वों के प्रति भी इनकी आस्था थी।[11] दर्शन पद्धति की दृष्टि से यह अद्वैतवादी कहे जा सकते हैं।[12] हो सकता है इनमें प्रत्यभिज्ञादर्शन के बीज भी रहे हों। मत्स्येन्द्रनाथ के उपर्युक्त

---

[1] कौलज्ञान निर्णय—डा० बागची पृ० ७-८

[2] वही पृ०

[3] वही पृ० ६

[4] तन्त्रालोक १ खंड पृ० २५

[5] कौलज्ञान निर्णय—डा० बागची द्वारा संपादित पृ० ६०

[6] वही पृ० ६० इत्यादि

[7] कौलज्ञान निर्णय—डा० बागची द्वारा सम्पादित पृ० ३०

[8] वही पृ० ३३

[9] वही पृ० ३७

[10] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ सम्प्रदाय—पृ० ६२

[11] वही पृ० ६८ ६९ इलाहाबाद १९५०

[12] वही पृ० ६९ ६६

विवेचन के आधार पर हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि हिंदी की निर्गुण काव्य-धारा के संतों पर मत्स्येन्द्रनाथी विचारधारा का भी पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा था। हमारा तो विश्वास यह भी है कि शैवशाक्त पंथों के अभिप्रेत सिद्धांत निर्गुण धारा के कवियों को मत्स्येन्द्रनाथी संतों से ही मिले थे।

गोरखनाथ—मध्ययुग के सबसे महान् व्यक्तित्वशाली व्यक्तियों में से गोरखनाथजी भी एक हैं। मध्ययुग की संपूर्ण विचारधारा पर इनकी अमिट छाप दिखाई पड़ती है। निर्गुण काव्यधारा तो उसकी सबसे अधिक ऋणी प्रतीत होती है। मैं तो उसको नाथपंथी विचारधारा का वैष्णव रूपान्तर मानता हूँ। अतएव यहाँ पर गोरख-पंथी विचारधारा और साधना की रूपरेखा स्पष्ट करना अपना धर्म समझता हूँ।

गोरखनाथजी का अभी तक कोई प्रामाणिक जीवनवृत्त प्रकाश में नहीं आया है। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि इनके संबंध में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में विविध प्रकार की सैकड़ों किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। वे अधिकतर अलौकिकतापूर्ण चमत्कारपूर्ण और अतिरंजित हैं। इनके संबंध में प्रामाणिक ऐतिहासिक उल्लेख भी नहीं मिलते हैं। यही कारण है कि अभी तक लोग इनका समय भी निश्चित नहीं कर पाये हैं। इनके समय के संबंध में विद्वत्समाज में विविध मतवाद प्रचलित हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका समय १००० ई० से लेकर ११०० ई०[1] के मध्य में माना है। डा० शहीदुल्ला ने इनका रचनाकाल ई० ७११[2] निर्धारित किया है। फर्कुहर साहब इनका जन्म १२५७वि० मानने के पक्ष में हैं।[3] राहुलजी ने इनका समय सं० ९०२ के आसपास माना है[4] डा० बड़थ्वाल[5] ने इनका जन्मकाल १०५० सं० माना है और आचार्य हजारीप्रसाद इन्हें ग्यारहवीं शताब्दी की विभूति मानते हैं।[6] मेरी अपनी धारणा है कि इनका उदय ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था। १०वीं शताब्दी के सबसे बड़े आचार्य और दार्शनिक अभिनवगुप्त[7] ने कहीं पर भी इनका उल्लेख नहीं किया है। हाँ इनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का नामोल्लेख तंत्रालोक में एक

---

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० १२

[2] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डा० रामकुमार वर्मा पृ० १२१ (१९४८)

[3] वही पृ० १२१

[4] वही पृ० १२१ (१९४८)

[5] वही पृ० १२१

[6] नाथ सम्प्रदाय पृ० १०२

[7] बलदेव उपाध्याय के भारतीय दर्शन में इनका समय ९९०-१०२० ई० दिया हुआ है देखिए पृष्ठ ५५७-५५९

स्थल पर सम्मान मिलता है। उससे ऐसा प्रकट होता है कि अभिनवगुप्त मत्स्येन्द्रनाथ के प्रति अटूट श्रद्धा रखते थे। मेरा अनुमान है कि अभिनवगुप्त के समय में मत्स्येन्द्रनाथजी एक वयोवृद्ध सिद्ध महात्मा के रूप में प्रसिद्ध थे। गोरखनाथजी मत्स्येन्द्रनाथजी के शिष्य थे। वह या तो अभिनवगुप्त के समकालीन होंगे या परवर्ती होंगे। यदि समकालीन भी मान लिया जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि १०वीं शताब्दी के अंतिम चरण तक सिद्ध महात्मा के रूप में वह प्रसिद्ध नहीं हो पाये थे। ऐसी दशा में उनका प्रसिद्धि-काल ११वीं शताब्दी ही मानना पड़ेगा अतएव हमारा यह मत कि गोरखनाथ ११वीं शताब्दी की विभूति थे, पर्याप्त तर्कसंगत है।

इनकी जन्मभूमि के संबंध में भी बहुत विवाद है। योग संप्रदायाविष्कृति नामक ग्रंथ में इनका जन्मस्थान गोदावरी तट पर स्थित चन्द्रगिरि नामक ग्राम बताया गया है।[1] कुछ लोग उनकी जन्मभूमि दक्षिण का बडव नामक स्थान सिद्ध करते हैं। बंगाली लोग उन्हें बंगाल का निवासी सिद्ध करने के प्रयत्न में रहते हैं। नेपाली जन श्रुतियों में इन्हें नेपाल का निवासी कहा गया है। मेरा अनुमान है कि गोरखनाथजी नेपाल में ही किसी ग्राम में उत्पन्न हुए थे। इस अनुमान के कई आधार भी हैं। प्रथम बात यह है कि नाम के आगे नाथ जोड़ने की प्रथा पूर्वमध्ययुग में नेपाल में ही प्रचलित थी क्योंकि यहाँ पर बहुत से स्थान शिवजी का स्थान माने जाते हैं अतः उन शिवभक्तों के नाम के अंत में प्रायः नाथ ही जोड़ा जाता रहा है। इनका नाम भी उन्हीं नामों के अनुकरण पर रखा हुआ जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त उनका सबसे अधिक प्रभाव आज भी नेपाल प्रदेश में ही दिखाई पड़ता है। इसका प्रमुख कारण संभवतः उनका नेपाली होना ही है।

इनकी जाति के संबंध में भी मतभेद है। डा० हजारीप्रसाद का अनुमान है कि वह ब्राह्मण[2] थे। मेरी समझ में वह किसी वर्णव्यवस्था से संबंध न रखनेवाले सहजिया बौद्ध थे। नेपाल के निवासी होने के कारण वह शनैः-शनैः शैव हो गये थे। साधना क्षेत्र में वह मत्स्येन्द्रनाथजी के शिष्य थे। मत्स्येन्द्रनाथजी पर शैव शाक्त तंत्रों का बहुत अधिक प्रभाव था। तांत्रिक लोग भी वर्ण-व्यवस्था विरोधी थे। अतएव वर्ण-व्यवस्था विहीन गोरखनाथ को कौलमार्गी तांत्रिक मत्स्येन्द्रनाथ अधिक प्रभावशाली प्रतीत हुए होंगे इसी लिए उन्होंने उन्हें गुरु बनाया होगा।

गोरखनाथ के नाम से आजकल सैकड़ों ग्रंथ उपलब्ध हैं। हजारीप्रसादजी ने ही उनके संस्कृत और ४० हिन्दी के ग्रंथों का उल्लेख किया है।[3] पर निश्चित

---

[1] योग सम्प्रदायाविष्कृति पृ० ३६, ४४

[2] नाथ सम्प्रदाय डा० हजारीप्रसाद पृ० ६०

[3] नाथ सम्प्रदाय पृ० ९६ से १०२

करना बहुत कठिन है कि इनमें कौन से प्रामाणिक हैं और कौन से अप्रामाणिक हैं। विद्वानों में इनके कुछ ग्रंथों की विशेष प्रतिष्ठा है। उनके नाम क्रमशः सिद्ध सिद्धांत पद्धति, अमरौघप्रबोध, योग मार्तंड, गोरक्षशतक, गोरखबानी, गोरक्षगोरक्षगुटकी, ज्ञानदीप-बोध, महादेवगोरगोष्ठी हैं।

गोरखपंथी साधु अवधूत योगी कहलाते हैं। अवधूत योगियों का यह सम्प्रदाय प्राचीन शैव योगियों के बाह्याडम्बर की प्रतिक्रिया के रूप में उदित हुआ था। योगियों का यह सम्प्रदाय सुधारवादी था। गोरखनाथजी ने सिद्ध सिद्धांत पद्धति में अवधूत योगी के जिन लक्षणों का उल्लेख किया है वे सब बाह्याडम्बर के विरोधी हैं।[1] उन्होंने अवधूत के स्वरूप में नैतिक विशेषताओं की प्रतिष्ठा करके उसे नया स्वरूप दे दिया है। अवधूत शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए उन्होंने लिखा है—

या सर्वान् प्रकृतिविकारान् अवधूनोतीत्यवधूतः।[2]

अर्थात् जो प्रकृति के विकारों से दूर रहता है उसी को अवधूत कहते हैं। गोरखपंथी अवधूत के लिए सिर मुँडाने के स्थान पर क्लेश समूह को नष्ट करना चाहिए। जो समस्त अवस्थाओं से उदासीन होता है वही सच्चा अवधूत कहलाता है। सच्चे योगी अवधूत को चाहिए कि वह अपने काम को दग्ध करके उसकी राख से अपने शरीर को विभूषित करे। ऐसे अवधूत योगी की मेखला निवृत्ति स्वरूप तथा आसन स्वस्थ ही होते हैं। निवृत्ति का अर्थ है षड्विकारों से दूर रहना। जो इन षड्विकारों से दूर रहता है वही अवधूत पद का अधिकारी कहा जा सकता है। सिद्ध प्रकाश और परमानंद ही इस अवधूत के कुण्डल होते हैं। विभाति ही इसके लिए जपमाला के सदृश सुखदायिनी होती है। धैर्य इसका दंड होता है और पराकाष्ठा ही इसका खप्पर है। इसी प्रकार और भी बहुत से आध्यात्मिक और नैतिक लक्षणों का योगी स्वरूप में समावेश किया गया है। विस्तार भय से उन सबका निर्देश नहीं कर रहे हैं। उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट प्रकट है कि गोरखनाथ पाखंडपूर्ण वेशभूषा और आडम्बर के विरोधी थे। साधु सम्प्रदाय में नैतिक सुधार करना उनका लक्ष्य था। अवधूत गोरखनाथ की यह प्रवृत्ति निर्गुण काव्य-धारा के कवियों में ज्यों की त्यों पाई जाती है।

भूटान का डुकपा सम्प्रदाय—भूटान में बौद्ध-धर्म का जो विकृत रूप प्रचलित है उसका नाम डुकपा सम्प्रदाय है और उसके अनुयायी डुकपा कहलाते हैं। यह डुकपा सम्प्रदाय संभवतः लामा धर्म के वैरागी साधुओं की कारभूपा शाखा से संबंधित है। इन लामों में मिलारेपा नामक एक तिब्बती संत की बड़ी ही प्रतिष्ठा है। इनका

[1] सिद्ध सिद्धान्त पद्धति—कल्याणी मल्लिक पूना १९५४ पृ० ५१ देखिये
[2] वही पृ० ५१

सबसे बड़ा अड्डा 'काशीजी' में है जहाँ पर धर्मराज रहते हैं। इसमें अब भी ५०० से ऊपर संत वर्तमान हैं। इन सम्प्रदायों में जादू-टोने का प्रचार है। साथ-साथ प्रतिक्रिया की भावना भी पाई जाती है। इन सम्प्रदायों की बानियों के संग्रह की आवश्यकता है।[1]

(ख) प्रतिक्रियावादी दार्शनिक आचार्य संत सुधारक

सामंजस्यवादी सुधारक आचार्यों में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं :—

१—शंकराचार्य-शैव
२—रामानुजाचार्य—वैष्णव
३—माधवाचार्य—वैष्णव
४—निम्बार्काचार्य—वैष्णव
५—रामानन्द—वैष्णव
६—विष्णु स्वामी-वैष्णव

शंकराचार्य—अद्वैतवाद के प्रधान प्रतिपादक विविध शैव साधु सम्प्रदायों के मूल प्रवर्तक स्वामी शंकराचार्य का जन्म सन् ७८८ ई० और निर्वाण ८२० ई० में हुआ था।[1] इनका जीवनवृत्त अत्यंत विवादग्रस्त है। उसका कारण यह है कि जिन[2] प्राचीन पंडितों ने इनके जीवन की सामग्री प्रस्तुत की है उनमें परस्पर मतैक्य नहीं दिखाई पड़ता। दूसरे उनके संबंध में जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं वे इतने अतिरंजित और अतिशयोक्तिपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करते हैं जिनपर सहसा विश्वास नहीं होता है उनका जीवनवृत्त लिखनेवालों में माधवाचार्य और आनंदगिरि बहुत प्रसिद्ध हैं। माधवाचार्य ने लिखा है कि इनका जन्म भगवान् शिव के आशीर्वाद के फलस्वरूप शिवगुरु नामक ब्राह्मण के घर में केरलदेशस्थ कलादी नामक ग्राम में हुआ था। आनंदगिरि ने इनके जन्म के संबंध में एक दूसरी विचित्र बात कही है। उन्होंने लिखा है कि चिदम्बरपुर नामक स्थान में कोई विश्वजित नामक ब्राह्मण रहते थे। जिनकी पत्नी का नाम विशिष्टा था। शंकराचार्यजी इन्हीं के पुत्र थे। कहते हैं कि एक बार विश्वजितजी जंगल में तपस्या करने गये हुए थे उसी बीच में शिवलिंग के सम्पर्क से विशिष्टा के गर्भ रह गया। गर्भ का समय पूरा होने पर शंकराचार्यजी का

---

[1] हेस्टिंग्स् इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृ० २६२

[2] जीवन और मरण तिथियों का विस्तृत विवेचन इण्डियन एन्टीक्वेरी भाग ११, पृ० १०७ में द्रष्टव्य।

[3] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० १८२ पर शंकराचार्य की जीवनी लिखने वाले दो आचार्यों का उल्लेख किया गया है—एक शंकर दिग्विजय के लेखक माधवाचार्य और दूसरे शंकर विजय के लेखक आनन्द गिरि।

अवतार हुआ। शंकराचार्यजी ने अपने शैशवकाल से ही अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न थे। इन्होंने आठ वर्ष की अवस्था में ही चारों वेद कंठस्थ कर लिये थे। द्वादश वर्ष की अवस्था में वह सर्वशास्त्र पारंगत विद्वान हो गये थे। १६ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिख डाला था। ३२ वर्ष की अवस्था में ही वह समाधिस्थ भी हो गये थे। इनके लिखे हुए बहुत से ग्रंथ बतलाए जाते हैं। जिनमें से प्रस्थानत्रयी भाष्य, मांडूक्य कारिका भाष्य, विष्णु सहस्रनाम भाष्य, सनत्सुजातीय भाष्य, सौन्दर्य लहरी, उपदेश साहस्री आदि हैं।

मध्ययुग में शंकराचार्य का महत्त्व दो दृष्टियों से है एक तो दार्शनिक दृष्टि से और दूसरे शैव साधु परम्पराओं के प्रवर्तक की दृष्टि से। दर्शन क्षेत्र में इन्होंने अद्वैत वाद की स्थापना की थी और साधु जगत में वह चार प्रमुख सम्प्रदायों के प्रवर्तक कहे जाते हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं[1]—

१—दंडी।
२—संन्यासी।
३—परमहंस।
४—ब्रह्मचारी।

१—दंडी—शंकराचार्य के अनुयायी साधुओं में दंडी साधु के सबसे ऊंचे माने जाते हैं। ये दंडी साधु अपने को शंकराचार्य का सच्चा अनुयायी मानते हैं। हाथ में वह एक डंडा लिये रहते हैं। दंड धारण करने के कारण ही इन्हें दंडी कहा जाता है। दंडी लोग भी अपने मुर्दे को जलाते हैं। दशनामियों के प्रथम तीन भेद दंडी साधुओं के भेद माने जाते हैं। इस संप्रदाय में केवल ब्राह्मणों को ही स्वीकार किया जाता है[2] ये लोग भिक्षा भी ब्राह्मणों से ही माँगते हैं।

२ सन्यासी—संन्यासी[3] दो प्रकार के होते हैं। एक तो प्राचीन ब्राह्मण संन्यासी आश्रम का पालन करनेवाले संन्यासी, दूसरे शंकराचार्य के अनुयायी शैव संन्यासी। प्रथम कोटि के संन्यासियों का संकेत रूढ़िवादी संतों के प्रसंग में किया गया है। दूसरी कोटि के शंकराचार्यानुयायी संन्यासियों की चर्चा यहाँ पर की जायेगी। कुछ लोगों की धारणा है कि दशनामी भेद से इस कोटि के संन्यासी दस प्रकार के होते हैं। वे दस इस प्रकार हैं। १—गिरी, २—पुरी, ३—भारती, ४—वन, ५—अरण्य, ६—पर्वत, ७—सागर, ८—तीर्थ, ९—आश्रम, १०—सरस्वती।

---

[1] इंडियन थि मिस्टिक्स एसेटिक्स एण्ड सेक्ट्स आफ इन्डियन-जे० सी० ओमन पृ० १२१
[2] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भ्यूवाल्यूम ११११ भाग २ पृ० १६
[3] वही पृ० १२६

हमारी समझ में प्रथम ३ दंडी साधुओं के भेद हैं क्योंकि ये लोग प्रायः एक दंड धारण किये रहते हैं। इस संप्रदाय की सबसे प्रमुख विशेषता जाति पाँति के बंधन का परित्याग है। ये लोग हिंदू धर्म के बाह्य चिन्ह शिखा और जनेऊ को भी धारण नहीं करते हैं। जब कोई शिष्य किसी संन्यासी साधु से दीक्षा लेना चाहता है तो उसे अपने गुरु को शिव और प्रणव की भेंट देता है। उसको चार अन्य संन्यासियों के समक्ष यह भी प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह आजीवन समस्त कष्टों को सहन करते हुए संन्यासी के कर्तव्यों का आचरण करेगा। इस प्रकार शिष्य के प्रतिज्ञा कर लेने पर गुरु तथा अन्य साक्षीभूत चार संन्यासी उसे अपने सम्प्रदाय का गुरुमंत्र देते हैं। इन संन्यासियों में बहुत से अब गृहस्थ जीवन भी व्यतीत करने लगे हैं।

३—परमहंस—परमहंसों[1] का संप्रदाय दंडियों और संन्यासियों के संप्रदाय से ऊँचा समझा जाता है। इसमें वही लोग प्रवेश पाते हैं जो कम से कम दस या बारह वर्ष दंडी या संन्यासी का जीवन व्यतीत कर चुके हैं। इस सम्प्रदाय के लोग जीवन के बाह्य व्यापारों से बिल्कुल उदासीन रहते हैं। उन्हें अपना शरीर ढकने का भी ध्यान नहीं होता। बहुतों को तो भोजन तक की चिन्ता नहीं रहती। ये लोग अपने संप्रदाय के शवों को जलाते नहीं हैं गाड़ देते हैं या नदी में बहा देते हैं।

४—ब्रह्मचारी—ये ब्रह्मचारी[2] स्मार्त ब्रह्मचारियों से भिन्न होते हैं। ये शिव की पूजा करते हैं। और ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शङ्कराचार्यजी ने बहुत-सी शैव साधु परम्पराओं को जन्म दिया था। वैसे तो उपर्युक्त नामों की साधु परम्पराएँ पहले से चली आ रही थीं किन्तु वे बहुत अधिक विकृत हो गई थीं। शङ्कराचार्य ने उन्हें परिष्कृत करके अभिनव रूप दिया था। इसी लिए हम उन्हें एक धार्मिक सुधारक मानते हैं। वह धार्मिक सुधारक ही नहीं उच्चकोटि के दार्शनिक सुधारक भी थे। इनके दार्शनिक सुधारवाद और सिद्धांतों की चर्चा हम अगले प्रकरण में विस्तार से करेंगे। क्योंकि मध्य कवियों पर इनके इस सिद्धांत का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा था।

---

[1] देखिए दि मिस्टिक्स एसेटिक्स एण्ड सेंट्स आफ इण्डिया जे॰ सी॰ ओमन पृ॰ १६२ लन्दन १९०३।

[2] वही पृ॰ १६३—और भी देखिए—दि मिस्टिक्स एसेटिक्स सेंट्स आफ इण्डिया जे॰ सी॰ ओमन पृ॰ १६२ लंदन १९०३

रामानुजाचार्य १०१७-११३७[1] और उनका श्री सम्प्रदाय

शंकराचार्य के लगभग ढाई सौ वर्ष पश्चात् प्रसिद्ध वैष्णव सुधारक स्वामी रामानुजाचार्य का उदय हुआ। वर्तमान श्री पेरम्बुदूर नामक स्थान इनका जन्मस्थान माना जाता है। इनके पिता का नाम केशव सोमयाजी और माता का नाम कांतिमती था इनके मतानुयायी इन्हें भी शंकरशेष का अवतार मानते हैं। पहले वह कांचीपुर नामक नगर के परम प्रसिद्ध विद्वान यादव प्रकाश के पास वेदान्त का अध्ययन करते थे। किन्तु एक दिन गुरु और शिष्यों में अनबन हो गई। शिष्य गुरु को छोड़ कर विदेश भ्रमण के लिए चले गये। देश-विदेश के विद्वानों से शास्त्रार्थ करते हुए उन्होंने अपने एक नवीन मत का स्थापन और प्रचार किया। वह मत भक्ति क्षेत्र में श्री सम्प्रदाय और दर्शन क्षेत्र में विशिष्टाद्वैत वाद के नाम से प्रसिद्ध है।

यह एक सुधारवादी आचार्य थे। कहते हैं उन्हें अपनी इस प्रवृत्ति के लिए बड़े कष्ट भी उठाने पड़े थे। राजेन्द्रचोल नामक राजा[2] ने इन्हें विविध प्रकार से सताने की चेष्टा की थी किन्तु यह पहुँचे हुए संत थे अतएव वह इनका कुछ भी अहित न कर सका।

शंकराचार्य के सदृश रामानुजाचार्य जी ने भी दर्शन और धर्म दोनों ही क्षेत्रों में सुधार करने की चेष्टा की थी। दर्शन क्षेत्र में तो उन्होंने विशिष्टाद्वैत वाद का प्रस्थापन किया था। धर्म क्षेत्र में उनकी सुधार भावना दो धाराओं में प्रवाहित हुई थी—एक का लक्ष्य साधुसमाज का सुधार करना था और दूसरे का सामान्य लोक को। साधु समाज में इन्होंने वैरागी सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की थी और[3] सामान्य जनता को उन्होंने वैष्णव भक्ति का वरदान दिया था। स्वामी रामानंद ने इन सुधारों को आगे बढ़ाकर और भी व्यापक रूप दिया। स्वामी रामानुजाचार्य ने वैष्णव धर्म में वर्णव्यवस्था के बंधन ढीले करने का सर्वप्रथम प्रयास किया था।[4] इस दृष्टि से वे मध्यकालीन वैष्णव सुधारकों में सर्वोच्च स्थान के अधिकारी कहे जा सकते

---

[1] इनके जीवन और सिद्धांतों का विवेचन निम्नलिखित ग्रंथों में देखिए :—
१—वैष्णवाइट रिफार्मर्स् आफ इण्डिया। २—श्री रामानुज—एस कृष्णस्वामी आयंगर ३—दी लिविंग—आफ वेदान्त एकार्डिंग टु रामानुज—सुकर्ताकर। ४—लाइफ आफ रामानुज—एम० सी० ई० । पृ० २१०

[2] हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म चार्ल्स इलियट भाग २ पृ० २११

[3] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृ० २७

[4] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृ० ११६-११८

[5] वही भाग १ पृ० २०२ अन्तिम अवतरण।

है। इतना होते हुए भी वह अद्वैतवादिता का परित्याग नहीं कर सके थे। इस बात का पता इनके सम्प्रदाय के साधुओं को देखने से लगता है। ये लोग गेरुआ वस्त्र धारण करने के साथ ही साथ यज्ञोपवीत भी पहने रहते हैं मस्तक पर तिलक लगाते हैं और हाथ में तुलसी की माला लिये रहते हैं।[1]

शङ्कराचार्य और रामानुजाचार्य दोनों ही श्रुति प्रामाण्यवादी हैं किन्तु दोनों की व्याख्याओं और प्रतिक्रियाओं में अंतर है। रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी थे उन्होंने ब्रह्म शब्द तक की व्याख्या अपने सिद्धांत के दृष्टिकोण से की है। उनका कहना है कि ब्रह्म शब्द बृह् धातु में मनिन् प्रत्यय जोड़ने से बनता है। मनिन् प्रत्यय के लगने से उसमें तीन के भाव का समावेश हो जाता है। बात उन्होंने श्रुति और स्मृति दोनों से प्रमाणित भी की है। वे ब्रह्म[2] को चित्, अचित् और विशिष्ट मानते थे। इन तीन तत्त्वों की मान्यता ही उनके दर्शन की सबसे प्रमुख विशेषता है। इन्होंने चित् का अर्थ भोक्ता जीव लिया है और अचित् जगत् को वह भोग्य जगत् का पर्यायवाची मानते हैं।[3] उनके मतानुसार सगुण ब्रह्म ही उपनिषद् प्रतिपाद्य है। वह ईश्वर को सजातीय और विजातीय भेद से शून्य मानते हुए भी स्वगत भेद सम्पन्न मानते हैं। अब प्रश्न यह है कि ईश्वर और चित् अचित् में पारस्परिक संबंध कैसा है? आचार्यजी ने दोनों में अपृथक् सिद्ध नामक संबंध स्वीकार किया है। यह न्याय वैशेषिक के समवाय संबंध से भिन्न होते हुए भी बहुत मिलता-जुलता है। इसमें हम विशेष्य विशेषण संबंध भी मान सकते हैं प्रस्थानत्रयी पर लिखे गये श्री भाष्य में इन्होंने ईश्वर को विशेष्य और चित् अचित् को विशेषण कहा है। इसीलिए इसका नाम विशिष्टाद्वैत पड़ा है। इस मत के अनुसार ईश्वर ही इस जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। यह कारण[4] विशिष्टाद्वैत के अनुसार स्वेच्छाजन्य है। ईश्वर लीला के लिए ही इसका सृजन करता है और लीला में ही उसका संहार भी कर डालता है। प्रलयकाल में जीव और जगत् सूक्ष्मरूप में परिणत हो जाते हैं। इसी अवस्था में सूक्ष्म चित् अचित् ब्रह्म कारण ब्रह्म कहलाता है। इसके विपरीत सृष्टि के विकास की अवस्था में वही कार्यब्रह्म कहा जाता है।[5] यही कार्य कारण भाव परिणामवाद का मूल है। विशिष्टाद्वैतवाद में परिणामवाद का प्रतिपादन किया गया है। चित् का निरूपण करते हुए आचार्य ने लिखा

[1] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स वाल्यूम २ पृ० ११

[2] इनके सिद्धांतों के लिए कम्प्रिहेंसिव हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग १ पृ० ९०० पर १९२१ बी० एन० श्री निवासाचारी का लेख।

[3] सर्व दर्शन संग्रह वासुदेव शास्त्री—पूना १९२१ पृ० ११०

[4] सर्वदर्शन संग्रह पृ० ११९

[5] सर्वदर्शन संग्रह वासुदेव शास्त्री पूना १९२१ पृ० १०८

है कि वह देहेन्द्रिय मन प्राण और बुद्धि से विलक्षण, अजड़, आनंद रूप, नित्य, अणु अव्यक्त, अचिन्त्य, निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय है।[1] यह ईश्वर के द्वारा नियमित रहता है और अपने समस्त कार्यों के लिए उसी पर आश्रित भी रहता है। यह ईश्वर के बहुत से गुण रखते हुए भी ईश्वर से भिन्न है।

अचित् को आचार्य ज्ञानशून्य विकारास्पद वस्तु मानते थे। उसके उन्होंने तीन रूप बतलाये हैं[2]—

१—शुद्ध सत्व, २—मिश्रसत्व, ३—सत्वशून्य।

१—शुद्ध सत्व ही नित्य विभूति है। २—मिश्रसत्व का रूपान्तर ही अविद्या या माया है। ३—सत्वशून्य तत्त्व ही काल के नाम से प्रसिद्ध है। जगत् इस सम्प्रदाय के अनुसार सत्य रूप है।

जीव अविद्या के बंधनों में फँसकर विमोहित हो जाता है। उससे मुक्ति प्राप्त करना ही इनका लक्ष्य रहता है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए जीव का भक्ति की साधना करना परमापेक्षित है।

रामानुज ने भक्ति क्षेत्र में तीन बातों को बहुत आवश्यक ठहराया था :—१—सदाचाराभिरता, २—प्रपत्ति, ३—वैधी उपासना विधि। इनकी सदाचाराभिरता तथा प्रपत्ति का सिद्धांत लोक में बहुत सम्मानित हुए। यही कारण है कि प्रायः सभी परवर्ती[3] संत सम्प्रदायों ने अपने अपने मतों में इन दोनों को सम्मानित स्थान दिया है। इन्होंने बैरागी नाम[4] का एक साधु सम्प्रदाय भी प्रवर्तित किया था। इनके शिष्य रामानंद ने इसको पूर्णतया प्रचारित किया था अतएव बाद में यह उनके नाम से प्रसिद्ध हो गया। बैरागी साधुओं के प्रसंग में और रामानंद के संबंध में हम इस संप्रदाय को और अधिक स्पष्ट कर देंगे।

निम्बार्काचार्य और उनका सनकादि सम्प्रदाय

द्वैताद्वैतमत के प्रवर्तक स्वामी निम्बार्काचार्य भी एक वैष्णव सुधारक थे। इनका जन्म दक्षिण में लगभग सन् ११६२ में हुआ था। यह तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम जगन्नाथ था। इनका वास्तविक नाम नियमानंद था। निम्ब के

---

[1] सर्वदर्शन संग्रह पृ० ११६

[2] सर्वदर्शन संग्रह वासुदेव शास्त्री पृ० ११७ पर इन्हें भोग्य भोगोपकरण भोगायतन कहा है।

[3] कलेक्टेड वर्क्स आफ भंडारकर भाग ४ पूना १९२९ पृ० ७१ से ८

[4] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृ० ८४

नीम पर रात्रि में अर्क (सूर्य) के दर्शन कराने के कारण इनका नाम निम्बार्क पड़ गया था[1]। धर्म क्षेत्र में इनका संप्रदाय हंस या सनकादि के नाम से प्रसिद्ध है[2]। दर्शन क्षेत्र में इन्होंने द्वैताद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था। यह पहले आचार्य थे जिन्होंने कृष्ण की उपासना के साथ-साथ राधा की उपासना विशेष ठहरायी थी। भक्ति-क्षेत्र में इन्होंने सख्यभाव को विशेष महत्त्व दिया था। यह सनक, सनातन, सनंदन और सनत्कुमार को अपने संप्रदाय के दैवी आचार्य मानते थे। इन्होंने साधु जगत में भी सुधार करने की चेष्टा की थी। इन्होंने रामानुज के वैरागी संप्रदाय को अपने ढङ्ग पर ढालने की चेष्टा की थी। वैरागियों के दो[3] संप्रदाय बहुत प्रसिद्ध हैं, एक रामानंदी दूसरा निम्बार्की। रामानंदी संप्रदाय के प्रवर्तक रामानंद जी माने जाते हैं और निम्बार्की संप्रदाय के निम्बार्काचार्य। इस संप्रदाय के साधु बहुत कम मिलते हैं।

इस संप्रदाय के साधु अधिकतर मथुरा और बंगाल में मिलते हैं। ग्राउज[4] साहब ने मथुरा के प्रसंग में इनका विशेष रूप से उल्लेख किया है। ये लोग माथे पर एक विशेष ढङ्ग का तिलक लगाते हैं। उस तिलक में दो लम्बी रेखाएँ गोपीचंदन की होती हैं उनके बीच में एक काला चिह्न भी रहता है। ये लोग तुलसी की माला भी धारण करते[5] हैं।

निम्बार्क का दार्शनिक सिद्धांत[6] द्वैताद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। उनके अनुसार भेदाद्वैत और अद्वैत दोनों ही हैं। ये लोग जीव को ब्रह्म का अंश मानते हैं। और दोनों में अंशांशी भाव का संबंध स्वीकार करते हैं। जहाँ तक कर्तृत्व का संबंध है वहाँ तक जीव स्वतंत्र है किन्तु भोग प्राप्ति के लिए वह ईश्वराधित है। अतः ईश्वर नियन्ता-स्वामी और जीव नियम्य। जीव हरि का अंश होते हुए भी एक न होकर अनेक होता है। ये लोग चित् के तीन रूप मानते हैं। १—प्रकृति महातत्त्व से लेकर

---

[1] देखिए वैष्णविज्म शैवइज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स कलेक्टेड वर्क्स आफ सर भंडारकर वाल्यूम ४ पृ० ८७-८८ पूना १९२९
[2] मैडिवल मिस्टीसिज्म पृ० ९६।
[3] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ९ पृ० ३१०
[4] ग्राउज ने अपने मथुरा नामक ग्रंथ में इनका विस्तृत वर्णन किया है। देखिए पृ० १८१
[5] वही।
[6] कलेक्टेड वर्क्स आफ भंडारकर भाग ४ पृ० ६२ पूना १९२९
[7] देखिए कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया भाग ३ में रोमा चौधरी का निम्बार्क स्कूल आफ वेदांत नामक लेख पृ० ३३३।

महाभूत तक प्रकृति से उत्पन्न जगत्। २—अप्राकृत—प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत जगत्। ३—काल—ये सर्वदा क्रम कार्य-क्रम से अनित्य होता है। इन्होंने निर्गुण की अपेक्षा सगुण ईश्वर को विशेष महत्त्व दिया है। साधना के क्षेत्र में ये प्रपत्तिमूलक भक्ति को ही सबसे अधिक श्रेष्ठ समझते थे। संक्षेप में निम्बार्क का दार्शनिक सिद्धांत इतना ही है[1]।

माध्वाचार्य[2] और उनका ब्रह्म सम्प्रदाय[3]

स्वामी माध्वाचार्य जी मध्ययुग के एक प्रसिद्ध वैष्णव सुधारक थे। इनका जन्म सं० ११९९ दक्षिण में स्थित उडुपी नामक गाँव में हुआ था[4]। इनके पिता का नाम मधिजीगेह और माता का वेदवती था। इन्होंने बारह वर्ष की अवस्था[1] में ही संन्यास ले लिया था। शंकर और रामानुजाचार्य के सदृश धर्म और दर्शन दोनों ही क्षेत्रों में सुधार करने की चेष्टा की थी। धर्म-क्षेत्र में इन्होंने ब्रह्म संप्रदाय का प्रवर्तन किया था और दर्शन क्षेत्र में यह द्वैतवाद के समर्थक थे।[5] भक्ति-क्षेत्र में इन्होंने माधुर्य भाव के महत्त्व का दिग्दर्शन किया था। निम्बार्क के बाद यह ही दूसरे आचार्य थे जिन्होंने कृष्ण के साथ-साथ राधा को भी, जिनकी चर्चा प्राचीन साहित्य में बहुत कम मिलती है, महत्त्व दिया था। रूपसनातन और जीव गोस्वामी इस संप्रदाय के प्रतिभाशाली पोषक थे। चैतन्य स्वामी को भी इस संप्रदाय से पूरी प्रेरणा मिली थी। स्वामी माध्वाचार्य जी ने साधु जगत् में भी सुधार करने की चेष्टा की थी। ऐसे अनुयायी साधु लोगों की वेषभूषा दूसरे साधुओं से भिन्न होती है। इस संप्रदाय के साधु अधिकतर दक्षिण में ही मिलते हैं। ये ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। वर्णा-व्यवस्था में ये आस्था नहीं रखते हैं। ये लोग बाहुओं में और वक्षस्थल पर विष्णु के चिह्न बनाये रखते हैं[6]। ये लोग वैरागियों के सदृश सिर मुँड़ाये रहते हैं। दोनों में अंतर इतना ही है कि वैरागी लोग अपनी शिखा बनाये रखते हैं और ये लोग शिखा भी मुँड़वा देते हैं। ये लोग जोगियों के सदृश एक गेरुआ वस्त्र भी पहनते हैं। मस्तक[7] पर ये एक तिलक भी लगाते हैं। इनका

[1] वही पृ० ३१ से ४७ तक।

[2] लाइफ एण्ड थीसिस आफ माधवाचार्य—पद्मनाभाचार्य लिखित ग्रंथ पठनीय है।

[3] इस सम्प्रदाय का विस्तृत विवेचन इलियट ने अपने हिन्दूइज्म और बुद्धिज्म नामक ग्रंथ भाग २ पृ० २३३ पर किया है। १९२१ का संस्करण देखिए।

[4] इनकी जन्मतिथि विवादग्रस्त है। भंडारकर ने इन पर अच्छा विचार किया है। देखिए कलेक्टेड वर्क्स आफ भंडारकर भाग ४ १९२९ का संस्करण

[5] मेडिवल मिस्टिसिज्म—आ० क्षितिमोहन सेन पृ० ७८ (१९२९)

[6] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृ० ३७

[7] इन्साइक्लो पीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २। पृ० ३७

तिलक अन्य सम्प्रदायवालों के तिलक से भिन्न होता है। और लोग तो तिलक मस्तक पर ही लगाते हैं किन्तु इनका तिलक नासिका तक रहता है। इनके तिलक में तीन रेखायें होती हैं। दो लम्बी रेखायें गोपीचन्दन की बनाते हैं और उनके बीच में एक काली रेखा चित्रित करते हैं।[1]

ये द्वैतवाद[2] के प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं। इनके मतानुसार विष्णु ही ब्रह्म हैं वह अनन्त गुण परिपूर्ण हैं। वह जीव और जगत् से विलक्षण हैं। एक होकर भी नाना प्रकार के रूप धारण करते हैं। लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति हैं। वह परमात्मा के अधीन होते हुए भी उससे भिन्न हैं। जीव[3] को ये लोग विष्णु का अंश नहीं मानते। इनके मतानुसार वह अज्ञानादि दुर्गुणों से युक्त होने के कारण सांसारिक होता है। भक्ति ही उसे इन दुर्गुणों से मुक्ति दिला पाती है। इन्होंने भक्ति के साथ-साथ ज्ञान को भी महत्त्व दिया है। ज्ञान के लिए ये वैराग्य शम दम शरणागति गुरु और भगवत सेवा, भगवत प्रेम, प्राणीमात्र से सहानुभूति आदि का आचरण आवश्यक मानते हैं।[4]

विष्णु स्वामी का रुद्र सम्प्रदाय

विष्णु स्वामी भी दक्षिण के एक वैष्णव सुधारक थे। इन्होंने रुद्र सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की थी। दर्शन क्षेत्र में इन्होंने शुद्धाद्वैतवाद सामने रक्खा था। इन्होंने अद्वैत वाद से माया बहिष्कृत कर दी थी। भक्ति क्षेत्र में इन्होंने वात्सल्य भाव को सबसे अधिक महत्त्व दिया था। स्वामी वल्लभाचार्य ने इन्हीं के सिद्धान्त को लेकर अपने पुष्टि मार्ग का प्रवर्तन किया था।[5] इन्होंने भी किसी साधु सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया होगा किन्तु आजकल उसके संबंध में हमें कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। उत्तरी भारत में इनका प्रभाव कम था। इन्होंने अपने मत का प्रचार दक्षिण में ही अधिक किया था। इनकी विचारधारा को उत्तर भारत में लाने का श्रेय इनके सम्प्रदाय मान्यता प्राप्त शिष्य को है। इन्हीं सम्प्रदाय मठ के वल्लभाचार्य हुए। इनका पुष्टि मार्ग सर्वप्रसिद्ध है।

(ग) सुधारवादी साधु-वर्ग

मध्ययुग में कुछ ऐसे भी साधु संप्रदाय वर्तमान थे जिनका दार्शनिक दृष्टि

---

[1] वैष्णविज्म शैविज्म कलेक्टड वर्क्स आफ भंडारकर भाग ४ पृ० ८९

[2] हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म भाग २ पृ० २३ पर पाँच भेद देखिए—१—परमात्मा आत्मा। २—परमात्मा-प्रकृति। ३—आत्मा-प्रकृति। ४—आत्मा-आत्मा। ५—अणु अणु।

[3] कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया भाग ३ में डा० रामचेन्द्राचार का माधव ब्रह्ममीमांसा

[4] वैष्णविज्म शैविज्म एन कलेक्टेड वर्क्स आफ भंडारकर भाग ४ पृ० ८७ से ८९ तक।

[5] भक्तिपथ मिस्टीसिज्म—सेन पृ० २१

से कोई विशेष महत्त्व नहीं है किन्तु संप्रदाय दृष्टि से वे उपेक्षणीय नहीं हैं। अतएव यहाँ पर हम कुछ इस कोटि के प्रसिद्ध साधु वर्गों का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं।

(१) अवधूत[1]—अवधूत या अतीत उन साधुओं को कहते थे जो जीवन मुक्त हो जाते थे। शैव और वैष्णव दोनों ही संप्रदायों के जीवनमुक्त साधु अवधूत कहे जाते हैं। शैव अवधूत प्रायः वस्त्र बहुत कम पहनते हैं। प्रायः कौपीन लपेटे रहते हैं और जटा रखते हैं वे अधिकतर मौन रहकर ही भिक्षा माँगते हैं। जाड़ों के दिनों में वे धूनी रमाते हैं। कनफटा योगी संप्रदाय के प्रवर्तक गोरखनाथजी के अनुयायी शैव अवधूत माने जाते हैं।

वैष्णव साधुओं को यह अभिधान स्वामी रामानन्दजी ने दिया था। जो लोग वर्णव्यवस्था का परित्याग करके उनके सम्प्रदाय में दीक्षित होते थे उन्हें वह अवधूत कहते थे। इस दृष्टि से हम अवधूतों को सुधारवादी संतों की कोटि में रख सकते हैं।

(२) वैरागी[2]—साधारणतया वैरागी उन साधुओं को कहा जाता है जो संसार से उदासीन रहकर पवित्र जीवनयापन करते हैं। वैरागियों के संबंध में रोज साहब का अनुमान है कि वे किसी प्राचीन नरसिंह पूजक प्राचीन संप्रदाय के अवशिष्ट रूप हैं। उनका कहना है कि वैरागी लोग संभवतः इसीलिए सिंह की खाल का आसन रखते हैं। कुछ साहब का अनुमान है कि इस संप्रदाय का उदय रामानुजाचार्य के उपदेश के फलस्वरूप हुआ था।[3] पहले यह दक्षिण में प्रचलित हुआ, बाद में यह उत्तर भारत में आया और रामानंद के अनुयायी शिष्यों के लिए इसका प्रयोग किया जाने लगा। यद्यपि वैरागियों का उदय भी सुधारवादी भावना को लेकर हुआ था किन्तु यह भावना उनमें अधिक दिन तक जीवित न रह सकी और वे रूढ़िवादी बन गये। ये लोग अधिकतर वैष्णव होते हैं। पंजाब में राम के उपासक वैरागी रामानंद के नाम से प्रसिद्ध हैं और कृष्ण के उपासक निमांडी कहलाते थे। ये लोग राम और कृष्ण को तो मानते हैं किन्तु वैरागी होने के कारण सीता और राधा को महत्त्व नहीं देते। ये लोग कभी-कभी कठोर तपस्या भी करते हैं।

---

[1] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृ० ११७ इनसम विवरण देखिए न्यूयार्क १०१२

[2] पंजाब सेंसस रिपोर्ट रोज भाग १ पृ० ११०

[3] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग १ पृ० २१०

(३) अघोरी[1]—यह शैव साधुओं का एक सम्प्रदाय है। यह प्राचीन शैव कापालिकमत का ही नवीन रूपान्तर कहा जा सकता है। इस संप्रदाय के प्रधान केन्द्र आबू, गिरनार, बोध गया, बनारस और हिंगलाज नामक स्थान माने जाते हैं। क्रुक[2] साहब का अनुमान है कि यह पंथ अधिक प्राचीन है क्योंकि ह्वेनसांग ने जिन साधुओं को देखा था वे संभवतः अघोरी ही थे। किंतु[3] मैं इनके मत से सहमत नहीं हूँ। मेरी समझ में यह प्राचीन शैव संप्रदायों का एक मिश्रित मध्यकालीन रूपान्तर था क्योंकि हमें प्राचीन संस्कृत या पाली साहित्य में कहीं पर भी अघोरी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। ये लोग अघिश्वर भैरव और कालिका माता की पूजा करते हैं। इन्हें प्रायः कोई न कोई देवी या देवता सिद्ध रहते हैं। प्रसन्न होने पर वे मनुष्य को समृद्धिशाली बना सकते हैं और अप्रसन्न होने पर विविध प्रकार के चमत्कारिक प्रयोगों से मानव को सता भी सकते हैं। खानपान[4] में ये निकृष्ट वस्तु को हेय नहीं मानते। यही कारण है कि ये नरमांस या पशुमांस के अतिरिक्त नर विष्ठा तक खा लेते हैं। साधुओं का व्यावहारिक जीवन परमहंसों के सदृश होता है। इनके भी कई उपसंप्रदाय हैं। उन संप्रदायों में औघड़ पंथी किनारामी सरभंगी आदि प्रमुख हैं। ये[5] लोग चिता की राख शरीर में मले रहते हैं और रुद्राक्ष की माला पहनते हैं। इसके किसी उपसंप्रदाय के साधु मनुष्यों के दाँतों की माला भी पहनते हैं।[6] हमारी समझ में अघोरी संप्रदाय भी जाति पाँति का विरोध करनेवाला मध्यकालीन प्रतिक्रियावादी संप्रदाय था।

दक्षिण का प्रतिक्रियावादी शैव लिंगायत सम्प्रदाय

दक्षिण के सुधारवादी शैव संप्रदायों में लिंगायतमत बहुत प्रसिद्ध है। इस मत का प्रचार बम्बई, बेलगाँव, बीजापुर, धारवाड़, मैसूर, हैदराबाद, मद्रास आदि प्रांतों में है। भारत[7] में पाँच स्थानों पर इन्होंने अपने सिंहासन स्थापित किये थे। उनके नाम क्रमशः बलहर, उज्जैनी, बनारस, श्रीशैलम और केदारनाथ हैं। अन्य स्थानों में जो मठ

---

[1] दि मिस्टिक्स एसेटिक्स एण्ड सेंट्स आफ इण्डिया ओमन पृ० १६० १०९ (१९०३ का संस्करण।)

[2] इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृ० २१०

[3] वही।

[4] वही पृ० २११-२१२

[5] वही " "

[6] वही " "

[7] वही भाग ८ पृ० ६८ अनुवाद १९२१

पाये जाते हैं वे इन्हीं ५ महामठों में से किसी एक के अधीन रहते हैं। इन[1] मठों का महन्त जो प्रायः जंगम कहलाता है वही इनका पुरोहित होता है। वह धार्मिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों का नायक समझा जाता है। उसके[2] निर्णय और आदेश संप्रदायवालों के लिए मान्य होते हैं।

इस मत का उदय संभवतः १०वीं शताब्दी में ही हो चला था।[3] किन्तु इसको व्यवस्थित सम्प्रदाय के रूप में प्रवर्तित करने का श्रेय बासव नामक एक दक्षिणी ब्राह्मण को दिया जाता है। इस मत के संस्थापन प्रचार और प्रसार में उसके भतीजे चन्न बासव ने उसकी बहुत सहायता की थी।

इस सम्प्रदाय के लोग वेद के अतिरिक्त हिन्दुओं के और किसी भी ग्रन्थ को नहीं मानते। बासव और चन्नबासव लिखित दो पुराण ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थ माने जाते हैं। यह मध्य युग के साथ-साथ सामाजिक सुधार को भी महत्व दिया गया था।

इस धर्म का उदय मध्यकालीन रूढ़िवादी ब्राह्मण धर्म और समाज की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। ये लोग वर्ण व्यवस्था के विरोधी थे और ब्राह्मणों का प्रभुत्व नहीं स्वीकार करते थे। यज्ञ[4] बलि आदि में इन्हें विश्वास न था। वैदिक और स्मृति विधि विधानों का पालन ये अनावश्यक समझते थे। हिन्दुओं के षोडश संस्कारों के स्थान पर इन्होंने अपने नये आठ संस्कारों की कल्पना की थी[5] जिन्हें ये अष्टावर्ण कहते थे। इन्होंने अपना समाज तीन वर्गों में बाँट रक्खा है—पंचमशाली और अपंचमशाली। अपंचमशाली भी दो प्रकार के होते हैं—अष्टावर्ण में विश्वास करने वाले और अष्टावर्ण में न विश्वास करनेवाले।[6] प्रथम वर्ग के अंतर्गत जंगम लोग आते हैं। ये जंगम ही इनके धार्मिक पुरोहित होते हैं। इनका ब्राह्मण होना आवश्यक नहीं होता है। ये जंगम गृहस्थ और साधु दोनों ही होते हैं। किन्तु[7] अधिक संख्या साधुओं की ही है। इस सम्प्रदाय के साधु वेरक्त कहलाते हैं। ये विविध घंटियों से जड़ित एक लंबा सा चोलना पहनते हैं और घंटियों को बजाते चलते हैं।[8] ये लोग

---

[1] हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म चार्ल्स इलियट भाग २ पृ० २२०

[2] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ८ पृ० ७२ न्यूयार्क

[3] हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म भाग २ पृ० २२६ लन्दन १९२१

[4] वही पृ० २२२

[5] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ८ पृ० ७० न्यूयार्क १९२१

[6] वही पृ० ७२

[7] वही भाग २ पृ० ४२

[8] दि मिस्टिक्स एसेटिक्स एण्ड सेंट्स आफ इण्डिया ओमन लन्दन १९०३ पृ० १९२

शिव और महेश के अतिरिक्त और किसी देवता की पूजा ही नहीं करते हैं। दूसरे वर्ग के अंतर्गत समाज के साधारण धार्मिक रुचि के लोग आते हैं। जैसे किसान, मजदूर, नाई, बढ़ई आदि। तीसरी कोटि के वे लोग आते हैं जिनका धार्मिक स्तर बहुत नीचा होता है। जैसे धोबी, चमार, भंगी आदि। इनके धार्मिक विश्वास और पूजा-विधियाँ भी हिंदुओं से बिल्कुल भिन्न होती हैं।

इस सम्प्रदाय में हमें समाज का एक बिल्कुल परिवर्तित रूप ही दिखाई पड़ता है। मध्यकालीन हिन्दू समाज जिन कुरीतियों का शिकार था इन्होंने उन सबको अपने समाज में प्रविष्ट नहीं होने दिया। वर्ण-व्यवस्था संबंधी ऊँच-नीच के भाव को ये स्वीकार नहीं करते थे।[1] इन्होंने अपने समाज में बाल-विवाह की प्रथा भी नहीं रखी थी। विधवा विवाह और पुनर्विवाह के ये पक्षपाती थे। इनके यहाँ तलाक विशेष सम्मति[2] चलती थी। इनका खानपान सरल और सात्विक होता है। मांस मदिरा से छूते भी नहीं हैं। इनके यहाँ छुआ-छूत[3] भी नहीं मानी जाती है। लड़के-लड़कियों का विवाह दोनों की सम्मति से हुआ करता है। इन लोगों में बैल की सवारी की भी प्रथा है। ये लोग अपने मुर्दों को जलाते नहीं हैं।[4] विशेष मुद्रा में पृथ्वी में गाड़ देते हैं। ये लोग जन्मान्तरवाद में भी आस्था नहीं रखते हैं। इनका कहना है कि मृत्यु के बाद जीव सीधा शिव के पास चला जाता है जहाँ से उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती है। इस[5] प्रकार हम देखते हैं कि लिंगायत सम्प्रदाय की स्थापना धार्मिक और सामाजिक सुधारों

---

[1] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ९ पृ० २२९

[2] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ८ पृ० ७२-७३

[3] हिन्दूइज्म बुद्धिज्म—चार्ल्स इलियट लन्दन १९२१ पृ० २९-३०

[4] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ८ पृ० ७४

[5] वही

[6] इन ग्रंथों के विवरण के लिए निम्नलिखित ग्रंथ पढ़ने चाहिए—

(क) गोविन्दाचार्य लिखित वैदिक सेक्ट्स।

(ख) गोविन्दाचार्य लिखित डिवाइन विज़डम आफ दि द्रविड़ सेन्ट्स।

(ग) कृष्णा स्वामी आयंगर वैष्णवाइट रिफार्मर्स आफ इण्डिया।

(घ) टी० ए० गोपीनाथ राव-अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णविज्म इन साउथ इण्डिया।

(ङ) जे० एस० एम० हूपर—हिम्स आफ दी अलवार सेन्ट्स।

(च) बलदेव उपाध्याय—भागवत सम्प्रदाय।

(छ) फर्कुहर—रिलीजस लिटरेचर आफ इण्डिया।

(ज) डेवलपमेंट आफ दि हिस्ट्री आफ दी वैष्णव धर्म० आयंगर।

की भावना लेकर हुई थी। हमारा यह विश्वास है कि इस सम्प्रदाय के जंगम साधुओं की संगति ने निर्गुणियाँ साधुओं को धर्म और समाज की ओर प्रेरित किया होगा।

सामंजस्यवादी भक्त सुधारक

उपर्युक्त प्रतिक्रियावादी आचार्यों और साधु-संत सम्प्रदायों के अतिरिक्त मध्य युग में भक्त सुधारकों के कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय उदित हुए थे जिनमें प्रतिक्रिया की भावना प्रधान न होकर सामंजस्य की भावना अग्रणी थी। इनके भी हम तीन वर्ग कर सकते हैं—

१—भारतीय भक्त और संत सम्प्रदाय।
२—विदेशी संत सम्प्रदाय।
३—दोनों के मिश्रण से बने हुए साधु सम्प्रदाय।

(१) भारतीय भक्त और संत सम्प्रदाय—इस वर्ग के अंतर्गत निम्नलिखित सम्प्रदाय और परम्पराएँ विशेष विचारणीय हैं।

(क) दक्षिण के आलवार भक्त। (ख) दक्षिण के शैव भक्त। (ग) महाराष्ट्रीय रहस्यवादी संत। (घ) सहजिया वैष्णव संत। (च) पुरबिया वैष्णव भक्त। (छ) कुछ अन्य सम्प्रदाय।

(क) दक्षिण के आलवार भक्त संत

वैष्णव धर्म के विकास में दक्षिण के आलवार संतों[1] ने बहुत योग दिया था। ये लोग अधिकतर तामिल प्रांत के निवासी थे। इनका उदय और विकास युग दूसरी शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक माना जाता है। ये संत संख्या में बारह बताये जाते हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—१—पोयगे आलवार। २—भूतत्तालवार ३—पेयालवार। ४—तिरुमंडिशै आलवार। ५—नम्मालवार। ६—मधुरकवि। ७—कुलशेखर आलवार। ८—विष्णुचित्त आलवार। ९—गोदा आण्डाल। १०—विप्रनारायणतोण्डरडिप्पोडि। ११—मुनिवाहन या तिरुप्पाण। १२—तिरुमंगैयालवार।

इन संतों ने अपनी रचनाएँ तामिल भाषा में लिखी थीं। इनकी जो रचनाएँ उपलब्ध हैं उनका तामिल में प्रबन्धम् नाम से संग्रह किया गया है। तामिल भाषाभाषी प्रांत में इस ग्रन्थ का वैसा ही आदर किया जाता है जैसा कि हम लोग वेद का करते हैं।

ये आलवार संत मिथ्या वर्णव्यवस्था में विश्वास नहीं करते थे। वे स्वयं भी

विविध सामाजिक स्तरों से सम्बन्धित थे। नम्मालवार तो जाति से शूद्र थे किंतु फिर भी आलवारों में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।

आलवार संतों की सबसे प्रमुख विशेषता उनकी भक्ति-भावना है। उनकी भक्ति में भावों की एक विचित्र तीव्रता, समर्पण की एक अनोखी लालसा पाई जाती है। गोविंदाचार्य ने अपनी डिवाइन विज़डम आफ दी द्रविड़ सेन्ट्स नामक रचना में आलवारों की भक्ति संबंधी इस विशेषता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि द्राविड़ संत-भक्ति-भावना के उन्माद में चिल्ला उठता है कि दौड़ो, कूदो, बोलो, हँसो, नाचो ताकि सब लोग तुम्हारी इस भक्ति-भावना के उन्माद की साक्षी बन सकें। विष्णु[1] सहस्रनाम कीर्तन इनकी भक्ति-भावना का प्रधान अंग है।[2] यह बात एक संत की निम्नलिखित उक्ति से प्रकट है—मैं भावोन्माद में पथ की ओर आँखें निश्चलकर प्रतीक्षा करता हूँ। और जब तक हमें होश रहता है तब तक मैं प्रियतम विष्णु के सहस्र नामों का कीर्तन करता रहता हूँ। उस समय अमर भी भावोन्माद में यही कहते हुए प्रतीत होते हैं कि हम भी विष्णु की पूजा करेंगे[3]।

इन संतों ने अपनी रचनाओं में द्वैतमूलक भेदभावों की चाहे वे शत्रु मित्र संबंधी हों या ऊँच-नीच संबंधी हों उनकी निंदा की है। यह बात तिरुमूली की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है—हे भगवान् तुम इतने महान् हो कि मंदबुद्धि को भी मंदबुद्धि नहीं कहते, शत्रु को शत्रु नहीं कहते, नीच को नीच नहीं कहते वरन् उनसे सहानुभूति ही रखते हो। उन्हें अपनी दया से अनुग्रहीत करते हो। इस[4] प्रकार की उक्तियाँ स्पष्ट रूप से उनके भेदभाव विहीन दृष्टिकोण को स्पष्ट करती हैं।

आलवारों ने अपनी भक्ति में सेवक भाव को ही महत्त्व दिया था। प्रपत्ति भावना का उदय भी संभवतः सर्वप्रथम इन्हीं भक्तों में हुआ था। ये लोग ईश्वर की कृपा में दृढ़ विश्वास रखते थे। आत्मदैन्य की भावना भी इनमें कम शक्तिशाली नहीं है। यह बात एक आलवार की निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट है—हे भगवान् आपका सेवक मैं आपके चरणों की शरण में आया हूँ और आपके चरणों को बारबार पकड़ रहा हूँ ताकि आप अपनी अहैतुकी कृपा से इस दीन का उद्धार कर दें[5]।

इन संतों की दृष्टि में पुस्तक ज्ञान से सदाचरण कहीं अधिक उत्तम एवं श्रेयस्कर है। एक संत भगवान् को संबोधित करते हुए कहता है—"हे भगवन् एक

---

[1] देखिए इन्ट्रोडक्शन पृ० १ हिम्स आफ आलवार सेंट्स्—हूपर

[2] जे० एस० एम० हूपर—हिम्स आफ आलवारस इन्ट्रोडक्शन पृ० २१।

[3] वही ग्रंथ पृ० ६२।

[4] वही ग्रंथ पृ० ७१।

[5] वही ग्रंथ पृ० ७१।

ऋषि का लड़का यद्यपि चारों वेद में पारंगत था किन्तु फिर वह सदैव यम से डरता रहता था। यम से बचने का जब उसे कोई उपाय नहीं सूझा तब वह आलवी शरण में आया था।[1] इस अवतरण में भक्त ने स्पष्ट घोषित किया है मृत्यु भय ज्ञान से नहीं भक्ति से दूर होता है।[1]

ये संत लोग उच्च कोटि के रहस्यवादी भी थे। इनका रहस्यवाद सूफियों के रहस्यवाद से बहुत मिलता-जुलता है।[2] सूफियों के सदृश ही इनमें भी प्रेम और विरह की मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है। रहस्यभावना की अभिव्यक्ति के लिए इन लोगों ने सूफियों के ढंग की मधुर प्रतीक पद्धति का उपयोग भी किया था। यह बात एक भक्त की निम्नलिखित रहस्याभिव्यक्ति से स्पष्ट है—प्रियतमा प्रियतम को संबोधित करके कहती है कि प्रेम की ज्योति पीली पड़ रही है उसके स्थान पर धुँधलापन फैल रहा है। रात्रि युग के सदृश प्रतीत हो रही है। यह विरहरूपी सम्पत्ति जो मेरे प्रियतम कृष्ण ने मुझे दी है, वह अनुपमनीय है और तुलसी के सदृश शीतल है। इन[3] संतों की इस रहस्य भावना का प्रत्यक्ष प्रभाव निर्गुणियाँ संतों पर दिखाई पड़ता है।

दक्षिण के सामंजस्यवादी शैव भक्त सन्त

तामिल देश के शैव भक्तों का अध्ययन अभी तक बड़ा उपेक्षित रहा है। किन्तु हिंदी की निर्गुण काव्यधारा की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने से पूर्व इन भक्तों की सामान्य विशेषताओं को समझ लेना आवश्यक है। इनका उदय और विकासकाल विद्वानों ने पाँचवीं शताब्दी से लेकर ११वीं शताब्दी तक निश्चित किया है। ये भक्त संख्या में ६३ बताये जाते हैं। इनमें[4] सबसे अधिक ख्याति तिरुज्ञान सम्बन्ध की है। यह महात्मा जन्म से ब्राह्मण थे। इनमें बाल्यकाल से ही भक्ति-भावना और काव्य-शक्ति का स्फुरण हो चला था। इन सन्तों के गीत दक्षिण के २७४ मंदिरों में गाये जाते थे। दक्षिण शैवों के बारह धर्म ग्रंथों में प्रथम तीन इन्हीं सन्तों के शिव-भक्ति परक गीतों का संग्रह है। ये गीत तेवारम नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रत्येक में प्रायः ११ पद होते हैं। अन्तिम पद में ये अपने नाम आदि का परिचय देते हैं।

ये संत लोग भगवान् शिव की करुणा में अटूट विश्वास करते थे। इनके गीतों में प्रेम और आनंद की मधुमयी धारा प्रवहमान है। इनके गीतों में प्रायः ऐसी ध्वनि निकलती है कि इन्होंने अपने ज्ञान-चक्षुओं से भगवान् शिव के दर्शन किये थे। इनकी

---

[1] वही ग्रंथ पृ० ७१।

[2] वही ग्रंथ देखिये भूमिका।

[3] वही ग्रंथ पृ० ७१।

[4] देखिए इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग १२ पृ० ३६।

इस भावना से उनमें मधुर रहस्यवाद का समावेश हो गया। महाराष्ट्रीय वैष्णव संतों ने रहस्याभिव्यक्ति प्रेरणा इन्हीं संतों से प्राप्त की थी। उनकी रहस्यभावना का स्पष्ट प्रभाव निर्गुणियाँ संतों पर दिखाई पड़ता है। कोई आश्चर्य नहीं कि इनकी परंपरा से दूसरे साधुओं का प्रत्यक्ष प्रभाव निर्गुणियाँ संतों पर पड़ा हो। संत लोग प्रायः भ्रमणशील हुआ करते थे। दूसरे संप्रदाय के साधुओं में पैठकर उनकी बातों को सीखने की प्रवृत्ति भी इनमें थी। इस प्रवृत्ति के आधार पर हम दोनों में बहुत बड़ा भौगोलिक अंतर होते हुए भी पारस्परिक प्रभाव का असंभव नहीं मान सकते।

महाराष्ट्रीय रहस्यवादी भक्त संत

आलवार संतों के प्रभाव के फलस्वरूप दक्षिण में महाराष्ट्रीय संतों का प्रादुर्भाव हुआ। हिंदी के निर्गुणियाँ संतों का इन महाराष्ट्रीय भक्तों से सीधा संबंध दिखलाई पड़ता है। हमारी धारणा तो यह भी है कि आलवार संतों का प्रभाव हिंदी संत कवियों पर महाराष्ट्रीय सन्तों के माध्यम से ही पड़ा था। इसका कारण यह है कि आलवार सन्तों ने अपनी रचनाएँ अधिकतर तामिल तेलगू आदि भाषाओं में लिखी थीं। निर्गुणियाँ कवि इन भाषाओं से प्रायः अपरिचित थे। इसके विपरीत महाराष्ट्रीय सन्तों की रचनाएँ ऐसी सरल महाराष्ट्री भाषा में लिखी गई थीं जिन्हें निर्गुणियाँ सन्त सरलता से समझ लेते थे। दूसरे आलवार भक्तों की अपेक्षा महाराष्ट्रीय सन्तों की विचारधारा निर्गुणियाँ सन्तों को अपने विचार के अधिक अनुकूल लगती होगी संभवतः इन्हीं कारणों से निर्गुणियाँ सन्तों ने महाराष्ट्रीय सन्तों के पदचिह्नों पर चलने की चेष्टा की थी।

वैष्णव वारकरी सम्प्रदाय—महाराष्ट्रीय संतों की परम्परा का उदय संत ज्ञानदेव से माना जाता है। वारकरी[1] वैष्णव सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्तक यह ही माने जाते हैं। इस संप्रदाय में पंढरपुर के भगवान् विठ्ठलदेव की उपासना पर ही सबसे अधिक बल दिया गया है। भगवान् विठ्ठल विष्णु का ही प्रतिरूप समझे जाते थे।[2] इसीलिए यह संप्रदाय वैष्णव संप्रदाय कहा जाता है। संत ज्ञानेश्वर के अतिरिक्त इस

---

[1] महाराष्ट्री में वारकरी का अर्थ परिक्रमा करने वाला होता है जो संत भगवान् विट्ठल की परिक्रमा करते थे उन्हें वारकरी कहा जाने लगा देखिए उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० ३० प्रयाग २००८।

[2] भंडार ने विट्ठल को विष्णु का अपभ्रंश रूप माना है। उनका कहना है कि विष्णु का कनाड़ी भाषा में विट्ठु हुआ और बाद में बिगड़कर विट्ठल हो गया। कलेक्टेड वर्क्स आफ भंडारकर भाग ४ पृ० ११४। कुछ लोगों ने विठोबा को विष्णु का अवतार कहा है—देखिए [illegible] १९०० पृ० १०५१

सम्प्रदाय का पोषण नामदेव, एकनाथ तुकाराम आदि अन्य महाराष्ट्रीय संतों ने भी किया था।

संत ज्ञानेश्वर का जन्म सन् १२७५ ई० के आसपास आलंदी नामक ग्राम में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध पं० विट्ठलपंत के घर में हुआ था। यह[1] बचपन से ही परम विरक्त और प्रतिभाशाली थे। कहते हैं कि इन्होंने आध्यात्म संबंधी कई ग्रंथ लिखे थे। इन ग्रंथों में ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभव आज भी उपलब्ध हैं। ज्ञानेश्वरी इनके आध्यात्मिक और भक्तिपरक सिद्धांतों का स्पष्ट दर्पण है। यहाँ पर हम उसी के आधार पर उनकी विचारधारा का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

संत ज्ञानेश्वर की विचारधारा भगवद्गीता की विचारधारा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। जिस प्रकार गीता में भक्ति ज्ञान और कर्म के सामंजस्य पर बल दिया गया है उसी प्रकार इनकी वाणी भी उन्हीं तीनों धाराओं की त्रिवेणी से आप्लावित है। इन्होंने प्रकृति और पुरुष के संबंध में भी अपने विचार प्रकट किये हैं। यह प्रकृति को कर्त्री और पुरुष को द्रष्टा मात्र मानते थे।[2] अपने इस सिद्धांत का स्पष्टीकरण उन्होंने एक राजा के दृष्टान्त से किया है। जिस प्रकार राजा के राजमहल को बनाने वाले तो और ही होते हैं। किंतु उसका द्रष्टा राजा होता है। उसी प्रकार इस सृष्टिरूपी महल की निर्मात्री प्रकृति है और पुरुष उसका द्रष्टा मात्र है।[3] ज्ञानेश्वरी में सांख्य-दर्शन के समान प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि माने गये हैं। इनमें पुरुष पुरातन कहा गया है और प्रकृति चिर नवीन इनके इस प्रकृति और पुरुष संबंधी सिद्धांत से पूर्णतया स्पष्ट है कि यह सांख्यवादी थे। उन्हें ईश्वराद्वैतवाद से प्रभावित मानना हमारी समझ में ठीक नहीं है।[4] जहाँ तक शांकराद्वैतवाद[5] के खंडन की बात है उसके मूल में उनकी सांख्यानुकूल द्वैतवादी दृष्टि है। उन्होंने अपने को एक स्थल पर सांख्यवादी ही घोषित भी किया है।[6]

---

१ देखिए श्री आर० डी० रानडे लिखित मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र पृ० ३०-३१ तथा हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी रानडे भाग ७।

२ वही पृ० ३१

३ हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग ७ रानडे बेलवेलकर में रानडे लिखित मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र पूना १९३३ पृ० ३०३ ३१ ३२

४ श्री परशुराम चतुर्वेदी ने उत्तरी भारत की संत परम्परा नामक ग्रंथ में उन्हें ईश्वर द्वैतवाद से ही प्रभावित माना है—देखिए पृ० ८८ संस्करण २००८

५ वही पृ० ८८

६ रानडे लिखित मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग ७ पूना १९३३ में संगृहीत पृ० ३१।

संत ज्ञानेश्वर ने अपनी रचनाओं में आध्यात्मिक विचारों के प्रतिपादन के साथ-साथ भक्ति का निरूपण भी किया है। वह कोरे ज्ञान के पक्षपाती न थे उनका विश्वास था कि ज्ञान अपनी पूर्णता पर भक्ति से विशिष्ट होने पर ही प्राप्त होता है। यह बात उनके निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है—जो हमसे अद्वैतता स्थापित करके भी हमारे प्रति अपनी भक्ति भावना स्थिर रखता है वही सच्चा ज्ञानी है।[1]

संत ज्ञानेश्वर में हमें रहस्यवाद के भी दर्शन होते हैं। उन्होंने उस प्रियतम तक पहुँचने के चार मार्गों का उल्लेख किया है। ध्यानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग और सांख्ययोग[2]। वैसे तो वह चारों का ही महत्त्व स्वीकार करते थे पर उनकी स्वयं की आस्था भक्तियोग में ही सबसे अधिक थी।[3] भक्तियोग में वह वर्णव्यवस्था के भेद भाव को भी अनुचित मानते थे।[4] इनका भक्ति मार्ग कोरा निष्क्रिय एवं अव्यवहारिक साधना मार्ग न था। जिस प्रकार वह भक्ति के बिना ज्ञान को अपूर्ण समझते थे। उसी प्रकार भक्ति को योग के बिना निष्क्रिय मानते थे। उनकी रचनाओं में हमें सर्वत्र हठयोग, राजयोग, लययोग आदि की चर्चा मिलती है।[5]

इस प्रकार हमें संत ज्ञानेश्वर में ज्ञान भक्ति और योग का सुन्दर समन्वय मिलता है। उन्होंने अपनी इस अभिनव त्रिवेणी से सारे महाराष्ट्र को तो प्लावित किया ही था। उत्तरापथ उसके पावन प्रवाह से वंचित हुए बिना न रह सका। आर० डी० रानडे साहब ने उनकी विचारधारा को आध्यात्मिक रहस्यवाद कहा है। मैं उनके इस नामकरण से पूर्णतया सहमत हूँ। मेरी अपनी धारणा है कि निर्गुणियाँ संतों को आध्यात्मिक रहस्यवाद का वरदान इन्हीं महाराष्ट्रीय संतों से मिला था।

नामदेव—वारकरी सम्प्रदाय के उल्लेखनीय दूसरे संत नामदेव हैं। कबीर आदि पर इनका प्रत्यक्ष और स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है अतः इनका विवेचन निर्गुण काव्यधारा के कवियों के प्रसंग में किया जायगा।

एकनाथ—नामदेवजी के बाद महाराष्ट्रीय संतों में एकनाथजी का नाम

---

[1] वही पृ० १११।

[2] रानडे मिस्टिक मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र पृ १०८।

[3] वही पृ० १०९

[4] वही पृ० ११०

[5] वही पृ० ११२

जाता है। इनका जन्म सन् १५३३ ई०[1] में एक उच्च ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके प्रपितामह भी अपने समय के एक महान् संत थे। उनका इनके जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था। इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना भाव भागवत है। इनके लिखे हुए रुक्मिणी स्वयम्वर और भावार्थ रामायण नामक ग्रंथ भी बहुत प्रसिद्ध हैं।[2]

यह शुद्ध सगुणवादी संत थे।[3] सगुणवादी होते हुए भी यह अद्वैतवादी विचारों के थे। यह बात उनकी भक्ति की परिभाषा से प्रकट है। उनके मतानुसार सारे विश्व में ईश्वर के दर्शन करना ही सच्ची भक्ति है।[4] नामदेव के सदृश नाम जप को इन्होंने भी बहुत महत्त्व दिया था।[5] उनकी प्रेमानुभूति बहुत ही तीव्र और पूर्ण थी। इस बात का प्रमाण यह है कि जहाँ भी उन्होंने प्रेमानुभूति की अवस्था का वर्णन किया है वहाँ सर्वत्र सात्त्विकों की उद्भूति भी दिखलाई है।[6] अद्वैतवादियों के सदृश यह ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या मानते थे।[7] नैतिक क्षेत्र में उन्होंने सदाचरण पर बहुत अधिक महत्त्व दिया था।[8] इनकी रहस्यानुभूति विश्व व्यापिनी थी। इसी विशेषता के आधार पर रानडे साहब ने इनकी रहस्यानुभूति को कम्प्रिहेन्सिव मिस्टीसिज्म अर्थात् समन्वयात्मक रहस्यवाद कहा है।[9]

संत तुकाराम[10] —महाराष्ट्रीय संतों में संत तुकाराम अग्रगण्य माने जाते हैं।

---

[1] इनकी जन्मतिथि के सम्बन्ध में मतभेद है राजवाड़े और भावे नामक विद्वानों ने १५२८ ई० इनकी जन्मतिथि निश्चित की है फर्कुहर १५४८ ई० मानने के पक्ष में हैं। बाद में उन्होंने १५३३ ई० को ही जन्मतिथि मानी है। रानडे साहब ने इस मत का समर्थन किया है। देखिए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग ७ आर० डी० रानडे पृ० २१७ पूना १९३३।

[2] वही ग्रंथ पृ० २२६ २३०

[3] वही पृ० २३०

[4] वही ग्रंथ पृ० २३२

[5] वही पृ० २३२

[6] वही ग्रंथ पृ० २३२

[7] वही पृ० २३७

[8] वही ग्रंथ पृ० २३३

[9] वही पृ० २३८-३९

[10] देखिए—हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी—भाग ७ मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र आर० डी० रानडे—पृ० २६२ से २६६ तक पर इनके जन्म माता-पिता और जीवन की अन्य घटनाओं के सम्बन्ध में विविध मत दिये हैं। महीपति ने १६०८ ई० इनकी जन्म तिथि और १६४९ इनकी निर्वाण तिथि दी है—कलेक्टेड वर्क्स आफ आर० जी० भण्डारकर भाग ४ पृ० १२९

इनके पिता का नाम बाल्होजी और माता का नाम कनकाबाई था। बाल्होजी स्वयं ही एक प्रसिद्ध संत थे अतएव पुत्र का संत होना स्वाभाविक ही था।[1] संत तुकाराम ने अपनी साधना के बल पर भगवान् साक्षात्कार प्राप्त कर लिया था।[2] इनकी वाणी उस साक्षात्कार जनित आनंद से परिपूर्ण है।

तुकाराम जी की साधना के आधारभूत तत्त्व दो थे। प्रेम और प्रार्थना। उनका विश्वास था। साधक इन्हीं दो तत्त्वों का सहारा लेकर अपने प्रियतम से तादात्म्य प्राप्त कर सकता है। इन दोनों के अतिरिक्त उन्होंने तपस्या सत्संगति और सदाचरण को भी बहुत अधिक महत्त्व दिया था। संत तुकाराम एक भावुक रहस्यवादी थे। कहते हैं भावोन्माद की अवस्था में उन्हें प्रियतम के साक्षात्कार के साथ-साथ प्रियतम की वाणी भी सुनाई पड़ती थी।[3] उनमें रहस्य भावना की अनुभूति के साथ-साथ अभिव्यक्ति चमत्कार भी दिखाई पड़ता था।[4] यह अभिव्यक्ति चमत्कार उनके व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य था। सम्भवतः इसी लिए रानाडे साहब ने उनके रहस्यवाद को व्यक्तित्व प्रधान रहस्यवाद कहा है।[5] हमारी समझ में उनका रहस्यवाद केवल व्यक्तित्ववादी ही नहीं था वरन् वह समष्टिमूलक भी था। क्योंकि समस्त विश्व को ईश्वर रूप समझना उनकी भावना की सबसे प्रधान विशेषता थी। तुकाराम जी जैसे रहस्यवादी संत का व्यापक प्रभाव यदि परवर्ती संतों पर पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

संत रामदास—संत रामदास उन इने-गिने संतों में से हैं जो समय-समय पर भारत को कर्मपरता का संदेश देते आये हैं। यह महाराष्ट्र केसरी शिवाजी के गुरु थे। शिवाजी का सारा वैभव और प्रताप इन्हीं के आशीर्वाद का फल था। स्वामी रामदास जी का जन्म संवत् १६६५ चैत्र शुक्ल नवमी के दिन हुआ था। इनके पिता का नाम सूर्याजी पंत और माता का नाम रेणुकाबाई था।[6] यह वारकरी सम्प्रदाय के बाहर के संत थे। इन्होंने अपना एक पृथक् पंथ चलाया था। वह रामदासी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी प्रसिद्धतम रचना दासबोध है।[7] इनके आध्यात्मिक और

---

[1] भागवत दर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ० २८१

[2] अभंग ११६०-२११ में यही बात स्पष्ट होती है।

[3] हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग ७ लेखक रानाडे पृ० १०२ १०३

[4] वही

[5] देखिए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग ७ में मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र में पृ० ३६१-६४

[6] वही पृ० ३६६-३७१ तक

[7] वही पृ० ३७२

भक्तिपरक विचार इसी ग्रंथ में संनिहित हैं। इसका लक्ष्य समाज को लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के उन्नति पथ पर ले जाना था। इसकी साधना और उपदेश का मूल सार तीन प्रकारों में निहित है। ये प्रकार क्रमशः प्रयत्न, प्रत्यय और प्रबोध के द्योतक हैं।

यह संत महाराष्ट्र में निर्गुणवादी संत के रूप में बहुत प्रसिद्ध हैं। हमारी समझ में उनकी साधना निर्गुण और सगुण दोनों के बीच में कोई हुई थी। इतना होते हुए भी यह भावना और विश्वास रहित मूर्तिपूजा के विरोधी थे।[1] भगवान् कृष्ण के बाद यह पहले महात्मा थे जिन्होंने भक्ति और ज्ञान से कर्मयोग को अधिक महत्त्व दिया था। उनका विश्वास था कि भक्ति और ज्ञान के बिना कर्म योग के पूर्ण नहीं। संक्षेप में उनकी विचारधारा और सिद्धान्तों का यही सार है।[2]

निरंजन मत और निरंजनी साधु

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि मध्यदेशीय धार्मिक सुधारकों पर निरंजन मत का प्रभाव भी पड़ा था[3]। उनका यह कथन बहुत अंशों में सार्थक है। यदि इन सुधारकों की विचारधारा की तुलना निरंजनी साधुओं की विचारधारा से की जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि दोनों में बहुत साम्य है। इस साम्य का कारण संभवतः पारस्परिक प्रभाव ही है। अब प्रश्न यह है कि किसने किसको प्रभावित किया था। इस सम्बन्ध में अभी ही आचार्य सेन के मत का संकेत कर चुके हैं। उनके मत से मैं भी सहमत हूँ। मेरा अनुमान है कि इस मत का उदय १२वीं शताब्दी के आस-पास हुआ होगा। इस अनुमान के कई आधार भी हैं। राघोदास दादूपन्थी ने अपने भक्तमाल में लिखा है कि 'कबीर दादू नानक और जगन इन चार महंत सद्गुरुन की पद्धति निरंजन सूं मिली।' अर्थात् कबीर[4] दादू नानक और जगन को निर्गुण मत के प्रवर्तक की प्रेरणा निरंजन मत से मिली थी। इससे पूर्णतया स्पष्ट है कि यह सम्प्रदाय भी अन्य सम्प्रदाय के सदृश ही निर्गुण सम्प्रदाय का पूर्ववर्ती था। कुछ लोगों की धारणा है कि यह नाथपन्थ की ही शाखा थी[5]। जो कालांतर में निर्गुण सम्प्रदाय में अन्तर्निहित हो गई। मेरी अपनी धारणा यह है कि यह नाथपन्थ की शाखा न होकर सहजिया बौद्ध

[1] श्रीमद्भगवद्गीता का १८वाँ अध्याय देखिए।

[2] मेडिवल मिस्टीसिज्म आचार्य सेन पृ० ५६—लन्दन १९३६।

[3] उत्तरी भारत की संत परम्परा से उद्धृत पृ० ३६२ परशुराम चतुर्वेदी इलाहाबाद सं० २००८

[4] वही पृ० ३६०।

[5] विश्व भारती पत्रिका खण्ड ६ भाग २ पृ० ३२६।

सिद्धों की एक शाखा थी। इसका उदय भी नाथपन्थ के उदय के कुछ दिन पश्चात् ही हुआ होगा। हमारी समझ में इस मत का प्रवर्तन निरंजन नामक सिद्ध ने किया था। उन्हीं के नाम पर यह निरंजन मत कहा जाने लगा और बाद में यह वैष्णव और शैव साधनाओं के प्रभाव से अनुप्राणित हो गया।

यहाँ पर हम डा० हजारीप्रसाद का मत भी उद्धृत कर देना चाहते हैं उन्होंने निरंजन मत को धर्ममत से मिलाने की चेष्टा की है किन्तु यह केवल उनका अनुमान भर है उन्होंने अपने मत की पुष्टि में सशक्त तर्क और पुष्ट प्रमाण नहीं दिये हैं।[1]

हमारी समझ में निरंजन मत का प्रवर्तन निरंजन[2] नामक सिद्ध ने किया था। बाद में यह मत शैव और वैष्णव विचारधाराओं से प्रभावित होकर अभिनव रूप में विकसित हुआ। इस मत का उदय स्थान सम्भवतः उड़ीसा था क्योंकि अब भी केवल उसी प्रांत में उसके दो-चार अनुयायी मिलते हैं।[3] किन्हीं भौगोलिक और ऐतिहासिक कारणों से प्रारम्भिक सन्तों की रचनाएँ लुप्त हो गई हैं। उन रचनाओं की खोज करने की बड़ी आवश्यकता है। आजकल जिन निरंजनी साधुओं की रचनाएँ और विवरण उपलब्ध हैं उनमें सर्वप्रथम हरिदास जी हैं[4]। इनके सम्बन्ध में हरिनारायण शर्मा ने लिखा है कि यह हरिदास जी प्रथम तो माधवदास जी के शिष्य हुए फिर दादू जी के। उसके बाद कबीर और गोरखनाथ के पन्थ में हो गये[5]। इस कथन के आधार पर हरिदास जी का समय सरलता से निश्चित किया जा सकता है। ऐसा प्रसिद्ध है कि हरिदास जी ने माधवदास जी से १५५५ में दीक्षा ली थी[6]। इस घटना के आधार पर हरिदास जी का समय १७वीं शताब्दी का प्रथम या द्वितीय चरण माना जा सकता है। हरिदास जी के संबन्ध में बाबा राघोदास ने लिखा है कि हरिदास जी निरंजन संप्रदाय के १२ महन्तों में से अंतिम थे[7]। यदि दो महन्तों के बीच में बीस वर्ष का व्यवधान भी मान लिया जाय तो इसका उदयकाल सरलता से १२वीं शताब्दी के आस पास निश्चित हो जाता है। ऐसी दशा में हमें यह स्वीकार करने में संकोच नहीं हो सकता कि निरंजन मत ने ही निर्गुण मत को प्रभावित किया था। संत रामदास ने इस

---

[1] देखिए नाथ सम्प्रदाय पृ० १७।
[2] मेडिवल मिस्टीसिज्म—क्षितिमोहन सेन पृ० ७० लन्दन १९३६।
[3] उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० ३६० प्रयाग सम्वत् २००८
[4] वही पृ० ३६४।
[5] वही पृ० ३६२ ६३।
[6] वही पृ० ३६२।
[7] वही पृ० ३६१।

मत के महन्तों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं जैसे जगन्नाथदास, श्यामदास, कन्हड़दास, पूरनदास, मोहनदास और हरिदास। हमारी धारणा यह है कि महन्तों की ये लिस्ट आनुमानिक है। इनमें हमें केवल दो नाम प्राचीन लगते हैं एक तो जगन्नाथदास दूसरे कन्हड़दास। हमारी समझ में कोई जगन्नाथदास ही इसके प्रमुख प्रचारक थे और यह जगन्नाथ जी के समीप के रहने वाले थे। जगन्नाथदास के बाद दूसरा नाम कन्हड़ विचारणीय है। गोरखनाथ के पंथों में से कन्हड़ पंथ भी एक है[1]। हमारा अनुमान है कि निरंजनी कन्हड़ ने ही आगे चलकर अपना स्वतंत्र पंथ चलाया होगा जो नाथपन्थों के १२ पन्थों में गिनाया जाता है। संभवतः इसी आधार पर कुछ लोग इसे नाथपन्थ की एक शाखा मानते हैं[2]। कुछ उसे निगुण और नाथ के बीच की एक कड़ी[3] कहते हैं। हमारी धारणा है कि कन्हड़ के बाद कोई ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति नहीं हुआ जो इस मत को शक्तिशाली बनाने में सहायक होता। इसी लिए यह अधिक प्रकाश में नहीं आ सका। १७वीं शताब्दी में आचार्य हरिदास जी ने इसकी पुनः प्राणप्रतिष्ठा की जिसके फलस्वरूप इस संप्रदाय में कई उच्चकोटि के महात्मा उत्पन्न हुए। इनमें हरिदास जी के अतिरिक्त निपट निरंजन, तुलसी साहब, सेवादास, रामप्रसाद आदि कई प्रचारक विशेष उल्लेखनीय हैं। हरिदासजी ने बहुत से पद लिखे थे। उनका संग्रह हरिपुरुषजी की वाणी के नाम से किया गया है। निपटनिरंजनजी की भी दो रचनायें उपलब्ध हैं एक का नाम शांतरसी और दूसरे का नाम निरंजन संग्रह है। निरंजनी भगवानदास ने भी कई ग्रंथ लिखे थे जिनमें मत्त हरियावक, प्रेमपदार्थ, अमृतधारा, गीता, महाभारत आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इसी संप्रदाय के तुरसी नामक संत ने दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया था। इन्होंने बहुत सी रचनायें लिखी थीं जिनमें से अधिकांश उपलब्ध नहीं हैं।[4] इस सम्प्रदाय के उपर्युक्त तथा अन्य संतों की रचनाओं की खोज करने की आवश्यकता है। उपलब्ध रचनाओं के आधार पर डा० बड़थ्वाल ने अपने एक निबंध में और अपनी निर्गुण स्कूल आफ हिंदी पोइट्री नामक पुस्तक में तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी उत्तरी भारत की संत परम्परा में इनकी विचारधारा का संक्षिप्त संकेत किया है। निरंजनी साधु हठयौगिक साधना को विशेष महत्त्व देते थे। उनका विश्वास था कि निरंजन के दर्शन ब्रह्मरंध्र में ही हो सकते हैं। इसके लिए साधक को अपनी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी करनी होती हैं। कुंडलनी शक्ति जाग्रत करके सुषुम्ना मार्ग में प्रवृत्त की जाती है। इस सुषुम्ना मार्ग जिसे वे बंकनाल कहते हैं, से अनेक

---

[1] नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० १०-११ इलाहाबाद १९५०
[2] परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० ३६०
[3] निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री—डा० बड़थ्वाल प्रीफेस पृ० १-२
[4] इस मत के लिए देखिए उत्तरी भारत की संत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी पृ० ३९२

करके ही साधक की साधना सफल हो सकती है। वह तभी शून्य मंडल में अमृत रस का पान कर सकता है। इस मत में नाम स्मरण को भी बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। यह नाम स्मरण को आत्मा और परमात्मा से मिलाने वाली डोरी मानते हैं। निरंजन पंथ में नाथपंथ के सदृश ही त्रिकुटी साधना की महत्ता प्रतिपादित की गई है। इसमें सुरति मन तथा श्वास-निश्वास को एक साथ नियोजित करना पड़ता है। साधना के इस पथ में सफलता प्राप्त करने के लिए साधक को अभ्यास करना चाहिए।[1]

निरंजन मत में नाथ पंथी योग साधना के साथ ही साथ सूफी तथा भक्त संतों के अनुकरण पर प्रेम और विरह को भी बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। भक्ति की दृष्टि से हम इन्हें वैष्णव भक्त कह सकते हैं। इन्होंने अपने निरंजन परमात्मा की भक्ति का निरूपण नवधा भक्ति के ढंग पर किया है—स्मरण, पादसेवन ध्यान अर्चन आदि इन्हें भी मान्य थे। ॐ के महत्त्व को ये भी स्वीकार करते थे। दार्शनिक दृष्टि से ये अद्वैतवादी वेदांती कहे जा सकते हैं। इनकी ये सभी विशेषताएँ हमें निर्गुणियाँ संतों में ज्यों की त्यों मिलती हैं। अतएव हमारा यह निष्कर्ष है कि निर्गुणियाँ कवि निरंजन मत से बहुत अधिक प्रभावित थे अनौचित्यपूर्ण नहीं है।[2]

बंगाल का सहजिया वैष्णव संप्रदाय और उसके संत

बंगाल का वैष्णव सहजिया संप्रदाय बहुत प्रसिद्ध है। हिंदी साहित्य पर विशेष कर कृष्णोपासक कवियों पर उसका अमिट प्रभाव पड़ा था। हिंदी की निर्गुण काव्य-धारा से भी इसका आंशिक संबंध ढूँढ़ा जा सकता है। यह संप्रदाय सहजिया बौद्ध संप्रदाय का वैष्णव रूपान्तर कहा जा सकता है। जिस प्रकार बौद्ध सहजिया संप्रदाय में प्रज्ञा और उपाय के मिलन को ही महासुख की अवस्था कहा गया था उसी प्रकार इस संप्रदाय में राधा और कृष्ण के मिलन को आनन्द की पूर्णावस्था माना गया है।[3] इस संप्रदाय के अनुयायी संत कीर्तन को सबसे अधिक महत्त्व देते थे। ये लोग राधा और कृष्ण की मिलन लीलाओं की मधुर कल्पनाओं में निमग्न रहते थे। भावना और कल्पना की अतिरेकता और प्रणय भाव की मधुरता एवं साधना की गुह्यता के कारण इन संतों की वाणी में मधुर रहस्य भावना स्वतः ही प्रविष्ट हो गई। ये सगुणोपासक भक्त होते हुए भी रहस्यवादी थे। रहस्यवाद के समावेश से इनकी सगुणोपासना अनिर्वचनीय निर्गुण भावना में कुछ खोई खोई सी प्रतीत होती है। इस संप्रदाय के

---

[1] इन सब के लिए देखिए डा० बड़थ्वाल लिखित निरंजनी संत सम्बन्धी निबन्ध है—यह योग प्रवाह नामक ग्रंथ में संग्रहीत है।

[2] इसके लिए देखिए संत परम्परा परशुराम चतुर्वेदी पृ० ३००-३०२।

[3] आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स—दासगुप्त पृ० ११६ पर व्याख्या ११९६

मत के महन्तों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं जगन्नाथदास श्यामदास, कान्हड़दास, पूरनदास, मोहनदास और हरिदास। हमारी धारणा यह है कि महन्तों की ये लिस्ट आनुमानिक है। इसमें हमें केवल दो नाम प्राचीन लगते हैं एक तो जगन्नाथदास दूसरे कान्हड़दास। हमारी समझ में कोई जगन्नाथदास ही इसके प्रमुख प्रचारक थे और यह जगन्नाथ जी के समीप के रहने वाले थे। जगन्नाथदास के बाद दूसरा नाम कान्हड़ विचारणीय है। गोरखनाथ के पंथों में से कान्हड़ पंथ भी एक है[1]। हमारा अनुमान है कि निरंजनी कान्हड़ ने ही आगे चलकर अपना स्वतंत्र पंथ चलाया होगा जो नाथपन्थों के १२ पन्थों में गिनाया जाता है। संभवतः इसी आधार पर कुछ लोग इसे नाथपन्थ की एक शाखा मानते हैं[2]। कुछ इसे निर्गुण और नाथ के बीच की एक कड़ी[3] कहते हैं। हमारी धारणा है कि कान्हड़ के बाद कोई ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति नहीं हुआ जो इस मत को शक्तिशाली बनाने में सहायक होता। इसी लिए यह अधिक प्रकाश में नहीं आ सका। १७वीं शताब्दी में आचार्य हरीदास जी ने इसकी पुनः मानप्रतिष्ठा की जिसके फलस्वरूप इस संप्रदाय में कई उच्चकोटि के महात्मा उत्पन्न हुए। इनमें हरिदास जी के अतिरिक्त निपट निरंजन, तुरसी साहब, सेवादास, रूपमदास आदि कई प्रचारक विशेष उल्लेखनीय हैं। हरिदासजी ने बहुत से पद लिखे थे। उनका संग्रह हरिपुरुषजी की वाणी के नाम से किया गया है। निपटनिरंजनजी की भी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं एक का नाम शांतरसी और दूसरे का नाम निरंजन संग्रह है। निरंजनी भगवानदास ने भी कई ग्रंथ लिखे थे जिनमें भर्तृहरिशतक, प्रेमपदार्थ, अमृतधारा, गीता, महात्म्य आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इसी संप्रदाय के तुरसी नामक संत ने दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया था। इन्होंने बहुत सी रचनाएँ लिखी थीं जिनमें से अधिकांश उपलब्ध नहीं हैं।[4] इस सम्प्रदाय के उपर्युक्त तथा अन्य संतों की रचनाओं की खोज करने की आवश्यकता है। उपलब्ध रचनाओं के आधार पर डा० बड़थ्वाल ने अपने एक निबंध में और अपनी निर्गुण स्कूल आफ हिंदी पोयट्री नामक पुस्तक में तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी उत्तरी भारत की संत परम्परा में इनकी विचारधारा का संक्षिप्त संकेत किया है। निरंजनी साधु हठयौगिक साधना को विशेष महत्त्व देते थे। उनका विश्वास था कि निरंजन के दर्शन ब्रह्मरंध्र में ही हो सकते हैं। इसके लिए साधक को अपनी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी करनी होती हैं। कुंडलिनी शक्ति जाग्रत करके सुषुम्ना मार्ग में प्रवृत्त की जाती है। इस सुषुम्ना मार्ग जिसे वे बंकनाल कहते हैं, में प्रवेश

---

1 नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० १० ११ इलाहाबाद १९५०

2 परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० ३५०

3 निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री—डा० बड़थ्वाल भूमिका पृ० २-३

4 [illegible] मत के लिए देखिए उत्तरी भारत की संत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी पृ० ३१२

करके ही साधक की साधना सफल हो सकती है। वह तभी शून्य मंडल में अमृत रस का पान कर सकता है। इस मत में नाम स्मरण को भी बहुत अधिक महत्व दिया गया है। वह नाम स्मरण को आत्मा और परमात्मा से मिलाने वाली डोरी मानते हैं। निरंजन पंथ में नाथपंथ के सदृश ही त्रिकुटी साधना की महत्ता प्रतिपादित की गई है। इसमें सुरति मन तथा श्वास-निश्वास को एक साथ नियोजित करना पड़ता है। साधना के इस पथ में सफलता प्राप्त करने के लिए साधक को अजपाजाप करना चाहिए।[1]

निरंजन मत में नाथ पंथी योग साधना के साथ ही साथ सूफी तथा भक्त संतों के अनुकरण पर प्रेम और विरह को भी बहुत अधिक महत्व दिया गया है। भक्ति की दृष्टि से हम इन्हें वैष्णव भक्त कह सकते हैं। इन्होंने अपने निरंजन परमात्मा की भक्ति का निरूपण नवधा भक्ति के ढंग पर किया है—स्मरण, पादसेवन ध्यान अर्चन आदि इन्हें भी मान्य थे। ॐ के महत्व को ये भी स्वीकार करते थे। दार्शनिक दृष्टि से ये अद्वैतवादी वेदांती कहे जा सकते हैं। इनकी ये सभी विशेषताएँ हमें निर्गुणियाँ संतों में ज्यों की त्यों मिलती हैं। अतएव हमारा यह निष्कर्ष है कि निर्गुणियाँ कवि निरंजन मत से बहुत अधिक प्रभावित थे अनौचित्यपूर्ण नहीं है।[2]

बंगाल का सहजिया वैष्णव संप्रदाय और उसके संत

बंगाल का वैष्णव सहजिया संप्रदाय बहुत प्रसिद्ध है। हिंदी साहित्य पर विशेष कर कृष्णोपासक कवियों पर उसका अमिट प्रभाव पड़ा था। हिंदी की निर्गुण काव्य-धारा से भी इसका अप्रत्यक्ष संबंध ढूँढ़ा जा सकता है। यह संप्रदाय सहजिया बौद्ध संप्रदाय का वैष्णव रूपान्तर कहा जा सकता है। जिस प्रकार बौद्ध सहजिया संप्रदाय में प्रज्ञा और उपाय के मिलन को ही महासुख की अवस्था कहा गया था उसी प्रकार इस संप्रदाय में राधा और कृष्ण के मिलन को आनन्द की पूर्णावस्था माना गया है।[3] इस संप्रदाय के अनुयायी संत कीर्तन को सबसे अधिक महत्व देते थे। ये लोग राधा और कृष्ण की मिलन लीलाओं की मधुरकल्पनाओं में निमग्न रहते थे। भावना और कल्पना की अतिरेकता और प्रणय भाव की मधुरता एवं वासना की गुरुता के कारण इन संतों की वाणी में मधुर रहस्य भावना स्वतः ही प्रविष्ट हो गई। ये सगुणोपासक भक्त होते हुए भी रहस्यवादी थे। रहस्यवाद के समावेश से उनकी सगुणोपासना अनिर्वचनीय निर्गुण भावना में कुछ खोई खोई सी प्रतीत होती है। इस संप्रदाय के

---

[1] इस मत के लिए देखिए डा० बड़थ्वाल लिखित निरंजनी संत सम्बन्धी निबन्ध है—यह योग प्रवाह नामक ग्रंथ में संग्रहीत है।

[2] इसके लिए देखिए संत परम्परा परशुराम चतुर्वेदी पृ० १००-१०२।

[3] आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स—दासगुप्त पृ० १२१ एफ कलकत्ता १९४६

प्रमुख प्रचारक जयदेव विद्यापति चंडीदास जैसे महाकवि और रूप सनातन स्वरूप दामोदर तथा जीव गोस्वामी जैसे वैष्णवाचार्य थे।[1] महाप्रभु चैतन्य[2] को भी लोग इसी संप्रदाय का रूप मानते हैं। कुछ लोग इस मत के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार महाप्रभु चैतन्य ने अपना स्वतन्त्र संप्रदाय प्रवर्तित किया था। जो भी हो यह निर्विवाद है कि चैतन्य पर इस संप्रदाय का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। मैं तो उन्हें इसी संप्रदाय का परम भक्त मानने के पक्ष में हूँ। अतएव यहाँ पर उनका भी थोड़ा सा परिचय दे देना आवश्यक समझता हूँ।

चैतन्य स्वामी[3]

१५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में बंगाल महाप्रभु चैतन्य की सुधामयी वाग्धारा में अवगाहन कर रहा था। यह अपने युग के बहुत बड़े वैष्णव सुधारक थे। इनका उदय सन् १४८४ में बंगाल की विकृत शाक्त और बौद्ध धर्म पद्धतियों की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। १५२७ में यह कृष्ण कृष्ण रटते हुए समुद्र में जाकर समाधिस्थ भी हो गये थे। यद्यपि यह जाति के ब्राह्मण थे किन्तु फिर भी वर्ण-व्यवस्था के कट्टर विरोधी थे। यहाँ तक कि यवनों तक को शिष्य बनाने में इन्हें संकोच नहीं होता था।[4]

इन्होंने भक्ति और दर्शन दोनों क्षेत्रों में सुधार करने की चेष्टा की थी[5]। भक्ति में इन्होंने सर्वप्रथम संकीर्तन की महिमा का विस्तार से प्रतिपादन किया था। दर्शन क्षेत्र में यह अचिन्त्य भेदाभेदवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं।

इनके अनुसार ब्रह्म सगुण और सविशेष है। वह सेवक सेव्य भाव से प्रसन्न रहते हैं। अतएव जीव को भगवान् की सेवा करनी चाहिए। इन्होंने भक्ति क्षेत्र में

---

[1] आब्स्क्योर रिलीजस कल्ट्स—शशिभूषण दासगुप्त में 'वैष्णव सहजिया कल्ट नामक अध्याय'

[2] चैतन्य चरितामृत मध्यलीला—१९वाँ अध्याय और भी देखिए—बंग साहित्य परिचय वाल्यूम २ पृ० १६२० ।

[3] इनकी जीवनी और सिद्धान्तों के लिए निम्नलिखित ग्रंथ देखिए—
१—जे० एन० भट्टाचार्य—हिन्दूकास्ट्स एण्ड सेक्ट्स—१८९६ पृ० ४६६ ।
२—महाराजा वैष्णविज्म शैविज्म कलेक्टेड वर्क्स आफ भंडारकर भाग ४ पूना १९२९ पृ० ११० ।

[4] मुस्लिम्स और हिन्दूइज्म भाग २ पृ० २६१ और सेंसस रिपोर्ट १९०१ गैजेटियर ६ १८२ ।

[5] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ३ पृ० ३४२ ४१-४२

संकीर्तन के साथ-साथ प्रेम को सबसे अधिक महत्त्व दिया था। इनके अनुयायी भक्त लोग तीन लड़ियों की तुलसीमाला धारण करते हैं और सफेद चंदन का विशेष ढंग का तिलक[1] लगाते हैं। ये अधिकतर बंगाल में ही पाये जाते हैं।

आसाम के वैष्णव सम्प्रदाय और उसके प्रमुख सन्त

मध्ययुग में आसाम वीभत्स शैवशाक्त साधनाओं का केन्द्र था। नरनारायण राजा के राज्यकाल में शाक्तमत और भी अधिक प्रभावशाली हो गया। कहते हैं आसाम में जब कामाख्या देवी के मन्दिर की प्रतिष्ठा की गई थी उस समय लगभग १४० मनुष्यों की बलि दी गई थी। पशु बलियों का तो कुछ वर्णन ही नहीं किया जा सकता[2]। इन शैव-शाक्त तांत्रिक साधनाओं की प्रतिक्रिया के रूप में आसाम में दो सुधारवादी संप्रदायों का उदय हुआ। एक का नाम महापुरुषिया संप्रदाय था और दूसरे का वमुनिया गोसाईं। ये दोनों ही संप्रदाय वैष्णव थे।

महापुरुषिया संप्रदाय का प्रवर्तन शंकरदेव नामक वैष्णव महात्मा ने किया था। इनका मृत्युकाल १५६८ ई० माना जाता है।[3] इस संप्रदाय के दूसरे प्रसिद्ध संत माधव थे जो जाति के कायस्थ थे। इस संप्रदाय के सभी सन्त प्रतिक्रियावादी और कट्टर सुधारवादी थे। इन लोगों ने एक ओर तो रूढ़िवादी ब्राह्मण धर्म की वर्ण-व्यवस्था, मूर्तिपूजा बलि आदि पर कुठाराघात किया और[4] दूसरी ओर शैव शाक्त साधनाओं के प्रति विरोध भी किया। इनके इस अति सुधारवादी दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया के रूप में ब्राह्मणों ने एक अलग वैष्णव संप्रदाय की प्रतिष्ठा की। इसका नाम बमुनिया गोसाईं सम्प्रदाय था। इसके मूल प्रवर्तक हरिदेव, नारायणदेव, दामोदर देव नामक महात्मा थे।[5]

आसाम में एक तीसरा सुधारवादी सम्प्रदाय भी था इसका नाम मोमारिया था। इसके संबंध में कुछ अधिक नहीं ज्ञात है। इसका उदय भी ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। इसे हम हिन्दू धर्म और आदिम धर्म का मिश्रित रूप मान सकते हैं। इस सम्प्रदाय के लोग भी वर्ण-व्यवस्था में विश्वास नहीं करते।[6] हिन्दी की निर्गुण

---

[1] भंडारकर—कलेक्टेड वर्क्स आफ भंडारकर भाग ४ में वैष्णविज्म और शैविज्म पृ० १२१ १२२।

[2] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृ० १३६।

[3] वही भाग २ पृ० १३६।

[4] हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म भाग २ लेखक चार्ल्स इलियट—लन्दन १९५७ पृ० १९०।

[5] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृ० १३६।

[6] हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म भाग २ चार्ल्स इलियट लन्दन १९५७

काव्यधारा के संतों को आसाम के इन वैष्णव सम्प्रदायों से अवश्य थोड़ी बहुत प्रेरणा मिली होगी।

मानभाव अर्थात् महानुभाव वैष्णव सम्प्रदाय

यह भी एक सुधारवादी वैष्णव सम्प्रदाय है। इसका 'प्रचार' अधिकतर उड़ीसा तथा बरार आदि प्रांतों में है।[1] इसका प्रवर्तन किसी चक्रधर नामक ब्राह्मण ने १३वीं शताब्दी के आस-पास किया था। उसको व्यवस्थित रूप प्रदान करने और प्रसारित करने का श्रेय नागभट्ट नामक आचार्य को दिया जाता है।[2] इनका स्थिति काल १२३६ से लेकर १३०२ ई० तक माना जाता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की दो शाखा हैं एक वैरागी और दूसरे घरबारी, वर्णाश्रम धर्म तथा आचारों के यह विरोधी थे।[3] ये लोग दत्तात्रेय को ही अपना प्रमुख उपास्य मानते हैं। शवों को जलाने की प्रथा भी इनमें नहीं है। यह लोग अधिकतर अपने शवों को गाड़ते हैं और समाधि बनाते हैं। इस सम्प्रदाय के वैरागी लोग काले कपड़े पहनते हैं। गले में तुलसी की माला धारण किये रहते हैं और कानों में कुंडल पहनते हैं। अपनी इस वेश-भूषा के कारण वे अन्य साधु संतों से अलग पहचान लिये जाते हैं। इन संतों की बहुत सी बानियाँ मौखिक रूप में भी प्रचलित हैं। उन बानियों को यदि ध्यान से सुना जाय तो उनमें निर्गुण विचारधारा के बीज स्पष्ट मिलेंगे।

दत्तात्रेय का अवधूत सम्प्रदाय

मध्ययुग में दत्तात्रेयी के अवधूत सम्प्रदाय का भी अच्छा प्रचार था। जनश्रुति है कि चौदहवीं शताब्दी में किसी नर सिंह नामक ब्राह्मण संन्यासी ने इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। नर सिंह के शिष्य गंगाधर सरस्वती ने 'गुरु चरित्र' नामक एक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में दत्तात्रेय के जीवनवृत्त और सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। दत्तात्रेय के संबंध में थोड़ी-बहुत बातों का पता हमें पुराणों से लगता है। ब्रह्मपुराण[4] में लिखा है कि वैदिक धर्म के ह्रास होने पर भगवान् विष्णु ने दत्तात्रेय का अवतार धारण करके उसकी पुनर्प्रतिष्ठा की थी। हरिवंश पुराण[5] और अहिर्बुध्न्य संहिता में उन्हें विष्णु के उनतालिसवें विभव में से एक कहा गया है। भागवत में उन्हें

[1] देखिए इन साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृ० ५०१
[2] गजेटियर आफ दी हैदराबाद एण्ड एसाइन्ड डिस्ट्रिक्ट्स कामनली नोन एज बरार सन् १८७०
[3] सेन्सस रिपोर्ट्स बाई ए० जे० किट्स १८८२ और ड्रमल हेसकिस १८९१ पृ० डी०,
[4] ब्रह्मपुराण २१३ १०६ ११०
[5] हरिवंश पुराण १ ४८

योगिनाथ कहा गया है। मार्कण्डेय पुराण में भी[1] इनकी महिमा का वर्णन किया गया है। उसमें इन्हें निर्विकार, निर्विसन, अवधूत और परमहंस बतलाया गया है। नैषध कार[2] ने इन्हें अद्वैतवादी संत कहा है। इनके लिखे हुए दो ग्रंथ बतलाये जाते हैं—जीवन्मुक्ति गीता और अवधूत गीता। एक कापबोध नामक अन्य ग्रंथ भी इनका लिखा हुआ बतलाया गया है। इस संप्रदाय में एक ग्रंथ की और बहुत अधिक मान्यता है उसका नाम है 'अद्वैत भुविसार।' इसके लेखक के संबंध में कोई निश्चित मत नहीं है। कुछ लोगों की धारणा है कि इसके लेखक भी दत्तात्रेय ही थे। इस ग्रंथ में इस संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन किया गया है। इनके इस दार्शनिक मत में अद्वैत-वाद के सिद्धांत को विशेष मान्यता दी गई है। साधना क्षेत्र में यह लोग योग को महत्त्व देते हैं। हमारी अपनी दृढ़ धारणा है कि इस संप्रदाय ने भी हिंदी की निर्गुण काव्यधारा को प्रेरणा प्रदान की थी। योग साधना और अद्वैतवाद इसके ये दोनों ही प्रमुख तत्त्व संतों की विचारधारा में मायावरूप से प्रतिबिम्बित मिलते हैं।

काश्मीरी सन्तों की परम्परा

११वीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी के बीच में काश्मीर भी अपने यहाँ के संतों की वाणियों से गूँजता रहा है। मध्यकालीन काश्मीरी संतों में सबसे अधिक ख्याति लालदेद की है। यह जाति की भंगिन थी किन्तु इसके आचार-विचार बहुत ऊँचे थे। इनकी बहुत सी वाणियाँ अभी तक उपलब्ध हैं। उनका एक संग्रह काश्मीर से प्रकाशित हो चुका है। लालदेद का स्थितिकाल संवत् १४१० से लेकर १४४४ तक के आसपास माना जाता है। लालदेद की वाणियों का अध्ययन करने पर स्पष्ट पता लगता है कि वे भी किसी प्रतिक्रियावादी संत संप्रदाय की ही अनुयायिनी थीं। साधना क्षेत्र में योग के महत्त्व को वह भी स्वीकार करती थीं। मध्यकालीन योगिनियों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। डा०[3] ग्रियर्सन के इस मत में कि लालदेद की वाणियों का स्पष्ट प्रभाव कबीर पर दिखाई देता है बहुत, कुछ सार है। कोई आश्चर्य नहीं कि कबीर आदि निर्गुणियाँ संतों को उनसे प्रेरणा मिली हो यह उनकी पूर्ववर्ती तो थीं ही।

लालबेगी अथवा अमलधारी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के लोग अधिकतर भारत के पश्चिमोत्तर भाग में ही पाये जाते हैं इसका प्रचार अधिकतर भंगी और चमारों में ही मिलता है। इस सम्प्रदाय के कुछ

---

[1] मार्कण्डेय पुराण १८ अध्याय

[2] नैषधीय चरित २१।८७

[3] वही

अनुयायी अपने को लालबेगी कहते हैं और कुछ मलंगधारी। ये सम्प्रदाय भी सुधारवादी और प्रतिक्रियावादी ही हैं। वर्ण व्यवस्था और वाह्याचारों के प्रति इन्होंने सर्वत्र उपेक्षाभाव प्रकट किया है। इस सम्प्रदाय के संतों की बानियाँ अधिकतर मौखिक रूप में ही प्रचलित हैं। इनका एक संग्रह तैयार करने की बड़ी आवश्यकता है।

वाल्मीकि सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का प्रचार भारत के भंगियों और मेहतरों में है। यह लोग रामायण के रचयिता वाल्मीकि को ही अपना उपास्य मानते हैं और सदाचरण को अपनी साधना में विशेष महत्व देते हैं। इस सम्प्रदाय के भी बहुत से संत इधर-उधर मिलते हैं। इनमें भी निर्गुणवादियों के ढंग की बानियों का प्रचार है।

पंचपिरिया सम्प्रदाय

भारत के नीच जाति के हिंदू और मुसलमानों में इसका प्रधान रूप से प्रचार है। कुछ लोग इसका संबंध लालबेगी सम्प्रदाय से भी स्थापित करते हैं। किंतु इस सम्प्रदाय वालों से पूछने पर ऐसा पता चलता है कि लालबेगी सम्प्रदाय से इनका कोई विशेष संबंध नहीं है। इसमें पीर जहीर और गाजी मियाँ की बड़ी प्रतिष्ठा है।

विदेशी संत सम्प्रदाय

सूफी संत सम्प्रदाय

विदेशी संत सम्प्रदाय में सूफी सम्प्रदाय प्रमुख माना जाता है। सूफी संतों का उदय पहली शताब्दी हिजरी के आसपास ही हो चला था। बहुत से लोग तो उनकी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए मोहम्मद साहब तक को सूफी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।[1] दूसरे लोग इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार सबसे पहला सूफी कूफा का आबूहाशिम था।[2] जो भी हो यह स्वीकार किये बिना नहीं रहा जा सकता कि सूफी मत का उदय इस्लाम के उदय के थोड़े दिनों बाद ही उसकी वैधानिक कट्टरता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। सूफी संतों का इतिहास प्रायः चार भाग में बाँटा जाता है।

१—आदि युग। २—पूर्व मध्ययुग। ३—उत्तर मध्ययुग। ४—आधुनिकयुग।

१—आदि युग—इस युग के सूफी अधिकतर तपस्वी, त्यागी स्वरूप आडम्बरविहीन फकीर थे। लोग वैराग्य और संन्यास को विशेष महत्व देते थे और

---

[1] देखिये स्प्रिट आफ इस्लाम अमीर अली पृ० १२० ११००

[2] एन्सायक्लोपीडिया आफ इस्लाम आफ इथिक्स अन्डर सूफी इज्म वाला अध्याय।

साथ ही साथ धार्मिक रूढ़ियों के पालन में भी विश्वास करते थे। इस युग के सूफियों में इब्राहीम अधम फुदयाल राबिया आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

२—पूर्व मध्ययुग—नवीं शताब्दी के प्रारंभ होते ही पूर्व मध्ययुग का उदय हुआ। सूफियों में कुछ नये परिवर्तन दिखाई दिये। उनमें भावात्मक चिंतन का समावेश हुआ। सुलेमान उदरानी धून नून आदि इस युग के प्रसिद्ध सूफी कहे गये हैं। इस युग के अन्तिम चरण में विश्वप्रसिद्ध सूफी मंसूर हल्लाज हुए थे जिन्हें अपने स्वतंत्र विचारों के लिए सूली पर चढ़ा दिया गया था। प्रसिद्ध दार्शनिक अलगज्जाली को भी इस युग का रत्न माना जाता है। यह पहले दार्शनिक थे जिन्होंने इस्लाम का सूफी मत से सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की थी।

३—उत्तर मध्ययुग—यह युग अपनी मधुर रसमयी सूफी काव्य धारा के लिए प्रसिद्ध है। फारस के प्रसिद्ध सूफी महाकवि शेखसादी, अत्तार और जलालुद्दीन रूमी इसी युग में हुए थे। इनकी कोमल कल्पना और मधुर भावना से हमारा हिंदी साहित्य अत्यधिक प्रभावित है। जायसी आदि कवियों ने इनका पूरा-पूरा अनुगमन किया था।

४—आधुनिक युग—वर्तमान युग सूफी विचार धारा के पतन का युग है। आजकल यह शब्द व्यंग के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। बहुत से कवि लोग अपनी शृङ्गारी कविता का श्रेय सूफी कवियों के सिर पर ही मढ़ दिया करते हैं।

हिंदी की निर्गुण काव्यधारा पर अधिकतर प्रथम दो युगों में सूफियों का प्रभाव पड़ा था। प्रथम दो युग के सूफी भी कई सम्प्रदाय में विभक्त थे। उनमें से चार सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध हैं—चिश्तिया, सुहरवर्दिया, कादिरिया और नक्शबंदिया। इन चारों सम्प्रदायों का उदय तो भारत के बाहर ही हुआ था। किन्तु इनका प्रचारस्थल भारत ही था।

चिश्तिया सम्प्रदाय[1]

भारतवर्ष में इस सम्प्रदाय का प्रचार मुईनुद्दीन चिश्ती ने किया था। ये सिजिस्तान के निवासी थे और भारत में मोहम्मदगोरी की सेना के साथ चले आये थे। भारत में उन्होंने अजमेर को अपना प्रचारस्थल बनाया था। अजमेर में इनकी समाधि अब भी बनी हुई है। जो मुसलमानों का अब भी तीर्थस्थल है। इस सम्प्रदाय के प्रमुख संतों में कुतुबुद्दीन बख्तयार, शेख फरीदुद्दीन, शेखअलीउद्दीन और

[1] इन सम्प्रदायों का उल्लेख निम्नलिखित ग्रंथों में है—

१—इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग १२ पृ० १५

निज़ामुद्दीन औलिया विशेष उल्लेखनीय हैं। ये सभी संत निरीह निष्काम और तपस्वी थे। कहते हैं जब अल्तमश ने ख्वाजा कुतबुद्दीन बख्तियार को शेखुलइस्लाम की पदवी देनी चाही तो उसने उसे अस्वीकार कर दिया। इन संतों का हिंदुओं पर बहुत बड़ा प्रभाव था। समाज में इनकी प्रतिष्ठा थी।

सुहरावर्दिया सम्प्रदाय[1]—इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का सर्वप्रथम प्रचार शिहाबुद्दीन सोहरावर्दी ने जो इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे स्वयं ही किया था। इन्होंने सिंध प्रदेश को अपना केन्द्र बनाया था। इसी सम्प्रदाय के एक दूसरे संत ने जिनका नाम जलाल उद्दीन तबरीजी था, बंगाल में इस मत का प्रचार किया। इसी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध संत बहाउद्दीन जकरिया मुलतान में जाकर बसे थे। उन्होंने वहीं पर अपने मत का प्रचार किया था। इस सम्प्रदाय के प्रचार में जलालुद्दीन सुर्खपोश मखदूम अहमद कबीर आदि संतों ने भी पूरा-पूरा योग दिया था।

कादिरिया सम्प्रदाय[2]—सूफियों के इस सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्तक बगदाद निवासी शेख अब्दुल-कादिर जिलानी माने जाते हैं। यह उच्चकोटि के विद्वान् और सफल वक्ता थे। शाहजादा दाराशिकोह भी सूफियों के इसी सम्प्रदाय का अनुयायी था। भारतवर्ष में इस सम्प्रदाय का प्रचार सैयद मोहम्मद नामक संत ने किया था। अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि कादिर जीलानी भारत में स्वयं नहीं आये थे। भारत में उनकी समाधि उनके दांत को दफना कर बनाई गई थी। इस सम्प्रदाय का प्रचार बंगाल और बिहार में भी हुआ था।

नक्सबंदिया सम्प्रदाय[3]—इस सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्तक ख्वाजा बहाउद्दीन नक्सबंद माने जाते हैं। यह तुर्किस्तान के निवासी थे। भारतवर्ष में इस सम्प्रदाय के दूसरे सबसे प्रसिद्ध संत अहमद फारूकी सरहिंदी थे। मुसलमानों में यह बहुत बड़े धर्म-सुधारक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इस सम्प्रदाय के प्रचार केन्द्र विशेषरूप से काश्मीर और पंजाब ही थे। इस सम्प्रदाय के अतिरिक्त मदारिया, अबमिया आदि कुछ छोटे-छोटे सूफी सम्प्रदाय भी प्रवर्तित किये गये थे। इन सम्प्रदायों में केवल दार्शनिक दृष्टि भेद-मात्र था। शेष बातों में ये एक दूसरे से बहुत साम्य रखते थे। इन सभी का लक्ष्य भारत में इस्लाम और सूफी मत का प्रचार करना था। इसके लिए ये विविध प्रकार के चमत्कारों का प्रयोग करते थे। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के संबंध में प्रसिद्ध है

---

1 इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग १२ पृ० १० १२

2 वही उपरोक्त।

3 इन साइक्लोपीडिया आफ एण्ड एथिक्स भाग १२ पृ० १० १२

कि मदीना की तीर्थयात्रा के अवसर पर पैगंबर ने उन्हें स्वप्न में भारत में इस्लाम के प्रचार की आज्ञा दी थी। उसने इस आज्ञा का अक्षरशः पालन किया था। कहते हैं उसने दिल्ली से अजमेर जाते हुए सात सौ हिंदुओं को मुसलमान बना लिया था। एक दूसरे संत के संबंध में जिनका नाम मखदूमजहानियाँ था, कहा जाता है कि उन्होंने पंजाब की बहुत-सी हिंदू जातियों को इस्लाम में परिवर्तित कर लिया था। कुछ सूफी लोग अपने धर्म के प्रचार के लिए चमत्कारों का प्रयोग करते थे। इस प्रकार के संतों में जलालुद्दीन तबरीजी, हसनकबीर, अहमदीन इमामशाह आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। कहते हैं तबरीजी[1] ने एक ग्वाले को केवल उसकी ओर दृष्टिपात करते ही अपने धर्म में परिवर्तित कर लिया था। कबीर अहमदीन[2] के संबंध में एक बड़ी विचित्र कथा प्रचलित है। कहते हैं एक बार जब वह बीमार पड़ा तो उपचार के लिए उसने एक हिंदू वैद्य को बुलाने की चेष्टा की। हिंदू वैद्य ने इस डर से कि कहीं उसके दृष्टि विक्षेपणमात्र से वह मुसलमान न बन जाय, उसके घर जाना अस्वीकार कर दिया। उससे उसने मूत्र और पुरीष देखकर उपचार करने का निश्चय कहला दिया। उसके शिष्य वैद्य के पास उसका मूत्र और पुरीष ले आये। ज्योंही वैद्य ने परीक्षा करनी प्रारम्भ की त्योंही उसके हृदय में मुसलमान होने की इच्छा जाग्रत हो गई और उसने इस्लाम स्वीकार कर लिया। इसी तरह से गुजरात में एक संत ने जिनका नाम इमामशाह था अनावृष्टिकाल में वृष्टि करके कितनों किसानों को मुसलमान बना लिया था।[3]

इन सूफी सन्तों में घूमने की बहुत बड़ी प्रवृत्ति पाई जाती थी। संभल के मियाँ हलीम के सम्बन्ध में कहते हैं कि वह लगभग १० वर्ष तक अमरोहा और संभल के उजाड़ स्थान में घूमते रहे थे। सब होते हुए भी ये लोग सच्चे साधक थे। विविध प्रकार के यम नियमों का पालन करते थे। बदायूनी ने[4] शेख बुरहान के सम्बन्ध में लिखा है कि उसने लगभग ५० वर्ष तक मांस आदि का खाना छोड़कर बड़ा सात्विक जीवन व्यतीत किया था। इन सन्तों में भावना की इतनी अतिरेकता पाई जाती थी कि हाल की हालत में ये लोग बुढ़ापे से दुर्बल होने पर भी ये उन्मत्त होकर कुत्तों के साथ नाचने-गाने लगते थे। यावरगीर नामक सूफी सन्त के विषय में अबुल फजल[5] ने लिखा है कि अपनी वृद्धावस्था में जबकि वह उठ-बैठ भी नहीं सकता था, भावावेश में आने पर कुत्तों के साथ नाचने-कूदने लगता था।

---

[1] इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० ६९

[2] वही

[3] वही

[4] वही पृ० ७०

[5] आईने अकबरी जैरेट का अंग्रेजी अनुवाद—भाग ३ पृ० ३९८

यदि हम इन सूफी की विशेषताओं के प्रकाश में निर्गुणियाँ सन्तों का अध्ययन करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि देश भर में परिव्याप्त इस मध्ययुगीय विदेशी सन्त-परम्परा के उन पर क्रियात्मक और प्रतिक्रियात्मक बहुत से प्रभाव पड़े थे। सूफियों के सन्त कवियों पर पड़े हुए दार्शनिक प्रभावों का विश्लेषण हमें दार्शनिक रूप केवल इतना ही दिखलाता था कि सूफी सन्तों ने भी निर्गुणियाँ सन्तों को थोड़ी बहुत प्रेरणाएँ प्रदान की थी।

ईसाई सन्त

कुछ ईसाई विद्वानों की धारणा है कि मध्यकालीन निर्गुणियाँ सन्तों के प्रवर्तक आचार्य रामानंद[1] ईसाई सन्तों से भी प्रभावित हुए थे। अपने मत की पुष्टि में वे भारत में ईसाइयों के आगमन के इतिहास का विश्लेषण करते हैं। इनका कहना है कि ईसाई धर्म-प्रचारक संतों का सबसे पहला जत्था पहली शताब्दी ई० में मालाबार तट पर आया था[2]। छठी शताब्दी में भी दक्षिण के कल्याण नामक स्थान पर ईसाई पुरोहित के होने का प्रमाण मिलता है। सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में कन्नौज के प्रसिद्ध महाराज शीलादित्य के दरबार में कुछ ईसाई धर्म-प्रचारकों के जिनके नेता एलोपेन नामक कोई महात्मा थे आने के विवरण मिले हैं। दबिस्तान[3] १६४५ के लेखक ने अपने इतिहास ग्रन्थ में लिखा है कि उसे अपनी भारत यात्रा में स्थान-स्थान पर हिंदू यहूद निसारियनस मुसलमान आदि विविध धर्मों के लोग मिलते थे[4]। १५८० में अकबर के दरबार में भी कुछ ईसाई धर्म-प्रचारक आये हुए थे। उसके समय में आगरा, दिल्ली और लाहौर आदि नगरों में इन लोगों ने गिर्जाघर भी बना लिये थे[5]। दिल्ली का गिर्जाघर नादिरशाह के आक्रमण के समय तक वर्तमान था। इन आधारों पर वे कहते हैं कि ईसाई धर्म के प्रचारक सम्भ भारत में निर्गुणियाँ सन्तों से पहले भी वर्तमान थे और उन्होंने हिंदू सन्तों को प्रभावित भी किया था। हो सकता है कि कुछ सन्तों को इनसे भी धार्मिक और सामाजिक सुधारों की प्रेरणा मिली हो, किंतु वह प्रेरणा नाम मात्र की ही हो सकती है। हम यह स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हैं कि निर्गुणियाँ संतों पर ईसाई मत के सिद्धांतों का प्रभाव पड़ा था।

---

१ इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग १ पृ० २६८

२ वही

३ ट्रेवल्स—एड्विन्स—जुलाई १ १८८० ई०

४ दबिस्तान—शेयर डी—पृ० २१२।

५ दि ग्रेट मुगल्स—राम चौधरी—पृ० १०० २१३, २६७३।

देशी और विदेशी धर्म सम्प्रदायों के मिश्रण से बने हुए मध्यकालीन संत सम्प्रदाय

बाउल संत और उनकी विचारधारा

मध्यकालीन सन्त संप्रदायों में बाउल[1] संप्रदाय एक विशेष महत्त्व रखता है। इस मत के संतों ने कुछ उत्तरकालीन निर्गुणियाँ सन्तों को क्रियात्मक प्रेरणाएँ अवश्य प्रदान की होंगी क्योंकि दोनों की विचारधाराओं में बहुत साम्य दिखाई पड़ता है।

बाउल शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से बताई जाती है। कुछ लोग इसे संस्कृत वातूल शब्द का अपभ्रंश रूप मानते हैं। कुछ दूसरे विद्वानों के अनुसार यह व्याकुल शब्द का रूपांतर है। कुछ अर्बी और फारसी के विद्वानों ने इसकी व्युत्पत्ति अर्बी के औल शब्द से सिद्ध करने की चेष्टा की है[2]। जो भी हो चाहे यह संस्कृत से निकला हो या अर्बी से किन्तु इसके मौलिक अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। दोनों ही दृष्टि से इसका अर्थ हम ईश्वरोन्मत्त ले सकते हैं। वास्तव में ईश्वरोन्मत्तता इस संप्रदाय की प्राणभूत विशेषता है।

बाउल सन्त सामंजस्यवादी सुधारक सन्त कहे जा सकते हैं। क्योंकि इनका संप्रदाय बौद्ध और वैष्णव सहजिया सूफी वेदांत और कुछ अन्य विचारधाराओं के मिश्रण से बना हुआ प्रतीत होता है। ये लोग मूलतः प्रेमवादी सन्त थे। भगवत्प्रेम में भाव विभोर होकर अपनत्व भूल जाना उनकी सामान्य विशेषता थी[3]। उस भावविभोर अवस्था में वे एक अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति करते थे। आनन्द ही उनका सर्वस्व था। उनकी साधना का लक्ष्य भी यही होता था। वे किसी भी प्रकार के विधि विधानों में विश्वास नहीं करते थे। यह बात बाउल[4] संत मदहरि कवि के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है—"हे भाई यही कारण है कि मैं प्रेमोन्मत्त बाउल बन गया। मैं किसी भी स्वामी का शासन स्वीकार नहीं करता। किसी की आज्ञा मुझे मान्य नहीं है। धार्मिक नियम और प्रथाएँ मुझे बाँध नहीं पातीं। मानव द्वारा प्रवर्तित मत मार्गों में मुझे विश्वास नहीं है। मैं हृदय से उद्भूत होनेवाले प्रेम में ही तल्लीन रहता हूँ। उसी में ही मुझे रस मिलता है। इस प्रेम में कभी वियोग नहीं होता। यह चिरसुहाग-

---

[1] प्रफुल्ल कुमार सेन ने विविध धर्म संगीत में कुछ बाउलों के गीत भी दिये हैं।

[2] आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स—शशिभूषणदास गुप्त पृ० १८७ कलकत्ता १९४६।

[3] मेडिवल मिस्टीसिज्म—सेन—पृ० २०८ लन्दन १९३६।

[4] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपने मिडिवल मिस्टीसिज्म नामक ग्रंथ में पृ० २०२ पर इस गीत का अंग्रेजी अनुवाद दिया है। हमने उसी को अनुवादित किया है।

मग्न है। इस मिलन की अवस्था में मैं गाता और नाचता हुआ आनन्द-विमग्न रहता हूँ।"

बाउल संत बाह्याडम्बर और धार्मिक पाखंडों के विरोधी थे। मंदिर और मसजिद में उन्हें आस्था न थी। उनकी दृष्टि में मानव शरीर ही सबसे बड़ा मंदिर और उसमें स्थित पुरुष ही सबसे बड़ा उपास्य[1] देवता है।

साधना की दृष्टि से बाउल संत एक प्रकार के योगी कहे जा सकते हैं। उनका लक्ष्य अपने हृदयस्थ पुरुष से अपनी आत्मा का सुहाग स्थापित करना था। इसके लिए वे अन्तर्मुखी साधना जिसे वे उल्टी चाल कहते थे उसी का आश्रय लेते थे।[2] इन संतों को हम रागयोगी ही मानने के पक्ष में हैं क्योंकि उन्होंने भाव या प्रेम को ही हृदयस्थ परमात्मा की प्राप्ति का एकमात्र साधन बतलाया है।[3]

सूफियों के सदृश बाउल संत भी सांसारिक प्रेम को ईश्वरीय प्रेम का सोपान मानते थे।[4] इसीलिए वे सांसारिक प्रेम का प्रतीक रूप स्त्री को आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उनका कहना था कि स्त्री का महत्त्व अग्निशिखा के सदृश एक तरफ जीवन को सुखमय बनाती है और दूसरी ओर उसी के सदृश वह ज्ञानज्योति भी विकीर्ण करती है। पहले स्वरूप को वे विषय कहते थे और दूसरे को आश्रय।[5]

सिद्धों के सदृश बाउल लोग भी शून्यवादी होते थे। किंतु उनका शून्य संबंधी दृष्टिकोण निषेधात्मक नहीं था। उनका शून्य सहस्रार में स्थित ज्योतिरूप का वाचक होता था। सहजिया बौद्धों के सहज शब्द का प्रयोग भी इन लोगों ने उन्हीं के ढंग पर ब्रह्म के अर्थ में किया है। इस दृष्टि से हमें उन्हें सहजिया बौद्धों से प्रभावित भी कह सकते हैं। वास्तव में बाउल मत वह प्रवाह जिसको सहजिया बौद्ध सहजिया वैष्णव तथा सूफी विचारधाराओं की त्रिवेणी ने प्लावन किया था। बाउल विचारधारा इन तीनों के सिद्धांतों को लेकर विकसित हुई प्रतीत होती है।[6]

---

[1] मेडिवल मिस्टीसिज्म सेन पृ० २१० लंदन।

[2] बाउलों की उल्टी चाल का अर्थ दासगुप्त ने यौगिक न लेकर सहजावस्था की ओर गमन किया है। मैं उससे सहमत नहीं हूँ क्योंकि संतों में यह प्रायः यौगिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ।

[3] मेडिवल मिस्टीसिज्म सेन पृ० २०६।

[4] वही पृ० २२२

[5] वही पृ० २१०।

[6] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कबीर, दादू आदि पर इनका बहुत बड़ा प्रभाव दिखाया है मैं इस मत से सहमत नहीं हूँ क्योंकि मेरी धारणा है कि इस मत का उदय इन संतों के बाद हुआ था। इनका उत्तरमध्ययुग के किसी भी ग्रंथ में कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

धर्म मत—इस्लाम, हिंदू तथा बौद्ध धर्मों के पारस्परिक मिश्रण[1] से बने हुए मतों में पश्चिमी बङ्गाल का धर्म मत विशेष उल्लेखनीय है। इस मत का उदय कब हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसके मूल प्रवर्तक के विषय में भी हमें कुछ ज्ञात नहीं है। हमारा अनुमान है कि इस मत का उदय १४वीं शताब्दी में हुआ था। इस अनुमान का आधार हिंदू और मुसलमान धर्मों के सम्मिश्रण की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति का उदय १२वीं शताब्दी में ही हो चला[2] था अतएव इस प्रवृत्ति के पोषक धर्ममत का जन्मकाल हम सरलता से १४वीं शताब्दी निश्चित कर सकते हैं।

इस मत के प्रवर्तक रमाई पण्डित माने जाते हैं। उनके द्वारा लिखा गया शून्य पुराण नामक ग्रन्थ इस मत का धर्म ग्रन्थ माना जाता है।

इस धर्म के सबसे अधिक उपास्य देवता धर्मठाकुर माने जाते हैं। इन धर्मठाकुर की कुछ अपनी अलग विशेषताएँ हैं जो इस प्रकार निर्देशित की जा सकती हैं—१—वह शून्य रूप है।[3] २—निरंजन है[4]। ३—देवाधिदेव है[5]। ४—तथा अन्य ऐसे गुणों से विशिष्ट हैं जिनके आधार पर कुछ लोग इन्हें शिव, कुछ विष्णु तथा उनके अवतार राम और कुछ इन्हें ध्यानी बुद्ध और एकेश्वर इस्लाम का प्रतिरूप[6] मानते हैं। यह एक विधि-विधान प्रधान पौराणिक ढंग का मत है। इस मतवालों का हिंदू धर्म से विरोध सा रहता है। इस्लाम के ये पक्षपाती हैं[7]। इनके धर्म ग्रंथों में किसी उलूक नामक महापुरुष की बड़ी महिमा वर्णित की गई है। इस आधार पर हमारी धारणा है कि इसका प्रवर्तन किसी उलूक दर्शन के पण्डित ने किया होगा। उलूक दर्शन वैशेषिक दर्शन का दूसरा नाम है। हो सकता है इसकी प्रतिष्ठा सांख्य दर्शन के प्रकृति और पुरुष के बौद्ध प्रतिरूप प्रज्ञा और उपाय के आधार पर की गई हो। आज कल इसके जो धर्म ग्रंथ उपलब्ध हैं उनमें पौराणिक अधिक हैं और दार्शनिक कम।

---

[1] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कबीर दादू आदि पर इनका बहुत बड़ा प्रभाव दिखाया है मैं इस मत से सहमत नहीं हूँ क्योंकि मेरी धारणा है कि इस मत का उदय इन दोनों के बाद हुआ था। इनका उत्तर मध्ययुग के किसी भी ग्रंथ में कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

[2] आबस्क्योर रिलीजस कल्ट्स—एस० बी० दास गुप्त इण्ट्रो० १६८ १७८।

[3] दि दीन इलाही आर रिलीजन आफ अकबर १९४१ कलकत्ता एडिशन प्रथम अध्याय।

[4] आबस्क्योर रिलीजस कल्ट्स—एस० बी० दास गुप्त पृ० ३३६, १९४६ कलकत्ता।

[5] वही पृ० ३३१

[6] वही पृ० ३३२

[7] वही पृ० ३३६, ३३८

इनके दार्शनिक विचारों से संबन्धित ग्रन्थ की खोज होने पर ही यह कल्पना प्रामाणिक कही जा सकेगी।

इस मत में इस्लाम की पैगम्बरवादी भावना का भी समावेश मिलता है। इन लोगों ने धर्म महाराज के पाँच पैगम्बरी रूपों की जिन्हें वे पंडित कहते हैं की कल्पना की है। एक-एक पंडित एक-एक युग का प्रतिनिधि माना गया है। सतयुग के प्रतिनिधि सेतई, त्रेता युग के निलाई, द्वापर के कंसाई, कलयुग के रमाई और आगम्या युग के गुसाई माने गये हैं। ये लोग उपनिषदों की विराट भावना में भी विश्वास करते थे। इनके मतानुसार ब्रह्माण्ड वह मंदिर है जिसमें धर्म देवता प्रतिष्ठित हैं। उस मंदिर में पाँच द्वार हैं ये उपर्युक्त पाँचो पंडित पाँचों द्वारों के द्वारपाल माने गये हैं। इसी प्रकार इन्होंने बहुत सी पौराणिक ढंग की कल्पनाएँ अपने मत में प्रचलित की हैं।[1] इस मत का प्रचार बंगाल के नीच जाति के लोगों में अधिक है।[2] ये लोग उच्च जाति के हिंदुओं के प्रति द्वेषभाव भी रखते हैं।[3] इनके आचार-विचार संबंधी विधि-निषेध शास्त्रीय नहीं हैं। ये लोग समय-समय पर बकरे की बलि भी देते हैं। इनका बलि देने का प्रकार मुसलमानों के हलाल करने के प्रकार से मिलता-जुलता है।[4] निर्गुणियाँ संतों को इस मत से भी कई बातों की प्रेरणा मिली होगी।

मध्यकालीन संत परम्पराओं की निर्गुण काव्यधारा के प्रति प्रेरणाएँ

मध्य युग के उपर्युक्त संतों और संप्रदायों का निर्देश हमने केवल इसलिए किया है कि निर्गुण काव्यधारा की पृष्ठभूमि कुछ अधिक स्पष्ट हो जाये। उपर्युक्त संतों और संप्रदायों ने निर्गुण काव्यधारा के स्वरूप को सँवारने में काफ़ी योग दिया था।

मध्यकालीन सुधारवादी संतों के प्रतिक्रियावादी वर्ग ने निर्गुणियाँ संतों को बहुत अधिक प्रभावित किया था। उन्होंने उनकी निम्नलिखित प्रवृत्तियों का ज्यों की त्यों ग्रहण कर लिया था।

क—खंडन मंडन की प्रवृत्ति।
ख—समाज सुधार की भावना।
ग—योग साधना।
घ—[illegible] की [illegible]।

---

[1] आब्स्क्योर रिलीजस कल्ट्स दासगुप्त (कलकत्ता) १९४६ पृ० ३०२-३१८
[2] वही पृ० ३१८।
[3] वही पृ० ३०१।
[4] वही पृ० ३०६

ग—वर्णाश्रम-विरोध।

घ—साम्यवाद की प्रतिष्ठा।

ङ—बाह्याडम्बर-विरोध।

च—ब्राह्मण और वेद आदि की उपेक्षा।

निर्गुणियाँ सन्त लोग आचार्य दार्शनिक सुधारकों से भी बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। उन प्रभावों का संक्षेप में इस प्रकार निर्देश किया जा सकता है—

क—धर्म और दर्शन के सुधार और संस्कार की प्रवृत्ति।

ख—दार्शनिकता की विशेष अभिरुचि।

ग—हिन्दुओं के शिखा और यज्ञोपवीत का त्याग।

घ—शवों को दाह देने के स्थान पर उनकी समाधि बनाने की प्रवृत्ति।

ङ—वर्णाश्रम के प्रति अधिक आदर न होना।

च—भक्ति और वैराग्य की प्रवृत्ति।

इनमें से प्रथम दो प्रवृत्तियाँ सभी आचार्यों में पाई जाती थीं। तृतीय प्रवृत्ति का प्रवर्तन शंकराचार्य के अनुयायी साधु संन्यासियों ने किया था। चौथी विशेषता का उदय शंकराचार्य के अनुयायी शैव परमहंसों में हुआ था। पाँचवीं प्रवृत्ति के सर्वप्रथम दर्शन रामानुजाचार्य की पद्धति में होते हैं। छठी भक्ति और वैराग्य की प्रवृत्ति के प्रवर्तक स्वामी रामानन्दाचार्य ही थे। आचार्य सुधारकों की इन सभी प्रवृत्तियों का सन्त कबीर पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा था।

मध्य युग में और भी बहुत से सुधारवादी वर्ग वर्तमान थे। ऊपर इनका निर्देश कर चुके हैं। इनमें अवधूत, वैरागी सिपायत नामक साधुओं के वर्ग विशेष प्रसिद्ध थे। अवधूतों की वर्ण-व्यवस्था विरोध वाली प्रवृत्ति को सन्त कवियों ने बहुत अपनाने की चेष्टा की थी। अवधूतों से वह इतना अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने उस शब्द का बार-बार प्रयोग किया है। कहीं कहीं तो यह शब्द निर्गुण सन्तों के यथार्थ साथी के रूप में दिखाई पड़ता है। कहीं पर उनके विरोधी सन्त के रूप का वाचक प्रतीत होता है। अघोरियों की उच्छृंखलता निर्गुणियों में प्रायः दिखलाई पड़ती है। सिपायत साधुओं के तो यह लोग कुछ अधिक ऋणी कहे जा सकते हैं। वर्ण-व्यवस्था विरोध वैदिक कर्मकाण्ड में अविश्वास आदि का हम सिपायतों के प्रति क्रियात्मक प्रभाव ही मानते हैं। निर्गुण सन्तों पर इनके कुछ निम्नलिखित क्रियात्मक प्रभाव पड़े हैं—

क—जीवन की सरलता और स्वाभाविकता की अभिरुचि।

ख—समाज सुधार की प्रवृत्ति।

ग—कई धर्मों को मिलाकर एक नई धर्म-व्यवस्था को जन्म देने की प्रवृत्ति।

हमारा तो यहाँ तक विश्वास है कि निर्गुणियाँ सन्तों में समाज-सुधार की भावना को जन्म देने का श्रेय सिद्धायत साधुओं को ही था।

निर्गुणियाँ सन्तों पर दक्षिण के अलवार भक्तों का भी अप्रत्यक्ष प्रभाव ढूँढ़ा जा सकता है। हमारी समझ में अलवार सन्तों की निम्नलिखित विशेषताओं ने निर्गुणियाँ सन्तों की विचारधारा को प्रभावित किया था—

क—वर्ण-व्यवस्था के प्रति उपेक्षा।
ख—भक्ति भावना की अतिरेकता।
ग—विष्णु के विविध नामों के प्रति आस्था।
घ—कीर्तन के प्रति आकर्षण।
ङ—भक्तिक्षेत्र में सेव्य-सेवक भाव का महत्त्व।
च—पुस्तक ज्ञान की उपेक्षा और अनुभव ज्ञान के प्रति आस्था।
छ—रहस्य भावना का आरोप।
ज—प्रेम और विरह की कोमल और मार्मिक अभिव्यक्ति।
झ—प्रणय प्रतीकों के प्रयोग।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों को देखने से ऐसा लगता है कि इन सन्तों पर सूफियों का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव था। हमारा विश्वास है कि निर्गुणियाँ सन्तों में उपर्युक्त प्रवृत्तियों का प्रवेश अलवार भक्तों के माध्यम से अधिक हुआ था सूफी सन्तों के माध्यम से कम। हाँ पर अवश्य हो सकता है कि अलवार भक्तों ने प्रत्यक्ष रूप से न प्रभावित किया हो। अलवार भक्तों ने पहले महाराष्ट्री सन्तों को प्रभावित किया हो और उनसे फिर निर्गुणियाँ सन्त प्रभावित हों। अलवार सन्तों में उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ और भी विशेषताएँ थीं।

महाराष्ट्री सन्तों में हमें निर्गुणियाँ प्रवृत्तियों का उदय कुछ अधिक विस्तार से दिखाई पड़ता है। उनकी निम्नलिखित विशेषताएँ सन्त कवियों में ज्यों की त्यों उपलब्ध होती हैं—

क—भक्ति ज्ञान और योग के सामंजस्य की प्रवृत्ति।
ख—सदाचारप्रियता।
ग—निर्गुण उपासना के प्रति आस्था।
घ—समाज-सुधार की भावना।
ङ—नाम जप।
च—प्रेम और प्रार्थना की महत्ता स्वीकृति।
छ—रहस्यवाद के विविध स्वरूपों और विशेषताओं का विचार।

दक्षिण के सार्वजनवादी शैव सन्तों ने भी निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों को प्रभावित किया था। उनकी निम्नलिखित विशेषताएँ सन्त कवियों में स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं—

क—भगवान् की करुणा में अटूट विश्वास।
ख—मुक्त काव्य रूप की प्रवृत्ति।
ग—प्रेम और आनन्द की व्याप्त अभिव्यक्ति।
घ—सर्वजनशीलता।
ङ—रहस्याभिव्यक्ति।

जहाँ तक निरञ्जनी साधुओं का सम्बन्ध है उनका सन्त कवियों से सीधा संबंध था। निरंजन साधुओं की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ निर्गुण में स्पष्ट रूप से ढूँढी जा सकती हैं—

क—हठ यौगिक साधना।
ख—कुंडलिनी शक्ति साधना।
ग—हठयोग के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग।
घ—नाम स्मरण।
ङ—वैष्णवी भक्ति और उसके सब भेद।
च—उपास्य के निरंजनादि विविध नाम।
छ—अद्वैतवादी दृष्टिकोण।
ज—निर्गुण की उपासना।
झ—रहस्य भावना।

निर्गुणियाँ सन्तों ने बंगाल के सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय के कुछ तत्त्वों को भी आत्मसात किया था। निर्गुणियाँ सन्तों में कीर्तन की मान्यता सम्भवतः सहजिया वैष्णवों के प्रभाव से ही बढ़ी थी। प्रेम और विरह की मधुमयी पदावली ने निर्गुण सन्तों को सराबोर कर दिया था। हमारी धारणा है कि निर्गुण सन्तों के प्रेम और विरह की मधुरतम और मार्मिक अभिव्यक्ति का समावेश सहजिया वैष्णव सन्तों के प्रभाव से ही हुआ था। भक्ति क्षेत्र में सेव्य सेवकभाव की प्रवृत्ति को सहजिया वैष्णवों ने ही जन्म दिया था।

आसाम के वैष्णव सन्त सम्प्रदायों ने भी निर्गुण सम्प्रदाय को अपनी विशेषताएँ प्रदान की थीं। उनकी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति को निर्गुण सन्तों ने पूर्णतया अपनाने की चेष्टा की थी। उनकी सुधारवादी प्रवृत्ति ने भी निर्गुण सन्तों में सुधार भावना की प्रतिष्ठा की होगी।

निर्गुणियाँ सन्तों के विकास के युग में सूफी सन्तों का भी अच्छा प्रचार था। परवर्ती निर्गुणियाँ सन्तों ने निश्चय ही निम्नलिखित तत्व सूफियों से उपलब्ध किये होंगे—

क—पर्यटन की प्रवृत्ति। ख—सात्त्विक जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति।
ग—प्रेमोन्माद की प्रवृत्ति। घ—प्रणय सम्बन्धी प्रतीकों का प्रयोग।
ङ—वेदान्तिक विचारधारा। च—प्रेम और विरह की मार्मिक अभिव्यक्ति।

बाउल सन्तों का उदय और विकास काल यद्यपि निर्गुणियाँ सन्तों के उदय और विकासकाल से मेल नहीं खाता किन्तु हमारी अपनी धारणा है कि परवर्ती निर्गुणियाँ सन्त बाउली सन्तों से भी प्रभावित हुए थे। हो सकता है कि बाउलों का उदय कुछ और पहले हो गया हो जिसके प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं हैं। यदि यह बात हम स्वीकार करते हैं तो सम्पूर्ण काव्यधारा पर बाउलों का प्रभाव प्रतिबिम्बित देखा जा सकता है। बाउलों की निम्नलिखित विशेषताएँ निर्गुणियाँ सन्तों पर परिलक्षित होती हैं—

क—प्रेमवाद। ख—भक्ति का भावोन्माद।
ग—धार्मिक विधि विधानों में अनास्था। घ—बाह्याडम्बर और पाखंडों का विरोध। ङ—योग साधना। च—शून्यवाद। छ—सांसारिक प्रेम को ही ईश्वरीय प्रेम सोपान मानना। ज—वैराग्य भावना का समावेश। झ—अनियमों की विपद भावना में विश्वास।

इस प्रकार हम देखते हैं कि युग के सन्त और साधु संप्रदायों ने निर्गुण काव्य धारा के स्वरूप को सँवारने में अच्छा भाग लिया था। निर्गुण मत सारग्राहीमत है। उसमें अपने समय की समस्त परम्पराओं की सारपूर्ण बातों को अपने ढंग पर आत्मसात कर लिया था। इन सन्तों ने जहाँ दूसरे मत संप्रदायों की अच्छी बातें स्वागत की थीं वहीं बुरी बातों का विरोध भी किया था। मध्ययुग के सभी उपर्युक्त साधु सन्तों में वेशभूषा मत आडम्बर पाया जाता था। निर्गुण धारा के सन्तों ने इसका डटकर विरोध किया। वे किसी भी प्रकार के मिथ्या आडम्बर को सहन नहीं कर पाते थे। जो भी हो इतना तो निर्विवाद ही है कि निर्गुण काव्यधारा के सन्त मध्य युग के सभी सन्त संप्रदायों के किसी न किसी रूप में ऋणी थे।

पाँचवाँ अध्याय

अध्यात्म निरूपण

संतों के आध्यात्मिक विचारों का मूल स्रोत—विचारधारा और अनुभूति—
अनुभूति का स्वरूप—संतों द्वारा प्रयुक्त ब्रह्म के अभिधान
ब्रह्म का स्वरूप निरूपण
ज्ञानमार्गियों के ढंग पर ब्रह्म निरूपण

अनिर्वचनीयता वाचक शैलियाँ—प्रश्नात्मक शैली—विरोधात्मक शैली-असमर्थताद्योतक शैली—सृष्टि के पूर्व का वर्णन करके ब्रह्म निरूपण की शैली—विभाजनात्मक शैली—निषेधात्मक शैली—अनन्योपमावाचक शैली—नेतिवाद शैली—साधारण वचनात्मक शैली—ध्यानात्मक शैली—अनिर्वचनीय को वचनीय बनाने की चेष्टाएँ—ब्रह्म का साकार में वर्णन—ब्रह्म का अद्भुत रूप में वर्णन—ब्रह्म का तुरीय रूप में वर्णन—ब्रह्म का द्वंद्वातीत रूप में वर्णन-ब्रह्म का विचार रूप में वर्णन।

निर्गुण में गुणों की प्रतिष्ठा—

एकता—निरपेक्षता—अद्वैतता और सर्वव्यापकता—अनिर्वचनीयता
निर्गुणवादी विशेषणों का आरोप—निर्गुणब्रह्म पर पूर्णता का आरोप—
पुंस्त्व शक्ति का आरोप भक्तिमार्गियों के ढंग पर ब्रह्म निरूपण—

भावना विनिर्मित स्वरूप वर्णन—बुद्धि विनिर्मित स्वरूप वर्णन प्रतीक रूप में वर्णन।

योगमार्गियों के ढंग पर ब्रह्म निरूपण—

ओंकार रूप में—शब्द रूप में—द्वैताद्वैत विलक्षण तत्व के रूप में।
शून्य के रूप में बहुदेववाद की निंदा—संतों का आत्मविचार।

वेदान्त ग्रंथों में ब्रह्म निरूपण—

आत्मा की स्वयं प्रकाशकता—आत्मा की शुद्ध-बुद्ध नित्य और व्याप्त स्वरूपता—आत्मा की चैतन्य रूपता—आत्मा की सूक्ष्मता—आत्मा की जीव-प्राण-मन आदि से भिन्नता—आत्मा और ब्रह्म की एकता—जीव और उसका स्वरूप—जीव और ब्रह्म का संबंध—जीव की एकता और अनेकता—आभासवाद—माया और जीव—सृष्टि और जीव।

सन्तों का माया संबंधी दृष्टिकोण—

मायावाद का ऐतिहासिक विकास क्रम
सन्तों का माया संबंधी दृष्टिकोण
माया का विस्तार
माया की मोहन शीलता
माया की विषय प्रधानता
माया की शक्तियाँ
माया और मन
माया और ब्रह्म का संबंध

सन्तों की जगत संबंधी धारणायें—

जगत सत्ता का स्वरूप
सृष्टि विकास क्रम

सन्तों की मोक्ष संबंधी धारणायें

विविध दर्शनों के अनुकूल मुक्ति का स्वरूप
सन्तों की मुक्ति संबंधी धारणा

सन्तों की दार्शनिक पद्धति

दार्शनिक वादों और संप्रदायों की उपेक्षा
अद्वैताद्वैतवाद के प्रति रुझान

सन्तों के आध्यात्मिक विचारों का मूल स्रोत

भारतीय अध्यात्मक्षेत्र में तर्क की अप्रतिष्ठा मानी गई है। कठोपनिषद् में नैषा मतिः तर्केणापनेया[1] तथा ब्रह्मसूत्र में तर्काप्रतिष्ठानात्[2] और महाभारत में अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्[3] लिखकर तर्क की अप्रतिष्ठा की ओर ही संकेत किया गया है। वेदान्त के इस मत से संत लोग पूर्णतया सहमत थे। अध्यात्म क्षेत्र में तर्क को वे हेय समझते थे। संत कबीर ने तर्क को स्थूल बुद्धि से उत्पादित कहा है। उन्होंने लिखा है कि जो लोग तर्क से अद्वैततत्त्व की एकता सिद्ध करना चाहते हैं उनकी बुद्धि बड़ी स्थूल है। दादू ने संत मत में वादविवाद या तर्क

[1] कठोपनिषद् १।२।९। मुण्डकोपनिषद् ३।२।३।

[2] वेदान्त सूत्र २।१।११।

[3] महाभारत भीष्मपर्व ५।१२

को बहुत ही हेय और अनावश्यक कहा है।[1] उन्होंने लिखा है कि सच्चा संत[2] किसी भी प्रकार के वादविवाद में नहीं पड़ता। वह पक्षापक्षी के झगड़े में भी नहीं रहता। सदैव वह आत्मानुभव का ही रस लेता रहता है। वादविवाद के छूट जाने पर ही साधक का मन भगवान् में केन्द्रित हो पाता है। इसके लिए सद्गुरु की कृपा बड़ी आवश्यक होती है। छान्दोग्योपनिषद् के[3] अनुसार आत्मानुभव गुरु ही करा सकता है। बिना सद्गुरु की कृपा के मनुष्य की बुद्धि तर्क जाल से उन्मुक्त नहीं हो पाती। और जब तर्क बुद्धि तर्क जाल से मुक्त नहीं होती तब तक मन फकीर नहीं हो पाता। जब तक मन फकीर नहीं होता तब तक उसकी भगवान् से लौ नहीं लग पाती। इसी प्रकार सुन्दरदास ने तर्क और विवाद की सर्वत्र निंदा की है।[4]

संतों ने तर्क और वादविवाद के प्रति जो उपेक्षा भाव प्रकट किया है उसके कई कारण हैं। तर्क का संबंध भौतिक बुद्धि से होता है। भौतिक बुद्धि अलौकिक बुद्धि तत्त्व का निरूपण नहीं कर सकती क्योंकि वह अन्याश्रित होती है। अन्याश्रित होने के कारण वह अपने आश्रयभूत पदार्थों को ही परम तत्त्व मान बैठती है। उसके आश्रयभूत पदार्थ इन्द्रिय या इन्द्रियार्थ होते हैं। परमार्थ तत्त्व से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार भौतिक मन के द्वारा भी अलौकिक तत्त्व की अनुभूति नहीं की जा सकती[5]।

अध्यात्म तत्त्व का अनुभव आत्मा ही कर सकती[6] है। चर्म चक्षुओं से उसका ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। वाणी भी उस तक नहीं पहुँच पाती है। वेदांत[7]

---

[1] भाई रे ऐसा पंथ हमारा
द्वै पख रहित पंथ गहि पूरा अबरण एक अधारा।
वादविवाद काहू सौं नाहीं माहिं जगत थैं न्यारा॥
समदृष्टि सुभाइ सहज मैं आपहि आप बिचारा॥ दादूदयाल की बानी भाग २ पृ० ११

[2] दादू मन फकीर ऐसें भया सतगुरु के परसाद।
जहाँ का था लागा तहाँ छूटे वाद-विवाद॥ संत सुधासार पृ० ४२०।

[3] छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२।

[4] तो राम नाम रस पाइया छूटे वाद विवाद तें।
अब सुन्दरदास सुखी भए गुरुदादू परसाद तें॥ संतसुधासार पृ० २११
प्रेम पथ निरंतर जप तप और नहीं कछु वादविवाद।
ये सब साधन हैं जिन मांहि सो सुंदर के उर है गुरु दादू॥ संतसुधासार पृ० ६११

[5] यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह तैत्तिरीयोपनिषद् २।४

[6] इसी सिद्धांत का संकेत छान्दो० ३।१४।३ में किया गया है। इसका विस्तार वेदान्तियों ने किया है।

[7] न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा—मुण्डकोपनिषद् ३।१।८

का यह सिद्धांत सन्तों को पूर्णतया मान्य था। बुद्धि[1] और चित्त से आत्मा भिन्न होती है। अतः[2] उसकी अनुभूति उनसे नहीं हो पाती। सन्त लोग इस तथ्य से पूर्णतया परिचित थे। इसलिए[3] मीरा साहब ने लिखा है—

मीरा अविगत की गति न्यारी मन बुद्धि चित न समाय।

बौद्धिक तर्क व वाद विवाद का विरोध सन्तों ने एक कारण से और किया था। बौद्धिक तर्क और वाद विवाद का सम्बन्ध त्रिगुणात्मक इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ से माना जाता है। ब्रह्म तुरीय तत्त्व होता है। त्रिगुणात्मक तत्त्व तुरीय तत्त्व का अनुभव नहीं कर सकते। इसी लिए सुन्दरदास ने लिखा है कि त्रिगुणातीत तुरीय ब्रह्म का साक्षात्कार केवल अनुभव ज्ञान से ही किया जा सकता है। इस[4] अनुभव ज्ञान के प्रभाव से वाद-विवाद और तर्क स्वयं नष्ट हो जाते हैं। यह[5] इन्द्रियातीत तत्त्व है। इसका[6] आनन्द अनिर्वचनीय होता है। यह[7] साक्षात् ज्ञान के सदृश ही प्रकाशित

---

1 आँखिन से दीसे नहीं शब्द न पावै जानि।
मन बुद्धि तहँ पहुँचे नहीं कौन कहे सेनानि॥ सन्तसुधासार दरिया साहब बिहार वाले पृ० १०३
2 बुद्धि विचार करी निधि सागर।
चित्त स्थिति दुर्लभ अविनासी॥
सर्व को में एक सर्व को साखि हूँ।
सुंदर आप सहै न्यारोहि जाने॥ सुंदर विलास—पृ० १०२
3 सं० बा० सं० भाग २ पृ० १६६।
4 जौ पे ब्रह्म को विलास तिहूँ को अभाव तहाँ।
सुंदर कहत यह अनुभव में आयो है॥ सुंदर विलास—पृ० १६२।
गुरु सुकदेव कही जब सिपरी अनुभव बुद्धि प्रकासी।
चौथे पद में आनन्द भारी चरनदास कहै वासी॥ चरनदास की बानी भाग २, पृ० ११।
5 सुंदर कहत पक्षपात माहि भयो वाद। सं० बा० सं०—भाग २, पृ० १११
जाके अनुभव ज्ञान वाद में न बहो है॥
6 सन्त चरनदास की बानी भाग २ पृ० ४२।
7 मुख सें कहो न जात है अनुभव को आनंद।
सुंदर समुझै आपुही जहाँ न कोई द्वन्द्व॥ सन्त सुधासार—पृ० ६६०।
साधु सिद्ध समान है जाका अनुभव ज्ञान।
अगम अगम अब मति गये दया दुरयो अज्ञान॥ दयाबाई की बानी पृ० ४।

होता है। इसके उदय होते ही अज्ञान नष्ट हो जाता है। सुन्दरदास ने इसे प्रलय की अग्नि कहा है। इस अग्नि में समस्त देह और संपूर्ण प्रपंच विलय को प्राप्त हो जाते हैं। वास्तव[1] में सन्तों के मतानुसार ब्रह्म के साक्षात्कार का साधन केवल एक मात्र अनुभव ही है[2]। जिस प्रकार तर्क वाद-विवाद की मूल प्रेरिका बुद्धि होती है उसी प्रकार आत्मानुभूति की आधारभूत श्रद्धा होती है। इस प्रसंग में हम छांदोग्योपनिषद्[3] की कथा का उल्लेख कर सकते हैं। उसमें लिखा है कि एक बार जब श्वेतकेतु ने अपने पिता से पूछा कि महात्मन् ब्रह्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में आप मुझे उपदेश दीजिए। मेरी बुद्धि अस्ति और नास्ति के बीच में पड़ गयी है। समस्त ऋषि समाज ब्रह्म की अस्तित्वता का उपदेश करता है किन्तु मुझे वह दिखाई नहीं देता और उसके अस्तित्व समर्थन में जो तर्क दिये जाते हैं वे सर्वथा असमर्थ हैं। कृपया मुझे बताइये कि ब्रह्म है या नहीं। इस पर ऋषि ने समीपस्थ वट के फल को लेकर शिष्य के हाथ में रख दिया और बोले कि बताओ इस फल के अन्दर क्या है? शिष्य ने फल को तोड़कर उत्तर दिया कि इसके अन्दर गुठली है। गुरु ने फिर पूछा कि गुठली के अन्दर क्या है? गुठली को तोड़कर शिष्य ने कहा कि महाराज इसके अन्दर कुछ नहीं है। इस पर ऋषि ने उपदेश दिया कि तुम जिसे कुछ नहीं कहते हो वास्तव में वह कुछ अवश्य है। यदि उसमें कुछ भी न होता तो इतना बड़ा वटवृक्ष कैसे उत्पन्न होता किन्तु वह कुछ इतना सूक्ष्म है कि मन बुद्धि और इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। उसकी अनुभूति के लिए तुम्हें श्रद्धा का आश्रय लेना पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार परमात्मा या ब्रह्म भी अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है। उसकी उपलब्धि किसी भी भौतिक प्रमाण के सहारे नहीं की जा सकती। उसके लिए तुम्हें पहले श्रद्धा और विश्वास करना होगा। सन्त लोग भी श्रद्धा और विश्वास के महत्व से पूर्ण परिचित थे। कबीरदास ने लिखा है बिना श्रद्धा और विश्वास के सांसारिक जीव दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता[4]। इसी प्रकार सुन्दरदास[5] जी ने भी लिखा है कि जो लोग भगवान् में श्रद्धा और विश्वास नहीं करते वे व्यर्थ के वाद विवाद में पड़कर अपना सर्वस्व खो बैठते हैं

---

[1] अनुभव आवत ज्ञान प्रकाश की अग्नि प्रम।
सुंदर कहत इस प्रपंच विलात है ॥ सुंदर विलास—पृ० १६७ ।

[2] अनुभव बिना नहिं जान सके निरसन्ध निरन्तर नूर है रे ।
इसका समझी घट भीतर ही नहिं सुंदर दीपक सा है रे ॥ सन्त सुधासार पृ० ५८६।

[3] छान्दोग्योपनिषद् ६।१२।२०—क० ग्रं०—पृ० २०१ ।

[4] भाव भगति विश्वास बिन कटै न संसय मूल।—क० ग्रं० पृ० २४८ ।

[5] सुन्दर कहत एक प्रभु के विश्वास बिनु ।
बादहि तू इसा क्यू पचि के मरतु है ॥ सं० बा० सं० भा० २ पृ० १०८ ।

भगवान् में पूर्ण आस्था होने पर ही जीव परमात्मा का अनुभव कर सकता है। उपनिषदों में आत्मा को ही आत्मानुभव करते व्यंजित किया जाता है। उपनिषदों[1] के इस सिद्धांत का समर्थन आचार्य गौड़पाद ने भी किया था। निर्गुणिये[2] संत भी आत्मानुभव के इस सिद्धांत के अनुयायी थे। संत कबीर ने 'आप पिछाने आपै आप' और दादू ने 'आप परीषै आप'[3] तथा सुन्दरदास[4] ने 'आपहिं आपहि जाने' लिखकर इस बात का समर्थन किया है। यह आत्मादृष्टि चर्मदृष्टि से विलक्षण होती है। दादू कहते हैं—'चरम दृष्टि देखे बहुत आतम दृष्टि एक'[5] प्रश्न यह उठता है कि आत्मा ही आत्मा का अनुभव कैसे कर सकती है। क्योंकि उपनिषदों में आत्मा को अखंड और अति सूक्ष्म तत्त्व कहा गया है। संभवतः इसीलिए शंकराचार्य ने दो आत्माओं की कल्पना को अमान्य ठहराया है।[6] किन्तु अखंड आत्मा का अंश ही माया विशिष्ट होकर जब जीव का अभिधान प्राप्त करता है तो उसमें भोक्तृत्व एवं कर्तृत्व आदि शक्तियों का सन्निवेश हो जाता है। जीव रूप से ही आत्मा को ज्ञाता कहा जाता है। उपनिषदों के अनुसार हमारे पिंड में जीव तथा शुद्ध बुद्ध मुक्त नित्य ब्रह्म दोनों की अवस्थिति रहती है। मुण्डकोपनिषद् में[7] एक वृक्ष पर बैठे हुए दो पक्षियों के रूपक से तथा कठोपनिषद्[8] में छाया और आतप के व्याज से ज्ञाता और ज्ञेय आत्माओं का ही वर्णन किया गया है। उपनिषदों का यह सिद्धांत संतों को भी मान्य था। संत सुन्दरदास ने इन दो आत्माओं का वर्णन शिव और जीव के प्रतीक से किया है। शरीर के लिए उन्होंने घुवड़ का प्रतीक विनियोजित किया है। इसी प्रकार

---

[1] छान्दोग्योपनिषद् ३।८।१

[2] कबीर ग्रंथावली पृ० ३१८ (११२८)

[3] दादू भा० १ पृ० ४२

[4] सुन्दर विलास—पृ० १२६

[5] दादू दयाल की बानी भाग १ पृ० ४२

[6] देखिए—तैत्तरीय उपनिषद् के सत्यंज्ञानं अनन्तं ब्रह्म का शांकर भाष्य।

[7] द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ मुण्डक ३।१।१

[8] ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः। कठोपनिषद् १।३।१

मलयागिरी के प्रतीक से संसार की व्यंजना की गई है। उन्होंने लिखा है कि मलयागिरी रूपी संसार में विषरूपी एक भुजंग रहता है जिसमें विष और अमृत दोनों साथ वर्तमान रहते हैं।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों ने इस दिशा में शंकराचार्य का अनुगमन न करके उपनिषदों की व्याख्या का ही विस्तार किया है।

उपनिषदों में आत्मानुभव के लिए जीव वृत्ति को अन्तर्मुखी करने का उपदेश दिया है। कठोपनिषद्[2] में लिखा है कि परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी करके हिंसित कर दिया है। इसी से जीव बाह्य विषयों को देखता है अन्तरात्मा को नहीं। जिसने अमृतत्व की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियों को रोक लिया है वही प्रत्यक् आत्मा के दर्शन करता है। उपनिषदों के इस सिद्धांत का संकेत संतों में उलटी चाल की भावना के रूप में मिलता है। कबीर साहब संत[3] सुन्दरदास[4] गुलाल साहब[5] आदि संतों में इसी वृत्ति को अन्तर्मुखी करने का उपदेश विविध प्रकार से बारबार मिलता है। जब जीव की समस्त वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं तभी आत्मानुभव का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। वृत्तियों के अन्तर्मुखी होने पर इन्द्रिय, बुद्धि, मन आदि अन्याश्रित न रहकर स्वाश्रित होने लगते हैं। इस दशा में वे जीव के आत्मानुभव में बाधक होने के स्थान पर साधक हो जाते हैं। संत लोगों ने आत्मानुभव के इस रहस्य को पूर्णतया समझ लिया था इसीलिए उन्होंने बहिर्वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने का

---

[1] मलयागिरि मैं बसत भुअंगा। विष अमृत रह यकै संगा।
विमुखा तोह दिया परवाना। तब हम बानी पर लिखाना॥ सं० बा० सं० भाग १ पृ० ९१
सुंदर भवन एक प्रभु के विश्वास बिनु।
बासहि ये इहां सठ पवि के मरतु हैं॥ सं० बा० सं०—भाग २ पृ० १०८
[2] कठोपनिषद् २।१।१
[3] उलटी चाल मिले परब्रह्म सो सद् गुरु हमारा। कबीर ग्रंथावली पृ० १७६
[4] दिष्ट मैं दिष्टि सारी सृष्टि संभारी उलटी कर्ननादि किलाये॥ सुन्दर विलास पृ० १२६
उलटि देखो घट में जोति पसार—संतबानी संग्रह भाग २ पृ० १०८
है दिस्टार सारी सृष्टि उलटी करि ताहि सिखाइये॥ सन्त सुधासार पृ० १११
[5] जो है पोह उलटि जिन्ने आप।
निरखि निरखि जीवर ता आवे बिन माला के जाप॥ गुलाल साहब की बानी पृ० २१
लिये ही सुंदर बुद्धि मन को विचार करि।
करन करन सह बुद्धि हू सिखाइ है॥
कैसे हो विचारन सिखाइ जीव होइ।
सुन्दर ही सुन्दर रहन वैनिगनु है॥ सुन्दर विलास पृ० १०६

उपदेश दिया है। संत दादू ने लिखा है कि जब चर्मचक्षु आत्मचक्षु में सभी परिपक्व होते हैं जब उनको अन्तर्मुखी कर लिया जाता है।[1] संतों में इस भाव की व्यंजना और भी कई स्थलों पर की गई है।[2] संत सुन्दरदास ने विचार के महत्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—जो साधक आत्मसाक्षात्कार करना चाहता है उसे द्वैत बुद्धि अन्याश्रित बुद्धि का परित्याग करके स्वाश्रित बुद्धि-जनित विचार में तल्लीन रहना चाहिए। उसे अपने समस्त ऐन्द्रिक क्रियाएँ जैसे देखना सुनना बोलना खाना सोना जगना आदि सभी से प्रथम मन पर स्वाश्रित बुद्धि से विचार कर लेना चाहिए।[3] एक दूसरे स्थल पर उन्होंने पुनः लिखा है कि सच्चा साधक वही कहा जा सकता है जो अपने और पराये में भेद नहीं रखता और निर्मल आत्मज्ञान को धारण करके सत्य का आचरण करते हुए सद्विचारों में तल्लीन रहता है।[4] एक दूसरे स्थल पर उन्होंने निःसंग या स्वाश्रित विचार पद्धति को अहंकार के निराकरण का प्रमुख साधन कहा है।[5] संत मलूकदास विचार को ज्ञान का मूल कारण मानते थे। उन्होंने लिखा है कि संतों ने विचार से उद्भूत ज्ञानरूपी दीपक धारण कर रखा है। पलटूदास[6] का विश्वास था कि संसार रूपी कोल्हू में वे ही लोग पेरे जाते हैं जिनके क्रिया-कलाप विचार और विवेक पुरस्सर नहीं होते। महात्मा[7] कबीरदास विचारण में एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करते थे। उन्होंने कहा है—

---

[1] चर्मदृष्टि देखे बहुत आतम दृष्टि एक।
ब्रह्मदृष्टि परिचय भया तब दादू बैठा देखि॥ दादू बानी भाग १ पृ० ८८
जेई नैना देह के तेई आतम होइ।
जेई नैना ब्रह्म के दादू पलटे सोइ॥ दादू बानी भाग १ पृ० ९२

[2] देखिए कबीर ग्रंथावली पृ० १०६ पर 'उलटी गंगा समुद्र सिखावै' इत्यादि।

[3] साक्षात्कार चाहै साधन आपने होई।
सुंदर करत द्वैत बुद्धि कू निवारिये॥
देखै तो विचार करि सुनै तो विचार करि।
बोलै तो विचार करि करै तो विचार है॥
खाय तो विचार करि पीवै तो विचार करि।
सोवै तो विचार करि जागै तो न सार है इत्यादि। सुंदर विलास पृ० १०१

[4] आपा पर अंतर नहीं निर्मल निज सारा।
सतवादी साचा कहै लौलीन विचारा॥ संतबानी संग्रह भाग २ पृ० ९१

[5] निःसंग विचार तें अहंमती जाहि॥ सुन्दरविलास पृ० १०१

[6] संतन किया विचार ज्ञान का दीपक लीन्हा। पृ० २०८ संतबानी भाग २॥

[7] तीन लोक पेरा गया बिना विचार विवेक।
बिना विचार विवेक गए सब मूरख बानी॥ पलटूसाहब की बानी पहला भाग पृ० ९१

आपहि आप विचारिये तब केता होय अनंद रे[1]

यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है, वह यह कि जब सन्त [illegible] इतना अधिक महत्त्व देते थे तो फिर आत्मानुभव की प्रक्रिया में बुद्धि का [illegible] क्योंकि वे आत्मा को बुद्धि से भिन्न तत्त्व मानते थे। इस प्रश्न का [illegible] सन्त सुन्दरदास[2] ने दिया है। उन्होंने लिखा है कि आत्मा का [illegible] बुद्धि इतना अधिक तन्मय हो जाती है कि उसका अलग कोई अस्तित्व [illegible] उसका अपना अस्तित्व विलय हो जाता है। बुद्धि[3] का [illegible] वाली माया से सम्बन्धित सभी वृत्तियाँ चाहे ऐन्द्रिक हों चाहे मन [illegible] अन्य किसी प्रकार की हों तब लुप्त हो जाती हैं। केवल अनंद [illegible] जाती हैं। इसे हम एक अद्वैतावस्था कह सकते हैं। इसी लिए [illegible] की अवस्था को एक अद्वैतावस्था माना है। यारी साहब[5] कहते हैं [illegible] को मार देवे और कहूँ न मिल जावे। इस अवस्था का सन्तों ने [illegible] अनुभव[7] पद आदि के अभिधानों से वर्णन किया है। [illegible] यह अवस्था इन्द्रियातीत होती है। इस अवस्था में पहुँचकर [illegible]

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० ८६।

[2] बुद्धि विचार करै निसि वासर।
चित्त चिंतै सुअहं अभिमानै॥
सर्व कौ देखत सब को साखि जु।
सुंदर आप हूँ न्यारोहि जानै॥ सुंदर [illegible]

[3] ऐसे ही सुंदर बुद्धि मन को विचार करि।
अन्त काल यह बुद्धिहू विलातु है॥ सुंदर विलास पृ० [illegible]

[4] १—ज्यों ही उपाधि संयोग तें आतम [illegible]
[illegible] किये सु विवेक विचार तें सुंदर शुद्ध [illegible]
२ पृ० १०६।

२—आतम विचार किए आतमा ही दीसत है।
सुंदर कहत कोऊ दूसरो न आन है॥ [illegible]

[5] यारी साहब की रत्नावली पृ० १०।

[6] क० ग्रं० पृ० १२७।

[7] क—मलूकदास की बानी पृ० २१।
ख—गुलाल साहब की बानी पृ० ११८।

[8] मलूकदास की बानी पृ० २६।

सैंयका और जाने क्या-क्या हो जाता[1] है। यहाँ पर त्रिपुटी का कोई इन्द्रजाल अवशेष नहीं रहता केवल एक अनिर्वचनीय आनन्द मात्र की अनुभूति होती है। वेदांत में इस अवस्था का वर्णन तुरीया के नाम से किया गया है। शैव शाक्त तंत्रों में इसी को सामरस्य की अवस्था कहा गया है। इस अनुभव पद तक पहुँचने की शक्ति प्रत्येक साधक में नहीं होती। इस पद पर कोई सुपात्र शिष्य अधिकारी गुरु के द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलकर ही पहुँच सकता है। कठोपनिषद् में गुरु के अधिकारत्व का संकेत करते हुए लिखा है—कई प्रकार से कल्पित किया यह आत्मा नीच पुरुष कहे जाने पर अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता। अभेददर्शी आचार्य द्वारा उपदेश किये गये इस आत्मा में अस्ति नास्ति रूप कोई गति नहीं है। क्योंकि सूक्ष्म परिमाणवालों से भी सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय[2] है इसी प्रकार उस उपनिषद् में शिष्य के पात्रत्व पर भी प्रकाश डाला गया है—जो पाप कर्मों से निवृत्त नहीं हुआ, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हुईं, जिसका चित्त समाहित नहीं है और जो अशान्त मनवाले हैं वे आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकते।[3] संत लोग भी इस तथ्य से अपरिचित नहीं थे। उन्होंने भी शिष्य के सुपात्रत्व और गुरु के अधिकारित्व की अनिवार्यता की ओर बार-बार संकेत किया है।

वेदान्त के अनुसार सुपात्र शिष्य ही ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी होता है। वेदान्त का यह सिद्धांत भी संतों को मान्य था। पलटूसाहब ने लिखा है कि शिष्य बनाने से पहले साधक की सुपात्रता पर विचार कर लेना चाहिए। बिना समझे-बूझे शिष्य बना लेने पर सारा उत्तरदायित्व गुरु पर आ जाता है। वेदान्त[4] में साधक की सुपात्रों पर विचार करते हुए साधन चतुष्टय का संकेत किया गया है। शंकराचार्य ने भी ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति को ही कहा है। साधन चतुष्टय का संकेत उपनिषदों में भी मिलता है। बात बृहदारण्यकोपनिषद् के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है—

---

[1] क—गूँगा हुआ बावला, बहरा हुआ कान।
पाऊँ थै पंगुल भया सतगुरु मारा बाण ॥ कबीर ग्रंथावली पृ० २
और भी देखिए मिस्टिसिज्म आफ इस्लाम पृ० ७१

[2] न नरेणावरेण प्रोक्त एष।
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ॥
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति।
अणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ कठोपनिषद् १।२।८

[3] नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ कठोपनिषद् १।२।२४

[4] पलटू शिष्य को कीजिए कीजै बूझ विचार।
बिन बूझे शिष्य करोगे परिहै तुम पर भार। पलटू साहब भाग ३ पृ० ३०

तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति ।[1]

साधन चतुष्टय इस प्रकार है— १—विवेक २—वैराग्य ३—साधन सम्पत्ति ४—मुमुक्षत्व । विवेक नित्य तथा अनित्य वस्तु के ज्ञान को कहते हैं । लोक तथा परलोक के फलों से उदासीन होने को वैराग्य कहते हैं । साधन सम्पत्ति के अन्तर्गत शम, दम, तितिक्षा उपरति समाधान और श्रद्धा का उल्लेख किया गया है । ऐंद्रिक विषयों से उदासीन होकर आत्मस्वरूप में मन को केन्द्रित करना ही शम है । इन्द्रिय निग्रह दम कहलाता है । सुख-दुखों को समभाव सहन करने की शक्ति को तितिक्षा कहते हैं । फलेच्छा शून्य होकर लोक-व्यवहार का पालन करना उपरति है । सदा परब्रह्म में बुद्धि को लीन रखना समाधान कहलाता है । भगवान् और गुरु में पूर्ण विश्वास रखना ही श्रद्धा है । आत्मस्वरूप का बोध होने पर ज्ञान कल्पित बंधनों से मुक्त होने की इच्छा को मुमुक्षत्व[2] कहते हैं ।

संतों ने उपर्युक्त साधन चतुष्टय का उल्लेख प्रत्यक्ष रूप से पारिभाषिक शैली में नहीं किया है किन्तु साधक के आवश्यक गुणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने साधन चतुष्टय के सभी अंगों का संकेत किया है । विवेक के उदाहरण के रूप में हम सहजोबाई का यह कथन ले सकते हैं—'आत्मा नित्य है और संसार अनित्य है ।' इस रहस्य को जो समझ लेता है उसे काल नहीं खा सकता ।[3] इस प्रकार वैराग्य की व्यंजना करते हुए सहजोबाई ने लिखा है कि सच्चा साधक सांसारिक भोगों से उदासीन रहता है ।[4] शम और दम का संकेत भी उन्हीं की निम्नलिखित काव्य पंक्ति में मिल जाता है । पंच इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके मन का निग्रह करना चाहिए ।[5] तितिक्षा पर बल देते हुए भी उन्होंने लिखा है कि सन्त में सब प्रकार की परिस्थितियों को सहन करने की शक्ति होनी चाहिए । स्तुति और निंदा मैल दोनों से उसे उदासीन होना चाहिए ।

---

[1] बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।२३

[2] देखिए इन सबके लिए 'वेदान्तसार' सदानंद—हिरण्यमय संस्करण पृष्ठ १९२१ देखिए पृ० १ से अध्याय १ तक ।

[3] ऐसे ही क्या कूड़ है आतम है नित जान । सहजो जानहि ना तिहि पुन्ना रूप विज्ञान ॥ संत सुधासार सहजोबाई पृ० १६१

[4] आठ भोग में सदा उदासा तन जग में मन हरि के पासा—संत सुधासार सहजोबाई पृ० १८२

[5] पाँचो वसि करि मन को मार—संत सुधासार सहजोबाई पृ० १८४

कहा जा सकता है। आध्यात्मिक प्रेम की जागृति भी बिना गुरु के नहीं हो सकती। शील संतोष आदि सदाचारों के प्रति भी बिना गुरु के प्रवृत्ति नहीं होती। गुरु के प्रसाद से ही बुद्धि पवित्र होती है और उनकी कृपा से ही सांसारिक ताप नष्ट होता है। इसी लिए कुछ सन्तगुरु को ब्रह्मस्वरूप समझते[1] थे और कुछ भगवान् से भी अधिक मानते[2] थे। सहजोबाई ने वेद पुराणों की दुहाई देते हुए लिखा है कि गुरु परमेश्वर से बड़ा होता है क्योंकि भगवान् के घर केवल मुक्ति मिलती है और गुरु के घर पर स्वयं भगवान् मिल जाते हैं। इसी लिए सुन्दरदास ने गुरु को संसार में सबसे अधिक उदार[3] कहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों ने ब्रह्मानुभूति के लिए शिष्य के सुपात्रत्व और गुरु के व्यक्तित्व को बहुत आवश्यक माना है। यदि गुरु और शिष्य दोनों ही सुयोग्य न होंगे तो कबीर के शब्दों में उनकी वही अवस्था होगी जो दो अंधों की होती है। जिस प्रकार वे दोनों दृष्टि के अभाव में एक दूसरे को कुएँ में ढकेल देते हैं उसी प्रकार गुरु और शिष्य भी संसाररूपी कूप में डूब जाते हैं[4]। गुरु के सुयोग्य होने पर भी यदि शिष्य सुपात्र नहीं होता तो बिचारा गुरु क्या कर सकता है[5]। जो साधक लोग बिना गुरु के ही अध्यात्म मार्ग में प्रवृत्त होते हैं उनकी शिक्षा अधूरी रहती है। वे अध्यात्म की अनुभूति नहीं कर सकते हैं केवल घर-घर भीख माँगते फिरते हैं। अतः सन्तमत के अनुसार अध्यात्म ज्ञान के जिज्ञासु को पहले अपने को सुपात्र बनाना चाहिए और फिर सद्गुरु की खोज करनी चाहिए क्योंकि सद्गुरु की कृपा से ही वह अध्यात्मानुभूति कर[6] सकता है और उसी के द्वारा निर्दिष्ट आध्यात्मिक साधनों में प्रवृत्त होकर सफलता भी प्राप्त करता है। 'मानिष से देवता' बनाने की शक्ति उसी में होती है।[7]

सन्तों द्वारा प्रयुक्त ब्रह्म के अभिधान

सन्त लोगों ने अपने निर्गुण ब्रह्म को कोई विशेष अभिधान नहीं दिया था क्योंकि उनका विश्वास था कि भगवान् के अनन्त नाम हैं। साधु अपनी इच्छा के अनु

---

1 सतगुरु ब्रह्म सरूप है मनुष भाव मत जान। दयाबाई की बानी पृ० २

2 परमेसुर से गुरु बड़े गावत वेद पुरान।
सहजो हरि के मुक्ति है गुरु के घर भगवान॥ सन्त सुधासार पृ० १८२ सहजोबाई।

3 गुरु सौं उदार कोउ दूसरो न सूझो है। सुन्दर विलास पृ० ८

4 जाका गुरु भी अंधला चेला खरा निरंध।
अंधे अंधा ठेलिया दून्यूँ कूप पड़ंत॥ कबीर ग्रंथावली २

5 सतगुरु बपुरा क्या करै जो सिष ही माँहै चूक। कबीर ग्रंथावली पृ० ३

6 कबीर गुरु का [illegible] हाट लिया है—कबीर ग्रंथावली पृ० १२

7 क० ग्रं० पृ० १

गुरु से बढ़कर कोई नहीं है।[1] गुरु के इस महत्त्व से सन्त लोग भी परिचित थे। इन्हें संप्रदायों से भी प्रेरणा मिली होगी क्योंकि शैव शाक्त और बौद्ध सभी तंत्रों तथा योग मतों में गुरु को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है।[2] संतों ने गुरु का महत्त्व विविध प्रकार से प्रतिपादित किया है। कबीर ने लिखा है कि गुरु मनुष्य को पल भर में ही देवता बना देता है[3] वह साधक के नेत्रों को उघाड़कर साक्षात्कार में समर्थ करता है। अपने संबंध[4] में उन्होंने लिखा है कि मैं लोक और वेद के साथ चला जा रहा था किन्तु सद्गुरु ने मुझे ज्ञान का दीपक दिया जिसके प्रकाश में मैंने ब्रह्म की खोज की।[5] गुरु ही शिष्य को भगवान् का मार्ग दिखलाकर काँसे से कंचन बना देता है।[6] इसी प्रकार सहजोबाई ने भी लिखा है गुरु ज्ञान रूपी दीपक दे देता है जिससे अज्ञान का तिमिर हट जाता है और ज्ञान का प्रकाश हो जाता है।[7] उस प्रकाश में आत्मा रूपी ब्रह्म के दर्शन होते हैं। सन्त[8] सुन्दरदास ने वास्तव में ठीक ही लिखा है कि गुरु के बिना न तो ज्ञान ही हो सकता है और न ध्यान ही किया जा सकता है और न आत्मा विचार में ही लीन

---

[1] गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
न गुरोरधिकः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते॥ योगशिखोपनिषद् ५।५६

[2] देखिए कल्याण का योगांक—पृ० २१० से २११ तक।

[3] जिन मानिष ते देवता करत न लागी बार। कबीर ग्रंथावली पृ० १

[4] सद्गुरु की महिमा अनंत किया उपगार।
लोचन अनन्त उघाड़िया अनन्त दिखावण हार॥ कबीर ग्रंथावली पृ० १

[5] पीछे लागा जाइ था लोक वेद के साथ
आगे थे सतगुरु मिल्या दीपक दीया हाथ॥ कबीर ग्रंथावली पृ० २

[6] सतगुरु साँचा सूरवाँ तातै लोहि लुहार
कंसनी दे कंचन किया ताइ लिया ततसार॥ कबीर ग्रंथावली पृ० ३

[7] सहजो गुरु दीपक दियो देख्यो आतम रूप।
तिमिर गयो चाँदन भयो पायो परम अनूप॥ संत सुधासार दूसरा खंड पृ० १८२ सहजोबाई

गुरु बिन ज्ञान नहिं गुरु बिन ध्यान नहिं।
गुरु बिन आतम विचार न लहतु है।
गुरु बिन प्रेम नहिं गुरु बिन नेम नहिं।
गुरु बिन सीलहि संतोष न गहतु है॥
गुरु के प्रसाद बुद्धि उत्तम दसा को गहै।
गुरु के प्रसाद भव दुःख बिसरिए॥ सुन्दर विलास—१।

पाया जा सकता है। आध्यात्मिक प्रेम की प्राप्ति भी बिना गुरु के नहीं हो सकती। शील संतोष आदि सदाचारों के प्रति भी बिना गुरु के प्रवृत्ति नहीं होती। गुरु के प्रसाद से ही बुद्धि पवित्र होती है और उनकी कृपा से ही सांसारिक त्रास नष्ट होता है। इसी लिए कुछ सन्तगुरु को ब्रह्मरूप समझते[1] थे और कुछ भगवान् से भी अधिक मानते[2] थे। सहजोबाई ने वेद पुराणों की दुहाई देते हुए लिखा है कि गुरु परमेश्वर से बड़ा होता है क्योंकि भगवान् के घर केवल मुक्ति मिलती है और गुरु के घर पर स्वयं भगवान् मिल जाते हैं। इसी लिए सुन्दरदास ने गुरु को संसार में सबसे अधिक उदार[3] कहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों ने ब्रह्मानुभूति के लिए शिष्य के सुपात्रत्व और गुरु के ब्रह्मनिष्ठत्व को बहुत आवश्यक माना है। यदि गुरु और शिष्य दोनों ही सुयोग्य न होंगे तो कबीर के शब्दों में उनकी वही अवस्था होगी जो दो अंधों की होती है। जिस प्रकार वे दोनों दृष्टि के अभाव में एक दूसरे को कुएँ में ढकेल देते हैं उसी प्रकार गुरु और शिष्य भी संसाररूपी कूप में डूब जाते हैं[4]। गुरु के सुयोग्य होने पर भी यदि शिष्य सुपात्र नहीं होता तो बिचारा गुरु क्या कर सकता है[5]। जो साधक लोग बिना गुरु के ही अध्यात्म मार्ग में प्रवृत्त होते हैं उनकी शिक्षा अधूरी रहती है। वे आत्मतत्त्व की अनुभूति नहीं कर सकते हैं केवल घर-घर भीख माँगते फिरते हैं। अतः सन्तमत के अनुसार अध्यात्म ज्ञान के जिज्ञासु को पहले अपने को सुपात्र बनाना चाहिए और फिर सद्गुरु की खोज करनी चाहिए क्योंकि सद्गुरु की कृपा से ही वह आत्मतत्त्व की अनुभूति कर[6] सकता है और उसी के द्वारा निर्दिष्ट आध्यात्मिक साधनों में प्रवृत्त होकर सफलता भी प्राप्त करता है। 'मानिष से देवता' बनाने की शक्ति उसी में होती है।[7]

सन्तों द्वारा प्रयुक्त ब्रह्म के अभिधान

सन्त लोगों ने अपने निर्गुण ब्रह्म को कोई विशेष अभिधान नहीं दिया था क्योंकि उनका विश्वास था कि भगवान् के अनन्त नाम हैं। साधु अपनी इच्छा के अनु

---

[1] सतगुरु ब्रह्म स्वरूप है मनुष भाव मत मान। दयाबाई की बानी पृ० १

[2] परमेसुर से गुरु बड़े गावत बेद पुरान।
सहजो हरि के मुक्ति है गुरु के घर भगवान्॥ सन्त सुधासार पृ० १८१ सहजोबाई।

[3] गुरु सौं उदार कोउ दूसरो न सूझ्यो है। सुन्दर विलास पृ० ८

[4] जाका गुरु भी आँधला चेला खरा निरन्ध।
अन्धे अन्धा ठेलिया दून्यूँ कूप पड़ंत॥ कबीर ग्रंथावली २

[5] सतगुरु बपुरा क्या करै जो सिष ही माहीं चूक। कबीर ग्रंथावली पृ० ३

[6] कबीर गुरु की भगत बिन... —कबीर ग्रंथावली पृ० १२

[7] क० ग्रं० पृ० १

कृत उसका कोई भी नाम स्मरण कर सकता है।[1] सम्भवतः यही कारण है कि उन्होंने अपने समय के सभी धर्म सम्प्रदायों में प्रयुक्त होनेवाले ईश्वर वाचक शब्दों से अपने निर्गुण ब्रह्म का वर्णन किया है। यदि उनकी बानियों में प्रयुक्त ईश्वरवाचक शब्दों का संग्रह किया जाय तो स्पष्ट प्रकट हो जायेगा कि उन्होंने अपने ब्रह्म को वैष्णव नामों से सबसे अधिक व्यक्त किया है। इन वैष्णव नामों की एक लम्बी लिस्ट दयाबाई ने अपनी *विनयमालिका में दी है*[2]*। इस लिस्ट को देखकर ऐसा अनुभव होता है कि* सन्त लोगों ने जैसे विष्णु सहस्रनामों की पुनरावृत्ति की है। किन्तु विष्णु के सहस्रों नामों में उन्हें राम-नाम सबसे अधिक प्रिय था। हमारी समझ में सबसे प्रमुख कारण यौगिक है। राम शब्द में र अग्नि का, अ सूर्य का तथा म चन्द्र का प्रतीक माना जा सकता है। महात्मा तुलसीदास ने संभवतः इसी प्रतीक भावना से प्रेरित होकर लिखा था कि राम का नाम अग्नि सूर्य और चन्द्र का हेतु या प्रतिनिधि है। योग[3] में चन्द्र और सूर्य प्राण और अपान के प्रतीक भी माने जाते हैं। कुछ लोग इन्हें पूरक और रेचक के प्रतीक भी समझते हैं। चन्द्र सूर्य साधना या प्राणायाम प्रक्रिया से शरीर में ज्योतिस्वरूपी या अग्निस्वरूपी ब्रह्म की उपलब्धि होती है। रामचन्द्र सूर्य-साधना से उपलब्ध होनेवाले ज्योतिस्वरूपी ब्रह्म का प्रतीक है। इस अर्थ[4] की व्यंजना सन्त दादू और गुलाल साहब ने भी की है। सन्त दादू ने लिखा है—

चन्द सूर मधिमाई तहाँ बसे राम राई।[5]

एक दूसरे स्थल पर उन्होंने इसी भाव की व्यंजना की है—

राम तहाँ परगट रहै आत्मा कमल जहाँ। सिलवर्ण की[6] है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट प्रकट होता है कि सन्त लोग राम से अपने यौगिक ब्रह्म का बोध करते थे। और उन्होंने इसके बोध के लिए केवल इसी लिए चुना था कि इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ जैसा कि ऊपर दिखला आये हैं योग के ज्योतिस्वरूपी ब्रह्म की

---

1 दादू सिरजनहार के केते नाम अनन्त।
चित आवे सो लीजिए यों साधु सुमिरै सन्त॥ दादू साहब की बानी भाग १ पृ० १६

2 दयाबाई की बानी—पृ० १२

3 बन्दौं राम-नाम रघुबर को हेतु कृसानु भानु हिम कर को॥ तुलसीकृत रामायण बाल काण्ड पृ० ३१ ज्वालाप्रसाद शर्मा द्वारा अनुवादित।

4 मिसेस आफ वेदस—सरस्वती भवन स्टडीज भाग ८ पृ० ६२।

5 दादू साहब की बानी भाग २ पृ० १८०।

6 वही।

अभिव्यक्ति अधिक करता है। वैष्णव नामों में इसीलिए उन्होंने राम को ही सबसे अधिक अपनाया है।

संतों ने वैष्णव नामों के अतिरिक्त अल्लाह[1], करीम[2], रहीम[3] आदि नामों से भी अपने निर्गुण ब्रह्म की अभिव्यक्ति की है। किंतु ये नाम हिंदू नामों की अपेक्षा बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं। मुसलमानी नामों का प्रयोग हमारी समझ में उन्होंने केवल इसलिए किया था कि वे अपनी विचारधारा को केवल हिंदुओं तक ही पहुँचाना नहीं चाहते थे। उनका लक्ष्य हिंदू और मुसलमान दोनों को धर्म के मिथ्या रूपों से विरक्त करके सत्धर्म की ओर जिसे वे संत मत कहते थे समान भाव से आकर्षित करना चाहते थे।

संतों ने वैष्णव और इस्लामी नामों के अतिरिक्त अपने निर्गुण ब्रह्म को व्यक्त करने के लिए आत्मा[4] ब्रह्म[5], परब्रह्म[6], जैसे ज्ञानमार्गीय नाम और ज्योति[7] नाद[8] शब्द[9], अलखनिरंजन[10], निराकार[11], सुन्न[12], सहज[13], हंस आदि योगमार्गीय नामों का प्रयोग भी किया था। निर्गुण ब्रह्म को उन्होंने दो अभिधान अपनी तरफ से दिये थे वे हैं—सत्पुरुष[14] और साहब[15]। बाद में उनके संप्रदायों में इन्हीं दो नामों की मान्यता अधिक बढ़ी। कहीं-कहीं पर उन्होंने अपने ब्रह्म का बोध गुरु शब्द से भी किया है। सिक्ख मत में आगे चलकर इस नाम की बहुत महिमा मानी जाने लगी।

---

[1] दादू बानी भाग १ पृ० ३२ पंक्ति ७

[2] दादूबानी भाग १ पृ० ७० पंक्ति २

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० २६० पंक्ति १२

[4] दादूबानी भाग १ पृ० ६२ पंक्ति ८

[5] दादूबानी भाग १ पृ० ९१ पंक्ति ११

[6] कबीर ग्रंथावली पृ० १८ पंक्ति ८

[7] कबीर ग्रंथावली पृ० १०७ पंक्ति १२

[8] भीखा साहब की बानी पृ० ४० पंक्ति ११।१४

[9] कबीर ग्रंथावली कबीर शब्दावली भाग ३ पृ० ३९

[10] दादूबानी भाग १ पृ० ९१ पंक्ति १२

[11] कबीर ग्रंथावली पृ० २६०

[12] दादूबानी भाग १ पृ० ६२ पंक्ति ७

[13] दादूबानी भाग १ पृ० ९१ पंक्ति १६

[14] कबीर ग्रंथावली पृ०

[15] दादूबानी भाग १ पृ० २८ पंक्ति १०

ब्रह्म का स्वरूप निरूपण

अनन्त मनसागोचर स्वयं प्रकाशस्वरूप चेतन सत्ता का नाम ब्रह्म है। बृहदारण्यकोपनिषद्[1] में इस निर्विकल्पक निरुपाधि और निर्विकार सत्ता के दो स्वरूपों का संकेत किया गया है। एक रूप्य और दूसरा अरूप्य। निर्गुण और सगुण ब्रह्म के इन दो रूपों की कल्पना इसी श्रुति के आधार पर की गई है। भारत की दार्शनिक पद्धतियों में से कुछ ने केवल निर्गुण सत्ता को ही अपना प्रतिपाद्य बनाया था। ऐसी दार्शनिक पद्धतियों में शंकराचार्य का मायावाद विशेष उल्लेखनीय है। आचार्य[2] शंकर की सम्मति में उपनिषदों का प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म ही है। आचार्य शंकर की प्रतिक्रिया के रूप में उदय होनेवाली दर्शन पद्धतियों में अधिकतर ब्रह्म के सगुण स्वरूप के प्रति ही आस्था प्रकट की है। ये पद्धतियाँ अधिकतर भक्ति-प्रधान ही थीं। योग और उनकी शाखाओं तथा प्रशाखाओं में ब्रह्म के निर्गुण-सगुण रूप को ही महत्त्व दिया गया है। संत लोग समन्वयवादी महात्मा थे। वे भारत की ज्ञानमार्गीय, भक्ति मार्गीय और योगमार्गीय इन तीनों धाराओं से प्रभावित हुए थे। उनके ब्रह्मनिरूपण पर वैसे तो इन तीनों का प्रभाव परिलक्षित होता है किन्तु उन्होंने मान्यता सबसे अधिक निर्गुण रूप को ही दी है। इसके कई कारण थे। पहला कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ थीं। वह युग सगुण की प्रतिक्रिया का युग था। पृष्ठभूमि में हम यह बात अच्छी तरह स्पष्ट कर चुके हैं। दूसरा कारण भारत के आध्यात्म, क्षेत्र में ब्रह्म विद्या और उसका प्रतिपादन करनेवाले उपनिषदों की प्रतिष्ठा थी। संतों के उदय होने से कुछ दिन पहले ही आचार्य शंकर अद्वैत वेदान्त की अन्य समस्त दर्शनों को परास्त करके प्रस्थापना कर चुके थे। वेदान्त की वैज्ञानिकता, बौद्धिकता और तार्किकता सभी विचार शील व्यक्तियों को प्रभावित कर सकती है। संत लोग उच्च कोटि के विचारक थे अत एव उनका वेदान्त से प्रभावित होना स्वाभाविक था। वेदान्त का प्रमुख प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म ही रहा है। उनकी प्रेरणा से ही संतों ने भी निर्गुण ब्रह्म को ही सबसे अधिक मान्यता दी है। जैसा कि हम पृष्ठभूमि में दिखला आये हैं संतों को योग और उसकी विविध शाखाओं की ओर बौद्ध दर्शन तथा उसकी विविध पद्धतियों की सम्मीलित परम्परा प्राप्त हुई थी। संत लोग इस परम्परा से भी प्रभावित हुए थे। योग की सभी शाखाओं में ब्रह्म के ज्योतिस्वरूप तथा नाद-स्वरूप की प्रतिष्ठा रही है। संत लोग भी उच्च कोटि के योगी थे अतएव उन्होंने ज्ञानमार्गीय निर्गुण ब्रह्म का योगमार्गीय सगुण-निर्गुण ब्रह्म से सामंजस्य स्थापित करके उसे भी निर्गुण बना दिया है। इस नादस्वरूपी और ज्योतिस्वरूपी ब्रह्म की ही उन्होंने ज्ञानमार्गीय ढंग से विवेचना की

---

[1] बृहदारण्यकोपनिषद् पृ० २।३।१

[2] इण्डियन भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ० ४९०

है। किन्तु इससे भक्त हृदय की प्यास नहीं बुझी। उन्होंने उस पौराणिक पुरुष की प्रतिष्ठा भावना क्षेत्र में की। उसे उन्होंने अपनी भक्ति का आराध्य बनाया। वह निर्गुण होते हुए भी सगुण बना किन्तु उसकी सगुणता शुद्ध मानसिक ही रही। वह बाहिरजामी न होकर अंतर्यामी ही रहा। इस प्रकार संतों ने ज्ञान-भक्ति और योग तीनों दृष्टियों से अपने ब्रह्म का निरूपण करते हुए भी उसे निर्गुण ही रखा है। उनके ब्रह्मनिरूपण को इसी प्रकाश में समझना चाहिए। यहाँ पर हम उनके ब्रह्मनिरूपण संबंधी विचारों का विश्लेषण सुविधा की दृष्टि से तीन बड़े शीर्षकों से करेंगे। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

१—ज्ञानमार्गियों के ढंग पर ब्रह्मनिरूपण।

२—भक्तिमार्गियों के ढंग पर ब्रह्मनिरूपण।

३—योगमार्गानुरूप ब्रह्मनिरूपण।

ज्ञानमार्गियों के ढंग पर ब्रह्मनिरूपण

वेदान्त ग्रन्थों में निर्गुण ब्रह्म का निरूपण विविध प्रकार से अनेक शैलियों में किया गया है। इन शैलियों के अंतराल में हमें तीन चेष्टाएँ सामान्यतः दिखाई पड़ती हैं—

१—अनिर्वचनीयतावाचक विविध शैलियों की भावना की चेष्टा।

२—अनिर्वचनीय को वचनीय बनाने की चेष्टा।

३—अव्यक्त और निर्गुण पर गुणों के आरोप करने की चेष्टा।

१—अनिर्वचनीयतावाचक शैलियाँ—उपनिषद् ग्रन्थों में ब्रह्म की अनिर्वचनीयता अभिव्यक्ति विविध शैलियों में की गई है। संक्षेप में उन शैलियों का उल्लेख निम्नलिखित शीर्षकों से किया जा सकता है:—(१) प्रश्नात्मक शैली (२) विरोधात्मक शैली (३) अतन्निरसनात्मक शैली (४) सृष्टि के पूर्व का वर्णन करके ब्रह्मनिरूपण करने की शैली (५) विभावनात्मक शैली (६) निषेधात्मक शैली (७) अनन्यतावाचक शैली (८) नेतिवादी शैली (९) साधारण वर्णनात्मक शैली (१०) मौनात्मक शैली।

संतों ने अपने ब्रह्म की अनिर्वचनीयता इन सभी प्रकार की शैलियों के सहारे व्यक्त की है। संक्षेप में यहाँ पर उनका उल्लेख किया जाता है।

१—प्रश्नात्मक शैली—इस शैली में ब्रह्म का निरूपण एक जिज्ञासा के रूप में किया जाता है। उस जिज्ञासा की अभिव्यक्ति प्रश्न के रूप में हुआ करती है। ऋग्वेद[1] की 'कस्मै देवाय हविषा विधेम्' वाली ऋचा इसी शैली का उदाहरण है।

---

[1] ऋग्वेद १०।१२१

केनोपनिषद्[1] और श्वेताश्वतर[2] उपनिषदों में भी इस शैली के उदाहरण मिलते हैं। संतों ने बहुत से स्थलों पर अपने ब्रह्म की अनिर्वचनीयता इस शैली में भी व्यक्त की है। उदाहरण के लिए हम संत नानक की निम्नलिखित उक्ति ले सकते हैं—उनकी कितनी बड़ी शक्ति है उनका कैसा सलोना रूप है उसकी बख्शीशों का क्या कोई पार है[3] इसी प्रकार संत दादू साहब भी पूछते हैं—शब्द ब्रह्म कौन है? उसका परखनेवाला कौन है? सुरति का क्या स्वरूप है उसका विचार कौन कर सकता है, ज्ञान किसे कहते हैं ध्याता कौन होता है[4] इत्यादि। कुछ अन्य संतों ने भी इस शैली में रचना की है।

२—विरोधात्मक शैली—संतों ने ब्रह्म का निरूपण ईशावास्योपनिषद्[5] में पाई जानेवाली शैली में भी किया है। विरोधात्मक शैली में प्रायः विरोध और विरोधाभास अलंकारों की योजना मिलती है। संत दादू ने निम्नलिखित शब्दों में ब्रह्मनिरूपण की इसी शैली का उपयोग किया है। वह लिखते हैं[6]—वह परमात्मा सबसे अलग रहते हुए भी सब कुछ करता है फिर भी वह किसी में लिप्त नहीं होता। सृष्टि के आदि और अन्त में वही सृष्टि की रचना करता है और वही सृष्टि को नष्ट कर देता है। सहजोबाई ने भी एक स्थल पर इसी शैली का उपयोग करते हुए लिखा है उसका कोई नाम नहीं है फिर भी सब नाम उसी के हैं। उसका कोई रूप नहीं है फिर भी सब रूप उसी के हैं[7]।

---

[1] केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ॥ केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ केनोपनिषद् ॥

[2] किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ श्वेताश्वतर १।१

[3] सन्त सुधासार—पृ० २१८ ।

[4] सन्त दादू — कौण सबद कौण परखणहार ।
कौण सुरति कौण विचार ॥
कौण सुज्ञाता कौण गियान ।
कौण उनमनी कौण धियान ॥ दादूदयाल की बानी भाग २ पृ० २१

[5] तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ईशावास्योपनिषद् ५।२ ।

[6] रहै नियारा सब करै काहू लिप्त न होइ ।
आदि अंति भानै घड़ै ऐसा समरथ सोइ ॥

[7] नाम नहीं और नाम सब, रूप नहीं सब रूप । सन्तसुधासार पृ० १११ ।

३—असमर्थताद्योतक शैली—सन्त लोगों ने ब्रह्म वर्णन में अपनी असमर्थता व्यक्त करके भी उसकी अनिर्वचनीयता प्रकट की है। कबीर कहते हैं[1]—

भारी कहूँ तो बहु डरूँ हलका कहूँ तो झूठ।
मैं का जानों राम कूँ नैनों कभी न दीठ॥

४—सृष्टि के पूर्व का वर्णन करके ब्रह्म का निरूपण करने की शैली—ऋग्वेद[2] और शतपथ[3] ब्राह्मण में इस शैली के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। सन्तों को भी यह शैली रुचिकर प्रतीत हुई थी। कबीर ने इस शैली के सहारे ब्रह्म का वर्णन करते हुए लिखा है[4]—

जब नहीं होते पवन नहीं पानी।
जब नहीं होती सृष्टि उपानी॥
तब नहीं होते प्यण्ड न बासा।
तब नहीं होते धरनि आकासा॥
जब नहीं होते गरभ न मूला।
तब नहीं होते कली न फूला॥
जब नहीं होते सबद न स्वाद।
तब नहीं होते बिद्या न बाद॥
जब नहीं होते गुरू न चेला।
तब अगमे पंथ अकेला॥

५—विभावनात्मक शैली—निर्गुण ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों में विभावनात्मक[5] शैली में भी किया गया है। संत उपनिषदों से बहुत अधिक प्रभावित थे। संभवतः इसीलिए उन्होंने भी ब्रह्मनिरूपण में विभावनात्मक शैली का प्रयोग किया है। संत कबीर ने इस शैली का प्रयोग करते हुए लिखा है।[6] वह परमात्मा बिना मुख

---

[1] कबीर ग्रंथावली पर्चा का अंग पृ० १० (१४२८)

[2] ऋग्वेद का नासदीय सूक्त देखिए।

[3] देखिए शतपथ ब्राह्मण में १०।५।३ नैव वा इदमग्रेऽसदासीन्नैव सदासीत् आसीदिव इदमग्रे नैवासीत्। तस्मादेतद्। ऋषिणाऽभ्युक्तं नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् इति।

[4] कबीर ग्रंथावली—पृ० २१८।

[5] श्वेताश्वतर ६।११

[6] कबीर ग्रंथावली पृ० २३०

बिन मुख खाइ चरन बिन चालै बिन जिह्वा गुण गावै।

के खाता है, बिना चरणों के चलता है और बिना जिह्वा के गुणगान करता है। इसी प्रकार संत चरनदास[1] ने भी लिखा है—परमात्मा बिना श्रवण के ही सब कुछ सुनता है और बिना जिह्वा के संगीत लहरी का उच्चारण करता है आदि। इस प्रकार के ब्रह्म की अनुभूति 'औघटघाट घाट' में होती है यह 'औघटघाट घाट' शरीर रूपी नगर में है।

६—निषेधात्मक शैली—निर्गुण ब्रह्म के वर्णन में संतों ने नकारात्मक शैली का भी आश्रय लिया है। संत कबीर[2] लिखते हैं—उस परमात्मा में न तो कोई शब्द होता है न कोई स्वाद है न कोई रूप है न उसके माता है न पिता है माया, मोह आदि भी उसे नहीं सताते हैं। उसके शास पुकार आदि आदि संबंध भी नहीं हैं। उसको न तो कोई दुःख होता है और न कोई उसका दुःख मनाता है। सुंदरदास[3] जी ने इस शैली में ब्रह्म का वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है—वह ब्रह्म न तो पापरूप है न पुण्यरूप है, न स्थूल है और न सूक्ष्म है वह बोलता भी नहीं है, मौन भी नहीं रहता और न सोता ही है और न जागता है वह न एक है और न दो उसे न दो की वह सकते हैं और न पुरुष उसके न कोई आगे है और न कोई पीछे वह वृद्ध नहीं है बाल भी नहीं है कर्म भी नहीं है काल भी नहीं है तथा हरष और विलास भी नहीं है वह कुछ भी नहीं करता है और कुछ से मांगता भी नहीं है वह न तो बंधन रूप है और न मोक्षरूप ही उसे सुन्दर और असुन्दर भी नहीं कहा जा सकता।

७—अनन्योपमावाचक शैली—संतों ने इस शैली को भी ब्रह्म के स्वरूप निरूपण में अपनाया है। देखिए दादू ने इस शैली में नूरस्वरूपी ब्रह्म का कैसा सुन्दर वर्णन किया है।[4]

नूर सरीखा नूर है तेज सरीखा तेज।
जोति सरीखी जोति है दादू खेले सेज॥

---

[1] कायो अगम नगर अविनाई।
चौपड़ घाट वई बांधी दसमारग इम आई।
[2] कबीर ग्रंथावली पृ० २०१ पंक्ति ८ से ६ तक
[3] पाप न पुण्य न स्थूल न सूक्ष्म न बोलै न मौन न सोवै न जागै।
एक न दो इन दुर्लभ जोड़ कैसे जहाँ कोई न पीछे न आगे॥
वृद्ध न बाल न कर्म काल न हरष न विलास न करै न मांगै।
बंध न मोक्ष अमोक्ष न मोक्ष न सुन्दर है न असुन्दर लागै॥
सुन्दर विलास पृ० १६८।
[4] दादू भाग १ पृ० २१

८—नेतिवादी शैली—उपनिषदों का नेतिवाद बहुत प्रसिद्ध है। ब्रह्म निरूपण करते करते जब वे अपनी असफलता का अनुभव करने लगते हैं तब नेति-नेति चिल्लाने लगते हैं। संत नानक[1] ने इस तथ्य का संकेत निम्नलिखित पंक्ति में किया है—

खोजक खोजक मसि थके वेद कहनि इक बात।

अर्थात् समस्त संत खोजते खोजते वेद थक गये। उन्होंने केवल एक ही बात कही है। वह एक बात नेति ही है। इसी प्रकार सुन्दरदास[2] ने भी नेतिवाद का उल्लेख किया है।

९—साधारण वर्णनात्मक शैली—संतों ने इस शैली का प्रयोग बहुत अधिक किया है। इसमें सीधे सादे ढंग से ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहा जाता है। संत धरनदास[3] ने इसी शैली में लिखा है। हे आत्मरूपी स्वामी वह परमात्मा अलख और अपार है। उसकी गति अनिर्वचनीय है। इस शैली का उपयोग कुछ अन्य संतों ने भी किया है।

१०—मौनात्मक शैली—ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का द्योतन संतों ने भी कहीं कहीं बौद्धों के ढंग पर भी किया है। बौद्ध लोग आत्मा और परमात्मा के संबंध में मौन रहना ही उचित समझते थे। बौद्धों के अनुकरण पर संत कवियों ने भी कहीं-कहीं उस अनिर्वचनीय परमात्मा की अभिव्यक्ति वाणी के द्वारा न करके मौन के सहारे की है। सुन्दरदास[4] ने लिखा है—

सुन्दर मौनगही सिध साधक कौन कहै उसको मुख बातें।

अनिर्वचनीय को वचनीय बनाने की चेष्टाएँ—मानव अनिर्वचनीय को भी वचनीय बनाए बिना नहीं रह सकता। यह उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मानव की इसी प्रवृत्ति ने संतों के उस अनिर्वचनीय निर्गुण को वचनीय निर्गुण बनाया है। उनका यह प्रयत्न त्रिविधमुखी है—

---

[1] संत सुधासार खंड १ पृ० २२३

[2] सुन्दरविलास पृ० १६२

[3] अपरम अलख अपार होवो स्वामी गमि नहिं पाइए। धरनदास की बानी भाग १ पृ० २१।

[4] सुन्दरविलास पृ० १६२

१—ब्रह्म का तत्त्व रूप में वर्णन।
२—ब्रह्म का अद्भुत रूप में वर्णन।
३—ब्रह्म का तुरीय रूप में वर्णन।
४—ब्रह्म का द्वंद्वातीत रूप में वर्णन।
५—ब्रह्म का विचार रूप में वर्णन।

१—ब्रह्म का तत्त्व रूप में वर्णन—संतों ने ब्रह्म का वर्णन तत्त्व रूप में भी किया है। यह तत्त्व रूप अनुपम और अनिर्वचनीय है। उसका वर्णन करते हुए कबीर ने लिखा है।[1]

जाके मुँह माथा नहीं नहीं रूप कुरूप॥
पुहुप बास तें पातरा ऐसा तत्त्व अनूप।

इस तत्त्व रूप परमात्मा को ही संतों ने निर्गुण रूप कहा है। इस निर्गुण का वर्णन संत दरिया साहब ने भी सुन्दर ढंग से किया है।[2]

सो निर्गुन कथि कहै समाया। जाके हाथ पाँव नहिं माया।
निराकार आकार बिहूना। रूपरेख नहिं काहै नमूना॥

यह तत्त्व रूप ब्रह्म सत्य और सत्स्वरूप कहा गया है। संत दरिया साहब लिखते हैं।[3]

सत्य ब्रह्म जीव यह लेखा। अनुभव ब्रह्म आपुहीं पेखा।

२—ब्रह्म का अद्भुत रूप में वर्णन—संतों ने अपने निर्गुण ब्रह्म को अद्भुत भी कहा है। संत कबीर ने लिखा है।[4]

ऐसा अद्भुत मेरे गुरु कथ्या मैं रहा उमेख।

दयाबाई ने भी अपने ब्रह्म को अद्भुत रूप कहा है। उन्होंने लिखा है हे परमात्मा तू चैतन्यरूप और आनन्द रूप होते हुए भी अद्भुत है।[5]

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० ६४
[2] दरियासागर पृ० २०, २१
[3] " " २१
[4] कबीर ग्रंथावली पृ० १३१
[5] दयाबाई की बानी पृ० १२ पर वर्णित—
तू चेतन स्वरूप है अद्भुत आनन्द।

३—ब्रह्म का तुरीय रूप में वर्णन—ब्रह्म के तुरीय रूप का संकेत उपनिषदों में बराबर किया गया है। उपनिषदों के आधार पर ही गौड़पादाचार्य[1] ने मांडूक्य कारिका में ब्रह्म के इस स्वरूप का विस्तार से प्रतिपादन किया है। उसमें उन्होंने ब्रह्म को जाग्रत स्वप्न और इन तीनों अवस्थाओं से विलक्षण तुरीय रूप सिद्ध किया है। यह तीनों अवस्थाएँ चिन्मय सत्ता की अवस्थाएँ नहीं हैं। चिन्मय सत्ता की अवस्था तुरीय ही मानी जाती है। हमारे अंदर जो साक्षि है जो निर्मल बोध स्वरूप है वह इन अवस्थाओं के उत्पन्न होने से या नष्ट होने से किसी विकार को प्राप्त नहीं होता इसी को चतुर्थ कहा गया है 'चतुर्थम् मन्यते स आत्मा।'

उपनिषदों और गौड़पादाचार्य के इस तुरीय संबंधी सिद्धांत से शंकराचार्य भी सहमत थे। उन्होंने मांडूक्योपनिषद भाष्य के मंगलाचरण में अपने इस दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया है। वह मंगलाचरण इस प्रकार है—जो चराचर[2] व्यापी समूहों को व्याप्तशील प्रज्ञाविरण प्रज्ञानों द्वारा समस्त लोकों को परिव्याप्त किये हुए है स्थूल जगत के सुख-दुख आदि स्थूल विषयों का भोगता है तथा अन्य मनोद्भासित भावों का भोक्ता भी है जो इन सब विषयों को आत्मसात करके आपूर्णकाम में सोता रहता है जो तीन जाग्रति स्वप्न सुषुप्ति इन तीन मायिक अवस्थाओं की अपेक्षा तुरीय है मैं उस परम अमर अक्षर और ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ। वेदान्त के इस तुरीय सिद्धांत से संत लोग पूर्णतया परिचित थे। लगभग सभी संतों ने चौथे पद अमर पद, परम पद, अनुभव पद आदि के अभिधान से तुरीय का ही वर्णन किया है। संत[3] कबीर ने स्पष्ट लिखा है कि संतों का परमात्मा चौथे पद में रहता है। संत[4] मलूकदासजी ने इस पद को अगम्य कहा है—तीनेऊ में सब जग बंधा चौथा अपरम्पार इस प्रकार अन्य संतों ने भी ब्रह्म का तुरीय रूप में वर्णन किया है।

(४) ब्रह्म का द्वन्द्वातीत रूप में वर्णन—अनिर्वचनीय ब्रह्म का वर्णन

---

[1] मांडूक्य कारिका का आगम प्रकरण देखिए

[2] देखिए मांडूक्योपनिषद् शंकरभाष्य मंगलाचरण का श्लोक प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिर चरनिकर व्यापिभिर्व्याप्य लोकान् भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपि धिषणोद्भासिताकाम जन्मान् पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ्मायया भोजयन्नो मायासंख्या तुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥

[3] कबीर हमारा राम है।
चौथे पद मधि जन का जिव ॥

[3] कबीर ग्रंथावली—पृ० ११४

[4] संत मलूकदास की बानी—पृ० ११।

उसे द्वन्द्वातीत बतलाकर भी किया है। संत चरनदास ने लिखा[१] है—जब मन आत्मानु भव में लग जाता है तो उसका द्वन्द्व मिट जाता है। उस समय न कोई मित्र है और न है कोई बैरी रहता है। साधक की यह द्वन्द्वातीत अवस्था ही ब्रह्मानुभूति की अवस्था है। इस अवस्था का वर्णन करके संतों ने ब्रह्म को द्वन्द्वातीत व्यंजित किया है। त्रिगुणातीत रूप में द्वन्द्वातीत की अभिव्यक्ति संतों ने उसे त्रिगुणातीत बताकर भी की है। संत सुंदरदास ने उसका इसी रूप में संकेत किया है।[२]

(५) ब्रह्म का विचार रूप में वर्णन—निर्गुणिया संतों ने अपने ब्रह्म की अनिर्वचनीयता और सूक्ष्मता का संकेत कहीं-कहीं उसे विचार रूप कहकर किया है। संत[३] सुन्दरदास ने ब्रह्म विचार को हंसों का महाहंस कहा है।

ब्रह्म को विचार कछु और न सुहाय है।
सुन्दर कहत सो हंसन को महाहंस ॥ सुन्दर विलास पृ० ५

इन्होंने ब्रह्म का वर्णन परात्पर रूप में भी किया है। संत दादू[४] ने उसका वर्णन करते हुए लिखा है हमें ऐसा परमात्मा प्राप्त हो जिसका कोई वार पार न हो तथा उसका कोई रहस्य भी न जानता हो। कुछ संतों ने परात्पर ब्रह्म का वर्णन उसे ब्रह्मा विष्णु महेश से परे बतलाकर किया है। दादू[५] लिखते हैं—ब्रह्मा शंकर तैं किया और विष्णु दिया अवतार अर्थात् उस परम ब्रह्म ने ही ब्रह्मा और शंकर की रचना की है तथा उसी ने विष्णु को अवतारित किया है। इसी प्रकार गुलाल[६] साहब ने भी लिखा है कि वह परमात्मा इतना महान् है कि शिव और ब्रह्मा उसकी खोज भी नहीं कर सकते। *इन्होंने कहीं-कहीं परात्पर ब्रह्म का वर्णन उस चौथे पद से न्यारा बतलाकर भी किया* है गुलाल[१] साहब ने लिखा है—

ब्रह्म स्वरूप अखंडित पूरन चौथ पद सो नियारा।

---

[१] चरनदास की बानी भाग २ पृ० ८ छन्द १०

[२] सुन्दरविलास पृ० १५५ पर देखिए—
त्रिगुण अतीत जैसे प्रतिबिम्ब मिटिजात।
सुन्दर कहत एक पूरन ही होत।

[३] सुन्दर विलास पृ० २

[४] दादू बानी भाग २ पृ० ६६ पर देखिए।
ऐसा राम हमारे आवे वारपार कोई अंत न पावे।

[५] दादू भाग २ पृ० १८२

[६] गुलाल पृ० ६१

निर्गुण में गुणों की प्रतिष्ठा—संतों को निर्गुण ब्रह्म ही मान्य था। किंतु निर्गुण ब्रह्म केवल मनन चिंतन और अनुभूति का विषय हो सकता है। वह भक्त का आराध्य नहीं बन सकता है। संत लोग ज्ञानी होने के साथ ही साथ भक्त भी थे। यही कारण है कि उन्हें भजन की सुविधा के लिए निर्गुण ब्रह्म में गुणों का आरोप करना पड़ा है। निर्गुण में गुणों का आरोप करते हुए भी उनका ब्रह्म उस अर्थ में सगुण नहीं हो जाता है जिसमें मूर्तिपूजक और अवतारवादी भक्तों का भगवान् होता है। वह गुणों से विशिष्ट होते हुए भी निर्गुण ही है और उपनिषदों के ब्रह्म निरूपण के मेल में है। इस प्रकार के निर्गुण के गुणगान ही संतों का लक्ष्य था। संत मलूकदास[1] ने कहा है—सब मलूक निर्गुण के गुण गाई बड़भागी गावै इसी प्रकार दादू[2] भी निछावर होने के लिए तैयार हैं।

दादू निर्गुण गुण कहे जाऊँली ही पार

इस निर्गुण के गुण अनन्त या अपरंपार हैं। उन सब का कथन करना मानव शक्ति के परे है। इन गुणों का कथन अक्षरों के वर्णनों में नहीं बाँधा जा सकता। फिर भी उसका वर्णन करने के लिए अक्षर ही हमारे पास साधन हैं। निर्गुण के अनंत गुणों में कुछ गुण-विशेष उल्लेखनीय हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

निर्गुण ब्रह्म की एकता, नित्यता, अद्वैतता और सर्वव्यापकता[3] संतों ने कुछ वेदों के एकेश्वरवाद व इस्लाम के एकेश्वरवाद से प्रभावित होकर ब्रह्म की एकता पर विशेष बल दिया है। संत भीखा साहब ने लिखा है[4]—

आदिहि एक अंत पुनि एकै मद्धहि एक विचारै।

इसी प्रकार संत[5] दादू ने भी एक स्थल पर एक की झड़ी निम्नलिखित उक्ति में लगा दी है—

एकहि एकै भया अनंद एकहि एकै भागे द्वंद।
एकहि एकै एक समान एकहि एकै पद निर्वान॥

---

1 मलूकदास की बानी पृ० १०

2 दादूबानी भाग २ पृ० १८३

3 क—सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छा० ६।२।१

ख—न तु तद्द्वितीयमस्ति ततो ऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्। बृ० ४।३।२३

ग—स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति। छा० ७।२५।१

4 भीखासाहब की बानी पृ० ७

5 दादूबानी भाग २ पृ० १२१

एकहि एकै त्रिभुवन सार एकहि एकै अगम अपार।
एकहि एकै निर्भै होइ एकहि एकै काजन कोइ ॥ इत्यादि।

संत कबीर[1] ने तो एकत्ववाद की व्यंजना अनेक स्थलों पर की है। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है सत्य तत्व उन्हीं को प्राप्त होता है जो उस एक परमात्मा को एक ही करके मानते हैं। इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होंने लिखा है[2]—

कहै कबीर एक राम जपहु रे हिंदू तुरक न कोई।

संत लोग उसकी एकता में ही नहीं अद्वैतता में भी विश्वास करते थे। सुंदर दास[3] ने लिखा है—

ब्रह्म निरन्तर व्यापक अगिन अरूप अखंडित है सब माहीं।

पलटू कहते[4] हैं कि उसमें कार्य-कारण भेद भी नहीं है—

आपुहि कारन आपुहि कारज विश्वरूप दरसाया।

इसी प्रसंग में हम बहुदेववाद की चर्चा भी कर देना चाहते हैं। संत लोग बहुदेववाद के विरोधी थे। उन्होंने सर्वत्र बहुदेववाद की निंदा की है। प्रश्न यह उठता है कि ऐसा उन्होंने किसी द्वेष भावना से किया था या किन्हीं दार्शनिक कारणों से। संत लोगों में कभी भी किसी भी प्रकार की द्वेषभावना नहीं थी। यदि उनमें द्वेषभावना होती तो वे संत ही क्यों कहे जाते। निर्गुण संतों की सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि वे किसी प्रकार के भेद-भाव या पक्षपात से प्रेरित नहीं हुए थे। उनका सिद्धांत था[5]।

सेवत सब निरन्तर सबहु और नहीं कछु वाद विवाद।
ये सब सन्त है जिन मांहि सो सुन्दर के घर है गुरु दादू ॥

ऐसी अवस्था में उन्हें द्वेषभावना से प्रेरित करना उनके साथ अन्याय करना है। बहुदेववाद का खंडन उन्होंने कई कारणों से किया था। उनकी बानियों में इनमें से कुछ कारणों की अभिव्यक्ति भी हुई है।

जो लोग बहुदेववाद के अनुयायी हैं उनमें एकनिष्ठता नहीं आ पाती। एक निष्ठता के अभाव में बहुदेवोपासना से उनकी अवस्था वेश्या के पुत्र जैसी हो जाती है। जिस प्रकार वेश्या के पुत्र के पिता का पता नहीं रहता उसी प्रकार बहुदेववादियों

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० १२२
[2] कबीर ग्रंथावली पृ० २०६
[3] स० बा० संग्रह भाग १ पृ० १०६
[4] पलटू साहब भाग ३ पृ० ४
[5] सन्त सुधासार पृ० ६११

का कोई एक इष्ट नहीं होता। एक इष्टदेव के अभाव में उपासकों का उद्धार नहीं हो सकता। क्योंकि उनकी भावना बहुमुखी रहती है इसलिए उनका मन एक जगह केन्द्रित नहीं हो पाता। संत[1] दादू ने यही तर्क छोटी-छोटी दवाइयों के रूपक से प्रस्तुत किया है। मनुष्य मुक्ति की कामना से अनेक देवी-देवताओं की उपासना करता है किन्तु यह उसकी भूल है क्योंकि संसार रूपी पहाड़ की याद में ये छोटी-छोटी दवाइयाँ किसी भी उपयोग की नहीं हो सकतीं। इसके लिए तो एक परब्रह्म परमात्मा रूपी दवा ही चाहिए। संतों ने बहुदेववाद की निंदा इसलिए भी की थी कि वह उनकी अन्तर्मुखी साधना के विरोध में भी पड़ता था। मूर्तिपूजा और बहुदेव केवल बहिर्मुखी वृत्तिवालों के लिए ही उपयोगी हो सकता है। अन्तर्मुखी साधनावाले घटवासी आत्मराम को ही माथा नवाते हैं। पलटू ने लिखा है[2]—

ब्रह्म विष्णु महेश न पूजि हौं न मूरत चित लाईं।
जो प्यारा मोरे घट मा बसत है वाही को माथ नवाईहौं॥

कुछ लोगों की धारणा है कि संतों ने बहुदेववाद और मूर्तिवाद का खंडन इस्लाम की प्रेरणा से किया था किन्तु यह मत भ्रांतिपूर्ण है। भारत के अंतर्मुखी आध्यात्मिक साधना में संलग्न संत सदा से ही इन दोनों का विरोध करते रहे हैं प्रमाण रूप में हम भविष्यपुराण की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत कर सकते हैं—

अज्ञानेन मयादेव यत्कृतं मूर्तिकल्पनम्।
तत्सर्वं कृपया शांत क्षमस्व मधुसूदन[3]॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सन्त लोगों ने बहुदेववाद का निराकरण करके एकत्ववाद की प्रतिष्ठा की थी। किन्तु उनका एकत्ववाद इस्लामिक एकत्ववाद से भिन्न है। एकेश्वरवादी भावना पूर्ण निर्गुण नहीं कही जा सकती। क्योंकि इस्लाम में अल्लाह के साकार रूप की कल्पना भी की गई है। वह साकार रूप भौतिक और मानवी प्रतीत होता है। किन्तु सन्तों ने कहीं भी भौतिक मानवीय रूप के प्रति श्रद्धा नहीं प्रकट की है। भौतिक मानवीय रूपों में वह सजीव प्रत्यक्ष सन्त को ही ईश्वर रूप समझते थे।

---

[1] जीवन दीसै रोगिया कहैं मूवाँ पीछैं जाइ।
दादू दुहुँ के पाव में ऐसी दारू खाइ॥
सोइ जनमै सोइ रूपजी सोई सबद ततसार।
सु घर्नों ही साहिब मिले मन के जाहिं विकार॥ दादूबानी भाग १ पृ० १६६

[2] पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० २

[3] भविष्यपुराण ३।०

पलटू[1] आदि सन्तों ने सन्त को ही साकार ब्रह्म के रूप में पूजने का उपदेश दिया है। सन्तों की बानी में ऐसे बहुत कम स्थल मिलते हैं जहाँ निर्गुण ब्रह्म के अतिरिक्त वर्णन किये गये हों। केवल कबीर आदि कुछ संतों में ही भक्ति के भावोन्मेष में कहीं कहीं पर सगुण ब्रह्म का वर्णन वैष्णव भक्तों के अनुरूप किया है। इस प्रकार के वर्णनों पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ पर हम इतना ही स्पष्ट करना चाहते हैं कि सन्तों का एकत्ववाद किसी प्रकार की आधिदैविक भावना से प्रभावित नहीं था। उनका एकत्ववाद पूर्ण आध्यात्मिक है। यही कारण है कि ब्रह्म को उन्होंने जहाँ पर एक कहा है वहीं उसे वे नित्य निरीह निरामय निर्गुण निरंजन अखण्ड अद्वैत तत्त्व भी मानते थे[2]। उसे उन्होंने 'भरपूर' 'इकरसवासी बाहर-भीतर व्याप्त' भी कहा है। वह लिखते हैं—आत्म-चिन्तन[3] करते करते अद्वैतज्ञान की उत्पत्ति होती है। अद्वैत-ज्ञान की उस अनुभूति की अवस्था में एक ब्रह्म की अखण्डता का पूर्ण अनुभव होने लगता है। उस समय एकत्ववाद पूर्ण ब्रह्मवाद और सर्वात्मवाद में परिणत हो जाता है। सन्तों ने इस सर्वात्मवाद और ब्रह्मवाद का वर्णन अनेक प्रकार से किया है। इनमें तीन प्रकार विशेष उल्लेखनीय हैं—१—ब्रह्म वर्णन के रूप से, २—ब्रह्म जीव और जगत् का सम्बन्ध प्रदर्शित करने के ब्याज से। ३—ब्रह्म और माया के भेद को स्पष्ट करने के ब्याज से।

प्रथम प्रकार के उदाहरण के रूप में हम सन्त सुन्दरदास[4] की निम्नलिखित पंक्ति ले सकते हैं—

ब्रह्म अखंडित है अध ऊरध बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै।
ब्रह्महि सूच्छम स्थूल जहाँ लगि ब्रह्महि साहिब ब्रह्महि दीसै॥
सुन्दर और कछू मत जानहु ब्रह्महि देखत ब्रह्म तमासै।
ब्रह्महि मांहि विराजत ब्रह्महि ब्रह्म बिना जिमि औरहि जानो॥

दूसरे प्रकार के उदाहरण भी सन्त सुन्दरदास[5] में सरलता से मिल जाते हैं। एक ब्रह्म का अनेक जीवों से सम्बन्ध प्रकट करते हुए वह लिखते हैं—

---

१ सतरूप अवतार आप हरि भरि के आप। पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० १६
२ ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुण नित्य निरंजन और न भासै।
ब्रह्म अखंडित है अध ऊरध बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै॥ सु० वि० पृ० १२६।
३ सुन्दर विचारत यूं उपजे अद्वैतज्ञान आप हूँ अद्वैत ब्रह्म एक परमात्मा है। सु० वि० पृ० १२५
४ सुन्दर विलास—पृ० १२६,१३०।
५ ,, ,, पृ० १२६, १२९।

एक समुद्र तरंग अनेकहु कैसे के कीजिये भिन्न विवेका।
द्वैत कछू नहिं देखिये सुन्दर ब्रह्म अखंडित एक को एक॥

तृतीय प्रकार का उदाहरण भी सन्त सुन्दरदास[1] की ही वानियों से लिया जा सकता है—

ब्रह्म ही है सब ठौर दूसरो न कोऊ और
वस्तु को विचार किये वस्तु पहिचानिये।
पंच तत्व तीन गुण विस्तरे विविध भाँति
नाम रूप जहाँ लगि मिथ्या माया मानिये॥

निर्गुण ब्रह्म की सच्चिदानन्दस्वरूपता—वेदांत ग्रन्थों में निर्गुण ब्रह्म की सच्चिदानन्दस्वरूपता पर विशेष प्रकाश डाला गया है। ब्रह्म की सच्चिदानंद स्वरूपता संत कवियों को भी मान्य थी। सन्त दरिया साहब[2] ने 'सत स्वरूप ओई विमल सुभाय' लिखकर उसकी सतस्वरूपता की ओर संकेत किया है। संत सुन्दरदास[3] ने सुन्दर चैतन्य रूप सुन्दर विलास है" लिखकर ब्रह्म के चैतन्य स्वरूप पर प्रकाश डाला है। ब्रह्म का चैतन्यस्वरूप ज्ञानमय भी है। उपनिषदों में चैतन्य ब्रह्म की ज्ञानरूपता का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। संत सुन्दरदास ने भी ब्रह्म को केवल ज्ञानरूप कहा है। ब्रह्म की आनन्दरूपता से भी सन्त लोग पूर्णतया परिचित थे। दरिया साहब[4] ने उसे सुख सर्वस्वरूप कहकर ब्रह्म की आनन्दरूपता की ओर ही संकेत किया है। संत लोग भी ब्रह्म के सच्चिदानंद स्वरूप से परिचित थे।

निर्गुणतावाचक विशेषणों का आरोप—संत कवियों ने अपने निर्गुण को बहुत से निर्गुणतावाचक विशेषणों से भी विशिष्ट किया है। ऐसे विशेषणों में निर्द्वंद[5] निरमय[6] निरगुन[7] निरंजन[8] आदि विशेष प्रमुख हैं।

निर्गुण ब्रह्म पर पूर्णता का आरोप—बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म के

---

[1] सुन्दर विलास पृ० १२६।
[2] दरिया सागर—पृ० २७ पंक्ति १२
[3] सुन्दर विलास—पृ० १६।
[4] दरिया सागर—पृ० २७।
[5] सुन्दर विलास—पृ० १२१—पंक्ति—१०वीं
[6] ,, ,, ,, ,,
[7] ,, ,, ,, ,,
[8] ,, ,, ,, ,,

पूर्ण भाव का बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है[1]—वह पूर्ण है और पूर्ण से ही पूर्ण की उत्पत्ति हुई है।

ब्रह्म की इस पूर्णरूप की उपासना में संत लोग भी आस्था रखते थे। संत सुन्दरदास[2] ने लिखा है कि जो व्यक्ति निरंतर पूर्ण ब्रह्म के विचार में निमग्न रहता है। उसे काम-क्रोध-लोभ नहीं सताते हैं। कबीर[3] ने तो 'पूरे सौ परचा' ही मान कर लिया था। दादू[4] ने उसे पूर्ण परमानन्द कहा है।

कर्तृत्व शक्ति का आरोप—संतों ने अपने निर्गुण ब्रह्म पर कर्तृत्व शक्ति का आरोप भी किया है। संत कबीर[5] ने एक स्थल पर परमात्मा को कुलाल कहा है। जिस प्रकार कुलाल अनेक खिलौने बनाता है उसी प्रकार परमात्मा अनेक जीवों की रचना करता है। संत दादू[6] ने उसे इस प्रपंच का विधाता कहा है।

संतों ने अपने निर्गुण ब्रह्म पर कुछ कोमल भावप्रधान एवं सहानुभूतिमूलक विशेषणों का आरोप भी किया है। संत कबीर[7] ने उन्हें गरीबनिवाज कहा है। संत भीखा[8] ने करुणामय कहा है। इस प्रकार के विशेषणों का आरोप अधिकतर भक्ति भावना के उन्मेष से हुआ है। इन विशेषणों के आरोप से उनका निर्गुण ब्रह्म हृदय हीन और यंत्रवत होने से बच गया है।

भक्तिमार्गियों के ढंग पर ब्रह्म-निरूपण

ऊपर हम कह चुके हैं कि संतों की विचारधारा ज्ञान भक्ति और योग का मिलन बिन्दु है। सूफी मत ने उसे प्रेरणा दी थी इसीलिए उनका ब्रह्म निरूपण चारों के ब्रह्म स्वरूपों से प्रभावित और अनुप्राणित है। संत कबीर[9] ने भक्ति के महत्त्व का संकेत

---

[1] पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ५।१।१ बृहदारण्यकोपनिषद्

[2] पूरण ब्रह्म विचार निरन्तर काम न क्रोध न लोभ न मोह। सुन्दर विलास पृ० १

[3] कबीर ग्रंथावली—पृ० १२ साखी।

[4] दादू बानी भाग १ पृ० २७ साखी ८२

[5] कबीर ग्रंथावली—पृ० ७१

[6] दादू बानी भाग २—पृ० १८१ पदवा पद

[7] कबीर ग्रंथावली—पृ० ११६

[8] सन्त भीखा साहब—पृ० २६

[9] जब लग भाव भगति नहीं करिहौ तब लगि भवसागर क्यों तरिहौ। कबीर ग्रंथावली पृ० ११२

करते हुए लिखा है कि बिना भगवान् की भक्ति के कोई भवसागर से पार नहीं हो सकता। इसी प्रकार दरिया[1] साहब ने भी लिखा है—भक्ति भाव की कलयुग में सब विपत्तियों को दूर करनेवाला है। तथा भक्ति की महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। संतों की भक्ति के प्रति इसी निष्ठा ने उनके ज्ञानमार्गीय ब्रह्म को कहीं कहीं भक्तिमार्गीय भगवान् के रूप में बदल दिया है। संत दरिया[2] साहब ने स्पष्ट लिखा है—भगवान् बड़े हैं भक्तवत्सल और संतों को सुख देनेवाले हैं—अपनी प्रभुता से वह भक्तों के कष्ट दूर कर देते हैं। तथा उन्हीं का हेतु ध्यान करने पर वह अव्यक्त से व्यक्त हो जाते हैं। संतों में भक्तिभाव की कमी नहीं थी यह हम अभी ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। इसीलिए उनका अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म उनकी भक्ति भावना के प्रभाव से व्यक्त सगुण हो गया है। उसमें उन्होंने भक्तिभावना के अनुरूप सहृदयता पूर्ण गुणों का आरोप किया है। भगवान् को द्रवित करने के लिए भक्त अपनी क्षुद्रता और भगवान् की महानता का प्रदर्शन करना चाहता है इसीलिए वह अपने भगवान् में विश्व के सहृदयता प्रधान सभी गुणों का आरोप करता है। आलम्बन की महत्ता के वर्णन की भावना से प्रेरित होकर भक्त भगवान् को व्यक्तित्व प्रदान कर अनंतकरुणामय, भक्त-वत्सल, समदर्शी आदि रूपों में चित्रित करता है। उनका भगवान् इतना संवेदनशील है, इतना करुणामय है कि वह तीन लोक की पीर जानता है और गरीब निवाज है।[3] दयाबाई[4] के शब्दों में चार पद और चारों उसी की कृपा का परिणाम हैं। उसकी कृपा से वज्र[5] तिनका हो जाता है और तिनका वज्र हो जाता है। पर्वत सागर में तैरने लगते हैं।[6] सन्त दरिया के शब्दों में वह दयानिधि और भक्तवत्सल है[7] उनका भगवान् केवल दयालु करुणामय और गरीबनिवाज ही नहीं

[1] भक्तिभाव कलि बिच सब हरना। तथा भगति महातम गुन नहीं गाई॥ दरिया सागर पृ० २१

[2] दरिया सागर—पृ० २०

सुनहु सन्त सब हितु सारा। दयानिधि भव सिन्धु अपारा॥
भक्त बछल सन्तन सुखदाई। जन कै दुख हरै प्रभुताई॥

[3] तीन लोक की जाने पीर—कबीर ग्रंथावली पृ० १२०—कबीर को स्वामी गरीब निवाज क० ग्रं० पृ० २११

[4] वेद बड़ाप्रभु तुम किरपा की धार। सन्त सुधासार भाग २ पृ० १००

[5] वज्र तिनका करत हौ तिनहिं वज्र बनाय। दयाबाई की बानी पृ० ११।

[6] गिरवर तुम्हरी दे प्रभु सागर तिरि जनाएँ। दयाबाई की बानी पृ० ११।

[7] दरियासागर—पृ० २०। 'भक्तबछल सन्तन सुखदाई।

लीलामय भी है। सहजोबाई[1] के शब्दों में उसकी लीला बड़ी सुहावनी है। उसकी लीला को देखकर सन्तों का मन प्रसन्न होता है। वह लीलामय परम सौन्दर्यमय भी है। दयाबाई ने उसके रूप को अनूप कहा है। उसके रूप में करोड़ों सूर्यों जैसी ज्योति[2] दिखाई देती है। उसकी छवि का वर्णन सन्तों ने बड़े रहस्यपूर्ण शब्दों में किया है। रहस्यवाद के प्रसंग में उसकी इस छवि का विशेषरूप से उद्घाटन किया जायगा। दयाबाई तो उसकी अद्भुत छवि पर न्यौछावर[3] थी। भगवान् का इतना भावमय वर्णन करते हुए भी संत लोग लोक-प्रत्यक्ष होनेवाले भगवान् को मानने के लिए तैयार न थे। उन्होंने बार-बार घोषणा की है कि आत्मा ही राम है[4] हमें उसी की पूजा करनी चाहिए और यदि कोई प्रत्यक्ष भगवान् की पूजा करना ही चाहता है तो उसे साधु संतों की पूजा करनी चाहिए[5] क्योंकि संत भीखा के मत में संत और प्रभु एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं[6]।

कुछ ऐसे भी निर्गुणियाँ संत थे जो निर्गुणता की कल्पना पर ही नहीं अड़े रहते थे। ऐसे लोगों ने कभी-कभी अवतारी भगवानों के प्रति भी आस्था प्रकट कर दी है। सहजोबाई[7] ने स्पष्ट लिखा है कि भक्तों का उद्धार करने के लिए निर्गुण ब्रह्म ही सगुण हो जाता है। ऐसे ब्रह्म को वह प्रणाम करती हैं। वह वास्तव में

---

[1] तेरी लीला अधिक सोहावनी।
देखि-देखि मन हुलसत है सन्तन के मन भावनी।
सब गुन करि अखंड बनायो अकर कर्यो अकरत भयो ॥ इत्यादि सहजोबाई की बानी पृ० ६१।

[2] दीप कोटि रूप अनूप लखि कोटि भानु उजियार।
दया सकल दुख मिट गयो प्रकट भयो सुखसार ॥ दयाबाई की बानी पृ० १२।

[3] अद्भुत छवि जिनकी बानी।
दया वारत मन ध्यान ॥ दयाबाई की बानी पृ० १।

[4] क—दादू के दूजा नाहीं एकै आतम राम। दादू बानी भाग १ पृ० १७।
ख—जहँ आतम तहँ राम है। वही पृ० ४६।
ग—आतम राम सकल जग छाई। गुलाल साहब की बानी पृ० १२२।

[5] कबीर ग्रंथावली—पृ० १६१ पंक्ति १६२वाँ पद

[6] प्रभु में सन्त सन्त में प्रभु है। भीखा साहब की बानी पृ० ६।

[7] निर्गुन ते सगुन भए भक्त उधारन हार।
सहजो की दण्डवत ताहू बारंबार ॥ सहजोबाई स० सु० सा० खं० १ पृ० १६९

सगुण और निर्गुण में कोई अंतर नहीं मानती थीं।[1] संभवतः इसीलिए उन्होंने ब्रज मंडल और यशोदानंदन के प्रति आस्था प्रकट की है—

धन्य जसोदा नन्द धन धन ब्रज मंडल देस।
आदि निरंजन सहजिया भयो ग्वाल के भेष॥[2]

इन पंक्तियों में सहजोबाई ने अवतारवाद के प्रति स्पष्ट रूप से आस्था प्रकट की है। किंतु यह उनका तात्त्विक पक्ष न था। व्यवहार पक्ष में ही वह सगुणवादिनी थी। तात्त्विक दृष्टि से वह निर्गुणवादिनी ही थीं। इसीलिए उन्होंने अपने ब्रह्म को 'है नाहीं[3] हूँ रहित' कहा है। अधिकांश सन्त कट्टर निर्गुणवादी ही थे। यदि भक्ति के आवेश में एक आध स्थलों पर उनमें से किसी एक आध ने यदि अवतारी सगुण ब्रह्म के प्रति आस्था प्रकट कर दी है तो उस आधार पर हम उन्हें सगुणवादी नहीं कह सकते। वे मूलतः निर्गुणवादी ही थे। उन्होंने अपने निर्गुण की अवतारणा सगुण रूप में बहुत कुछ सूफियों के ढंग पर की है। सूफी लोग मानसिक सगुणवाद में विश्वास करते हैं। तात्त्विक दृष्टि से वे निर्गुण ब्रह्म को मानते हैं और साधना की सुगमता के लिए उनका गुरु निर्गुण को सगुण रूप देकर उस रूप से शिष्य को परिचित करा देता है। शिष्य उसी रूप में अपनी समस्त भावनाएँ तथा उपासना केन्द्रित कर देता है। इस तरह से उनका ब्रह्म निर्गुण होते हुए भी साधक के मनःक्षेत्र में सगुण हो जाता है। भक्ति-वादियों से उनकी सगुणता बिल्कुल भिन्न है। भक्तों का भगवान् सारे विश्व का समान भाव से उपास्य होता है। किंतु सूफी का उपास्य केवल व्यक्ति का उपास्य होता है। उसका रूप व्यक्तिगत होता है किंतु उसके गुण अवश्य सार्वभौम होते हैं। सन्तों की सगुण साधना भक्तों और सूफियों की सगुण साधना के मध्य की रेखा है। वह दोनों से ही प्रभावित होते हुए भी दोनों से ही विलक्षण है। सूफियों के अनुरूप वे निर्गुण परमतत्त्व के मानसिक सगुणत्व में विश्वास करते हैं। किंतु उनका सगुण उपास्य केवल वैयक्तिक नहीं होता। वह भक्तों के सगुण भगवान् के सदृश सारे मानवमात्र का होता है। किंतु उसका उद्देश मानसिक ही है। इस संसार के बीच उसकी अवतारणा नहीं हो पाती उसकी रूप प्रतिष्ठा केवल हृदय की भावनाओं के सन्दीपन के लिए मनः मंदिर में की जाती है। संत दादू[4] ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है मन मंदिर में निरंजन देव की प्रतिष्ठा कर आस्था रूपी और प्रेम पुष्प से पूजा करनी चाहिए। इसी प्रकार उन्होंने[5] एक दूसरे स्थल पर लिखा है—

---

[1] निर्गुण-सगुण भेद न कोई —सन्त सुधासार भा० २ पृ० १६२
[2] सन्त सुधासार भा० १ पृ० १६२
[3] " " " " १६३
[4] दादू बानी भाग १ पृ० ७१।
[5] " " १ पृ० ७२।

दादू निरंजन पूजिये पाती पंच चढ़ाई।

मन मंदिर में प्रतिष्ठित अगम अगोचर का यह रूप केवल भक्त देख पाता है[1]।

अगम अगोचर रूप है कोउ पावै हरि को दास।

भावनाओं के केन्द्रीकरण के कारण भक्ति के आवेश में किये गये उनके सगुण वर्णन अवतारवादी भक्तों के भगवान् संबंधी वर्णनों से होड़ लेते दिखाई पड़ते हैं। संत कबीर[2] का एक उदाहरण देखिए—

भजि नारदादि सुकादि वंदित चरन पंकज भामिनी।
भजि भजसि भूषन पिया मनोहर देव-देव सिरोमनी॥
बुधि नाभि चन्दन चरचिता तन रिदा मन्दिर भीतरा।
राम राजसि नैन बानी सुजान सुन्दर सुन्दरा॥
बहु पाप परवत छेदना भौ ताप दुरित निवारणा।
कहै कबीर गोविन्द भज परमानन्द बन्दित कारणा॥

दादू, रैदास, धरमदास, दरिया साहब, सहजोबाई आदि संतों में भी इस प्रकार के बहुत से वर्णन मिलते हैं। संतों के इस प्रकार के वर्णनों को देख करके ऐसा विश्वास होने लगता है कि वे संत लोग अवतारवादी सगुणता में भी विश्वास करते थे किंतु बात ऐसी नहीं है। संत कबीर ने स्पष्ट लिखा है कि उनके राम ने दशरथ के घर अवतार नहीं लिया था। संत मलूकदास ने भी अवतारवाद का खंडन करते हुए लिखा है—इन अवतारों के भ्रमजाल में किसी को नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि इस प्रकार के संसार में सैकड़ों रूप दिखलाई पड़ते हैं[3]। पलटूदास[4] ने अवतारवाद को स्वीकार न करने का कारण भी दिया है। वह लिखते हैं कि २४ अवतारों से हमें इसलिए आस्था नहीं होती क्योंकि वे उस काल के ग्रास बने थे। बात भी ठीक है यदि वे ब्रह्म रूप होते तो फिर वे काल के ग्रास नहीं बन सकते थे। ब्रह्म काल की सीमा से परे है।

भक्ति भगवान् के प्रति समर्पित की गई सात्विक अनन्यासक्ति का नाम है। ये आसक्ति सगुण और साकार के प्रति ही हो सकती है क्योंकि भक्ति में भक्त को भगवान् में अपनी समस्त वृत्तियों का अन्तर्भाव करना पड़ता है। यह अन्तर्भाव तब हो सकता है जब भगवान् के प्रति उसे स्वतः प्रेम और आकर्षण हो। प्रेम और आकर्षण की उत्पत्ति प्रायः तीन कारणों से हुआ करती है—१—पूर्व जन्म के संस्कारों के फल

[1] यारी साहब की रत्नावली पृ० १२।

[2] कबीर ग्रंथावली पृ० २१८।

[3] इन अवतार देखि मत भूलो ऐसे रूप घनेरे। मलूकदास की बानी पृ० १६।

[4] इन चौबिस अवतार काल के मुख में आई। पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० ४६।

रहस्य २—सौंदर्य रस पान की कामना से ३—स्वार्थ-भावना से। सूफियों में प्रेम का आकर्षण प्रायः प्रथम दो कारणों से दिखलाया जाता है। भक्त लोग अधिकतर अंतिम दो कारणों से आकृष्ट हुआ करते हैं। सन्त लोग भक्तिमार्ग और सूफी मत दोनों से प्रभावित थे। अतएव उनमें हमें आकर्षण के तीनों हेतुओं के प्रति आस्था दिखाई पड़ती है। इस विषय का विस्तार रहस्यवाद के प्रसंग में किया जायेगा। यहाँ पर हम इतना ही कहना चाहते हैं कि भावसत्ता के केन्द्रीकरण के लिए किसी आश्रय की बड़ी आवश्यकता होती है। ये आश्रय कई प्रकार के हो सकते हैं जैसे—

१—भगवान् की मूर्तियाँ अथवा मानव रूपवाले भगवान् के
२—मानव रूपवाले भगवान् के सभी आश्रय अथवा देवता अवतार आदि।
३—बुद्धि विनिर्मित आश्रय अथवा भगवान् के विराट् स्वरूप का दर्शन।
४—भावना विनिर्मित आश्रय अथवा भगवान् के मानसिक साकार सगुण रूप।
५—प्रतीकात्मक आश्रय अथवा प्रतीकों के रूप में भगवान् का वर्णन।

सन्त लोगों ने प्रथम तीन प्रकार के आश्रयों की उपेक्षा की है। प्रथम तीनों प्रकारों के आश्रयों की विशेष मान्यता भारतीय भक्ति मार्गों में रही है। चौथे प्रकार के आश्रयों की प्रतिष्ठा सूफियों में मिलती है। संत लोगों ने कुछ सूफियों के अनुकरण पर और कुछ भारतीय भक्तिमार्गियों के अनुकरण पर तीसरे प्रकार के आश्रयों की कल्पना ही अधिक की है। वे निर्गुण और निरंजन आत्मतत्त्व पर भक्तिमार्गियों के गुणों का आरोप करके उसे मन क्षेत्र में सगुण बना लेते हैं और फिर उसकी पूजा का उपदेश देते हैं। उन्होंने अपनी भावना विनिर्मित आत्मा के मानसिक सगुणीकृत रूप के प्रति अपनी भावनाओं का समर्पण कई प्रकार के भावों से किया है। इनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

क—सेव्य-सेवकभाव से।
ख—वात्सल्य भाव से।
ग—माधुर्य भाव से।

सेव्य सेवक भाव से प्रेरित होकर उन्होंने अपने भगवान् की कल्पना स्वामी के रूप में की है और उसपर श्रेष्ठ प्रभु में पाये जानेवाले समस्त गुणों का आरोप किया है। उनका स्वामी जैसा कि ऊपर संकेत कर चुके हैं परम करुणामय भक्तवत्सल सर्वथ निवाज है। इस सेव्य सेवक सम्बन्ध को प्रगट करते हुए दादू कहते हैं—

दादू[1] सेवक राम का दूजा हरा न जान—संत हरिया[2] ने इस सम्बन्ध की अभिव्यक्ति और भी स्पष्ट शब्दों में की है—तुम मेरो साईं मैं तोर दास।

---

[1] दादू बानी भाग १—पृ० ११

[2] हरिया साहब के चुने [redacted] पद—पृ० ७३

संतों का वात्सल्य भाव बहुत रुचिकर था। उससे प्रेरित होकर उन्होंने अपने भगवान् की कल्पना कभी माता रूप में कभी पिता रूप में की है। उसमें उन्होंने माता-पिता के श्रेष्ठतम गुणों का आरोप भी किया है। संत कबीर[1] ने हरि जननी मैं बालक तोरा—कहकर तथा सहजोबाई[2] ने—हम बालक तुम मात हमारी पलपल मांहि करो रखवारी—लिखकर भगवान् के प्रति अपनी भक्ति भावनाएँ प्रदर्शित की हैं। माधुर्यभाव के उदाहरण संत कवियों में बहुत अधिक मिलते हैं। इसके लिए हम उन्हें कुछ अंश में सूफियों का ऋणी मान सकते हैं। उन्हीं का अनुकरण करते हुए उन्होंने अपने को प्रियतमा और भगवान् को प्रियतम के रूप में कल्पित किया है। संत कबीर[3] ने स्पष्ट लिखा है कि—

हरी मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया

भगवान् के प्रियतम रूप की कल्पना दादू, सहजोबाई, चरनदास, भीखासाहब, गुलाल साहब आदि अन्य संतों ने भी की है। संतों ने किस प्रकार भगवान् की रस रूपता की प्रतिष्ठा की है उन्हें किस प्रकार दिव्य सौन्दर्यविशिष्ट दिखलाया है इसकी सुन्दर झाँकी रहस्यवाद के प्रसंग में दिखाई जायेगी।

संतों ने भगवान् के बुद्धि विनिर्मित साकार विग्रह का भी वर्णन किया है। उनका यह विग्रह विराट् स्वरूप कहलाता है। वैदिककाल के ज्ञानमार्गियों ने जब शुष्क निर्गुण ब्रह्म से अपना काम चलते नहीं देखा तो उन्होंने परमात्मा के बुद्धिमूलक विराट् रूप की कल्पना की झाँकी ऋग्वेद[4] यजुर्वेद[5] महाभारत[6] उपनिषद्[7] गीता[8] में प्रस्तुत की

---

[1] कबीर ग्रंथावली—पृ० १२१

[2] सहजोबाई सन्त सुधासार—पृ० १११

[3] कबीर ग्रंथावली—पृ० १२२

[4] ऋग्वेद दशम मण्डल पुरुष सूक्त।

[5] यजुर्वेद पुरुष सूक्त देखिए।

[6] महाभारत में देखिए—शान्ति पर्व—२०।२०

[7] उपनिषद् में देखिए—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां
पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा। मुण्डकोपनिषद् २।

[8] गीता

है। यह विराट् रूप भी मानसिक ही रहा। अर्जुन के अतिरिक्त इसके दर्शन कोई भी पुरुष साक्षात् चरम चक्षुओं से नहीं कर सकता। अतएव हम इस ब्रह्म विराट् सगुण रूप को निर्गुण का ही एक प्रकार मानेंगे। ऋग्वेद का पुरुष सूक्त भगवान् के इसी रूप के वर्णन में प्रयत्नवान है। उपनिषदों में भी इस रूप की झाँकी यत्रतत्र मिल ही जाती है। गीता में भगवान् के इस रूप का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। सन्त लोगों को भी भगवान् का यह रूप अपनी भावना के अनुरूप लगता था इसीलिए उन्होंने भगवान् के इस रूप के सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किये हैं। सन्त कबीर[1] ने भगवान के इस रूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'विराट् ब्रह्म करोड़ों सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित करोड़ों महादेवों की महिमा से महिमावान करोड़ों दुर्गाओं की शक्ति से शक्तिमान तथा कोटि-कोटि ब्रह्माओं के ज्ञान से विशिष्ट होते हुए भी इतना सौन्दर्यमय है कि करोड़ों कामदेव उस पर न्योछावर हैं।'

इसी प्रकार अन्य सन्तों ने भी ब्रह्म के विराट् स्वरूप का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है। भगवान् के कुछ विभिन्न रूपों में उसके पुरातन पुरुष रूप का भी उल्लेख किया जा सकता है। इस पुरातन पुरुष की कल्पना उन्होंने संभवतः ज्योति के रूप में की है। सन्त दरिया साहब[2] ने लिखा है—

पुरुष पुरान न होई अवतारा गाढ़े ज्योति करै उजियारा।
ज्योतिरूप जगत सब भाई जहाँ तहाँ पुहुपन सब दई॥

इस पुरातन पुरुष को उन्होंने कहीं-कहीं सत पुरुष चेतन पुरुष आदि भी कहा है। भगवान् के ज्योतिस्वरूप की कल्पना बहुत प्राचीन है। कठोपनिषद् में ज्योतिस्वरूपी ब्रह्म का सुन्दर वर्णन मिलता है। उसी के अनुकरण पर सन्तों ने भगवान् को ज्योति रूप या प्रकाश रूप कहा है। वह ज्योति रूप और प्रकाश रूप होते हुए भी भक्ति क्षेत्र में पुरुषोत्तम कहलाता है।[3] कबीर ने लिखा है—

परम ज्योति पुरुषोत्तमो जाके रेख न रूप।
उस ज्योति में सैकड़ों सूर्यों का प्रकाश रहता है।
कबीर तेज अनंत का मानो ऊगी सूरज सेणि[4]।

---

[1] कोटि सूर जाके परकास कोटि महादेव अरु कविलास।
दुर्गा कोटि जाके मर्दन करै ब्रह्मा कोटि बेद उच्चरै
कन्दप कोटि जाके लव न धरहिं अंतर अंतरि मनसा हरहिं। इत्यादि क० ग्रं० पृ० १७८

[2] दरियासागर पृ० २

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० १२०

[4] " " पृ० ११

इस अनंत तेज का वर्णन नहीं किया जा सकता। इसको जिसने देखा है वही जानता है—

पार ब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।[1]
कहिबे कूँ शोभा नहीं देख्या ही परवान॥

संतों ने अपने निर्गुण ब्रह्म का सगुणीकरण प्रतीकों द्वारा भी किया है। प्रतीक पद्धति भी अत्यन्त प्राचीन है। बृहदारण्यकोपनिषद् और तैत्तरीय[2] उपनिषदों में इनका संकेत मिलता है। ये प्रतीक भी दो प्रकार के दिखाई देते हैं। एक मूर्त और दूसरा अमूर्त। मूर्त प्रतीकों का वर्णन हमें बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलता है। वहाँ परमात्मा की उपासना आदित्य चन्द्र विद्युत् आकाश वायु आदि प्रतीकों के माध्यम से बतलाई गई है। तैत्तरीयोपनिषद् में ब्रह्म की उपासना क्रमशः अन्न प्राण मन ज्ञान और आनन्द रूप में बतलाई गई है। बृहदारण्यक के प्रतीक मूर्तरूप हैं और तैत्तरीय के प्रतीक अमूर्त। संतों में हमें परमात्मा के प्रतीकमय साकार स्वरूप के वर्णन अधिक मिलते हैं। हो सकता है वे वेदान्त[3] सूत्र के 'न प्रतीकेन सः' से प्रभावित होकर भगवान् के प्रतीकात्मक वर्णनों से विरत हो गये हों। उनकी वानियों में हमें केवल दो-चार स्थलों पर ही कुछ प्रतीकों की योजना मिलती है। कबीर[4] ने मन के प्रतीक से परमात्मा को वर्णन करते हुए लिखा है—

कहु कबीर को जाने भेव मन मधुसूदन त्रिभुवन देव

इसी प्रकार संत दादू[5] ने भी मन को ही ब्रह्म कहा है। भगवान् के कुछ सगुण वर्णन ऐसे हैं जिनकी मान्यता योग क्षेत्र में अधिक है। उनका संकेत हम आगे करेंगे।

योगमार्गियों के ढङ्ग पर ब्रह्म निरूपण

संत लोग जितना भक्ति और ज्ञानमार्ग से प्रभावित थे उतना ही योगमार्ग के ऋणी थे। योग दर्शन भारत का प्राचीनतम दर्शन है। ऋग्वेद तक में इसके दर्शन उपलब्ध होते हैं। इस दर्शन में ब्रह्म के सगुण-निर्गुण-रूप का ईश्वर के नाम से निरूपण किया गया है। कहीं योग दर्शन में ईश्वर की संज्ञा दी गई है। योग सूत्र में

---

[1] " " "
[2] तैत्तरीय—२।१।१।२ व बृहदारण्यक २।१
[3] वेदान्त सूत्र—४।१।४
[4] सन्त कबीर—पृ० १०
[5] परम तेज तह मन रहे परमनूर निज देखे।
परम ज्योति तह आतम खेले दादू जीवन लेखे॥ दादूबानी भाग १ पृ० ४१

लिखा है कि जो पुरुष विशेष क्लेश, कर्म विपाक तथा आशय से शून्य रहता है वह ईश्वर कहलाता है।[1] योग सूत्र भाष्य में लिखा है कि वे ईश्वर प्रकृति लीन तथा मुक्त पुरुषों से नितान्त भिन्न होता है। वह भूत भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों से अविच्छिन्न होने के कारण नित्य कहलाता है। वह गुरुओं का भी गुरु है।[2] पातंजल योग के इस ईश्वर की कल्पना का विस्तार अन्य परवर्ती योग-धाराओं में मिलता है। परवर्ती योग धाराओं में सबसे अधिक मत्स्येन्द्रनाथी और गोरखनाथी धाराएँ हैं। इन सब धाराओं का विकास और परवर्ती रूप बौद्ध तान्त्रिकों में दिखलाई पड़ता है। इन सब धाराओं में ईश्वर की अभिव्यक्ति विविध प्रकार से हुई है। स्वयं योग सूत्र में ही 'तस्य वाचकः प्रणवः'[2] लिखकर, ईश्वर की शब्दरूपता प्रकट की है। शब्द ब्रह्म की धारणा बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद[3] में इसका वर्णन आया है। कठोपनिषद्[4] में इस शब्द ब्रह्म का वर्णन करते हुए लिखा है ओम ही अक्षर कभी नाश न होनेवाला ब्रह्म है यही परब्रह्म है इसके ज्ञान से मनुष्य जिस पदार्थ की इच्छा करता है उसको प्राप्त कर लेता है। माण्डूक्योपनिषद्[5] में भी ओंकार की महिमा का बार-बार विस्तार से वर्णन किया गया है। योगमार्गी की शब्द (प्रणववाली) धारणा संतों को भी मान्य थी। इस शब्द ब्रह्म का वर्णन उन्होंने उपनिषदों के ढंग पर प्रणव के सहारे किया है। वह प्रणव या ओंकार के महत्त्व से पूर्णतया परिचित थे उन्होंने प्रणव साधना का और प्रणव के आध्यात्मिक पक्ष का अच्छा विवेचन किया है। यारी साहब[6] ने ओंकार से सृष्टि की उत्पत्ति बताकर उसका महत्त्व संकेतित किया है। किन्तु प्रणववाद उन्हें भक्ति-भाव के सदृश मान्य न था दादू[7] कहते हैं—

ओंकार थे ऊपजी विनसी बहुत विकार
भाव भगति ले थिर रहै दादू आतम सार

आगे चलकर प्रणववाद की प्रतिष्ठा कुछ कम हो चली और अनहद नाद को कुछ अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। तन्त्र ग्रंथों में प्रणववाद की व्याख्या नाद और बिन्दु के नाम से मिलती है। उनमें ब्रह्म को नादस्वरूपी माना गया है।[8]

---

[1] योगसूत्र समाधिपाद सूत्र २४
[2] योगसूत्र—१।२७
[3] ऋग्वेद—१।१६४।१०
[4] कठोपनिषद्—१।२।१६
[5] माण्डूक्योपनिषद् १
[6] यारी साहब—पृ० १४ प्रथम पद की अन्तिम दो पंक्तियाँ
[7] दादू बानी—भाग १ पृ० १६६
[8] शारदातिलक—१

पीछे पृष्ठभूमि का निर्माण करते समय हम इस विषय का विस्तार से विवेचन कर चुके हैं। यहाँ पर इतना कहना ही अभीष्ट है कि प्राचीन शब्दवाद शैव शाक्त तन्त्रों में नाद बिन्दुवाद के अभिधान से अवतरित हुआ। इस नाद बिन्दुवाद का सन्तों पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इस नाद बिन्दुवाद के अनुकरण पर ही सन्तों ने अपने निर्गुण शब्द सुरतिवाद की प्रतिष्ठा की है। दूसरे शब्दों में हम यूँ कह सकते हैं कि सन्तों का शब्द सुरतिवाद तान्त्रिकों के नाद बिन्दु का नवीन संस्करण है। नाद की महिमा का वर्णन उन्होंने अधिकतर शब्द के नाम से ही किया था। दादू[1] लिखते हैं—

सबद ही सूषिम भया सबदै सहज समान।
सबदै ही निर्गुण मिले सबदै निर्मल ज्ञान॥

शब्द का वर्णन उन्होंने कहीं-कहीं नाद के अभिधान से भी किया है। चरनदास[2] ने लिखा है—

अनहद सबद अपार दूर सूदूर है।
चेतन निर्मल सुद्ध देह भरपूर है॥
निरक्षर है ताहि और निहकर्म है।
परमातम तेहि मान परब्रह्म है॥

इस शब्द या नाद ब्रह्म को तांत्रिक लोग द्वैताद्वैत विलक्षण मानते थे द्वैताद्वैत विलक्षणवाद के दर्शन हमें बौद्ध पंडित नागार्जुन में भी होते हैं। हो सकता है कि शैवशाक्त तांत्रिक आचार्य उनसे प्रभावित हुए हों। बौद्ध आचार्य संभवतः उपनिषदों से प्रभावित हुए थे क्योंकि उपनिषदों में कहीं-कहीं पर हमें ब्रह्म का वर्णन द्वैताद्वैत विलक्षण के रूप में भी मिलता है। तांत्रिकों के द्वारा प्रतिपादित द्वैताद्वैत विलक्षणवाद मत्स्येन्द्रनाथी और गोरखनाथी धाराओं से होता हुआ संतों में पहुँचा। इन्हीं में से किन्हीं धाराओं से यह धारणा सन्तों को मिली थी उन्होंने अपने निर्गुण ब्रह्म को द्वैताद्वैत विलक्षण भी कहा है। सन्त लोगों के द्वैताद्वैत विलक्षणवाद की एक विलक्षणता थी जिसको कभी नहीं भूलना चाहिए वह आस्तिकता और सत्य की आधारभूमि पर टिका हुआ है। बौद्ध के द्वैताद्वैत विलक्षणवाद के सदृश शून्य और असत्य के ऊपर नहीं। इस दृष्टि से वे शैवशाक्त तांत्रिकों के अधिक समीप हैं और बौद्ध तांत्रिकों के कम। सन्त दरिया[3] ने इस बात का स्पष्टीकरण बहुत साफ शब्दों में कर दिया है—

---

[1] संतबानी संग्रह—भाग २ पृ० १६६।
[2] दादूबानी भाग १ पृ० १६६।
[3] दरियासागर—पृ० २७।

निरगुन[1], सर्गुन दुनहु ते न्यारा।
सत स्वरूप ज्योति निर्मल सुधारा॥

सन्त दरिया साहब के अतिरिक्त हमें द्वैताद्वैत विलक्षणवाद की झाँकी अन्य सन्तों में भी मिलती है।

मत्स्येन्द्रनाथी योगधारा में ब्रह्म का निरूपण सहज के अभिधान से मिलता है। सन्त लोग उनकी सहज सम्बन्धी धारणा से भी प्रभावित हुए थे। उनसे प्रभावित होकर ही उन्होंने ब्रह्म का निरूपण सहज के अभिधान से किया है। सहज के अतिरिक्त उसमें ब्रह्म के लिए निरंजन की[1] संज्ञा मिलती है। इस संज्ञा का प्रयोग हमें गोरखनाथी धारा में मिलता है। वहाँ पर ब्रह्म की अभिव्यक्ति अलख निरंजन तथा[2] हंस के नाम से की गई है। सन्तों ने नाथपंथ की इन दोनों धाराओं के ब्रह्मवाची शब्दों से अपने निर्गुण ब्रह्म को अभिहित किया है।

आगे चलकर बौद्ध तांत्रिकों में सहज एवं शून्यवाद का प्रवर्तन हुआ। वह लोग ब्रह्म को कभी सहज रूप कहते थे कभी शून्यरूप कहते थे और कभी सहज और शून्य दोनों विशेषणों का प्रयोग करते थे[3]। संत लोगों पर इसका भी अच्छा प्रभाव पड़ा था। इनके अनुकरण पर उन्होंने अपने यौगिक आराध्य को कभी सहज[4] कभी शून्य[5] और कभी सहजशून्य[6] दोनों कहा है। यहाँ पर एक बात स्मरण रखने की है कि बौद्ध तांत्रिकों का शून्यवाद बहुत नास्तिकों का शून्यवाद नहीं था किन्तु इतना अवश्य है कि वह पूर्ण आस्तिक भी नहीं था। कुछ तांत्रिक उसे द्वैताद्वैत विलक्षण मानते थे और कुछ उसे आस्ति और नास्ति के मध्य की वस्तु समझते थे। किन्तु संतों का शून्यवाद पूर्ण आस्तिक है। उन्होंने शून्य शब्द का प्रयोग तत्त्वरूपी परमात्मा के लिए किया है, असत और आस्ति के लिए नहीं। दादू[7] लिखते हैं—

---

[1] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० १—जो अगोचर निरंजन
क—वही पृ० ६ भाइ निरंजन नामि रहि भाखो पार हरि और
ख—वही पृ० ११ निरञ्ज निरंजन ते रहै क्यों न बताबै ताप
ग—वही पृ० २१

[2] हंस जो परम हंस जेहे—दादू भाग १ पृ० ७६

[3] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० ८८ ११वीं पंक्ति

[4] धरा बीच आकाश में सहजरूप सब ठौर—दादूबानी भाग १ पृ० २४।

[5] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० २८

[6] सहज शून्य सब ठौर है सब घट सब ही माहि—दादू—१।२१

[7] दादू भाग १—पृ० २८
२१

ब्रह्म सुन्न तहँ ब्रह्म है निरंजन निराकार।

इसी प्रकार गुलाल साहब[1] ने लिखा है—

सत्त सरूप समाईवा हो निर्गुन रूप अपार।

उनकी शब्द और निरंजन संबंधी धारणाएँ भी पूरी आस्तिक ही थीं। इन शब्दों का प्रयोग उन्होंने अपने निर्गुण ब्रह्म के लिए किया है। ब्रह्म में उठनेवाले काल्पनिक तत्त्व के लिए नहीं। हमारी समझ में उन्होंने बौद्ध-तांत्रिकों और नाथपंथी योगियों में प्रयुक्त होनेवाले ईश्वरवाचक सभी शब्दों का प्रयोग ज्योतिस्वरूपी और नादस्वरूपी ब्रह्म के लिए किया है। नाथपंथियों और सिद्धों में ब्रह्म के लिए खसम शब्द का प्रयोग भी किया गया। उसी अनुकरण पर संतों ने भी परमात्मा को खसम कहा है। पलटू साहब[2] लिखते हैं—

"कोई खसम को भाग से परिचै नाहीं"—

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों ने अपने निर्गुण ब्रह्म का निरूपण ज्ञान भक्ति और योग मार्गियों के अनुकरण पर करते हुए भी इन सबके यहाँ संबंधी धारणाओं से थोड़ा विलक्षण रक्खा है। इस विलक्षणता का कारण उपर्युक्त तीनों मार्गों की विविध पद्धतियों और साधनाओं से प्रभावित होना है। इनके ब्रह्म निरूपण को केवल ज्ञानमार्गी इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि उसमें सगुण और निर्गुण दोनों रूपों की प्रतिष्ठा की गई है फिर भी उन्होंने द्वैतवाद का जिसके प्रति श्रुति[3] ग्रन्थों तक में आस्था प्रकट की गई है। खंडन किया है उसे हम केवल भक्तिमार्गी इसलिए नहीं कह सकते कि उसमें सर्वत्र निर्गुण का आग्रह बहुत अधिक मिलता है। इस निर्गुण के आग्रह के कारण ही वे द्वैतवाद और अवतारवाद को नहीं अपना सके हैं। भक्तिमार्गीय भगवान् की आधारभूमि यही दो हैं। इसे हम शुद्ध यौगिक ब्रह्म निरूपण भी नहीं कह सकते। क्योंकि योग में अधिकतर सगुण निर्गुण ब्रह्म के रूप का वर्णन किया गया है। किन्तु सन्तों में हमें शुद्ध निर्गुण का आग्रह ही प्रमुख दिखलाई पड़ता है। वास्तव में उनका ब्रह्म निरूपण अपनी मौलिक पद्धति पर विकसित हुआ है। वह शुद्ध ज्ञान

---

[1] गुलाल साहब की बानी—पृ० १८

[2] पलटू साहब भाग १ पृ० १२

[3] मुण्डकोपनिषद्—३।१।१

ब्रह्म दृश्यमों प्रथमः सं बभूव विश्वस्य कर्ता—

और

ब्रह्म सूत्र के ३।१।२ में भी द्वैतवाद की ध्वनि मिलती है। ऋग्वेद का द्वैतवाद तो प्रसिद्ध ही है।

मार्गीय होते हुए भी भक्तिमार्गीय और योगमार्गीय ब्रह्म स्वरूपों से प्रभावित होने के कारण बहुत विलक्षण है। अपनी इस विलक्षणता और मौलिकता के कारण ही इतना प्रभावशाली प्रतीत होता है।

बहुदेववाद की निन्दा

सन्त लोग बहुदेववाद के कट्टर विरोधी थे यह हम ऊपर दिखा आये हैं। इसीलिए उन्होंने जिस प्रकार मूर्तिवाद का खंडन किया है उसी प्रकार बहुदेववाद पर भी कुठाराघात किया है। बहुदेववाद वास्तव में उनकी अन्तर्मुखी साधना के विरोध में भी था। इसलिए ब्रह्म के उपासक 'बाहिरजामी' भगवान् और देवताओं की पूजा को विशेष महत्व भी कैसे सकते थे। सन्त पलटू[1] ने लिखा है—

ब्रह्म बिस्नु महेस न पुजिहौं ना मूरत चित देहौं।
जो प्यारा मोरे घट माँ बसतु है वाही को माथ नवैहौं॥

सन्त कबीर[2] ने बहुदेववाद के खंडन में एक बहुत बड़ा व्यवहारिक तर्क सामने रखा है। वह लिखते हैं—जो राम को छोड़कर अन्य देवी देवताओं में लगे रहते हैं उनकी दशा वेश्या के पुत्र के समान रहती है। जिस प्रकार वेश्या का पुत्र नहीं कह सकता कि उसका पिता कौन है उसी प्रकार बहुदेवोपासक भी नहीं कह सकता कि उसका आराध्यदेव कौन है।

बहुदेवोपासना के विरोध में सन्त दादू ने वही तर्क दिया है जो सन्त मलूकदास ने अवतारवाद के विरोध में दिया है। वह लिखते हैं पीर पैगम्बर सेख मसाइख तथा शिव विरंचि आदि सब देवता मरणशील हैं। उनका अन्त अवश्यम्भावी रहता है। केवल एक अखण्ड ब्रह्म ही शाश्वत और चिरंतन है।[3] सन्त सुन्दरदास[4] ने बहुदेवोपासक आत्मा की तुलना व्यभिचारिणी से की है—

जो हरि कूँ तजि आन उपासत सो मतिमन्द फजीहत होई।
ज्यूँ अपने भरतारहि छाड़ि भई विभिचारिणि कामिनी कोई॥

---

[1] पलटू साहिब—भाग १—पृ० २

[2] राम पियारा छाड़ि करि करै आन का जाप।
बेस्वा केरा पूत ज्यूँ कहै कौन सूँ बाप॥ कबीर ग्रंथावली—पृ० ६

[3] पीर पैगम्बर सेख मसाइख सिव विरंच सब देवा रे।
कलि माया सो कोइ न रहसी रहसी अलख अभेवा रे॥ श्रीदादूदयाल की बानी भाग १ पृ० १२७

[4] सुन्दर विलास—पृ० ८०

इसी प्रकार अन्य सन्तों ने भी बहुदेवोपासना का दृढ़ता से खंडन किया है।

सन्तों का आत्म विचार

सन्तों के जीवन का लक्ष्य अध्यात्म चिंतन था।[1] आत्मविचार अध्यात्म का बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। वास्तव में यह एक कठिन साधना है कठोपनिषद् में उस साधना की ओर संकेत करते हुए लिखा है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्[2] ॥

अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है इसीलिए वे केवल बाहरी वस्तुओं को देख पाती हैं प्रत्यगात्मा को नहीं। कोई विरला महात्मा ही अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके आत्मदर्शन अर्थात् आत्मचिंतन में मग्न होता है। आत्म-निरूपण का इतिहास बहिर्मुखी इन्द्रियों की अन्तर्मुखी यात्रा का ही इतिहास है। मनुष्य ज्यूँ-ज्यूँ स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख होता है उसकी आत्मा संबंधी धारणा भी उतनी ही सूक्ष्मतर होती जाती है। अध्यात्म क्षेत्र में आत्मा के संबंध में जो विविध मत मिलते हैं उनका प्रमुख कारण यही है। आचार्य गौड़पाद ने अपनी कारिकाओं में और आनन्द गिरि ने अपनी टीका में आत्मा संबंधी लगभग पैंतीस धारणाओं का संकेत किया है।[3] कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख वेदान्तसार[4] में भी किया गया है। आत्मा के संबंध में वेदान्तसार में जो विविध मत दिये गये हैं उन मतों के प्रवर्तकों ने अपने-अपने मत के पोषण में श्रुतियों से प्रमाण भी दिये हैं। इन प्रमाणों के आधार पर ही कुछ लोगों ने पुत्र को आत्मा कहा है।[5] कुछ लोग शरीर को आत्मा[6] मानते थे कुछ इन्द्रियों को आत्मा कहते थे[7] कुछ प्राण को आत्मा[8] सिद्ध करते थे। कुछ एक ने मन को ही आत्मा के रूप में देखा[9] था, कुछ मन को ही आत्मा का स्वरूप समझते[10] थे। बहुतों

---

[1] आतम विचार करै ध्यानै परमातम का ध्यान लगावै। सं० ब० सं० भाग १, पृ० १०१
[2] कठोपनिषद्—२।१
[3] देखिए गौड़पाद वेदान्त टी० एम० पी० महादेवन्। पृ० ११८-१२२
[4] देखिए वेदान्तसार हीरियन्ना द्वारा सम्पादित पृ० ७
[5] वेदान्तसार पृ० ७
[6] मेथड आफ कोन्टलेम्स इन हिन्दू फिलासफी पृ० २९-२२
[7] वेदान्तसार पृ० ७
[8] " "
[9] मेथड आफ कांटम्पनेस इन हिन्दू फिलासफी पृ० २९
[10] वेदान्तसार पृ० ६-७

ने प्राणमन को ही आत्मा सिद्ध करने की चेष्टा की[1] थी। बहुत से अज्ञानोपहित चैतन्य को आत्मा स्वीकृत करते[2] थे। कुछ शून्यवादी थे, वे शून्य को ही आत्मा समझते[3] थे। किंतु श्रुतियों में उपर्युक्त मतों के पोषक प्रमाणों के साथ साथ बाधक प्रमाण भी मिलते हैं।[4] यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि श्रुतियों ने एक बात का मंडन करके खंडन क्यों किया। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि श्रुतियों में अध्यात्म चिंतन का क्रमिक विकास दिखाया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् के भृगुवारुणी संवाद में आत्मा के क्रमिक विकास का इतिहास अत्यन्त संक्षेप में व्यक्त किया गया है। जिस प्रकार उस प्रसंग में साधक को आत्मा की सूक्ष्म आनन्द रूप की अनुभूति सबसे अंत में हुई थी। साधना के प्रारम्भ में आत्मा का अनुभव उसे अन्न प्राण मन और विज्ञान आदि के रूप में हुआ था।[5]

किंतु ये सब आत्मा के वास्तविक रूप नहीं थे। आत्मा का वास्तविक रूप आनंद था। उसकी उपलब्धि साधक को सबसे अंत में हुई थी। इसी प्रकार अन्य उपनिषदों में जहाँ आत्मा के चरम और अंतिम स्वरूप का निरूपण मिलता है वहीं उसके प्रारम्भिक स्वरूपों का उल्लेख भी किया गया है। आत्मा के संबंध में जिन विविध मतों का उल्लेख गौड़पाद की कारिकाओं आनंद गिरि की टीका और वेदान्तसार आदि ग्रंथों में किया गया है वे सब उसके प्रारम्भिक स्वरूपों से ही संबंधित हैं। आत्मा का वास्तविक स्वरूप इन सबसे भिन्न माना जाता है।

श्रुति और वेदान्त ग्रंथों का मंथन करके सदानंद ने वेदान्त सम्मत आत्मा के स्वरूप का निरूपण निम्नलिखित एक बड़े वाक्य में किया है[6]।

'अतस्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्त सत्यस्वभावं प्रत्यक्
चैतन्यमेवात्मवस्त्विति वेदान्तविद्नुभवः।'

अर्थात् आत्मा स्वयं प्रकाश रूप है वही सबको प्रकाशित करती है। यह नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्त तथा सत्य स्वभाववाली भी होती है। उसको प्रत्यक् चैतन्यरूप मानते हैं। श्रुतियों में उसका वर्णन प्रत्यक्, स्थूल, अपञ्च, अप्राण, अमन, अकर्ता, चैतन्य, चिन्मात्र और चैतन्य कहकर आत्मा संबंधी उपर्युक्त अन्य मतों से उसकी विशिष्टता

---

१ वेदान्तसार पृ० ७
२ " पृ० ७
३ वही
४ वही पृ० ८
५ देखिए तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली—एकादशोपनिषद् पृ० २८१ १९९
६ वेदान्तसार श्री हरियन्ना द्वारा सम्पादित पृ० ८

प्रतिपादित की गई है[१]। सन्तों की आत्मा संबंधी धारणा वेदान्त से बहुत अधिक प्रभावित है। श्रुति[२] और वेदान्त ग्रंथों में इसकी जो विशेषतायें अंकित की गई हैं उनका ही सन्त लोगों ने भी प्रतिपादन किया है।

आत्मा की स्वयं प्रकाशरूपता—उपनिषदों[३] में तथा आत्मा का निरूपण करनेवाली प्रत्यक् तत्त्व प्रदीपिका[४] पंचदशी[५] आदि वेदान्त ग्रंथों में आत्मा की स्वयं प्रकाशरूपता पर विशेष बल दिया गया है। आत्मा की स्वयं प्रकाशरूपता से सन्त लोग पूर्णतया परिचित थे। सन्त सुन्दरदास ने उसकी इस विशेषता का बड़े विस्तार से उल्लेख किया है। वह लिखते हैं कि जिस प्रकार दीप अपनी ही ज्योति से प्रकाशित होता है, हीरा अपने तेज से प्रकाशित होता है उसी प्रकार आत्मा भी अपने प्रकाश से ही प्रकाशित होती है[६]।

आत्मा की नित्य शुद्ध बुद्ध और सत्यस्वरूपता—वेदान्त के समान ही संत लोग भी आत्मा को नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त और सत्यस्वरूप मानते थे। उदाहरण के लिए हम संत सुंदरदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं[७]।

आत्मा अखंड बुद्ध शुद्ध निर्बंध नित।
सत्य करि माने सो तो शास्त्र की प्रमान है॥

आत्मा की चैतन्यस्वरूपता—आत्मा की चैतन्यता के संबंध में दार्शनिकों में बड़ा मतभेद[८] है। यहाँ पर स्थानाभाव के कारण उन मतभेदों का विवेचन नहीं

१ वेदान्त सार पृ० ८
२ बृहदारण्यक ४।३।१७ कठोपनिषद् २।१५ छान्दोग्योपनिषद् ८।१२।३
३ कठोपनिषद् २।२।१५।
४ चित्सुखाचार्य की प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका में देखिए

अपरोक्ष व्यवहारे योग्यस्याधीपदस्य वा।
सम्भवे स्व प्रकाशस्य लक्षणा सम्मता कुतः ॥ १ ॥
चिद्रूपत्वाद् कर्मत्वात्स्वयं ज्योतिरिति श्रुतेः
आत्मनः स्व प्रकाशत्वं को निवारयितुमक्षमः ॥ १-३

५ संध्यारास्त परिवर्त्तमानसः कदाचन
स्वयं प्रकाश मुख्यं स्वस्वात्वेन चेतनम्। पंचदशी ३।२२
६ दीप के तेज सों दीपक दीसत हीरे के तेज हीरो दिखावै।
तैसें सुन्दर आतम आपु आप के ज्ञान आप प्रकासै॥ सुन्दरविलास पृ० १७६।
७ सुन्दरविलास—पृ० १६६।
८ दार्शनिकों के मतभेदों के लिए देखिए—
नेचर आफ कॉन्शसनेस इन हिन्दू फिलासफी डॉ० सा० सक्सेना अध्याय २।

कर रहे हैं। इस क्षेत्र में संत लोग वेदान्तियों के ही अनुयायी थे। वह आत्मा की चैतन्यरूपता में पूर्ण विश्वास करते थे। वेदांत के अनुरूप वे उसे साक्षी रूप भी मानते थे। संत सुन्दरदास ने लिखा[1] है—

आत्मा चैतन्यरूप व्यापक साक्षी अनूप।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों ने आत्मा का निरूपण बिल्कुल वेदांत के अनुरूप ही किया है।

आत्मा की सूक्ष्मता—संत लोगों ने आत्मा को सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अरूप भी माना है। संत सुन्दरदास ने उसका वर्णन करते हुए लिखा[2] है—

आत्मा अरूप अति सूक्ष्म से सूक्ष्म है।

आत्मा की जीव प्राण मन आदि से भिन्नता—अभी हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि श्रुति और वेदांत ग्रन्थों में आत्मा को जीव, प्राण, मन, बुद्धि और देह आदि से भिन्न माना गया है। संत लोग भी आत्मा को जीव, प्राण, मन, बुद्धि और देह से विलक्षण मानते थे। उनके मतानुसार आत्मा जब शरीर के संयोग से इन्द्रियों के अधीन होकर अपने को भूल जाता है तभी जीव कहलाता[3] है। इस बात को संत सुन्दरदास ने एक दूसरे स्थल पर और अधिक स्पष्ट कर दिया है। वह कहते हैं—देह का संयोग पाकर आत्मा जीव नाम को धारण करती है। उस समय आत्मा से उसका वही संबंध रह जाता है जिस प्रकार आकाश और घटाकाश का संबंध होता है। और आत्मा शुद्ध आकाश की भांति[4] वही दोनों में अंतर है।

संतों ने आत्मा से प्राण, मन, देह आदि की भिन्नता की ओर भी संकेत किया है। संत सुन्दरदास ने लिखा है—लोग भ्रम से प्राण मन और देह के दुख-सुखों को ठीक उसी तरह से आत्मा के दुःख समझ बैठते हैं जिस प्रकार वायु के प्रवेग से कांपते हुए जल को देखकर लोग समझने लगते हैं कि प्रतिबिम्ब कांप रहा है।[5]

1 सुन्दरविलास—पृ० ११९।

2 वही पृ० १००।

3 देह को संयोग पाइ इन्द्रिन के बस पर्यो।
आप ही कूँ आप भूलि गयो सुख चाहि कैं॥ सुन्दरविलास—पृ०

4 देह को संयोग पाइ जीव ऐसो नाम भयो।
घट के संयोग घटाकाश ही कहायो है॥ सुन्दरविलास पृ० १०९

5 ज्यों जल हालत है अति जोर।
सरै भ्रम तें प्रतिबिम्बहि काँपै॥
देह के प्राण के और मन के दुख।
मानत है सब मोहि को व्यापै॥ सुन्दरविलास पृ० ९२

आत्मा और ब्रह्म की एकता—आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन श्रुति और अन्य वेदान्त ग्रंथों में बराबर किया गया है—

अयमात्मा ब्रह्म आत्मैवेदं सर्वं आदि।

इस तत्त्व की ओर संकेत करते दिखाई पड़ते हैं। वेदान्त के इस तत्त्व में संत लोग पूर्ण विश्वास करते थे। प्रमाणस्वरूप में हम मीरा की निम्नलिखित पंक्ति दे सकते हैं।[1]

आतम राम अखण्डित पूरन ब्रह्म स्वरूप अकार।

इसी प्रकार कबीर[2], दादू[3], गुलाल[4] आदि संतों ने आत्मा को राम कहा है। इसीलिए ब्रह्म के बहुत से अभिधान आत्मा के भी अभिधान बन गये हैं। योग के क्षेत्र में यह बात और भी स्पष्ट रूप से लागू होती है इसीलिए संतों द्वारा प्रयुक्त निरंजन सहज आदि शब्द ब्रह्म के वाचक होने के साथ ही साथ आत्मा के वाचक[5] भी हैं।

जीव और उसका स्वरूप—अभी हम ऊपर स्पष्ट कर आये हैं कि आत्म ब्रह्म ही शरीर से परिच्छिन्न होकर जीव कहलाने लगता है। इसीलिए जीव का वर्णन भी बहुत से संतों ने ब्रह्म के अनुरूप ही किया है। कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में जीव का वर्णन ब्रह्म निरूपण की नकारात्मक शैली में बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है।[6]

ना इहु मानुष ना इहु देवा ना इहु जती कहावै सेवा।
ना इहु मानुष ना इहु अवधूता ना इस माइ न काहू पूता॥
या मन्दिर महि कौन बसाई ता का अंत कोउ न पाई।
ना इहु गिरही ना ओदासी ना इहु राजा न भीख मंगासी।
ना इहु पिण्ड ना रकतू राती ना इहु ब्रह्मन ना इहु खाती॥
ना इहु तपा कहावै सेख ना इहु जीवै मरता देख।
इहु मरते को जे कोउ रोवै। जो रोवै सोई पति खोवै॥ इत्यादि

---

[1] मीरा सागर पृ० ३९

[2] आतम राम अवर नहिं दूजा। कबीर ग्रंथावली पृ० ११९

[3] दादू आतम राम को सदा रहै ल्यौ लाई। दादू १।८४

[4] आतम राम अकल कल पाई। गुलाल साहेब पृ० ११६

[5] निरंजन का आत्मा रूप में कबीर ने उल्लेख किया है—
निज इच्छक निरंजना निराकार अपरम्पार अपार। कबीर ग्रं० पृ० २२०
इसी प्रकार सहज को भी आत्मा रूप कहा गया है। देखिए दादू बानी भाग १ पृ० ११

[6] कबीर ग्रंथावली पृ० २०१

इसी प्रकार जीव वर्णन में ब्रह्म निरूपण की अन्य शैलियों का उपयोग भी सन्तों ने किया है।

जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध—सन्तों के मतानुसार जीव में आत्म और अनात्म दोनों तत्त्व मिले रहते हैं। किन्तु ब्रह्म शुद्ध आत्म मात्र होता है। जीव और आत्मा का यह अन्तर ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है। सन्त लोग आत्मा को ब्रह्म क्यों मानते थे। यह विचारणीय है सभी सन्त लोग वेदान्त मत के अनुयायी थे। आगे हम इस कथन की पुष्टि सप्रमाण करेंगे। यहाँ पर केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि वे लोग वेदान्त के अनुयायी थे और इसी के अनुकरण पर उन्होंने आत्मा को ब्रह्म रूप माना है। पीछे हम इस बात का स्पष्टीकरण कर भी चुके हैं। ब्रह्मस्वरूपी आत्मा जब अहंकार से तिरोहित हो जाता है तब उसे जीव कहने लगते हैं। सन्त[1] सुन्दरदास ने इसी बात का समर्थन करते हुए लिखा है—अहंकार ही ब्रह्म को ब्रह्म जीव बना देता है—आगे वह पुनः लिखते हैं—जीव को कर्म बंधन संसार में बाँध लेते हैं—इसीलिए वह स्वतन्त्र से परतन्त्र हो जाता है।[2]

सन्त लोग ब्रह्म और जीव में अंशांशि भाव सम्बन्ध भी मानते थे। कबीर[3] ने 'कहु कबीर यहु राम को अंस जस कागद पर मिटे न मंसु'—भीखा साहब[4] ने—'जीव कहावो ब्रह्म अंस' और सुन्दरदास[5] ने—'सुखनिधान परमातम आतम अंस' लिखकर इसी तथ्य का समर्थन किया है। अब प्रश्न यह है कि सन्तों का अंशांशि भाव किस दर्शन के अनुकूल है क्योंकि उसकी प्रतिष्ठा अद्वैतवाद द्वैताद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद इन तीनों दर्शनों में मिलती है। इस विषय का विस्तृत विवेचन सन्तों की दर्शन पद्धति के अन्तर्गत किया जायेगा। यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि सन्तों का अंशांशि भाव पूर्ण अद्वैती है। इसका मुख्य प्रमाण यही है कि उसकी अभिव्यक्ति अद्वैत वेदान्त के ही विशिष्ट शब्दों और सिद्धान्तों द्वारा ही की गई है। अद्वैतवाद का सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद का है। बादरायण के 'आभास[6] एव च' और 'अतएव[7]

---

[1] सन्त सुन्दरदास की १ सौ पंक्तियाँ सुन्दर विलास पृ० ११

[2] गोविन्द के किये जीव जात परमनि के। सन्त सुधासार पृ० ६११

[3] कबीर ग्रंथावली—पृ० २०१

[4] भीखा साहब की बानी—पृ० ४०

[5] सन्त सुधासार खं० १ पृ० ६१०

[6] ब्रह्मसूत्र—२।३।५०

[7] ब्रह्मसूत्र—३।२।१८

योरमा पूर्व आदित्य[1] इसके प्रमाण हैं। सन्त सुन्दरदास[2] की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रतिबिम्बवाद का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—

सुन्दर मद्य सर्वारिके राम्मी कौच लगाइ।
दैव योग सुनहा गयो एक अनेक दिखाय॥

वेदान्त का दूसरा सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त विवर्तवाद या अध्यारोपवाद का है। इसकी अभिव्यक्ति इस दर्शन से सर्प और रज्जु रजत और शुक्ति आदि के दृष्टान्त से की गई है। संत सुन्दरदास ने इन दृष्टान्तों को ज्यों का त्यों दोहरा दिया है उन्होंने लिखा है[2]—जिस प्रकार आदि में रज्जु और शुक्ति में रजत का भ्रम हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म जीव जगत् आदि भिन्न रूपों में भासित होने लगता है। यह ठीक मृग-मरीचिका के सदृश होता है। इन उदाहरणों से प्रकट है कि सन्तों का दृष्टिकोण पूर्ण अद्वैती है। ऐसी अवस्था में उनका संसारादि भाव अद्वैती ही माना जायेगा। द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैती नहीं।

कुछ लोगों की धारणा है कि सन्तों में कुछ ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं जिनका प्रयोग द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैतवादियों ने किया है। उनका समाधान क्या होगा इसके उत्तर में मैं यही कहूँगा कि इस प्रकार के दृष्टान्त इने-गिने हैं। उनको हम उपर्युक्त दर्शन पद्धतियों का प्रमाण मात्रमान सकते हैं। ऐसी अवस्था में उनका ग्रहण अर्थवाद के रूप में ही किया जाना चाहिए सिद्धान्त के रूप में नहीं। सन्तों की दर्शन पद्धति के प्रकरण में यह बात और अधिक स्पष्ट कर दी जायेगी।

जीव की एकता और अद्वैतता—सन्तों के संसारादि भाव के विवेचन के प्रसंग में जीव की एकता और अनेकता का प्रसंग भी सामने आ जाता है। सन्तों ने जीव को एक माना है या अनेक इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं। सभी सन्त जीव को एक और अद्वैत मानते थे। सन्तों का विश्वास था कि जीव एक और अद्वैत होता है देह भेद से उसमें भेद दिखाई पड़ता है। सन्त[3] सुन्दरदास ने आत्मा की एकता और अद्वैतता प्रतिपादित करते हुए लिखा है—यह अद्वैत और एक आत्म तत्त्व ही उपाधि भेद से अनेक दिखाई पड़ता है। कबीर[4] ने भी लिखा है—

या करीम बलि हिकमति तेरी।
खाक एक सूरति बहु तेरी॥

---

[1] सन्त सुधासार—पृ० ६३१

[2] भासत है कुछ और को औरहि ज्यूँ रज्जु मैं अहि सीप मैं रूपा।
देख मरीच उन्हों लिखि विसम व्यापन नाहीं यहै रवि धूपा ॥ सु० वि० पृ० १७०

[3] सु० वि० पृ० ११६ १० वाँ पद

[4] कबीर ग्रंथावली—पृ० १ ८

इसी प्रकार संत सुन्दरदास[1] ने एक दूसरे स्थल पर लिखा है कि जिस प्रकार भिन्न भिन्न पदार्थों से भरे हुए विविध घटों में एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब अनेक और विविध रूपों में दिखाई पड़ता है उसी प्रकार एक ही आत्मा उपाधिरूप शरीर के भेद से भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ता है। भीखासाहब[2] इस बात का स्पष्टीकरण जल और स्वर्ण के दृष्टांत से इस प्रकार करते हैं—जिस प्रकार समुद्र दरिया जल कूप लहर बूँद इन सब में जलतत्त्व ही रहता है किंतु फिर भी ये भिन्न-भिन्न भासित होते हैं। जिस प्रकार एक ही स्वर्ण अनेक प्रकार के आभूषणों में परिणत हो जाता है तथा जिस प्रकार एक ही मिट्टी से अनेक प्रकार के बर्तन बनते हैं उसी प्रकार एक आत्म तत्त्व ही उपाधिभेद से अनेक और भिन्न भिन्न नाम रूपवाला दिखाई पड़ता है।

यदि विभिन्न दर्शनों के जीव निरूपणों के प्रकाश में उपर्युक्त उद्धरणों का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि संतों का दृष्टिकोण पूर्ण अद्वैती ही था। सांख्यवादी और विशिष्टाद्वैतवादी जीवों की अनेकता में विश्वास करते हैं। संत लोगों का जीव एकत्ववाद सांख्यवादियों और विशिष्टाद्वैतवादियों से किसी भी प्रकार मेल नहीं खा सकता। अद्वैतवाद में जीव को एक और अनेक दोनों ही कहा गया है। अनेकता उपाधिमूलक बताई गई है[3]। इससे स्पष्ट है कि ये अद्वैत वेदांत के अनुयायी थे।

जन्मान्तरवाद—यहाँ पर जीव के जन्मान्तरवाद का प्रश्न सामने आ जाता है। संत लोग जन्मांतरवाद में आस्था रखते थे। उनका विश्वास है कि जीव अपने कर्मों के अनुरूप जन्म धारण करता है। उसका मन माया में लिप्त रहता है। जब तक इस मायाजनित अज्ञान के आवरण का निराकरण नहीं होता तब तक जीव की मुक्ति नहीं होती। और जब तक मुक्ति नहीं होती तब तक जीव चौरासी लाख योनियों में भटकता रहता है और कष्ट उठाता रहता है। इससे स्पष्ट है कि संसार में दुख का कारण अज्ञान ही है। संत लोगों ने यह बात अनुभव कर ली थी। सन्त सुन्दरदास[4] ने लिखा है—

---

[1] सुन्दरविलास—पृ० ११९।

[2] भीखासाहब—पृ० ५१ स्वाव्दौ रेखता।

[3] आकाशमेकं हि यथा घटादि पृथक् भवेत्।
तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्॥
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ ब्रह्मबिन्दु—११।१२।

[4] सुन्दरविलास—पृ० १००।

काय भगवान न रह्यो कमि अंतर जानि सकै नहिं आतम मूला।
सुन्दर यूँ उपजे मन के भ्रम ज्ञान बिना निज रूपहिं भूला॥

इस अज्ञान का निराकरण भगवान् की कृपा से हो सकता है। भगवान् की कृपा पूर्ण आत्मसमर्पण से ही संभव है। भीखा[1] साहब ने निम्नलिखित पद में लगभग इसी भाव की अभिव्यक्ति की है—

कृपा कटाच्छ भेहि तें प्रभु छूटि जाय मम माया।
सोवत मोह निसा निसबासर तुमही मोहिं जगाया॥
जनमत मरत अनेकबार तुम सतगुरु होय बताया।
भीखा केवल एक रूप हरि व्यापक त्रिभुवन राया॥

फिर इसी के आगे दूसरा पद प्रपत्तिभाव का[2] है।

शरनागत दीन दयाला की प्रभुवर आपुस प्रतिपाला की।

यहाँ पर यह विचारणीय है कि संतों के जन्मांतरवाद की धारणा बौद्धदर्शन के अनुरूप है या भौतदर्शन के जन्मान्तरवाद की मान्यता दोनों ही दर्शनों में है किंतु दोनों की धारणाओं में अंतर है। बौद्ध लोग अनात्मवादी होते हैं। आत्मा या जीव में विश्वास नहीं करते अतः वे केवल संस्कारों का-सा विज्ञानमात्र का ही जन्मान्तर मानते हैं। किंतु भौतदर्शन में प्रज्ञानोपहित व्यष्टि आत्मा जिसे जीव कहते हैं उसका पुनर्जन्म माना गया है संतों की पुनर्जन्मवाद की धारणा भौतदर्शन के अनुरूप थी। वे जीव का ही जन्मान्तर मानते थे। संत कबीर ने लिखा[3] है—

लख चौरासी जीव जोनि महिं भ्रमत नंदु बहु थाको रे।

प्राण और जीव—यहाँ पर हम थोड़ा-सा विचार संतों की प्राण संबंधी धारणा पर भी कर लेना चाहते हैं। वैदिक साहित्य में प्राण शब्द का अनेक बार और अनेक अर्थों में प्रयोग मिलता है। प्राण का वर्णन ऋग्वेद में भी कई स्थलों पर आया है। प्रथम मण्डल में दिया हुआ एक वर्णन इस प्रकार[4] है—इस शरीर में प्राण की स्थिति अन्न के द्वारा रहती है। यह मल-मूत्रादि के निकालने के लिए अधो-

---

[1] भीखा साहब की बानी—पृ० २१।

[2] वही पृ० २१।

[3] कबीर ग्रंथावली—पृ० ११२।

[4] ऋग्वेद—१।१६४।३८।

अपाङ्प्राङेति स्वधया गृभीतो मर्त्योमर्त्येन सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥ ४

—पृ० १००आनन्दाश्रम संस्करण।

भाग में आया करता है तथा स्वास के लिए मुख आदि ऊर्ध्वभाग में संचरण करता है। वह मृत्युरहित है परंतु वह मरणशील शरीर के साथ रहता है। शरीर और प्राण विविध व्यापार सम्पन्न है तथा आपस में विरुद्ध है क्योंकि मृत्यु हो जाने पर शरीर नष्ट हो जाता है। प्राण किसी लोकान्तर में चला जाता है। इस वर्णन का यदि मनोयोग पूर्व अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट अनुभव होगा कि प्राण आत्मा और जीव के सदृश होते हुए भी उनसे भिन्न है[1]। छान्दोग्य[2] कौषीतकि[3] प्रश्नोपनिषद् में प्राण को इन्द्रियों में श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। तो फिर प्राण भी एक इन्द्रिय ही है। यह भी नहीं कह सकते क्योंकि वह सर्वशक्तिमान है। वह इस विश्व का धारक है उसी की शक्ति से आकाश अपने स्थान पर स्थित है। उसी तरह छोटे से छोटे जीव से लेकर बड़े से बड़े जीव को वही धारण किये हुए है।[4] आगे चलकर बादरायण[5] ने प्राणस्तथानुगमात सूत्र से प्राण की ब्रह्मरूपता की ओर संकेत किया है। उपर्युक्त उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राण शरीर और आत्मा के संयोग से उत्पन्न होने वाला कोई तत्त्व है किंतु उसे जीव भी नहीं कह सकते क्योंकि जीव के सदृश मूल में आत्म तत्त्वरूपी नहीं होता है। हमारी समझ में प्राण जीव से भी विलक्षण वस्तु है।

संतों की प्राण संबंधी विचारधारा का विश्लेषण करने पर ऐसा अनुभव होता है कि वे प्राण के संबंध में बहुत स्पष्ट नहीं हैं। संत कबीर ने एक स्थल पर उसका प्रयोग जीव के अर्थ में किया है।[6]

प्राण प्यण्ड को तजि चले।
मुआ कहै सब कोई॥

दादू ने भी प्राण का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। वह लिखते हैं।[7]

घट परिचैं सब घट लखैं प्राण परीचैं प्राण।
ब्रह्म परिचै पाइए दादू है हैरान॥

---

[1] श्रुतियों में इनका भेद अनेक स्थलों पर व्यक्त किया गया है। पीछे हम इसका संकेत कर आये हैं।

[2] छान्दोग्य ५।१

[3] कौषीतकि २।१४

[4] प्रश्नोपनिषद् २।१।१२

[5] ऐतरेयआरण्यक २।१।६

[6] वेदान्त सूत्र १।१।२८

[7] कबीर ग्रंथावली पृ० ६२

[8] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० ८०

यहाँ पर उन्होंने प्राण को आत्मा से भिन्न जीव के अर्थ में प्रयुक्त किया है। दादू[1] ने एक स्थल पर प्राण सुरति और ब्रह्म के संबंध पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—ब्रह्म भूमि है, प्राण वृक्ष है और सुरति फल है। यहाँ पर उन्होंने स्पष्ट प्रकट किया है कि ब्रह्म तो आत्मा का द्योतक है, सुरति जीव है और प्राण इन दोनों में विलक्षण तत्व है। हमारी समझ में यह जीव का वायुमूलक रूपान्तर है। क्योंकि अज्ञानोपहित चैतन्य जीव कहलाता है। उसका वायुमूलक रूप प्राण कहलाता है। संतों ने इसे पवन की संज्ञा दी है। संतों ने पवन साधना के अभिधान से इस प्राण साधना का वर्णन किया है जिसका विस्तृत विवेचन पैराग्राफ में किया गया है। साधना प्रकरण में उस पर विचार किया जायेगा। यहाँ पर इतना ही कहना अभीष्ट है कि संत लोग जीव के वायुमय रूपान्तर की महिमा से भी परिचित थे।

सुरति और जीव—यहाँ पर हम सुरति के ऊपर भी थोड़ा सा विचार कर लेना चाहते हैं। हिंदी जगत् में संतों के जिन बहुत से पारिभाषिक शब्दों के संबंध में भ्रांति फैली हुई है उनमें सुरति भी एक है। इस पर विस्तृत विचार तो योग के प्रकरण में करेंगे। यहाँ पर केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार प्राण शब्द अज्ञानोपहित आत्मा का वायुमय रूपान्तर है, उसी प्रकार सुरति भी जीव का ही रूपान्तर है। सुरति को संत लोग आत्मा से भिन्न मानते थे। संत दादू[2] ने लिखा है—जिसकी सुरति जहाँ रहती है वहीं उसे विश्राम मिलता है। यदि किसी ने अपनी सुरति माया में लगा रक्खी है तो उसे उसी में आनन्द मिलता है और जिसने आत्मारूपी राम में केन्द्रित कर रक्खी है उसको वहीं शांति मिलती है। यहाँ पर सुरति को स्पष्ट ही आत्मा से भिन्न माना गया है। संत लोग उसे जीव से भी भिन्न मानते थे। संत दादू[3] ने लिखा है—

> बिरह जगावै दरद को दरद जगावै जीव।
> जीव जगावै सुरति को पंच पुकारैं पीव॥

इन पंक्तियों में सुरति को जीव से भिन्न माना गया है। इन पंक्तियों में यह व्यक्ति किया गया है कि सुरति तभी प्रबुद्ध हो सकती है जब जीव स्वयं प्रबुद्ध होकर उसे जगावे। इससे प्रगट है कि यह जीव से भी सूक्ष्म तत्व है। यह मन चित्त से भी भिन्न है। रज्जबजी ने लिखा है[4]—

---

[1] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० २८

[2] जिसकी सुरति जहाँ रहै तिस का तहँ विश्राम।
माया मायो मारि मैं भावै आतम राम॥ दादू दयाल की बानी भाग १ पृ० ११२

[3] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० ३९

[4] सन्त सुधासार खंड १ पृ० ४२६

मन चित सुरति शब्द सब केरा

इस प्रकार प्रगट है कि सुरति मन चित्त जीव इन सबसे विलक्षण कोई तत्त्व है किन्तु वह आत्मा भी नहीं है। यह हम अभी दिखा चुके हैं। वह मन चित्त और जीव से सूक्ष्मतर और आत्मा से स्थूल कोई तत्त्व है।

इसे मैं जीव का शब्दगत रूप मानने के पक्ष में हूँ। यह ध्यान देने की बात है कि संतों ने इस शब्द का प्रयोग शब्द योग के प्रसंग में ही किया है। सुरति शब्द साधना संतों की प्रिय साधना थी। इसीलिए उनमें सुरति का बार-बार प्रयोग मिलता है।

सन्तों का माया सम्बन्धी दृष्टिकोण

माया का सिद्धांत भारतीय अध्यात्म क्षेत्र की सबसे प्रमुख विशेषता है। ऋग्वैदिक काल से लेकर संतयुग के अंतिम चरण तक किसी न किसी रूप में इसकी बराबर प्रतिष्ठा रही है यद्यपि शंकर से पहले भी यह सिद्धांत लगभग उसी रूप में प्रचलित था जिस रूप में आचार्य शंकर ने उसकी प्रतिष्ठा की[1] थी। अंतर केवल इतना था कि शंकर के पूर्व उसकी मान्यता किसी शास्त्रीय सिद्धांत के रूप में न थी। शास्त्रीय सिद्धांत के रूप में उसका बीजारोपण आचार्य गौड़पाद ने किया था। उसे विस्तृत वटवृक्ष के रूप में परिणत करने का श्रेय आचार्य शङ्कर को ही है। कोलबुक का सिद्धांत सारहीन और निरर्थक है। गफ आदि पाश्चात्य आचार्य इसका विस्तार से खंडन भी कर चुके[2] हैं।

भारतीय दर्शन में माया के संबंध में दो दृष्टिकोण मिलते हैं—एक शङ्कराचार्य और उनके पूर्ववर्ती आचार्य का दूसरा भक्तिवादी तथा तांत्रिक आचार्यों का। संत लोगों पर वास्तव में बौद्ध और वेदांत दर्शन का भी उतना ही प्रभाव पड़ा था जितना वे भक्तिवादी संत तथा उनसे निरञ्जनाथ आदि सम्प्रदायों से प्रभावित थे। माया सम्बन्धी दोनों दृष्टिकोणों की पृष्ठभूमि के प्रसङ्ग में हम विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। अतः उनका बहुत संक्षेप में संकेत करेंगे।

मायावाद का प्रथम बीजारोपण ऋग्वेद में हो गया[3] था। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते—में माया शब्द का प्रयोग बहुत स्पष्ट है। यहाँ पर इसका अर्थ कपट वेश धारण किया जाता है। ऋग्वेद के बाद इस शब्द का विकास उपनिषद् साहित्य में हुआ[4]। प्रो० राणा डे ने १५ प्रमाण देकर यह सिद्ध कर दिया है कि माया-

---

[1] कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी—रानाडे पृ० २२० ।

[2] द्रष्टव्य—फिलासफी आफ उपनिषद्—पृ० २२७-२२८-२२९ ।

[3] ऋग्वेद—६।४७।१८ ।

[4] देखिए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी—रानाडे पृ० २२८

वाद की भावना का उदय उपनिषदों में ही हो गया[1] था। डा० रामानन्द[2] तिवारी ने उनके मत के निराकरण करने का प्रयत्न भी किया है किंतु उनके तर्कों में विशेष बल नहीं है। मैं उनसे प्रभावित नहीं हो सका। उपनिषदों के बाद बौद्ध युग में मायावाद, शून्यवाद[3], क्षणिकवाद[4], स्वप्नवाद[5], कल्पनावाद[6], वैतथ्यवाद[7] आदि रूपान्तरित होता रहा। शंकर का मायावाद इन्हीं सब की आधारभूमि पर खड़ा हुआ है। शंकराचार्य ने माया शब्द का प्रयोग अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों में करते हुए भी सिद्धान्त रूप में उसका अस्तित्व प्रातिभासिक ही माना है वास्तविक नहीं।

माया की प्रातिभासिक सत्ता का स्पष्टीकरण अध्यास के द्वारा किया जाता है। अध्यास की कल्पना की आवश्यकता इसीलिए पड़ी कि शङ्कराचार्य अद्वैतसत्ता में कार्य कारण भेद स्वीकार नहीं करना चाहते थे। इसीलिए अध्यास के सिद्धांत के सहारे उन्होंने कारण ब्रह्म की अविकार्यता की रक्षा के साथ परिणामवाद के सामंजस्य विधान की चेष्टा की है। प्रश्न उठता है कि क्या शङ्कराचार्य कारणवाद का कोई सिद्धांत नहीं मानते थे। कारणवाद में तात्त्विक दृष्टि से विश्वास न करते हुए भी उन्हें सत्कार्यवाद में विश्वास करना ही पड़ा था किन्तु उनका सत्कार्यवाद परिणामवादी नहीं विवर्तवादी था। वे कारण के साथ कार्योत्पत्ति के पूर्व भी कार्य का अव्यक्त अस्तित्व मानते थे।[8] अब यहाँ पर थोड़ी सी व्याख्या अध्यास की कर देना चाहते हैं।

अध्यास के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वेदान्त सूत्र में लिखा है कि अध्यास का अर्थ तद् में अतद् बुद्धि का होना।[9] इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य ने व्यक्त किया है—स्मृति के रूप जैसा रूपवाला उपस्थापितत्व से भिन्नविषयस्थ में पूर्व दृष्ट पदार्थ का अवभास जो भाव प्रतीति है वही अध्यास है। इस अध्यास के भी अर्थाध्यास ज्ञानाध्यास आदि कई भेद निरूपित किये गये हैं। अध्यास के इस सिद्धान्त को

---

[1] वही

[2] शंकराचार्य का आचार दर्शन रामानन्द तिवारी पृ० २१ सं० २००६

[3] इसके लिए देखिए इसी ग्रन्थ का दूसरा अध्याय बौद्धमत और निर्गुण काव्यधारा शीर्षक अंश।

[4] वही

[5] इसी ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में गौड़पाद का अजातवाद और सन्त कवि शीर्षक अंश।

[6] इसी ग्रंथ के दूसरे अध्याय में देखिए योगवाशिष्ठ और निर्गुणियाँ कवि।

[7] देखिए गौड़पाद का अजातवाद और सन्तकवि शीर्षक अंश।

[8] ब्र० सू० भाष्य २।१।२०

[9] बृहदारण्यकोपनिषद्—भाष्य १।२।१

[10] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य १।१।१

श्री मद्भगवद्गीता में बहुत सुन्दर ढंग से समझाया गया है। उसमें लिखा है—जो वस्तु न होने पर भी प्रतीत होता है जैसे शुक्ति में रजत और जो आत्मा को प्रतीत नहीं होती उसको आत्मा की माया[1] जानना चाहिए।

यहाँ पर प्रश्न यह उठ सकता है कि इस प्रकार के अध्यास का उदय क्यों कैसे होता है इसका कारण आचार्य ने अविद्या माना है। केनोपनिषद् भाष्य में वे लिखते हैं[2] कि माया रूप संसार का बीज अविद्या है इसीलिए उन्होंने अध्यास को अविद्या भी कहा है 'तमेवं लक्षणमध्यासं परिडत अविद्येति मन्यते अध्यास सदैव कल्पते।' यह अविद्या ही अहंकार के सहारे जीव को संसारचक्र में आबद्ध करती है।

माया का प्रयोग शंकर ने ईश्वर की सृजन शक्ति के लिए भी किया है।[3] उस सृजन शक्ति का स्वरूप अध्यास के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

यहाँ पर एक प्रश्न और उठ खड़ा होता है। अध्यास उद्भूत माया या भ्रांति का स्वरूप क्या है इस सम्बन्ध में शंकर ने अनिर्वचनीयतावाद का प्रतिपादन किया है। वह माया को अनिर्वचनीय मानते थे। उनके अनिर्वचनीयतावाद को समझने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में ख्यातियों के विविध सिद्धांतों का संक्षिप्त संकेत करना बड़ा आवश्यक है।

भारतीय दर्शन क्षेत्र में अनिर्वचनीय ख्यातिवाद के अतिरिक्त सत् ख्यातिवाद, असत् ख्यातिवाद, आत्म ख्यातिवाद और अन्यथा ख्यातिवाद की प्रतिष्ठा मिलती है। सत् ख्यातिवाद सांख्यों का है। वे शुक्ति और रजत वाले दृष्टांत को लेकर कहते हैं कि शुक्ति भी रजत के समान ही सत्य है क्योंकि दोनों में सादृश्यभाव है। इस सिद्धांत के बिल्कुल विपरीत शून्यवादी नास्तिकों का असत् ख्यातिवाद है। वे स्वप्न के समान सीपी और रजत दोनों को भ्रम मानते हैं। विज्ञानवादी बौद्ध आत्मख्यातिवादी कहलाते हैं। उनका मत है कि सत्य पदार्थों के अनुभव से हमारे ऊपर कुछ संस्कार दृढ़ होते हैं। उन संस्कारों के सहारे हम पूर्व स्मृति के अनुरूप किसी दूसरी वस्तु की कल्पना कर लेते हैं। अध्यास की भावना के निकट होते हुए भी वेदान्त को यह सिद्धांत भी मान्य नहीं है। उसने अनिर्वचनीय ख्यातिवाद का समर्थन किया है। अद्वैतवादी आचार्य शंकर के सर्व सान्निद भ्रम वाले सिद्धांत में विशेष आस्था रखते थे। इससे भ्रम की उपादान कारणता प्रगट होती है। उपनिषदों ,मे उसे उपादान और निमित्त रूप कारण उभय कहा भी गया है। भ्रम को कारण मान लेने पर उसके कार्यरूपी जगत् को भी भ्रम रूप मानना पड़ेगा।

---

1 भगवद् गीता—२।४।२२

2 केनोपनिषद् भाष्य ४।४

3 ब्रह्मसूत्र भाष्य—१।३।४, १।३।१०, २।१।२१, २।१।१८।

ब्रह्म सद्रूप है अतः जगत भी सद्रूप होना चाहिए। किन्तु वह सद्रूप नहीं है। अतः उसका उपादान कारण कोई सद् विलक्षण तत्व है। यदि कहें कि वह असत् है तो भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि असत् संसार का कारण होता तो प्रत्येक पदार्थ की सत् सत्ता न दिखाई पड़ती। अतः संसार का कारण न सद् ही है और न असद् ही। वह सदासद् होते हुए भी उससे विलक्षण है।

अब एक समस्या और रह जाती है—वह यह कि शंकर की माया विषय प्रधान है या विषयी प्रधान। शंकर विषय प्रधान ही मानते थे। इस पर हम पृष्ठभूमि में शंकर के अद्वैत के प्रसंग में विस्तार से विचार कर चुके हैं और सिद्ध कर चुके हैं कि वह उसे विषय प्रधान मानते थे। यहाँ पर उसका पिष्टपेषण नहीं करना चाहते।

शंकर के मायावाद के बिल्कुल विपरीत तांत्रिकों का मायावाद है। तान्त्रिक और उनके अनुकरण पर विकसित हुए सम्प्रदायों में माया को मिथ्या न मानकर सद्रूप माना गया है। उनका सिद्धांत है कि जिस प्रकार शक्तिमान सद्रूप होता है उसी प्रकार शक्ति भी सद्रूप है। माया शक्ति का ही एक भेद है अतः वह सद्रूप है।

संतों का माया सम्बन्धी दृष्टिकोण वैसे तो शंकर मत से ही अधिक प्रभावित है किन्तु थोड़ी बहुत माया तान्त्रिक मतों की दिखाई पड़ जाती है। उन्होंने माया को कहीं पर अनिर्वचनीय और कहीं सद्रूप व्यनित करने के लिए उसे सगुण भी कहा है। सच तो यह है कि उन्होंने दोनों धारणाओं को मान्यता दी है। माया का प्रत्यक्ष रूप जगत् है। संत भीखा ने लिखा है।[1] हे मन तू आत्मारूपी राम का भजन कर जिससे ताकि माया विरचित प्रत्यक्ष रूप यह प्रत्यक्ष जगत् है तुझे न सता सके। आगे यह भी लिखा है।[2] जब ब्रह्म रंध्र में नाद बिंदु की साधना सम्पन्न होती है तभी मन रूपी माया नष्ट होती है। इसी के आधार से उन्होंने माया के स्वरूप का निरूपण किया है। कबीरदास भी कहते हैं—

> जो काटौं तो डहडही सींचौं तो कुम्हिलाय[3]।
> इस गुणवन्ती बेल का कुछ गुण कहा न जाय॥

इन पंक्तियों में माया को गुणवंती कहकर भी उसे अनिर्वचनीय व्यनित किया गया है। संत सुन्दरदास ने माया को एक स्थल पर केवल गुणमयी कहा है। जो वस्तु[4] उत्पन्न होती है नष्ट होती है और त्रिगुणात्मक है वही नश्वर माया कहलाती है।

---

[1] यह माया विस्तार बना है
जग पर पंच हरामै। भीखा पृ० १

[2] नाद बिन्दु को जोड़ गगन में मन माया सब मरै। भीखा पृ० ७

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० ८९

[4] जो उपजै बिनशै गुण धारत सो यह जानहु अंजनमाया। सु० वि० ७१

माया को गुण रूपी कहकर उसे भावरूप ध्वनित किया गया है किन्तु उनका मुख्य दृष्टिकोण अध्यासवादी है।

निम्नलिखित पंक्तियों में उसी की छाया दिखाई पड़ती है[1]—

पाहण केरा पूतला करि पूजै करतार।
इही भरोसे जे रहे ते बूडे कालीधार॥

पाषाण में ब्रह्म का आभास एक प्रकार का अध्यास या भ्रम ही है। जो इस भ्रम को ही सत्य समझ बैठते हैं उनको भवसागर में डूबना है। वे भ्रमरूप माया को अनिर्वचनीय एवं काल्पनिक अध्यास मात्र ही समझते थे। इसकी व्यंजना सन्त सुन्दरदास ने निम्नलिखित शब्दों में सुन्दर ढंग से की[2] है—हे साधो यह संसार उसी प्रकार सत्य नहीं है जिस प्रकार पहाड़ में मछली, समुद्र में मृग, आकाश में खेत का अस्तित्व सत् नहीं होता। यह जगत् उसी प्रकार अस्तित्वहीन है जिस प्रकार जल की पोट, धुआँ की कोट तथा अलसार ब्रह्म की सीमा अस्तित्वहीन होती है। यह जगत् शशा सींग, बाँझ के पुत्र और मृग मरीचिका के सदृश ही काल्पनिक है। कबीर[3] आदि में भी इस प्रकार की बहुत सी उक्तियाँ मिलती हैं।

— **माया का विस्तार**—माया अपना विस्तार पंचतत्व और तीन गुणों के सहारे करती है। जहाँ तक नाम रूप का विस्तार है यह सब माया मात्र है। यही भाव सुन्दरदास ने निम्नलिखित शब्दों में व्यंजित की है—पंचतत्व और तीन गुणों का विविध प्रकार से विस्तार होता है—जहाँ तक नामरूप दिखाई पड़ता है यह सब माया[4]

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० ४१

[2] भाई साधो यह जग सो सत् नाहीं।
मीन पहार समुद्र बिच मिरगा खेत अकासे माहीं॥
जल की पोट कोट धुवा को कलित ब्रह्म को छोर।
बांझ के पूत सींग ससा के मृगतृष्णा को नीर॥
स्वप्न के भूप भूप सपने को और अंगना के हार।
कहिया धीस मन भूतल के नारि सो ब्याहन जार॥ चरनदास भाग १ पृ० ११

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० ८१

[4] क—पंच तत्त्व गुण विस्तरे विविध भाँति
नाम रूप जहाँ लगि मिथ्या माया मानिए। सुंदर विलास पृ० १२६
ख—जैसे ही सुन्दर यह चेतन्य आहि
अपने अज्ञान करि और मन मान्यो है। सु० सि० १९१

ही है। माया के विस्तार का वर्णन मेरे तेरे से भी किया जा सकता है। सन्त दादू[1] ने इसी भाव की अभिव्यक्ति निम्नलिखित शब्दों में की है—

क—मैं मैं मेरी इस सो लागी स्वाद पतंग न सूझे आगी[2]

ख—माया बंधन बांध न चेते मेरे माहि लपटाया—

इसी भाव की अभिव्यक्ति दादू ने एक दूसरे स्थल पर भी की है।[3] वह कहते हैं—जीव ममत्व और अहंकार से विमुदित होकर इसी प्रकार प्रसन्न होता है जिस प्रकार मोर मोरनी को देखकर आनन्दित होता है।

यह माया अज्ञान और अन्धकाररूपणी मानी गई है। सन्त दादू ने लिखा है कि जिस घट में राम रूपी दीपक प्रकाशित होता है वहाँ अज्ञान रूपी तिमिर नहीं रह जाता[4]। यह अंधकार रूपणी अथवा अज्ञान रूपणी माया ही बाँधनेवाली है यही अविद्या है, यही भ्रम रूप है।[5]

यह अविद्या रूपणी माया वास्तव में बड़ी बंधन रूपा है। इसके पाश अनेक हैं। सन्त मलूकदास के शब्दों में किरिया, भ्रम, आचार आदि इसके ही प्रमुख बंधन हैं।[6] सन्त दादू ने लिखा है—माया हाथ में पाश लेकर छिपकर बैठ जाती है और अवसर पड़ने पर जीव को बाँध देती[7] है। भीखा साहब ने माया को त्रिगुण डोर की फाँसी कहा है।[8] सन्त कबीर भी उसे त्रिगुण रूप ही मानते थे। उन्होंने लिखा है—रजगुण तमगुण सत गुण कहिये यह सब तेरी माया।[9]

इस त्रिगुणात्मक प्रकृति की एक विशेषता नश्वरता और परिवर्तनशीलता है। उसकी इस विशेषता का संकेत सन्तों ने बार-बार किया है। सन्त[10] दादू ने उसकी इस

---

[1] दादूदयाल की बानी। भाग २ पृ० १६

दादू दयाल की बानी। भाग २ पृ० ०१

[2] मोरा मोरी देख के नाचे पंख पसारि। दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० १२०

[3] जिस घट दीपक राम का तिस घट तिमिर न होय। दादूदयाल की बानी—भाग १ पृ० १२०

[4] कपट अविद्या भरम बुरा।

[5] किरिया भरम अचार भरम है यही जगत् का फंदा—मलूकदास की बानी पृ० ११

[6] बड़ा कठिन यह हरि की माया—मलूकदासजी की बानी—पृ० १६

[7] माया फाँसी हाथि ले बैठी गोप छिपाइ—दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० १२२

[8] भीखा साहब ने माया को तिरगुन डोर की फाँसी कहा है। भीखा साहब की बानी पृ० ६

[9] कबीर ग्रंथावली—पृ० २०२

[10] बदी एं परवाह ज्यूँ माया आवै जाइ—दादू बानी भाग १ पृ० १२६

चंचलनशीलता को नदी के प्रवाह के सदृश कहा है। सन्त रज्जब ने भी माया की परिभाषा देते हुए यही लिखा है—जो आने-जानेवाली विशेषता है। वही माया है।[१]

माया बहुत ही-मोहक शीला है। उसकी मोहित करने की प्रक्रियाएँ और माध्यम भी कई हैं। जीव को वह इन्द्रियों और इन्द्रियार्थों के माध्यम से मोहित करती है।[२] कबीर के शब्दों में वह बहुत मीठी होती है। इसी मिठास के कारण वह अज्ञानी पुरुष को धीरे धीरे खाती रहती है। वह बाजीगर की पुतली के सदृश है। जिसे देखकर मरकट रूपी जीव भ्रम में पड़ जाता है।[३] इसीलिए दादू ने उसे जीव की बैरिन कहा है।[४] वह केवल जीव को ही नहीं मोहती वरन् सुर नर मुनि सभी को मोहती है।[५]

विषयप्रधान होने के कारण माया विष रूपणी भी होती है। सन्तों ने उसे सर्पणी कहा है। दादू लिखते हैं[६]—माया रूपी सर्पणी कनक और कामनी के माध्यम से सभी मानवों को डसती है। उसके चंगुल से मानव ही नहीं ब्रह्मा, विष्णु, महेश और देवता भी नहीं बचे हैं। इसीलिए सन्तों ने कनक और कामनी की बड़ी निन्दा की है। कामनी की निन्दा करने के कारण कुछ लोग सन्तों को पुरुषों के प्रति पक्षपात का दोषी ठहराते हैं। किन्तु ऐसा ठीक नहीं। सन्त लोगों ने नारी को विषय-वासना का प्रधान केन्द्र मानकर ही कहीं कहीं उसकी निन्दा की है किसी दुर्भावना से नहीं। यदि दुर्भावना और पक्षपात की बात होती तो फिर सन्त दादू स्त्रियों के साथ पुरुषों को माया का अंग न मानते।[७] वह लिखते हैं—नारी पुरुष के लिए माया रूप होती है और पुरुष नारी के लिए माया रूप होता है। अन्त में दोनों का ही विनाश होता है। दादू कहते हैं—"हे मानव विचार कर देख ले। उन्होंने भी पुरुषों को माया रूप केवल इसलिए कहा था कि वह विषय वासना के आश्रय हो भजन में बाधक बनते हैं। कबीर कहते हैं—

कबीर माया पापणी हरि सूँ करे हराम[८]

---

[१] सन्तों आवै जाय सु माया।
  व्यापि न जन्म मरै न जीवै सो किन्हु कहि आया—संत सुधासार पृ० ५१७

[२] मीठी मीठी माया तजी नहिं जाई
  अग्यानी पुरुष को भोलि भोलि खाई। कबीर ग्रंथावली—पृ० १६६

[३] वही—पृ०

[४] माया बैरिनि जीव की—दादू बानी भाग १ पृ० १२६

[५] दादू मोहे सकल के सुरनर सब ही धीव—दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० ११८

[६] माया साँपिनी सब डसी कनक कामनी होय।
  ब्रह्म विष्णु महेश को दादू बचै न कोइ॥ दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० १११

[७] दादूबानी भाग १—पृ० ११९—१०वीं पंक्ति

[८] कबीर ग्रंथावली पृ० ३२ साखी ७

माया की शक्तियाँ—माया की दो शक्तियाँ मानी जाती हैं—आवरण और विक्षेप। माया की इन्हीं शक्तियों से माया का विस्तार होता है। सन्तों ने माया के इन दो स्वरूपों का उल्लेख कहीं नहीं किया है। किन्तु इनके स्थान पर इसके स्थूल और सूक्ष्म भेद अवश्य निर्दिष्ट किये हैं। किन्तु इन्हें मैं आवरण और विक्षेप का प्रतीक नहीं मान सकता। स्थूल माया से उनका अभिप्राय सम्भवतः कनक-कामिनी आदि से था। सूक्ष्म माया का रूप सम्भवतः मनस है। दादू लिखते हैं स्थूल माया से चाहे मुक्ति मिल भी जाय किन्तु सूक्ष्मरूपी नहीं छूटती है।

मन और माया—सन्त लोग योगवासिष्ठ 'गौड़पाद' तथा बौद्ध ग्रंथों की विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। इन सभी विचारधाराओं में मन को बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है। गौड़पाद ने माया उसे कहा है जिसका वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। वे माया को मिथ्या का पर्यायवाची मानते[1] थे। अब प्रश्न है कि फिर माया से पदार्थों की उत्पत्ति कैसे होती है उसके उत्तर में वे मन को लाते हैं। उनका कहना है कि जो उद्भूत प्रपंच दिखाई पड़ता है वह सब मन का विकार है। वास्तव में कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं[2] होती। मनोदृश्यमिदं द्वैतम्[3]—अर्थात् यह संसार मन का प्रपंच मात्र है—गौड़पाद का प्रसिद्ध सिद्धान्त है। मन और माया के इस अन्योन्याश्रयभाव सम्बन्ध से सन्त लोग पूर्णतया परिचित थे। सन्त कबीर ने मन और माया के इसी सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

इक डायन मेरे मन में बसै[4]।
नित उठ मेरे जिय को डसै ॥

सन्त लोग मन और माया का अन्योन्याश्रय भाव सम्बन्ध ही नहीं अविच्छिन्न सम्बन्ध भी मानते थे। सन्त कबीर कहते हैं शरीर तो बार-बार नष्ट हो जाता है किन्तु मन और माया कभी नष्ट नहीं होती[5]। मन और माया के अविच्छिन्नत्व का संकेत सन्त दादू[6] ने भी किया है—

दादू मन ही माया ऊपजै मन ही माया जाय।

---

[1] मोटी माया तजि गए सूषिम लीयें जाई।
दादू को एउ क्यों माया बड़ी बलाई ॥—दादूबानी भाग १ पृ० १८१।

[2] मायाहस्त्यर्पितेव—४।२५

[3] वही ३।३१।

[4] कबीर ग्रंथावली—पृ० ११८

[5] वही पृ० ११७

[6] दादूबानी भाग १ पृ० ११४।

शंकर संसार को माया का कार्य मानते हैं और गौड़पाद तथा वशिष्ठ जगत् को केवल मन की उपज मानते हैं। गौड़पाद और वशिष्ठ के इसी सिद्धांत को सन्त लोग भी मानते थे, दादू की उपर्युक्त पंक्ति से यह सिद्धांत पूर्णतया स्पष्ट है।

माया और ब्रह्म का सम्बन्ध—सन्त लोग माया को ब्रह्मात्मभूत मानते थे। सन्त सुन्दरदास ने लिखा है—

प्रथम ही आपने मूल माया करी।
बहुरि यह सुविकार त्रिगुण विस्तरी[1]॥

प्रश्न यह उठता है कि चेतन ब्रह्म से अचेतन माया कैसे उत्पन्न हुई। वेदांत सूत्र भाष्य में इस प्रश्न का उत्तर मकड़ी और जाल के दृष्टांत से दिया गया है। जिस प्रकार चेतन मकड़ी से अचेतन जाल की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार चेतन ब्रह्म से अचेतन माया की उत्पत्ति हुई है। वेदांत में माया को ब्रह्म के अधीन कहा गया है। भगवान् मायिन हैं और माया उनकी चेरी है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में यही बात 'प्रकृतिं' माया विद्यात् मायिनं महेश्वरम्[2] लिखकर व्यंजित की गई है। सन्त लोग वेदांत के इस मत से भी सहमत थे। सन्त दादू[3] ने—'माया का ठाकुर किया माया की महिमाय' कहकर श्वेताश्वतर उपनिषद् के सिद्धांत की व्यंजना ही की है। गुलाल साहब ने प्रभु तेरी माया अगम[4] अपार लिखकर इसी भाव का समर्थन किया है। वास्तव में माया मायिन के बल पर ही इतनी महान् है। गुलाल साहब इसी भाव की व्यंजना करते हुए लिखते हैं—माया परबल महत[5] जान।

माया के भी ब्रह्म के सदृश दो रूप हो सकते हैं—व्यक्त और अव्यक्त। व्यक्त रूप तो नाम रूपात्मक जगत् है और उसका अव्यक्त रूप मन है। सन्त माया के इन दोनों स्वरूपों से परिचित थे। इसीलिए एक ओर तो उन्होंने संसार को मायात्म कहा है और दूसरी ओर झीनी झुमरि में सभी समाई कहकर उसके अव्यक्त रूप की ओर संकेत किया है। माया के सन्तों ने सूक्ष्म और मोटी जो दो भेद माने हैं वे सम्भवतः यही[6] हैं।

---

[1] सुंदरविलास—पृ० १४७।
[2] श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।१०
[3] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० ११९।
[4] गुलाल साहब की बानी—पृ० ३६।
[5] वही पृ० ६१।
[6] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० १८१
क—मोटी माया तजि गए सूक्ष्म लिए जाय।
ख—कबीर ने इन्हीं को झीनी और मोटी कहा है। देखिए, कबीर साखी संग्रह पृ० १११ साखी २१

सन्तों की जगत सम्बन्धी धारणाएँ

जगत सत्ता का स्वरूप—जगत सत्ता के सम्बन्ध में दार्शनिकों में बड़ा मतभेद रहा है। उसकी ओर ही संकेत करते हुए तुलसी ने विनयपत्रिका में लिखा है 'कोउ कह सत्य झूठ कह कोउ जुगल प्रबल कोउ मानै'। संत लोग संसार को मिथ्या कहनेवालों की श्रेणी में आते हैं। सभी ने एक स्वर से संसार की नश्वरता का संकेत किया है। कबीर जीव को समझाते हुए कहते हैं 'रे जीव समझ-बूझकर देख ले यह संसार स्वप्न के सदृश है'। एक[1] दूसरे स्थल पर उन्होंने उसकी बूँद से समता देते हुए उसी के सदृश नश्वर कहा है—

क्यों जल बूँद तैसा संसार उपजत बिनसत लगत[2] न बार

संत दादू ने उसे सेंबर का फूल कहा है।[3] दूसरे स्थल पर उन्होंने उसे स्वप्न रूप भी कहा है।[4] पलटू[5] साहब ने उसे झूठा कहते हुए लिखा है—

पलटूदास जग मृगतृष्णा झूठा सकल पसारा है

एक दूसरे स्थल पर उन्होंने इस संसार को बुलबुले की भाँति क्षणिक कहा है।[6] एक स्थल पर तो उन्होंने वेदान्त के प्रसिद्ध रज्जु और शुक्ति के सहारे संसार का मिथ्यात्व प्रकट किया है—

यह संसार रैन का सपना रूपा भ्रम सीपी[7] केरा

इसी प्रकार अन्य सन्तों ने भी उसे मिथ्या स्वप्नवत सेंमल के फूल के सदृश नाशवान कहा है।

अब विचारणीय यह है कि संतों का जगत् सत्ता विवेचन किस दर्शन के अनुरूप हुआ। जगत् को नश्वर और क्षणिक वेदान्तियों और बौद्धों दोनों ने माना है। परन्तु दोनों के स्वप्नवाद में बहुत बड़ा अन्तर है। वेदान्त में भी जगत् सत्ता के सम्बन्ध में विविध मतवाद हैं किन्तु उसके मिथ्यात्व में अद्वैतवादी ही विश्वास करते हैं।

---

[1] संसार ऐसा सुपिन जैसा—कबीर ग्रंथावली—पृ० १०३

[2] कबीर ग्रंथावली—पृ० १२१

[3] दादू बानी भाग २—पृ० [illegible]

[4] क—क० ग्र० पृ० २२७ पंक्ति ४

[5] पलटूदास भाग १—पृ० १०

[6] पलटूदास भाग १—[illegible]

[7] पलटूदास भाग १—२२

अद्वैतवाद की भी बहुत-सी शाखाएँ हैं। उनमें दो आचार्यों के मत बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—एक आचार्य गौडपाद का और दूसरे शङ्कर का गौडपाद का सिद्धांत अजातवाद कहलाता है और शङ्कर का मायावाद।

पहले तो हम बौद्ध और अद्वैत वेदान्त के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोणों का अन्तर स्पष्ट करना चाहते हैं। आचार्य शङ्कर ने बौद्धों के स्वप्नवाद के खण्डन का स्पष्टीकरण 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'[1] की व्याख्या में किया है। वे लिखते हैं बौद्धों का यह मत कि बिना किसी इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थों के न होते हुए भी वे होते से देख पड़ते हैं यह मत ठीक नहीं है। शङ्कर के मतानुसार दोनों सृष्टियाँ भिन्न प्रकार की होती हैं। उनमें परस्पर वैधर्म्य है। वे सम नहीं हैं। इस विभिन्नता का स्पष्टीकरण करने के लिए शङ्कराचार्य तीन तर्क प्रस्तुत करते हैं।

शंकर का पहला तर्क है कि हमारी स्वप्न स्थिति हमारी जाग्रत स्थिति से बाधित होती है। हमें स्वप्न देखने के बाद जगने पर स्वप्न की अनुभूतियाँ मिथ्या प्रतीत होती हैं। किन्तु जाग्रतावस्था में देखी हुई वस्तुओं का बोध नहीं होता। अतः वे स्वप्नवत् नहीं कही जा सकतीं।

दूसरा तर्क यह है कि स्वप्नावस्था में देखी हुई वस्तु स्मृति के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। किन्तु जाग्रतावस्था के दृश्य और अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष सिद्ध होती हैं। अतः इस आधार पर भी जाग्रत जगत् का स्वप्नवत् नहीं कहा जा सकता।

अन्तिम तीसरा तर्क है कि मन बुद्धि आदि में किसी पदार्थ की स्मृति का उदय होना तब तक संभव नहीं होता जब तक वह पदार्थ पहले से न देखा गया हो। ऐसी अवस्था में जाग्रतावस्था से स्वप्नावस्था के पदार्थ भिन्न हुए। यदि एक को प्रत्यक्ष कहेंगे तो दूसरे को स्मृति। शंकराचार्य स्वप्नावस्था के पदार्थों को मायामय मानते थे। वे जाग्रतावस्था में प्रत्यक्ष अनुभव होनेवाले पदार्थों को मायामय नहीं कहते थे यह बात उनके ब्रह्मसूत्र के भाष्य से प्रकट[2] है। अब प्रश्न उठता है कि उन्होंने स्वप्न सृष्टि को ही मायामय क्यों कहा मेरी समझ में इसका कारण यही था कि स्वप्न सृष्टि के पदार्थों का देश काल से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता और उनमें कार्य कारण सम्बन्ध भी गोचर नहीं होता इसीलिए उन्हें उन्होंने मायामय कहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शंकर केवल उन्हीं पदार्थों को मिथ्या मानते थे जो स्वप्न सृष्टि के समान हैं। यहाँ पर प्रश्न यह उठ सकता है कि फिर बृहदारण्यक में अजातशत्रु और बालाकि के प्रसंग की व्याख्या करते हुए—बाह्य जगत् के पदार्थों को 'मृषा अविद्यमाना' क्यों कहा गया है।

---

[1] वेदान्तसूत्र—२।२।२९

[2] ब्रह्मसूत्र ३।२।३

इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि यदि उस स्थल का मनोयोग से अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि उन्होंने जाग्रतावस्था के अध्यारोपित रूप को ही मृषा और अविद्यमान कहा है, जाग्रतावस्था के वास्तविक स्वरूप को नहीं।

जाग्रतावस्था के अध्यारोपित पदार्थ स्वप्न के सदृश ही मिथ्या होते हैं। वस्तुतः स्वप्नवत् नहीं होता। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जाग्रत जगत् मिथ्या नहीं है वरन् उस पर अध्यारोपित नाम रूप ही मिथ्या है। इस भाव का स्पष्टीकरण माण्डूक्यकारिका भाष्य में भी देखा जाता[1] है। कारिका का भाष्य करते हुए बाह्य पदार्थों के स्वरूप की स्वप्नगत पदार्थों के स्वरूप से समानता प्रदर्शित की गई है किन्तु वहाँ पर मनोयोग से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वे बाह्य पदार्थों को केवल उसी अवस्था में मिथ्या मानते थे जब उन्हें—स्वप्नस्थानवत्—अर्थात् आत्मा के धर्म के रूप में देखा जाता है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि शंकर स्वप्न जगत् की तुलना में जाग्रतावस्था के नाम रूपों को मिथ्या मानते थे। मांडूक्यकारिका की चौदहवीं कारिका की व्याख्या करते हुए आचार्य ने इसी बात का स्पष्टीकरण किया है। जो लोग स्वप्नगत पदार्थों को आत्मा का स्वरूप मानते हैं वह ठीक नहीं है। धुँधले प्रकाश में जैसे रज्जु को सर्प समझने का भ्रम हो जाता है ठीक उसी तरह बाह्य जगत् के पदार्थों को आत्मा का धर्म समझ लेना है। इस प्रकार शंकराचार्य का मत स्पष्ट हो जाता है। बौद्धों का मत सर्वथा भिन्न था। बौद्ध बाह्य जगत् के पदार्थों को स्वप्नजगत् के पदार्थों के सदृश नास्ति रूप मानते थे।

अब हम शंकर के स्वप्नवाद से गौडपाद के अजातवाद का अन्तर स्पष्ट कर देना चाहते हैं। अजातवाद का मूलभूत सिद्धांत है—

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते
एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ॥[2]

अर्थात् कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता उसका कोई कारण भी नहीं है। यही परम सत्य है। संसार में कभी भी कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती। प्रश्न उठता है कि यह बाह्य जगत् हमें दिखाई पड़ता है उसका क्या समाधान होगा उसका उत्तर है। मनोदृश्यमिदं द्वैतम्[3] 'चित्तस्पन्दितमेवतत्'[4] अर्थात् बाह्य पदार्थ वास्तव में उत्पन्न हुए पदार्थ नहीं हैं। यह तो व्यक्ति के चित्त का ही स्पंदन मात्र है। मन ही उन्हें देखता है

---

[1] माण्डूक्य कारिका २।४
[2] माण्डूक्य कारिका ३।४८
[3] वही ३।३१
[4] वही ४।७२

वास्तव में अन्य कोई अस्तित्व नहीं। इसी को माया कहते हैं। माया मात्रमिदं परमार्थतः[1]। यह मायाजन्य पदार्थ चतुष्कोटि के होते हैं—अस्तिरूप, नास्तिरूप, नास्ति अस्ति रूप न नास्तिरूप नास्तिरूप। किन्तु आत्मा इन चतुष्कोटि पदार्थों से अप्रभावित रहती है। शंकरमत में और गौडपाद के मत में यही मौलिक अन्तर है कि शंकर वास्तव जगत को स्वप्नगत की अपेक्षा सत्य और ब्रह्म की तुलना में मिथ्या मानते थे। किन्तु गौड पाद सबको मिथ्या मानते थे। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि शंकर का दृष्टिकोण बहुत कुछ विषयगत था किन्तु गौडपाद की जगत् सम्बन्धी धारणा विषयीगत थी। एक ने आदर्श और यथार्थ दोनों को छूने की चेष्टा की है। दूसरा कोरा आदर्शवादी है। गौडपाद और बौद्धों के दृष्टिकोण में भी अंतर है, बौद्धों का दृष्टिकोण नास्ति रूप शून्यवादी है जब कि गौडपाद अलक्ष्य शून्यवाद के समर्थी हैं।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में यदि हम सन्तों के स्वप्नवाद का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि वह शंकर और गौडपाद की धारणाओं से ही अधिक प्रभावित है। बौद्धों का उस पर कोई प्रभाव नहीं था। सन्त लोग पूर्ण आस्तिक थे। वे अस्तिरूप परमात्मा में पूरी आस्था रखते थे। उनकी आस्तिकता के प्रमाण में कबीर की निम्नलिखित उक्ति उद्धृत की जा सकती है—

जो तुम देखो सो यह नाहीं।
यह पद अगम अगोचर माहीं[2] ॥

इसी भाव की पुनरावृत्ति दादू ने भी लगभग मिलते-जुलते शब्दों में की है—

मन रे तू देखे सो नाहीं।
है सो अगम अगोचर माहीं[3] ॥

इन पंक्तियों में कबीर और दादू दोनों ही सन्तों ने ब्रह्म को अधिष्ठान रूप व्यंजित किया है। यह नाम रूपात्मक जगत उसी अधिष्ठान पर आध्यारोपित है। सन्त सुन्दर दास ने इस तथ्य को और भी स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिया है—वे लिखते हैं—

सुन्दर कहत यह एक ही अखण्ड ब्रह्म।
ताहि यूँ पलट कर जगतनाम धर्यो[4] है ॥

---

[1] मां० का० १।१७
[2] कबीर ग्रंथावली—पृ० १२६।
[3] दादू—२।१२६।
[4] सुन्दरविलास—पृ० १२७।
[5] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० ११७।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सन्तों की जगत्‌सम्बन्धी धारणा पूर्ण आस्तिक है। बौद्धों के सदृश नास्तिक और शून्यवादी नहीं।

शंकर और गौड़पाद में से सन्तों पर गौड़पाद का ही प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। गौड़पाद के सदृश सन्त लोग भी मन को ही जगत् की उत्पत्ति और लय स्थान मानते थे। दादू ने माया के ब्याज से इसी सिद्धांत की ओर संकेत किया है—

दादू मन ही माया उपजै।
मन ही माँहि समाई[1]॥

सन्त सुन्दरदास ने इसे और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है—

मन के भ्रम ते जगत यह देखियत है।
मन ही के भ्रम गए जगत यह विलात है[2]॥

इसी प्रकार सन्त पलटू ने लिखा है—

जहाँ जहाँ कुछ है नहीं अपने मन का फेर है।

एक दूसरे स्थल पर इसी सन्त ने वासना के ब्याज इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है—

बीज वासना को जरै तब छूटै संसार।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों जगत सत्ता निरूपण पर गौड़पाद का प्रभाव अधिक है शङ्कर का कम।

सृष्टि विकास क्रम

सृष्टि के विकास क्रम पर भौत साहित्य में आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया गया है। तैत्तरीयोपनिषद्[4] में सृष्टि उत्पत्ति और उसके विकास पर प्रकाश डालते हुए लिखा है 'उसने कामना की कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ। इस कामना से प्रेरित होकर उसने तपस्या की। तपस्या से सृष्टि की प्रादुर्भूति हुई। जो कुछ भी है उसकी सृष्टि करके उसी में वह अनुप्रविष्ट हो गया। सब की सृष्टि में अनुप्रविष्ट होने पर उसके दो

[1] सुन्दरविलास—पृ० ११
[2] पलटू बानी भाग १ पृ० ७८।
[3] पलटू साहब की बानी—भाग १—पृ० ७८
[4] सो कामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति स तपो तप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तंच—२।६।१—तैत्तीरीयोपनिषद्।

रूप हो गये—एक सत् और दूसरा त्यत्। दूसरे शब्दों में उन्हें हम अरूप पदार्थ कह सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्म के दो रूप हो गये। समस्त सृष्टि ही इन्हीं दो रूपों का विकास है—प्रश्नोपनिषद्[1] में भी इसी भाव की पुनरावृत्ति की गई है। ऐतरेयोपनिषद्[2] में आत्मा के ईक्षण को ही सृष्टि का कारण स्वीकृत किया गया है। बृहदारण्यक[3] में एक स्थल पर मृत्युस्वरूपी परमात्मा से सृष्टि का विकास बतलाया गया है। इसी प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद्[4] में जगत की उत्पत्ति आत्मदेव से बतलाई गई है। उसी को सब कारणों का कारण कहा गया है। उपनिषदों के उपर्युक्त मतों का अध्ययन करते समय दो प्रश्न हमारे सामने आते हैं—एक यह कि जब ब्रह्म शुद्ध बुद्ध मुक्त नित्य है तो फिर उससे जगत की उत्पत्ति कैसे मानी गई है। दूसरा यह है कि उस कारण रूप परमात्मा का भी कौन कारण होगा। पहले प्रश्न का उत्तर वेदान्तसूत्र भाष्य में शंकराचार्य ने दिया है। उन्होंने लिखा है कि परात्पर ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति हुई जो बात कही जाती है वह वेदान्त की मर्यादा मात्र[5] है। दूसरे प्रश्न का समाधान श्रुतियों में उल्लिखित 'वह अपनी महिमा में स्थित रहता है' इस सिद्धांत से हो जाता है।[6]

वैदिक साहित्य में सृष्टियोत्पत्ति के अतिरिक्त सृष्टि विकास क्रम पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। इस विषय से सम्बन्धित ऋग्वेद में कई ऋचाएँ मिलती हैं। उसमें एक स्थल पर लिखा है आरम्भ में मूल हिरण्यगर्भ था अमृत और मृत्यु दोनों उसकी ही छाया हैं उन्हीं से सृष्टि का विकास हुआ[7] है। उसी में दूसरे स्थल पर आप का सृष्टि का आदिम उपादान बतलाया गया है। उसमें लिखा है—पहले सब कुछ आप था वह रूप था उससे प्रजापति उत्पन्न हुए।[8] इसी संहिता में दी गई एक दूसरी उक्ति के अनुसार सृष्टि के आदि में विराट् रूप पुरुष मात्र था उसी पुरुष से यज्ञ के द्वारा सारी सृष्टि[9] उत्पन्न हुई इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर लिखा है कि सर्वप्रथम ऋत और सत्य उत्पन्न हुए उनसे अहोरात्र से आदित्यों का जन्म[10] हुआ। सृष्टि

---

[1] प्रश्न १—प्रश्नोपनिषद्—२० ११

[2] ऐतरेयोपनिषद्—१।१—२

[3] बृहदारण्यक उपनिषद् १।२।१

[4] श्वेताश्वतर उपनिषद्—१।१

[5] यस्मादिदं ब्रह्मणो जगज्जन्मोत्पत्तिरिति।वेदान्तेषु मर्यादा—ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।२२

[6] स्वे महिम्नि प्रतिष्ठिता—छान्दोग्योपनिषद् ७।२४।१

[7] ऋग्वेद—१०।१२१।२

[8] ऋग्वेद—१०।८२।६

[9] ऋग्वेद—१०।९०

[10] ऋग्वेद—१०।१९०।१

विकास क्रम की चर्चा ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों में भी मिलती है। तैत्तरीय ब्राह्मण के अनुसार सृष्टि के मूल में केवल जल मात्र था जल से ही सृष्टि का विकास हुआ।[1] इसके सिवा तैत्तरीयोपनिषद् में सृष्टि के मूलतत्त्व के रूप में आकाश का उल्लेख किया गया है। उसमें लिखा है। आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आप। इसी प्रकार क्रमशः सृष्टि विकसित[2] हुई। छान्दोग्योपनिषद् में परमात्मा से सबसे पहले तेज आप और पृथ्वी इन तीन तत्त्वों की उत्पत्ति बतलाई गई है।[3] वैदिक साहित्य में शब्दों से भी जगत की उत्पत्ति बतलाई गई है। ऋग्वेद के 'वागेव विश्वाभुवनानि जज्ञे' वाले सिद्धांत से कौन नहीं परिचित है। कठोपनिषद् माण्डूक्योपनिषद् आदि ग्रंथों में इसी सिद्धांत का विस्तार किया गया है। उपर्युक्त श्रौत विचारों के प्रकाश में यदि हम सन्तों का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि उनका सृष्टि विकास क्रम श्रौत विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित था। सन्तों ने सृष्टि की उत्पत्ति चैतन्य पुरुष से ही मानी है। सन्त कबीर कहता है—'कि पंच तत्त अविगत से उतपना एकै किया निवास' अर्थात् पंचतत्त्व एक ही परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं और वे एक में प्रतिष्ठित थे। इसी प्रकार सन्त सुन्दरदास ने भी लिखा है कि जिस परमात्मा ने जगत रचा है उसी परमात्मा को जीव भुला देता है यह कितनी बड़ी विडम्बना है।[4] सन्त भीखा साहब ने आत्मा से ही सारी सृष्टि का उदय बतलाकर ब्रह्म और आत्मा की एकता भी संकेतित की है। सन्त[5] लोग श्रुतियों के सृष्टि विकास क्रम से भी प्रभावित प्रतीत होते हैं। तैत्तरीयोपनिषद के 'सो ऽकामयत एकोऽहम् बहुस्याम्' का अनुकरण करते हुए सन्त गुलाल साहब ने लिखा[6] है—

आदि ब्रह्म की इच्छा उपजी तब उठो चेतन परिच्छा।
चेतन शब्द भयो एक ठाईं पाँच तत्त्व तें जग उपजाई॥

सन्त[7] भीखा साहब ने सृष्टि विकास क्रम पर कुछ अधिक विस्तार से विचार किया है उनका कहना है आदि में केवल पुरातन पुरुष ही था। उस पुरातन पुरुष में इच्छा की जागृति हुई। उस इच्छा से शब्द का उदय हुआ। शब्द का प्रतीक ओंकार विकसित हुआ। इस ओंकार से आकाश की संभूति हुई। पुनश्च आकाश से वायु और वायु से

---

[1] तैत्तरीय ब्राह्मण—३।१।१।२
[2] तैत्तरीयोपनिषद्—२।१
[3] छान्दोग्योपनिषद्—६।८।६
[4] सन्त सुधासार—पृ० ६१६ दूसरा खण्ड।
[5] भीखासाहब की बानी—पृ० २२।
[6] गुलालसाहब की बानी—पृ० २३।
[7] भीखासाहब की बानी—पृ० ११।

तेज उत्पन्न हुए। तेज से जल उद्भूत हुआ। जल के पश्चात् पृथ्वी उत्पन्न हुई। फिर इसी से समस्त जीव उत्पन्न हुए। गीता गायन के इस सृष्टि विकास क्रम को पढ़कर ऐसा लगता है कि सन्तों ने औपनिषदिक सृष्टि विकास क्रम की धारणाओं को अपने ढंग पर विकसित करने की चेष्टा की थी। सामान्यतया उनका रुझान शब्दवाद की ओर अधिक था। इसी लिए उन्होंने कहीं पर तो सृष्टि को शब्द से उद्भूत कहा है और कहीं पर ओंकार से। ज्योति से सृष्टियोत्पत्ति की धारणा भी बड़ी प्राचीन है। हमारे यहाँ श्रुतियों में ब्रह्मज्योति का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। कहीं-कहीं पर ज्योति से ही जगत् के उत्पन्न होने की बात कही है। इस धारणा की पुनरावृत्ति इस्लाम-धर्म में भी दिखलाई पड़ती है। वहाँ पर भी नूर-वर्णन बड़े समारोह के साथ किया गया है और नूर से ही जगत् की उत्पत्ति बतलाई गई है। यह ज्योति अथवा नूरवाद की धारणा सन्तों को भी मान्य थी। सन्त कबीर ने लिखा[1] है—

एक नूर से सब जग उपजा कौन भला कौन मंदा।

इसी प्रकार सन्त दादू[2] ने ब्रह्म को नूर रूप कहकर उसकी व्यापकरूपता व्यक्त की है—

इक लस एकै नूर है एक रूप एकै रंग।
एक लस एकै ज्योति है दादू खेलै संग॥

सृष्टि विकास क्रम का जितना साफ विवेचन सांख्यदर्शन में किया गया है उतना और कहीं भी नहीं मिलता है। सांख्यदर्शन में पच्चीस मूलतत्त्व माने गये हैं। उनमें से सर्वश्रेष्ठ तत्त्व पुरुष है। पुरुष के अतिरिक्त उसमें प्रकृति को भी एक स्वतंत्र तत्त्व माना गया है। इन दोनों के सहारे सृष्टि विकास दिखलाया गया है। सबसे पहले प्रकृति विकृत तत्त्व उत्पन्न होते हैं। ये संख्या में आठ माने गए हैं उनके नाम क्रमशः महत्तत्त्व अहंकार और पंच तन्मात्राएँ हैं। इनके अतिरिक्त सांख्य में सोलह विकृत तत्त्व भी माने गए हैं। उनके अन्तर्गत मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, और पाँच पंचमहाभूत, गिनाए जाते हैं। सब मिलाकर पच्चीस तत्त्व हो जाते हैं। वेदान्ती विकृत तत्त्वों को मूलतत्त्व स्वीकार नहीं करते। सांख्यों का सृष्टि विकासक्रम गुण परिणामवाद के नाम से प्रसिद्ध है। गुण परिणामवाद की झलक[3] वैदिक साहित्य में भी मिलता है। उदाहरण के लिए हम तैत्तिरीयोपनिषद् की यह श्रुति ले सकते हैं—

'परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी और

---

[1] कबीर ग्रंथावली—पृ० १६८

[2] दादूदयाल की बानी भाग २ पृ० ११२।

[3] तैत्तिरीयोपनिषद्—२।१

पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। सांख्य और वेदान्त के गुण परिणामवादों में एक अंतर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। वेदान्त में उसका मूल आत्मा मानी गई है। किंतु सांख्य वाले परिणाम का श्रेय वह प्रकृति को ही देते हैं। सन्तों ने स्थल-स्थल पर पाँच-पच्चीस की चर्चा की है पच्चीस तत्त्वों की मान्यता सांख्य दर्शन में ही है इसी लिए हम सन्तों पर थोड़ा-बहुत प्रभाव सांख्य का भी स्वीकार करते हैं। किंतु उन्होंने कहीं पर भी सांख्य के सृष्टि विकासक्रम का ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया है। उनमें गुण परिणामवाद की छाया भी दिखलाई पड़ती है। किंतु यह गुण परिणामवाद सांख्यों का न होकर वेदान्तियों का लगता है। कबीर सन्त कबीर ने एक स्थल पर लिखा है—

> पृथ्वी का गुण पानी सोख्या पानी तेज मिलावहिंगे।
> तेज पवन मिलि पवन सबदि मिलि सहज समाधि लगावैंगे॥

यहाँ पर ऐसा अनुभव होता है कि सन्त कबीर ने तैत्तरीयोपनिषद के उपर्युक्त गुण परिणामवादी उद्धरण को विनाशक्रम से समझाने की चेष्टा की है। जो भी हो इससे इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि सन्तों का गुण परिणामवाद भी वेदान्त से ही प्रभावित है। उन पर सांख्य की छाया नाम-मात्र भर का है सन्तों ने कहीं पर भी सृष्टि का विकास प्रकृति से नहीं माना है। उन्होंने आदितत्त्व के रूप में या तो आत्मा का उल्लेख किया है या परमात्मा का। सांख्य और वेदान्त में यही मौलिक अंतर है कि सांख्य लोग प्रकृति और दो स्वतंत्र तत्त्वों को स्वीकार करते हैं और प्रकृति को सृष्टि का उत्तरदायी बतलाते हैं। इसके विपरीत वेदान्त इन दोनों से परे अद्वैत परमात्मा में विश्वास करता है और उसी से सृष्टि की उत्पत्ति कह जाता है। वेदान्त[1] सूत्र भाष्य में आचार्य शंकर ने एक स्थान पर सांख्य और वेदान्त के मौलिक अंतर का स्पष्टीकरण भी किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों का सृष्टि विकास क्रम वेदान्त की ओर ही झुका हुआ है।

सन्तों की मोक्ष सम्बन्धी धारणा

सन्तों की बानियों में हमें कहीं पर भी मोक्ष के स्वरूप का शास्त्रीय विवेचन नहीं मिलता है। उसका शास्त्रीय विवेचन करना उनका लक्ष्य भी न था। वे कोई दार्शनिक न थे। उनका प्रमुख लक्ष्य संसार में स्थित मानवों को सन्मार्ग पर लाना था। कबीर आदि सन्तों ने अनेक स्थलों पर अपने इस लक्ष्य की अभिव्यक्ति भी कर दी है। वह लिखते हैं—ईश्वर की इच्छा हुई कि कबीर ऐसी वाणी कहे कि जिससे भवसागर में फँसे हुए लोगों की मुक्ति हो जाय। सन्तों ने ईश्वर की इस इच्छा की पूर्ति की लोक पर

---

[1] वेदान्त सूत्र भाष्य १।१।५

दी थी। जनता को सन्मार्ग पर लाने का सतत प्रयास करते रहते थे। उनकी समस्त वाणियाँ इसी प्रेरणा का परिणाम हैं। उपदेश के बीच-बीच में मानवों को मुक्ति का आकर्षण भी दिया गया है। इस आकर्षण भाव को बल प्रदान करने के लिए कहीं-कहीं मुक्ति के स्वरूप की विशेषताएँ भी संकेतित की गई हैं। ये विशेषताएँ किसी एक दर्शन के अनुकरण पर व्याख्यात नहीं की गई हैं। उन पर मध्ययुग की विभिन्न दर्शन पद्धतियों में निरूपित मुक्ति स्वरूपों का प्रभाव है। उस प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए हम प्रसिद्ध दर्शन पद्धतियों में वर्णित मुक्ति स्वरूपों की चर्चा कर देना आवश्यक समझते हैं।

न्याय दर्शन में मुक्ति के लिए अपवर्ग शब्द का प्रयोग किया गया है। अपवर्ग की परिभाषा देते हुए गौतम ने लिखा है कि[1]—दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का नाम अपवर्ग है। आत्मा को दुःख से आत्यान्तिक निवृत्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब उसके गुणों का उच्छेद हो जाय। नैयायिकों के अनुसार आत्मा के विशेष गुण नौ हैं। इनमें एक सुख भी है। अतः वे उसे सुख की अवस्था नहीं मानते।

योग दर्शन में मोक्ष के लिए कैवल्य शब्द का प्रयोग किया गया है। कैवल्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए पतंजलि[2] ने लिखा है—पुरुष को भोग तथा अपवर्ग दिखाने के कार्य से निवृत्त होकर मन और बुद्धि का अपने कारण में लीन हो जाना ही कैवल्य है अथवा यों कहा जा सकता है कि चेतन शक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही कैवल्य है। इसी परिभाषा की एक दूसरे स्थल पर दूसरे शब्दों में पुनरावृत्ति की गई है। वैशेषिक दर्शन के आचार्य महर्षि कणाद ने मुक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है—उसके अभाव में संयोग का अभाव और पुनः उत्पन्न न होना ही मोक्ष है।[3] यदि ध्यान से देखा जाय तो इनकी परिभाषा पतंजलि की परिभाषा की ही शब्दांतर में पुनरावृत्ति है। सांख्य दर्शन में भी मुक्ति को अपवर्ग ही कहते हैं। उसका स्वरूप निर्देश करते हुए लिखा गया है पुरुष की प्रकृति से अलग स्थिति अपवर्ग[4] है। मीमांसकों की मोक्ष संबंधी परिभाषा भी उल्लेख्य है। शास्त्र दीपिका में लिखा है कि इस जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध के विनाश का नाम मोक्ष[5] है।

---

[1] देखिए—न्यायसूत्र १।१।२२

[2] पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति—योग सूत्र ४।३४

तद्भावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ योगसूत्र २।२५

[3] तद् भावे संयोगाभावो प्रादुर्भावश्च मोक्षः—वैशेषिक दर्शन ५।२।१८

[4] द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः—सां० प्र० भाग ३।६५

[5] प्रपंच संबंध विलयो मोक्षः। शास्त्रदीपिका पृ० १२७

वेदान्तियों की मोक्ष संबंधी धारणा अधिक व्यापक और सुस्पष्ट है। उपर्युक्त समस्त मुक्ति स्वरूपों से वेदांत का मुक्ति स्वरूप थोड़ा विलक्षण है। वेदान्त निरूपित मुक्ति की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१—आवागमन का विनाश[1]।

२—कर्मों का नाश[2]।

३—जीव का सूक्ष्म कारण शरीर का बना रहना[3]।

४—इन्द्रियाँ मन में मन माया में माया, माया आत्मा में लीन होते हैं[4]।

५—ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होना।

६—पूर्ण अद्वैतावस्था का होना।

संक्षेप में दुःखात्यन्त निवृत्तिपूर्वक जहाँ ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है वही मोक्ष है। यहाँ पर बौद्धों के निर्वाण पर भी विचार कर लेना चाहते हैं। निर्वाण का सामान्य अर्थ बुझ जाना है। बौद्धों ने मुक्ति को यह नाम इसलिए दिया है कि उस अवस्था में उनके अनुसार जीव की वासना नष्ट हो जाती है। हीनयानियों और महायानियों की निर्वाण सम्बन्धी धारणाओं में थोड़ा अंतर है। पर निम्नलिखित बातें दोनों को समान रूप से मान्य हैं—

१—यह निष्प्रपंच है शब्द के द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता।

२—यह असंस्कृत धर्म है अर्थात् न तो इसकी उत्पत्ति होती है और न विनाश, न परिवर्तन।

३—इसकी अनुभूति अपने ही अंतर में स्वतः होती है।

४—समस्त ज्ञानों में समान भाव रहता है।

५—मार्ग के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है।

६—निर्वाण में व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता[5] है।

दोनों में निम्नलिखित अंतर भी हैं—

१—हीनयानी निर्वाण को सत्य नित्य और दुःखाभाव रूप मानते हैं। उनका कहना है कि निर्वाण वास्तव में सुखावस्था है किन्तु महायानी लोग इसके पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है कि निर्वाण में सुख असुख नित्य और अनित्य की बात उठती ही नहीं। क्योंकि यह अनिर्वचनीय अवस्था में है।

---

[1] ब्र० सू० ४।३।१

[2] ब्र० सू० ४।१।१३।१४।१५

[3] ब्र० सू० ४।२।१२

[4] ब्र० सू० ४।२।१६

[5] द्रष्टव्य बौद्धदर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ० १८३ (१९४६)

२—हीनयानी निर्वाण को लोकोत्तर स्थिति मानते हैं किन्तु महायानी उसे लोकोत्तर अवस्था मानते हैं। हीनयानी लोक निर्वाण को केवल मुक्ति की अवस्था मात्र समझते हैं किन्तु महायान की दृष्टि में वह सर्वज्ञता और धर्म व्याप्त की स्थिति है।

३—दोनों यानों में निर्वाण के भेदों के अभिधान भी अलग अलग हैं। हीनयान में निर्वाण के दो प्रकार माने गये हैं—सोपाधिशेष निरुपाधिशेष। महायानी भी निर्वाण के दो ही भेद मानते हैं किन्तु उनके नाम भिन्न भिन्न हैं। उन्हें क्रमशः प्रकृति शुद्ध निर्वाण और अप्रतिष्ठित निर्वाण बताये गये हैं।

४—हीनयानियों को निर्वाण और संसार की धर्म समता स्वीकार नहीं है किन्तु महायान के माध्यमिक सम्प्रदाय में दोनों की धर्म समता पर विशेष बल दिया गया है।

बौद्धों के निर्वाण से बौद्ध तांत्रिकों की निर्वाण-भावना मिलती-जुलती है। बौद्ध तांत्रिकों की दृष्टि में चित्त का मुक्त होना ही निर्वाण[1] है। चित्त या मन की मुक्तावस्था की पहचान मन का निश्चल होना[2] है। बुद्धावस्था में वह विषयासक्त रहता है। उसकी दशा मीन पतंग की भ्रमर तथा हरिण की सी होती[3] है। इसी लिए सन्तों ने मन को खींचकर आत्मस्वभाव में लीन करने का उपदेश दिया है। आत्मस्वभाव-शून्यत्व कहा गया है। वह निर्मल और शुद्ध होता[4] है। इसी को सहज और निरंजन भी कहा जाता है। सिद्धों ने मन और निर्वाण का समान केवल इसी अर्थ में कहा है कि दोनों का सम्बन्ध चित्त से ही है। इससे स्पष्ट है कि सिद्धों की निर्वाण धारणा शून्यवादियों और विज्ञानवादियों से बहुत प्रभावित है। नाथपंथियों की मुक्तिधारणा भी सहजयानियों से मिलती-जुलती है। वे भी निरंजन में मन का लय को मुक्ति मानते हैं।

सन्तों की मुक्ति सम्बन्धी धारणा वेदान्त को छोड़कर शेष षट्दर्शनों की मुक्ति सम्बन्धी धारणाओं से विशेष प्रभावित नहीं प्रतीत होती है। उसमें वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। वेदान्त के अतिरिक्त बौद्धों के शून्यवाद और विज्ञानवाद से भी उसे प्रेरणा मिलती थी। सिद्धों एवं नाथपन्थियों की मुक्ति सम्बन्धी धारणाओं ने तो उसका वास्तविक स्वरूप ही सँवारा है। कहीं-कहीं भक्ति-मार्गियों के मुक्ति भेदों की छाया भी मिल जाती है।

सन्त मुक्ति को वेदान्तियों की भाँति अनाहत की अवस्था मानते थे। उन्हीं की भाँति वे भी विश्वास करते हैं कि मुक्ति के प्राप्त हो जाने पर जीव का आवागमन

---

[1] दोहा कोष पृ० २४/७४ श्लोक
[2] वही पृ० १८
[3] वही पृ० १६
[4] वही पृ० ९

नहीं होता। वह काल के चंगुल से मुक्त हो जाता है। संत चरनदास[1] लिखते हैं—निर्वाण पद के प्राप्त हो जाने पर आवागमन नहीं होता। उसका न तो जन्म ही होता है और न मृत्यु ही होती है। काल भी उसे अपने बंधनों में नहीं बाँधता है। वह शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वरूप हो जाता है। वेदान्तियों की भाँति संत लोग मुक्त की पूर्णानन्द की अवस्था भी मानते हैं। ब्रह्मानन्दमग्नतावाला सिद्धांत उन्हें पूर्णतया मान्य था। दादू[2] लिखते हैं—कि हमें उस प्रियतम की प्राप्ति हो गई है जहाँ शाश्वत आनन्द ही आनन्द रहता है। यही पूर्णानन्द की अवस्था है। यही मोक्ष है। इस पूर्णानन्द की अवस्था में दुःख-सुख पाप-पुन्य सब लुप्त हो जाते हैं और आत्मा भगवान् के लोक में पहुँच जाती है। सहजो ने लिखा[3] है—जब जीव को मुक्ति प्राप्ति हो जाती है तो फिर वह द्वन्द्वातीत हो जाता है। वह पाप पुण्य से परे हो जाता है। संत लोग वेदान्तियों की मुक्ति धारणा से इतना अधिक प्रभावित हुए थे कि कहीं कहीं पर उन्होंने श्रुति सिद्धांत वाक्यों का अनुवाद करके रख दिया है। श्रुति का प्रसिद्ध सिद्धांत वाक्य है—ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति। दादू ने उसका अनुवाद करते हुए कहा है—दादू जाणैं ब्रह्म कूँ ब्रह्म सरीखा[4] होय। इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों की मुक्ति सम्बन्धी धारणा वेदान्तियों से बहुत अधिक प्रभावित है। वेदान्तियों से इतना प्रभावित होते हुए भी संतों की मुक्ति धारणा वेदान्त सूत्र में वर्णित मुक्ति स्वरूप से दो-एक बातों में भिन्न भी है। वेदान्त सूत्र में लिखा है कि मोक्ष की अवस्था में भी आत्मा का सूक्ष्म शरीर बना रहता है, संत लोग विश्वास नहीं करते। वह पूर्ण अद्वैतवादी हैं। उन्हें वह सिद्धांत कदापि मान्य नहीं है जिसमें लेश मात्र भी द्वैत भाव बना रहे।

संतों का मुक्ति स्वरूप योगियों के कैवल्य से भी प्रभावित है। सम्भवतः उसी से प्रभावित होकर कबीर ने निम्नलिखित पंक्तियों में कार्य गुणों का कारण गुणों में लय होना भी वर्णित किया[5] है। मुक्ति हो जाने के बाद हमारा पुनरागमन नहीं होगा। पंचतत्त्व विनिर्मित यह शरीर नष्ट हो जायेगा। कार्य गुण अपने कारण गुणों में लीन हो

---

1 सो पावै निर्बान पद आवागमन मिटाय।
जनम मरन होवै नहीं फिर काल न खाय॥ चरनदास भाग १ पृ० ४९

2 दादू निरन्तर पिउ पाइया जहँ आनन्द बारह मास—दादू १ पृ० ५५

3 पाप पुन्य दोनों छुटे हरिपुर पहुँचे जाई—सहजोबाई

4 दादूबानी भाग १ पृ० ८८

5 बहुरि हम काहे को आवहिंगे।
बिछुरे पंच तत्त की रचना तब हम रामहिं पावहिंगे॥
पृथ्वी का गुण पानी सोख्या पानी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि सहज समाधि लगावहिंगे॥ कबीर ग्रंथावली पृ० ११०।

जायेंगे । पृथ्वी तत्व का लय जल तत्व में होगा और जल तत्व का लय तेज तत्व में होगा । तेज तत्व वायु तत्व में लीन होगा । इस प्रकार सहज में ही समष्टिरूपी मुक्ति प्राप्त हो जायगी ।

बौद्धों और सिद्धों की निर्वाण धारणाओं ने संतों के निर्वाण स्वरूप की प्राणप्रतिष्ठा की थी । विज्ञानवादियों के ढंग पर उन्होंने चित्त में चित्त और सिद्धों के अनुकरण पर मन के मन में समाने की बात कही है । चित्त में चित्त के समाने के सिद्धान्त को प्रकट करते हुए दादू ने लिखा है[1] कि जब चित्त का लय चित्त में हो जाता है तब केवल परमात्मा मात्र शेष रह जाता है । आत्मा-परमात्मा का भेद मिट जाता है । यही मुक्ति की अवस्था है ।

इसी प्रकार कबीर ने मन में मन को समाने का उपदेश दिया[2] है । वे कहते हैं कि सुखसागर परमात्मा की अनुभूति तभी होती है जब मन का लय महामन में कर दिया जाता है । जिस प्रकार सिद्ध लोग मन को ही मोक्ष का कारण समझते हैं उसी प्रकार निर्वाण को भी उसी से संबंधित मानते हैं । उन्हीं का अनुकरण करते हुए संतों ने मन के रहस्य को समझने का उपदेश दिया है । संत दरिया साहब[3] लिखते हैं—कि जो साधक मन के रहस्यों को समझ लेता है और साधना के सहारे उसको अपने अधीन कर लेता है वह निर्द्वन्द्व हो जाता है । दुख, सुख, पाप, पुण्य, जीवन, मृत्यु आदि द्वन्द्व वहाँ पर सताते हैं ।

बौद्ध लोग निर्वाण का सामान्य अर्थ वासना का बुझ जाना लेते थे । संत लोग निर्वाण के इस अर्थ से परिचित थे । इसी लिए उन्होंने वासना की निवृत्ति पर बहुत बल दिया है । सहजो ने लिखा है—कि जिस[4] साधक में लोक और परलोक दोनों की वासनायें नष्ट हो जाती हैं तब वह ब्रह्म स्वरूप हो जाता है । कवि ने ब्रह्मस्वरूप की विशालता दिखाने के लिए उसकी उपमा सागर से दी है ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सन्त लोग भक्ति दर्शनों के चार मुक्तियों से पूर्णतया परिचित थे । संत दादू दास ने उनका उल्लेख भी किया है । भक्तिपरक दर्शन की

---

[1] जब चितहि चित समाया ।
हम हरि बिन और न जाना ॥ दादू भाग १ पृ० ४१ ।

[2] कहै कबीर मन मनहि मिलावा । कबीर ग्रंथावली—पृ० १०२

[3] मन चीन्हई तो होय निरबेरा ।
सुख आव तब जमपुर पैठा ॥ दरिया सागर पृ० ३८ ।

[4] सहजो लोक परलोक की नहीं वासना आदि ।
सो पद ब्रह्म स्वरूप है सागर ज्यों समाना ॥ सहजोबाई ४२ ।

अनुमुक्ति में द्वैतावस्था का भाव बना रहता है। संतों को द्वैतभाव बिलकुल भी मान्य न था। वे पूर्ण अद्वैती थे। इसी लिए मुक्ति को भी पूर्ण अद्वैतावस्था मानते थे। इस अद्वैतावस्था की अभिव्यक्ति इन्होंने विविध प्रकार से की है। संत दादू लिखते हैं कि परमात्मा से आत्मा उसी प्रकार मिल जाती है जिस प्रकार जल से जल मिलकर एक हो[1] जाता है। दूसरे स्थल पर उन्होंने अद्वैतभाव की व्यंजना दूध और पानी तथा नमक और पानी के दृष्टान्त से की है। वे कहते[2] हैं—कि ऐसा कोई विरला ही साधक होता है जो अपनी आत्मा को परमात्मा में उसी प्रकार लीन कर देता है जिस प्रकार लवण जल में तद्रूप हो जाता है।

दयाबाई ने तो परम अद्वैतरूप निर्वाण लिखकर निर्वाण की अद्वैतावस्था स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित की है।

संतों की दार्शनिक पद्धति

पंथवाद[3] पक्षपात[4] एवं वाद[5] विवाद के पचड़े से सदा बचने की चेष्टा करनेवाले संतों की विचारधारा को विविध दार्शनिक वादों में विभाजित कर डा० बड़थ्वाल[6] ने इनके साथ घोर अन्याय किया है। सन्त लोग लोक एवं वेद से उदासीन रहकर स्वतंत्र चिंता में ही अपने जीवन-यापन करते थे। वे सत्याग्रही महात्मा थे। वे सदैव ही सत्य के प्रयोगों में लगे रहते थे। उन प्रयोगों में जहाँ जो सफलता उपलब्ध होते थे उसी का उपदेश देकर भवसागर में डूबती हुई जनता का उद्धार करने का प्रयोग करते थे। एक बात और थी वह अपने युग की कृत्रिमता एवं जटिलता से भी ऊब उठे थे। अतः उन्होंने उन्हीं सिद्धांतों को अपनाने का प्रयास किया था जो पूर्ववर्ती जटिलतम सिद्धांतों के विरोध में थे। अपने पूर्ववर्ती जिन सिद्धांतों को अपनाना ही पड़ा है उनका उन्होंने सहजीकृत करके अपनाया है। सच तो यह है कि सन्तों ने अपने पूर्ववर्ती विविध जटिल सिद्धांतों को अपनी अलौकिक प्रतिभा के साँचे में ढाल कर सहज और मौलिक रूप दे दिया है। यही कारण है कि वे पूर्ववर्ती अनेक दर्शन पद्धतियों से प्रभावित होकर भी सहज सरल और मौलिक प्रतीत होते हैं।

---

[1] दादू ऐसे मिलि रहा ज्यों जल जलहि समाना। दादूबानी भाग १ पृ० ९२

[2] ज्यों जल पैसे दूध में ज्यों पाणी में लूण।
ऐसे आतम राम सो मन हठ साधे कोय॥ दादू० भाग १ पृ० १०२।

[3] सन्त सुधासार भाग १ पृ० ३८१—साखी १२

[4] " " " " ६

[5] सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १०८ पंक्ति ६७

[6] हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय पृ० १४६

भारत बहुत प्राचीन काल से ही विविध दार्शनिक वादों का क्रीड़ास्थल रहा है। मध्ययुग में आकर उनकी बाढ़ सी आ गई थी। आचार्य शंकर के मायावादी अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया में द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि अनेक दार्शनिक वादों का उदय एवं विकास हो रहा था। साधारण जनता इन वादों के दलदल में फँसकर बुरी तरह से तड़प रही थी। उससे उसका उद्धार करने का श्रेय सन्तों को ही है। उन्होंने समस्त वादों एवं पंथों का तिरस्कार करके सहज अद्वय ज्ञान मार्ग का प्रवर्तन किया था। सन्त सुन्दरदास ने स्पष्ट लिखा है—

और उपाय थके सबही तब संतन अद्वयज्ञान दयो है।[1]

उनके इस कथन की सार्थकता उनकी बानियों से स्पष्ट प्रकट होती है। उनकी बानियों में हमें सर्वत्र द्वैत का खण्डन और अद्वैत का मण्डन मिलता है। दो एक खण्डनात्मक उक्तियाँ इस प्रकार हैं—

क—द्वैत कछू नहि देखिये सुन्दर ब्रह्म अखण्डित एक को एका।[2]
ख—सुन्दर द्वैत कछू मत जानहु एकहि व्यापक वेद बतावे॥[3]

इसी प्रकार अद्वैत का मण्डन करनेवाली उक्तियों की भी कमी नहीं है।

क—सुन्दर विचारत यूं उपजै अद्वैत[4] ज्ञान
आप ह्वै अखण्ड ब्रह्म एक पहिचान्यो है।
ख—बोले सन्त कबीर भजन अद्वैता[5] बानी।

संतों ने इस अद्वैतवाद को ही वेदांत कहा है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने जिस श्रद्धा से अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है उसी श्रद्धा से वेदांत की चर्चा की है। संत भीखा साहब ने स्पष्ट लिखा है कि—संतों ने वेदांत का ही उपदेश[6] दिया है।

क—वेद वेदांत संत मुख भाखहि। ख—जेहि विधि कहत वेदांत संत गुरु सो कहि करत निबेरा। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट प्रमाणित है कि संतलोग अद्वैत वेदांती हैं। उनके अद्वैत वेदांत से दर्शन रूप में प्रचलित किसी भी अद्वैत दर्शन पद्धति का अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए। उनका अद्वैतवाद इन सबसे विलक्षण और स्वतंत्र है।

---

[1] सुन्दर विलास पृ० ११८
[2] ,, ,, ,, १२२
[3] ,, ,, ,, १२२
[4] सुन्दर विलास—पृ० १०६
[5] पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० ६०
[6] भीखा साहब की बानी क—पृ० १० । ख—पृ० १८

इनके द्वारा प्रस्थापित अद्वैतवाद सहज और स्वाभाविक अंतर दृष्टि प्रधान विचारधारामूलक अनुभव जन्य है। अन्य अद्वैत पद्धतियों के सदृश वह तर्क पर नहीं आधारित है। अपने इस कथन को स्पष्ट करने के लिए हम उनकी अद्वैतवाद प्रस्थापन प्रक्रिया पर थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहते हैं।

संतों के अद्वैतवाद को स्पष्ट करने से प्रथम हम उसके संक्षिप्त इतिहास का संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं। अद्वैतवाद के सहज और स्वाभाविक रूप का प्रतिपादन हमें ऋग्वेद में मिलता है। उसी का विस्तृत विवेचन उपनिषदों में हुआ है। यही वेदांत के नाम से प्रसिद्ध है। बादरायण ने अपने वेदांत सूत्र में उसी का शास्त्रीय शैली में निरूपण किया है। श्री मद्भगवत् गीता में भी इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। आगे चलकर वेदांत के इन तीनों ग्रन्थों के प्रस्थानत्रयी के आधार पर अनेक दार्शनिकवादों का प्रवर्तन हुआ। केवल अद्वैतवाद के ही ११ भेद बताये जाते हैं। इनमें स्थूल रूप से तीन बहुत प्रसिद्ध हैं—विज्ञानाद्वैत, शब्दाद्वैत, केवलाद्वैत। इनके अनेक भेदोपभेद प्रचलित हुए। इन सबमें सबसे अधिक ख्याति और प्रचार प्राप्त वशिष्ठ के आभासवाद, गौड़पाद के अजातवाद, शंकर के मायावाद, ईश्वराद्वैत के आभासवाद की है। संतों के अद्वैतवाद को इनमें से किसी कोटि में नहीं रखा जा सकता। इतना होते हुए भी उन पर इनका प्रभाव है। वास्तव में जैसा कि आगे के विवेचन से प्रकट हो जायगा उन्होंने जीव ब्रह्म और जगत की एकता प्रतिपादित करने के लिए सभी सिद्धांतों और दृष्टान्तों का उपयोग किया है जो उन्हें ज्ञात थे। वे चाहे किसी भी दर्शन पद्धति के हों इसकी उन्होंने चिंता नहीं की।

संतों का ब्रह्मनिरूपण उपनिषदों की सर्वात्मवादी शैली में हुआ है। कहीं-कहीं पर तो ऐसा अनुभव होता है कि उन्होंने औपनिषदिक उक्तियों का अनुवाद सा कर डाला है। उदाहरण के लिए भीखा साहब की निम्नलिखित उक्ति ले सकते हैं—

व्यापक ब्रह्म चहूँ जुग पूरन है सबमें सब ठामें।
आगे पीछे मध्य ऊर्ध्व अधः दहिने ओउ बामें॥[1]

छान्दोग्योपनिषद् में दी हुई निम्नलिखित उक्ति भीखा साहब की उपर्युक्त उक्ति से देखिए कितना साम्य रखती है—

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति[2]।

---

[1] भीखा साहब की बानी पृ० ५

[2] छान्दोग्योपनिषद् ७।२५।१

सर्वात्मवाद के अतिरिक्त सन्त लोगों ने उपनिषदों के ढंग पर ही तत्व की अद्वैतता एवं अखंडता का तथा शंकर के ढंग पर उसकी निर्गुणता और निर्विशेषता का प्रतिपादन भी किया है। उदाहरण के लिए हम संत सुंदरदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं—

> ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुन नित्य निरंजन और न भासै।
> ब्रह्म अखंडित है अध ऊरध बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै॥
> ब्रह्महिं सूच्छम स्थूल जहाँ लगि ब्रह्महिं साहिब ब्रह्महिं दासै।
> सुंदर और कछू मत ,जानहु ब्रह्महिं देखत ब्रह्म तमासै[1]॥

सन्तों ने अपने अद्वैतवादी ब्रह्म का निरूपण गौड़पाद के परमार्थ निरूपण के ढंग पर भी किया है। गौड़पाद ने अधिकतर परमार्थ निरूपण में नकारात्मक शैली का निरूपण किया है जैसे—

> न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
> न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता[2]॥

सन्तों ने भी गौड़पाद ,की शैली को अपनाया है। उदाहरण के लिए सन्त सुंदरदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

> पापन पुन्न न स्थूल न सून्य न बोलै न मौन न सोवै न जागै।
> एक न दो इन पुर्ष न जोइ कहै कहाँ कोई न पीछे न आगे॥
> वृद्ध न बाल न कर्म न काल न हर्ष न विसाद न सूझै न मागै।
> बंध न मोछ अमोछ न मोछ न सुंदर है न असुन्दर लागै[3]॥

संतों का अद्वैतवादी ब्रह्म निरूपण कहीं कहीं तांत्रिक अद्वैतवादी से भी प्रभावित प्रतीत होता है। तांत्रिक अद्वैतवादी अपने ब्रह्म की अद्वैतता प्रतिपादन करने के लिए चने और उसकी दालों का दृष्टांत दिया करते हैं। जिस प्रकार चना एक और अद्वैत होते हुए भी अपने अंतर में दो दालें छिपाए रहता है उसी प्रकार पर शिव अद्वैत और अखंड रूप है किन्तु उसके अंतर में शिव और शक्ति अन्तर्निहित रहते हैं। सन्त सुंदरदास ने ब्रह्म निरूपण के प्रसंग में तांत्रिकों के चने और दाल वाले दृष्टांत तक को दोहरा दिया है—

---

[1] सुन्दर विलास पृ० १९६
[2] माण्डूक्य कारिका २।३२
[3] सुन्दरविलास पृ० १९८

जैसे कोई अर्धनारी नटेसुर रूप धरे।
एक शीसहु तें होइ शक्ति नाम पाए हैं॥
तैसे ही सुन्दर वस्तु ज्यूं हैं त्यूं ही एक रस।
उभय प्रकार होइ आपही दिखाए है[1]॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों का ब्रह्मनिरूपण विविध प्रकार के अद्वैतवादी ब्रह्म निरूपण से प्रभावित है। उसे हम किसी वाद विशेष का ब्रह्म निरूपण नहीं कह सकते यह सबसे प्रभावित होते हुए भी मौलिक, नवीन और सहज प्रतीत होता है।

सन्त लोग ब्रह्म और आत्मा में कोई अंतर नहीं मानते थे। भीखा साहब ने स्पष्ट लिखा है[2]—

भीखा ब्रह्मरूप निज आतमा अनूप।

वे लोग आत्मा ब्रह्म की एकता में ही नहीं विश्वास करते थे वरन् जीव और ब्रह्म को भी अद्वैतरूप मानते थे। सन्त सुन्दर[3]दास ने लिखा है—

वही जीवरूप वही ब्रह्म है अकाशवत।

अब प्रश्न यह है कि जब जीव और ब्रह्म एक ही है तो फिर वे भिन्न क्यों भासित होते हैं। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए अद्वैतवादी अविद्या अज्ञान अथवा माया का आश्रय लिया करते हैं। विवर्तवाद प्रतिबिम्बवाद आदि सिद्धांतों की अवतारणा भी इसी प्रश्न के सुलझाव को दृष्टि में रखकर की गई है। जीव और ब्रह्म की अद्वैतता प्रति-पादित करने के लिए सन्तों ने भी इन सभी सिद्धांतों का आश्रय लिया है। सन्त सुन्दर दास ने अज्ञान को द्वैत का कारण बताते हुए लिखा[4] है—

छाइ अज्ञान रह्यो अभिअन्तर जानि सके नहीं आतम मूला।
सुन्दर यूँ समझे मन के भ्रम ज्ञान बिना निज रूपहिं भूला॥

इन्हीं सन्त ने एक दूसरे स्थल पर इसी भाव को अहंकार के सहारे व्यक्त करने की चेष्टा की है[5]।

सुन्दर कहत अहंकार ही ते जीव भयो।
अहंकार गये यह एक ब्रह्म आपु है॥

---

[1] सुन्दर विलास पृ० १६६
[2] भीखा साहब की बानी पृ० ७८
[3] सन्त बानी संग्रह पृ० १०२
[4] सन्त बानी संग्रह पृ० १०३ भाग २
[5] सुंदर विलास पृ० ११

सन्तों ने अद्वैत तत्त्व की प्रत्यक्ष अनेकता का स्पष्टीकरण शांकर अद्वैतवादियों की भाँति विवर्तवाद और प्रतिबिम्बवाद के सहारे करने की चेष्टा की है। संत[1] यारी साहब ने विवर्तवाद के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण स्वर्ण और आभूषण के दृष्टान्त से किया है। जिस प्रकार एक स्वर्ण से ही अनेक प्रकार के आभूषण बनकर भिन्न दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार एक ही अद्वैततत्त्व अज्ञान के कारण विविध जीवों के रूप में प्रतिभासित होता है। वह लिखते हैं—

गहने के गढ़े ते कहाँ सोनों भी जातु है।
सोनों बीच गहनो और गहनो बीच सोन है॥
भीतर भी सोनों और बाहर भी सोन दीसै।
सोनों तो अचल अंत गहनों को भीच है॥
सोन को तो आनि कीजै गहनो बरबाद कीजै।
यारी एक सोनो ता में दूजै कथन नीच है॥

प्रतिबिम्बवाद भी वेदान्त का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इसके सहारे भी तत्त्व की अद्वैतता सिद्ध की जाती है। सन्तोंने अपने अद्वैतवाद के प्रतिपादन में इस सिद्धांत का भी आश्रय लिया है। सन्त सुन्दरदास लिखते[2] हैं—

जैसे स्वान काच के सदन मध्य देखि और।
भूँकि भूँकि मरत करत अभिमान जू॥
जैसे गज फटिक सिला सूँ लरि तोरै दंत,
जैसे सिंह कूप माहिं समझ भुलान जू॥
जैसे कोउ फेरी खात फिरत सु देखै जग,
तैसे ही सुन्दर सब ते रोही अज्ञान जू॥
अपनो ही भ्रम सो तो दूसरो दिखाई देत,
आप हूँ बिचार कोऊ दूसरो न आन जू॥

सन्तों ने कहीं-कहीं पर ईश्वराद्वैती प्रतिबिम्बवाद के सहारे भी जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित की है। उदाहरण के लिए हम संत सुन्दर[3] दास की निम्नलिखित उक्ति ले सकते हैं।

देह को संजोग पाइ जीव ऐसे नाम भयो,
घट के संजोग घटाकास ही कहायो है।

---

[1] यारी साहब की रत्नावली पृ० ११०
[2] संत बानी संग्रह भाग २ पृ० १०७
[3] सुंदरविलास पृ० १०१

ईस्वर सकल विराट में विराजमान,
मठ के संयोग घटाकास ही कहायो है।
ईस्वर सकल विराट में विराजमान,
मठ के संयोग मठाकास नाम पायो है,
महाकास माहि सब घट मठ देखियत,
बाहिर भितर एक गगन समायो है॥
तैसे ही सुन्दर ब्रह्म ईस्वर अनेक जीव,
त्रिविध उपाधिभेद ग्रंथन में गायो है॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों ने जीव और ब्रह्म की अद्वैतता जितने प्रकार से संभव हो सकती है उतने प्रकार से सिद्ध करने की चेष्टा की है।

संत लोग केवल जीव और ब्रह्म की ही अद्वैतता में विश्वास नहीं करते थे वे जगत और ब्रह्म को भी अद्वैत रूप ही मानते थे। सुन्दरदास[1] ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है

तैसेही सुन्दर यह जगत है ब्रह्ममय,
ब्रह्म सो जगतमय वेद कह्यु है,

ब्रह्म और जगत की अद्वैतता सिद्ध करने के लिए संतों ने कार्य कारण संबंध पर भी विचार किया है। सन्त पलटू[2] साहब ने लिखा है—

आपुइ कारन आपुइ कारज बिस्वरूप परमात्मा।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है वह यह कि जब सन्त लोग ब्रह्म और जगत् को पूर्ण अद्वैतरूप मानते थे तो फिर उन्होंने उसे नश्वर और स्वप्नवत् क्यों कहा है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए वेदान्त के अध्यासवाद या अध्यारोपवाद के सिद्धांत का आश्रय लेना पड़ता है। वेदान्त[3] सूत्र के अनुसार वस्तु में अवस्तु का भ्रम हो जाना ही अध्यास है। ये लोग तात्त्विक दृष्टि से जगत् को ब्रह्म का वास्तुरूप मानते हैं। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वे उस जगत् को नश्वर कहते हैं। उनका कहना है कि अज्ञान से हम ब्रह्म में जगत् का आरोप कर लेते हैं। यह आरोपित जगत् ही नश्वर और स्वप्नवत असत् है। इस सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिए वेदान्तियों ने सीपी और रजत तथा सर्प और रज्जु आदि के दृष्टांत दिए हैं। वेदान्त का उपर्युक्त अध्यासवादी सिद्धांत संतों को अपने दृष्टिकोण के साथ पूर्णतया मान्य था। उन्होंने इसकी अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर की है। उदाहरण के लिए हम सन्त सुन्दरदास का निम्नलिखित उद्धरण दे सकते हैं—

---

[1] सन्त बानी संग्रह भाग २ पृ० १०९
[2] पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० २
[3] वेदान्त सूत्र १।१।१ का भाष्य भी देखिए

आदि हुतो नहिं अंत रहै मध्य सरीर भयो भ्रम कूपा।
भासत है कछु और कछू औरहि ज्यौं रजु में अहि सीपि में रूपा॥
देखि मरीच उठ्यो थिथि विभ्रम जानत नाहिं बहै रवि धूपा।
सुन्दर ज्ञान प्रकास भयो जब एक अखंडित ब्रह्म अनूपा॥

सन्तों ने ब्रह्म और जगत् की अद्वैतता की प्रतिपादना गौड़पादीय ढंग पर भी की है। गौड़पाद ने अजातवाद का प्रवर्तन किया था। उन्होंने सिद्ध किया है कि वास्तव में ब्रह्म के अतिरिक्त न तो कोई वस्तु है और न कोई वस्तु उत्पन्न होती है।[1] दृश्य सृष्टि केवल मन का भ्रम मात्र है। गौड़पाद का यह सिद्धांत जैसा कि हम पीछे दिखा आये हैं संतों को पूर्णतया मान्य था। संत पलटू[3] साहब ने लिखा है—

जहाँ जहाँ कछु है नहीं सब अपने मन का फेर।

सन्त सुन्दर[4]दास ने इस सिद्धांत को और भी सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है।

मन ही के भ्रम ते जगत यह देखियत,
मन ही के भ्रम गए जगत यह बिलात है॥

इस प्रकार सन्तों ने ब्रह्म और जगत् के अद्वैतभाव को स्पष्ट करने के लिए गौड़पाद तथा शंकर आदि सभी प्रसिद्ध अद्वैतवादियों के सिद्धांतों का आश्रय लिया है।

संतों के सहज स्वाभाविक अद्वैतवाद का स्पष्टीकरण उनकी मुक्ति संबंधी धारणा से हो जाता है। सन्त लोग मुक्ति को पूर्ण अद्वैतावस्था मानते थे। लोक में पूर्ण अद्वैत भाव को स्पष्ट करने के लिए नीर क्षीर और लवण और जल के दृष्टांत दिए जाते हैं। संतों ने मुक्ति की अवस्था के स्पष्ट करने के लिए इन दोनों दृष्टांतों का उपयोग किया है। संत[5] दादू लिखते हैं—

ज्यों पैसे दूध में ज्यों पाणी में लूण।
ऐसे आतम राम सौं मन हठ साधे कूण॥

दयाबाई ने दृष्टांतों आदि के चक्कर को निरर्थक समझकर निर्वाण की अवस्था का स्पष्ट रूप से परम अद्वैत रूपी कह दिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सन्त लोग मुक्ति को पूर्ण और परम अद्वैतरूप मानते थे।

---

[1] सुन्दर विलास पृ० १७०
[2] देखिए इस ग्रंथ में गौड़पाद का अजातवाद और सन्त कवि शीर्षक।
[3] पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० ७४
[4] सुंदरविलास पृ० ६६
[5] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० १०२

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सहज अद्वैत भाव की अभिव्यक्ति के जितने प्रकार, जितनी शैलियाँ जितने सिद्धांत और उनमें प्रयुक्त होनेवाले दृष्टांत संतों को ज्ञात हो सकते थे उन्होंने उन सबका निर्विरोध भाव से उपयोग किया है यही कारण है कि उनके दार्शनिक चिंतन में हमें मध्ययुग की अधिकांश दर्शन पद्धतियों के सिद्धांतों की छाया दिखलाई पड़ती है। अनेकानेक दार्शनिक वादों के सिद्धांतों को अपनाने के कारण उन्हें किसी एक वाद या सम्प्रदाय के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि उनकी विचारधारा-संग्रह मात्र है। ऐसी भ्रांति तभी हो सकती है जब कि उनके लक्ष्य का ज्ञान न हो। संतों के जीवन का लक्ष्य सहज दर्शन, सहज साधना और सहज जीवन का उपदेश देना था। सहज दर्शन के रूप में उन्होंने अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन किया है। अद्वैत वेदान्त से उनका तात्पर्य किसी वाद विशेष से नहीं होता था। वे उसके सहज स्वाभाविक रूप का प्रतिपादन करना चाहते थे। उसके प्रतिपादनार्थ ही उन्होंने उन समस्त सिद्धांतों और दृष्टांतों का उपयोग किया है जो उन्हें अपने लक्ष्य की पूर्ति में उपयोगी प्रतीत हुए थे। सच तो यह है कि भिन्न-भिन्न वादों के सिद्धांत उनकी लक्ष्य विशेष की ओर उन्मुख प्रतिभा के साँचे में ढलकर मौलिक नवीन और सहज अद्वैतवादी वेदान्त के रूप में निखर आये हैं।

छठा अध्याय

संतों की आध्यात्मिक साधनाएँ—

सन्तों का लक्ष्य—संतों की साधनाएँ—कर्ममार्ग—कर्ममार्ग का सहजीकरण ज्ञान-उपमा—सन्तों का स्वरूप—सन्तों में ज्ञान का स्वरूप संतों—द्वारा ज्ञानमार्ग का सहजीकरण—योग साधना और संत कवि—

योग का अर्थ—योग के प्रकार—योगमार्ग के मूलभूत सिद्धांत—अष्टांग योग साधना—हठयोग साधना—

हठयोग के प्रकार—

परिमिता—दशवायु—प्रत्याहार—नाड़ी विचार—मुद्राओं का महत्त्व—षट्कर्म—कुंडलिनी-उत्थापन प्रक्रिया—चक्रों का वर्णन—

संतों की हठयोग साधना—

लययोग—हिंदू तांत्रिकों के अनुसार नादलय साधना—मंत्रयोग—गोरखपंथियों की नादबिंदु साधना—राजयोग साधना—ध्यानविज्ञानयोग—शब्दोच्चारक अथवा शब्द योग—सन्तों का शब्द सुरति योग—सहजयोग—

संतों की भक्ति साधना—

भक्ति का महत्त्व और स्वरूप—सन्तों की भक्ति में प्रेम और विरह तत्त्व—आसक्तियाँ—भक्ति के अनिवार्य साधन—भक्ति के पोषक साधन—भक्ति के बाधक तत्त्व—भक्ति के प्रकार—सन्तों की भावभक्ति की प्रमुख विशेषताएँ—भक्ति मार्ग का सहजीकरण—

सन्तों की आध्यात्मिक साधनाएँ

सन्तों का लक्ष्य—निर्गुणियाँ सन्तों का लक्ष्य आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य स्थापित करना था। संत दादू ने स्पष्ट घोषणा की है—

तुममें ही मेरा धनी परदा खोल दिखाय।
आतम सो परमातम परगट आन मिलाय॥[1]

---

[1] दादूदयाल की बानी—भाग १, पृ० २

इसी भाव की पुनरावृत्ति उन्होंने एक दूसरे स्थल पर भी की है।

सहजभाय सुख समाय जीव ब्रह्म में काय रे।[1]

अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्हें कई आध्यात्मिक साधनाओं का आश्रय लेना पड़ा है।

सन्तों की साधनाएँ—जैसा कि संत नानक ने लिखा है। साधनाएँ संख्या में असंख्य और अगम्य हैं।[2] किन्तु भारतीय अध्यात्म क्षेत्र में सबसे अधिक प्रतिष्ठा चार साधना मार्गों की रही है। कर्म, उपासना, ज्ञान और योग। संतों में प्रथम के प्रति उपेक्षा तथा अन्य तीनों के प्रति श्रद्धा-भाव प्रकट किया है। अब प्रश्न यह है कि संतों ने इन तीनों को अलग अलग अपनाने की चेष्टा की है या इनके समन्वित रूप को महत्त्व दिया है। हमारी अपनी दृढ़ धारणा यह है कि उन्होंने उपर्युक्त तीनों साधनाओं का समन्वय कर तथा उस समन्वित रूप का सहजीकरण करके एक नये साधना मार्ग का प्रवर्तन किया है। उसे हम सहज साधना का अभिधान दे सकते हैं। वास्तव में उनकी साधना का चरम और अन्तिम रूप यही है। शास्त्रीय कर्म, उपासना ज्ञान और योग उसके चार सोपान मात्र हैं। इन सोपानों के क्रमिक महत्त्व के संबंध में संतों में थोड़ा मतभेद है। कबीर आदि ज्ञान को प्रथम सोपान मानते थे। इसीलिए उन्होंने लिखा है वे कायरे हैं जिन्होंने ज्ञान का विचार नहीं किया है। उनका जन्म संसार में वृथा ही समझना चाहिए।[3] भक्ति को सब साधनों का मूलाधार समझने वालों के मुखिया संत चरनदास हैं। उन्होंने साधना की वृक्ष रूप में कल्पना करते हुए लिखा है साधना रूपी वृक्ष का मूल भक्ति है, ज्ञान फल और योग शाखा है।[4] योग को साधक आधारभूमि मानने वालों में गुलाल साहब विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने एक स्थल पर शब्द सुरति योग को सब साधनों का आधार स्तंभ बनाने की चेष्टा की है।[5] इतना होते हुए भी इनमें से किसी के भी मत को हम सिद्धांत रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। क्यों

---

[1] वही पृ० ६८

[2] असंख्य जप असंख्य भाव पूजा असंख्य तप ताप
असंख्य ग्रन्थ मुखि वेद पाठ असंख्य जोग मन रहहि उदास
नानक—संतसुधासार, पृ० २१८

[3] कबीर ग्रन्थावली—पृ० २१०
कायरे से ज्ञान विचार न पाया बिरथा जनम गँवाया।

[4] चरनदासी संग्रह भाग १—पृ० १०१
ज्ञान विवेक के फले फूल जहँ शाखा जोग की भक्ति मूल।

[5] गुलाल साहब की बानी पृ० १००

कि संतों का प्रमुख लक्ष्य तीनों के समन्वित रूप पर बल देना था, उनका पारस्परिक क्रम निर्णय करना नहीं। सन्त लोग वैसे तो उपासना, ज्ञान और योग इन तीनों को समान महत्त्व देते थे, किन्तु शिष्य की प्रवृत्ति देखकर इनमें से किसी एक पर उसकी रुचि के अनुरूप बल देना भी आवश्यक समझते थे। सहजोबाई ने लिखा भी है कि गुरु को चाहिए कि शिष्य की मनोवृत्ति परखकर उसी के अनुरूप उपासना ज्ञान और योग में से किसी एक की दीक्षा[1] दे। किन्तु इसका यह अर्थ न समझना चाहिए कि संत लोग उपासना, ज्ञान और योग आदि के परम्परागत रूप के अनुयायी थे। उन्होंने जहाँ अन्य क्षेत्रों में अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है वहाँ साधना क्षेत्र को भी अपनी प्रतिभा से चमत्कृत कर दिया है। उन्होंने परम्परागत साधनाओं का सहजीकरण किया है। कर्म, उपासना, ज्ञान और योग साधनाओं का सहजीकृत रूप ही संत मत का मान्य है। किन्तु यहाँ एक बात स्मरण रखने की है। वह यह कि संतों ने अपनी सहजसाधना की प्रतिष्ठा साधनाओं के परम्परागत रूपों की पृष्ठभूमि पर ही की है। यही कारण है कि उनमें कर्म, ज्ञान, उपासना और योग के परम्परागत रूपों की झाँकी के अन्तर्गत सहज साधनारूपी देवी प्रतिष्ठित मिलती है।

कर्ममार्ग—कर्ममार्ग के प्रति संतों का लगाव बहुत कम था। केवल सुन्दर दास आदि दो-एक संतों ने ही साधनाओं के प्रसंग में कर्ममार्ग की चर्चा कर दी है किन्तु ब्रह्म और जीव के तादात्म्य लाभ में वे कर्म मार्ग को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं देते थे। यह बात उनके साधना संबन्धी वृक्ष के रूपक से प्रगट है। उन्होंने लिखा है साधन एक वृक्ष के सदृश है। कर्म उसके पत्र, ज्ञान फूल और योग फल है।[2] अन्य सन्तों ने तो कर्ममार्ग की घोर निन्दा की है। सन्त कबीर इस मार्ग को बंधनरूप मानते थे।[3] तुलसी साहब ने उसे भ्रम रूप कहा है।[4] सहजोबाई उसे घोर दुःख रूप समझती

---

[1] सहजोबाई की बानी पृ० २

ज्ञान भक्ति और जोग का भेद लेवे पहिचान।
जैसी जाकी बुद्धि सोई बतावै ज्ञान॥

[2] सन्त सुधासार पृ० ५८०

कर्मपत्र कर जानिए मंत्र पुष्प पहिचान।
सम्यग्दर्शन फलरूप है प्रगट लोकियो जान॥

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० १८०

'कर्म करत बधे अहमेव'

[4] तुलसी साहब का शब्द सागर पृ० ११

बार बार के मरन मरन में कर्म भर्म की मार।

थी।[1] पलटू बेचारे कर्म के दागों को निराकृत करने में ही प्रयत्नशील रहे।[3] भीखा भी उसे दुःख का ही कारण रूप कहते थे।[2] दयाबाई का तो यहाँ तक कहना है कि जीव कर्म के कारण ही भव के अन्ध कूप में पड़ता है।[4] कर्म का विस्तारक्षेत्र लोक और वेद है। इसीलिए संतों ने कर्ममार्ग के साथ साथ लोक और वेद की भी निन्दा की है। संत कबीर ने लिखा है "मैं लोक और वेद के साथ चला जा रहा था तो भाग्य से मार्ग में गुरु मिल गये। उन्होंने ज्ञान का दीपक देकर मेरा उद्धार कर दिया। उस ज्ञान दीप से आत्मा प्रकाशित हो उठी।"[5] इसी प्रकार पलटू साहब ने भी लोक और वेद की निन्दा ही की है।

यद्यपि कर्ममार्ग बन्धन का कारण है, भ्रमरूप है और जीव को भव के अन्ध कूप में डालनेवाला है, फिर भी शरीरधारी प्राणी उससे निवृत्ति नहीं पा सकता। गीता में भगवान् ने स्पष्ट लिखा है कि कोई भी मनुष्य एक क्षण भी कर्म किये हुए बिना नहीं रहता, प्रकृति के गुण प्रत्येक परवश मनुष्य को सदा कुछ न कुछ कर्म करने में लगाया ही करते हैं।[6] जब कर्मों से निवृत्ति हो ही नहीं सकती, उनका करना अनिवार्य ही है तो फिर उन्हें निष्काम बुद्धि करना चाहिए। यही गीता का उपदेश है। संतों ने उसे ज्यों का त्यों स्वीकार किया है। संत चरनदास ने लिखा है—

जाग तपस्या कीजिया सकल कामना त्याग
ताकू फल मत चाहियो तजो दोष अरु राग
अष्ट सिद्धि जो पै मिलैं तऊ न कीजो नेह।
धरि हिरदै परमात्मा त्यागे रहियो देह—[7]

निष्काम कर्म के अतिरिक्त संतों ने कर्मों को ईश्वरार्पित करने का उपदेश भी दिया है। वे लिखते हैं—'जो कीजिए हरि हेत ही।' यहाँ पर भी गीता का ही प्रभाव दिखाई पड़ता है।

---

[1] सहजोबाई की बानी पृ० ४२
कर्मन के घेरे विच जन्म-जन्म दुख होय।
[2] भीखा साहब की बानी पृ० ४
[3] पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० ९९
[4] दयाबाई की बानी पृ० १
[5] कबीर ग्रंथावली पृ० २ साखी ११
[6] गीता ३।५
नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
[7] चरनदास की बानी पृ० ७२

कर्ममार्ग का सहजीकरण—संतों ने कर्ममार्ग का सहजीकरण सहज जीवन के रूप में किया था।[1] पाखंडपूर्ण बाह्य आचारों से उन्हें घृणा थी। उनके स्थान पर उन्होंने सदाचरण प्रवृत्त होने का उपदेश दिया है। मलूकदास ने स्पष्ट लिखा है "परमात्मा जप तप आदि कठिन साधनों से नहीं प्रसन्न होता, वह उसी से प्रसन्न होता है जो दूसरों के प्रति करुणाभाव रखता है और उनके दुःख को अपना ही दुःख समझता है।"[2] सच तो यह है कि सदाचरण प्रवृत्तता संतमत की आधारभूत विशेषता है। उसका मूलभूत सिद्धांत है। संत कबीर ने स्पष्ट घोषणा की है कि लोग सहज-सहज तो चिल्लाते हैं, किन्तु सहज साधना क्या है, इसको नहीं समझते। धीरे धीरे विषय-वासनाओं से विरक्त हो जाना ही सहज मार्ग है। इसके लिए उसे काम, क्रोध, मोह, मद आदि पंचों को अपने अधीन करना होता है।[3] इन सबको साधक तभी स्वायत्त कर सकता है, जब वह सदाचारी और संयमी हो। वह सदाचारी और संयमी तभी हो सकता है जब सरल, सहज और स्वाभाविक ढंग से जीवन यापन करे। इसीलिए कबीर ने सीधे सच्चे मार्ग पर चलने का उपदेश दिया है—

साईं सेती साच चल औरां सूं सुध भाय।
भावै लाम्बे केस कर भावै घुरड़ि मुंडाय॥

सदाचारपूर्ण जीवन की यह सरलता ही कर्ममार्ग का सहजीकृत रूप है। संत साधना में इसको ही महत्व दिया गया है। इसका विस्तृत विवेचन "सहज साधना का स्वरूप" के प्रसंग में करेंगे। यहाँ पर इतना ही दिखाना अभिप्रेत है कि संतों ने कर्म मार्ग के सहजीकृत रूप को महत्व दिया है। उस सहजीकृत रूप का एक पक्ष सदाचार के साथ सीधे सच्चे ढंग से जीवन-यापन करना है।

---

[1] कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ४१

सहज-सहज सब कोई कहै सहज न चीन्है कोई।
जिन सहजै विषया तजी सहज कहीजै सोई॥
सहज-सहज सब कोई कहै सहज न चीन्हे कोय।
पाँचू राखै परसती सहज कहीजै सोई॥

[2] मलूकदास की बानी पृ० १६

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० ४१

सहज-सहज सब कोई कहै सहज न चीन्है कोइ
जिन सहजै विषया तजी सहज कहीजै सोइ।
सहज-सहज सब कोइ कहै सहज न चीन्हे कोय
पाँचू राखै परसती सहज कहीजै सोइ॥

कर्म मार्ग के सहजीकरण का दूसरा पक्ष करनी और कथनी की एकता है। संतों का दृढ़ विश्वास था कि कोरे उपदेश व्यर्थ होते हैं। वे उसी को सच्चा सहजीवादी संत मानते थे जो अपने उपदेशों के अनुरूप अपने जीवन को ढालने में समर्थ हो सके। कबीर कहते हैं ईश्वर उसी संत के समीप रहता है जो अपने उपदेशों को अपने जीवन में चरितार्थ करके दिखा देता है।[1] संत चरनदास करनी के बिना कथनी को वैसा ही सारहीन समझते थे जिस प्रकार चंद्र के बिना रात्रि निस्सार लगती है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि परंपरागत कर्म-मार्ग के प्रति संतों की कोई आस्था न थी। इतना ही नहीं वे उसे हेय भी समझते थे। किन्तु गीता के अनुसार कोई भी मनुष्य कर्मों से पूर्ण निवृत्ति प्राप्त ही नहीं कर सकता है। उसे कुछ न कुछ कर्म करने ही पड़ते हैं, चाहे उन्हें वह इच्छा से करे, अथवा अनिच्छा से। सम्भवतः इसीलिए उन्हें कर्म का भी सहजीकरण करना पड़ता है। इस सहजीकरण के दो पक्ष हैं—सदाचारपूर्वक सीधे सच्चे प्रकार से जीवन-यापन और कथनी के अनुसार करनी करना। इनके अतिरिक्त शेष कर्मों को वे बंधन रूप मानते थे। महात्मा कबीर के अनुसार मानव द्वारा किये गये कर्मों का कारण अहंभाव है। किसी भी कर्म को करके मानव अपने को उसका कर्ता समझने लगता है, यही उसका भ्रम है। इसी भ्रम से वह अहंकारजनित माया जाल में आबद्ध हो जाता है।[3] संसार के अधिकांश लोग कर्ममूलक इसी मायाजाल में बँधे हुए हैं। संतों ने इन कर्मजाल में बँधे हुए व्यक्तियों के लिए दो उपाय या दो साधन निर्दिष्ट किये हैं—ज्ञान और योग। कबीर[4], रैदास[5], गुलाल[6] आदि संतों ने कर्मजाल को ज्ञान की अग्नि में ही जलाने का उपदेश दिया है। भीखा साहब योग के पक्ष में थे। उनका विश्वास था कि साधक शब्द-सुरति योग से अपने कर्म जाल को भस्म कर सकता है।[7] इससे यह भी प्रकट है कि संत लोग कर्ममार्ग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० ३८
जैसी मुख तें नीकसै तैसी चालै चाल।
पार ब्रह्म नेड़ा रहै पल में करै निहाल॥

[2] करनी बिन कथनी इसी ज्यों ससि बिनु रजनी। चरनदास की बानी भाग १ पृ० ३८

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० १००
कर्म करम करै अहमेव

[4] कबीर ग्रंथावली पृ० १०८

[5] सन्त सुधासार पृ० १८६

[6] गुलाल साहब की बानी—पृ० ८७

[7] भीखा साहब की बानी—पृ० ७

और ज्ञानमार्ग का ही अधिक श्रेयस्कर समझते थे। किन्तु यहाँ पर एक बात फिर ध्यान में रखनी होगी, वह यह कि उपर्युक्त साधनाओं का परंपरागत रूप संतों का सिद्धांत रूप न था। कर्ममार्ग के सदृश उन्होंने इन मार्गों का भी सहजीकरण किया था।[1] उनके सहजीकृत रूप के प्रति ही उनकी सच्ची आस्था थी। आगे के विवेचन से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायगी।

सन्तों की ज्ञान साधना

सन्तों की ज्ञान मार्ग के प्रति प्रवृत्ति—संतों ने ज्ञान को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। संत कबीर ज्ञान के बिना जन्म ही निस्सार मानते हैं[2]। उनकी दृष्टि में ज्ञान और धर्म में कोई भेद ही नहीं है।[3] संत दरिया (बिहार वाले) के मतानुसार साधक को बिना ज्ञान के भगवान् के दर्शन हो ही नहीं सकते।[4] उसे बार-बार हंस चक्र में फँसना पड़ता है। पलटू साहब योगिक ब्रह्म की उपलब्धि भी ज्ञान के सहारे ही मानते हैं।[5] संत सुन्दरदास के अनुसार ज्ञानज्योति के बिना हृदय की अज्ञान ग्रंथियाँ ही नहीं उन्मुक्त होती हैं।[6] पलटू साहब ज्ञान अंजन के बिना जीव को अंधा ही मानते थे।[7]

ज्ञान का स्वरूप—यहाँ पर थोड़ा विचार ज्ञान के शास्त्रीय स्वरूप का कर लेना बड़ा आवश्यक है। ज्ञान के शास्त्रीय पक्ष का जितना व्यापक और स्पष्ट विवेचन महात्मा तुलसी ने अपने मानस के उत्तरकांड के ज्ञानदीप प्रकरण में किया है उतना

---

[1] सन्त बानी संग्रह पृ० १२

[2] कबीर ग्रन्थावली पृ० ११०
बावरे तैं ज्ञान विचार न पाया।
बिरथा जनम गँवाया ॥

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० २६२
जहाँ ज्ञान तहाँ धर्म है।

[4] दरिया साहब पृ० २९
ज्ञान बिना नहिं दीद दिखाई

[5] पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० ३१
ज्ञान हरि से बड़ा परतु है एकम हार मन जोगी है।

[6] सुन्दर विलास पृ० ६१
बिना ज्ञान पाए नहिं छूटत हृदय ग्रंथी।

[7] पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० ७८
अंजन देय न ज्ञान का अंधा भया बजाय।

कर्म मार्ग के सहजीकरण का दूसरा पक्ष कथनी और करनी की एकता है। संतों का दृढ़ विश्वास था कि कोरे उपदेश व्यर्थ होते हैं। वे उसी को सच्चा सहजीवादी संत मानते थे जो अपने उपदेशों के अनुरूप अपने जीवन को ढालने में समर्थ हो सके। कबीर कहते हैं ईश्वर उसी संत के समीप रहता है जो अपने उपदेशों को अपने जीवन में चरितार्थ करके दिखा देता है।[1] संत चरनदास करनी के बिन कथनी को वैसा ही सारहीन समझते थे जिस प्रकार चंद्र के बिना रात्रि निस्सार लगती है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि परंपरागत कर्म-मार्ग के प्रति संतों की कोई आस्था न थी। इतना ही नहीं वे उसे हेय भी समझते थे। किन्तु गीता के अनुसार कोई भी मनुष्य कर्मों से पूर्ण निवृत्ति प्राप्त ही नहीं कर सकता है। उसे कुछ न कुछ कर्म करने ही पड़ते हैं, चाहे उन्हें वह इच्छा से करे, अथवा अनिच्छा से। सम्भवतः इसीलिए उन्हें कर्म का भी सहजीकरण करना पड़ता है। इस सहजीकरण के दो पक्ष हैं—सदाचारपूर्वक सीधे सच्चे प्रकार से जीवन-यापन और कथनी के अनुसार करनी करना। इनके अतिरिक्त शेष कर्मों को वे बंधन रूप मानते थे। महात्मा कबीर के अनुसार मानव द्वारा किये गये कर्मों का कारण अहंभाव है। किसी भी कर्म को करके मानव अपने को उसका कर्ता समझने लगता है; यही उसका भ्रम है। इसी भ्रम से वह अहंकारजनित माया जाल में आबद्ध हो जाता है।[3] संसार के अधिकांश लोग कर्ममूलक इसी माया जाल में बँधे हुए हैं। संतों ने इन कर्मजाल में बँधे हुए व्यक्तियों के लिए दो उपाय या दो साधन निर्दिष्ट किये हैं—ज्ञान और योग। कबीर[4], रैदास[5], गुलाल[6] आदि संतों ने कर्मजाल को ज्ञान की अग्नि में ही जलाने का उपदेश दिया है। भीखा साहब योग के पक्ष में ही थे। उनका विश्वास था कि साधक शब्द-सुरति योग में अपने कर्म जाल को भस्म कर सकता है।[7] इससे यह भी प्रकट है कि संत लोग कर्ममार्ग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० १८
जैसी मुख तैं नीकसै तैसी चालै चाल।
पार ब्रह्म नेड़ा रहै पल मैं करै निहाल॥

[2] करनी बिन कथनी इसी ज्यों ससि बिनु रजनी। चरनदास की बानी भाग २ पृ० १८

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० २००
कर्म करत बधे अहमेव

[4] कबीर ग्रंथावली पृ० २०८

[5] सन्त सुधासार पृ० १८९

[6] गुलाल साहब की बानी—पृ० ८७

[7] भीखा साहब की बानी—पृ० ९

और योगमार्ग को ही अधिक श्रेयस्कर समझते थे। किन्तु यहाँ पर एक बात फिर ध्यान में रखनी होगी; वह यह कि उपर्युक्त साधनाओं का परंपरागत रूप संतों का स्वीकृत पक्ष न था। कर्ममार्ग के समान उन्होंने इन मार्गों का भी सहजीकरण किया था।[1] उनके सहजीकृत रूप के प्रति ही उनकी सच्ची आस्था थी। आगे के विवेचन से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायगी।

सन्तों की ज्ञान साधना

सन्तों की ज्ञान मार्ग के प्रति प्रवृत्ति—संतों ने ज्ञान को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। संत कबीर ज्ञान के बिना जन्म ही निस्सार मानते हैं[2]। उनकी दृष्टि में ज्ञान और धर्म में कोई भेद ही नहीं है।[3] संत दरिया (बिहार वाले) के मतानुसार साधक को बिना ज्ञान के भगवान् के दर्शन हो ही नहीं सकते।[4] उसे बार-बार उस चक्र में फँसना पड़ता है। पलटू साहब यौगिक ब्रह्म की उपलब्धि भी ज्ञान के सहारे ही मानते हैं।[5] संत सुन्दरदास के अनुसार ज्ञानप्राप्ति के बिना हृदय की अज्ञान ग्रंथियाँ ही नहीं छुटती हैं।[6] पलटू साहब ज्ञान अंजन के बिना जीव को अंधा ही मानते थे।[7]

ज्ञान का स्वरूप—यहाँ पर थोड़ा विचार ज्ञान के शास्त्रीय स्वरूप पर कर लेना बड़ा आवश्यक है। ज्ञान के शास्त्रीय पक्ष का जितना व्यापक और स्पष्ट विवेचन महात्मा तुलसी ने अपने मानस के उत्तरकांड के ज्ञानदीप प्रकरण में किया है उतना

---

[1] सन्त वाणी संग्रह पृ० १२

[2] कबीर ग्रन्थावली पृ० २३०
बावरे ते ज्ञान बिचार न पाया।
बिरथा जनम गँवाया॥

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० २१२
जहाँ ज्ञान तहाँ धर्म है।

[4] दरिया साहब पृ० २२
ज्ञान बिना नहिं मीठ दिखाई

[5] पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० ९२
ज्ञान हरि से भजन पाय है ब्रह्म ज्ञान तक जाती है।

[6] सुन्दर विलास पृ० ९२
बिना ज्ञान पाए नहिं छूटत हृदय ग्रंथी।

[7] पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० ७८
अंजन देय न ज्ञान का अंधा भया जहान।

शायद ही किसी आचार्य ने किया हो। तुलसी के अनुसार ज्ञानमार्ग के प्रमुख सोपान निम्नलिखित हैं :—

(१) सात्त्विक श्रद्धा
(२) शुभ कर्मों का आचरण
(३) भाव की पवित्रता
(४) मन की शुद्धता
(५) धर्माचरण
(६) निष्कामता
(७) जपतपादि गुणों का अस्तित्व
(८) विचारशीलता
(९) वैराग्य
(१०) योग
(११) बुद्धि की जागरूकता
(१२) चित्त की दृढ़ता
(१३) साधक का त्रिगुणातीत होना
(१४) सोऽहमस्मि का अखंड जाप
(१५) आत्मानुभव

तुलसी द्वारा निरूपित ज्ञान का यह स्वरूप बड़ा ही कष्टसाध्य है। धीर से धीर साधक भी इसके लम्बे-चौड़े साधना मार्ग को देखकर निरुत्साह हो सकता है। यदि कोई साहस करके इसका आचरण भी करे तो थोड़ी सी असावधानी क्षण भर में सम्पूर्ण प्रयत्नों पर पानी फेर सकती है। इन्हीं कारणों से प्रेरित होकर संतों ने ज्ञानमार्ग का सहजीकरण किया है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि संतों की बानियों में ज्ञान के उपर्युक्त स्वरूप की झाँकी ही नहीं मिलती। उनकी रचनाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि उन्होंने ज्ञान के उपर्युक्त सभी तत्त्वों के प्रति मान्यता प्रगट की है।

सन्तों में ज्ञानस्वरूप—सन्तों की बानियों में हमें शास्त्रीय ज्ञान मार्ग के सभी तत्त्वों की प्रतिष्ठा मिलती है। यहाँ पर उनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त संकेत कर देना अनुचित न होगा। सभी संतों के अनुसार साधक में सात्त्विक श्रद्धा का होना बड़ा आवश्यक है, क्योंकि आस्तिकता की आधारभूमि श्रद्धा ही है। जीव तभी तक व्याकुल रहता है जब तक वह ईश्वर में श्रद्धा और विश्वास नहीं करता। परमात्मा में श्रद्धा और विश्वास के

उत्पन्न होते ही जीव की सारी व्याकुलता नष्ट हो जाती है। संत सुन्दरदास ने लिखा "है, हे मानव तू व्यर्थ ही व्याकुल होता है। ईश्वर में श्रद्धा और विश्वास कर। तेरी सारी व्याकुलता नष्ट हो जावेगी।[1] इसी प्रकार कर्मों के अनुष्ठान पर भी संतमत में बल दिया गया है। संत चरनदास ने भक्ति और योग को उपदेश देते हुए शुभ कर्मों के आचरण का आदेश भी दिया है।[2] संत लोग भाव के शुद्धीकरण में भी विश्वास करते थे। क्योंकि जिसका जैसा भाव होता है वैसा ही उसका जीवन बन जाता है।[3] संतों ने मन की शुद्धीकरण पर भाव के शुद्धीकरण से अधिक महत्त्व दिया है। उनका दृढ़ विश्वास था कि इसको जीतने में ही मानव की जीत होती है।[4] ज्ञान के लिए उत्तम बुद्धि का होना भी परमापेक्षित है। संत लोग इस तथ्य से पूर्णतया परिचित थे। संत सुन्दरदास ने एक स्थल पर हीन बुद्धिवाले व्यक्ति की दुर्दशा का उल्लेख कर सद्बुद्धि की महत्ता की ओर सुन्दरता से संकेत किया है। वे लिखते हैं कि हीन बुद्धि वाला व्यक्ति स्वधर्म से भ्रष्ट रहकर इधर-उधर भटकता रहता है। वह चाहे कठिन तपस्या भी करे, मेघ, शीत, घाम आदि को सहन भी करे तथा चाहे कामनाओं के उद्रेक के भय से वह कन्दमूल फल खाकर जीवन-यापन करे, किन्तु उसे मुक्ति नहीं मिलती। बल्कि इसके विपरीत वह अपने आत्मस्वरूप भूलकर बंधन में बँधता जाता है।[5] संतों ने त्रिगुणातीत और तुरीयावस्था की प्राप्ति को अपनी साधना का लक्ष्य बनाया था। चरनदास ने अपने गुरु के उपदेश का उल्लेख करते हुए लिखा है कि शुकदेव गुरु ने मुझे त्रिगुणों से ऊपर रहने का स्थान दिया है।[6] यह ही तुरीय पद है। वहाँ दिन और रात नहीं होती। जहाँ तक धर्माचरण की बात है, संतों ने मानव को सदैव ही सद्धर्म पर चलने का उपदेश दिया है। मलूकदास ने धर्म के सौदे को सबसे अच्छा सौदा कहा है।[7] किन्तु उनका सद्धर्म संबंधी

---

[1] सुन्दर विलास पृ० ७६
सुन्दर क्यों बिललात फिरै अब राख हृदय विश्वास प्रभु को।

[2] संत चरनदास की बानी भाग २ पृ० ७२
भक्ति जोग और शुभ कर्म कीजी और निरास।

[3] सुन्दर विलास पृ० १११
सुन्दर जैसो ही भाव है आपको है सोई होय गयो यह प्राणी।

[4] मलूकदास की बानी पृ० १८
या के जीते जीत सब मैं पायो भेद।

[5] सुंदर विलास पृ० ६२

[6] त्रैगुन ते ऊपर है शुकदेव बतायो है।
चरनदास दिन रैन नहिं तुरिया पद पायो है॥

[7] मलूकदास की बानी पृ० ११

दृष्टिकोण प्रचलित दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है, इसका स्पष्टीकरण "धार्मिक विचारों" के प्रसंग में किया जायगा। निष्काम साधना पर भी संतों ने बहुत बल दिया है। चरनदास ने लिखा है कि साधना निष्काम भाव से ही करनी चाहिए।[1] संतोष, क्षमा, शील आदि उदात्त गुणों के महत्व से संत लोग पूर्णतया परिचित थे। संत मलूक ने संतोष के महत्व की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि मनुष्य संतोषादिक के अभाव में बहुत दुःख उठाता रहता है। विचारणा के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं। यह उनकी विचारधारा की मूल स्रोतस्विनी है। उसके महत्व का संकेत उन्होंने पग पग पर किया है। संत सुन्दरदास ने तो उसे रैन का दीप कहा है।[2] कबीर को आत्मविचारणा से अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि हुई थी।[3] योग वैराग भी संत-साधना के प्रमुख अंग थे। चरनदास ने लिखा है कि साधक को भोगों से विरक्त होकर योगाभ्यास में रत रहना चाहिए। तुलसी के समान ही संतों ने भी सोऽहं जाप का महत्व दिया है। संतों का अजपाजाप सोऽहं जाप ही है। गुलालसाहब ने लिखा भी है कि वह अजपाजाप से उत्पन्न होनेवाली सोऽहं डोर में बँधे हुए आत्मज्योति में लीन रहते हैं।[4] इसी प्रकार आत्मानुभव भी संतमत का प्राणभूत सिद्धांत है। इसको संतों ने सर्वोच्च स्थान दिया है। सुन्दरदास ने ज्ञान की चार कोटियाँ निर्धारित की हैं—श्रवण ज्ञान, मनन ज्ञान, निदिध्यासन ज्ञान और अनुभव ज्ञान। इनमें उन्होंने अनुभव ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ कहा है। श्रवण ज्ञान की समता साधारण अग्नि से की गई है। वह मायाजल के स्पर्शमात्र से शान्त हो जाती है। मनन ज्ञान विद्युत् के सदृश है, वह बरसते हुए मायाजल में भी नहीं बुझती है। निदिध्यासन ज्ञान बड़वाग्नि के सदृश है। किन्तु अनुभव ज्ञान प्रलयाग्नि के सदृश है। इसमें द्वन्द्वात्मक प्रपंच स्वयमेव विलीन हो जाता है। वह पूर्ण अद्वैतरूप है। दादू ने इसी लिए अद्वैतभाव को ज्ञानोदय का चिह्न माना है।[5] इस अद्वैतावस्था को संत लोग हद ससीम और बेहद असीम से परे मानते थे। इस अनुभव ज्ञान की

[1] चरनदास की बानी—भाग २, पृ० ३६
'प्रेम साधन करिये की रहिए निष्काम'

[2] सुन्दर विलास पृ० २
'सब का विचार कहूँ और न सुहात है,
सुन्दर कहत सोई रैनन को दीप है।'

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० ८१ पंक्ति ६।
आनन्द सार विचारिये तब कैसा होय अकथ रे।

[4] गुलालसाहब की बानी—पृ० ४७
अजपाजापहिं उपज सोई डोरि लागई।
गुलाल ताके पैठि जोति में पागई॥

[5] दादू साहब की बानी—भाग १, पृ० ११९

वस्तुनिष्ठ विचारणा से ही होती है। यही ब्रह्मानुभूति या आत्मानुभूति की अवस्था है। इसके उदय होते ही बाहर भीतर सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश ही प्रकाश दिखाई पड़ता है। अज्ञान का अंधकार विलीन हो जाता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों ने श्रुतिसम्मत ज्ञान मार्ग के सभी अंगों के प्रति मान्यता प्रगट की है। किन्तु इस मान्यता को उनका सिद्धांत पक्ष नहीं समझना चाहिए। उनका सिद्धांत पक्ष ज्ञानमार्ग का सहजीकृत रूप है, उसका शास्त्रीय स्वरूप नहीं। उसका शास्त्रीय स्वरूप तो उसके सहजीकृत रूप की आधारभूमि मात्र है। सहज भाव से विषय-वासना का परित्याग कर देना ही वास्तव में सहजज्ञान है।

संतों द्वारा ज्ञानमार्ग का सहजीकरण

संतों ने ज्ञानमार्ग का सहजीकरण सहज वैराग, सहज समदृष्टि, सहज विचारणा, और नाम ज्ञान से किया है। संत लोग वैराग के परम्परागत शास्त्रीय स्वरूप में विश्वास नहीं करते थे। उसके इसी स्वरूप की ओर संकेत करते हुए पलटू साहब ने लिखा है कि वैरागसाधना से जीते जी मर जाना अच्छा है।[2] संत लोग सहज वैराग की साधना में बड़ा महत्त्व देते थे। इसी सहज वैराग की ओर संकेत करते हुए यारी साहब ने लिखा है कि साधक बिना वैराग के परमात्मा के रहस्य को नहीं समझ सकता।[3] सहज वैराग्य का अर्थ वासना और विकारों का परित्याग मात्र है। संत कबीर ने लिखा भी है कि सहज ज्ञान की चर्चा तो सभी करते हैं किन्तु उसके स्वरूप को कोई नहीं समझता। इसके लिए वन में जाने की आवश्यकता नहीं होती। यदि वन में जाकर वैराग्य का ढोंग रचने पर भी साधक की विषय वासनाएँ दूर नहीं होतीं तो ऐसा वैराग्य बिल्कुल व्यर्थ है। इसीलिए कबीर[4] ने लिखा है—"कबहु सबै का कीजिए बेगन नहिं तजै विकार" संत दादू ने तो विकारों के सहज त्याग को ही अपने मत का सार कहा है।[5]

एक राम छाँडै नहीं छाडै सकल बिकार।
दादू सहजै होय सब दादू का मत सार॥

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० १०८

[2] पलटू साहब की बानी भाग १, पृ० २२
'जीवन से मरना भला नहिं भला है वैराग'

[3] यारी साहब की बानी पृ० ७
'बिन बैराग भेद नहीं पावे'

[4] क० ग्रं० पृ० १०८

[5] दादूसाहब की बानी भाग १ पृ० १६१
— —९०

संत लोग वैराग्य को केवल साधन मात्र मानते थे साध्य नहीं। साधन रूप में भी उसे अनिवार्य नहीं समझते थे। यदि गृहस्थ जीवन में सहज रूप से ज्ञानोदय हो जाये तो वैराग्य के आडम्बर रचने की कोई आवश्यकता नहीं होती। कबीर कहते हैं—[1] "कबीर जाग्याही चाहिये क्या ग्रह क्या बैराग" इसी प्रकार पलटू साहब ने भी लिखा है यदि मन विकार छोड़ दे तो घर में ही वैराग्य प्राप्त हो जाता है। विकार छुड़ाने का एकमात्र साधन साधु-सेवा है। इसीलिए सच्चा वैराग्य साधु-सेवा ही है।[2] सन्तों का सहज वैराग्य यही है। उनके सहज ज्ञानमार्ग का यही प्रमुख तत्त्व है।

सन्तों के सर्वोत्कृष्ट ज्ञानमार्ग का दूसरा प्रमुख तत्त्व सहज विचारणा है। सन्त कबीर विचारणा को सहज मार्ग का प्रमुख सोपान मानते थे।[3] सन्त सुन्दरदास ने आत्मदर्शन की उपलब्धि आत्म विचारणा से मानी है।[4]

आत्म विचार किये आतम ही दीसै एक।
सुन्दर कहत कोइ दूसरो न आन है॥

आत्मदर्शन की यह अद्वैतानुभूति ही ज्ञानोदय का चिह्न है[5]—

"दादू एकै रह गया तब जानी जाना"

यह विचारणा साधक में पूर्ण वैराग्य की स्थिति उत्पन्न कर देती है। पूर्ण परमात्मा के विचारों में मग्न रहने के कारण साधक को स्वभाव से ही काम क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार स्पर्श नहीं करते हैं। समस्त इन्द्रियों के रहते हुए भी साधक इन्द्रिय रहित सा रहता है क्योंकि उसके विषय इन्द्रियों को आकृष्ट नहीं कर पाते हैं। इन्द्रियाँ उसी परमात्मा के विचारों में निमग्न रहती हैं। विचारों की इस निमग्नता में साधक को सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म दिखलाई देता है।

---

[1] क० ग्रं० पृ० २११

[2] पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० १८
"घरही त्यागि तन करै सो बैराग प्रमान।
सो बैराग प्रमान सेवा साधुन की कीजै॥
तब छूटै संसार बूड़ घर ही में लीजै।"

[3] क० ग्रं० पृ० २११
अपने विचार पसार कीजै सहज के पावड़े पग धरि दीजै॥

[4] सन्त बानी संग्रह पृ० १०६

[5] दादू साहब की बानी भाग १ पृ० ११४

मारिहु बैतहु सम्यहु ब्रह्महि है सब ब्रह्म यही मतिठानी।
सुन्दर ज्ञेय अरु ज्ञानहु ब्रह्महि आपहु ब्रह्महि जानत ज्ञानी॥[1]

सहज विचार से उत्पन्न होनेवाले सहजज्ञान का अखंड स्वरूप यही है।

सहज ज्ञान की अखंड स्थिति सहज समदर्शिता से भी प्राप्त हो जाती है इसी लिए सन्तों ने समदर्शिता को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। सन्त दादू ने लिखा है[2]—

निरवैरी सब आतमा परमातम जानै।
सुखदाई समिता गहै आपा नहीं आनै॥

गरीबदास जी स्वयं राम को समता रूप मानते थे।[3]

समता रूपी रामजी सब सों एकहि भाव।

सन्त रज्जबदास ने भी समता ज्ञान को ही महत्त्व दिया है। उन्होंने उसकी ओर संकेत करते हुए लिखा है[4]—

"रज्जब समता ज्ञान विचारा, पंच तत्त्व का सकल पसारा।"

समता ज्ञान के स्वरूप को पलटू साहब ने अधिक सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है। वह लिखते हैं[5]—

संग्रह त्याग नहीं कछु एको नहीं मान अपमाना।
सम्पति विपति अस्तुति निंदा न कछु लाभ न हानि॥

इसी प्रकार और अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से सन्तों ने समत्व भाव की सहज प्राप्ति पर बल दिया है।

सन्तों ने अपने सहजीकृत ज्ञानमार्ग में नाम ज्ञान के महत्त्व का बड़े प्रवेग पूर्ण शब्दों में प्रतिपादन किया है। सन्त चरनदास ने लिखा है—"चार वेद और अठारह पुराणों का सारभूत ज्ञान नाम ज्ञान ही है।[6] सन्त भीखा साहब ने नाम की महिमा और भी अधिक प्रभावपूर्ण शब्दों में वर्णित की है। वे नाम को ही सर्वस्व और अद्वैत रूप

---

[1] सुन्दर विलास पृ० १३६
[2] सन्त बानी संग्रह भाग २ पृ० ८१
[3] सन्त सुधासार पृ० २०८
[4] सन्त सुधासार पृ० २०३
[5] पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० ८६
[6] चरनदास की बानी भाग २ पृ० ७०
'सबिहि ऊँचा नाम है सब बानी का जीव।
चार वेद और चारि दस मथि करि काढ़ा घीव॥"

मानते थे। इसी सर्वस्व और अद्वैत रूप नाम के ज्ञान का महत्त्व संकेत उन्होंने लम्बे-चौड़े शब्दों में किया है।[1]

नामै चाँद सूर दिन राती। नामै किरीतम की उतपाती।
नाम सरसुती जमुना गंगा। नामै सात समुद्र तरंगा॥
नामै गहिर अगाध अथाह। असरन सरन को चरन निबाह।
मूल गायत्री ओ ओंकार। सत पुरुष पद सूक्ष्म सार॥
पलक हरियाम पुरी हरिनाम। नामै ठाकुर सालिगराम।
सिव ब्रह्मा मुनि सबकी नायक। भीखा नाम साहब सुख दायक॥

इसी प्रकार उन्होंने एक दूसरे स्थल पर भी नाम की महिमा का वर्णन किया है[2]। संत गुलाल साहब ने तो यहाँ तक लिखा है "बिना नाम ज्ञान के मनुष्य अज्ञानांध रहता है और उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती[3]।" इसीलिए उन्होंने नाम ज्ञान को सच्चा ज्ञान कहा है—

नाम न जानहु सत्य ज्ञान। (गुलाल साहब की बानी पृष्ठ ६२)

योग साधना और संत कवि

योग का अर्थ—संस्कृत साहित्य में योग शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है[4]। उनमें दो अर्थों का विशेष प्रयोग और प्रचार रहा है। उन दो में एक विशेष है और दूसरा सामान्य। योग का सामान्य अर्थ साधना लिया जाता है। भी

---

[1] भीखा साहब की बानी पृ० १०

[2] भीखा साहब की बानी पृष्ठ ११

"नामै पानी नामै पवना। रविकर मंगल पुहुप बरना॥
नामै धाती नाम अकास। नामै पावक तेज प्रकास॥
नाम महादेव देवन को देवा। नामै पूजा करता सेवा॥
नाम अन्य गुरु नामै दाता। नामै ब्राह्म विष्णु विधाता॥
नाम सुमेर महा गम्भीर। नामै पारस अथाह नीर॥
नाम अमोल लोक मर्त रहिता। कलपद्रुम चौसठि को कहिता॥
नामै रिद्धि-सिद्धि को करता। नामै कामधेनु है भरता॥
नाम अनादि एक को एक। भीखा शब्द सरूप अनेक॥

[3] गुलाल साहब की बानी पृष्ठ ६६

"बिना नाम नहिं मुक्ति जीव सब बोहया"

[4] योग के विविध निर्वचनों के लिए देखिए 'कल्याण' का योगांक पृ० ८

मद्भागवत[१] में तथा कुछ अन्य प्राचीन ग्रंथों में कई स्थलों पर यह अपने सामान्य अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। योग का विशेष अर्थ कुछ पारिभाषिक सा हो गया है। पिंडस्थ आत्मा के परमात्मा में अंतर्भाव को योग कहा जाता है[२]। यजुर्वेद[३] तथा अन्य बहुत से प्राचीन ग्रन्थों में यह अपने इसी अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। पिण्डस्थ परमात्मा में पिण्डस्थ आत्मा को लय करने के जितने प्रयास किये गये हैं वे सब योग के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। ये प्रयास संख्या में लाखों बतलाये गये हैं[४]। श्रीमद्भागवद्गीता जैसे छोटे से ग्रन्थ में भी लगभग अठारह प्रकार के योगों की चर्चा की गई है। उनमें निम्नलिखित विशेष प्रसिद्ध हैं—कर्मयोग[५], दैवयज्ञ[६], योग, आत्मसंयम योग[७], समत्व योग[८], योगयज्ञ[९], ब्रह्मयोग[१०], संन्यास योग[११], अभ्यास योग[१२], ज्ञानयोग[१३], ऐश्वर्य योग[१४], बुद्धियोग[१५], आत्मयोग[१६], भक्ति योग[१७] और ध्यान योग[१८]।

---

[१] श्रीमद्भागवत ११।२०।६

'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति॥'

[२] हठयोग प्रदीपिका की भूमिका—योगी श्रीनिवास आयंगर—पृ० ६

[३] यजुर्वेद की निम्नलिखित ऋचा में योग शब्द अपने पारिभाषिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है—यजुर्वेद ११।१४। यह ऋचा ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी मिलती है। देखिए—ऋग्वेद १०।११०।६, अथर्ववेद ३।१०।२

[४] हठयोग प्रदीपिका ४।६६

[५] गीता ३।३

[६] गीता ४।२५

[७] गीता ४।२७

[८] गीता २।४८

[९] गीता ४।२८

[१०] गीता २।६१

[११] गीता ६।२

[१२] गीता ८।८

[१३] गीता ३।३

[१४] गीता ९।५

[१५] गीता १०।१०

[१६] गीता १०।१८

[१७] गीता १४।२६

[१८] गीता १८।२१

योग के प्रकार :—यद्यपि योग लाखों प्रकार का हो सकता है किन्तु इन सब को हम योग की प्रशाखाएँ ही मानेंगे। ये समस्त प्रशाखाएँ अष्टांग योगरूपी वृक्ष की चार प्रमुख शाखाओं—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग से ही प्रस्फुटित हुई हैं। योग दर्शनोपनिषद् में लिखा है—'योग बहुत प्रकार का होता है किन्तु व्यवहार[1] भेद से उसके प्रमुख चार भेद अथवा पक्ष माने गये हैं। इन चारों की भी आधारभूमि महर्षि पतंजलि का अष्टांग योग है। वास्तव में योग की शाखाओं और प्रशाखाओं का विकास अष्टांग योगरूपी वृक्ष में ही हुआ है। प्राचीन भारत में अष्टांग योग की ही प्रतिष्ठा अधिक थी। किन्तु मध्ययुग में आकर उससे प्रस्फुटित हठयोग, लययोग, मंत्रयोग और राजयोग का प्रचार बढ़ा। और आगे चलकर इन चारों में अनेक शाखाएँ प्रशाखाएँ प्रस्फुटित हुईं। निर्गुणियाँ कवियों ने सहजयोग शब्द सुरति योग नामक दो नवीन योग साधनाओं का प्रवर्तन किया। इन साधनाओं की सृष्टि पूर्ववर्ती विविध धाराओं के तत्वों के सहयोगीकरण से हुई थी। अतएव इनके शब्द सुरति योग तथा सहजयोग का स्वरूप तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक इनकी समस्त पूर्ववर्ती धाराओं का स्पष्टीकरण न हो जाए। एक बात और भी है। संत लोग सत्य के वैज्ञानिक परीक्षणों में विश्वास करते थे। उन्होंने प्राचीन सत्य तत्वों की परीक्षा अपने अनुभव की प्रयोगशाला में की थी। उनमें से जो सत्य उन्हें खरे दिखाई पड़े, उनका उन्होंने वहाँ स्वागत कर लिया। इन स्वानुभूत सत्य तत्वों के सहारे उन्होंने अपने अभिनव सत्य स्वरूपों का संगठन किया। योग क्षेत्र में उनके परीक्षण कुछ संख्या में अधिक हुए थे। अनेक योग संबंधी परीक्षणों से सम्बन्धित बातें उनकी बानियों में मिलती हैं। यही कारण है कि उनकी योग सम्बन्धी बानियाँ अत्यधिक जटिल हो गई हैं। कहीं कहीं पर तो एक ही पद में योग की कई धाराओं से सम्बन्धित परीक्षणों की बातें संकलित कर दी गई हैं। परीक्षण सम्बन्धी बातें भी दो रूपों में व्यक्त हुई हैं। एक परम्परागत रूप में और दूसरे [illegible] रूप में। इससे उनके योग वर्णनों में और भी अधिक जटिलता आ गई है। सहचारी व्यक्तियों की बात तो मैं नहीं कह सकता किन्तु मेरा अपना विश्वास यह है कि संतों के योग सम्बन्धी विचारों की व्याख

[1] योग दर्शनोपनिषद्—पृ० ११०

'योगोहि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठयोगो राजयोगकः॥'

गोरखनाथ के अमरौघ प्रबोध नामक ग्रन्थ में इन चारों का क्रम इस प्रकार है—

"अत्र योगा हठश्चैव मन्त्रयोगस्तृतीयकः।
मन्त्रयोगो राजयोगश्च द्विधाभाव विवर्जिता॥"

—अमरौघ प्रबोध का तीसरा श्लोक

के पुस्तक ज्ञान में निपुण मानव के लिए समझना लगभग असम्भव ही है। संतों ने अनुभव की बात कही है और उसको समझ भी अनुभवी लोग ही सकते हैं। संतों की यौगिक साधना को समझते समय संतों की एक प्रवृत्ति और विशेषरूप से ध्यान में रखनी पड़ेगी। वह है सहजीकरण की प्रवृत्ति। उन्होंने प्रचलित योग साधनाओं के सहजीकृत रूपों को ही अपनाने की चेष्टा की थी फिर भी वे उन्हें सिद्धांत रूप में स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने सिद्धांत रूप में शब्द सुरति योग और सहज योग की स्थापना की है। अन्य योग प्रणालियों को उन्होंने उपर्युक्त दोनों योगों की पृष्ठभूमि के रूप में ही वर्णित किया है। पृष्ठभूमि के रूप में संतों ने जिन योग पद्धतियों की वर्णना की है उनमें से विशेष विचारणीय निम्नलिखित हैं—

(१) अष्टांग योग
(२) हठयोग
(३) लय योग
(४) मंत्र योग
(५) राज योग—राजाधिराजयोग—ब्रह्मतारक योग
(६) समत्व योग
(७) आत्मदर्शन योग

योगमार्ग के प्राणभूत सिद्धान्त

विविध प्रकार की योग साधनाओं का स्वरूप स्पष्ट करने के पहले हम योग शास्त्र के एक मूलभूत सिद्धान्त को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। उस सिद्धान्त का निर्देश सन्त कबीर ने अत्यन्त संक्षेप में 'जा पिण्डे सो ब्रह्माण्डे जान' कहकर किया है। शिवसंहिता में उसी का इस प्रकार व्यक्त किया गया है।

> ब्रह्माण्ड संज्ञके देहे यथा देशे व्यवस्थितः।
> मेरु शृंगे सुधारश्मिर्बहिरष्ट कलायुतः॥ शिव सं० २।५॥

अर्थात् शरीर ब्रह्माण्ड संज्ञक है जिस तरह संसार में सब देश और सुमेरु पर्वत है। उसके ऊपर सुधाकर स्थिति है। गोरखनाथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में इस सिद्धान्त का निरूपण बड़े विस्तार से किया है।[1] उन्होंने समस्त ब्रह्माण्ड को घट में घटित करके दिखा दिया है। कहना न होगा कि यह सिद्धान्त समस्त योग-पद्धतियों की आधारभूमि है।

इसी प्रसंग में हठयोग का एक दूसरा आधारभूत सिद्धान्त भी स्पष्ट कर देना

---

[1] सिद्ध सिद्धान्त पद्धति का तृतीय पटल देखिये

जाते हैं। शरीर में जीवात्मा और परमात्मा दोनों अवस्थित रहते हैं। उन दोनों को मिलाना ही योग है। इस सिद्धान्त की व्यंजना शिवसंहिता के निम्नलिखित श्लोक से जिसमें योग की परिभाषा दी गई, होती है।

प्राणापान नाद बिंदु जीवात्मपरमात्मना।
मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते॥ शि० सं० ३।६६

अष्टांग योग साधना—अष्टांग योग का प्रतिपादन योगशास्त्र के प्रसिद्धतम और प्राचीनतम ग्रंथ पातंजल योग सूत्र[1] में किया गया है। इस ग्रंथ में चित्त वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है।[2] चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए विवेक ज्ञान की बड़ी आवश्यकता बतलाई गई है।[3] विवेक ज्ञान के उदय होने पर ही क्लेशों का मूलोच्छेद हो सकता है और क्लेशों का मूलोच्छेदन होने पर ही दुखों का अत्यन्त नाश रूप कैवल्य प्राप्त होता है।[4] विवेक ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही अष्टांग योग का विधान किया गया है।[5] योग के अष्टांग क्रमशः यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि बतलाये गये हैं।[6] यम उनको को योग साधना के अनुकूल बनानेवाले साधनों को यम कहते हैं।[7] योग सूत्र में यम पाँच बतलाये गये हैं।[8] किन्तु हठयोग प्रदीपिका में इनकी संख्या दस दी हुई है।[9] श्रीमद्भागवत[10] में बारह यमों का उल्लेख किया गया है। योगसूत्र के अनुसार पाँच यम क्रमशः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं। हठयोग प्रदीपिका में दिये गये यमों के नाम क्रमशः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच बतलाये

---

1 देखिये योगांक में 'पातंजल योग दर्शन की प्राचीनता' शीर्षक लेख—पृ० २४८

2 योग १।२ 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'

3 योग दर्शन २।२८, पृ० ८७

4 वही पृ० १४०।१२०

5 यो० २।२८

6 यो० २।२९
'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि'

7 योगांक पृ० ३०४

8 यो० २।३०
'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।'

9 हठयोग प्रदीपिका पृ० १।१७

10 श्रीमद्भागवत ११।१९।३३

जाते हैं[1]। श्रीमद्भागवत में वर्णित बारह यमों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंग, ह्री, असंचय, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य, क्षमा और अभय[2]। दर्शनोपनिषद् में भी यम दस ही बतलाये गये हैं। उनके नाम वे ही हैं जो हठयोग प्रदीपिका में मिलते हैं[3]।

संतों की वाणियों में हमें यमों की चर्चा व्यवस्थितरूप में केवल दो-चार ही संतों में मिलती है। इनमें संत सुन्दरदास और मलूकदास उल्लेखनीय हैं। संतों पर हठयोग प्रदीपिका का प्रभाव कुछ अधिक दिखाई पड़ता है। संत सुन्दरदास और मलूकदास ने यम हठयोग प्रदीपिका के अनुकरण पर दस ही माने हैं। संत सुन्दरदास ने उनका उल्लेख इस प्रकार किया है[4]—

प्रथम अहिंसा सत्य दि आनि सोय सुन्यारी ।
ब्रह्मचर्य दृढ़ गहै छमा धृति सौ अनुरागी ॥
दया कहौ गुन होइ आर्जव हृदय सुभाने ।
मिताहार पुनि करै सौच नीकी बिधि जाने ॥

संत मलूकदास कृत यमों का वर्णन इस प्रकार है[5]—

सत अहिंसा ब्रह्मचर्य परधन तजब विकार ।
दया आर्जव क्षमा सौच पुनि संयम निस्याहार ॥

अन्य संतों में भी हमें यमों का उल्लेख अव्यवस्थित रूप में मिलता है। संतों की वाणियों में उनके उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं। विस्तारभय से उदाहरण यहाँ पर संगृहीत नहीं किये जा रहे हैं।

---

1 हठयोग प्रदीपिका १।१७
"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ।
दयार्जवं मिताहारं शौचं चैव यमा दश ॥"

2 श्रीमद्भागवत ११।१९।३३
"अहिंसा सत्यमस्तेयं असंगो ह्रीरसञ्चयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ॥"

3 दर्शनोपनिषद् १।६
"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्म दया आर्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ॥"

4 सुन्दर दर्शन—डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित—पृ० ११

5 सुन्दर दर्शन—डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित—पृ० ५०

नियम—जन्म के हेतु भूत काम्य कर्मों से जीव को निवृत्ति करा के मोक्ष के हेतु भूत निष्काम धर्मों में उसकी प्रवृत्ति करानेवाले धर्मों को नियम कहते हैं।[1] योग सूत्र में केवल पाँच नियमों का उल्लेख किया गया है। उनके नाम क्रमशः शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान हैं।[2] हठयोग प्रदीपिका में दस नियमों की चर्चा की गई है। उसके अनुसार नियमों के नाम क्रमशः तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, सिद्धान्त, वाक्य श्रवण, ह्री, मति, जप और होम हैं।[3] दर्शनोपनिषद् में भी इन्हीं दस नियमों की मान्यता दी गई है।[4] सन्तों ने हठयोग प्रदीपिका का ही अनुसरण किया है। सन्त सुन्दरदास ने लगभग इन्हीं दस नियमों का उल्लेख किया है।[5]

तप सन्तोषहि धरै बुद्धि आस्तिक्य सुभानय।
दान सुभक्ति करि देइ मानसी पूजा ठानय॥
श्रवन सिद्धांत सुसुनय लाजमति दृढ़ करि जपय।
जाप करय मुख मौन तहाँ लग वचन न भाषय॥
पुनि होम करै यहि विधि जहाँ जैसी विधि सद्गुरु कहैं।
ये दश प्रकार के नियम हैं भाग्य बिना कैसे लहैं॥

आसन—चिरकाल तक निश्चल होकर साधना के लिए एक ही स्थिति में बैठने का अभ्यास आसन कहलाता है।[6] योग मार्तंड नामक[7] ग्रंथ के अनुसार आसन

---

[1] कल्याण योगांक पृ० २३८-२३९

[2] योग सूत्र २।३२
शौच सन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।

[3] हठ योग प्रदीपिका १।१६
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम्।
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः॥

[4] दर्शनोपनिषद् २।१
तपः संतोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धांतश्रवणं चैव ह्री मतिश्च जपो व्रतम्॥

[5] यह उद्धरण डा० दीक्षित कृत 'सुन्दरदर्शन' पृ० ११ से उद्धृत है।

[6] हठयोग प्रदीपिका १।१७ की टीका योगसूत्र २।४६

[7] योगमार्तण्ड श्लोक ३
आसनानि च तावन्ति यावन्त्यो जीवजन्तवः।
एतेषां अखिलं भेदं विजानाति महेश्वरः॥

संख्या में उतने ही होते हैं जितने की जीव-जंतु। उन सबके रहस्य को भगवान शंकर ही समझते हैं। शिवसंहिता में[1] चौरासी आसन प्रमुख माने गये हैं। इन चौरासी आसनों में भी चार को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। ये क्रमशः सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन और स्वस्तिकासन नामों से प्रसिद्ध हैं।[2] योगमार्तंड[3] नामक ग्रंथ में केवल सिद्धासन और पद्मासन को ही महत्त्व दिया गया है। सिद्धासन के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए शिव संहिता में लिखा है कि योगी को चाहिए सिद्धासन की स्थिति को प्राप्त करने के लिए एड़ी को लिंग के मूल स्थान पर रखे तथा एड़ी से योनि स्थान को दबावे, दृष्टि भ्रू के मध्य में रखनी चाहिए। शरीर बिलकुल सीधा रहना चाहिए। यह आसन सिद्धों को भी सिद्धि देनेवाला कहा गया है।[4] पद्मासन का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—'साधक को दोनों चरणों को उत्तान करके यत्न से ऊरु पर रखने चाहिए और दोनों हाथ सीधे करके उसके मध्य में रखने चाहिए। दृष्टि नासिका के अग्रभाग में केन्द्रित रखनी चाहिए और जिह्वा दाँतों के बीच में स्थिर करनी चाहिए। चिबुक हृदय स्थान पर स्थित रहनी चाहिए। अपान वायु को उठाकर प्राण का धनी यानी यथाशक्ति पूरक करके धारण करे। बाद में वायु को बाहर निकाल दे। इस 'क्रिया से बैठने को पद्मासन कहते हैं।'[5] उग्रासन और

---

[1] शिव संहिता ३।१००

'चतुरशीत्यासनानि सन्ति नाना विधानि च।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहम्॥

[2] शिव संहिता ३।१००

सिद्धासन ततः पद्मासन चोग्रं, च स्वस्तिकम्'

[3] योग मार्तंड, श्लोक ७

'आसनेभ्यः समस्तेभ्यः द्वयमेव विशिष्यते।
एकं स्वस्पासनं (सिद्धासनं) प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्॥'

[4] शिव संहिता ३।१०१

'योनिं संपीड्य यत्नेन पादमूलेन साधकः।
मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेत योगवित्सदा॥

[5] शिव संहिता ३।१०२

'उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा तु तादृशौ॥'

शिव संहिता पृ० ६१

'इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्।
दुर्लभं येनकेनापि धीमता लभ्यते परम्॥'

स्वस्तिकासन का प्रवचन भी शिव संहिता से किया जा सकता है। सन्त सुन्दरदास ने आसनों के महत्व और स्वरूपों पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है कि ऋषियों, मुनियों और योगियों की साधना के रहस्य उनके विभिन्न आसन ही थे।[1] सुन्दरदास ने योग मार्तण्ड नामक ग्रंथ का अनुसरण करते हुए दो ही आसनों को सबसे अधिक महत्व दिया था। उन्होंने लिखा है चौरासी आसनों में दो ही आसन सारभूत हैं वे आसन क्रमशः सिद्धासन और पद्मासन हैं।[2] हम उन्हीं का वर्णन करेंगे। सुन्दरदास ने इन दोनों आसनों के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण किया है। उन दोनों के स्वरूप इस प्रकार हैं[3]—

पड़ी वाम पाँव की लगाये सीवनि के बीचि।
वाही जोनि ठौर ताहि नीके धारि आनिये॥
तैसे ही युगति करि विधि सौं भले प्रकार।
मेढ़ हू के ऊपर दच्छन पाव आनिये॥
सरल शरीर दृढ़ इन्द्रिय संयम करि।
अचल उरध दृग भ्रू के मध्य ठानिये॥
मोक्ष के कपाट को उघारत आचरणमेव।
सुन्दर कहत सिद्ध आसन बखानिये॥
दच्छिण उरु ऊपरय प्रथम बामहि पग आनय।
बामहि उरु ऊपरय तबहि दच्छिण पग ठानय॥
दोउ कर पुनि फेरि पृष्टि पीछे करि अवनय।
हनु के मधे अगुष्ठ चिबुक वक्षस्थल लावय॥
इहि भाँति दृष्टि उन्मेष करि अग्र नासिका राखिये।
सब व्याधि हरण योगीन की पद्मासन यह भाषिये॥

आसनों के स्वरूप का इतना व्यवस्थित और शास्त्रीय निरूपण अन्य संतों ने बहुत कम किया है। अधिकांश संत आसन का नामोल्लेख करके ही रह गये हैं। जैसे भीखा साहब[4] ने "सुखमन के घर आसन मारी" दरिया साहब[5] ने "मंदरछाम में आसन

---

1 सुन्दर दर्शन से उद्धृत पृ० १९
'चउरासी आसननि मैं सारभूत है जानि।
सिद्धासन पद्मासनहिं नीके कहौं बखानि॥'
2 सुन्दर दर्शन से उद्धृत पृ० १९
'ऋषि मुनि योगी अपारा ये। तिन सब पहले आसन साधे॥'
3 सुन्दर दर्शन पृ० १८-१९ से उद्धृत
4 भीखा साहब की बानी पृ० ७०
5 दरिया साहब के चुने हुए पद और साखी पृ० २०

माई, मर लिखकर छोड़ दिया है, किसी विशेष आसन का निर्देश नहीं किया है। उन्होंने कहीं-कहीं पर किसी आसन विशेष के स्वरूप की किसी एक विशेषता का संकेत करके योग साधना के पथ पर अग्रसर होने का उपदेश दिया है। इस दृष्टि से यारी साहब[1] की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत करने के योग्य हैं—

जोगी जुगति जाग कमाय।
सुखमना पर बैठि आसन, सहज ध्यान लगाय।
दृष्टि सम करि सुन्नझांको, आपा मेटि जगाय॥

यहाँ पर दृष्टि सम करि को यदि हम "नासाग्रे विन्यसेत् दृष्टि" की ओर संकेत करता हुआ माने तो अनुचित न होगा। "नासाग्रे विन्यसेत् दृष्टि" का प्रयोग शिव संहिता में पद्मासन के प्रसंग में किया गया है। पलटू साहब ने तो स्पष्टरूप से आठों पहर पद्मासन में स्थित रहने का उपदेश दिया है[2]—'पदम आसन नाहिं छूटै आठ पहर लगायनम' इस प्रकार हम देखते हैं कि संत लोग पद्मासन के पक्ष में कुछ अधिक थे।

प्राणायाम—प्राण, अपान, समान वायुओं से मन के निरोध करने के अभ्यास को प्राणायाम कहते हैं।[3] प्राणायाम के तीन अंग बतलाए गये हैं—पूरक, कुम्भक, रेचक। बाह्यस्थ अपान वायु को नासिका द्वारा आकर्षण करके उदर में भरना पूरक कहलाता है। भरे हुए वायु को यथाशक्ति रोकने को कुंभक कहते हैं। तथा भरे हुए अशुद्ध वायु को नासिका द्वार से निकाल देने को रेचक संज्ञा दी जाती है।[4] कुम्भक के आठ अंग माने गये हैं। ये सामान्यतया प्राणायाम के आठ भेदों के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके नाम क्रमशः सूर्यभेदन[5], उज्जायी[6], सीत्कार[7], शीतली[8], भस्त्रिका[9], मूर्छा[10], भ्रामरी[11], प्लाविनी[12] हैं। संत सुन्दरदास[13] ने इन

---

[1] यारी साहब की रत्नावली पृ० १

[2] पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० २१

[3] प्राणायाम के लक्षण पढ़िये— दर्शनोपनिषद् ६।१

[4] वही ६।१ तथा योगचूड़ामण्युपनिषद् ९८,९९,१००

[5] देखिये योग कुण्डल्युपनिषद् १।२१—२२

[6] वही १।२३।२६

[7] हठयोग प्रदीपिका २।५३

[8] योग कुण्डल्युपनिषद् १।३०।३१

[9] योग कुण्डल्युपनिषद् १।३३।३८

[10] हठयोग प्रदीपिका २।६९

[11] वही २।६८

[12] वही

[13] देखिये हठयोग प्रदीपिका २।७२

तप का वर्णन किया है। पूरक, कुंभक एवं रेचक का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए[1]—

इड़ा नाड़ी पूरक करै, कुंभक राखै माहिं।
रेचक करिये पिंगला, सब पातक कटि जाहिं॥
बीज मंत्र संयुक्त, षोडश पूरक पूरिये।
चौसठि कुम्भक जक्त, द्वात्रिंशति करि रेचना।
बहुरि विपर्यय ऐसे धारै, पूरि पिंगला इड़ा निकारै।
कुम्भक राखि प्राण को जीत, चतुर्वार अभ्यास व्यतीतै॥

एक दूसरे स्थल पर उन्होंने कुम्भक के आठ भेदों का भी उल्लेख किया है[2]। सुन्दरदास के अतिरिक्त प्राणायाम के वर्णन अन्य संत कवियों ने भी किये हैं[3]। संत कबीर ने लिखा है—

मन पवन जब परचा भया ज्यों नाले राखी रस नैया।
कहै कबीर घट लेहु बिचारी औघट घाट सींच ले क्यारी॥

यहाँ पर मन, पवन, साधना का उल्लेख करके प्राणायाम का संकेत मात्र किया गया है। अन्य संतों ने भी प्राणायाम का संकेत मन, पवन, साधना के रूप में ही किया है। सन्त गुलाल साहब मन, पवन, साधना की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं[4]—

मन पवना को संगम कोई नर पाईया।
अनहद बजै अपार तो मस्तक लखाईया॥

प्राणायाम के प्रसंग में हम वायुओं का उल्लेख भी कर देना चाहते हैं। घेरंड संहिता के अनुसार शरीर में दस वायु हैं[5]—उनके नाम क्रमशः प्राण, अपान, समान,

---

१ सुन्दर दर्शन—डा० दीक्षित पृ १८

२ सूर्य भेदन प्रथम द्वितीय उज्जाई कहिये।
शीतकार पुनि त्रितीय शीतली चतुर्थ लहिये॥
पंचम है भस्त्रिका भ्रामरी षष्ठ सु जानहु।
मूरछना सप्तमं अष्टमं केवल मानहु॥

३ कबीर ग्रंथावली पृ० १४०

४ गुलाल साहब की बानी पृ० ७०

५ घेरण्ड संहिता पंचम उपदेश श्लोक ६०
"प्राणो अपानः समानश्चोदान व्यानौ तथैव च।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः॥"
गोरक्षशतक में भी यही नाम लिये हैं देखिए श्लोक २९

उदान, व्यान, नाग, कूर्म, किकर, देवदत्त और धनंजय हैं। इनमें से प्रथम पाँच को विशेष महत्त्व दिया जाता है। और प्राण अपान साधना तो हठयौगिक प्राणायाम का प्रधान सिद्धांत है। प्राण अपान साधना प्राणायाम से ही सफल होती है। संत कबीर ने एक स्थल पर पंच वायुओं का अनुसंधान करके प्राणायाम के सहारे बिंदु को ब्रह्मरंध्र में ले जाने का उपदेश दिया है[1]।

पहले खोजो पंचेबाय, ब्याय ब्यंद ले गगन समाय।

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'कबीर के रहस्यवाद' में वायु साधना से सम्बन्धित कबीर के कई सुन्दर उदाहरण उद्धृत किये हैं—सन् ११ के संस्करण में वे पृष्ठ १०७ पर देखे जा सकते हैं। यारी साहब ने प्राण अपान साधना को विशेष महत्त्व दिया था। उन्होंने लिखा है[2]— 'सैके प्रान अपान मिलावै यारी पवन में गगन गरजावै' संत गुलाल साहब ने प्राणायाम के द्वारा वायु साधना का संकेत किया है। उन्होंने लिखा है[3]—

"ऊर्ध्व पवन ले धरो गगन में सोध करो बिसराम।"

इसे हम कुम्भक का अच्छा उदाहरण मान सकते हैं। गुलाल साहब ने और भी कई स्थलों पर प्राणायाम से सम्बन्ध रखनेवाली पवन-साधना और मन-साधना पर बल दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों ने प्राणायाम और उससे सम्बन्धित मन पवन-साधना तथा केवल पवन-साधनाओं पर विशेष बल दिया है। इसका कारण यह है कि उनका शब्द सुरतियोग इन्हीं साधनाओं पर आधारित है। इस विषय पर हम आगे थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ पर हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि संतों की हठयोग साधना में प्राणायाम तथा उनसे सम्बन्धित मन पवन-साधना तथा पवन-साधना आदि का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राणायाम के प्रसंग में ही कुछ आचार्यों ने षट्कर्मों[4] और मुद्राओं[5] का निर्देश किया है[6]। वे लोग इन दोनों

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० ११८

[2] यारी साहब की बानी पृ० ०

[3] गुलाल साहब की बानी पृ० ०

[4] हठयोग प्रदीपिकाकार का यही मत है। देखिए—
उसका द्वितीयोपदेश २१।२०। इसमें षट्कर्म को प्राणायाम का उपकारक कहा गया है।

[5] षट्कर्म का विवरण देखिए। हठयोग प्रदीपिका २।२२।३६ तक

[6] मुद्रा का प्रकरण घेरण्डसंहिता में विस्तार के साथ प्रतिपादित किया गया है। उसे प्राणायाम में सहायक माना गया है। देखिए उसका चतुर्थ पटल।

के बिना प्राणायाम को अपूर्ण समझते थे। ये दृष्टिकोण हठयोगियों का था। अतएव हम इसका विवेचन हठयोग के प्रसंग में ही करेंगे।

प्रत्याहार—प्रत्याहार की परिभाषा देते हुए आचार्यों ने लिखा है कि श्रोत्रादि इन्द्रियों का स्वभाव है उनके स्वाभाविक विषयों से विवेक बल द्वारा निवृत्त करके अथवा प्रलोभ्य आहार बंद करके चित्त के आधीन करना प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार की सिद्धि के लिए आचार्यों ने बहुत से सहायक साधन निर्दिष्ट किये हैं उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—

१—पद्मासन से बैठकर कुम्भक के द्वारा श्वासोच्छ्वास की गति अवरुद्ध करना।

२—सिद्धासन से बैठकर त्रिकुटी अथवा नासिकाग्र पर निमेषोन्मेष रहित दृष्टि स्थिर करना।

३—मूर्छा प्राणायाम का अभ्यास।

४—शांत चित्त से एक लाख बीस हजार प्रणव के जप करना।

५—विपरीतकरणी मुद्रा के अभ्यास से मनोवृत्ति को श्वासोच्छ्वास के समोद्गम के स्थान में स्थिर करना।

वैसे तो संतों की प्रवृत्ति हमें प्रत्याहार के सभी सहायक साधनों की ओर दिखाई पड़ती है किन्तु उनका विशेष झुकाव प्रथम की ओर ही था। अन्यों का उन्होंने संकेतमात्र किया है। प्रथम साधन सन्तों के सहजयोग के बहुत अनुकूल प्रतीत होती है। इसके लिए किसी प्रकार के हठासन की आवश्यकता नहीं होती। साधक सहज भाव से उसका आचरण कर सकता है। इसकी ओर संकेत करते हुए दादू साहब ने लिखा है कि योगी का कर्तव्य है कि सदाचारपूर्वक साधु-जीवन व्यतीत करते हुए आठों पहर पद्मासन से बैठा रहे। उसे दसों द्वार बंद कर लेने चाहिए और प्रयत्नपूर्वक त्रिकुटी में वायु को आकृष्ट करके श्वासोच्छ्वास की गति रोक देनी चाहिए।[1] प्रत्याहार की सिद्धि के दूसरे साधन के संकेत भी संतों की बानियों में मिलते हैं। किन्तु वे बहुत स्पष्ट नहीं हैं। दरियाई ने एक स्थल पर "आसा मारे दृष्टि करि

[1] दादू साहब की बानी भाग २—पृ० २३

पदम आसन नहि दूजी आठ पहर लगावणं।
कर संजम सेष आचरा आप पहुँची कम्पवणं॥
दसों द्वारा मूंदि करि पवन उलट चढ़ावणं।
मन त्रिकुटी संग सुषुम्ना जहाँ सांचि समावणं॥

साँसा में मन राखि"[1] तथा "दया ध्यान त्रिकुटी धरे परमातम दरसाय"[2] लिखकर प्रत्याहार के दूसरे सहायक साधन की ओर संकेत किया है। जहाँ तक मूर्छा प्राणायाम के संकेत की बात है उसका स्पष्ट उल्लेख संतों में नहीं मिलता है। यह बात दूसरी है कि बहुत खोज करने पर एक आध उदाहरण मिल जाय। विपरीतकरणीमुद्रा की ओर संतों की प्रवृत्ति कुछ अधिक रही है। विपरीतकरणीमुद्रा का स्पष्टीकरण हठयोग में इस प्रकार किया गया है। योगशास्त्रियों का विश्वास है[3] कि सहस्रार में चन्द्र तत्त्व है।[4] जिससे अमृत झरा करता है और नाभि के नीचे सूर्य तत्त्व है जो चन्द्र के अमृत को भस्म कर देता है।[5] विपरीतकरणीमुद्रा से योगी लोग सूर्य को ऊपर कर देते हैं और चन्द्र को नीचे कर देते हैं। यह क्रिया प्रत्याहार और प्राणायाम के द्वारा ही सिद्ध होती है।[6] विपरीतकरणीमुद्रा ही आगे चलकर संतों में विपरीतकरणी सूर्य चन्द्र साधना के नाम से प्रसिद्ध हुई। संतों की बानियों में विपरीतकरणी सूर्य चन्द्र साधना के अनेक संकेत मिलते हैं। सन्त यारी साहब ने लिखा है—भगवान् की कृपा से ही साधक चन्द्र को अधस्तात स्थिर करने में और सूर्य को ऊर्ध्वमुखी करने में समर्थ होता है।[7] यहाँ पर यारी साहब ने विपरीतकरणीमुद्रा की ओर स्पष्ट संकेत किया है। अन्य संतों की बानियों में भी इस प्रकार के उदाहरण ढूँढे जा सकते हैं। प्रत्याहार का चौथा साधन अजपा जप है। ये जप संख्या में एक लाख और बीस हजार होने चाहिए तभी प्रत्याहार सिद्ध हो सकता है। संतों ने जप को तो बहुत महत्त्व दिया है। किन्तु एक लाख बीस हजार की संख्या का उल्लेख बहुत कम किया है। उन्होंने अजपा जप के स्थान पर सोऽहं

---

[1] दयाबाई की बानी पृ० १०

[2] शिव संहिता ३।१०८।१०९

[3] दयाबाई की बानी पृ० १०

[4] यह मत शिव संहिता का है—शिव संहिता २।१० २०

[5] गोरखनाथ जी का मत इससे थोड़ा भिन्न है। उनके अनुसार सूर्य नाभिदेश में स्थित है और तालु मूल में चन्द्र है। सूर्य ऊर्ध्वमुख है और चन्द्र अधोमुखी होता है। गोरखनाथ का यह मत हठयोग प्रदीपिका ३।७७ की टीका में उद्धृत है। योगशिखोपनिषद् भी देखिये २।११ १२ १३

[6] हठयोग प्रदीपिका—तृतीय उपदेश ३।७८

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥

[7] यारी साहब की बानी पृ० ११

रैन दिनापत हरि की धरै चन्द्र उतारै सूरज चढ़ै।

के ब्रह्मरन्ध्र को ही विशेष महत्व दिया है। इस ब्रह्मनाद[1] की व्याख्या हम आगे करेंगे। प्रत्याहार की सिद्धि का पाँचवाँ साधन मनोवृत्ति को स्वासोच्छ्वास के मध्य स्थान पर स्थिर करना है। सन्तों का शब्द सुरतियोग प्रत्याहार साधक इसी साधन पर आधारित है। स्वासोच्छ्वास का समोद्भव का स्थान सहस्रार माना जाता है। इस सहस्रार में ही मनोवृत्ति को स्थिर करना पड़ता है। शब्द सुरति योग में भी सुरति को सहस्रारस्थ शब्द में लीन करना पड़ता है। बहुत से संतों ने सुरति को मनोवृत्ति के रूप में लिया है। इस दशा में शब्द सुरति योग को हम प्रत्याहार सिद्धि का एक साधन मानेंगे।

प्रत्याहार के सिद्ध होने पर इन्द्रियाँ स्वयं योगी के अधीन हो जाती हैं। इस अवस्था का वर्णन करते हुए दयाबाई ने लिखा है[2]—

दयाकरियो गुरुदेव ने पूरन को मत लेहि।
सब इन्द्रिन कूँ रोककरि सुरति स्वाँस में देहि॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों में प्रत्याहार साधना की अभिव्यक्ति विविध प्रकार से हुई है। कुछ संतों ने तो प्रत्याहार का शास्त्रीय स्वरूप ही व्यक्त किया है। ऐसे संतों में संत सुन्दरदास विशेष उल्लेखनीय हैं। उनके द्वारा किया गया प्रत्याहार का वर्णन देखिए[3]—

श्रवण शब्द को गहत है नयन गहत है रूप।
जीभ गहत है नासिका रसना रस की धूप॥
रसना रस की धूप सुघा सुस्पर्श हि चाहै।
इनि पंचनि की फेरि आतमा निरधारै॥
कूर्म अंगहि भरै प्रभा रवि करैय ग्रवयौं।
इम करि प्रत्याहार विषय शब्दादिक सवयौं॥

अष्टांग योग का छठा अंग धारणा है। 'आध्यात्मिक' आधिदैविक और

---

1 ब्रह्मनाद का अध्ययन निम्नलिखित स्थलों पर करिये—
१ ध्यान बिन्दूपनिषद् ९३।९० श्लोक देखिये
२ ब्रह्मविद्योपनिषद् ७७।८० श्लोक देखिये
३ योग चूड़ामण्युपनिषद् ९१।९९ श्लोक देखिये
४ हंसोपनिषद् १६वीं पर्याय
५ योगमार्तण्ड १०—११ श्लोक
2 दयाबाई की बानी पृ० १०
3 ज्ञान दर्शन पृ० ९६

आधिभौतिक भेद से तीन प्रकार के देशों में से किसी योग्य ध्येय विषय में चित्त को एकाग्र करना धारणा कहलाती है।[1] इसके अभ्यास से चित्तवृत्तियाँ स्थिर हो जाती हैं। धारणा की सिद्धि के हेतु विद्वानों ने कुछ मन साधना सम्बन्धी मुद्राओं का उल्लेख किया है। इन मुद्राओं में अगोचरी, भूचरी, चाचरी और शाम्भवी प्रमुख हैं।[1] नासिका के अग्रभाग पर मन को स्थिर करना अगोचरी कहलाता है। नासिका के अग्रभाग से चार अंगुल की दूरी पर मन को स्थिर करना भूचरी कहलाता है। मन को आकाश में केन्द्रित करने को चाचरी कहते हैं। साधक मन को आकाश में केन्द्रित करके समक्षवर्ती समस्थल पर एक बालिश्त से लेकर दो गज की दूरी के बीच में मनोनीत पदार्थ के ध्यान में रहना चाहिए। इसके लिए किसी बाहरी उपकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। संतों ने धारणा की इन समस्त मुद्राओं का संकेत किया है। उदाहरण के लिए हम संत यारीसाहब की निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं। इसमें उन्होंने धारणा और उसकी सहायक मुद्राओं का स्पष्ट संकेत किया है—

आँखि कान नाक मुँह मूँदि के निहार देखु,
सुन्न में जोति वाही परगट गुरु ज्ञान है।
त्रिकुटी में चित्त देई ध्यान धरि देखु तहाँ,
दामिनि दमके चाचरी मुद्रा को अस्थान है॥
भूचरी मुद्रा सोहाग जागी मस्तक,
भाग पायो सकल निरंतर की खान है।
गगन गुफा में पैठि अधर आसन बैठि,
खेचरी मुद्रा॰ अकास फूली निर्वान है॥

ध्यान—अष्टांग योग साधना का सातवाँ अंग ध्यान है। योगसूत्र के अनुसार धारणा के देश में चित्तवृत्ति का तैलधारावत् अखंड प्रवाह तथा मन का निर्विषय होना ध्यान कहलाता है। शास्त्रीय ग्रन्थों में ध्यान के तीन प्रकार बतलाये गये हैं। स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान, सूक्ष्मध्यान। जब किसी मूर्तिमान अभीष्ट देवता आदि का ध्यान किया जाता है तब उसे स्थूलध्यान कहते हैं। तेजरूप परमात्मा का ध्यान करना ज्योतिर्ध्यान कहलाता है। कुण्डलिनी शक्ति के दर्शन करने को सूक्ष्म ध्यान कहते हैं। संतों में हमें अंतिम दो प्रकार के ध्यानों का उल्लेख ही विशेष रूप से मिलता है। ज्योतिर्ध्यान की ओर संकेत करते हुए दयाबाई ने[2] "दया ध्यान त्रिपुटी धरे परमातम दरसाय", यारी साहब ने[3] "त्रिकुटी संगम ज्योति है रे तहँ देखि

[1] 'कल्याण' योगांक ७७९
[2] दयाबाई की बानी पृ० १०
[3] यारी साहब की बानी पृ० २०

सेवै गुरु ध्यान सेती", बुल्ला साहब ने[1] "झिलमिलझिलमिल त्रिपुटी ध्यान" लिख कर ज्योतिर्ध्यान साधना का ही संकेत किया है। उन्हीं में सूक्ष्म ध्यान के भी उल्लेख मिलते हैं। यारी साहब ने[2] निम्नलिखित पंक्तियों में सूक्ष्म ध्यान की ओर संकेत किया है—

> भँवर गुफा मझाया मेघला जोग जुगति बनि आई।
> चाँदी उलट सूर्य को खाई ससि में मीन बहाई॥

संतों ने हमें दो प्रकार के ध्यानों का उल्लेख मिलता है वे ध्यान भी सूक्ष्म ध्यान के अन्तर्गत ही आयेंगे। एक नाद नारायण का ध्यान है और दूसरा शून्य ध्यान है। नाद ध्यान की ओर संकेत करते हुए यारी साहब ने लिखा है[3]—

> नाद परन जो लावै ध्यान। सो जोगी जुग जुग परनाम॥

इसी प्रकार शून्य ध्यान का उल्लेख करते हुए यारी साहब ने लिखा है[4]—

> दृष्टि सम करि सुन्न सोधो, आपा मेटि बहाव।

इसी शून्य ध्यान को संतों ने निर्गुण ध्यान भी कहा है। यारी साहब ने लिखा है शून्य में ध्यान करने से ही निर्गुण के दर्शन हो सकते हैं।[5]

> सुन्न में लिव यारी लावो, सूझि है निर्गुन॥

संत सुन्दरदास ने ध्यान के नये चार भेदों की कल्पना की है। पदस्थध्यान, पिंडस्थ ध्यान, रूपस्थध्यान, रूपातीतध्यान। उनके मतानुसार उपदेशपूर्ण महावाक्यों और महामंत्रों का जप करते हुए उनका ध्यान करना पदस्थध्यान है। उन्होंने शरीर और गुरु के ध्यान को पिंडस्थ ध्यान कहा है तथा ज्योतिस्वरूपी ध्यान को रूपस्थ ध्यान तथा निर्गुण निराकार ध्यान को रूपातीत ध्यान की संज्ञा दी है। हमारी समझ में सुन्दर दास कृत ध्यान के ये चारों भेद योगशास्त्र में वर्णित उपर्युक्त तीनों भेदों के ही रूपान्तर हैं। अन्य किसी संत ने सुन्दरदास के इन ध्यान भेदों का समर्थन नहीं किया है।[6]

समाधि—अष्टांग योग साधना का अंतिम अंग समाधि है। समाधि के स्वरूप का स्पष्टीकरण अनेक आचार्यों ने किया है।[7]

---

[1] बुल्ला साहब की शब्दावली पृ० ३८
[2] यारी साहब की बानी पृ० ७७
[3] यारी साहब की रत्नावली पृ० ३
[4] यारी साहब की रत्नावली पृ० ७
[5] यारी साहब की रत्नावली पृ० १
[6] देखिये—सुन्दर दर्शन पृ० ७८
[7] 'कल्याण' के योगांक में श्रीधर मजूमदार द्वारा लिखित समाधि योग नामक लेख में समाधि की सैकड़ों परिभाषायें दी गयी हैं। देखिये पृ० ३१०

पातंजलि योगसूत्र की परिभाषा—ध्यान करते-करते जब योगी का चित्त ध्येयाकार हो जाता है और ध्येयी तथा ध्याता का भेद मिट जाता है तब उसे समाधि कहते हैं।[1]

जाबालिदर्शनोपनिषद् की परिभाषा—जीवात्मा और परमात्मा की एकता के ज्ञान के उदय को ही समाधि कहते हैं।[2]

मुक्तिकोपनिषद् की परिभाषा—मुनियों द्वारा साधित समाधि उस संकल्पशून्य अवस्था का नाम है जिसमें न मन की क्रिया है और न बुद्धि का व्यापार है। यह आत्मज्ञान की अवस्था है इसमें प्रत्येक चैतन्य के अतिरिक्त सबका बाध हो जाता है।[3]

बृहदारण्यकोपनिषद् की परिभाषा—जिस समय हृदय में भरी हुई सारी कामनायें नष्ट हो जाती हैं उसी समय यह मरणधर्मा मनुष्य अमृतत्व लाभ कर लेता है और इसी जीवन में ब्रह्मानंद का अनुभव करता है।[4]

शांडिल्योपनिषद् की परिभाषा—जीवात्मा और परमात्मा की एकता की अवस्था जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप त्रिपुटी का अभाव रहता है जो परमानन्द रूप है, और शुद्ध चैतन्यात्मिका है, वही समाधि है[5]।

समाधि की उपर्युक्त परिभाषाओं का मनोयोग के साथ अध्ययन करने पर समाधि की निम्नलिखित विशेषतायें प्रकट होती हैं—

१—संकल्प विकल्पों का अभाव।
२—पूर्ण आत्मज्ञान की अवस्था।
३—पूर्ण ब्रह्मानन्द की अवस्था।
४—चैतन्यता।
५—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप त्रिपुटी का अभाव।

---

[1] पातंजलि योग दर्शन—विभूतिपाद सूत्र ३
'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।'

[2] जाबालि दर्शनोपनिषद् १०।१
यही परिभाषा अन्नपूर्णोपनिषद् में भी दी हुई है। १।०२

[3] मुक्तिकोपनिषद् २।२२

[4] बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।७

[5] शाण्डिल्योपनिषद् १।११

संतों ने समाधि की अवस्था के विविध रूपों चित्र प्रस्तुत किये हैं। कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में समाधिस्थ योगी की अवस्था का ही चित्रण किया गया है[1]—

आत्मा अनन्दी जोगी, पीवै महारस अमृत भोगी।
ब्रह्म अगनि काया परजारी, अजपा जाप उनमनी तारी॥
त्रिकुट कोट मैं आसण मांडै, सहज समाधि विषै सब छांडै।
त्रिवेणी बिभूति करै मन मंजन, जन कबीर प्रभू अलख निरंजन॥

संतों में समाधि के रहस्यात्मक वर्णन बहुत मिलते हैं। इन रहस्यात्मक वर्णनों ने उनकी बानियों में एक अनिर्वचनीय रस भर दिया है। समाधि के रहस्यपूर्ण एवं भावमय वर्णन के उदाहरण के रूप में हम भीखा साहब की निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं[2]—

"नैन सेज निज पिय पौढ़ाई, सो सुख भीखै दिखाहि बनाई।
मोहता ब्रह्म आत्मा एकै, आप मिलन को सकै दुराई।
अगम अगोचर अवर अरूप प्रभु, ता से कहौ कौन मुँह लाई॥"

संतों ने एक प्रकार की समाधि की और कल्पना की है उसको उन्होंने सहज समाधि का नाम दिया है। इसका सम्बन्ध उनकी सहजयोग साधना से है। इसकी चर्चा हम उनके सहजवाद के प्रसंग में करेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि संतों में अष्टांग योग की प्रवृत्ति वर्तमान थी। केवल संत सुन्दरदास को छोड़कर जिन्होंने केवल हठयोग प्रदीपिका का ही अधिक अनुगमन किया है अन्य सन्तों ने किसी एक शास्त्रीय ग्रन्थ का आधार लेकर अष्टांग योग की प्रक्रियाओं का अनुकरण नहीं किया है। वे योगशास्त्र सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों से प्रभावित हैं। किन्तु साधारणतः अनुगमन उन्होंने किसी भी ग्रंथ के सिद्धांतों का नहीं किया है। सन्त लोग अष्टांग योग साधना में सिद्धांत रूप से विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने उसकी जो चर्चा की है वो केवल पृष्ठभूमि के रूप में ही की है। केवल सुन्दरदास और महात्मा चरनदास आदि दो एक सन्तों ने अष्टांग योग के शास्त्रीय स्वरूपों की ओर संकेत किया है। डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने अपने 'सुन्दर दर्शन' नामक ग्रंथ में अनेक उदाहरण देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सुन्दरदास ने अष्टांग योग साधना को पूर्ण रूप से अपनाने की चेष्टा की थी। किन्तु यह धारणा बिल्कुल भ्रांतिपूर्ण है। सुन्दरदास सन्त कवियों में सबसे अधिक विद्वान् कवि थे। उन्होंने कुछ तो अपनी विद्वता प्रदर्शन के भाव से और कुछ साधना के प्रथम चरण में परिचय के

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० १६८

[2] भीखा साहब की बानी—पृ० ११

विस्तार से अष्टांग योग का सांग वर्णन किया है। किन्तु अपने उत्तर परिपक्व में उन्हें बड़ी निराशा हुई थी। इसी लिए उन्होंने अष्टांग योग साधना के प्रति उपेक्षा दिखलाकर उसे अनावश्यक घोषित किया है। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—[1]

सून्य में समाधि लाइ, मन मारयतु है।
ऐसे ऐसे करत, करत केते दिन बीते।
सुन्दर कहत अजौं, भिखारियतु है।
काहे ही न बीरो न तो, ताको ही न सोरो कहु।
हाथ न परत तातें, हाथ झारियतु है॥

एक दूसरे स्थल पर उन्होंने सभी प्रकार की क्रियात्मक साधनाओं को त्यागकर केवल भगवद् भक्ति करने का संकेत किया है।[2]

"वैसे हि सुन्दर और किया सब राम बिना निहचै भर रोय।"

हठयोग साधना

हठयोग के प्रकार—पातंजलयोग के अष्टांगों का आधार लेकर किसने सबसे पहले हठयोग का प्रवर्तन किया यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। लोक-प्रसिद्धि के अनुसार हठयोग के सबसे प्रथम आचार्य शिवजी बतलाए जाते हैं किन्तु वह दैवी आचार्य हैं। मानवी आचार्यों में मार्कण्डेय ऋषि सबसे प्रथम माने जाते हैं और मध्ययुग में मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि संतों ने प्राचीन मार्कण्डेय ऋषि द्वारा प्रवर्तित हठयोग की ही पुनर्प्रतिष्ठा की थी। ऐसा प्रसिद्ध भी है कि हठयोग दो प्रकार का होता है—

एक वह जिसका प्रवर्तन मार्कण्डेय मृकण्डु पुत्रो आदि ने किया था। दूसरा वह जिसकी प्राणप्रतिष्ठा गोरखादि संतों ने की थी। आजकल हमें मत्स्येन्द्रनाथी योग धारा के सिद्धांत ही उपलब्ध हैं।

परिभाषा—हठयोग की परिभाषा देते हुए गोरखनाथ ने[3] सिद्ध-सिद्धांत पद्धति में लिखा है कि हठ शब्द का 'ह' वर्ण सूर्य का बोधक है और 'ठ' चन्द्र का वाचक है। इसी आधार पर हठ उस योग को कहते हैं जिसमें सूर्य और चन्द्र को

[1] सुन्दर विलास पृष्ठ ११६
[2] सुन्दर विलास पृष्ठ ६१
[3] सिद्ध सिद्धान्त पद्धति पृ० ११

मिलाने की साधना का उपदेश रहता है। योगशिखोपनिषद्[1] में भी हठयोग की ऐसी ही परिभाषा दी गई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि हठयोग का प्रमुख विषय चन्द्र सूर्य साधना है। इस साधना से सम्बन्धित तत्त्व ही हठयोग के प्रमुख अंग माने जायेंगे। आचार्यों में हठयोग के अंगों के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। कुछ आचार्य आसन प्राणायाम, मुद्रा और नादानुसंधान को हठयोग का प्रतिपाद्य विषय मानते हैं[2] कुछ दूसरे आचार्यों ने हठयोग के सात अंग माने हैं, वे क्रमशः षट्कर्म आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि हैं। हमारी समझ में हठयोग के अंतर्गत वे समस्त साधनाएँ आती हैं जो सूर्य और चंद्र को हठात् मिलाने में सहायक होती हैं। सूर्य और चन्द्र हठयोग प्रदीपिका[3] के टीकाकार के अनुसार प्राण और अपान के वाचक भी हैं। योगशिखोपनिषद्[4] में प्राण अपान समयोग को इसी प्रकार के योगों का प्रमुख साध्य घोषित किया गया है। प्राण अपान साधना का घनिष्ठ सम्बन्ध कुण्डलनी उत्थापन प्रक्रिया से है। कुण्डलनी उत्थापन प्रक्रिया के प्रसंग में षट्चक्र भेदन प्रक्रिया भी आती है। प्राण अपान साधना, कुण्डलनी उत्थापन प्रक्रिया तथा षट्चक्र भेदन बिना नाड़ी शोधन के नहीं होते हैं। प्राण अपान साधना का इतना महत्त्व केवल इसी लिए है कि जीव इन्हीं दोनों के वशीभूत होकर नीचे ऊपर आता जाता है[5]। हठयोग के प्रमुख विषय यही हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, जिन्हें योग तत्त्वोपनिषद् में हठयोग के प्रधान अंग कहा गया है[6]। इनमें से अधिकांश अंगों का विवेचन अष्टांग योग के प्रकरण में कर चुके हैं। यहाँ पर हम उन्हीं विषयों पर प्रकाश डालेंगे जिनके पीछे उल्लेख नहीं किया गया है।

---

[1] योगशिखोपनिषद्—प्रथम अध्याय श्लोक—१३३
"हकारेण तु सूर्यः स्यात्सकारेणेन्दु रुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसो रैक्यं हठ इत्यभिधीयते॥"

[2] योगांक पृ० ७

[3] हठयोग प्रदीपिका ३।१ की टीका देखिए

[4] योगशिखोपनिषद्—११८

[5] ध्यान बिन्दूपनिषद् श्लोक—२८
"प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति।"

[6] योग तत्त्वोपनिषद् श्लोक २४, २५
योग मार्तण्ड श्लोक २९
"प्राणापान समानाख्य उदानो व्यान एव च।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः॥"

दसवायु—शरीर में दस वायु[1] मानी गई हैं। ये दसों वायुएँ नाड़ियों के मध्य में संचरित होकर शरीर में शक्ति का संचार करती रहती हैं[2]। दसों वायुओं के नाम क्रमशः प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय हैं। यह दसों वायुएँ दस नाड़ियों में संचरित होती हैं। इन दस वायुओं में हठयोग की दृष्टि से पाँच अधिक महत्त्वशाली हैं[3]। पाँच में भी दो सबसे अधिक प्रधान हैं। उनके नाम क्रमशः प्राण और अपान हैं। प्राण वायु का स्थान हृदय माना गया है। ये अविच्छर मुख में, नाक में, नाभि में, कंठ देश और अँगूठे में स्थित मानी जाती हैं[4]। इस वायु की साधना जिसे प्राणायाम कहते हैं हठयोग का प्रधान अंग है। अपान वायु शरीर के निचले आधे भाग में रहती है[5]। उसका मुख्य स्थान गुह्य प्रदेश में माना जाता है। इसके अतिरिक्त यह लिंग प्रदेश, उरुओं, जानुओं और पेट के निम्न भाग नाभि प्रदेश में रहती है।

अजपाजाप—प्राण और अपान वायुओं के संबंध में प्रसिद्ध है कि वे ऊपर नीचे स्थित रहती हैं और वे नाभि-स्थल में मिलती हैं। इसीलिए योगी लोग नाभि को केन्द्रस्थल मानते हैं। योगी प्राण के द्वारा अपान को आकृष्ट करके नाभि प्रदेश में दोनों को मिला देते हैं। इसी प्रकार अपान प्राण को आकृष्ट करती है। एक दूसरे को आकृष्ट करके योगी नाभि प्रदेश में एक दूसरे को मिला देते हैं। कहते हैं वे प्राण अपान के आकृष्ट और अनाकृष्ट करने की प्रक्रिया स्वयमेव चलती रहती है। हंसमंत्र का उच्चारण अपने आप चलता रहता है। दिन-रात में इक्कीस हजार छः सौ बार इस मंत्र की आवृत्ति स्वयमेव रहती है। जीव अज्ञानवश इस मंत्र के महत्त्व को नहीं समझता। जब ज्ञान से उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है तब वह इस स्वाभाविक प्रक्रिया को मंत्र रूप में ग्रहण कर लेता है तभी इसका नाम अजपाजाप हो जाता

---

[1] दर्शनोपनिषद् ४।२४

"एते नाडिषु सर्वासु चरन्ति दश वायवः।"

[2] अमृतनादोपनिषद् ३४वाँ श्लोक

ये उद्धरण ध्यान बिन्दूपनिषद् में भी दिये हुए हैं। देखिए—श्लोक २६-२७

[3] योगमार्तंड २२वाँ श्लोक

"हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमण्डले।"

[4] दर्शनोपनिषद् ४ २४, २५, २६ २७ इत्यादि

[5] त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् का मंत्र भाग ७८वाँ श्लोक

है। प्राण अपान साधना में अजपाजाप का बहुत बड़ा महत्त्व है।[1] इस महत्त्व का संकेत करते हुए योगमार्तंड नामक ग्रंथ में लिखा है कि अजपानाम गायत्री योगियों के लिए मोक्ष प्रदान करनेवाली होती है। इसके संकल्पमात्र से मनुष्य पाप से मुक्त हो जाता है। इसके सदृश विद्या, इसके सदृश जप, इसके सदृश पुण्य न होता है और न हो सकता है।[2] अजपाजाप पर हम आगे भी प्रकाश डालेंगे।

नाड़ी विचार—वायुओं का संचार नाड़ियों के द्वारा होता है अतएव हमें यहाँ पर थोड़ी सी चर्चा नाड़ियों की भी करनी है। कुंडलनी उत्थापन प्रक्रिया में जो हठयोग में अपना बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।[3] नाड़ी साधना का बड़ा महत्त्व माना जाता है। योगियों की धारणा है कि पायु से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ से दो अंगुल नीचे चतुरंगुल विस्तृत समस्त नाड़ियों का मूलस्वरूप पक्षी के अंडे के सदृश एककंद विद्यमान है।[4] इसमें से गोरक्षशतक और हठयोग प्रदीपिका के अनुसार

---

१ गोरक्षशतक—
प्राणेनाकृष्यतेऽपानः प्राणोऽपानेन कृष्यते।
ऊर्ध्वाधःस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ॥१०॥
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥११॥
षट्शतान्यहोरात्रं सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ॥१२॥

२ योगमार्तंड—
अजपानाम गायत्री योगिनां मोक्षदा च
अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ॥१३॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतो न भविष्यति ॥१४॥

३ देखिये शिव संहिता पृ० ३।११

४ ऊर्ध्वमेढ्रादधो नाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत्।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥ गोरक्षशतक १६वाँ श्लोक
और भी देखिये
दर्शनोपनिषद् पृ० ४।२,३ और इसके साथ तुलिये
वही ४।११ १८
त्रिशिखोपनिषद् में इस कन्द की स्थिति नाभि में मानी गई है। ४८-४९

बहत्तर हजार, शिव संहिता के अनुसार साढ़े तीन लाख[1] तथा कुछ अन्य योगाचार्यों के अनुसार दो लाख नाड़ियाँ निकलकर शरीर भर में व्याप्त हैं।[2] इनमें कुछ आचार्य बहत्तर[3] को, कुछ चौदह[4] को तथा कुछ दस को विशेष महत्त्वपूर्ण मानते हैं।[5] योग ग्रंथों में निम्नलिखित दस नाड़ियों को विशेष महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है—ये इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्ति जिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी हैं।[6] अन्य योगिक ग्रंथों में भी इन्हीं का उल्लेख किया गया है। इन दस नाड़ियों में भी सबसे अधिक महत्त्व तीन को दिया जाता है—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना।[7] कुंडलनी शक्ति के उत्थापन में ये तीनों नाड़ियाँ बहुत सहायक होती हैं। यौगिक ग्रंथों में ये अन्य बहुत से नामों से भी प्रसिद्ध हैं। कुछ ग्रंथों में इन तीनों को क्रमशः सूर्य, चन्द्र और अग्नि,[8] कुछ ग्रंथों में गंगा, जमुना और सरस्वती[9] कहा गया है। सुषुम्ना को ब्रह्म नाड़ी भी कहते हैं।[10] संतों ने इसे 'ब्रह्म भगिनि' कहा है। यही शून्य पदवी ब्रह्मरंध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग, शक्तिमार्ग आदि के अभिधानों से भी प्रसिद्ध है।[11]

---

[1] शिव संहिता २।१३
सार्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम्।

[2] द्रष्टव्य—गोरखनाथ और कनफटा योगी पृ० १०७—१०८

[3] गोरक्षशतक २६वाँ श्लोक
और देखिये—
शाण्डिल्योपनिषद् १।११
दर्शनोपनिषद् ४।८.९

[4] शिव संहिता २।१३

[5] गोरक्षशतक १७वाँ श्लोक

[6] गोरक्षशतक २०-२८
सिद्धसिद्धान्त पद्धति १।६० में लिखा है प्रसिद्ध दस नाड़ियाँ दस नासा के दो द्वार (इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना) तालु से ब्रह्मरंध्र तक सरस्वती मुख द्वार पूषा, अलम्बुषा, आँखों के दोनों द्वारों से, गान्धारी और हस्तिजिह्वा कर्ण द्वारों से कुहू गुदा द्वार से शंखिनी लिंग अन्य नाड़ियाँ रोम कूपों में बहती हैं।

[7] एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिंगलेडा सुषुम्निका

[8] शिव संहिता २।१५

[9] हठयोग प्रदीपिका ३।१०९ ११०

[10] अद्वयतारकोपनिषद् ४वाँ गद्यांश

[11] हठयोग प्रदीपिका ३।४-५

ये मूलाधार से लेकर ब्रह्मरंध्र तक फैली हुई है। शिव और शक्ति का मिलन करानेवाली नाड़ी यही है। योग ग्रंथों में इसका बड़ा महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। क्षुरिकोपनिषद्[1] में लिखा है कि सुषुम्ना दस नाड़ियों से घिरी रहती है। यह [illegible] होती है। प्राण को इसी मार्ग से ऊपर उठना चाहिए। दर्शनोपनिषद् में इसके अधिष्ठाता शिव जी बतलाए गये हैं।[2] योगशिखोपनिषद् में सुषुम्ना की महती महिमा का वर्णन किया है। उसमें उसे सर्वश्रेष्ठ तीर्थ, सर्वश्रेष्ठ जप, सर्वश्रेष्ठ ध्यान तथा परम गति रूप कहा गया है।[3] अद्वैततारकोपनिषद् के अनुसार सुषुम्ना के मध्य में करोड़ों तड़ित के समान दीप्तिमान सूक्ष्मांगी कुंडलनी रहती है। सुषुम्ना के सदृश इड़ा और पिंगला के महत्त्व का भी प्रतिपादन योग ग्रंथों में बड़े समारोह के साथ किया गया है। ये सुषुम्ना के बाईं ओर[4] रहती है। ये उपर्युक्त कंद से निकलकर के बाएँ नासापुट तक फैली हु
है।[5] दर्शनोपनिषद् के अनुसार इड़ा में सदैव चन्द्रमा का निवास रहता है।[6] पिंगला 'नाड़ी'[7] सुषुम्ना के दाहिनी ओर होती है। ये सूर्यरूपा होती है। इसका विस्तार दक्षि
नासापुट तक माना जाता है। ये समस्त नाड़ियाँ हठयोग प्रदीपिका के अनुसार कु
नहीं होती हैं, अतएव योगी को इनके सहारे कुंडलनी उत्थापन के पहले मुद्रा 'आसन' प्राणायाम आदि विविध क्रियाओं का करना आवश्यक होता है।[9] एक दूसरे स्थल पर इसी ग्रंथ में कुंडलनी को प्रबुद्ध करने के लिए मुद्रा अभ्यास को बहुत आवश्यक बतलाया गया है।[1]

मुद्राओं का महत्त्व—मुद्राएँ अनेक बतलाई जाती हैं किंतु विशेष प्रसिद्ध दस हैं। उनके नाम क्रमशः महामुद्रा, महाबंध, महावेध, उड्डीयान, मूलबंध, जालन्धर बंध, विपरीतकरणी, वज्रोली शक्तिचालन हैं।[1] इनकी साधना से साधक को अष्ट

---

[1] क्षुरिकोपनिषद् देखिये श्लोक ८ और ९
[2] योगशिखोपनिषद् ७।१२
,, ६।७२ और भी देखिये ६।१५,१६ १०,१८,११ ७०
[3] १६वाँ श्लोक 'इडा तिष्ठति वामेन'
[4] क्षुरिकोपनिषद् ७वाँ श्लोक
[5] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् और भी देखिये दर्शनोपनिषद् ४।११
[6] दर्शनोपनिषद् ४।११
[7] इडा के सम्बन्ध में जिन स्थलों का वर्णन किया गया है उन्हीं स्थलों पर पिंगला का वर्णन भी देखना चाहिये।
[8] हठयोग प्रदीपिका ३।२९
[9] ,, ,, ३।५
[1] ,, ,, ३।५,६,७

सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।[1] महामुद्रा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि योगी को बायें पाद की एड़ी से गुदा और मेढ़ के मध्य में स्थित योनि को पीड़ित करना चाहिए। दायें पद को दोनों हाथों से दबाना चाहिए। नवों द्वारों को रोककर ठोढ़ी को हृदय पर स्थित करके चित्तवृत्ति को स्थिर करके वायु का निरोध करना चाहिए।[2] महामुद्रा के पश्चात् महाबंध आता है योगी जब पैरों को फैलाकर दक्षिण चरण को वाम ऊरु पर स्थित करता है और गुदा का आकुञ्चन करके अपान को ऊर्ध्वमुखी कर उदान वायु से संयोजित करके प्राणवायु को अधोमुखी करता है तब उस स्थिति को महाबंध कहते हैं।[3] इसके अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्ना के मध्य में स्थित हो जाता है। महावेध[4] उस स्थिति को कहते हैं जब साधक अपान और प्राण को एक करके महाबंध की मुद्रा में स्थित होकर उदर को वायु से पूर्ण करता है और दोनों पार्श्वों को दबाता है। इस महावेध की साधना करने से जन्म-मरण आवागमन सिद्ध हो जाती है। यह वायु शरीरस्थ चक्र में स्थित देवताओं को कम्पायमान कर देती है। जिससे कुंडलनी ब्रह्म स्थान में लीन होने लगती है। उपर्युक्त महामुद्रा और महाबंध बिना महावेध के निष्फल ही होते हैं।[5] खेचरी[6] मुद्रा हठयोग में बहुत प्रसिद्ध है। इस मुद्रा में साधक वज्रासन या पद्मासन से बैठकर दोनों भ्रुवों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करता है, तथा जिह्वा को उलटकर मुख कूप स्वरूप तालु विवर से संयोजित करता है और उसके अमृत का पान करता है। इस प्रक्रिया का गोमांस भक्षण कहते हैं। जालंधर मुद्रा भी कम प्रसिद्ध नहीं है। इस मुद्रा में साधक गले शिराजाल को बाँधकर चिबुक को

---

[1] हठयोग प्रदीपिका पृ० ३।०
और भी देखिये—शिव संहिता ४।२०।२२

[2] शिव संहिता ४।२० से लेकर २० तक।
इस मुद्रा का वर्णन हठयोग प्रदीपिका में थोड़ा भिन्न रूप में किया गया है। देखिये—हठयोग प्रदीपिका ३।१०-१४ तक

[3] शिव संहिता ४।२०-३१
हठयोग प्रदीपिका में भी है ३।१९-२२

[4] शिव संहिता ४।४३ ४०

[5] शिव संहिता ४।७८

[6] हठयोग प्रदीपिका ३।४८
गोशब्देनोदिता जिह्वा, तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु, महापातकनाशनम्॥
जिसे ऊपर गोमांस कहा गया है उसे अमर वारुणी भी कहते हैं। देखिये ३।४६ हठयोग प्रदीपिका।

हृदय पर स्थिर करके चन्द्रमंडल से स्रवित होने वाले अमृत का पान करता है। इस अमृत का पान करनेवाला अमर हो जाता है।[1] विपरीतकरणी मुद्रा के स्वरूप के संबंध में हठयोगियों में थोड़ा मतभेद है। शिव संहिता में विपरीतकरणी मुद्रा का वर्णन शीर्षासन के ढंग पर किया गया है। उसमें लिखा है कि साधक को इस मुद्रा की साधना के लिए सिर को भूमि पर स्थिर करके चरणों को आकाश की ओर निरालंब खड़ा करना चाहिए। हठयोग प्रदीपिका में सूर्य को ऊर्ध्वमुखी और चंद्र को अधोमुखी करने की प्रक्रिया को विपरीतकरणी मुद्रा कहा गया है[2]। उड्डीयान मुद्रा में उदर को पीछे से आकर्षित करके नाभि के ऊपरी भाग में आकुंचित किया जाता है। इस मुद्रा के साधक को मृत्यु का भय नहीं रहता। हठयोग की वज्रोली मुद्रा[3] जिसे योनि मुद्रा भी कहते हैं बहुत प्रसिद्ध है। यह मुद्रा बहुत कठिन है। इसमें योगी स्त्री की योनि में लिंग डालकर उसके रज का आकर्षण करता है फिर अपने बिन्दु का निरोध करके लिंग का चालन करता है। यदि बिन्दु अधोमुखी होने लगता है तो बलपूर्वक अपान वायु का आकुंचन करके उसका निरोध करता है। यौगिक भाषा में बिंदु को शिव और रज को शक्ति माना जाता है। वज्रोली के सदृश ही सहजोली[4] और अमरोली[5] आदि मुद्राएँ भी बिंदु धारणा से ही संबंधित हैं। संक्षेप में हठयोग में मुद्राओं का यही स्वरूप वर्णित है।

षट्कर्म—मुद्राओं के प्रसंग में इन षट्कर्मों का उल्लेख भी कर सकते हैं। षट्कर्म की उस साधक को आवश्यकता पड़ती है जिसके शरीर में मेद और श्लेष्मा अधिक होता है। इनकी साधना किये बिना प्राणायाम और मुद्रा में कोई भी साधक समर्थ नहीं होता। इनको हम घट शोधन कारक प्रारम्भिक उपाय मानते हैं[6]। हठयोग

---

[1] शिव संहिता ४।६०-६१

[2] हठयोग प्रदीपिका ३।७७, ७८, ७९

"बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम्।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः॥
'यत्किंचित्स्रवते चन्द्राद् अमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः॥
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः।
ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी॥
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥"

[3] देखिए—हठयोग प्रदीपिका ३।८३।९१

[4] हठयोग प्रदीपिका ३।९२

[5] अमरोली के लिए देखिए ३।९६ १०३ "हठयोग प्रदीपिका'

[6] हठयोग प्रदीपिका २।२१, २।२२ २३

प्रदीपिका में छः षट्कर्म बतलाए गये हैं। उनके नाम क्रमशः धौति, बस्ति, नेति, नौलि, कपाल कर्म भाति त्राटक हैं[1]। आगे चलकर गजकरणी नामक एक और कर्म का उल्लेख किया गया है[2]। हठयोग प्रदीपिका में धौत कर्म का उल्लेख करते हुए लिखा है कि चार अंगुल चौड़े और पंद्रह हाथ लम्बे महीन वस्त्र को गर्म जल में भिगाकर थोड़ा निचोड़ लेना चाहिए फिर सुयोग्य गुरु के निर्देशन में धीरे-धीरे एक-एक हाथ प्रतिदिन कपड़े को निगलने का प्रयत्न करना चाहिए। आठ-दस दिन में एक हाथ धोती को छोड़कर शेष धोती को निगलने का प्रयत्न करना चाहिए यही धौत कर्म है।[3] बस्ति को साफ करना बस्तिकर्म कहलाता है।[4] यह दो प्रकार का होता है[5]—पवन बस्ति और जलबस्ति। नौलिकर्म द्वारा अपान वायु को ऊपर खींच पुनः मयूर आसन से त्यागने को बस्तिकर्म कहते हैं। पवन बस्ति पूरी सध जाने पर जल बस्ति की क्रिया सफल हो जाती है। हठयोग प्रदीपिका में लिखा है कि गुदा के मध्य में छः अंगुल लम्बी नली को रखना चाहिए। उसका छिद्र कनिष्ठिका की उँगली के बराबर हो। उसे चार अंगुल अंदर प्रविष्ट करे और दो अंगुल बाहर रखे। उत्कट आसन से जल भरे टब में बैठकर आधार कुंचन करे जिससे नली द्वारा आंत में अपने आप जल चढ़ने लगेगा। फिर इस जल को बाहर निकाल दे। इसी को बस्तिकर्म कहते हैं।[6] तीसरी क्रिया नेति कहलाती है। ये दो प्रकार की होती है—जल नेति और सूत्र नेति। इसमें नाक में जल या सूत भर के उन्मुक्त किया जाता है।[7] नेति के बाद नौल क्रिया करनी चाहिए। नौलिकर्म को स्पष्ट करते हुए उसी ग्रंथ में लिखा है कि योगी जब कंधों को झुकाकर जल भ्रमर के सदृश अपनी तुंद को दाहनी और बाईं ओर घुमाता है तब उसे नौलिकर्म कहते हैं।[8] पाँचवीं क्रिया कपाल भाति है। इसमें रेचक प्राणायाम का विधान रहता है। इससे काम, दोष नष्ट हो जाता है। षट्कर्मों की अंतिम क्रिया त्राटक के नाम से प्रसिद्ध है। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार एकाग्र-

---

[1] हठयोग प्रदीपिका २।२२

"धौतिर्बस्तिस्तथा नेति त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते॥"

[2] हठयोग प्रदीपिका २।३८

[3] हठयोग प्रदीपिका २।२४-२८

[4] „ „ २।२६

[5] „ „ २।२७-२८

[6] „ „ २।२९

[7] „ „ २।२९

[8] „ „ २।३३

सिद्ध हुआ मनुष्य जब निश्चल दृष्टि से किसी सूक्ष्म लक्ष्य को तब तक देखता रहता है। जब तक उसके अश्रु नहीं आ जाते तब उस क्रिया को त्राटक कहते हैं।[1] कुछ योगी गजकरणी क्रिया भी करते हैं। गजकरणी क्रिया में उसी तरह से जल अंदर खींच कर बाहर निष्कासित किया जाता है जिस प्रकार से हाथी अपनी सूँड़ से करता है।[2]

कुण्डलिनी उत्थापन प्रक्रिया—अब हम कुंडलिनी उत्थापन प्रक्रिया पर विचार करेंगे। नादानुसंधान में यह प्रक्रिया बहुत सहायक मानी गई है। कुंडलिनी साधना बहुत प्राचीन है। कुण्डलिनी के वर्णन यजुर्वेद[3] तक में मिलते हैं। चक्रों के रहस्य को समझने की जिज्ञासा की अभिव्यक्ति ऋग्वेद[4] तक में मिलती है। यौगिक ग्रंथों में इसके अनेक वर्णन मिलते हैं। अद्वैततारकोपनिषद्[5] में कुंडलिनी को कोटि तड़ित सदृश कांति मयि और मृणाल तन्तु सदृश सूक्ष्म कहा गया है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[6] में लिखा है कि मनुष्य की देह में एक ऐसा स्थान है जहाँ से समस्त नाड़ियाँ निकलती हैं। कुंडलिनी उसी के ऊर्ध्व में स्थित रहती है और वे ब्रह्मरंध्र अर्थात् सुषुम्ना के मुख को अपने मुख से आवेष्टित रखती है। हठयोग में यह कुटिलांगी, भुजंगिनी, ईश्वरी, कुण्डलिनी, अरुन्धती और बालरण्डा नाम से भी प्रसिद्ध है[7]। हठयोगी इस कुण्डलिनी का उत्थापन करता हुआ षट्चक्रों का भेदन करता है। विविध प्रकार की वायुओं के केन्द्र स्थानों को चक्र कहते हैं। इनका हम शैवशाक्त तन्त्रों के प्रसंग में विस्तार से वर्णन कर चुके हैं। यहाँ पर केवल थोड़ी-सी चर्चा भर करेंगे।

चक्रों का वर्णन—विविध प्रकार की वायुओं के केन्द्र स्थानों को चक्र कहते हैं। कुण्डलिनी इन चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार में पहुँचती है। ये चक्र शक्ति का स्थान माने जाते हैं। चक्रों की संख्या के सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद है। हठयोग में अधिकतर षट्चक्रों का वर्णन ही किया गया है। हिन्दू तंत्रग्रंथों में ग्यारह चक्रों तक की कल्पना की गई है। बौद्धतन्त्रों में केवल चार चक्रों का ही उल्लेख किया गया है। पहले हम षट्चक्रों के स्वरूप पर ही प्रकाश डालेंगे। उनके नाम क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा हैं। प्रथम पाँच क्रमशः क्षिति, जल, अग्नि, वायु, गगन के केन्द्रस्थान माने जाते हैं। ब्रह्मरंध्र में परम शिव का स्थान माना जाता है।

---

[1] हठयोग प्रदीपिका २।३२
[2] " " २।३८
[3] देखिए कल्याण का योगांक पृ० ३८८
[4] ऋग्वेद पृ० ११६।७।३
[5] अद्वैत तारकोपनिषद् पाँचवाँ गद्य भाग।
[6] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् मंत्र भाग—श्लोक ६२।६३, ६४, ६५
[7] हठयोग प्रदीपिका पृ० ३।१०४

मूलाधार चक्र—ये चक्र आधार, गुदाम्, गुह्यस्थान, भूमण्डल, मूलचक्र आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। इसकी स्थिति गुदा के ऊपर लिंगमूल के नीचे, सुषुम्ना के मुख से संलग्न बतलायी जाती है[1]। इसके मध्य में पीले रंग का चतुष्कोण है ये आठ पृथ्वी तत्त्व के प्रतीक शूलों से आवृत्त है[2]। इन शूलों के ऊपरी भाग स्त्रियों के स्तनों के ऊपरी भाग के सदृश होते हैं। इस चतुष्कोण के मध्य में एक लाल त्रिकोण रहता है। इसे योनि का प्रतीक कहते हैं। इसका नाम कामरूप है[3]। इसे अग्नि का स्थान भी मानते हैं। इसमें कन्दर्प नामक वायु रहता है।[4] योनि के मध्य में स्वयंभू लिंग है जो प्रकाश रूप है। इस लिंग को कुंडलिनी साढ़े तीन वलयों से आवृत्त किये हुए है। कुंडलिनी का मुख ऊपर की तरफ रहता है। यही परब्रह्म द्वार है।[5] इस ब्रह्म द्वार से ही वह अमृत का पान करती है। यहीं से नाद का जन्म होता है। यहाँ पर योगी के रूप में इसका ध्यान करना बतलाया गया है। इस चक्र के चार दल बतलाये गये हैं। इन दलों के बीजाक्षर व, ष, श, हैं। इसके देवता गणेश हैं और अधिष्ठात्री देवी डाकिनी है।

स्वाधिष्ठान चक्र[6]—इसको जल मंडल, मेढ्राधार और गर्भपीठ भी कहते हैं। इसकी स्थिति लिंगमूल में बतलाई जाती है। इसका वर्ण लाल माना गया है। इसमें छः दल होते हैं उनके बीजाक्षर क्रमशः बम्, भम्, मम्, यम्, रम्, लम् हैं। इसके मध्य में एक अर्धचन्द्र माना गया है। इस अर्धचन्द्र के मध्य में वरुण का मूल स्थान है। कुछ लोग कहते हैं कि इस अर्धचन्द्र की प्रत्येक दिशा में एक अष्टदल वाला कमल रहता है। 'व' इसका बीजमंत्र माना जाता है। कुछ लोगों ने विष्णु को इसका देवता माना है और कुछ ने ब्रह्म को। इसी प्रकार कुछ आचार्य इसकी अधि-

---

[1] षट्चक्रनिरूपणम् ४ श्लोक

[2] वही ५वाँ श्लोक

[3] वही ८वाँ श्लोक

[4] वही ८वाँ श्लोक

[5] वही १०वाँ श्लोक

मूलाधार चक्र का वर्णन देखिए—योगशिखोपनिषद् ३८८।१०१

[6] स्वाधिष्ठान चक्र का वर्णन निम्नलिखित पर आधारित है—

१—षट्चक्र निरूपणम् १।१६,१७,१८,२०

२—शिव संहिता ५।५८ १०८

३—ध्यानबिन्दूपनिषद् ४८, ४९

४—योगशिखोपनिषद् १।१०१

स्वामी देवी शाकिनी को मानते हैं और कुछ राकिनी को। इस चक्र में स्थित स्वयंभू में प्राण प्रतिष्ठित रहता है। मूलाधार और स्वाधिष्ठान के बीच में योग स्थान की कल्पना की गई है। यहाँ शिव और शक्ति का निवासस्थान माना जाता है। कुछ लोग इसे चक्र पीठ भी कहते हैं।

मणिपूरक चक्र[1]——इसको नाभिस्थान, रविस्थान और सूर्यस्थान भी कहते हैं। ये नाभि प्रदेश में रहता है इसमें दस दल होते हैं जिनके संकेताक्षर क्रमश डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं हैं। इस चक्र को अग्नि और सूर्य का स्थान मानते हैं। समान वायु का केन्द्र भी यही है। इसका बीजमंत्र रं है। यह रं एक लाल त्रिकोण में जो तीन ओर से स्वस्तिक चिन्हों से आवृत रहता है इसको रक्तस्थान भी मानते हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि सहस्रार में स्थित चन्द्र से झरनेवाले अमृत को इसी चक्र में स्थित सूर्य भस्म कर देता है। इसके अधिष्ठाता महारुद्र माने जाते हैं। शिवसंहिता में विष्णु को इसका अधिष्ठाता माना गया है। इसकी अधिष्ठात्री लाकिनी देवी है। रुद्र इसके शिव माने गए हैं। जो इस मणिपूरक चक्र का ध्यान करते हैं उन्हें पाताल सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

अनाहत चक्र[2]——यह चक्र हृदय प्रदेश में रहता है। इसमें बारह दल होते हैं। इनके संकेताक्षर कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं माने गये हैं। इस चक्र का नाम शब्दब्रह्म का वाचक प्रतीत होता है। जो दो वस्तुओं के संघर्ष के बिना ही उत्पन्न होता है। यह प्राण अथवा जीवात्मा का निवासस्थान कहा गया है। यह वायु तत्त्व का प्रतीक माना जाता है। इसका रंग लाल बतलाया गया है। इसके लिए

[1] मणिपूरक चक्र का विवरण निम्नलिखित विवरणों पर आधारित है——
१——षट्चक्र निरूपणम्——प्रकरण तृतीय श्लोक १९-२१
२——शिवसंहिता ५।१०७,१०२,१०६,१०७,१०८
३——ध्यानबिन्दूपनिषद् ४७।४८।४९।श्लोक
४——योगशिखोपनिषद् १।१७४
५——योगकुण्डल्युपनिषद् ३।६

[2] निम्नलिखित ग्रंथ देखिए——
१——षट्चक्रनिरूपण श्लोक २२,२३,२४,२५,२६,२७
२——शिवसंहिता ५।१०३ ११२
३——योगकुण्डल्युपनिषद् १।६९-७०
४—— " ३।११
५——योगशिखोपनिषद् १।१७५
६—— " ६।६

पिनाकी हैं और अधिष्ठात्री देवी काकिनी है। इसका ध्यान करनेवाला साधक त्रिकाल दर्शी हो जाता है और स्वेच्छा से आकाश में गमन करने लगता है।

विशुद्ध चक्र[1]—इसकी स्थिति कंठस्थान में मानी जाती है। यह स्वर्ण के सदृश देदीप्यमान होता है। इसमें सोलह संकेताक्षर युक्त दल होते हैं। उनके संकेताक्षर क्रमशः इस प्रकार हैं—आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं। हठयोग प्रदीपिका[2] में इसको षोडशाधाररूप कहा गया है। अर्थात् यह चक्र शरीरस्थ षोडश आधारों को धारे हुए है। ये षोडश आधार[3] क्रमशः अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, ऊरु, सीवनी, लिंग, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कंठ देश, लम्बिका, नासिका, भ्रूमध्य, ललाट, मूर्धा और ब्रह्मरंध्र हैं। कुछ दूसरे आचार्यों ने इन षोडशाधारों के नाम इस प्रकार दिये हैं—पदांगुष्ठाधार, मूलाधार, गुदाधार, मेढ्राधार, उड्डीयानाधार, नाभ्याधार, हृदयाधार, कंठाधार, घंटिकाधार, तालुधार, जिह्वामूलाधार, ऊर्ध्वदंतमूलाधार, नासाग्राधार, भ्रूमध्याधार, ललाटाधार और ब्रह्मरंध्राधार[4]। इस चक्र का[5] ध्यान करनेवाला योगी चारों वेदों का ज्ञाता हो जाता है। इसका बीजमंत्र हं माना गया है। इसकी अधिष्ठात्री देवी शाकिनी है। यह उदान वायु का स्थान माना जाता है। आकाश इसका तत्व है। इसमें बिंदु निहित रहता है। इस चक्र को कुछ दूसरे नाम ग्रंथों में कंठदेश चक्रस्थान, जालंधर पीठ, भारतीस्थान, नभोमंडली आदि नाम भी दिये गये हैं।

आज्ञा चक्र—[6] इसको त्रिकुटीस्थान और ज्ञान चक्र भी कहते हैं। यह भ्रूमध्य भाग में स्थित है। इसमें दो दल होते हैं। उनके संकेताक्षर ह और क्ष हैं। यह चक्र बुद्धि, अहंकार, मन तथा इन्द्रियों के सूक्ष्मरूप का केन्द्रस्थान माना जाता है। इस स्थल पर परम शिव का निवासस्थान माना गया है। हाकिनी इसकी अधिष्ठात्री देवी है। महाकाल इसके सिद्ध, परमात्मा इसके देवता हैं। इस महाचक्र के मध्य में शरद् चन्द्र के

---

[1] इस चक्र का वर्णन निम्नलिखित स्थलों पर देखिये—
१—षट्चक्रनिरूपण ४।२८।३१
२—शिवसंहिता ५।११६ १२१

[2] हठयोगप्रदीपिका ३।७३

[3] " " की टीका देखिये

[4] गोरक्षशतक के पूना संस्करण की संस्कृत टीका देखिये।

[5] इन षोडशाधारों का वर्णन कतिपय हेर-फेर के साथ 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में किया गया है। २।१०-२५

[6] इस चक्र का विवरण देखिये—
१ षट्चक्र निरूपणम्—३२।३८
२ शिवसंहिता—५।१२२।१३३।१३४

सत्य परम ज्योतिपुरुष मंत्रपीठ ठ है। इसी स्थल पर इडा और पिंगला मिलती है। जिन्हें पारिभाषिक भाषा में वरणा और असी कहते हैं। वरणा और असी का मिलन बिन्दु होने के कारण इसे वाराणसी कहा जाता है। यह त्रिभुवनायकी का स्थान माना गया है। कुछ योगियों के अनुसार इस कमल के ऊपर पीठत्रय की स्थिति है। उनके नाम क्रमशः नाद बिन्दु और शक्ति हैं। आज्ञाचक्र के आगे सहस्रार कमल है।

सहस्रार कमल[1]—शिव संहिता के अनुसार यह कमल सुषुम्ना के ऊपरी भाग में तालु मूल में स्थित है। इसमें बीस विवर हैं। एक एक विवर में पचास पचास मातृकाएँ हैं। ये ही सब मिलकर एक सहस्र हो जाती हैं। इसीलिए इसे सहस्रार कहते हैं। योगी लोग इसे अधोमुखी बतलाते हैं।[2] योग ग्रंथों में इस सहस्रार कमल का बड़ा सूक्ष्म वर्णन किया गया है। पादुकापंचक नामक ग्रंथ में लिखा है कि अधोमुखी सहस्रार के नीचे ऊर्ध्वमुखी द्वादश दल है। हं एवं सं इस पद्म के दो दल हैं। इन दलों की आवृत्तियाँ मिलती हैं। इसीलिए इनको द्वादश दल कमल कहते हैं। कुंडली विवर पर्यंत मंडित सहस्रार कमल में शिव विराजमान हैं। अब शिव तक जाने के लिए जिसकी नाड़ी द्वारा अलक्ष्य एक मार्गरूप छिद्र है। सहस्र दल कमल और द्वादश दल कमल जहाँ पर मिलते हैं वहाँ एक त्रिकोण है उसमें ह, ल, क्ष वर्णों से आवृत शक्ति विराजमान है। इस त्रिकोण के ज्ञान के बिना सहस्रार में ध्यान स्थिर नहीं होता। इस त्रिकोण के त्रिबिंदु ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। और त्रिरेखाएँ सत्, रज और तम रूप हैं। इस त्रिकोण के मध्य में नीचे शुभ्र नाद है और ऊपर रक्त वर्ण बिन्दु है। बीच में मणिपीठ है। त्रिकोण के मध्य में अवस्थित नाद बिन्दु सहित इस मणिपीठ का ध्यान किया जाना चाहिए। नाद बिन्दु समन्वित यहीं पर कैलाश माना जाता है। इसी के कंद देश में स्थित त्रिकोण में कुछ योगियों के अनुसार सुषुम्ना का मूल है जिसे ब्रह्म विवर कहते हैं। इसी को दशम द्वार कहा गया है। जिसे हमने ऊपर बिन्दु कहा है उसे कुछ लोग शून्य भी कहते हैं। यहीं परब्रह्म का निवासस्थान है। इस कमल में ही परम तत्त्व की स्थिति बतलाई जाती है। जिससे अमृत झरा करता है। शिव संहिता

---

१ इसका विवरण देखिए—

१ षट्चक्र निरूपणम्—४वाँ प्रकरण

२ शिवसंहिता ५।१६०,१८०

३ यह वर्णन आर्थर एवेलन द्वारा लिखित 'दि सर्पेंट पावर' नामक ग्रंथ में संगृहीत है। पादुकापंचक पर आधारित है।

४ आर्थर एवेलन द्वारा सम्पादित 'लिखित' सर्पेंट पावर' के अन्त में संगृहीत पादुका पंचक पृ० १२१ पर टीका में दिया हुआ डा० विश्वानन्द का अवतरण।

के अनुसार यह अमृत इडा नाड़ी से होकर झरता है। इसी कमल में शिव शक्ति का मिलन होता है और यहीं पहुँचकर साधक को उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है।

इन चक्रों के अतिरिक्त योग और तंत्र ग्रंथों में और भी कई चक्रों का उल्लेख किया गया है। इन चक्रों में अष्टदल कमल का उल्लेख कर देना आवश्यक है, क्योंकि संतों ने अष्टदल कमल का ही बहुत अधिक वर्णन किया है। इस अष्टदल कमल का वर्णन हमें ध्यान बिन्दु उपनिषद् में मिलता है। उसमें लिखा है कि हृदय स्थान में अष्टदल कमल रहता है। उसी हृदय कमल के बीच में रेखा वलय बनाती हुई ज्योतिस्वरूप अणुमात्र आत्मा रहती है। यह आत्मा उस कमल के भिन्न-भिन्न भागों में भ्रमण करती हुई विविध प्रवृत्तियों और अवस्थाओं को प्राप्त होती है। प्राण और अपान का रोध करके इस जीवात्मा की साधना की जाती है। प्राण और अपान का यह योग मन और बुद्धि से किया जाना चाहिए। संक्षेप में यही अष्ट कमल दल साधना है। वायु बुद्धि मन के अतिरिक्त कुंडलनी के द्वारा भी अष्टदल कमल की साधना करने का विधान मिलता है।[1]

तंत्र ग्रंथों में और भी कई चक्रों का वर्णन मिलता है। आज्ञा चक्र के समीप एक मन-चक्र की कल्पना की गई है। उसमें सोलह दल बतलाए जाते हैं। आज्ञा चक्र के समीप ही कारण शरीर से संबंधित सात कोष हैं। इनके नाम क्रमशः इन्दु, बोधनी, नाद, अर्द्धचन्द्रिका, महानाद, कला और उन्मनी हैं। कहते हैं उन्मनी कोष में पहुँचकर जीव की पुनरावृत्ति नहीं होती। बहुत से तंत्र और हठयोग के ग्रंथों में भी चक्रों का वर्णन किया गया है किन्तु उनके नामों के संबंध में मतभेद है। सिद्ध सिद्धांत पद्धति में जिन नौ चक्रों का उल्लेख किया गया है उनमें षट्चक्र तो मूलाधार स्वाधिष्ठान आदि हैं। उस सिरस में तीन चक्रों का नाम और जोड़ दिया गया है। उनके नाम क्रमशः तालुचक्र, निर्वाण चक्र और आकाश चक्र हैं। कुछ प्रतियों में इन चक्रों के लिए घंटिका मनोन्मन और ब्रह्म चक्र अभिधान प्रयुक्त किये गये हैं।

सिद्ध सिद्धांत पद्धति में नौ चक्रों के जो क्रम और विवरण दिये गये हैं उनका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है क्योंकि सन्त लोग इस व्यवस्था से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इस ग्रंथ के अनुसार प्रथम चक्र का नाम ब्रह्म है इसकी स्थिति आधार में मानी जाती है। इस चक्र के पास ही उन्होंने कामरूप पीठ की स्थिति आधार मानी है। इस चक्र में साधक को पावकाकार ध्यान करना चाहिए।[2] दूसरा चक्र इस ग्रंथ के अनुसार

[1] ध्यानबिन्दूपनिषद्—ध्यानबिन्दूपनिषद्—पाठ भाग १३।१ से १४ तक

[2] सिद्धे का चक्रमिति आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिरावर्तं भगमण्डलाकारं तत्र मूलकन्दं तत्र शक्तिं पावकाकारं ध्यायेत् तत्रैव कामरूपं पीठं सर्वकामफलं भवति ॥१॥

स्वाधिष्ठान है। इस चक्र में एक पश्चिमाभिमुख प्रवालांकुर के सदृश लाल और ज्योतिर्मय लिंग है। योगी को इस चक्र में इसी लिंग का ध्यान करना चाहिए। इस चक्र के समीप ही उड्डीयान पीठ माना गया है।[1] तीसरा चक्र नाभि चक्र बतलाया गया है। इसमें मध्यशक्ति का ध्यान करने का उपदेश दिया गया है। यह मध्यशक्ति कुंडलनी शक्ति के सदृश ही होती है। इसमें करोड़ों सूर्यों के सदृश ज्योति होती है। सर्प के सदृश रूप बनाकर यह कुंडलाकार में स्थित रहती है।[2] चौथा कमल हृदय कमल बतलाया गया है। वे इसको अधोमुखी मानते हैं। इसमें आठ दल बतलाए गये हैं। इसकी कर्णिका में लिंगाकार ज्योति का ध्यान करने का उपदेश दिया गया है। इसे हंस कला कहा गया है।[3] पाँचवाँ चक्र कंठ चक्र है। यह चार अंगुल का है। इसकी बाईं ओर इड़ा और दाहनी ओर पिंगला जिन्हें क्रमशः चन्द्र और सूर्य नाड़ी कहते हैं स्थित हैं। इसके मध्य में सुषुम्ना का ध्यान करने का उपदेश दिया गया है और उसकी अनाहत कला का विधान किया गया है। इसका ध्यान करने से अनाहत सिद्धि की प्राप्ति होती है।[4] छठा चक्र तालु चक्र कहा जाता है। यहाँ पर अमृत प्रवाहित रहता है। यहीं पर शंखिनी नाड़ी का विवर है इसे दशमद्वार कहा जाता है। यहाँ पर शून्य का ध्यान करने से चित्तलय बड़ी सरलता से हो जाता है।[5] भ्रूचक्र नाम का सातवाँ चक्र है। यह अंगुष्ठमात्र होता है। दीपशिखा के आकार के सदृश इस ज्ञान रूप का ध्यान करना चाहिए इससे वाणी सिद्ध होती है।[6] आठवाँ ब्रह्मरंध्र निर्वाण चक्र है। यह सूचिका के अग्रभाग के सदृश सूक्ष्म है। इसी के समीप जालन्धर पीठ है। धूमशिखाकार रूप में इसका ध्यान करना चाहिए।[7] नवम चक्र आकाश चक्र के

---

1 द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखं लिंगं प्रवालांकुर सदृशं ध्यायेत्, तत्रैवोड्डियानपीठं जगदाकर्षं भवति ॥२॥

2 तृतीयं नाभिचक्रं पञ्चावर्तं सर्पवत्कुण्डलाकारं तन्मध्ये कुण्डलिनी शक्ति बालार्क कोटिसदृशीं ध्यायेत् सा मध्यशक्तिः सर्व सिद्धिदा भवति ॥३॥

3 चतुर्थं हृदयाधारमष्टदल कमलं अधोमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां लिंगाकारां ज्योतिर्ध्यायेत् सैव हंसकला सर्वेन्द्रियवश्या भवति ॥४॥

4 पंचमं कण्ठचक्रमंगुल चतुष्टयं तत्र वामे इडा चन्द्रनाडी दक्षिणे पिंगला सूर्यनाडी तन्मध्ये सुषुम्नां ध्यायेत् सैवानाहतकला अनाहतसिद्धिर्भवति ॥५॥

5 षष्ठं तालु चक्रं तत्रामृतधाराप्रवाहः घण्टिकालिंग मूलरन्ध्रं राजदन्तं शंखिनी विवरं दशमद्वारं तत्र शून्यं ध्यायेत् चित्तलयो भवति ॥६॥

6 सप्तमं भ्रूचक्रं अंगुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेत् वाचा सिद्धिर्भवति ॥७॥

7 अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रं सूचिकाग्रभेद्यं धूमशिखाकारं ध्यायेत् तत्र जालन्धर पीठं मोक्षप्रदं भवति ॥८॥

नाम से प्रसिद्ध है। इसमें सोलह दल होते हैं। इसका मुख ऊपर की ओर होता है। इसकी कर्णिका में त्रिकुटाकार की ऊर्ध्व शक्ति होती है। उसको परम शून्य कहते हैं। उसी के समीप पूर्णगिरिपीठ नाम का स्थान है। परम शून्याशक्ति का ध्यान करने से समस्त इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं।[1] तंत्र ग्रंथों में दिये गये नौ चक्रों के नाम और स्थान इनसे भिन्न हैं। कुछ तंत्रों में प्रसिद्ध षट्चक्रों के अतिरिक्त आज्ञा चक्र के समीप मनः चक्र की कल्पना की गई है। उसमें सोलह चक्र बताए जाते हैं। आज्ञा चक्र के समीप ही कारण शरीर में संचित सात चक्र कल्पित किये गये हैं। जिनके नाम क्रमशः इन्दु, बोधिनी, नाद, अर्धचन्द्रिका, महानाद, कला और उन्मनी हैं।[2] कहते हैं इस उन्मनी लोक में पहुँचकर पुनरावृत्ति नहीं होती। कुछ योगियों ने आज्ञा चक्र से ब्रह्मरंध्र तक के बीच में त्रिकूट गोल्हाट, और पीठ और भ्रमर गुफा नाम के अन्य पाँच चक्रों की कल्पना की है।[3] शक्ति सम्मोहन तंत्र में जिन नौ चक्रों का वर्णन किया गया है वे बिल्कुल भिन्न हैं। अधिक मान्य न होने के कारण यहाँ पर उनका विवरण नहीं दे रहे हैं।

बौद्ध तंत्रों[4] में केवल चार चक्रों को ही मान्यता दी गई है, उनके नाम क्रमशः मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और उष्णीष हैं। तीन नाम तो हिन्दू योगशास्त्र के ही हैं। उष्णीष नामक नाम अवश्य नया है। उष्णीष को हम सहस्रार का ही नामान्तर मानते हैं। इन चक्रों का संबंध कायों से स्थिर किया गया है। प्रथम तीन क्रमशः निर्माणकाय, संभोगकाय और धर्मकाय से प्रतिष्ठित हैं। चौथी काया सहजकाय है। उसकी प्रतिष्ठा उष्णीष कमल में मानी जाती है। उस कमल को महासुख कमल भी कहते हैं। संक्षेप में हठयोग का प्रमुख प्रतिपाद्य यही है। इन समस्त प्रक्रियाओं का वर्णन बड़े विस्तार से किये गये हैं। प्रत्येक साधक ने उसमें अपनी अपनी साधना अनित नवीन प्रक्रियाओं का भी उल्लेख किया है जिससे यह विषय बहुत जटिल हो गया है। सन्तों ने इस विषय की अवतारणा अपनी बानियों में पूर्ण जटिलता के साथ की है। यहाँ पर उन समस्त जटिलताओं का उल्लेख करना बड़ा कठिन है, फिर भी हम उसका यथाशक्ति निदर्शन कर रहे हैं।

सन्तों की योग साधना—सन्त लोग ज्ञानी और भक्त ही नहीं उच्च

---

[1] ब्रह्मरन्ध्राख्य षोडशदल कमल मूर्ध्नमुर्ध्व तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकारां तदूर्ध्वशक्तिं तां परम शून्यां ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेष्टार्थसिद्धिर्भवति ॥१॥

[2] कल्याण का योगांक पृ० ३१८

[3] वही पृ० ३११

[4] वही पृ० ३११

क्योंकि वे योगी भी थे। योग के आधारभूत सिद्धान्त 'पिण्ड संविति' में वे पूरी आस्था रखते हैं। सन्त कबीर ने 'जो पिंडे सो ब्रह्माण्डे जान' लिखकर इसी सिद्धान्त की स्वीकृति की व्यंजना की। अन्य संतों ने भी इस सिद्धांत की अभिव्यक्ति काया साधन और काया शोधन का उपदेश देकर की है। सन्त दादू ने कायावेलि के अभिधान से उपर्युक्त सिद्धांत का संकेत किया है।[1] दादू ने जो बात साठ सत्तर पंक्तियों में कही है, कबीर ने दो पंक्तियों में रख दी है—

काया मधे कोटि तीरथ काया मधे कासी।
काया मधे कवलापति काया मधे बैकुण्ठवासी॥ (पृ० १४५)

सन्तों में हमें वायु साधना के विविध स्वरूप मिलते हैं। सन्त कबीर ने सबसे प्रथम पाँच वायुओं को रोकने का उपदेश दिया है। सन्त सुन्दरदास ने दसों वायुओं और उनके स्थानों का शास्त्रीय निरूपण किया है। किन्तु अधिकांश सन्तों में हमें इसके चलते-फिरते वर्णन भी मिलते हैं। प्रमुख सन्तों का कुछ उदाहरण दे देना अनुचित न होगा। सन्त गुलाल साहब ने लिखा है—कि योगी को चाहिए ऊर्ध्वपवन को लेकर ब्रह्मरंध्र में स्थिर करे।[2] सन्त कबीर ने[3] भी कई स्थलों पर पवन को उलटकर षट्चक्र में भेदन की बात कही है। इसी प्रकार सन्त बुल्ला साहब ने भी एक स्थल पर पवन को बाँधकर गगन की साधना करने का उपदेश दिया है।[4]

यारी साहब ने प्राण अपान योग का उपदेश करते हुए लिखा है कि जो योगी प्राण और अपान का योग स्थापित कर लेता है वही गगन ब्रह्म की साधना कर पाता है।[5] संतों ने बहुत से स्थलों पर प्राण अपान साधना का संकेत, बहुत से स्थलों पर चाँद और सूर्य के प्रतीक से भी किया है[6]। गुलाल साहब ने एक स्थल पर त्रिवेणी के किनारे चन्द्र और सूर्य के मिलने की बात कही है। एक दूसरे स्थल पर उन्होंने चाँद

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० ११८

[2] गुलाल साहब की बानी पृ० ७
'ऊर्ध्व पवन लै धरत गगन में बाँधि करौ स्थिरवास'

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० ६०
उलट पवन षट्चक्र भेदा।

[4] बुल्ला साहब की बानी पृ० २
बाँध पवनहि साध समाधि गगन गरज सुनावही।

[5] यारी साहब की बानी पृ० ७
"ऐसे प्राण अपान मिलावै यारी पवन में गगन समावै।"

[6] गुलाल साहब की बानी पृ० ७ शब्द १५ देखिए

इस साधना का वर्णन 'अर्द्ध-उर्द्ध' शब्द के व्याज से किया है[1]। ऊर्ध्व-अर्ध का कुछ संतों ने स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। यह दोनों प्राणापान योग के वाचक हैं— यह बात योगमार्तण्ड नामक ग्रन्थ में इस प्रकार संकेतित की गई है—

प्राणेनाकृष्यते अपान प्राणोऽपानेन कृष्यते।
ऊर्ध्वं चाधः स्थितौ एतौ यो जानाति स योगवित्॥ ६०॥

संतों ने भी उसका प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में किया है। वाणियों से यह बात स्पष्ट प्रकट होती है—कबीर ने लिखा है—

अरध उरध बिच लाइ ले अकासा।
तहँवा ज्योति करै परकास॥ क० ग्र० ११६

एक दूसरे स्थल पर उन्होंने इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है।

अरध उरध की गंगा जमुना मूल कँवल को घाट। (क० ग्र० १४)

इसी प्रकार बुल्ला साहब ने एक स्थल पर पवन को मथानी कहकर पवन-साधना की ओर संकेत किया है[2]। इन्हीं संत ने एक दूसरे स्थल पर वायु-साधना से सम्बन्धित प्राणायाम के पूरक कुंभक रेचक आदि अंगों का उल्लेख किया है[3]। संतों में इस प्रकार के पवन साधना सम्बन्धी सैकड़ों उदाहरण ढूँढे जा सकते हैं।

संतों में हठयोग की नाड़ी साधना का भी बड़ा विस्तृत उल्लेख मिलता है। पिंगला और सुषुम्ना की चर्चा उन्होंने सर्वत्र की है। कबीर ने बहत्तर नाड़ियों को एक स्थल पर बहत्तर अमारी[4] कहा है। एक दूसरे स्थल पर ७२ घर कहा है।[5] पंच

[1] गुलाल साहब की बानी पृ० ६६
"अर्ध उर्ध के बीच बीच घर पावहीं।
चाँद सूर को बाँधि गगन ले आवईं॥
इंगला-पिंगला दोउ बाँधि सहज सब आवईं।
कह गुलाल हर रोज आनन्द सब आवईं॥

[2] बुल्ला साहब का शब्द सागर पृ० २
"पवन मथानी फिरते हूडो, तब पावै मन ठौर।"

[3] बुल्ला साहब का शब्द सागर पृ० ३
"ले कुंभक पूरक घर रामा रेचक संजम कई।"

[4] कबीर ग्रंथावली पृ० ३०८
बहुआ एक बहत्तर आधारी।

[5] कबीर ग्रंथावली पृ० २०६
बहत्तर घर एक पुरुष समाया।

नाड़ियों के लिए उन्होंने पंथ पियारी[1] और पंथ सती[2] शब्दों का प्रयोग किया है। संतों के इन प्रयोगों से प्रकट होता है कि वे लोग नाड़ियों की संख्या से पूर्णतया परिचित थे। जिन पंच नाड़ियों का उल्लेख उन्होंने किया है उनके नाम क्रमशः इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, वज्र और ब्रह्म नाड़ी हैं। इनमें से प्रथम तीन का उल्लेख संतों ने पग पग पर किया है। कहीं पर तो उन्होंने इन नाड़ियों का इन्हीं नामों से उल्लेख किया है और कहीं पर उन्होंने इनके लिए नये प्रतीकात्मक पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये हैं। पूर्ववर्ती योगियों के अनुकरण पर गंगा, यमुना, सरस्वती नामों का प्रयोग प्रायः सभी ने किया है।[3] इड़ा पिंगला के लिए चन्द[4] और सूर[5] शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। सुषुम्ना के लिए बंकनालि का प्रयोग भी बहुत अधिक मिलता है। बंकनालि के अतिरिक्त संतों ने उसके लिए अग्नि का भी प्रयोग किया है। इड़ा को शशि और पिंगला को सूरज भी कहा गया है। दोनों के लिए कमल शब्द का प्रयोग भी संतों ने किया है।

सन्तों में हमें सुषुम्ना के अनेक रहस्यात्मक वर्णन मिलते हैं। पिछले पृष्ठों में हम दिखा आये हैं कि योग ग्रंथों में सुषुम्ना के स्वरूप पर बड़े विस्तार से प्रकाश डाला गया है। उनमें उसे शुक्ल वर्ण की करोड़ों शशि के प्रकाश से प्रकाशित किया गया है। इस प्रकार का वर्णन सैकड़ों प्रकार से किया है। कबीर के दो-चार वर्णन देखिये—

अरध उरध बिचि लाइ ले अकासा तहवाँ जोति करै परकासा ।[6]
अगम निगम गढ़ रचि ले अवास तहवाँ जोति करै परकास ॥
चमके बिजुरी तार अनन्त तहाँ प्रभु बैठे कवला कंत ।[7]

सन्तों ने हठयोगिक मुद्राओं का कहीं पर भी विस्तृत रूप में कथन नहीं किया है। हाँ, ध्यान और धारणा से सम्बन्धित मुद्राओं की चर्चा उन्होंने अवश्य की है।

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० ६७

[2] कबीर ग्रंथावली पृ० १०२

[3] शिव संहिता २।१६९
इड़ा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्क पुत्रिका ।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संयोगोऽति दुर्लभः ॥

[4] कबीर ग्रंथावली पृ० ११०

[5] " " पृ० ११०

[6] " " पृ० १११

[7] " " पृ० १११

यौगिक ग्रंथों में ध्यान सम्बन्धी अनेक मुद्राओं का उल्लेख किया है—प्रमुख ध्यान सम्बन्धी मुद्रायें इस प्रकार हैं—(१) अगोचरी (२) भूचरी (३) चाचरी (४) खेचरी (५) शाम्भवी तथा (६) उन्मनी।

कुछ लोगों के अनुसार-खेचरी और चाचरी एक ही हैं। कुछ लोग दोनों को भिन्न मानते हैं। इनमें से पाँच के स्वरूप पर प्रकाश डाला जा चुका है अतः यहाँ पर केवल उन्मनी का स्पष्टीकरण करेंगे। संत लोगों ने विशेष रूप से उसी के प्रति श्रद्धा प्रकट की है। इन सब मुद्राओं को हम उन्मनी की पृष्ठभूमि के विभिन्न स्तर कह सकते हैं। सम्भवतः इसीलिए उन्मनी का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है। यहीं अन्यों का भी सामान्य रूप से कथन कर दिया गया है। सन्त यारी साहब ने उपर्युक्त मुद्राओं में चाचरी, भूचरी और खेचरी का उल्लेख किया है और उनके स्वरूप की ओर भी संकेत किया है। उनके मतानुसार त्रिकुटी में दामिनी जैसी ज्योति पर मन को केन्द्रित करना चाचरी मुद्रा है। मस्तक में ज्योति के दर्शन करने को भूचरी मुद्रा कहा गया है। गगन गुफा या ब्रह्मरन्ध्र में ज्योति के ध्यान को खेचरी मुद्रा कहा है। सामान्यतया शून्य में ध्यान केन्द्रित करना उन्मनी मुद्रा है। दरिया साहब ने संत यारी द्वारा वर्णित मुद्राओं के अतिरिक्त अगोचरी मुद्रा का उल्लेख किया है। "सहज योग" के प्रसंग में हम सब पर विचार किया जायगा, क्योंकि ये सब ध्यान और धारणा से सम्बन्धित हैं। हठयोग से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। यही कारण है कि घेरण्ड संहिता में २५ मुद्राओं के वर्णन के अन्तर्गत इनका नाम नहीं लिया गया है। मैं डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी के इस कथन से भी सहमत नहीं हूँ कि "यदि इन चार शब्दों को शुद्ध रूप में पढ़ा जाय तो ये खेचरी, भूचरी, अग्निचारी और जलचरी—अर्थात् घेरण्ड संहिता द्वारा वर्णित पाँच धारणा मुद्राओं में से चार—यथा आकाशी, पार्थिवी, आग्नेयी और आम्भसी ही के दूसरे नाम जान पड़ते हैं। इनकी साधना करने पर योगी क्रमस्थापूर्वक वायुरहित भूमि और जल में अनवरुद्ध गति की क्षमता प्राप्त कर लेता है।" पाँचवीं मुद्रा वायवी को मात्र इसीलिए छोड़ दिया गया है। क्योंकि आकाश में विचरण करने का मतलब वायु में भी विचरण करना होता है।[1] मेरी समझ में इन मुद्राओं का सम्बन्ध घेरण्ड संहिता में वर्णित मुद्राओं से नहीं है। ये स्वतंत्र मुद्रायें हैं। राज योग के ग्रंथों में इनका स्वतंत्र उल्लेख किया गया है। संतों ने वहीं से उन्हें प्राप्त किया है।

षट्कर्मों के प्रति भी संतों की कोई विशेष श्रद्धा न थी। यद्यपि संत चरनदास ने अपने भक्ति सागर[2] नामक ग्रन्थ में सभी कर्मों का विस्तार से उल्लेख किया है किन्तु

---

[1] सन्त दरिया—धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी पृ० ६६ १००

[2] भक्ति सागर—दरिया साहब पृ० २८२

उसे हम उनका सिद्धांत पक्ष कहते हैं। उन्होंने उनका वर्णन परम्परा के पालन के रूप में ही किया है। इनके अतिरिक्त यदि अन्य संतों ने इसी प्रकार की परम्परा का पालन किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। संत कबीर आदि भी सम्भवतः साधना के प्रथम चरण में षट्कर्मादि में विश्वास करते थे। डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर का निम्नलिखित उद्धरण उद्धृत किया है। इसमें उन्होंने षट्कर्मों की ओर ही संकेत किया है—

धोती नेता बस्ती आओ आसन पद्म जुगति करवाओ।
पहले मूल सुधार कार्य हो सारा।[1]

किन्तु इस प्रकार के उद्धरण इनेगिने ही हैं। अन्य संतों ने भी इन षट्कर्मों का उल्लेख सिद्धान्त रूप से कहीं पर भी नहीं किया है।

संतों में इन्हें षट्चक्रों की चर्चा भी मिलती है। मूलाधार पहला चक्र है। संतों ने मूलाधार साधना को कुछ विशेष महत्त्व दिया है। इसका कारण सम्भवतः उसका शिव का निवासस्थान होना है। संत दरिया साहब ने इसका संकेत इस प्रकार किया है—

धुव चाक खोजि करो निवास
मूल चाक महं शिव को वास ॥[2]

इसी प्रकार कबीरदास ने गंगा-जमुना के तटस्थ 'मूल कँवल घाट' का वर्णन किया है—

अरध-उरध गंगा जमुना
मूल कँवल को घाट ॥[3]

मूल कँवल के बाद स्वाधिष्ठान कँवल आता है। संतों ने इस कँवल की चर्चा उसके दलों की संख्या के सहारे की है। इसके छः दल बताये जाते हैं। कबीर ने भगवान् के षट् दल कँवल निवासी कहा है—"षट् दल कँवल निवासिया"।[4]

संतों ने हृदय-कँवल को बहुत महत्त्व दिया है। किन्तु इनकी हृदय कँवल की भावना मिश्रित है—एक ध्यान बिन्दूपनिषद् में वर्णित अष्टदल कँवल सम्बन्धी और दूसरी १२ दल वाली। यद्यपि संतों ने षोडश कमल दल का वर्णन किया है। उसके बेधने पर बनवारी के मिलने की बात कही है।[5] किन्तु उसका स्थान

---

[1] कबीर ग्रन्थावली पृ० ३२८
[2] दरिया साहब पृ० ११
[3] कबीर ग्रन्थावली पृ० ८८
[4] कबीर ग्रन्थावली पृ० ८८
[5] कबीर ग्रन्थावली पृ० ८६

अष्टदल हृदय कँवल की साधना की ओर ही विशेष था। संतों ने उस अष्टदल कमल का महत्त्व वर्णन विविध प्रकार से किया है। कबीर ने लिखा है—

"अष्ट कंवल दल भीतरा तहाँ श्रीरंग केलि कराई रे।"[1]

पलटू साहब ने भी लिखा है—

"अष्ट दल कंवल फूले ध्यान कमठ लगावनें।"[2]

इसी प्रकार दरिया साहब ने भी लिखा है—

अष्ट दल कंवल झरोखा।
तहवाँ विमल रस चोखी॥[3]

यारी साहब भी कहते हैं—

अष्ट दल के कमल भीतर बोलता एक सुआ।[4]

इसी प्रकार अन्य संतों ने भी अष्ट दल कँवल साधना को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि उन्होंने अष्ट दल कँवल साधना को इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया? हमारी समझ में इसका कारण उस कमल का ध्यान योग से संबंधित होना है। दूसरा कारण उसमें आत्मा का आवास होना भी है। इसी आत्मा पर ध्यान को केन्द्रित करने से जीव आत्मरूप हो जाता है। संत लोग ध्यान योगी ही थे। हठयोग के प्रति उनकी विशेष आस्था न थी। यही कारण है कि उन्होंने अनाहत चक्र का वर्णन कम किया है और अष्ट दल कँवल का अधिक।

पाँचवाँ चक्र विशुद्ध नाम से प्रसिद्ध है। संतों की बानियों में इसके भी संकेत मिलते हैं। इसके १६ दलों का संकेत करते हुए कबीर ने लिखा है कि उसकी साधना करने से बनवारी के दर्शन होते हैं।

षोडस कँवल जब चेतिया तब मिलि है श्री बनवारि रे।[5]

विशुद्ध चक्र के बाद आज्ञा चक्र आता है। संतों ने इस चक्र को अन्यों की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व दिया है। इसका कारण है—इस चक्र का ध्यान और समाधि योग से आत्यंतिक समन्वित होना, क्योंकि अव्यक्त प्रणव रूपी ब्रह्म का यही स्थान माना जाता है। यहीं पर इंगलारूपी वरुणा और पिंगलारूपी असी की स्थिति है। इसीलिए इसे वाराणसी कहते हैं। यही गंगा (इड़ा), यमुना (पिंगला), सरस्वती

[1] कबीर ग्रन्थावली पृ० ८८
[2] पलटू साहब ३।७४
[3] दरिया साहब के चुने हुए पद पृ० ११
[4] यारी साहब की रत्नावली पृ० ३
[5] कबीर ग्रंथावली पृ० ८८

(सुषुम्ना) का मिलन बिन्दु है। कबीर ने इस त्रिवेणी में स्नान करने का बड़ा महत्त्व बताया है।

आज्ञा चक्र के बाद सहस्रार चक्र आता है। संतों में इस चक्र के वर्णन बहुत मिलते हैं जैसा कि हम पीछे बतला चुके हैं। शिव संहिता के अनुसार इस कमल की स्थिति तालु मूल में है। इस कमल के कंद में एक पश्चिमाभिमुखी योनि है। उसके मध्य में जो मूल विवर है उसमें सुषुम्ना नाड़ी स्थित है। इस सुषुम्ना के बीच में चित्रा नाड़ी है। उसमें भी शून्य ब्रह्म की कल्पना की जाती है। संतों में शिव संहिता के इस वर्णन से मिलते-जुलते बहुत से वर्णन मिलते हैं। उदाहरण के लिए कबीरदास की या निम्नलिखित अवतरण ले सकते हैं—

बंकनालि के अंतरे पछिम दिसा की बाट रे।

निर्झर झरै रस पीजिये तहँ भँवर गुफा के घाट रे॥ क० ग्र० पृ० ८८

यहाँ पर हम भँवर गुफा के संबंध में एक बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं। यौगिक ग्रंथों में विशेष करके गोरखनाथ की सिद्ध सिद्धांत पद्धति में भँवर गुफा का वर्णन षट्कोणी के प्रसंग में आया है। इसकी स्थिति ऊपर में बतलाई है। संत लोगों ने भ्रमर गुफा की स्थिति ब्रह्मरंध्र के समीप बताई है। कुछ संत तो ब्रह्मरंध्र को ही भ्रमर गुफा मानते थे। कुछ संतों ने इस भ्रमर गुफा को गगन गुफा भी कहा है।

यौगिक ग्रंथों में ब्रह्मरंध्र को अधोमुखी बतलाया गया है और इसी में ज्योति-स्वरूपी ब्रह्म की स्थिति बतलाई गई है। संतों ने इस तथ्य का भी ज्यों का त्यों वर्णन प्रस्तुत किया है। पलटू कहते हैं—"उलटा कूप गगन में तिसमें बरै चिराग" प० बानी पृ० १०१ ब्रह्मरंध्र को यौगिक भाषा में दशमद्वार भी कहते हैं। इस दशम द्वार के कंद में चन्द्रमण्डल की स्थिति है उससे अमृत झरता है। यह चन्द्र सोलह कलाओं का कल्पित किया गया है। यही निरंजन का वासस्थान है। यारी साहब ने लिखा है—

"यारी लागी दसवें द्वार तहाँ निरंजन ओंकार।" यारी साहब की रत्नावली पृ० १०

संतों ने ब्रह्मरंध्र के लिए शून्य शब्द का भी प्रयोग किया है और इसकी स्थिति गगन मंडल अर्थात् सहस्रार में मानी है। कबीर कहते हैं—

सहज सुनि को नेहरी गगन मंडल सिरमौर।

इसी में ज्योति पुरुष के दर्शन किये जा सकते हैं। संतों ने उसी ज्योति पुरुष में लय करने का उपदेश दिया है। कबीर ने लिखा है—

"शून्य मंडल में पुरुष एक ताहि रहै त्यो लाय।" क० ग्र० पृ० ६७

इस शून्य में ध्यान लगाने की बात संतों ने सैकड़ों बार की है।

षट्चक्रों के अतिरिक्त संतों ने अन्य चक्रों का उल्लेख नहीं किया है। यदि बहुत खोज करने पर कुछ चक्रों का उल्लेख मिल भी जाय तो उनके आधार पर कोई सिद्धांत निर्धारित नहीं किया जा सकता। षट्चक्रों के अतिरिक्त संतों ने सोलह आधारों के भेदन की बात भी कही है। इसकी ओर संकेत करते हुए एक स्थान पर कबीर ने लिखा है—

सोलह मधे पवन झकोरिया। क० ग्र० पृ० २९६

हठयोग में चक्रभेदन के अतिरिक्त कुंडलनी उत्थापन प्रक्रिया को भी बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। यद्यपि संत लोग हठयौगिक ढंग से कुंडलनी उत्थापन में विश्वास नहीं करते थे किन्तु फिर भी उनकी बानियों में दो-चार स्थलों पर कुंडलनी की चर्चा मिल ही जाती है। यौगिक ग्रंथों में कुंडलनी के लिए बहुत से पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। हठयोग प्रदीपिका में लिखा है कि—

कुटिलांगी कुण्डलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः॥ ह० यो० प्र० ३।१०४

संतों ने इसका वर्णन सर्पिणी नागिनी आदि नामों से किया है। कबीर ने एक स्थल पर 'सोवत नागिन जागी'[1] की चर्चा की है।

इस नागिनी का वर्णन करते हुए संत गुलाल साहब लिखते हैं —

तिरबेनी तिरधार सँवारे अगमगि जगमगि मनि उजियारे।
भाग बड़ो जिन यह गति सारे पवन मिथायल नागिनी मारे॥
गुलाल साहब की बानी पृ० १६

इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों में हठयोग की बहुत सी बातें उनकी बानियों में अस्त-व्यस्त रूप से बिखरी हुई हैं। उनकी रचनाओं में शायद ही कहीं कोई हठयोग का व्यवस्थित वर्णन मिले। वास्तव में वे हठयोग को सिद्धांत रूप में स्वीकार नहीं करते थे। कुछ संतों ने तो उसकी स्पष्ट शब्दों में निंदा की है। संत कबीर ने लिखा है कि यदि भगवान्[2] से प्रेम नहीं है तो अनहद साधना बिलकुल व्यर्थ है।"

---

[1] क० ग्र० पृ० १११

[2] कबीर ग्रंथावली १२९ पृ० अन्तिम पंक्ति
'हृदय कपट हरि सौं नहिं साँचो कहा भयो जो अनहद नाच्यो।'

एक दूसरे स्थल पर फिर उन्होंने लिखा है 'ऐ बावरे' आसन एवं पवन साधना और छल कपट त्याग कर भगवान् का भजन कर"[१] संत दरिया साहब ने भी हठयोग के प्रति उपेक्षाभाव प्रकट करते हुए लिखा है "हठ निग्रह करि भूल न जोगी" अर्थात् "हे योगी हठ साधना से भ्रमित न हो"।[२] इसी प्रकार अन्य संतों ने भी हठयोग की निंदा की है। हठयोग संत मत का सिद्धान्त पक्ष नहीं है।

लय योग—हठयोग के बाद महत्त्व की दृष्टि से लय योग आता है। हठयोग प्रदीपिका में लिखा है कि इन्द्रियों का स्वामी मन और मन का स्वामी मारुत है। मारुत का नाथ मन का लय है। मन का लय नाद के आश्रय से होता है।[३] योग तत्त्वोपनिषद्[४] में चित्त लय को लय कहा जाता है। लय योग में साधक चलते समय, बैठते समय, सोते समय, खाते समय ईश्वर का ही ध्यान करता है। इससे प्रकट होता है कि लय योग में ध्यान को विशेष महत्त्व दिया जाता है। ध्यान का सम्बन्ध मन और चित्त से होता है। मन और चित्त का लय करना ही वास्तव में लय योग होता है। योग ग्रन्थों में लय योग के लाखों प्रकार बतलाये गये हैं। किन्तु सबसे अधिक मान्यता नाद लय योग को दी गई है। हठयोगियों, हिंदू तांत्रिकों और बौद्ध तांत्रिकों ने इस नाद लय योग को ही महत्त्व दिया है किन्तु इसका विकास दोनों ने अपने अपने ढंग पर किया है। यहाँ पर हम दोनों के लय योग पर स्वतन्त्र रूप से विचार करेंगे। हठयोग प्रदीपिका में मन[५] को नाद में लीन करने को ही लय योग माना गया है।[६] इसके लिए उसमें शाम्भवी मुद्रा का विधान मिलता है। उसमें लिखा है कि योगी को सिद्धासन से बैठकर शाम्भवी मुद्रा को साधते हुए नाद श्रवण करना चाहिए। शाम्भवी मुद्रा वह है जिसमें साधक देखता तो किसी बाहरी वस्तु पर है किन्तु उसका ध्यान अंतर्लक्ष्य पर स्थिर रहता है। यह अंतर्लक्ष्य सुषुम्ना नाड़ी होती है। मन को

---

[१] कबीर ग्रंथावली पृ० २१२

'आसन पवन दूरि करि बवरे छोडि कपट नित हरि भजि बवरे'

[२] दरिया सागर पृ० १७

[३] हठयोग प्रदीपिका ४।२९

[४] योग तत्त्वोपनिषद् श्लोक २३

'लय योगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।

गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम् ॥

[५] हठयोग प्रदीपिका ४।६७

[६] हठयोग प्रदीपिका ४।८० की टीका देखिये

इसी सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कराकर नाद श्रवण करना चाहिए।[1] योग ग्रंथों में नाद के विविध स्तरों और स्वरूपों का उल्लेख मिलता है। त्रिपुरसारसमुच्चय ग्रंथ के अनुसार योगी क्रमशः उत्तरोत्तर भ्रमर की भनभनाहट की ध्वनि, वंशी ध्वनि, घंट ध्वनि, समुद्र गर्जन, मेघ गर्जन से मिलतीजुलती ध्वनियों का श्रवण करने में समर्थ होताजाता है।[2] मेघ हठयोग प्रदीपिका में साधक अपने नाद श्रवण प्रक्रिया में क्रमशः जलधि, जीमूत, भेरी, झर्झर, मर्दल, शंख, घंट, काहल किंकिणी, वीणा और वंशी की ध्वनियों को सुनता है।[3]

हठयोग प्रदीपिका तथा कुछ अन्य यौगिक ग्रंथों में नाद की चार अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। ये नाद योग की चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं। उनके नाम क्रमशः आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति हैं।[4]

प्रथमावस्था में साधक प्राणायाम के सहारे अनाहत चक्र स्थित ब्रह्म ग्रंथि का भेदन करता है। ग्रंथि भेदन के पश्चात उसे उस चक्र में शून्य से उद्भूत नाना प्रकार के भूषणों से जैसी ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं।[5] घट नामक दूसरी अवस्था में प्राण अपान से मिलकर विशुद्ध चक्र में प्रवेश करता है। इसी अवस्था में विष्णु ग्रंथि का भेदन होता है। इस स्थल को अति शून्य भी कहते हैं। यहाँ पर अति शून्य से उद्भूत विविध प्रकार की मिश्रित ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। इसी अवस्था में भेरी जैसा शब्द भी श्रवण गोचर होता है। तीसरी अवस्था परिचयावस्था कहलाती है। तदवस्था मिले हुए प्राण और अपान अथवा नाद और बिंदु आज्ञा चक्र में पहुँचते हैं। यहाँ पर रुद्र ग्रंथि का भेदन करते हैं। इसी स्थल पर महाशून्य से उठती हुई मृदंग की ध्वनि सुनाई पड़ती है।[6] चौथी अवस्था निष्पत्ति है। इसका उदय उस समय होता है जबकि प्राण ब्रह्मरंध्र में प्रवेश करता है। इस अवस्था में वीणा की-सी ध्वनि सुनाई पड़ती है। ध्वनि सुनते-सुनते मन ध्वनि से एकीभूत हो जाता है जिस ध्वनि को सुनकर मन लय को प्राप्त हो जाता है

[1] हठयोग प्रदीपिका ३।१० की टीका देखिये

[2] हठयोग प्रदीपिका ४।८२।८६

[3] खेचरी मुद्रा के लिए देखिये वही ४।८२।८०

[4] हठयोग प्रदीपिका ४।६९ देखिए—
आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्था चतुष्टयम् ।
और भी देखिये—
समाधि प्रयोग—४२१ पृष्ठ

[5] हठयोगप्रदीपिका ४।७०

[6] हठयोग प्रदीपिका ४।७०-७१

[7] हठयोग प्रदीपिका ४।७६ ७७

उसको अनाहद ध्वनि कहते हैं। जो कुछ नाद रूप है वही शक्ति है। जिसमें यह नाद लय होता है वह निराकार शब्द ब्रह्म है। नाद लय की पूर्ण स्थिति को उन्मनी अवस्था कहते हैं। यही समाधि की अवस्था है। इसी को शम्भु प्राप्ति की अवस्था और तुरीयावस्था कहा गया है।[1] यहाँ पर उन्मनी अवस्था के स्वरूप को स्पष्ट कर देना आवश्यक है क्योंकि संतों ने उसका बराबर प्रयोग किया है। उन्मनी अवस्था को मनोन्मनी अवस्था भी कहते हैं। मन और नाद की लयावस्था उन्मनी अवस्था कहलाती है।[2] उन्मनी अवस्था का वर्णन करते हुए हठयोग प्रदीपिका में लिखा है कि उन्मनी अवस्था शाम्भवी मुद्रा की साधना से प्राप्त होती है। उन्मनी अवस्था को प्राप्त हुए साधक का स्वरूप इस प्रकार होता है।[3]

> अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
> श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निस्पन्दभावेन यः।
> ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं
> तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम्॥

हठयोग प्रदीपिका[4] में लय योग का एक और प्रकार उल्लिखित मिलता है उसमें लिखा है कि भ्रिकुटी के मध्य में ध्यान लगाकर उन्मनी अवस्था की प्राप्ति बड़ी सरलता से की जा सकती है।[5] हठयोग प्रदीपिका में शून्य लय योग का भी संकेत मिलता है।[6] उसमें लिखा है कि अपने स्वरूप की कल्पना आकाश या शून्य रूप में करनी चाहिए। हम शून्य रूप हैं यह ध्यान करते-करते ही मन शून्य में लीन हो जाता है और समाधि की अवस्था का उदय हो जाता है। संक्षेप में हठयौगिक लय के प्रकार ये ही हैं।

हिन्दू तांत्रिकों के अनुसार नादलय साधना

शारदातिलक तंत्र में कुंडलनी को शब्द ब्रह्म रूपणी कहा गया है। इस कुंडलनी से शक्ति उत्पन्न होती है। शक्ति से ध्वनि और ध्वनि से नाद और नाद से निरोधिका और निरोधिका से अर्धेन्दु और अर्धेन्दु से बिन्दु की क्रमशः उत्पत्ति होती

[1] वही ४।८७, ८९, ८८ देखिए
[2] नादबिन्दूपनिषद्—४७वाँ श्लोक
[3] हठयोग प्रदीपिका ४।३९
[4] वही—४।४८।४९
[5] वही ४।५६
[6] वही ४।५५

है।[1] शक्ति से यहाँ शुद्ध सत्त्व प्रविष्ट चित् का भाव लिया जाना चाहिए। जब चित् शक्ति रजोनुविद्ध एवं सत्त्व प्रविष्ट होती है तब उसे ध्वनि कहते हैं। इसी प्रकार तमोनुविद्ध चित् शक्ति को नाद कहा जाता है। तमस प्राचुर्य से चित् शक्ति निरोधिका कहलाती है। सत्त्व प्राचुर्य होने से वह अर्धेन्दु कहलाती है। सत्त्व और तमस से विशिष्ट होने पर उसे बिन्दु कहते हैं। इस क्रम से शक्ति सूक्ष्मावस्था से स्थूलावस्था में व्यक्त होती जाती है। बिन्दु उसकी पूर्ण व्यक्तावस्था है।[2] इन सबके बाद परा उसके बाद मध्यमा और अंत में वैखरी की चर्चा आती है। परा को निर्विकल्पावस्था कहते हैं। यह नाद की अव्यक्तावस्था है। पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी ये व्यक्तावस्था हैं। वैखरी बीजरूप होती है। मध्यमा नाद रूपिणी होती है, पश्यन्ति बिंदु रूपिणी होती है।[3] और वैखरी वह होती है जो नित्यप्रति व्यवहार में आती है। गले के ऊपरी भागों के स्पर्श से उत्पन्न होनेवाली वैखरी कहलाती है। यह भौतिक श्रवणों से सुनी जा सकती है। शेष ध्वनियाँ भौतिक श्रवणों से नहीं सुनी जा सकतीं। ये गले के नीचे रहती हैं। परावाक् मूलाधार में रहती है। पश्यन्ति स्वाधिष्ठान में, मध्यमा अनाहत में और वैखरी कंठ में।[4] कुण्डलिनी केवल प्रसुप्तावस्था होती है। उसे सुना नहीं जा सकता। यही स्वाधिष्ठान में जाकर पश्यन्ति हो जाती है। और अनाहत में नादरूपा हो जाती है। इसका अनुभव योगी लोग ही कर सकते हैं। परा मूलाधार में प्राणवायु अथवा इच्छा शक्ति को उत्पन्न करती है। जब यह इच्छा शक्ति ऊर्ध्वगामिनी होकर स्वाधिष्ठान में पहुँचती है तब उसका सम्बन्ध यहाँ मन से स्थापित होता है तब यह पश्यन्ति कहलाती है। यही अनाहत में पहुँचकर बुद्धि से संयुक्त होकर मध्यमा कहलाती है। आगे चलकर ध्वनि यंत्रों से स्पर्श लाभ करके यह वैखरी कहलाती है। इसीलिए कहा गया है। कि देवी के दो रूप होते हैं एक ज्योति दूसरे नाद।

हिन्दू तांत्रिकों का विश्वास है कि बिंदु का स्थान सहस्रार है। नाद स्वरूप

---

[1] शारदा तिलक तन्त्र १।११० से लेकर ११२ तक

[2] गारलैंड आफ लैटर्स पृ० २०३

[3] इसका विवरण देखिए—
योगशिखोपनिषद् ३।१ १२

[4] गारलैंड आफ लैटर्स पृ० २०४
और भी देखिये—
योगकुण्डल्युपनिषद् ३।१८ २०
योगशिखोपनिषद् ३।१-७
और उसकी टीका भी देखिए।

कुंडलनी का उसमें लय करना ही लय योग का प्रमुख लक्ष्य होता है।[१] यहाँ पर हम बिंदु तांत्रिकों के अनुसार नाद और बिंदु का कुछ और अधिक स्पष्टीकरण कर देना चाहते हैं। स्मरण रखने की बात है कि गोरखनाथी हठयौगिक ग्रन्थों में नाद और बिंदु को प्राण और अपान तथा जीवात्मा और परमात्मा रूप कहा गया है।[२] बिंदु तांत्रिकों ने नाद और बिंदु को शिव और शक्ति का प्रतिरूप माना है। ये दोनों तत्त्व शक्ति के दो पक्ष हैं जो सृजन कार्य में सहायक होते हैं। शारदातिलक तंत्र में लिखा है कि सच्चिदानन्द स्वरूपी सकल परमेश्वर से नाद की उत्पत्ति हुई और नाद से बिंदु संभूत हुआ। बिंदु ही शब्द ब्रह्म है। मंत्र में नाद और बिंदु दोनों ही प्रतिष्ठित रहते हैं। नाद नीचे रहता है और बिंदु ऊपर। मानव शरीर भी मंत्र रूप है। इसमें नाद नीचे और बिंदु ऊपर रहता है। नीचे ऊपर से अभिप्राय मूलाधार और सहस्रार से है। नादरूपा कुंडलनी मूलाधार में रहती है और बिंदु रूपी शब्द ब्रह्म सहस्रार में रहता है। ये दोनों क्रमशः शक्ति और शिव रूप कहे जाते हैं। इन दोनों का मिलन कराना ही तांत्रिकों का लक्ष्य होता है। यूँ तो नाद बिंदु लयकारक बहुत-सी साधनाएँ हैं किन्तु बिंदु तंत्रों में सबसे अधिक महत्त्व मंत्रों को दिया गया है। ये मंत्रों के सहारे ही नाद बिंदु का योग स्थापित करना उचित समझते थे। नाद बिंदु के मिलन की अवस्था को तंत्रों में समरसता की अवस्था कहा गया है। कुछ तंत्रों में इसे उन्मनी अवस्था भी कहा गया है। उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि हिंदू तांत्रिकों की योग साधना में नाद बिंदु लय योग और मंत्र योग का सामंजस्य पाया जाता है। इसमें मंत्रों के सहारे कुंडलनी को प्रबुद्ध करके षट्चक्रों का भेदन करते हुए और नाद को क्रमशः सूक्ष्म करते हुए सहस्रारस्थ बिंदु में लीन करते हैं। इसी प्रसंग में हम संक्षेप में मंत्र योग का भी उल्लेख कर देना चाहते हैं।

मन्त्र योग—मंत्र योग के स्वरूप को समझाते हुए योग शिखोपनिषद् में लिखा है[३]—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥१२०॥
हंसहंसेति मंत्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते।
गुरुवाक्यात्सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः ॥ १२१ ॥
सोऽहं सोऽहमिति यः स्यान्मंत्रयोगः स उच्यते।

अर्थात् प्रत्येक मनुष्य जब साँस लेता है तो साँस के बाहर जाते समय हकार की ध्वनि

१ गारलैण्ड आफ लैटर्स पृ० २०४
२ हठयोग प्रदीपिका ३।१ की टीका देखिये
३ योगशिखोपनिषद् श्लोक १२०-१२१

होती है और अंदर जाते हुए सकार की ध्वनि होती है। दोनों ध्वनियाँ मिलकर हंस मंत्र हो जाती हैं। इस मंत्र का जाप प्रत्येक श्वांसधारी मनुष्य स्वयं करता रहता है। किन्तु योगी गुरु के आदेश से इसके विपरीत रूप का सुषुम्ना में मनन करता है। इसका विपरीत रूप सोऽहं-सोऽहं है। यह सोऽहं जाप ही मंत्रयोग कहलाता है। इसी प्रसंग में हम अजपाजाप को भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं क्योंकि मंत्रयोग से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऊपर जिस मंत्रयोग का वर्णन किया गया है वह वास्तव में अजपाजाप ही है। अजपाजाप के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए ब्रह्मविद्योपनिषद् में लिखा है कि—

हंस हंस वदेद्वाक्यं प्राणिनां देहमाश्रितः ।
स प्राणापानयोः ग्रन्थिः अजपात्यभिधीयते ॥ ७८ ॥
सहस्रमेकं द्वयुतं षट् शतं चैव सर्वदा ।
उच्चरन्पठितो हंसः सोऽहमित्यभिधीयते ॥ ७९ ॥[1]
पूर्वभागे ह्यधोलिंगं शिखिन्यां चैव पश्चिमम् ।
ज्योतिर्लिंगं भ्रुवोर्मध्ये नित्यम् ध्यायेत्सदा यतिः ॥ ८० ॥

अर्थात् हंस सभी जीवों के शरीर में निवास करता है। वास्तव में यह प्राण और अपान की ग्रंथि है। इसी को अजपा कहते हैं। एक दिन में इक्कीस हजार छः सौ बार इसकी स्वयमेव पुनरावृत्ति हो जाती है। योगी को इसके विपरीत रूप सोऽहं का जाप करना चाहिए और क्रमशः अधोलिङ्ग, पश्चिमलिङ्ग और ज्योतिर्लिङ्ग पर ध्यान लगाना चाहिए। अधोलिङ्ग मूलाधार में है, पश्चिमलिङ्ग ब्रह्मरन्ध्र में रहता है और ज्योतिर्लिङ्ग दोनों भृवों के मध्य में स्थित है। योग चूडामण्युपनिषद् में भी अजपा का वर्णन मिलता है। किन्तु उसके संबंध में यहाँ कोई नई बात नहीं दी हुई है। केवल उसकी महिमा का वर्णन है।[2] अजपा

[1] ब्रह्मविद्योपनिषद् श्लोक ७८, ७९, ८०

[2] योगचूडामण्युपनिषद्

"हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः । ३१ ।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ॥ ३२ ॥
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥ ३३ ॥
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ॥ ३४ ॥
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ।
कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ॥ ३५ ॥
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ।

जाप से ही साधक नाद का अनुभव करता है।[1] अजपा को हंस विद्या भी कहते हैं। संतों ने हंस की बहुत चर्चा की है अतएव यहाँ पर हम हंस का भी स्पष्टीकरण कर देना चाहते हैं।

हंस विद्या या हंस योग का विस्तृत वर्णन ब्रह्मविद्योपनिषद्[2] और हंसोपनिषद्[3] में मिलता है। हंसोपनिषद् के अनुसार सारे शरीर में हंस उसी प्रकार से व्याप्त रहता है जिस प्रकार अग्नि काष्ठ में और तिलों में तेल व्याप्त रहते हैं।[4] ब्रह्मविद्योपनिषद्[5] में हंस का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि हंस स्व अच्युत ब्रह्म ही होता है। हृदय उसका निवासस्थान है। यही परम सत्य है, परम वैदिक वाक्य है, परात्पर रुद्र भी यही है तथा उसी को समस्त देवताओं में निवास करनेवाला महेश्वर भी कहते हैं। पृथ्वी से लेकर शिव तक इक्यावन भेदों में यही परिव्याप्त है, यही इक्यावन वर्ण रूप है। और कुण्डली में यही मातृकाओं के रूप में रहता है। हंस का प्रत्यक्ष रूप प्रणव है। प्रणव का अकार अग्निरूप कहा गया है। यह मूलाधार में रहता है। उकार अनाहत में रहता है और मकार भ्रूमध्य में। इन तीनों स्थलों में क्रमशः यह ग्रंथियाँ मानी जाती हैं। अकार, उकार और मकार क्रमशः ब्रह्म, विष्णु और रुद्र के प्रतिरूप भी माने जाते हैं।[6] हंसोपनिषद् में हंस के सगुण ध्यान का भी वर्णन किया गया है। यहाँ पर उसकी कल्पना विराट् हंस रूप में की गयी है। अग्नि और चन्द्र उसके पक्ष कहे गये हैं। ओंकार उसका मस्तक माना गया है। अकार, उकार

---

[1] हंसोपनिषद् १६।१७

[2] ब्रह्मविद्योपनिषद् ११ से ११ श्लोक

[3] हंसोपनिषद्

[4] हंसोपनिषद्

सर्वेषु देहेषु व्याप्य वर्तते यथा ह्यग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव। तं विदित्वा न मृत्युमेति ॥४॥

[5] ब्रह्मविद्योपनिषद्

प्राणिनां देह मध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः।
हंस एव परं सत्यं हंस एव तु सत्यकम् ॥६०॥
हंस एव परं वाक्यं हंस एव तु वैदिकम्।
हंस एव परो रुद्रो हंस एव परात्परम् ॥६१॥
सर्व देवस्य मध्यस्थो हंस एव महेश्वरः।
पृथिव्यादिशिवान्तं तु अकाराद्याश्च वर्णकाः ॥६२॥
कूटान्ता हंस एव स्यान्मातृकेति व्यवस्थिताः ॥

[6] ब्रह्मविद्योपनिषद् पृ० ६८, ६९, ७०, ७१, ७२

और मकार उसकी तीन आँखें हैं, रुद्र उसका मुख है। रुद्र, और रुद्राणी उसके दो चरण हैं। इस प्रकार हंस के ये सगुण और निर्गुण रूपों का ध्यान करते हुए उसका जप करना चाहिए। अजपा का उपसंहार क्रम यही है। इसी उपनिषद् में एक दूसरे स्थल पर हृदय में जो आठ दल का माना जाता है हंस की भावना से व तुरीयातीत की प्राप्ति बताई गयी है।[1] ब्रह्म विद्योपनिषत् में हंस योग का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसमें भी कुंडलनी उत्थापन पर ही बल दिया गया है। वह भी नादानुसंधान से ही संबंधित है। सन्तों में उस रूप की अभिव्यक्ति नहीं मिलती है। अतएव यहाँ पर उसका संकेत मात्र किया गया है। हंसयोग साधना का सबसे महत्वपूर्ण अंग अजपा है। अजपा के सहारे ही कुंडलनी को प्रबुद्ध करने का उपदेश दिया गया है। अजपा का स्वरूप हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। अजपाजाप से ही साधक मन को सरलता से नाद में लीन कर लेता है।

हंसोपनिषत् में दस प्रकार के नादों का वर्णन किया गया है। वे क्रमशः चिणी, चिणिचिणि, घंटा नाद, शंखनाद, तंत्रीनाद, तालनाद, वेणुनाद, भेरीनाद, मृदंगनाद और मेघनाद हैं। इन नादों के फल का भी निर्देश इस ग्रंथ में विस्तार से किया गया है। उसमें लिखा है कि चिणिचिणि ध्वनि से शरीर में चिनचिनी पैदा होने लगती है। दूसरी ध्वनि सुनकर नष्ट हो जाती है और तीसरी ध्वनि सुनकर अनाहत चक्र प्रसन्न हो उठता है और चौथी ध्वनि सुनकर सिर हिलने लगता है। पाँचवी ध्वनि सुनकर तालु स्रवित होने लगती है। छठी ध्वनि सुनकर सूर्य और चन्द्र के मिलन से उद्भूत अमृत का पान करने लगता है। सातवीं ध्वनि सुनते ही गूढ़ विज्ञान उत्पन्न होता है। आठवीं ध्वनि सुनते ही परावाक् की अनुभूति होती है। नवीं ध्वनि के सुनते ही योगी अंतर्ध्यान होकर दिव्य देह धारण कर लेता है और ईश्वर रूप हो जाता है और दसवीं ध्वनि सुनकर वह परब्रह्म हो जाता है। अजपा से समन्वित लययोग का यही स्वरूप है।

मंत्रयोग का एक स्वरूप हिन्दू तंत्रों में वर्णित है। भूत शुद्धि तंत्र में लिखा है कि जिस मंत्र का जो अधिष्ठ देवता होता है उसका ध्यान करते हुए साधक अपनी वृत्ति को तदाकार कर देता है जिससे उस मंत्र में वृत्ति पूर्ण रूप से लीन हो जाती है। इसी को मंत्रप्रधान लययोग कहते हैं।

---

[1] हंसोपनिषद्

अग्निषोमौ पक्षावोंकारः शिरः उकारो बिन्दुस्त्रिनेत्रं मुखं
रुद्रो रुद्राणी चरणौ द्विविधं कण्ठतः कुर्यादित्युन्मनाः
अजपोपसंहार इत्यभिधीयते ॥११॥
एवं हंसवशात्मनो विचार्यते ॥१२॥

बौद्ध तंत्रों की नाद बिन्दु साधना—तप और मंत्र योग के प्रसंग में बौद्ध तंत्रों की नाद बिंदु साधना या शून्य साधना भी विचारणीय है। क्योंकि यह भी इन्हीं दोनों से संबंधित है। बौद्ध तांत्रिकों का लक्ष्य महासुख की अवस्था का अनुभव करना था। सहजयानी सिद्ध इसकी सहजावस्था कहते थे और वज्रयानी इसको वज्रावस्था मानते थे। ये सब बौद्धों की बोधिचित्त की अवस्था का नामांतर और रूपांतर है। इसी को कमल भी कहा गया है। इसी को शून्यावस्था भी कहते हैं। यही परमार्थ तत्त्व है। यह पूर्ण अद्वैतावस्था है। इस परमार्थ तत्त्व को जिसे बौद्ध लोग शून्य कहते हैं नागार्जुन ने चार स्थितियों कल्पित की थी—शून्य, महाशून्य, अतिशून्य और महाशून्य। यह भेदीकरण धर्मकाय संभोगकाय निर्माणकाय से संबंधित है। पहला शून्य प्रकाश है। इसमें चित्त संकल्प विकल्प प्रधान रहता है। इसी लिए इसको परतंत्र कहा जाता है। इस प्रकाशात्मक शून्य की अभिव्यक्ति भी मानी गयी है। इसको प्रथम चन्द्रमंडल कमल या अकारादि बीजाक्षर भी कहते हैं।[1] अतिशून्य आलोक स्तर माना गया है। इसी को उपाय भी कहते हैं। यह दक्षिण सूर्य मंडल वज्र और पुरुष भी कहलाता है। यह मन से परभूत रहता है। तृतीय अवस्था अतिशून्य की है। यह शून्यातिशून्य प्रज्ञोपाय के मिलने से सिद्ध होती है। यह अवस्था भी दोषों से युक्त मानी जाती है। महाशून्य जब दोषों से मुक्त हो जाता है तब उसे सर्वशून्य कहते हैं। इसी को सहज भी कहते हैं, यही भावाभाव रहित अवस्था है। सिद्ध कवियों द्वारा वर्णित चार शून्यों का भी यही रहस्य है। प्रज्ञोपाय ही बौद्ध तंत्र में शून्याशून्य कहे गये हैं। इन दोनों का सामरस्य करना ही बौद्ध तंत्र साधना का प्रधान लक्ष्य माना गया है। प्रज्ञोपाय के योग का विधायक साधन महाराग माना गया है। यह महाराग गुरु से ही प्राप्त होता है। योग और तंत्र ग्रंथों में गुरु को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। महाराग प्राप्ति के लिए मन या चित्त का शुद्ध होना बड़ा आवश्यक है। मन के शुद्धिकरण करने के ऊपर योग तथा अन्य तंत्र ग्रंथों में भी विशेष बल दिया गया है। यहाँ पर हम थोड़ी सी चर्चा मन के शुद्धिकरण की कर देना चाहते हैं।

मन के शुद्धिकरण पर योग तथा तंत्र ग्रंथों में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में विशेष बल दिया है।

राजयोग साधना—योग क्षेत्र में राजयोग का बड़ा महत्त्व माना गया है। इसका प्रमुख प्रमाण यह है कि इसके लिए जितने पर्यायवाची शब्द इस साधना के लिए प्रसिद्ध हैं उतने और किसी के लिए नहीं। हठयोग प्रदीपिका में लिखा है कि राजयोग को प्रसिद्ध उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लयतत्त्व, शून्याशून्य, परमपद

---

[1] सिद्धभारती—डा० धर्मवीर पृ० १८१

अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवन मुक्ति, सहजा तुरीया आदि नामों से भी है।[1] हठयोग, लययोग और मंत्रयोग को राजयोग की भूमिका मात्र माना गया है।[2] राजयोग में शून्य पर ध्यान केन्द्रित करके लय प्रक्रिया का उपदेश दिया जाता है।[3] शून्य योग ध्येय में ध्येय भाव से परे ब्रह्म का वाचक माना जाता है।[4] योग क्षेत्र के स्वरूप पर योगोपनिषदों में भी प्रकाश डाला गया है। योगशिखोपनिषद् में राजयोग की परिभाषा कुछ शैवशाक्त तांत्रिकों के ढंग पर की गयी है। उसमें बिंदु रूप शिव और रज रूप शक्ति के योग विधान को ही राजयोग कहा गया है।[5] अमनस्कोपनिषद में भी राजयोग पर प्रकाश डाला गया है। इसमें राजयोग को विवेक और वैराग्य का उत्पादक व्यक्त किया गया है। उसमें लिखा है कि हठयोग की साधना पूरी हो जाने पर तथा राजयोग का आचरण कर लेने पर विवेक वैराग्य की उत्पत्ति होती है। विवेक वैराग्य की उत्पत्ति होने पर ही साधक तत्त्व मार्ग में प्रवृत्त होता है।[6] राजयोग की उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है। हमारी समझ से मन साधना को राजयोग कहते हैं। जिस प्रकार हठयोग में प्राण साधना का महत्त्व दिया गया है और लययोग और मंत्रयोग में नाद साधना का महत्त्व दिया गया है, उसी प्रकार राजयोग में मन साधना पर विशेष बल दिया गया है। यूँ तो मन साधना का महत्त्व लय योग में भी है किन्तु राजयोग का यह आधारभूत तत्त्व है। हठयोग प्रदीपिका में लिखा है कि जो पवन को बाँध लेता है वह मन को भी बाँध लेता है और जो मन को बाँध लेता है उसके अधीन पवन भी हो जाती है। उसमें यह भी लिखा है कि मन की प्रवृत्ति दो कारणों से हुआ करती है—एक तो वासना से और दूसरे समीर से। इन दोनों में से किसी एक को नष्ट कर देने पर दोनों ही नष्ट हो जाती हैं।[7] योगवशिष्ठ में[8] भी इसी भाव की पुनरावृत्ति की गयी है। प्रथम तीन प्रकार के योगों का संबंध अधिकतर वायुसाधना से है किन्तु राजयोग का संबंध मानस पक्ष से है। दूसरे शब्दों में हम उसे मनजय या मन शुद्धीकरण कह सकते हैं। मन का नियंत्रण जब योगी ध्यान और धारणा के सहारे उस सहस्रार में केन्द्रित करके स्थिर कर लेता है तब उस

---

[1] हठयोग प्रदीपिका ४।३-४

[2] हठयोग प्रदीपिका एम. एन. आयंगर—पृ० १०१

[3] शिव संहिता ५।२०१

[4] हठयोग प्रदीपिका ४।१२ की टीका देखिये

[5] योगशिखोपनिषद् १।१३६-१३७

[6] मण्डलब्राह्मणोपनिषद् २।३।४ १३६ व १३७

[7] हठयोग प्रदीपिका ४।२३-२४

[8] शिव संहिता ५।१८६ से १९६ तथा २०२ तक। इन समस्त स्थलों में राजयोग का स्पष्टीकरण किया गया है।

राजयोग कहते हैं। शिव संहिता में राजयोग का निरूपण लगभग इसी ढंग पर किया गया है।[1] इस प्रकार हम राजयोग को मनजय योग और ध्यान योग कह सकते हैं। कुछ लोग इसे समाधि योग भी कहते हैं। वास्तव में समाधि योग इसका सिद्ध रूप होता है और ध्यान योग उसका साध्य रूप होता है। जो भी हो हम राजयोग को परिशोधित मन को सहस्रार में लीन करना समझते हैं।

राजाधिराज[2] योग[3]— शिव[4] संहिता में एक राजाधिराज योग का भी उल्लेख मिलता है। इसका वर्णन करते हुए उसमें लिखा है कि बुद्धिमान् योगी को वैकल्पिक ढंग से मन और जीव को निरालम्ब करके मन को जीव पर केन्द्रित करना चाहिए। जब मन ध्यान योग से वृत्तिहीन हो जायगा तो वह स्वयं आत्मस्वरूप हो जायगा। ऐसा योगी सर्वत्र आत्मदर्शन ही करता है। इसी योगी को इसमें सद्मुक्त कहा गया है। वह सब प्रकार के बंध मोक्ष से रहित रहता है। इस योग के स्वरूप का संक्षेप में वर्णन करते हुए ग्रंथकार ने लिखा है[5]—

अहमस्मीति यन्मत्वा जीवात्मपरमात्मनोः ।
अहं त्वमेतदुभयं त्यक्त्वा खण्डं विचिन्तयेत् ॥ २०९ ॥
अध्यारोपापवादाभ्यां यत्र सर्वं विलीयते ।
तद्बीजमाश्रयेद्योगी सर्वसंग विवर्जितः ॥ २१० ॥

योगी को अपनी जीवात्मा को परमात्मा के सदृश समझना चाहिए। उसे हम तुम वाले द्वैतमूलक भाव का परित्याग कर देना चाहिए। उसे अखंड ब्रह्म का चिंतन करते हुए अध्यारोप और अपवाद द्वारा सर्वसंगरहित होकर चित्तवृत्ति को आत्मा में लीन करना चाहिए।

---

१ हठयोग प्रदीपिका ४।११ की टीका से उद्धृत

२ शिव संहिता—पाँचवाँ पटल
राजयोगोमया ख्याताः सर्वतन्त्रेषु गोपिताः ।
राजाधिराजयोगोऽयं कथयामि समासतः ॥ २०६

३ शिव संहिता—पाँचवाँ पटल
निरालम्बं मनश्चैवं ज्ञात्वा वेदान्तयुक्तितः ।
निरालम्बं मनः कृत्वा न किंचिच्चिन्तयेत्सुधीः ॥ २०७ ।

४ शिव संहिता—पाँचवाँ पटल
एतद्ध्यानान्महासिद्धिर्भवत्येव न संशयः ।
वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत् । २०८ ।

५ शिव संहिता से उद्धृत

अद्वैतारक योग अथवा लक्ष्य योग—राजयोग के प्रसंग में अद्वैतारक योग का स्पष्टीकरण कर देना भी आवश्यक है क्योंकि संत लोग अप्रत्यक्ष रूप से इससे भी प्रभावित हुए थे। अद्वैतारक योग का विवेचन अद्वैतारकोपनिषद् में किया गया है। इस ग्रंथ की भूमिका में लेखक ने अद्वैतारक योग को राजयोग का सर्वस्व घोषित किया है।[1] इस योग साधना के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है कि साधक को सदैव अपनी आँखें बंद करके तथा किंचित् उन्मीलित करके तथा दृष्टि को अंतर्मुखी बनाकर दोनों भृवों के मध्य के ऊपर सच्चिदानंद के तेज का उसको परब्रह्म रूप सोचते हुए "मैं चित्स्वरूपी आत्मा हूँ" इस प्रकार की भावना करनी चाहिए। ऐसी भावना करते-करते साधक थोड़े दिनों में साधक तद्रूप अर्थात् चैतन्यरूप हो जाता है। यही तारक योग है।[2] इस योग को तारक नाम इसलिए दिया गया है कि यह जीव का गर्भ, जन्म, मरण, संसार आदि पदों से उद्धार करता है। इसकी साधना करने वाला जीव और ईश्वर के भेद को मायारूप समझकर उसका परित्याग कर देता है और अपने लक्ष्य में लीन होकर अद्वैत ब्रह्मरूप हो जाता है।[3] लक्ष्य तीन प्रकार का बतलाया गया है एक अंतर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य और मध्यलक्ष्य। अंतर्लक्ष्य का वर्णन करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है कि शरीर के मध्य में सुषुम्ना नाम की एक नाड़ी है जो पूर्ण चन्द्रमा प्रकाशवाली है। यह मूलाधार से लेकर ब्रह्मरंध्र तक जाती है। उसके मध्य में करोड़ों तड़ित के सदृश कांतिवाली और मृणाल सूत्र की तरह सूक्ष्मांगी कुंडलिनी रहती है। उसको मन से देखकर साधक सब प्रकार के पापों से मुक्त हो जाता है। और यदि साधक निरंतर मस्तक के ऊपरी भाग पर उसके दिव्य तेज का ध्यान एवं दर्शन करे तो उसे शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार की साधना करते-करते तर्जनी से बन्द किये हुए कानों में फूत्कार शब्द उत्पन्न होता है। उस शब्द में मन के लीन हो जाने पर साधक को आँखों के बीच में एक नील ज्योति वाला स्थल दिखलाई पड़ता है। अंतर्मुखी दृष्टि से उसे देखकर योगी निरतिशय सुख को प्राप्त होता है।

---

[1] अद्वैतारकोपनिषद् पृ० १

[2] चित्स्वरूपोऽहमिति सदा भावयन् सम्यङ् निमीलिताक्षः किंचिदुन्मीलिताक्षो वा अन्तर्दृष्ट्या भ्रूदहरादुपरि सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं परंब्रह्मावलोकयन् तद्रूपो भवति।

[3] अद्वैतारकोपनिषद्—सौम्या गद्य
'गर्भजन्मजरामरणसंसार महद्भयात् संतारयति तस्मात्तारकमिति। जीवेश्वरौ मायिकाविति विज्ञाय सर्वविशेषं नेति नेतीति विहाय यदवशिष्यते तदद्वयं ब्रह्म॥

अंतर्लक्ष्य का यही विधान है। इस प्रकार का अंतर्लक्ष्य हृदय पर भी किया जा सकता है।[1]

अब बहिर्लक्ष्य पर विचार कर लेना चाहते हैं। उपनिषत्कार ने लिखा है कि जो साधक नील द्युति की श्यामता से रंजित नीले रंग के आकाश को अपनी नाक के सामने चार, छः, आठ, दस अथवा बारह अंगुल की दूरी पर देखता है वह योगी हो जाता है। जो व्यक्ति आकाश की ओर निरंतर देखता है उसकी आँखों के सामने ज्योतिर्मयूख आ जाते हैं। उनको देखकर योगी योगी होता है। तथा वह योगी तप्त स्वर्ण के सदृश ज्योतिर्मयूखों को अपने अपांगों की अथवा पृथ्वी पर देखता है। उसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है। जो योगी अपनी दृष्टि को अपने सिर से बारह अंगुल की दूरी पर स्थिर करता है उसे अमृतत्व प्राप्त होता है। मध्य लक्ष्य का लक्षण देते हुए ग्रंथकार ने लिखा है कि मध्य लक्ष्य वाला योगी प्रातःकालीन सूर्य के मंडल के सदृश विविध रंगों ज्योति पर योगाग्नि ज्वाला की व्याप्ति की प्रतीति होती है अथवा जो उससे विहीन अंतरिक्ष के सदृश ज्योति को देखता है वह तदाकार स्थित हो जाता है। उनको बार बार देखने से निर्गुण आकाश की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार परमाकाश का आभास होता है और फिर महाकाश का। पुनश्च वह तत्त्वाकाश को देखता है और अंत में सूर्याकाश को देखता है। इस प्रकार लक्ष्य पर दृष्टि रखने से तन्मयावस्था उत्पन्न हो जाती है।[2] तारकयोग की इस लक्ष्य प्रधानता के कारण ही इसे लक्ष्ययोग भी कहा जा सकता है। संत सुंदरदास ने इसे लक्ष्ययोग के नाम से ही प्रस्तावित किया है। तारक योग के दो भेद बतलाये गये हैं—एक पूर्व, दूसरा उत्तर। पूर्व का नाम तारक और उत्तर का अमनस्क रखा गया है।[3]

---

[1] अद्वैततारकोपनिषद्—पाँचवाँ गद्य भाग

देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते। सा तु मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रगामिनी भवति। तन्मध्ये तडित्कोटि समानकान्त्या मृणालसूत्रवत् सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति प्रसिद्धास्ति। तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापविनाश द्वारा मुक्तो भवति। फालोर्ध्वगललाटविशेषमण्डले निरंतरं तेजस्तारकयोगविस्फुरणेन पश्यति चेत् सिद्धो भवति। तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये तत्र फूत्कार शब्दो जायते। तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यगत नीलज्योतिः स्थलं विलोक्यान्तर्दृष्ट्या निरतिशयसुखं प्राप्नोति।

एवं हृदये पश्यति। एवमन्तर्लक्ष्यलक्षणं मुमुक्षुभिरुपास्यम्॥

[2] अद्वैततारकोपनिषद् सातवाँ गद्यांश देखिये

[3] अद्वैततारकोपनिषद् गद्यांश ८ पद्यांश ७ व ८

सन्तों की शब्द सुरति योग साधना

सन्तों की साधना शब्द सुरति योग के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्यक्ष ऐसा अनुभव होता है कि यह शब्द सुरति योग कोई नयी साधना पद्धति है, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। यह अपनी पूर्ववर्ती योग साधनाओं का ही अभिनव रूपान्तर है। योग ग्रंथों में लय योग अनेक प्रकार का बतलाया गया है। शब्द सुरति योग भी एक प्रकार का लय योग ही है।

संतों में सुरति के साथ ही 'निरति' का भी बहुत अधिक प्रचार है। 'सुरति', 'निरति' शब्दों के अर्थ के संबंध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। डॉ० बड़थ्वाल सुरति शब्द की उत्पत्ति स्मृति से मानते हैं। सम्पूर्णानंद जी 'सुरति' को स्रोत का अपभ्रंश रूप मानते हैं। राधास्वामी मतवाले सुरति का अर्थ जीवात्मा लेते हैं। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'सुरति' का अर्थ प्रेम और 'निरति' का प्रेम वैराग्य किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सुरति को अन्तर्मुखी वृत्ति और निरति को बहिर्मुखी वृत्ति मानते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसको सूफियों के [illegible] का रूपान्तर माना है। साम्प्रदायिक ग्रंथों में इन दोनों शब्दों की व्याख्याएँ विविध प्रकार की दी गयी हैं।[1] इनमें इन दोनों शब्दों के अर्थ के संबंध में इतना मत वैषम्य देखकर ऐसा लगता है कि या तो उपर्युक्त सभी अर्थ आनुमानिक और निरर्थक हैं, तथा इनके वास्तविक अर्थ कुछ और ही हैं, या फिर 'सुरति' का स्वरूप ही ऐसा विलक्षण है कि अलग-अलग विद्वानों ने उसको अपनी-अपनी रुचि और भावना के अनुरूप समझा है। वास्तव में दूसरी बात ही सत्य है। [illegible] दिखलायेंगे कि सुरति और 'निरति' शब्द क्रमशः [illegible] के लिए प्रयुक्त हुए हैं। आत्मा का स्वरूप सभी अवस्थाओं में और [illegible] स्थितियों में विलक्षण और अनिर्वचनीय रहता है। उसका प्रत्येक [illegible] अपनी भावना के अनुरूप उसके अंश विशेष का अनुभव [illegible] व्याख्या करता है। यही कारण है कि सुरति के आगे के संबंध में [illegible] है और इतनी अधिक धारणाएँ प्रचलित हैं। हमारी समझ में इन [illegible] समस्त अर्थ जो भिन्न-भिन्न विद्वानों ने उपस्थित किए हैं [illegible] अतिरिक्त भी उनकी वाणियों में इन शब्दों का प्रयोग [illegible] है। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि संतों ने इन शब्दों के [illegible] स्वतंत्रता क्यों प्रदर्शित की है? इस प्रश्न का उत्तर देने [illegible] का निर्देश करना पड़ेगा। पहली प्रवृत्ति साम्प्रदायिकता की है [illegible] अपने सिद्धांत उन्हीं की भाषा में; [illegible]

[1] इन सबके उद्धरणों के लिए परिशिष्ट में सुरति निरति [illegible]

धारावाही महात्मा थे। आचार्य क्षितिमोहन सेन के शब्दों में उनकी आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है। वे कुछ भी छोड़ना नहीं चाहते, इसीलिए वह प्रत्ययशील नहीं[1] वास्तव में आचार्य जी की यह धारणा उनकी योग साधना के संबंध में अक्षरशः सत्य है। उनके समय में योग की अनेक धाराएँ प्रवहमान थीं। जिनमें हठयोग, कुंडलिनी योग, शिवशक्तियोग, नादबिन्दुयोग, मनःशून्य लययोग, शून्यातिशून्य लययोग, ब्रह्मोराम लययोग, ध्यानयोग, नादलय योग, ज्योतिर्लययोग, द्वैताद्वैतयोग, मंत्रयोग, सहजयोग, आदि आदि प्रमुख हैं। वास्तव में ये सब एक ही राजाधिराजयोग या आत्म-लययोग का रूपान्तर हैं। इन सबकी आधारभूमि उपनिषदों में वर्णित आत्म-परमात्म-लययोग ही है। यही आत्मपरमात्मयोग अध्यात्मयोग, अद्वैतयोग, सम्प्रज्ञियोग, राजाधिराज योगों आदि के नामों से प्रसिद्ध है।

योग का प्रसिद्ध सिद्धांत पिंड में ब्रह्मांड की कल्पना है। गोरखनाथ ने इसको पिंड समष्टि कहा है। इस सिद्धांत के अनुसार पिंड में समस्त ब्रह्मांड की कल्पना की जाती है। ब्रह्मांड में दो प्रकार की शक्तियाँ सन्निहित हैं—व्यष्टि शक्ति और समष्टि शक्ति। पिंड में भी इन दोनों शक्तियों की कल्पना की गयी है। उपनिषदों में भी इस कल्पना की झाँकी मिलती है। कठोपनिषद[2] में छाया और आतप के रूप में दो तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद[3] में यही बात दो पक्षियों के रूपक से वर्णित की गयी है। वास्तव में ये दोनों पक्षी अथवा छाया और आतप व्यष्टि और समष्टि शक्ति के ही प्रतीक हैं। प्रत्येक योग साधना का लक्ष्य व्यष्टि शक्ति का समष्टि शक्ति में लय करना माना गया है। यह बात दूसरी है कि भिन्न-भिन्न योग धाराओं में इन दोनों के लिए भिन्न भिन्न नाम भी कल्पित किये हैं। इन दोनों के मिलने से एक तीसरी अवस्था भी उदित होती है। इसका भी नामकरण भिन्न-भिन्न योग-धाराओं में अलग-अलग ही किया गया है। संतों ने व्यष्टि शक्ति, समष्टि शक्ति तथा उनके योग से प्राप्त होने वाली अवस्था के लिए क्रमशः सुरति निरति और स्वयम्भू शब्दों का प्रयोग किया है। संत कबीर ने लिखा है—

"सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्वयम्भु दुआर॥

अर्थात् जब सुरति (पिंडस्था व्यष्टि शक्ति) निरति में (पिंडस्थ समष्टि शक्ति) में लीन हो जाती है तब स्वयंभू द्वार खुल जाता है। सन्तों ने जिनके लिए सुरति,

---

[1] योगांक पृ० २११
[2] कठोपनिषद् ३।१।१
[3] श्वेताश्वतर ४।६

निरति और शंभु शब्दों का प्रयोग किया है उनके लिए तत्कालीन भिन्न-भिन्न योग साधनाओं में जो नाम प्रचलित थे वे निम्नलिखित सारणी से स्पष्ट किये जाते हैं :—

योग धाराएँ :			
हठयोग :	सुरति	निरति	स्वयम्भू अथवा शम्भू
	प्राण	अपान	अनलशिखा, अमरत्व
	इडा	पिंगला	सुषुम्ना
	चन्द्र	सूर्य	ब्रह्म ग्रन्थि
कुलकुंडलिनी :	कुण्डलिनी	कुल	अकुल
नादबिंदु योग :	बिन्दु	नाद	अनाहद
शिवशक्ति योग	शक्ति	शिव	परमशिव समरसता
मनशून्य लययोग :	मन	शून्य	शून्यातिशून्य (लययोग)
शून्यातिशून्य योग	शून्य	अतिशून्य	शून्यातिशून्य
प्रज्ञोपाय योग :	प्रज्ञा	उपाय	महासुख
राजयोग :	मन	उन्मन	मनोन्मनी
नादलय योग :	मन	नाद	उन्मनी
ज्योतिलय योग :	ज्योति	निरञ्जन	अद्वैत
राजाधिराज योग :	आत्मा	परमात्मा	जीव-मुक्ति
सहज योग	रागाग्निप्रदीप्ति	सहज	सहज समाधि
मन्त्र योग :	शब्दाग्निमय आत्मा	शब्द ब्रह्म	अनहदनाद
हदबेहद योग :	हद	बेहद	दोनों से परे
द्वैताद्वैतवाद :	द्वैत	अद्वैत	द्वैताद्वैत विलक्षण

सन्तों में हमें उपर्युक्त सभी योगों की चर्चा मिलती है। कुछ का उल्लेख इन्होंने पृष्ठभूमि के रूप में किया है और कुछ को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करते थे। पृष्ठभूमि के रूप में वर्णित योगों के नाम क्रमशः हठयोग, कुल कुंडलनी योग नादबिंदु योग, शिवशक्ति योग, प्रज्ञोपाय योग हैं। इन सभी योगों का सम्बन्ध प्रायः हठयोग से ही है। सन्त लोग हठयोग के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने अनेक स्थलों पर उसकी निन्दा की है। यह हम पीछे दिखा आये हैं। उनका लक्ष्य हठयोगियों को लययोग अथवा राजयोग की ओर प्रेरित करना था। सन्तों ने इन्हीं दोनों को अधिक मान्यता दी है। इन दोनों के विविध रूपान्तरों की चर्चा भी उनमें पाई जाती है। लययोग के स्वरूपों में उन्होंने मन शून्य लययोग, शून्यातिशून्य लययोग, नादलय योग, ज्योतिर्लय योग और सहज लय योग की चर्चा की है। सहजयोग उनका अपना विशेष पथ था। शेष अन्य पहले से प्रचलित थे। वास्तव में उनका सहजयोग, राजयोग और राजाधिराजयोग का मिश्रित रूप है। इनके अतिरिक्त सन्तों में हद-बेहद योग और द्वैताद्वैत योग की भी

मलाक मिलती है। मन्त्रयोग के प्रति भी उनकी पूरी आस्था थी। वास्तव में उनका शब्द सुरति योग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग का मिश्रित रूप है।

'सुरति' का स्वरूप और अर्थ वास्तव में अनिर्वचनीय है। वह आत्मा, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, जीव आदि सबसे विलक्षण होते हुए भी सब कुछ है। सन्त लोग सुरति को भिन्न-भिन्न तत्त्व से भिन्न मानते थे। इसकी खोज हमें उनकी वाणियों में करनी पड़ेगी। सन्त दादू जीव को सुरति से भिन्न-भिन्न मानते थे यह बात उनकी इस पंक्ति से स्पष्ट है—

> विरह जगावै दरद को दरद जगावै जीव।
> जीव जगावै सुरति को सुरति जगावै पीव॥ दादू भा० १ पृ० ६२॥

यहाँ पर 'सुरति' को जीव से विलक्षण ही नहीं उससे सूक्ष्मतर भी व्यक्ति किया गया है। एक दूसरे स्थल पर दादू[1] ने सुरति को प्राण से भी भिन्न व्यक्त किया है। उन्होंने सुरति को प्राण रूपी वृक्ष की जड़ कहा है। इसी प्रकार सुरति, मन, बुद्धि और चित्त आदि से विलक्षण भी मानी गई है। दादू ने स्पष्ट लिखा है—

> प्राण सरोवर सुरति जल मन मीन मोमि तामाहि।
> रस पीवै फूले फले दादू सूखै नाहि॥

सुरति अहङ्कार से भी भिन्न होती है। सन्त कबीर ने एक स्थल पर लिखा है कि—'धुरी सुरति बार अहङ्कार तो न मुआ गोपालन हार।'[2] 'सुरति' का अर्थ अंतर्मुखी वृत्ति भी नहीं लिया जा सकता क्योंकि यह अर्थ सन्तों की उसकी व्याख्यावाली साधना के मेल में नहीं है। यह साधना सन्तों की मायमूल साधना कही जा सकती है। कबीर[3] ने लिखा है जो उसकी साधना करता है वही हमारा गुरु है। सन्त दादू ने तो एक स्थल पर सुरति को समझने तक की बात कही है—

> सुरति अपुठी फेरिकर आतम माहैं आण।
> लागि रहै गुरु देव सौं दादू सोई सयाण॥[4]

यहाँ पर इन पंक्तियों में एक बात और स्पष्ट है कि सन्त लोग सुरति को अंतर्मुखी वृत्ति से ही भिन्न नहीं मानते थे वरन् आत्मा से भी भिन्न समझते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सन्त लोग सिद्धान्त रूप से

---

[1] दादूदयाल की बानी भाग १, पृ० ४८
[2] कबीर ग्रन्थावली पृ० १०२
[3] दादूदयाल की बानी भाग १, पृ० ८६
[4] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० ११०

सुरति को आत्मा शब्द, जीव, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, स्मृति आदि सबसे विलक्षण मानते थे। इनकी दृष्टि में सुरति शब्दात्मिका आत्मा (जो योग में कुंडलनी के नाम से प्रसिद्ध है)[1] की वाचिका है। निरति को वे शुद्ध बुद्ध निरक्षर शब्द ब्रह्म का प्रतीक मानते थे। दादू एक स्थल पर लिखता है—

सबदै सबद समाइला पर आतम सो परम।[1]

अर्थात् शब्दात्मक आत्म को शब्दात्मक ब्रह्म में लीन करना चाहिए। सन्त दरिया साहब ने एक स्थल पर स्पष्ट शब्दों में शब्दात्मिका सुरति के सुषुम्ना में आश्रय होने की बात कही है। (दरिया साहब पृ० १६) पलटू साहब सुरति और शब्द के मिलन में ही आनन्द की अनुभूति करते थे।[2]

"सुरति शब्द के मिलन में मुझको भया आनन्द।"

यदि सुरति शब्द रूपणी न होती तो वह शब्द ब्रह्म का अनुभव नहीं कर सकती थी। क्योंकि दर्शन का प्रसिद्ध सिद्धांत है कि तत्त्व-विशेष की अनुभूति उसी तत्त्व के सहारे सम्भव होती है। सन्त लोग इस सिद्धांत से परिचित थे क्योंकि सन्त दादू ने एक स्थल पर लिखा है कि घट का परिचय घट से होता है और आत्म का परिचय आत्म से ही हो सकता है।[3]

इससे स्पष्ट है कि 'सुरति' का प्रयोग सन्तों ने शब्दात्मक जीव के लिए ही किया है। पलटू ने तो एक स्थान पर 'सुरति' के स्थान पर धुन शब्द का प्रयोग भी कर डाला है। धुनि का पर्यायवाची सुर होता है। कोई आश्चर्य नहीं कि इस सुर का ही सन्तों ने मिथ्या व्युत्पत्ति से सुरति कर डाला हो और 'निरति' की कल्पना ठीक उसी तरह से उसके अनुकरण पर कर ली गई हो जिस तरह से हिमाल से ताम्र में निरक्षर शब्द की कल्पना कर ली गई थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि सन्त लोग सुरति को नादात्मक जीव रूप मानते थे। संत दादू ने एक स्थल पर सुरति को जीव रूप कहा भी है। पलटू ने भी एक स्थान पर—'सुरति अमान करी नाम निवाला मार' लिखकर 'सुरति' को जीव या आत्मा रूप ही घोषित किया है। सुरति जीव मात्र नहीं है, वह शब्दात्मक जीव है। जीव शब्द का प्रयोग वेदांत में किया जाता है। वहाँ पर वह आत्मा का अविद्या उपाधिसहित रूप माना गया है। किन्तु सुरति के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। सुरति को हम निरक्षर शब्द का स्थूल रूप मान सकते हैं। शब्द के चार रूप बतलाए

---

[1] पलटू साहब की बानी भाग १, पृ० २८

[2] वही

[3] दादू साहब की बानी पृ० ३५
'घट खोजै घट का करै आप परीखै आप।'

गये हैं—परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी। सुरति हमारी समझ में पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी के लिए प्रयुक्त किया गया है। वास्तव में यह एक ही वाक् के रूप हैं जो सूक्ष्म और स्थूल। वैखरी स्थूल है उसकी उत्पत्ति कण्ठ के ऊपर होती है। मध्यमा और पश्यन्ति सूक्ष्म रूप है, इनकी स्थिति कण्ठ के नीचे रहती है।

हठयोग क्षेत्र में शब्दात्मिका बीज शक्ति कुंडलनी बिन्दु, शक्ति आदि के नामों से भी प्रसिद्ध रही है। कुंडलनी योग में उसे कुंडलनी कहा जाता है। नाद बिन्दु योग में उसे बिन्दु कहा गया है। शिवशक्तियोग में यह शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध-तन्त्रों में उसी को प्रज्ञा कहा गया है। हिन्दू तन्त्रों में उसकी कल्पना स्त्री के रूप में भी की गई है। सन्तों ने सुरति का प्रयोग उपर्युक्त योग धाराओं के अनुसरण पर कुंडलनी, बिन्दु, शक्ति, ज्योति आदि के रूप में भी किया है। इसका कारण हमारी समझ में यह था कि वे लोग अपनी साधना को दूसरे योग साधकों में भी प्रचलित करना चाहते थे। सुरति के समान ही उन्होंने निरति शब्द का प्रयोग भी कुल कुंडलनी योग, नादबिन्दु योग, शब्द सुरति योग, शिवशक्ति योग, प्रकोसाव योग, ज्योतिर्लेप योग, के अनुसरण पर कुल, नाद, शिव, उराव और निरंजन आदि शब्दों के अर्थ में किया है। सन्तलोग सुरति और निरति को नाद और बिंदु का रूपांतर मानते थे। यह बात भीखा साहब की बानी से स्पष्ट है—

"सुरति निरति का मेला होय, नाद और बिन्दु एकसम सोय।[1]"

कुछ स्थलों पर तो उन्होंने सुरति और निरति का प्रयोग न करके नाद और बिंदु का ही प्रयोग किया है—

"नाद बिन्दु का मूल होय वे साहिब वे सेवक सोय।[2]"

सुरति और निरति का प्रयोग संतों ने शिव और शक्ति के अर्थ में भी किया है। संत कबीर ने एक स्थल पर सुरति और निरति का उल्लेख न करके शिव और शक्ति का ही नाम लिया है—

काटि सकतो शिव सहज पुकारयो एकै-एक समाना[3]

इसी प्रकार खोज करने पर 'सुरति' 'निरति' के लिए कुंडलनी और कुल, प्रज्ञा और उपाय आदि शब्दों का प्रयोग भी मिल सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि संतों का सुरति शब्द योग कुलकुंडलनी योग, नादबिंदु योग, शिवशक्ति योग, प्रकोसाव योग, ज्योतिर्लेप योग आदि से बहुत कुछ साम्य रखता है। अंतर केवल इतना ही है कि

---

[1] भीखा साहब की बानी पृ० १७

[2] भीखा साहब की बानी पृ० १०

[3] कबीर ग्रंथावली पृ०

इन सब योग धाराओं में हठ को प्रधानता दी गयी है जबकि संत लोग हठ के बिल्कुल विरुद्ध थे।

संतों ने हठयौगिक सिद्धांत को सहजयोग में पर्यवसित करने की चेष्टा की है। इस चेष्टा के फलस्वरूप उनके सुरति और निरति शब्द क्रमशः मन, शून्य, शून्यातिशून्य, मन और नाद आदि के अर्थों में भी प्रयुक्त हुए हैं। सहजयोग के प्रसंग में जहाँ कहीं सुरति शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ वह रागात्मिका वृत्ति का वाचक है। क्योंकि सहज योग का मूलभूत सिद्धांत रागात्मिका वृत्ति को ही अंतर्मुखी करके सहज ब्रह्म में लीन करना है। संतों ने कहीं-कहीं पर सुरति और 'निरति' शब्दों के भावों की व्यंजना हद और बेहद के अर्थों में भी की है। अध्यात्म योग के प्रसंग में यदि कहीं 'सुरति' 'निरति' शब्द का प्रयोग मिले तो वहाँ पर उनका अर्थ जीवात्मा और परमात्मा लेना होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सुरति' और 'निरति' शब्द का संतों ने बहुत व्यापक प्रयोग किया है। किंतु सिद्धांत रूप में वे सुरति को शब्दात्मक जीवात्मा और निरति को वे शब्द ब्रह्म ही मानते थे।

संतों ने सुरतिशब्दयोग साधना के तीन सहायक तत्वों पर विशेष बल दिया है। ये हैं—जप, ध्यान और विचार। संतों ने जप साधना के अंतर्गत अजपा और नाम जप को बहुत महत्त्व दिया है। अजपाजाप से सुरति शब्द योग किस प्रकार सम्पन्न होता है इसका संकेत करते हुए दयाबाई ने लिखा है—

> दयाबाई अजपा जपो सुरति स्वांस में लाओ।
> अध ऊर्ध मधि सुरति धरि जपै जो अजपाजाप॥[1]

इन पंक्तियों में दयाबाई ने स्वांस में सुरति के लाने की बात कहकर प्राणायाम की ओर संकेत किया है। प्राणायाम के सहारे इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ी में शब्दरूपा कुंडलनी को आकृष्ट करना होता है। उपर्युक्त उद्धरण अध उर्ध और मधि क्रमशः इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के द्योतक हैं। सुरति का अर्थ शब्दात्मिका जीव शक्ति है। एक दूसरे स्थल पर उन्होंने अजपा का उल्लेख एक दूसरे प्रकार से किया है। वह कहती है—

> दया सकार हकार अक्षर को जो जप करता।
> अंतर हुए उजियार अविद्या सब हरता॥
> प्रथम पैठ पाताल में धमक चढ़े आकाश।
> दया सुरति नटनी भई बांध बरतु निज स्वांस॥[2]

[1] दयाबाई की बानी पृ० १०
[2] सन्तसुधासार पृ०

अजपाजाप के सदृश ही सुरति लय योग में नाम जप का महत्त्व है। नामजप से सुरति निरति का संयोग कैसे होता है, इसका संकेत करते हुए भीखा साहब कहते हैं—

हरदम नाम सुमत अभि अन्तर अनुभव मधुरध्वनियाँ।[1]
सुनत सुनत हिय भय जस लागी लगी सुरति निरत धनधुनियाँ।

सुरति लय योग के साधन के रूप में संतों ने ध्यान को भी महत्त्व दिया है। यह ध्यान तन मन और बुद्धि सबसे एकाग्र होना चाहिए। दादू ने लिखा है—

सबद सुरति लय लाय चित तन मन मनसा करहि[2]

ध्यान के अतिरिक्त संतों ने लय योग साधना में विचार को भी महत्त्व दिया है।

सन्तों ने सुरति लय योग की सफलता के लिए सुरति को अंतर्मुखी करने का उपदेश भी दिया है। ऐसे स्थलों पर सुरति का अर्थ रागात्मिका चित्तवृत्ति लिया जायेगा। यह तर्कबोध का विषय है अतएव यहीं पर इसका विवेचन करेंगे।

सुरति योग के अतिरिक्त संतों में लय योग के और भी कई प्रकार मिलते हैं, जिनमें मन 'नाद' लय योग, मन उन्मुन लय योग, शून्यातिशून्य लय योग विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सब का संबंध सहज योग से भी है। हमें हम शब्द सुरति योग और सहजयोग के बीच की योग साधनाएँ मानते हैं। इन सभी लय योग साधनाओं का संबंध ध्यान और धारणा से बहुत अधिक है। मन नादलय योग का वर्णन संतों में अधिक नहीं मिलता है किन्तु फिर भी कहीं कहीं पर इसके सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। दयाबाई ने विविध प्रकार के नादों का वर्णन करके उनमें मन को लीन करने का संकेत किया है—

घंटा ताल मृदंग ध्वनि सिंह गरज पुनि होय।
दया सुनत गुरु कृपा तें बिरला साधु कोय॥
गगन मध्य मुरली बजै जो सुनि लिय कान।
दया दया गुरु सेवा की पायो पद निरबान॥[3]

अनहद नाद में मन को लय करने की बात संतों ने सैकड़ों बार की है। दादू लिखते हैं—

---

[1] भीखा साहब की बानी पृ० १२
[2] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० ७२
[3] दयाबाई की बानी पृ० ११

अनमय काटै रोग को अनहद उपजै आय।
सोई अनुभव सोई उपजै सोई सबद तत सार॥
सुणता ही साहिब मिलै मन का जाहि विकार।[1]

मन उन्मन लय योग की झाँकी भी संतों में मिलती है। मन को उन्मन रूपी परमात्मा में लीन करने से मन निर्मल हो जाता है। संत दादू ने एक स्थल पर लिखा है[2]—जैसे मन को मन से खोकर उन्मनी में लीन करना चाहिए तभी वह निर्मल होता है। मन उन्मन लय योग के लिए उन्मनी ध्यान और उन्मनी मुद्रा की साधना बहुत आवश्यक होती है। उन्मनी ध्यान से ही उन्मनी समाधि सिद्ध होती है। संत दादू ने लिखा है कि वैरागी योगी सदैव उन्मनी ध्यान में ही लीन रहता है।[3] इस उन्मनी ध्यान की उपलब्धि घट के अंदर होती है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि मन को अन्तर्मुखी करने पर ही उन्मनी ध्यान लगता है। कबीर कहते हैं[4]—लोग परमात्मा को बाहर ढूँढने में सारा जीवन नष्ट कर देते हैं किंतु उन्मनी ध्यान से उसकी उपलब्धि घट के भीतर ही हो सकती है। यही उन्मन ध्यान धीरे धीरे उन्मन समाधि में परिणत हो जाता है। कबीर कहते हैं[5]—"उन्मनि ध्यान में संलग्न रहने के कारण मन थक गया है, सहज समाधि लग गयी है किसी बात का वर्णन नहीं किया जा सकता।" उन्मनि ध्यान की सफलता उन्मनि मुद्रा पर आश्रित रहती है। मन का अंतर्मुखी करना ही उन्मनि मुद्रा है। कबीर ने लिखा है कि "साधक को चाहिए कि मन को अंतर्मुखी करके उन्मनि मुद्रा में ध्यान लगावे।" उन्मनि मुद्रा में उन्मन ध्यान करने से मन शून्य में समा जाता है। यही मन उन्मन लय योग या मन शून्य लय योग है। मन उन्मन योग से संबंधित यहाँ पर एक बात और ध्यान देने की है। वह है मन का परिष्करण। उन्मनि मुद्रा में मन को अंतर्मुखी करना होता है। मन तब तक अंतर्मुखी नहीं होता है जब तक ज्ञान और सदाचार का आश्रय न लिया जाए। संत दादू ने लिखा है कि मन रूपीमृगा को ज्ञानरूपी खड्ग से मारना चाहिए।[6] सदाचार का उद्देश्य

---

[1] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० ६६
[2] दादू भाग १ पृ० १६६
[3] जुगिया वैरागी बाबा रहै अकेला उन्मनी लागा।
[4] कबीर ग्रंथावली पृ० ६७
बाहर खोजत जनम गँवाया उन्मन ध्यान घट भीतर पाया।
[5] कबीर ग्रंथावली पृ० १०७
थकित भयो मन कहणै न जाय सहज समाधि रह्यो लय लाय।
[6] कबीर ग्रन्थावली पृ० ८१
उन्मनि मुद्रा ध्यान लगावै मन में उलटि समावै।

अजपाजाप के सदृश ही सुरति लय योग में नाम जप का महत्त्व है। नामजप से सुरति निरति का संयोग कैसे होता है, इसका संकेत करते हुए भीखा साहब कहते हैं—

हरदम नाम सुनत अमि अन्तर अनुभव मधुरध्वनियाँ।
सुनत सुनत विस्मय जब लागी लागी सुरति निरत धनधुनियाँ।[1]

सुरति लय योग के साधन के रूप में संतों ने ध्यान को भी महत्त्व दिया है। यह ध्यान तन मन और बुद्धि सबसे एकाग्र होना चाहिए। दादू ने लिखा है—

सबद सुरति लय साज चित तन मन मनसा करहि[2]

ध्यान के अतिरिक्त संतों ने लय योग साधना में विचार को भी महत्त्व दिया है।

सन्तों ने सुरति लय योग की सफलता के लिए सुरति को अंतर्मुखी करने का उपदेश भी दिया है। ऐसे स्थलों पर सुरति का अर्थ रागात्मिका चित्तवृत्ति लिया जायेगा। यह सहजयोग का विषय है अतएव वहीं पर इसका विवेचन करेंगे।

सुरति योग के अतिरिक्त संतों में लय योग के और भी कई प्रकार मिलते हैं, जिनमें मन 'नाद' लय योग, मन उन्मुन लय योग, शून्यातिशून्य लय योग विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सब का संबंध सहज योग से भी है। इन्हें हम सम्प्रद सुरति योग और सहजयोग के बीच की योग साधनाएँ मानते हैं। इन सभी लय योग साधनाओं का संबंध ध्यान और धारणा से बहुत अधिक है। मन नादलय योग का वर्णन संतों में अधिक नहीं मिलता है किन्तु फिर भी कहीं कहीं पर इसके सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। दयाबाई ने विविध प्रकार के नादों का वर्णन करके उनमें मन को लीन करने का संकेत किया है—

घंटा ताल मृदंग ध्वनि सिंह गरज धुनि होय।
दया सुनत गुरु कृपा ते विरला साधु कोय॥
गगन मध्य मुरली बजै मैं सुनि निज कान।
दया दया गुरु देवा की पायो पद निरबान॥[3]

अनहद नाद में मन को लय करने की बात संतों ने सैकड़ों बार की है। दादू लिखते हैं—

---

[1] भीखा साहब की बानी पृ० १९

[2] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० ७२

[3] दयाबाई की बानी पृ० ११

अनभय काटै रोग को अनहद उपजै आय।
सोई अनुभव-सोई उपजै सोई सबद् तत सार॥
सुपाता ही साहिब मिलै मन का आदि विकार।[1]

मन उन्मन लय योग की झाँकी भी संतों में मिलती है। मन को उन्मन कभी परमात्मा में लीन करने से मन निर्मल हो जाता है। संत दादू ने एक स्थल पर लिखा है[2]—मैले मन को मन स बाहर उन्मनी में लीन करना चाहिए तभी वह निर्मल होता है। मन उन्मन लय योग के लिए उन्मनी ध्यान और उन्मनी मुद्रा की साधना बहुत आवश्यक होती है। उन्मनी ध्यान से ही उन्मनी समाधि सिद्ध होती है। संत दादू ने लिखा है कि वैरागी योगी सदैव उन्मनी ध्यान में ही लीन रहता है।[3] इस उन्मनी ध्यान की उपलब्धि घट के अंदर होती है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि मन को अन्तर्मुखी करने पर ही उन्मनी ध्यान लगता है। कबीर कहते हैं[4]—लोग परमात्मा को बाहर ढूँढ़ने में सारा जीवन नष्ट कर देते हैं किन्तु उन्मनी ध्यान से उसकी उपलब्धि घट के भीतर हो ही सकती है। यही उन्मन ध्यान धीरे धीरे उन्मन समाधि में परिणत हो जाता है। कबीर कहते हैं[5]—"उन्मनि ध्यान में संलग्न रहने के कारण मन थक गया है, सहज समाधि लग गयी है जिसी बात का वर्णन नहीं किया जा सकता।" उन्मनि ध्यान की सफलता उन्मनि मुद्रा पर आश्रित रहती है। मन का अंतर्मुखी करना ही उन्मनि मुद्रा है। कबीर ने लिखा है कि "साधक को चाहिए कि मन को अंतर्मुखी करके उन्मनि मुद्रा में ध्यान लगावे।" उन्मनि मुद्रा में उन्मन ध्यान करने से मन शून्य में समा जाता है। यही मन उन्मन लय योग या मन शून्य लय योग है। मन उन्मन योग से संबंधित यहाँ पर एक बात और ध्यान देने की है। वह है मन का परिष्करण। उन्मनि मुद्रा में मन का अंतर्मुखी करना होता है। मन तब तक अंतर्मुखी नहीं होता है जब तक ज्ञान और सदाचार का आश्रय न लिया जाय। संत दादू ने लिखा है कि मन कस्तूरीमृग को ज्ञानरूपी खड्ग से मारना चाहिए।[6] सदाचार का उपदेश

[1] पलटूदास की बानी भाग ३ पृ० ६६

[2] दादू भाग १ पृ० १६६

[3] जोगिया वैरागी बाबा रहै अकेला उन्मनी लाय।

[4] कबीर ग्रंथावली पृ० ८७

बाहर खोजत जनम गँवाया उन्मनि ध्यान घट भीतर पाया।

[5] कबीर ग्रंथावली पृ० १०७

थकित भयो मन कह्यो न जाय सहज समाधि रह्यो लव लाय।

[6] कबीर ग्रन्थावली पृ० ८१

उन्मनि मुद्रा ध्यान लगावै मन में उलटि समावै।

संतों ने पग-पग पर दिया है। उनकी वाणियों में साधना से संबंधित जितने भी सिद्धांत वाक्य मिलते हैं, उनमें सदाचार को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। सहजयोग के प्रसंग में इस पर और अधिक प्रकाश डालेंगे। मन ज्ञान और सदाचार से पवित्र किये जाने पर ही उन्मनि ध्यान और समाधि में लीन किया जा सकता है। यह उन्मनि ध्यान और समाधि रस कारी कहे गये हैं। कबीर ने लिखा है—"साधक उन्मनी समाधि में लीन होकर गगन में रस पिया करता है।"[1]

मन उन्मनि योग से संबंधित मन शून्य योग भी है। मन को ब्रह्मरंध्र में, स्थिर करना ही मन शून्य योग है। संतों ने शून्य के अभिधान से ब्रह्मरंध्र का ही उल्लेख किया है। यह बात कबीर की निम्नलिखित पंक्ति से प्रकट है—

गंगा जमुन उलटे अंतरे सहज शून्य लौ घाट। क० ग्रं० पृ० १८

अर्थात् इड़ा और पिंगला के बीच में सहज शून्य है। सहजशून्य यहाँ पर सुषुम्ना के लिए प्रयुक्त हुआ है। नाम में सुषुम्ना को ही ब्रह्मरंध्र और शून्य पुरी भी कहते हैं। इसी सुषुम्ना या शून्य धरती में मन को लीन करना मन शून्य योग है। इसी सुषुम्ना या ब्रह्मरंध्र में अनाहद नाद की अनुभूति होती है। कबीर ने लिखा है[3]—जब मन शून्य में समा जाता है तो ब्रह्मरंध्र में अनाहद नाद सुनाई पड़ता है।

संत कबीर की दृष्टि में सच्चा योगी वही है जो सहज शून्य में लौ लगाता है। "कहै कबीर कोई जागेश्वर सहज शून्य लौ लावै।"

संतों के विविध प्रकार के लय योगों का यही इतिहास है। यद्यपि लय योगों में उन्हें पूरी आस्था थी किन्तु अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर उन्होंने उनका भी सहजीकरण किया है। यह सहजीकरण प्रेम या भाव भगति के द्वारा किया गया है। यदि हम उनके लययोगों को भाव-भगति से विच्छिन्न कर दें तो वही लययोग कहलाने लगेगा। आगे उनके इस सहजयोग पर थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे।

सहजयोग

संतों की सामान्य प्रवृत्ति जटिलता से सहज की ओर रही है। योग क्षेत्र में उनकी इस प्रवृत्ति का विकास बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उन्होंने हठयोग, लययोग, मंत्रयोग आदि सबका सहजीकरण करके उनको सहजयोग में पर्यवसित करने की चेष्टा की है। संतों की इस सहजयोग साधना पर आचार्य क्षितिमोहन सेन ने प्रकाश

---

[1] दादू बानी भाग १ पृ० ११०

[2] कबीर ग्रन्थावली पृ० ११
उन्मनि चढ़ा गगन रस पीवै।

[3] गगन गरजि मन शून्य समाना बाजी अनहद तूरा। क० ग्रं० पृ० ६०

प्रकाश डाला है। यहाँ पर उनके शब्दों में सहज साधना का स्वरूप संकलित कर देना अनुपयुक्त न होगा। "कबीर, दादू इत्यादि के मत से साधना सहज होनी चाहिए।" प्रतिदिन के जीवन के साथ परम-साधना का कोई विरोध न होना चाहिए। आज की वैज्ञानिक भाषा में अगर कहना हो तो इस प्रकार कह सकते हैं—पृथ्वी जिस प्रकार अपने केन्द्र के चारों ओर घूमती हुई अपनी दैनिक गति सम्पन्न करती है और यही गति उसे सूर्य के चारों ओर बृहत्तर वार्षिक गति के मार्ग में अग्रसर कर देती है। इसी प्रकार दैनिक जीवन शाश्वत जीवन को सहज ही अग्रसर कर देगा। सूर्य के चारों ओर वार्षिक गति के मार्ग में उसे खूब अच्छी तरह चलना है, यही सोचकर पृथ्वी यदि अपनी गति बन्द कर दे तो उसकी सब गति ही समूल नष्ट हो जाय।

दैनिक गति के साथ शाश्वत गति का जो यह सहयोग है उसी को ये संत 'सहज पन्थ' कहते हैं। नदी के भीतर इन दोनों जीवनों का पूर्ण सामंजस्य है। नदी प्रतिदिन, प्रतिक्षण अपने दोनों किनारों पर अगणित कार्य करती चलती है और साथ ही साथ अपने को असीम समुद्र में निरन्तर निमज्जित कर रही है। उसका क्षण क्षण गत जीवन उसके शाश्वत जीवन के पूरा साथ सहयोग से युक्त है। इनमें से एक को छोड़ने से दूसरा निरर्थक हो जाता है। इसी लिए भक्त कबीर ने कहा है, "संसार और गृहस्थ जीवन को छोड़कर साधना नहीं हो सकती है।" साधना में किसी प्रकार की 'खींचा-तानी' अर्थात् खींच-तान नहीं है। साधना में दैनिक और नित्य लक्ष्य में कोई विरोध नहीं है।[1]

उपर्युक्त उद्धरण की अन्तिम तीन पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं। उसकी महत्त्वपूर्ण बात यह कि साधना में किसी प्रकार की खींचातानी नहीं होनी चाहिए। जब तक साधना में खींचातानी रहेगी तब तक वह हठ साधना ही कहलायेगी। हठसाधना सदैव ही कष्टपूर्ण होती है। इसी लिए संतों ने उसके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की है।

सहज साधना को समझने के लिए एक मनोवैज्ञानिक तथ्य स्मरण रखना पड़ेगा। मानव हृदय की सहजतम और समानातिशमान प्रवृत्ति राग की है। संतों ने उसी रागात्मिका प्रवृत्ति को स्वाभाविक गति से विकसित करने का उपदेश दिया है। यह वृत्ति जब तक संसारोन्मुख रहती है। तब तक काम कहलाती है और जब ईश्वरोन्मुख हो जाती है तब उसी को भक्ति कहते हैं। संतों ने इस भाव की अभिव्यक्ति सुन्दर शब्दों में की है। संत कबीर ने लिखा है—

"यदि कोई काम का अनुराग करे तो काम ही मनुष्य को ईश्वर से मिला सकता है।" इसी भाव की पुनरावृत्ति संत मलूकदास ने भी की है। संतों की वाणी

[1] मध्ययुग के भक्त कवि श्री क्षि० मो० सेन रचित ब्रजराम द्वारा संपादित विवेकानन्द निबन्ध में पृ० ८२

सहज साधना इस काम के सहजीकरण में ही सहज है। इसका सहजीकरण उसको अंतर्मुखी करने से ही हो सकता है। इसकी अंतर्मुखी करने की साधना को सच्ची साधना कहा गया है। संतों ने इस सच्ची साधना को बहुत अधिक महत्व दिया है। कबीर ने लिखा है—"हमारा सच्चा गुरु वही है जो सच्ची साधना से परमात्मा से मिलाता है।"

काम को ईश्वरोन्मुखी करने के लिए संत लोग कोरे वैराग्य की आवश्यकता नहीं करते थे, क्योंकि वैराग्य का मार्ग कठिन और हठ साध्य है। साथ ही साथ वे संसार के मार्ग मोक्ष के पथ में भी नहीं थे। उन्होंने मध्य मार्ग का निर्देश किया है।

मन को या काम को अंतर्मुखी करना वास्तव में बहुत कठिन है। संतों ने इसको अंतर्मुखी करने के सहज उपाय बताये हैं। ये संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१—सामान्यतया सदाचरणपूर्ण जीवन व्यतीत करना।
२—परमात्मा की सम झाँकी में निमग्न रहना और उसके प्रति तीव्र अनुरक्ति रखना।
३—सब प्रकार के बाह्य साधनों का मानसीकरण करना।
४—अजपाजाप करना।
५—स्वाभाविक विचार में निमग्न रहना।
६—समाधि का रखना।
७—सहजशून्य में ध्यान को लगाये रखना।
८—तन, मन, बुद्धि सभी को एक साथ परमात्मा की ओर प्रेरित करना।
९—सत्संगति करना।
१०—शांति।

संतों की भक्ति साधना

भक्ति का महत्त्व और स्वरूप—भारतीय साधना क्षेत्र में भक्ति मार्ग की बड़ी प्रतिष्ठा है। गीता में भगवान् कृष्ण ने भक्तिमार्ग को सब विद्याओं में श्रेष्ठ कहा है।[1] नारद भक्ति सूत्र में सा तु कर्म ज्ञान योगेभ्यो अधिकतरा[2] कहकर भक्ति को कर्म,

[1] गीता ९।२
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
और भी देखिए—गीता के ११ वें अध्याय के २१ और २० श्लोक
[2] यह व्याख्या—बलदेव प्रसाद मिश्र के तुलसी दर्शन पर आधारित है।

ज्ञान और योग इन तीनों साधना मार्गों से श्रेष्ठ कहा गया है। श्रीमद्भागवतकार ने इसकी महिमा का वर्णन अनेक स्थलों पर किया है।[1] पुराण, स्मृति आदि अन्य धर्म-ग्रन्थों में भी भक्ति को श्रेष्ठ साधना मार्ग बतलाया गया है। भक्ति की महिमा का संकेत भारत के प्राचीनतम् ग्रंथ ऋग्वेद तक में मिलता है। चतुर्थ मंडल में प्रभु की स्तुति करते हुए एक स्थल पर ऋषि कहता है—"हे भगवान्, आप अपने भक्त पर बड़े कृपालु रहते हैं। जो भक्त काम, क्रोध आदि शत्रुओं को वश में कर लेता है उसे आप काम-धेनु रूप बना देते हैं। तुम्हारी कृपा से किसी का उद्वेलित महासागर क्षण भर में शांत हो जाता है। तुम्हारी कृपा से तुम्हारा भक्त विक्षुब्ध सागर को गऊ के खुर के सदृश सुगमता से पार कर लेता है।[3] भारतीय धर्म-क्षेत्र में भक्ति की इतनी महिमा का कारण क्या है—इस रहस्य का थोड़ा-सा स्पष्टीकरण महात्मा तुलसीदास ने निम्नलिखित पंक्ति में किया है :—

"जाते वेग द्रवउँ मैं भाई, सो मम भगति भगत सुखदाई।"

इस पंक्ति में तुलसी ने भक्ति के पाँच गुण व्यंजित किये हैं[3], जिनके कारण वह साधना मार्गों में अग्रगण्य और श्रेष्ठ समझी जाती है। (१) भक्ति साधन रूप है, साध्य रूप नहीं। साध्य तो भगवान् ही है। यह बात शब्द से प्रकट है। (२) भक्ति में भगवान् को शीघ्रातिशीघ्र द्रवित करने की क्षमता होती है यह भाव "वेग द्रवउँ" से ध्वनित होता है। (३) भक्ति मार्ग व्यक्त परमात्मा के प्रति ही संभव होने के कारण अन्य मार्गों की अपेक्षा जिनमें अव्यक्त परमात्मा को प्राप्त करने के लिए प्रयास किया जाता है श्रेयस्कर होता है। कहते हैं उसमें बड़ा कष्ट होता है। भगवान् ने लिखा है—"अव्यक्त परमात्मा में मन का केन्द्रित करना बहुत कष्टपूर्ण है, जो लोग अव्यक्त में अपना मन केन्द्रित नहीं कर पाते हैं।" इस भाव की व्यंजना उपर्युक्त पंक्ति में 'मैं' शब्द से होती है।[4] (४) भक्तिमार्ग में ऊँच नीच का भाव नहीं रहता, इसमें सब समान समझे जाते हैं। या यों कह सकते हैं कि यह ऊँच नीच सभी के लिए समान फलदायक है। सभी इसका सहजतापूर्वक आचरण कर सकते हैं। यह बात तुलसी की उपर्युक्त पंक्ति में 'भाई' शब्द से प्रकट होती है। इनके अतिरिक्त सम्पूर्ण पंक्ति से एक विशेषता और ध्वनित होती है। वह है इस मार्ग की सुगमता और सरलता। उन्होंने एक दूसरे स्थल पर लिखा भी है—

---

[1] नारद भक्ति सूत्र ११

[2] श्रीमद्भागवत् ७।१।१६, ११।१४।२०, २१, २४, २२, २६

[3] ऋग्वेद ८।१४।१६

[4] गीता १२।५

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

"सरल सुगम यह मारग भाई, भक्ति मोरि पुराण श्रुति गाई।"[१]

इन्हीं सब कारणों से भारत में भक्तिमार्ग को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। भारत की विविध कठिन एवं आडंबर-प्रधान धर्म साधनाओं के कर्दम से मध्यकालीन जनता को मुक्त करने की कामना से अभिभूत संत लोगों को भक्तिमार्ग ही सबसे उपयुक्त प्रतीत हुआ था। यद्यपि तत्कालीन भक्ति मार्गीपासना भी वैधी उपासना के आडंबर के कारण विकृत और कलुषित हो चला था किन्तु फिर भी अन्य मार्गों की अपेक्षा यह सहज और स्वाभाविक प्रतीत होता था। इसलिए संतों ने अन्य साधना मार्गों की तुलना में इस मार्ग को श्रेष्ठ कहा है। संत कबीर ने लिखा है कि भाव प्रधान भक्ति के बिना जप, तप, संयम, व्रत, स्नान, ध्यान आदि सब निरर्थक होते हैं।[२] संत दादू तो भक्ति के बिना जीवन को ही निरर्थक मानते थे।[३]

"दादू हरि की भगति बिन धिग जीवन कलि माँहि।"

सहजोबाई भक्ति के बिना सभी योग, यज्ञ और आचारों को थोथा समझती थीं।[४] पलटू साहब का तो यह दृढ़ विश्वास था कि भगवान् के दरबार में भक्तिमार्ग ही केवल सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है।[५] अन्य संतों की भाँति सुन्दरदास भी भक्ति के बिना समस्त साधनाओं को सारहीन समझते थे।[६] इस प्रकार स्पष्ट है कि संत लोग भक्ति को अत्यधिक महत्त्व देते थे।

प्राचीन ग्रन्थों में भक्ति के स्वरूप पर बड़े विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ पर हम भक्ति की कुछ प्रसिद्ध परिभाषाओं का संकेत कर देना चाहते हैं। केवल नारद-भक्ति सूत्र में ही तीन विभिन्न आचार्यों की परिभाषाएँ संकलित हैं। उनमें शिष्य व्यास के मतानुसार पूजादि में अगाध प्रेम होना ही भक्ति है। महर्षि गर्ग गुरु-कीर्तन

---

[१] रामचरितमानस

[२] कबीर ग्रन्थावली पृ० १०६

क्या जप क्या तप क्या संयम क्या व्रत क्या स्नान।

जब लग जुक्ति न जानिये भाव भक्त भगवान॥

झूठा जप तप झूठा ज्ञान राम नाम बिनु झूठा ध्यान॥

[३] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० १०२

[४] सहजोबाई की बानी पृ० ६२

'बिना भक्ति थोथे सभी जोग जग्य आचार'

[५] पलटू साहब की बानी पृ० ८२

साहिब के दरबार में केवल भक्ति पियार

[६] सुन्दर विलास पृ० ६८

'ऐसेहि सुन्दर और क्रिया सब। राम बिना निहचय नर रोवे'

आदि में होनेवाले अगाध भागवत प्रेम को ही भक्ति मानते हैं। आचार्य शांडिल्य के मतानुसार आत्मा में तीव्र रति का होना ही भक्ति है। शांडिल्य का भक्ति सम्बन्धी यह दृष्टिकोण नारदभक्ति सूत्र में दिया हुआ है। आजकल शांडिल्य के नाम से जो भक्तिसूत्र उपलब्ध है उसमें ईश्वर में की गई परम अनुरक्ति को भक्ति कहा गया है। स्वामी रामानुजाचार्य ने स्नेहपूर्वक किये गये भगवत् ध्यान को भक्ति कहा है। मध्वाचार्य[1] ने अपने "श्रीमन् महाभारत तात्पर्य निर्णय" नामक ग्रन्थ में उस दृढ़तम स्नेह को जो भगवान् के माहात्म्य ज्ञान से विशिष्ट होता है, भक्ति कहा है। ये भक्ति को मुक्ति से भिन्न नहीं मानते थे। इसी प्रकार श्रीमत् जयतीर्थ मुनीन्द्र जी[2] ने 'श्रीमन्न्यायसुधा' नामक ग्रन्थ में अपरिमित अनवद्य कल्याण गुणों के ज्ञान से उत्पन्न हुये अपने समस्त-सम्बन्धी जन तथा पदार्थों ही से क्या, प्राणों से भी कई गुना अधिक हजारों विघ्न आने पर भी न टूटने वाले अत्यधिक सुदृढ़ गंगाप्रवाह के समान अनवच्छिन्न प्रेम के प्रवाह को भक्ति कहा है। भागवत् में भी भक्ति में प्रेमतत्त्व को महत्त्व दिया[3] गया है। भक्ति की इन समस्त परिभाषाओं पर यदि मनोयोग के साथ विचार किया जाय तो एक बात बहुत स्पष्ट प्रकट प्रतीत होती है, वह भक्ति का तीव्रातितीव्र प्रेम विशिष्ट होना। सभी आचार्यों ने भक्ति के प्रेम, तत्त्व पर अधिक से अधिक बल देने की चेष्टा की है। वास्तव में प्रेम ही भक्ति का सारभूत तत्त्व है।

सन्तों की भक्ति में प्रेम और विरह-तत्त्व

भक्ति के परम्परागत एवं शास्त्र प्रतिपादित प्रेम तत्त्व के महत्त्व से संत लोग पूर्णतया परिचित थे।[4] उन्होंने प्रेम लक्षणा भक्ति का ही सर्वत्र प्रतिपादन किया है। किन्तु संतों का प्रेमभाव भारतीय आचार्यों के प्रेमभाव से थोड़ा विलक्षण था। उस विलक्षणता का कारण सूफी प्रभाव है। उनकी भक्ति ज्ञानाग्नि प्रसूत मर्यादा प्रधान

---

[1] कल्याण के योगांक (पृ० १८६ से उद्धृत)

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

[2] कल्याण का योगांक (पृ० १८६)

तत्र भक्तिर्नाम निरवधिकानन्तानवद्यकल्याणगुणत्वज्ञानपूर्वकः स्वात्मात्मीय समस्तवस्तुभ्य अनेकगुणाधिकप्रेमगङ्गाप्रवाहवदेवापत्स्वविच्छिन्नो निरन्तरं मनःप्रवाहः।

[3] भागवत सुबोधिनी ३।२५-३२ ३० तक

[4] सुन्दर विलास पृ० ११८

जिन एक ईसुर सों मेरहुँ न न्यारा होय,
यहै भक्ति कहियत यहि प्रेम मार्ग है।

स्नेह की ही कमी नहीं है। उनको सूफियों के मादक और मधुर प्रेम ने भी आकर्षित कर रखा है। यही कारण है कि संतों ने जहाँ धधकती हुई ज्ञानाग्नि से उत्पन्न होनेवाले प्रेम पदार्थ की ओर संकेत किया है,[1] वहीं अपनी मादकता और मधुरता से सराबोर कर देने वाली भावात्मक मदिरा[2] की भी चर्चा की है। इस भावात्मक मदिरा से उनकी भक्ति भावना बड़ी अधिक रोचक, मधुर और सहज हो गई है। सच तो यह है कि संतों ने ज्ञान प्रधान प्रेम को भावप्रधान मादकता से समन्वित कर दिया है।

भारतीय दृष्टि से प्रेम बहुत पवित्र वस्तु है। उसके उदय होते ही अज्ञान जनित अंधकार नष्ट हो जाता है, आत्मा निर्मल होकर ईश्वरोन्मुख होने लगती है। कबीर ने लिखा है—

पिंजर प्रेम प्रकासिया जाग्या जोग अनन्त।
संसा छूटा सुख भया मिल्या पियारा कंत॥
पिंजर प्रेम प्रकासिया अन्तर भया उजास।
मुख कस्तूरी महमही वाणी फूटी बास॥[3]

भारतीय प्रेम की एक और विशेषता है। वह है उसकी मर्यादा-प्रियता। भारतीय प्रेम की इस विशेषता का प्रभाव भी संतों पर पड़ा था। संत दादू ने प्रेम को नेम रूप कहा है। वे लिखते हैं—

प्रेम नेम जिन ना कियो जीतो नाहीं मैन।
अलख पुरुष जिनि न लख्यो छार परै तेहि नैन॥

भारतीय प्रेम की तीसरी प्रमुख विशेषता एकनिष्ठता है। शास्त्रीय ग्रंथों में इस विशेषता को बहुत महत्त्व दिया गया है। संतों ने एकनिष्ठता को प्रेम का सबसे आवश्यक तत्त्व घोषित किया है। यह बात प्रेम के आदर्शों से प्रकट होती है। उन्होंने प्रेम के आदर्शों में चंद्र चकोर, भ्रमर और कमल, दीपक और पतंग, चातक और स्वाति,

---

1 भीखा साहब की बानी पृ० ४६
प्रेम पदारथ प्रकट भयो जब ज्ञान अगिनि धुधकार।

2 चरनदास की बानी भाग २ पृ० ११
अवधू ऐसी मदिरा पीजै।
जेहि पिये मैं मद सब बिसरै अमर सुरत रस पीजै॥
चढ़ी कुलाल चढ़ाई भाठी नख सिख आग पजारी।
भरि-भरि प्याला देत कलाली चाखैं भक्ति पुजारी॥
माता ह्वै प्रान चरण के ध्यान ध्येय पद धारैं।

3 कबीर ग्रंथावली पृ० ११

पुरुष और स्त्री के प्रेम भाव पर विशेष बल दिया है। भक्ति की तुलना पतिव्रता के प्रेम से करते हुए दादू कहते हैं—"पतिव्रता के एक है, दूजा नहीं।"[1] कबीर ने बहुनिष्ठता की निन्दा करते हुए बहुनिष्ठता की तुलना वेश्या के पुत्र से की है।[2] प्रेम की यह एकनिष्ठता और संयमशीलता त्याग और तपस्या में परिणित हो जाती है। भारतीय प्रेम में त्याग और तपस्या का बहुत बड़ा स्थान है। संत कबीर ने स्पष्ट लिखा है—"यदि कोई प्रेम मार्ग की साधना करना चाहता है तो उसको आत्मत्याग एवं आत्म बलिदान करना पड़ेगा।[3] इन्हीं सब कारणों से सन्तों ने प्रेम को 'खाँड़े की धार' 'अगिनि की झाल'[4] कहा है।

संतों का भक्तिमार्ग सूफियों के प्रेमभाव से भी बहुत प्रभावित है। इसके प्रमाण में हम बूलनदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत कर सकते हैं—

हुआ है मस्त मंसूर चढ़ा सूली न छोड़ा हक।
पुकारा इश्कबाजों को यही मरना यही बरहम।
जो बोल आशिका यारा हमारे दिल में है जो शक।[5] इत्यादि

सूफी प्रेम की सबसे प्रमुख विशेषता मादकता और सरसता है। वे लोग प्रेम को मदिरा रूप मानते हैं। संतों ने भी अपने प्रेम को मादकरूप कहा है। किन्तु उसको उन्होंने राम के साँचे में ढालकर पवित्र कर दिया है। वह मदिरा से 'राम रसायन' बन गया। इसी 'प्रेमरस' को या 'रामरसायन' को पीते हुए संतसाग नहीं अघाते थे। कबीर कहते हैं—

राम रसायन प्रेमरस पीवत नाहिं अघाय।

इस रामरस का पान करनेवाला आनन्द से उन्मत्त हो जाता है। वह सदैव ही खुमार में भरा रहता है—

हरि रस पीया जानिये जे कबहु न जाइ खुमार।
मैं मंता घूमत रहै नाहीं तन की सार॥[6]

---

[1] दादू ११२२

[2] कबीर ग्रंथावली पृ० ६
राम पियारा छाड़िकर करै आन का जाप।
वेस्या केरा पूत ज्यों कहै कौन सूं बाप।

[3] कबीर ग्रन्थावली पृ० १९
"जा दुई साथ सिरिस की सौस काट कर गोई ?"

[4]

[5] सन्तबानी संग्रह भाग २ पृ० १२१

[6] कबीर ग्रन्थावली पृ० १६

संतों के प्रेम का महत्त्वपूर्ण पक्ष विरहतत्त्व है। विरहभाव को सन्तों ने सबसे अधिक महत्त्व दिया है। इसका कारण द्विविधी प्रेरणा है। विरह तत्त्व को भारतीय आचार्यों और सूफियों दोनों ने आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है। महर्षि नारद भक्ति में विरह को आवश्यक मानते थे।[1] सूफियों की साधना का तो वह प्राणभूत तत्त्व है।[2] इन दोनों से ही प्रेरणा पाकर सन्तों ने भक्ति में विरह का महत्त्व प्रतिपादित किया है। दयाबाई ने स्पष्ट लिखा है कि विरह की ज्वाला राम सनेही के हृदय में ही उत्पन्न होती है—

"विरह ज्वाला उपजी हिये राम सनेही आय।"[3]

सच तो यह है कि प्रेममार्ग का सच्चा पथिक ही वह हो सकता है, जिसका हृदय विरह की पीर से पीड़ित है। दयाबाई कहती हैं—

"पन्थ प्रेम को अटपटो कोइ न जानत बीर,
कै मन जानत आपनो कै लागी जेहि पीर।"[4]

यह पीर पीर (गुरु) की दी हुई होती है। विरह बाण गुरु ही मारता है।[5] विरह की पीर पाकर साधक की दशा विचित्र हो जाती है—

"हँसै न बोलै उन्मनी चंचल मेल्ह्या मारि।
कहै कबीर भीतर भिद्या सद्गुरु का हथियार॥"[6]

यही नहीं, विरह बाण के लगते ही वह वाचाल होते हुए मूक हो जाता है। कानवाला होते हुये भी बहरा हो जाता है। चरणसम्पन्न होते भी लङ्गड़ा रहता है।[7] यही पूर्ण उन्मत्तता की अवस्था है। संतों में हमें विरह के बड़े मार्मिक चित्र मिलते हैं। इन चित्रों की सुन्दरताओं का अनुशीलन रहस्यवाद के प्रसंग में किया जायगा। यहाँ पर केवल एक उदाहरण देकर ही बात समाप्त कर देंगे—

---

[1] नारदभक्ति सूत्र सूत्र ११
[2] तसव्वुफ और सूफीमत—चन्द्रबली पाण्डेय पृ० १११ १२४ (१९४२)
[3] दयाबाई की बानी पृ० ६
[4] दयाबाई की बानी पृ० ६
[5] कबीर ग्रन्थावली पृ० ६
'सत्गुरु मारया बाण भरि धरि सूधी मूठि।
अङ्ग उघाड़े लागिया गई दिवाइ फूटि॥"
[6] कबीर ग्रंथावली पृ० ८
[7] कबीर ग्रन्थावली पृ० २
'गूँगा हुआ बावला बहरा हुआ कान।
पाऊँ थे पंगुल भया सद्गुरु मारया बाण॥"

प्यारी पिया पीर सखी आधी रतियाँ।
सोवत सपन उठी अपने में, क्या कहूँ बरनि बिपतिया।
चौंकी चन्द्र बदन बिन खटके उमगि उमगि फटे छतियाँ॥
रोवत रैन चैन नहिं चित में पूर करम की बतियाँ।
तुलसी देस पेस बिन पिय के सोच लिखूँ कित पतियाँ॥[1]

इसी प्रसंग में हम आसक्तियों की चर्चा भी कर देना चाहते हैं। नारद ने भगवद्‌भक्ति एकादश प्रकार की बतलाई है। प्रेमाभिव्यक्ति के ये प्रकार आसक्तियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके नाम क्रमशः गुणमाहात्म्यासक्ति, पूजासक्ति, दास्यासक्ति, सेवासक्ति, रूपासक्ति, स्मरणासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, तन्मयासक्ति, परम विरहासक्ति एवं आत्मनिवेदनासक्ति हैं।[2] संतों में एकाध को छोड़कर लगभग सभी आसक्तियों की अभिव्यक्ति पाई जाती है। किन्तु कुछ के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि रही है। उनमें से एक विरहासक्ति है, जिसकी चर्चा हम अभी ऊपर कर चुके हैं।

गुण माहात्म्यासक्ति भक्ति का सहज पक्ष है। किसी प्रकार की कठोर साधना से इसका सम्बन्ध नहीं है। संतों ने अपनी सहजाभक्ति में इस आसक्ति को इसी लिए विशेष महत्त्व दिया है। कबीर को गुणमाहात्म्यासक्ति में अनुरक्त भक्त ही प्यारा मालूम होता था—

"निरमल निरमल राम गुण गावै, सो भगता मेरे मन भावै।"[3]

संत चरणदास इस आसक्ति में तन्मय भक्त को सर्वश्रेष्ठ समझते थे—

"सोइ दास सिरोमणी गोविन्द गुण गावै।"[4]

वैष्णवी भक्ति में पूजासक्ति को भी बहुत महत्त्व दिया गया है। वैधीभक्ति वास्तव में पूजासक्ति से ही सम्बन्धित है।[5] संतों ने भाव के सहारे इस आसक्ति का सहजीकरण किया था।

कबीर का विश्वास था कि भगवान् वैसी पूजा से नहीं, भावात्मक पूजा-विधि

---

[1] तुलसी साहब (हाथरस वाले) सन्तबानी संग्रह पृ० १२१

[2] नारदभक्ति सूत्र ८२

[3] कबीर ग्रन्थावली पृ० १२७

[4] सन्तबानी संग्रह भाग २ पृ० ६१

[5] शांडिल्य ने अपने दैवी मीमांसा दर्शन में एक पाद में वैधी भक्ति की व्याख्या (शांडिल्य सूत्र ११)।

से ही प्रसन्न किये जा सकते हैं।[1] मानसिक पूजा का बड़ा साँग और सुन्दर उल्लेख सन्त सुन्दरदास[2] ने किया है। वे लिखते हैं—

प्रीति की न पाती कोउ प्रेम के न फूल और,
चित्त सौं चंदन सनेह सौं न सेहरा।
हृदय सौं न आसन सहज सौं न सिंहासन,
भाव की न सेज स्वच्छ सौं न गेहरा॥
सील सौं न स्नान अरु ध्यान सौं न धूप और,
ज्ञान सौं न दीपक अज्ञान तम केहरा।
मन की न माला कोउ सोहं से न जाप और,
आतम सौं देव नाहिं देह सौं देहरा॥

सहजवासना का इससे अधिक साँग और सुन्दर चित्र और क्या दिया जा सकता है। अन्य संतों[3] ने भी अनेक स्थलों पर इस सहज पूजासक्ति का वर्णन किया है। संतों की भक्ति क्षेत्र को यह मौलिक देन है। इससे उनकी भक्ति साधना समृद्ध हो उठी है।

संतों ने भगवान् की उपासना दासभावभक्ति से ही की है। यही कारण है कि उनमें प्रत्यक्ष रूप से सेव्य सेवक भाव की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। संत कबीर प्रभु चरणों की सेवा को सबसे बड़ा सुख मानते थे। दादू ने सेव्य सेवक भाव की अभिव्यक्ति अत्यधिक विनयपूर्ण शब्दों में की है—

तू साहिब मैं सेवक तेरा भावै सिर दे सूली मेरा,
भावै करवत सिर पर सार भावै लेकर गर्दन मारि।
भावै चहु दिसि अगिन लगाय भावै काल दसो दिसि खाइ[4],

इससे अधिक सुन्दर आत्मसमर्पण का और कौन सा स्वरूप हो सकता है। सेव्य सेवक सम्बन्ध का सर्वस्व आत्म-समर्पण का भाव ही है।

संतों में सख्यासक्ति के उदाहरण नहीं के बराबर हैं। यह बात दूसरी है कि बहुत अधिक खोज करने पर उनकी वाणियों में दो एक उदाहरण मिल जाय, किन्तु सिद्धान्त रूप से उनमें यह आसक्ति नहीं मिल सकती।

---

[1] कबीर ग्रन्थावली पृ०
"जो पूजा हरि भावै नाहीं सो पूजनहार न भावै।
जेहि पूजा हरि मन भावै सो पूजनहार न भावै॥"
[2] सन्तबानी संग्रह भाग २ पृ०
[3] कबीर ग्रन्थावली पृ० १७७ अन्तिम पंक्तियाँ
[4] सन्त बानी संग्रह भाग १ पृ० ८२

जो सुख प्रभु गोविन्द की सेवा सो सुख राज नाहिं पाये।[1]

संतों की प्रवृत्ति रसासक्ति की ओर भी है। इसका कारण मैं सूफी प्रभाव मानता हूँ। अभी अपनी रुचि और प्रवृत्ति बाह्य भौतिक रूप की ओर नहीं थी। उन्होंने सूफी प्रभाव से प्रेरित होकर अपने निर्गुण की रूप की झाँकी सजाई है जिससे उनके रूप वर्णन में एक विचित्र रहस्यात्मकता आ गई है। दयाबाई ने इस रहस्यात्मक रूप को 'अद्भुत छवि' कहा[2] है। कबीर उसकी उपमा 'सूरजसेनि' से देते हैं। संतों के रूप वर्णन में कहीं पर भी मौतिकता की दुर्गन्धि नहीं मिलती है, यह संतों की रूपासक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है।

स्मरणासक्ति संतों की भावभगति की प्राणभूत विशेषता है। संत कबीर स्मरण को साधना का सार मानते थे।[3] रज्जब साहब ने स्मरण को सब सुखों का मूल कहा है—

रज्जब कारज यह भला निसदिन नाम न भूलि।
मनसा बाचा करमना सुमिरन सब सुख मूल॥[4]

संतों में कान्तासक्ति का सरस रूप भी विकसित हुआ है, किन्तु वह पूर्ण भारतीय नहीं है। उस पर सूफी कान्ताभाव का भी पूरा-पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। सूफी प्रभाव के परिणामस्वरूप ही उन्होंने परमात्मा की कल्पना प्रियतम रूप में और आत्मा की भावना छोड़ने में की है। प्रेमी और प्रेमिका के सम्बन्ध को उन्होंने परिणय कराकर परिष्कृत कर दिया है जिससे कान्तासक्ति की आत्मा भारतीय हो गई है। किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि संतों की कान्तासक्ति का ऊपरी परिधान अभारतीय ही है। रहस्यवाद के प्रसंग में हम इस आसक्ति पर विस्तार से विचार करेंगे।

वात्सल्यासक्ति के प्रति भी संतों का विशेष आकर्षण नहीं था। केवल दो-चार

---

[1] कबीर ग्रन्थावली पृ० २६२

[2] दयाबाई की बानी पृ० ११
 सुखे रहे आनन्द में आठ पहर गलतान।
 अद्भुत छवि जिनको बनी दया धरत मनध्यान।

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० १२
 कबीर तेज अनन्त का मानो ऊगी सूरज सेणि।

[4] कबीर ग्रंथावली पृ० २
 भगति भजन हरि नाव है दूजा दुक्ख अपार।
 मनसा बाचा क्रमना कबीर सुमिरण सार॥

[5] सन्त सुधासार पृ० ५२८

स्थल ही ऐसे मिले हैं जहाँ उन्होंने अपनी सात्विक और अतुल अनन्य प्रेम की अभिव्यक्ति वात्सल्यासक्ति से की है। संत कबीर की "हरि जननी मैं बालक तोरा" वाली उक्ति तो लोक प्रसिद्ध है ही। 'माँ' और 'पुत्र' का आलम्बन बनाकर वात्सल्यासक्ति का वर्णन सहजोबाई ने भी किया है—

> हम बालक तुम माय हमारी, पल-पल माँहि करो रखवारी।
> निस दिन गोदी ही में राखो, इतमित बचन चितावन भाखो ॥[1]

संतों ने तन्मयासक्ति को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। उनकी 'लौ' साधना वास्तव में तन्मयासक्ति ही है। संतों के परचा अंगों में इस आसक्ति के सुन्दर वर्णन मिलते हैं। जब साधक तन्मय हो जाता है, तब वह सर्वातीत हो जाता है। तन्मयासक्ति का यह चरमस्वरूप है। संतों ने इसका विविध प्रकार से वर्णन किया। तन्मयासक्ति दो प्रकार की होती है—प्रेम और रूप जनित और दूसरी ज्ञान जनित। पूर्ण तन्मयता तभी आ सकती है जब भक्त का मन भगवान् के रूप रस में डूब जाय। संत दयाबाई ने ऐसी ही तन्मयता का वर्णन किया है।

> प्रेम मगन गद्गद बचन पुलकि रोम सब अंग।
> पुलकि रह्यो मन रूप में दया न ह्वै चितभंग ॥
> कबहूँ धरत पग परत कहूँ उमगि गात सब देह।
> दया मगन हरि रूप में दिन दिन अधिक सनेह ॥[2]

प्रेमजनित तन्मयता का इससे सुन्दर दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता। इस अवस्था में पहुँचकर भक्ति द्वन्द्वों से परे हो जाता है। भीखा साहब के शब्दों में प्रीति की रीति देखिये—

> प्रीति की यह रीति बखानौं।
> कितनौं दुःख सुख परे देह पर चरन कमल कर ध्यानौं।

ज्ञान जनित तन्मयासक्ति में उदाहरण वे हैं जिनमें त्रिगुणातीत अवस्था का वर्णन किया गया है। संतों ने इस अवस्था के वर्णन चौथेपद, तुरियातीत, परमपद और अमरपद आदि के अभिधान से किये हैं।

प्रपत्तिमूला भक्ति में आत्मनिवेदन की मार्मिक और प्रभावात्मक झाँकियाँ मिलती हैं। आत्मनिवेदन में भक्त भगवान् की महानता और अपनी दीनता का वर्णन

---

[1] सन्त सुधासार पृ० ११६

[2] सन्त सुधासार पृ० २०२

[3] सन्त सुधासार पृ० १७९

करता है। संतों में हमें आत्मनिवेदनात्मक के दोनों पक्षों के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। देखिये संत गुलालसाहब ने दोनों पक्षों की प्रतिष्ठा एक ही पद में कितने सुन्दर ढंग से की है—

प्रभु तुम ऐसे दीनदयाल,
हम अस अधम कुटिल चंडाल।
केतिक पाप कहाँ लगि बरनौं,
करम भरम की आस।
मोर-मोर करत दिन बीतल,
मार लेत जम काल॥[1]

भक्ति की हीनता का देखो दादू ने कितना व्यापक चित्र सामने रखा है—

गोब्यंदे कैसे तिरिए
नाव नाहीं खेव नाहीं राम बिमुख करिये[2]—इत्यादि

भक्ति के अनिवार्य साधन—भक्ति का सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण साधन मानव शरीर है। तुलसी ने "धन्य जिन भजन बेद नहिं बरना" लिखकर भक्ति में मानव शरीर के महत्त्व की ओर ही संकेत किया है। सन्त लोग भी इस तथ्य से परिचित थे। उन्होंने भी भक्ति-साधना में काया के महत्त्व को अच्छी तरह समझ लिया था। धरनीदास ने लिखा है—"मानुष देह दुर्लभ भाई सुन रे बौरे।"[3] सहजोबाई तो मानव शरीर की सार्थकता भक्ति-बीज के वपन में ही मानती थी—

सो बसन्त नहिं बारबार मैं पाई मानुष देह सार,
यह औसर बिरथा न खोव, भक्ति बीज हिए धरती बोव।[4]

सन्त दादू ने उसे मुक्ति का द्वार तक कहा है। सन्तों की दृष्टि में शरीर का महत्त्व सन्त भक्तों की अपेक्षा अधिक था, क्योंकि उनकी सहज-साधना में काया साधन को विशेष महत्त्व दिया गया है।[5] सहजोबाई ने इसी भावारोप की ओर ध्यान रखते हुए काया नगर का वर्णन किया है—

[1] गुलाल साहब की बानी पृ० ७२
[2] दादूदयाल की बानी भाग २ पृ० ३६
[3] सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० ११०
[4] सन्त सुधासार भाग १ पृ० १६२
[5] सन्त सुधासार भाग १ पृ० १६७

"बाबा काया नगर बसावो ।"[१]

दादू ने साध संगति में काया के महत्त्व का संकेत करते हुये लिखा है—

"साध संगति माटी भई काया कसवटी सार है ।"[२]

आस्तिकता भक्ति का दूसरा अनिवार्य साधन है । सच तो यह है कि आस्तिकता भक्ति की आधारभूमि है । सन्त सुन्दरदास ने जहाँ पर भक्तियोग का वर्णन किया है वहाँ उन्होंने उसकी आधारभूमियों में सर्वप्रथम वैराग्य का नाम लिया है और फिर विश्वास या आस्तिकता का उल्लेख किया है ।[३] इसी सन्त ने आस्तिकता के महत्त्व की व्यंजना एक दूसरे प्रकार से की है । उसका उपदेश है कि सन्त को सर्वत्र आत्म-दृष्टि ही रखनी चाहिये ।[४] सन्त सुन्दरदास तो आस्तिकता के बिना सभी प्रकार की साधनाओं को निरर्थक और निष्फल मानते थे—

सुन्दर कहत एक प्रभु के विश्वास बिनु ।
जानहि के वृथा सठ पचि के मरतु है ॥[५]

भक्ति के पोषक साधन—शास्त्रीय ग्रन्थों में भक्ति के पोषक साधनों की चर्चा भी मिलती है । यहाँ पर हम कुछ प्रमुख पोषक साधनों पर विचार करेंगे ।

भक्ति का सबसे प्रमुख पोषक साधन सदाचार है । सच तो यह है कि भक्ति का भवन सदाचार की नींव पर ही खड़ा हुआ है । सन्त कबीर सदाचार को सन्तों का प्रमुख लक्षण मानते थे ।[६] सन्त दादू उसे मत का सार मानते थे ।[७] सन्त चरनदास

---

[१] जगजीवनदास की बानी भाग २ पृ० ११७
"मनिषा देह मुकुति का द्वारा ।"

[२] दादू ११२९

[३] संत सुधासार पृ० ५८२
प्रथमहि उपजै जब वैरागा, गहै विश्वास करि सब त्यागा ।

[४] संत सुधासार पृ० ५८९
आतम दृष्टि सकल संसार, संतन को राखै अधिकार ।

[५] सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १०८

[६] कबीर ग्रंथावली पृ० ५०
निरबैरी निहकामता साँई सेती नेह ।
विषया सूँ न्यारा रहै सन्तन का अंग एह ।

[७] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० २१७
आपा मेटै हरि भजै तन मन तजै विकार ।
निरबैरी सब जीव सूँ दादू यह मत सार ॥

सदाचारी साधु को ही सच्चा साधु समझने के पक्ष में थे। इसी प्रकार अन्य सन्तों ने भी सदाचार को भक्ति में बहुत अधिक महत्त्व दिया है।

संतों ने सदाचार के सदृश ही सत्याचरण-महिमा पर भी प्रकाश डाला है। संत दादू लिखते हैं—'भगवान् को सत्य प्रिय है। सत्य को सत्य ही अच्छा लगता है। सत्य निष्ठ ही हमारा विधाता है। अन्त में वे कहते हैं कि परमात्मा सत्यनिष्ठ को ही दर्शन देते हैं। झूठा कभी उसके दर्शन नहीं प्राप्त कर सकता—

दादू दरसन साँचा पावै, झूठे दरसन न देवै।[1]

भक्ति के पोषक साधनों में सन्तों ने अखंड भजन और गुण कीर्तन आदि की भी चर्चा की है। नारदभक्ति सूत्र में इन्हें विशेष महत्त्व दिया गया है। सन्त कबीर के शब्दों में दोनों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार है।[2]

अखंड भजन

काम परे हरि सिमिरिये ऐसा सिमरौ नित।
अमरापुर बासा करहु हरि गया बहोरै वित॥

गुणकीर्तनादि

रमइया गुण गाइये, जाते पाइये परम निधान।

संत लोग ईश्वर और संतों की कृपा में भी बहुत अधिक विश्वास करते थे। संत कबीर ने लिखा है[3] कि सेवा दो की ही करनी चाहिये—एक संत की और दूसरी राम की। राम भक्ति के दाता हैं और संत नाम जप कराते हैं। इसी प्रकार संत दादू[4] ने भी लिखा है—"इस संसार में केवल दो ही अमूल्य रत्न हैं, एक साईं और दूसरे संत।

---

[1] दादू बानी भाग १ पृ० ८१
[2] कबीर ग्रन्थावली पृ० २०६
कबीर ग्रन्थावली पृ० ३२६
[3] कबीर ग्रंथावली—परिशिष्ट पृ० २६०
कबीर सेवा को दुइ भले एक सन्त एक राम
[4] दादू बानी भाग १ पृ० १६६
दादू इस संसार में दोइ रतन अमोल।
एक साईं एक सन्त जन इनका मोल न तोल।

भागवत में नवधा भक्ति[1] के अंतर्गत कीर्तन, स्मरण, चरणसेवा, वंदन, दास्य सख्य एवं आत्मनिवेदन नामक तत्त्व परिगणित किये गये हैं। भक्ति के ये नवों तत्त्व प्रेम लक्षणाभक्ति में संवर्धक माने जा सकते हैं। संत चरनदास ने उन्हें इसी रूप में मान्यता भी दी है।[2] किन्तु ये उसके अनिवार्य अंग नहीं कहे जा सकते। यही कारण है कि संतों ने कहीं पर तो नवधा भक्ति की प्रशंसा की है और कहीं पर उपेक्षा भी है—

इन विरोधी उक्तियों से स्पष्ट प्रकट होता है कि नवधाभक्ति में संत लोग सिद्धांत रूप से विश्वास नहीं करते थे। सिद्धांत रूप से उन्होंने शुद्ध प्रेम—लक्षणा भक्ति को ही स्वीकार किया है। इतना अवश्य है कि नवधा भक्ति के कुछ अंगों को वे प्रेम अथवा भक्ति का पोषक मानते थे, इसी लिए उनसे संबंधित कुछ उदाहरण उनकी बानियों में मिल जाते हैं। इन अंगों में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वंदना, दास्य और आत्मनिवेदन उल्लेखनीय हैं। इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार दिये जा सकते हैं—

(१) श्रवण[3]

'हरि नामै दिन जाइ रे जाको, सोइ दिन लेखै जाइ राम ताको'।

(२) कीर्तन—[4] निर्मल निर्मल राम गुण गावै सो भगता मेरे मन भावै।

जब राम नाम कहि गावैगा तब भेद अभेद समावैगा।

(३) स्मरण—[5] मन रे राम सुमरि राम सुमरि राम सुमरि भाई रे।

(४) वंदना—[6] मोहि नाथ मिला यह कौने गुना।

प्रभु करि लीजै अपनो जना।

(५) दास्य—[7] भक्ति दान गुरु दीजिये देवन के देवा हो।

चरन कमल बिसरौं नहीं करिहौ पद सेवा हो॥

---

[1] श्रीमद्भागवत ७।५।२३

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

[2] चरणदास की बानी

'नवौं अंग के साधते उपजै प्रेम अनूप'।

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० १९७।१८८ पद

[4] कबीर ग्रंथावली पृ० १९०

[5] कबीर ग्रंथावली पृ० ११६

[6] गुलाल साहब की बानी पृ० १२१

[7] संत सुधासार भाग १ पृ० ६ (जनि परमदास)

(६) आत्मनिवेदन—[1]माधो मैं ऐसा अपराधी तेरी भगति हेतु नहीं साधी।

इनके अतिरिक्त संतों ने भक्ति की आधारभूमि के रूप में श्रद्धा और विश्वास को भी महत्त्व दिया है। संत कबीर ने स्पष्ट लिखा है—

भाव भगति विश्वास बिन कटै न संशय जाल।

संक्षेप में भक्ति की जाग्रति में योग देने वाले प्रमुख तत्त्व ये ही हैं। किन्तु भगवद् भक्ति का वरदान देनेवाला गुरु ही होता है।[2]

गुरु बिना राम भगति नहिं जागे।[3]

इसी लिए सन्तों ने गुरु की महती महिमा का वर्णन किया है। दयाबाई तो गुरु को ब्रह्म रूप मानती थीं।

गुरु हैं सब देवन को देवा, गुरु को कोऊ न जानत भेवा।[4]
करुना सागर कृपा निधाना गुरु है ब्रह्म रूप भगवाना॥

और सहजोबाई तो गुरु को भगवान से भी अधिक मानती थीं। उनका निम्न लिखित उदाहरण उद्धृत किया जा सकता है—

परमेसुर से गुरु बड़े गावत वेद पुरान।
सहजो हरि के भक्ति हैं गुरु के घर भगवान।[5]

गुरु के अतिरिक्त भक्ति के उद्भावक तत्त्वों में सत्संगति का भी बहुत अधिक महत्त्व है। संतों के सम्बंध में पलटू साहब ने लिखा है कि संत लोग परोपकारार्थ ही संसार में अवतार लेते हैं और संसार को वे सन्मार्ग पर लाते हैं। नाम, ज्ञान और भक्ति का उपदेश भी वे ही देते हैं।[6]

पर स्वारथ के कारने संत लिया औतार।
संत लिया औतार जगत को राह चलावें।
भक्ति करैं उपदेश ज्ञान दे नाम सुनावें॥

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० १५१
[2] कबीर ग्रंथावली पृ० १११
[3] दयाबाई की बानी पृ० ३
[4] दयाबाई की बानी पृ० ३
[5] संत सुधासार पृ० १८२
[6] पलटू साहब की बानी, पहला भाग पृ० १३

संत दादू के मतानुसार सत्संगति से ही प्रेम-भक्ति दृढ़ होती है और उसी से भक्त में प्रेम भक्ति की रुचि पैदा होती है।[1] संत लोग साधुओं को परमात्मा का साक्षात् अवतार मानते थे।[2] उनका विश्वास था कि संत का मिलना कठिन है। यदि संत मिल जाये तो राम का मिलना सरल हो जाता है। इस दृष्टि से राम का मिलना सहज है। और संत का मिलना कठिन है।[3] इसीलिए सत्संगति का भक्ति क्षेत्र में बड़ा महत्त्व है। दयाबाई ने लिखा है कि आधे पल की सत्संगति से ही मनुष्य के सारे कलमष दूर हो जाते हैं। यदि कोई सत्संगति के महत्त्व को समझकर उसका आचरण करे तो उससे बड़ी कोई साधना नहीं हो सकती[4]। संत दादू सत्संगति को जीवन को ब्रह्म से मिलाने वाली मानते थे[5]। उन्होंने 'दादू संगति साधु की पारब्रह्म सो संधि' लिखकर यही बात ध्वनित की है।

भक्ति के विकास में ज्ञान और वैराग्य का भी बहुत बड़ा महत्त्व माना जाता है। पलटू साहब तो इन दोनों को भक्ति की आधार-भूमि मानते थे[6]। भीखा साहब ने प्रेम

---

[1] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० १६०
'दिन प्रति दर्शन साध का प्रेम भगति दृढ़ देह'
और
दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० १२६
'साध मिलै तब ऊपजै प्रेम भगति रुचि होय'

[2] दयाबाई की बानी पृ० ११
'संत किया अवतार आय को राह बतावै,
और
'संत रूप अवतार आप हरि के आवें'

[3] पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० ८२
'राम का मिलना सहज है सन्त मिला जो होय।
राम का मिलना सहज है सन्त का मिलना दूर है'

[4] दयाबाई की बानी पृ० १०
'साधु संत जग में बड़ो जो कर जाने कोय।
आधो छिन सत्संग को, कलमष डारे खोय।'

[5] दादू दयाल की बानी भाग १ पृ० ६

[6] सन्त बानी संग्रह भाग २ पृ० २११
पहले तो वैराग भक्ति तब कीजिये' और पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० ७
भक्ति बीज तब बोवै निरवहि करै विवेक'

पदार्थ की सम्भूति ज्ञानाग्नि से बतलाकर ज्ञान को भक्ति का आधार घोषित करने की चेष्टा की है।

भक्ति को जाग्रत करने के लिए पूर्वजन्म के संस्कार, कुछ इस जन्म के कर्म, और कुछ पूर्व जन्म के कृत कर्म आदि भी अपेक्षित होते हैं। सन्त कबीर ने लिखा भी है—

कुछ करनी कुछ करम गति कुछ पूरबला लेख।
देखो भाग कबीर का दोसत किया अलेख॥[1]

उपर्युक्त भक्ति विकास के साधनों की साधना के फलस्वरूप साधक में भक्ति का उन्मेष होता है। भक्ति के उदय होते ही साधक का सारा स्वरूप, उसकी सम्पूर्ण स्थिति बदल जाती है। उसका बयान करते हुए संत कबीर ने लिखा है—

राम भजै सो जानिए जाके आतुर नाहिं।
सत संतोष लिये रहै धीरज मन माँहि॥
जन को काम क्रोध व्यापै नहीं त्रिष्णा न जरावै।
प्रफुलित आनन्द में गोविन्द गुण गावै॥
जनको पर निन्दा भावै नहीं अरु असति न भावै।
काल कल्पना मेटि कर चरनूं चित राखै॥
जन सम दृष्टि सीतल सदा दुविधा नहिं आनै।
कहै कबीर ता दास सूँ मेरा मन मानै॥[2]

दयाबाई ने भक्त का और भी अधिक भावात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। वे लिखती हैं—

प्रेम मगन जे साध जन तिन गति कही न जाय।
रोय रोय गावत हँसत दया अटपटी बात॥
हरि रस माते जे रहै तिनको मतो अगाध।
त्रिभुवन की सम्पति 'दया' तृन सम जानत साध॥
प्रेम मगन गद्‌गद् बचन पुलकि रोम सब अंग।
पुलकि रह्यो मन रूप में 'दया' न टूटै चित भंग॥[3]

---

[1] भीखा साहब की बानी पृ० ७६
'प्रेम पदारथ प्रगट भए जब ज्ञान अग्नि परचार'
[2] कबीर ग्रंथावली पृ० २०१
[3] दयाबाई की बानी पृ० ९

प्रेम भक्ति से पागल हुए सन्त के उपर्युक्त चित्र श्रीमद्भागवत् के प्रेमोन्मत्त भक्तों के चित्रों से बहुत मिलते-जुलते हैं।[1]

भक्ति के बाधक तत्त्व

अब हम संक्षेप में भक्ति के बाधक तत्त्वों का संकेत कर देना चाहते हैं। भक्ति मार्ग में सबसे प्रमुख बाधक माया है। वह बहिर्मुखी राम का नाम ही नहीं लेने देती। माया का परिवार बड़ा लम्बा-चौड़ा है। उसका समस्त परिवार ही भक्ति साधना का बाधक है। उसके परिवार के प्रमुख बाधक तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(१) काम विकार

(२) ईश्वर अविश्वास

(३) वेष

(४) कुसंगति

संतों ने भक्ति के बाधक तत्त्वों में कामविकारों की बड़ी निन्दा की है। काम विकारों के नाम क्रमशः काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, कपट, आशा और तृष्णा हैं।

काम सबसे प्रथम और सबसे भयंकर विकार है। नाम और काम में परस्पर विरोध है।[2] *काम का प्रतीक वैसे तो स्त्री पुरुष दोनों ही हैं किन्तु लोक की सामान्य* धारणा के अनुसार स्त्री है। सन्तों ने व्यभिचार की भी और सामान्य रूप से भी और पुरुष दोनों की निन्दा की है। स्त्री की हिंसा की ओर संकेत करते हुए संत कबीर ने लिखा है[3] जब पुरुष के पास स्त्री रहती है तो वह पुरुष की भक्ति, मुक्ति और ज्ञान तीनों को नष्ट कर देती है। इसी प्रकार अन्य अनेकों स्थलों पर नारी-निन्दा मिलती है। किन्तु नारी निन्दा के लिए हम सन्तों को दोषी नहीं ठहरा सकते हैं। संतों ने नारी की निन्दा

[1] श्रीमद्भागवत् में दिये गये कुछ चित्र इस प्रकार हैं—

'एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या, जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।

हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः।' श्रीमद्भागवत ११।२।४०

अवविद्[illegible] ~ विद्याः।

नहीं की है, नारी रूपी काम की गर्हणा की है। संत दादू नारी के साथ-साथ पुरुष को भी काम का प्रतीक मानते थे। उनका विश्वास था कि पुरुष के लिए जिस प्रकार नारी कामरूप है उसी प्रकार नारी के लिए पुरुष कामरूप होता है—

नारी वैरिणि पुरिख की पुरखा वैरी नारि
अंतकाल दून्यौ मुए दादू देखि विचार।
नारी पीवै पुरिख कूँ पुरिख नारी कूँ खाइ
दादू गुरु के ज्ञान बिना दून्यौं गए बिलाय।[1]

जिस काम की तथा उसके प्रतीकों की संतों ने इतनी निंदा की है, वह वास्तव में इतना हेय नहीं है। केवल उसकी प्रवृत्ति बदलने की आवश्यकता होती है। जब तक काम की प्रवृत्ति बहिर्मुखी रहती है तब तक वह भक्ति में बाधक रहता है। किन्तु उसे अन्तर्मुखी कर देने पर वही उसका साधक बन हो जाता है। इसी बात को ध्यान में रखकर संत कबीर ने लिखा है "काम मिलावे राम सूं जो कोई जानै राखि" इसी प्रकार मलूकदास ने भी लिखा है 'काम मिलावे राम को जो राखै यह जीव।'[2]

बहिर्मुखी काम का सम्बन्ध सन्त कबीर मन से मानते थे। काम की परिभाषा बद्ध करते हुए उन्होंने लिखा है 'काम काम तो सब कहते हैं किन्तु काम क्या है, इसको कोई नहीं जानता। मन की जितनी भी कल्पनाएँ हैं, वह सब काम रूप ही होती हैं।'[3] सम्भवतः यही कारण है कि सन्तों ने मन पर विजय प्राप्त करने का उपदेश सर्वत्र दिया है। सन्त कबीर ने स्पष्ट लिखा है 'मन मारे बिन भगति न होय'[4] संत दादू ने मन रूपी मृग को ज्ञान रूपी खड्ग से मारने का उपदेश दिया[5] है। एक दूसरे स्थल पर दादू ने मन को विषधर कहा है। उसके विष को दूर करने के लिए गुरु रूपी गारुडी की शरण

---

[1] दादूबानी संग्रह भाग १ पृ० ११२

[2] मलूकदास की बानी पृ० ४०

[3] कबीर साखी संग्रह पृ० १११
'काम काम सब कोई कहै काम न चीन्है कोय।
जेती मन की कल्पना काम कहावै सोय॥

[4] कबीर ग्रंथावली पृ० ३१२

[5] दादू बानी संग्रह भाग १ पृ० ११०
ज्ञान खड्ग गुरुदेव का ता संग सदा सुजाण।
मन मिरग मारै सदा ताका मीठा माण॥

प्रेम भगति से पागल हुए सन्त के उपर्युक्त चित्र श्रीमद्भागवत् के प्रेमोन्मत्त भक्तों के चित्रों से बहुत मिलते-जुलते हैं।[1]

भक्ति के बाधक तत्त्व

अब हम संक्षेप में भक्ति के बाधक तत्त्वों का संकेत कर देना चाहते हैं। भक्ति मार्ग में सबसे प्रमुख बाधक माया है। वह कलमुखी राम का नाम ही नहीं लेने देती। माया का परिवार बड़ा लम्बा-चौड़ा है। उसका समस्त परिवार ही भक्ति साधना का बाधक है। उसके परिवार के प्रमुख बाधक तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(१) पञ्च विकार
(२) ईश्वर अविश्वास
(३) भेद
(४) कुसंगति

संतों ने भक्ति के बाधक तत्त्वों में पञ्चविकारों की बड़ी निन्दा की है। पञ्च-विकारों के नाम क्रमशः काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, कपट, आशा और तृष्णा हैं।

काम सबसे प्रथम और सबसे भयंकर विकार है। नाम और काम में परस्पर विरोध है।[2] काम का प्रतीक वैसे तो स्त्री-पुरुष दोनों ही हैं किन्तु लोक की सामान्य धारणा के अनुसार स्त्री है। सन्तों ने अधिकतर स्त्री की ओर सामान्य रूप से स्त्री और पुरुष दोनों की निन्दा की है। स्त्री की हेयता की ओर संकेत करते हुए संत कबीर ने लिखा है[3] जब पुरुष के पार्श्व स्त्री रहती है तो वह पुरुष की भक्ति, मुक्ति और ज्ञान तीनों को नष्ट कर देती है। इसी प्रकार अन्य सैकड़ों स्थलों पर नारी-निन्दा मिलती है। किन्तु नारी निन्दा के लिए हम सन्तों को दोषी नहीं ठहरा सकते हैं। संतों ने नारी की निन्दा

---

[1] श्रीमद्भागवत में दिये गये कुछ चित्र इस प्रकार हैं—
'एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः। श्रीमद्भागवत ११।२०
क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद् हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥ ११।३।३२

[2] कबीर साखी संग्रह—पृ० १३२
'जहाँ काम तहँ नाम नहिं जहाँ नाम नहिं काम
दोनों कबहूँ न मिलै रवि रजनी इक ठाम॥

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० २९
'नारी नसावै तीन गुण जो नर पासै होय।
भगति, मुकति निज ग्यान मैं पैठ न सकई कोय॥

नहीं की है, नारी रूपी काम की गर्हणा की है। संत दादू नारी के साथ-साथ पुरुष को भी काम का प्रतीक मानते थे। उनका विश्वास था कि पुरुष के लिए जिस प्रकार नारी कामरूपा है उसी प्रकार नारी के लिए पुरुष कामरूप होता है—

नारी वैरिणि पुरिष की पुरुषा वैरी नारि
अंतकाल दून्यों मुए दादू देखि बिचार।
नारी पीवै पुरिष कूँ पुरिष नारी कूँ खाइ
दादू गुरु के ज्ञान बिना दून्यों गए बिलाय।[1]

जिस काम की तथा उसके प्रतीकों की संतों ने इतनी निंदा की है, वह वास्तव में इतना हेय नहीं है। केवल उसकी प्रवृत्ति बदलने की आवश्यकता होती है। जब तक काम की प्रवृत्ति बहिर्मुखी रहती है तब तक वह भक्ति में बाधक रहता है। किन्तु उसे अन्तर्मुखी कर देने पर वही उसका साधक तत्त्व हो जाता है। इसी बात को ध्यान में रखकर संत कबीर ने लिखा है "काम मिलावे राम सूँ जो कोई जाने राखि" इसी प्रकार मलूकदास ने भी लिखा है 'काम मिलावे राम को जो राखै यह रीत।'[2]

बहिर्मुखी काम का सम्बन्ध सन्त कबीर मन से मानते थे। काम की परिभाषा व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है 'काम काम तो सब कहते हैं किन्तु काम क्या है, इसको कोई नहीं जानता। मन की जितनी भी कल्पनाएँ हैं, वह सब काम रूप ही होती हैं।'[3] सम्भवतः यही कारण है कि सन्तों ने मन पर विजय प्राप्त करने का उपदेश सर्वत्र दिया है। सन्त कबीर ने स्पष्ट लिखा है 'मन मारे बिन भगति न होय'[4] संत दादू ने मन रूपी मृग को ज्ञान रूपी खड्ग से मारने का उपदेश दिया[5] है। एक दूसरे स्थल पर दादू ने मन को विषधर कहा है। उसके विष को दूर करने के लिए गुरु रूपी गारुडी की शरण

[1] दादूबानी संग्रह भाग १ पृ० १६१

[2] मलूकदास की बानी पृ० १०

[3] कबीर साखी संग्रह पृ० १६६
'काम काम सब कोई कहै काम न चीन्हे कोय।
जेती मन की कल्पना काम कहावै सोय॥

[4] कबीर ग्रंथावली पृ० ३१६

[5] दादू बानी संग्रह भाग १ पृ० ११०
'ग्यान खड्ग गुरुदेव का ता संग सदा सुजाण।
मन मिरग मारै सदा ताका मीठा माँस॥

में जाने का उपदेश दिया है।[1] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर उन्होंने मन के संयम से तत्फल भगवद्भक्ति की प्राप्ति का संकेत किया है[2]—

क्यों नहीं बिलोये माखण खावे त्यों मन मथिया तत पावे ॥[3]

संतों ने काम के समान ही क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, कपट, माया, तृष्णा आदि के प्रति भी अपना उपेक्षा भाव प्रगट किया है। भक्त का कर्तव्य है वह सबको अपना स्वजन ही समझे। यह तभी सम्भव है जब उसका मन शीतल हो। इसी लिए संत कबीर ने लिखा है—

जग में बैरी कोइ नहीं जो मन शीतल होय।[4]

लोभ के होते हुए भी भक्ति साधना नहीं की जा सकती। सन्त कबीर ने लिखा है 'लोभ में लिप्त मन विषय से लिप्त हो जाता है, विषय में लिप्त मन भक्ति भावना में लीन नहीं हो सकता। मोह अंधकार रूप होता है। शरीर में मोह के कारण ही अज्ञान का अंधकार छा जाता है। अज्ञानावस्था में भक्ति का उदय नहीं हो सकता[5]। अहंकार के उत्पन्न होने पर दृष्टि इतनी विमुग्धित हो जाती है और वह यह नहीं समझता कि भक्त और भगवान् एक ही होते हैं। वह संत बनकर व्यर्थ अभिमान करता है[6]। कपट तो भक्ति का सबसे बड़ा शत्रु है। जब तक हृदय में कपट रहता है तब तक ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती[7]। इसी प्रकार माया और तृष्णा भी

[1] दादू बानी भाग १ पृ० १११
'सब भुवण बहु विष भरा निर्विष क्यों नहि होय।
दादू मिला गुरु पारखी निर्विष कीया सोय॥'

[2] सन्त बानी संग्रह भाग १ पृ० ८१

[3] कबीर साखी संग्रह पृ० १२७

[4] कबीर साखी संग्रह पृ० १३०
'जब मन लागा लोभ से गया विषय में सोय।
कहै कबीर विचार के कस भक्ति घन होय॥'

[5] जब घट मोह समाइया सबै भया अंधियार।
निर्मोह ज्ञान विचार के कोई साधु उतरे पार॥'
—कबीर साखी संग्रह पृ० १३२

[6] कबीर साखी संग्रह पृ० १४२
'भक्त और भगवन्त एक हैं बूझी नहीं अजान।
सीस नवावत सन्त को बहुत करै अभिमान॥

[7] दादू दयाल की बानी भाग १ पृ० १३८
(क) 'एक कहै दादू मोहि कपट भारी, हृदय कपट क्यों मिलै मुरारि।
(ख) कबीर ग्रंथावली पृ० ११७
'हरि न मिलै बिन हिरदै सूध।'

भक्ति की सबसे बड़ी विरोधिनी है। इन दोनों का सम्बन्ध भी मन से ही है। संत कबीर माया को कर्म वन की बेल मानते थे। तृष्णा उस बेल के फूल के सदृश है। मनुष्य इसी इन्द्रजाल में फँसा रहता है। और अनेक कर्म करता रहता है, किन्तु फल ईश्वराधीन रहते हैं।[1]

भक्ति भावना के विकास में ईश्वर अविश्वास भी बहुत बड़ा बाधक होता है। सच तो यह है कि भक्ति की आधारभूमि ईश्वर विश्वास है। संत सुन्दरदास ने इसी लिए लिखा है—

सुन्दर कहत एक प्रभु के बिसवास बिन,
बादिहि तू वृथा सठ पचि के मरत है।।[2]

सन्तों ने भक्ति में भेष को भी बाधा रूप ही स्वीकार किया है। संत सुन्दरदास कहते हैं—

भेष न पक्ष निरन्तर सतगुरु और नहिं कछु वाद बिवाद।
ये सब लक्षन हैं जिन मांहि सुन्दर के उर हैं गुरु दादू।।[3]

कुसंगति को वे भक्ति के लिए विघ्नरूप समझते थे। कबीर ने केला और बेर के प्रतीक द्वारा से कुसंगति के दुष्परिणाम को अच्छा संकेत किया है—

मारी मरु कुसंग की केला कांठे बेरि।
वो हाले वा चीरिये सोपित संग न बेरि।।[4]

संत को भक्ति के इन सभी बाधक तत्वों से युद्ध करना पड़ता है। सन्त सुन्दर दास ने इस युद्ध को 'साधु का संग्राम' कहा है।[5] इसे वे शूरवीर के संग्राम से अधिक मानते थे। सन्तों ने इस आध्यात्मिक युद्ध का वर्णन "सती और शूरा तन को अंग" शीर्षकों से किया है। सन्त दादू ने लिखा है, सच्चा सन्त वही होता है जो शूरवीर होता है वह अपने स्वामी के लिए अपना सिर अर्पित कर देता है तभी वह स्वामी की सेवा कर पाता है।[6] सच्चा शूर वही है जो बखियाँ उड़ जाने पर भी मैदान से नहीं भागता।

---

[1] कबीर साखी संग्रह पृ० १४२
'माया बेली कर्म की बारन मन के साथ
तृष्णा फूल चौवान में फल कर्मों के हाथ।'

[2] संत बानी संग्रह भाग १ पृ० १०८

[3] सन्त सुधासार पृ० ६११

[4] कबीर ग्रंथावली पृ० ५०

[5] संत सुधासार पृ० ६६५
'साधु को संग्राम है अधिक शूरवीर सं'

[6] दादूबानी भाग १ पृ० २०१
'सूरा पूरा सन्त जन सांई को सेवै।
दादू साहिब कारणे अपना सिर देवै।'

सूरा तबही परखिए लड़ै धनी के हेत।
पुरिजा पुरिजा ह्वै पड़ै तऊ न छाड़ै खेत ॥

जब शूर साधक अपने मस्तक की बलि का संकल्प कर लेता है तभी परमात्मा से भेंट कर पाता है—

सूरै सीस उतारिया छाड़ी तन की आस।
आगे से हरि मुलकिया आवत देख्या दास ॥

हमारी समझ में इसी आध्यात्मिक युद्ध की कठोरता के कारण ही सन्तों ने अपनी भक्ति को 'दुहेली खांडे की धार'[3] 'पावक की झाल' कहा है। इस युद्ध के लिए सन्तों को प्रेम की कटारी, ज्ञान की सेल धारण करना बड़ा आवश्यक है। सन्त दास भाव भी कहते हैं—

प्रेम कटारी तन बहै ज्ञान सेल का घाव।
सन्मुख जूझै सूरमा सोहो ये दरियाव ॥

भक्ति के और प्रकार

नारदभक्तिसूत्र में भक्ति के दो प्रकार बतलाये गये हैं—परा और गौणी। उसमें उनका समझाते हुए लिखा है 'प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। उसका अनुभवकर्ता उसके रस का बखान ठीक उसी प्रकार नहीं कर पाता है जिस प्रकार गूँगा गुड़ के स्वाद का वर्णन नहीं कर सकता। इस प्रकार अनिर्वचनीय प्रेम किसी विरले ही परम योग्य शुद्ध प्रेमी भक्त में ही प्रकट होता है। यह प्रेम तीनों गुणों से परे रहता है। इसमें किसी प्रकार की कामना का स्पर्श नहीं होता। इसका अटूट प्रवाह बना रहता है। यह अति सूक्ष्म और केवल अनुभवगम्य मात्र है। भक्त इस प्रेम को प्राप्त कर उसी

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० ६९

[2] कबीर ग्रंथावली पृ० ७०

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० ७०
'भगति दुहेली राम की जैसी खांडे की धार'
कबीर ग्रंथावली पृ० ७०
'भगति दुहेली राम की जैसी अगिन की झाल'

[4] सन्त सुधासार पृ० २११

को देखता है, उसी को सुनता है और उसी का चिंतन करता है। यह प्रेम सदा का परमभक्ति हुई।[1]

दूसरी भक्ति गौणी होती है।[2] इसके गुणों के आधार पर सात्विकी, राजसी और तामसी तीन भेद होते हैं। गीता में भी भक्ति के तीन भेद ही बतलाये गये हैं—वे क्रमशः आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी हैं। ज्ञानी की भक्ति इन सबसे श्रेष्ठ होती है। श्रीमद् भागवत[3] में भी सात्विकी, राजसी और तामसी इन तीन प्रकार की भक्तियों को गौण कहा गया है। उसमें परा भक्ति अहैतुकी और अव्यवहित कही गई है। उसी को अनिमित्ता और भागवती भक्ति का श्रेष्ठतम रूप माना गया है।[4] इसी को निर्गुण भक्ति कहा गया है। परमभक्ति में निमग्न भक्त भगवदानन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। महर्षि शांडिल्य ने भक्ति में मुख्या और गौणी नाम के भेद किये हैं।[5] नारद की पराभक्ति ही शांडिल्य की मुख्या भक्ति है। महर्षि अंगिरा ने भक्ति के रागात्मिका और वैधी—ये दो भेद किये हैं। वैधी को वे रागात्मिका भक्ति का सोपान मात्र मानते थे।[6] उसको उन्होंने शान्तिप्रदा कहा है। श्रीरूपगोस्वामी ने भक्ति रसामृत नामक ग्रंथ में भक्ति के दो भेद किये हैं—परा तथा गौणी। पराभक्ति सर्वोत्कृष्ट कही गई है और गौणी के दो भेद और किये गये हैं—रागानुगा और वैधी।

आचार्य वल्लभ ने भक्ति के विहिता और अविहिता नामक भेद किये हैं।[7] हमारी समझ में रूपगोस्वामी और आचार्यवल्लभ के भेद संतों के बाद के हैं, अतः उनके प्रकाश में सन्तों की भक्ति का अध्ययन नहीं किया जा सकता। उनकी भक्ति का अध्ययन नारद भक्ति सूत्र शांडिल्य भक्ति सूत्र भगवद्गीता आदि प्राचीन भक्तिशास्त्रीय ग्रंथों के प्रकाश में होना चाहिए। यही कारण है यहाँ पर हमने संतों की भक्ति भावना के

---

[1] अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ५१
मूकास्वादनवत् ५२
प्रकाशते क्वापि पात्रे ५३
गुणरहित कामना रहित प्रतिक्षण वर्धमान।
विच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभव रूपम् ५४

[2] नारद भक्ति सूत्र ५६
'गौणी त्रिधागुणभेदादार्तादिभेदाद्वा।

[3] देखिए भागवत ३।२९।८, ३।२९।९, ३।२९।१० ३।२९।११, ३।२९।१२, ३।२९।१४

[4] श्रीमद्भागवत

[5] शाण्डिल्य सूत्र ७२ तथा ५६ सूत्र

[6] दैवी मीमांसा दर्शन रसपाद सूत्र १२,१३

[7] देखिये अणुभाष्य ३।३।५१

विवेचन में ये ग्रंथ प्रमाण रूप में उद्धृत किये हैं। संतों की भक्ति गौणी नहीं थी। वह नारद के शब्दों में परा अथवा प्रेम लक्षणा, भागवत के शब्दों में निर्गुण और अंगिरा के शब्दों में रागात्मिका और शांडिल्य के शब्दों में मुख्या थी। संतों ने अपनी भक्ति के लिए परा[1] और प्रेम लक्षणा[2] शब्दों का प्रयोग भी किया है। सन्तों ने ये शब्द नारद के अनुकरण पर प्रयुक्त किये हैं। ये उनके अपने नहीं थे। उनके अपने शब्द 'आसि-क्नी', 'भावभगति'[3] और 'प्रेम भगति' हैं। इन तीनों में भी उन्होंने अधिकतर 'भाव-भगति' का प्रयोग किया है। मैं संतों की भक्ति के लिए 'भावभक्ति' शब्द पारमार्थिक मानता हूँ। भावभक्ति से उनका अभिप्राय रागात्मिका भक्ति के सहजीकृत रूप से है। भक्ति का सहजीकरण उन्होंने भाव से किया, इसी लिए उन्होंने उसे भावशब्द से विशिष्ट किया है। भावशब्द प्रेम की अपेक्षा अधिक भाव गर्भित है। प्रेम का तो वह पर्यायवाची है ही, किंतु उससे विधि-विधानों के सहजीकरण की ध्वनि भी निकलती है। संतों ने अपनी भावभगति में पूजा विधि का भावात्मक सहजीकरण कर डाला है। इसी भावात्मक सहजीकरण की चर्चा आगे पूजाभक्ति के अन्तर्गत करेंगे। भाव शब्द से भक्ति की अंतर्मुखी प्रवृत्ति की व्यंजना भी होती है। संतों की साधना अन्तर्मुखी थी[4]। उन्होंने भक्ति को भी अन्तर्मुखी बनाए रखने का ही उपदेश दिया है। भाव शब्द अन्धानुकरण का बहिष्कार कर देता है। संतों ने बराबर इसी बात पर बल दिया है कि भगवान् की भक्ति, रूढ़िपालन या अन्धानुकरण के रूप में नहीं, भावना और विचार के साथ करनी चाहिये। इन्हीं सब कारणों से भाव शब्द भक्ति के आगे प्रयुक्त किया गया है और वास्तव में सार्थक भी है। सन्तों की भक्ति के स्वरूप का अध्ययन करने के पश्चात् स्पष्ट अनुभव होता है कि उसके लिए इससे अधिक उपयुक्त शब्द प्रयुक्त नहीं किया जा सकता था।

---

[1] चरनदास की बानी भाग २ पृ० ३१
'परा भक्ति प्रकाश अद्भुत विमल और निष्काम'

[2] सुन्दरदास—सन्तसुधासार—५००
'शिष्य सुनाऊँ तोहि प्रेम लक्षणा भक्ति अब'

[3] सन्त सुधासार पृ० २८२
'यह छोभक्ति भक्तिनी'

[4] दादूदयाल की बानी
'दादू रसना राम सौं नेड़ी अन्तर माहि।
उपजि समाना आप में सो सुख कह्यू न जाहि॥'

संतों की भावभगति की कुछ प्रमुख विशेषताएँ

संतों की भावभगति की सबसे प्रमुख विशेषताएँ उसकी निष्कामता है। संतों ने किसी स्वार्थ-साधना से प्रेरित होकर भक्ति-साधना नहीं की थी। धनीधरमदास कहते हैं 'हे गुरुदेव! मुझे आप केवल भक्ति मात्र दीजिये। मैं केवल भगवान् के चरणों की सेवा मात्र करना चाहता हूँ। मैं तीर्थ व्रत नहीं करना चाहता हूँ। दूसरे की भावना भी मुझे नहीं रुचती। मुझे अष्ट सिद्धियों और नौ निधियों और बैकुंठ आदि से भी कोई प्रयोजन नहीं है। सुख सम्पत्ति एवं सुन्दर स्त्री की कामना भी नहीं है। मेरा हृदय भगवान् के दर्शनों की कामना के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु की इच्छा से स्वप्न में भी अभिभूत नहीं होता[1]।' संत चरनदास ने लिखा है कि ऐसी साधना ही करनी चाहिए जो सर्वथा निष्काम हो[2]। वास्तव में भगवान् को वे ही भक्त अपने अधीन कर पाते हैं जो निष्काम भाव से भक्ति-साधना करते हैं।[3] सन्त कबीर ने तो यहाँ तक लिखा है कि 'जो लोग सकाम सेवा करते हैं, उनकी भक्ति-साधना व्यर्थ है[4]।'

संतों की भक्ति की दूसरी प्रधान विशेषता वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा है। भक्ति क्षेत्र में वर्णाश्रम धर्म के प्रति उपेक्षाभाव का सूत्रपात स्वामी रामानुजाचार्य और आलवार भक्तों के समय से ही चला था। और आगे चलकर रामानन्द ने उसे और भी बल प्रदान किया। महाराष्ट्र संत तो प्रत्यक्ष रूप से पूर्ण उदासीन हो गये हैं। सन्तों ने भक्ति क्षेत्र में वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा ही नहीं की उन्होंने उसे सर्वथा अमान्य और अविवेक ठहराया है। पलटू साहब का विश्वास था—

हरि को भजे सो बड़ा है जाति न पूछे कोय।[5]

संत चरनदास ने चारों वर्णों की उपेक्षा ही नहीं की है उन्होंने चारों आश्रमों को भी अविवेक ठहराया है—

चारि वरन आश्रम माहीं नहीं कर्मना कोई।[6]

संत लोग भक्ति के द्वारा आत्मा मानने के पक्ष में थे। उनका विश्वास था कि

---

[1] संत बानी संग्रह भाग २ पृ० ३६

[2] चरनदास की बानी भाग २ पृ० ३६

[3] मलूकदास की बानी पृ० १६

[4] कबीर वचनावली पृ० १० साखी ४२
'जब लगि भगति सकामता तब लग निष्फल सेव

[5] पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० ८७

[6] चरनदास ३।११

भगवान् की कृपा कटाक्ष से ही मन समस्त विकारों से मुक्त हो जाता है। मन के माया रहित होने पर भक्ति स्वयमेव आ जाती है। संत भीखा साहब लिखते हैं—

अस करिये साहिब दाया।
कृपा कटाक्ष होइ जेहि ते प्रभु छूटि जाय मन माया ॥[1] इत्यादि

संतों ने भक्ति में एकान्तिकता को भी महत्त्व दिया है। उनका विश्वास था कि जो भगवान् को पा लेता है वह फिर अपना ढिंढोरा नहीं पीटता वरन् छिपकर रहने लगता है। पलटू साहब कहते हैं—

जिनजिन पाया वस्तु को तिनि तिनि चलै छिपाय।[2]

एक दूसरे स्थल पर उन्होंने संसार को भाड़ में झोंकने तक की बात कह डाली है—

मगन आपने ख्याल में भाड़ परै संसार।
भाड़ परै संसार नाहिं काहू से कामा।
मन बच कर्म लगाय जानि हौं केवल रामा ॥[3]

संत रैदास ने भक्ति-मार्ग पर अकेले चलने की बात कही है—

राम प्रीति का पंथ दुहेला संगिल गवन अकेला।[4]

सन्तों का भक्तिमार्ग योग के सामंजस्य से पूर्णता को प्राप्त होता है। सन्त पलटू ने भक्ति के प्रेम तत्त्व की अनुभूति ब्रह्मरन्ध्र में करने का उपदेश दिया है।

गगन गुफा के बीच प्रेम पियासा प्रेम का चाखै।[5]

इसी प्रकार सन्त कबीर ने भक्ति के आराध्य को और योग के ध्येय भगवान् को एक करके भक्ति की योग विशिष्टता ध्वनित की है।

भगति दुवारा सांकड़ा राई दसवें द्वार।[6]

---

[1] सन्तबानी संग्रह २।१२५
[2] पलटू साहब भाग १।७०
[3] पलटू साहब भाग १।६०
[4] सन्त सुधासार १८७
[5] पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० २
[6] कबीर ग्रंथावली पृ० २०

संतों की भक्ति प्रयोन्मुखी है। तुलसी साहब ने लिखा है कि सच्ची भक्ति वही है जो मनसा, वाचा और कर्मणा तीनों प्रकार से प्रवृत्त होती है।[1]

संतों की भक्ति एकान्तिक और योग विशिष्ट होते हुए भी कल्याण-विधायिनी और लोक-संग्रहात्मक है। एकान्तिक साधना करते हुए भी भक्त को लोक-संग्रह करना चाहिए। वास्तव में भक्ति तत्त्व के उदय होते ही उसका कल्याण होता है। संत चरन दास लिखते हैं—

"औरन कू उपदेश करि भजन करै निष्काम।
चरनदास वे साधजन पहुँचे हरि के धाम॥
भक्ति पदारथ उदय सू होय सभी कल्यान॥"[2]

पलटू साहब की निम्नलिखित पंक्तियों से यह स्पष्ट ध्वनि निकल रही है कि संत लोग लोक-संग्रह का अपना कर्तव्य समझते थे—

एक न भूला दुई न भूला भूला सब संसार।
पलटूदास हम कहा पुकारी कब न दोष हमार॥[3]

अब हम संतों की भक्ति के उपास्य के स्वरूप पर प्रकाश डाल देना चाहते हैं। यहीं हम कह चुके हैं कि उपासना हृदय की सात्त्विक समर्पण बुद्धि की अभिव्यक्ति है। प्रायः यह अभिव्यक्ति व्यक्त के प्रति ही अधिक उपयुक्त समझी जाती है। स्वामी शंकराचार्य जैसे कट्टर अद्वैतवादी को भी उपासना के लिए सगुण की ओर झुकना पड़ा था। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में अव्यक्त की उपासना को दुस्साध्य कहा है। संतों ने प्राचीनों की इस धारणा का निराकरण करके अव्यक्त के प्रति ही अपनी उपासना समर्पित की है।

संतों का आराध्य—संतों की भक्ति का आराध्य "मुनि मंडलवासी पुरुष" ही है। संतों ने उसे आदि पुरुष परमात्मा[4] और आदि सनातन[5] रूप कहकर

---

[1] तुलसी साहब पृ० ७
सच्ची भक्ति गुरावल की मरो मन माया।
मनसा वाचा कर्मना सुनु सन्त सुजाना॥

[2] चरनदास भाग १ पृ० ८२

[3] पलटू बानी भाग १ पृ० ११

[4] चरनदास की बानी संग्रह भाग १ पृ० ८२
"आदि पुरुष परमात्मा तुम्हें नवाऊँ माथ"

[5] चरनदास की बानी भाग १ पृ० ९३
"आदि सनातन रूप सदा ही मूरत नाहि न न्यारे"

उसके प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की है। यह आदि पुरुष परमात्मा ही संतों का राम है, यही ज्ञानियों का आत्मतत्त्व है।[1] योगियों में यही निरंजन नाम से प्रसिद्ध है।[2] संतों ने अपनी उपासना का आराध्य निर्गुण आत्मा ही ठहराया था। इसके प्रमाण में हम संत चरनदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत कर सकते हैं। इन पंक्तियों में चरनदास जी ने 'आत्मराम की पूजा' का उपदेश किया है। उन आत्मदेवता की सगुणता और मूर्तिमत्ता भी प्रतिपादित की है—

"हम तो आतम पूजाधारी
समुझि समुझि कर निश्चय कीन्ही और सकल पर मारी
और देवल तहँ मूरत पूजा देवल दृष्टि न आवै
हमरा देवल परगट बोलै बोलै चालै आवै॥"[3]

संतों ने जिस आत्माराम की उपासना का उपदेश दिया है, वह मौलिक भी है। उन्होंने आत्मा के सहारे आत्मारूपी राम के दर्शन करने का उपदेश दिया है। संत चरनदास कहते हैं—

"मंदिर क्यों त्यागी और भागी क्यों गिरिवर को,
हरि जू तू बरसानि कल्पै क्यों बावरे।
सब साधन बतायो और चार वेद गायो,
आपन को आप देख अन्तर ही आवरे॥"[4]

संतों ने अपने निरंजन का सगुणीकरण प्रेम और सौन्दर्य से करके उसे व्यक्त परब्रह्म से भी अधिक मधुर और सहज बना दिया है। संत गुलाल साहब लिखते हैं—

---

[1] १—गुलाल साहब की बानी पृ० ११२
'आतम राम सकल का साईं'
२—वही पृ० १०१
'कोई आतम भक्ति-ज्ञान न जाने'
३—तुलसी-संत सुधासार पृ० २०२
'आतम को देख आदि पूजो भाई'

[2] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० १११
'आतम एक निरंजन देव'
कबीर ग्रंथावली पृ० ६०
'भगति तुम्हारा सांचा राई दीजो भाई'
कबीर ग्रंथावली पृ० ८०
'प्रेम भगति हिंडोलना सब सन्तन को वि'

[3] चरनदास की बानी भाग २ पृ० ४६

[4] चरनदास की बानी भाग २ पृ० ७७

नाना रूप निरंजन नागर,
कामन लिहल पसार हो सजनी।
रोम रोम छवि बरनि न आवे,
एक साह कत पियार हो सजनी
नाम धरम नहिं काम नहिं
निगुन रूप निनार हो सजनी ॥[1]

उस यौगिक, अगम, अगोचर, अलखनाथ पुरुष के दर्शन करके ही संत लोग सनाथ होते थे।[2] क्यों उसे उन्होंने भक्त वत्सल[3], दीनदयाल[4], करुनामय[5], गरीबनिवाज[6] आदि बना दिया है जिससे पूर्ण सगुण लगने लगा है। किन्तु वास्तव में वह है 'निर्गुण' ही। यहाँ पर मैं एक बार फिर स्मरण दिला देना चाहता हूँ कि संतों का निर्गुण शब्द योगियों के ध्येय ज्योतिस्वरूपी और नादस्वरूपी ब्रह्म के लिए लिया गया। यह ज्योतिस्वरूपी और नादस्वरूपी परमात्मा और कुछ नहीं, अवश्य शुद्धबुद्ध मुक्त आत्मतत्त्व ही है। उसी अवश्य निर्गुण निरंजन आत्मतत्त्व को संतों ने राम का अभिधान दिया है और भक्ति-क्षेत्र में भाव और प्रेम के सहारे उसका सगुणीकरण करके उसे भक्त का आराध्य बना दिया है। संत दादू लिखते हैं कि मैं उस भक्त की निछावर हूँ जो निर्गुण का सगुणीकरण करके उसके गुणों का कीर्तन करते हैं।[7]

यहाँ पर एक बात और स्मरण रखने की है कि संत लोग मिथ्या कट्टरता में विश्वास नहीं करते थे। वह भक्ति करना अपना धर्म समझते थे, चाहे वह निर्गुण के प्रति की जाय या सगुण के प्रति। उनकी दृष्टि में सगुण और निर्गुण दोनों एक ही परमात्मा के रूप हैं। सहजो ने लिखा है—

'निगुन सगुन एक प्रभु देखो समुझि विचार'।—इत्यादि।[8]

[1] गुलाल साहब की बानी पृ० १२१

[2] वही पृ० ४४
"अगम अगोचर अलखनाथ"

[3] गुलाल साहब की बानी पृ० ४२

[4] वही

[5] वही पृ० ४३

[6] कबीर ग्रंथावली

[7] दादू की बानी भाग १ पृ० १८३
'दादू निर्गुण गुण कहै जाऊँ ताकी बलिहार।'

[8] सन्त सुधासार खण्ड १ पृ० १११

किंतु राम के रूप में इन रहस्यों को वही समझ सकता है जो बहुत प्रवीण है।

संतों ने आत्मा को सगुणीकरण ही नहीं किया है, उन्होंने विराट परमात्मा की उपासना का उपदेश भी दिया है।[1]

प्रपत्तिपरता—संतों ने अपनी भक्ति में प्रपत्ति पर बहुत बल दिया है। प्रपत्ति का शब्द अर्थ स्वीकरण और मौलिक अर्थ आत्म-निक्षेप है। यह आत्मनिक्षेप या प्रपत्ति दो प्रकार की होती है—भक्तकृत भगवान् का स्वीकरण और भगवत्कृत भक्त का स्वीकार। प्रथम प्रकार की प्रपत्ति मर्यादिक प्रपत्ति है। इसके उदाहरण अर्जुन और विभीषण हैं। किंतु अर्जुन की प्रपत्ति पुष्टि सम्मिश्रित भी है, शुद्ध मर्यादिक नहीं है, क्योंकि अर्जुन के लिए भगवान् भी उतना ही विचित्र रहते हैं जितना अर्जुन भगवान् में निरत रहते हैं। सन्तों की प्रपत्ति मर्यादिक प्रपत्ति ही है। सन्त लोग ही पहले आत्म समर्पण करते हैं, फिर भगवान् स्वयं द्रवित होकर उन्हें अपना लेते हैं।

संतों ने भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण करने का उपदेश सर्वत्र दिया है। कबीर कहते हैं—

जन कबीर तेरी सरन आयो राखि लेहु भगवान्।[2]

इसी प्रकार दादू ने कहा है—

सरण तुम्हारी आइ परे हम।
जहाँ तहाँ हम सब फिर आए॥[3]

यह शरणागति मनसा, वाचा और कर्मणा अनन्यमुखी होनी चाहिए। सन्त लोग कर्म में विश्वास नहीं करते थे अतः दादू ने मनसा, वाचा प्रपत्ति का उल्लेख किया है—

मनसा वाचा सरणा तोर।[4]

सन्त रैदास प्रपत्ति के आगे तीरथ व्रत आदि सबको निरर्थक और निष्फल मानते थे—

तीरथ बरत न करौं अँदेसा तुम्हरे चरन कमल का भरोसा।[5]

भागवत पुराण में प्रपत्ति के ६ अंग गिनाये गये हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० २०८

[2] कबीर ग्रंथावली पृ० ११०

[3] दादू बानी भा० २ पृ० १०१

[4] दादू बानी भा० २ पृ० १२८

[5] सन्त सुधासार खण्ड १ पृ० १११

(१) भगवान् के अनुकूल आचरण करना
(२) भगवान् के प्रतिकूल आचरणों का निषेध
(३) भगवान् की रक्षा में विश्वास रखना
(४) एकान्त में भगवान् को आत्मसमर्पण करना
(५) सर्वतोमुखी आत्मसमर्पण
(६) अपनी असमर्थता का अनुभव करना।

भगवान् के अनुकूल आचरण करना सरल नहीं है। भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते हैं। उनको वे ही आचरण अच्छे लगते हैं जिनसे लोक का कल्याण होता है। भगवान् के अनुकूल आचरण को हम सदाचार का अभिधान भी दे सकते हैं। संतों ने सर्वत्र सदाचरणपूर्ण जीवन-यापन का ही उपदेश दिया है। 'आनुकूल्यस्य संकल्प' के उदय होते ही 'प्रतिकूलस्य वर्जन' वाली विशेषता स्वयं आ जाती है। संत दादू की निम्न लिखित पंक्तियों में दोनों का एक साथ ही संकेत मिलता है—

राम भजै विषया तजै आपा न जनावै
मिथ्या मुनि बोलै नहीं पर
औगुण छाँडे गुण गहै मन हर पद भाई।[1]

जियरा मेरे सुमिरि सार, काम क्रोध मद तजि विकार।[2]

तीसरा अंग है भगवान् की रक्षा में विश्वास। इस अंग के भी संतों में सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। संत कबीर ने कहा है—

अब मोहि राम भरोसा तेरा।
और कौन का करो निहोरा॥[3]

चौथा अंग है एकान्त में परमात्मा का स्मरण करना, उसका ध्यान करना और उन्हें आत्मसमर्पण करना और उनकी कृपा का दान पाकर सुख होना—

प्रभु तुम ऐसे दीन दयाल,
हम कहु अधम कुटिल जंजाल।[4]

आत्म-निवेदन के संतों में अगणित उदाहरण मिलते हैं। आत्म-निवेदन उनकी भक्ति की प्रमुख विशेषता है। रैदास की एक यह उक्ति देखिए—

[1] सन्त बानी संग्रह भाग १ पृ० ८१
[2] सन्त बानी संग्रह भाग १ पृ० ८१
[3] कबीर ग्रंथावली पृ० १२१
[4] गुलाल की बानी पृ० ४२

कहि रैदास सरनि प्रभु तेरी
ज्यूं जानहु त्यूं करु गति मेरी।[1]

कार्पण्य भाव की अभिव्यक्ति भी संतों में बहुत स्थलों पर मिलती है। कार्पण्य का अर्थ है दीनता। अपनी दीनता का प्रदर्शन करके भक्त भगवान् की शरण में जाता है। इसके अन्तर्गत आत्म-निवेदन भक्त की अकिंचनता एवं क्षुद्रता और भगवान् की महानता आदिक वर्णन आते हैं। संत कबीर में इस प्रपत्ति के इस अंग के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। भक्त की अनन्यता और नम्रता का देखिये कैसा सुन्दर उदाहरण है—

सपनेहु बर राय के जिह मुख निकसे राम
ताके पग की पावरी मेरे तन की चाम।[2]

इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होंने आत्मदैन्य का सुन्दर प्रदर्शन किया है—

माधो मैं ऐसा अपराधी तेरी भगति हेते नहीं लागी।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों की बानियों में हमें प्रपत्ति के सभी अंग मिलते हैं।

भक्तिमार्ग का सहजीकरण—हम ऊपर दिखा आये हैं कि सन्तों ने सनातन कर्म और ज्ञान-मार्गों का स्वीकार करते हुए भी अपनी सहज-साधना के अनुकूल उनका सहजीकरण किया था। उनका सहजीकरण का सिद्धांत भक्तिमार्ग के सम्बन्ध में उस रूप में लागू नहीं होता है, जिस रूप में कर्म और ज्ञान साधनाओं के क्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा की गई है। इसका कारण यह था कि सन्त लोग भक्तिमार्ग सहजमार्ग ही मानते[4] थे। भक्ति-साधना प्रेम विशिष्ट होती है। प्रेम सन्तों के सहजमार्ग की प्राणभूत विशेषता है। सहजमार्ग की दूसरी प्रमुख विशेषता सदाचरणविषयता है। भक्ति में उसकी भी वैसी ही प्रतिष्ठा है जैसी ज्ञानक्षेत्र में है। सहजमार्ग के अन्य तत्त्व नाम जप, अन्तर्मुखी साधना आदि भी भक्तिमार्ग में किसी न किसी रूप में उपलब्ध होते हैं। इन्हीं सब कारणों से सन्तों ने उसे सहजमार्ग कह दिया है। वैष्णवी भक्ति का पूजापक्ष संतों की सहज साधना से मेल नहीं खा रहा था, उसका उन्होंने सहजीकरण कर डाला है। वैधीपूजा के स्थान पर उन्होंने भावात्मक पूजाविधि को महत्त्व दिया है। संतों ने भक्ति मार्ग का सहजीकरण केवल इसी रूप में किया था।

---

१ सन्त सुधासार पृ० १८२
२ कबीर ग्रंथावली पृ० २६१
३ वही पृ० १५२
४ दादू साहब की बानी भाग २ पृ० १११ पद २०४

सातवाँ अध्याय

रहस्य और सहज साधनाएँ

सन्तों की रहस्य साधना—

स्वरूप—परिभाषाएँ—विचार और प्रेम का मिलन-बिंदु—अनुभूति—मूलकता—आस्तिकता—रहस्यवादी और दार्शनिक का भेद—रहस्य जिज्ञासा—रहस्यवादियों का मिलन—प्रेम तत्त्व—गुरु—विरहतत्त्व—प्रमरस—रहस्यवाद की दो प्रक्रियाएँ—अंतर्मुखी रहस्यवाद—बाह्यात्मक रहस्यवाद।

रहस्यवाद की अवस्थाएँ—जागरण की अवस्था—परिष्करण की अवस्था। अनुभूति की अवस्था—विघ्नावस्था—मिलन की अवस्था—तादात्म्य की अवस्था—यौगिक रहस्यवाद—अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद—विशेषताएँ।

सन्तों की सहज साधनाएँ—

धर्म क्षेत्रीय सहज साधना—युग की प्रेरणा—सन्तों की धार्मिक साधना के दो पक्ष—संतों के धार्मिक दृष्टिकोण की मौलिकता। मध्ययुग की दो धर्म-धाराएँ—धर्मस्वरूप और तत्त्व—बुद्धिवादिता—आध्यात्मिकता।

सन्तों की धर्म-साधना का खंडनात्मक पक्ष—

अंध-विश्वासों का प्राधान्य और उनका खण्डन—मिथ्याचारों और आडम्बरों का प्राधान्य और उनका खंडन—मूर्तिवाद का महत्त्व और उसका खंडन—सहजीकरण—परिष्करण—सदाचारमूलक मानवीकरण—सदाचार के सहारे धर्म का सहजीकरण—सहजाचरण—सहजवैराग—सहजधर्म—सहज त्याग—सहज विचारणा—सहजज्ञान—सहज प्रेम।

सन्तों की सहज साधना—

सच्ची प्यास—नाम जप और स्मरण—भक्ति—सत्संगति—सहजयोग।

सन्तों की समाज क्षेत्रीय सहज साधनाएँ—

तत्कालीन स्थितियाँ—समाजसुधार के स्वरूप और योजनाएँ—दूषित सामाजिक प्रथाओं और व्यवस्थाओं का खंडन और सहजीकृत सामाजिक व्यवस्थाओं का मंडन—समाज के भेदभाव को दूर करने का बुद्धिवादी प्रयास—सन्तों का साम्यवाद।

संतों की रहस्य साधना

स्वरूप—रहस्यवाद का स्वरूप वास्तव में बड़ा रहस्यमय है। यही कारण है कि सैकड़ों विद्वानों द्वारा विवेचित किये जाने पर भी वह अस्पष्ट और रहस्यमय बना हुआ है। ससीम की असीम से ऐक्यानुभूति का इतिहास स्पष्ट और रहस्यहीन हो भी कैसे सकता है। यह इतिहास इतना गहन और रहस्यपूर्ण है कि आदि युग से मानव बराबर उसकी अभिव्यक्ति करने की चेष्टा करता रहा है। किन्तु आज भी वह अनेक दृष्टियों से अनभिव्यक्त है और शायद सृष्टि के अंतिम क्षण तक वह अनभिव्यक्त और अस्पष्ट ही रहेगा।

परिभाषाएँ—रहस्यवाद की सैकड़ों परिभाषाओं में से दो-चार महत्त्वपूर्ण परिभाषाओं का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। अँगरेजी की प्रसिद्ध कंसाइज ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में रहस्यवाद का स्पष्टीकरण तो नहीं किया गया है किन्तु रहस्यवादी की परिभाषा अवश्य दी गई है। उसके अनुसार रहस्यवादी उसे कहते हैं जो ज्ञानातीत सत्य की आध्यात्मिक अनुभूति में विश्वास करता है। स्पर्जन[१] साहब के मतानुसार लोक में रहस्यवाद का प्रयोग कुछ अर्थजुगुप्सात्मक दृष्टि से किया जाता है। इसके अन्तर्गत ईश्वर और संसार से सम्बन्धित आध्यात्मिक एवं रहस्यात्मक साधनाएँ तथा और भी बहुत सी विचित्र बातें आ सकती हैं।[२] रहस्यवाद का प्राचीन अध्ययन करनेवालों में कुमारी इवेलिन अण्डर हिल की अच्छी ख्याति है। उन्होंने रहस्यवाद के स्वरूप को दो स्थलों पर स्पष्ट करने की चेष्टा की है एक अपने मिस्टीसिज्म नामक ग्रन्थ में और दूसरे टैगोर की हण्ड्रेड पोयम्स आफ कबीर की भूमिका में मिस्टीसिज्म नामक ग्रन्थ में वह लिखती हैं। मेरी दृष्टि से रहस्यवाद मानव की परात्पर के साथ भावात्मक ऐक्यानुभूति की प्राप्ति का प्रकाशन है। धार्मिक दृष्टि से उसका चाहे जो कुछ भी स्वरूप, सीमा और विस्तार हो किन्तु मेरे विचार में बड़े बड़े रहस्यवादियों की भावना अथवा चेतना की सम्पूर्ण भूमि को आक्रांत करती चली जाती है। रहस्यवादियों[३]

१—Mystic—N (often contempt) One who believes in spritual apprehension of truths beyond the understanding
—Concise Oxford Dictionary (1911 Ed.)

२—It is unquestionably true that the mysticism is often used in semi contemptuous way *to denote any* kind of occult or spiritualism.
—Mysticism in English literature page. 4 (1917 Ed.)

३—Broadly speaking understand it to be the expression of the innate tendency of the human spirit with the trancedental order Whatever be the theological formula under which the order is understood.

The tendency in great mystics gradually capture whole field of consciousness. It denotes their life and in the experince a mystic union. Mysticism *(preface Page 14 (1912 Ed.)* written *by Evelogn* Under hill.

का जीवन इसी प्रवृत्ति से परिपूर्ण रहता है। अनुभूति के क्षेत्र में इसको रहस्यात्मक चिन्तन कहते हैं। यह परिभाषा कुछ लम्बी और अस्पष्ट सी है। हंड्रेड पोयम्स आफ कबीर की भूमिका में दी गई परिभाषा अत्यधिक संक्षिप्त सारपूर्ण प्रतीत होती है। इसमें रहस्यवाद को सत्य के प्रति उद्भूत भावात्मक प्रतिक्रिया कहा गया[१] है। एम० के स्पेन्सर नामक एक दूसरे अंगरेज विद्वान् ने भी अपने ज्वायस मिस्टीसिज्म नामक ग्रंथ में रहस्यवाद के स्वरूप की ओर संकेत किया है। उन्होंने लिखा है कि रहस्यवादी किन्हीं बाह्य प्रमाणों पर अवलम्बित नहीं रहता। वह परात्पर तक पहुँचने के लिए अपनी ही साधना का आश्रय लेता है। उनमें असीम के प्रति तीव्र आकांक्षा रहती है और शाश्वत तक पहुँचने की तीव्र इच्छा।[२] इसी विद्वान् ने अपने स्प्रिचुअल फिलासफी इन लाइफ नामक ग्रंथ में रहस्यवाद को धर्म का क्रियात्मक रूप कहा है।[३] उनके मतानुसार रहस्यवाद को धर्म के महानतम का भावात्मक मानवीकरण कहा जा सकता है। वह रहस्यवादी को ईश्वरीय मनुष्य मानता है। उसके मतानुसार रहस्यवादी प्रकृति के रहस्यों को समझता है और उनका उद्घाटन भी करता है।

सबसे प्रभावपूर्ण परिभाषा प्रो० रानडे की है। उन्होंने मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र नामक एक प्रौढ़ ग्रन्थ लिखा है। उसकी भूमिका में वह रहस्यवाद को समझाते हुए लिखते हैं—रहस्यवाद उस मानसिक परिस्थिति के प्रकाशन को कहेंगे जिसमें साधक को परमात्मा का सीधा सच्चा स्पष्ट एवं अनुभूतिमूलक परिज्ञान[४] होता है। कुछ हिन्दी विद्वानों ने भी रहस्यवाद के स्वरूप को समझने की चेष्टा की है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण परिभाषाएँ प्रसाद जी और डा० रामकुमार वर्मा की हैं। प्रसाद जी ने रहस्यवाद में आत्मा की मूल संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा कहा है। यह परिभाषा व्यापक होते हुए भी अस्पष्ट है। सबसे सुन्दर परिभाषा डा० रामकुमार वर्मा की है। उनकी परिभाषा निम्नलिखित है—

१—"Mysticism is the temprامental reaction to the reality
—(Hundrend Poems of Kabir) Preface

२—Joyous mysticism Page 16 Written by M K. Spencer 1942

३—Mysticism is Religion in Practice. This is the sublimation of the highest in Religion. To be mystic is to be God head He Knows and unravells the secrets of Nature,

Spritual Philosophy in life by M K. spencer (1942) Page 50.

४—Mysticism denotes that attitude of mind which ensures a direct immediate firsthand intutive Knowledge of God.

Mysticism in Maharastra. Page (Preface)

संतों की रहस्य साधना

स्वरूप—रहस्यवाद का स्वरूप वास्तव में बड़ा रहस्यमय है। यही कारण है कि सैकड़ों विद्वानों द्वारा विवेचित किये जाने पर भी वह अस्पष्ट और रहस्यमय बना हुआ है। ससीम की असीम से ऐक्यानुभूति का इतिहास स्पष्ट और रहस्यहीन हो भी कैसे सकता है। वह इतिहास इतना गहन और रहस्यपूर्ण है कि आदि युग से मानव बराबर उसकी अभिव्यक्ति करने की चेष्टा करता रहा है। किन्तु आज भी वह अनेक दृष्टियों से अनभिव्यक्त है और शायद सृष्टि के अंतिम क्षण तक वह अनभिव्यक्त और अस्पष्ट ही रहेगा।

परिभाषाएँ—रहस्यवाद की सैकड़ों परिभाषाओं में से दो-चार रहस्यपूर्ण परिभाषाओं का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। अँगरेजी की प्रसिद्ध कॉन्साइज ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में रहस्यवाद का स्पष्टीकरण तो नहीं किया गया है किन्तु रहस्यवादी की परिभाषा अवश्य दी गई है। उसके अनुसार रहस्यवादी उसे कहते हैं जो ज्ञानातीत सत्य की आध्यात्मिक अनुभूति में विश्वास करता है। सर्जन[1] साहब के मतानुसार लोक में रहस्यवाद का प्रयोग कुछ अवगुण्ठनात्मक दृष्टि से किया जाता है। इसके अन्तर्गत ईश्वर और संसार से सम्बन्धित आध्यात्मिक एवं रहस्यात्मक भावनाएँ तथा और भी बहुत सी विचित्र बातें आ सकती हैं।[2] रहस्यवाद का शास्त्रीय अध्ययन करनेवालों में कुमारी इवेलिन अंडर हिल की अच्छी ख्याति है। उन्होंने रहस्यवाद के स्वरूप को दो स्थलों पर स्पष्ट करने की चेष्टा की है एक अपने मिस्टीसिज्म नामक ग्रन्थ में और दूसरे टैगोर की हण्ड्रेड पोयम्स आफ कबीर की भूमिका में मिस्टीसिज्म नामक ग्रन्थ में वह लिखती हैं। मेरी दृष्टि में रहस्यवाद मानव की परात्पर के साथ भावात्मक ऐक्यानुभूति की प्रवृत्ति का प्रकाशन है। धार्मिक दृष्टि से उसका चाहे जो कुछ भी स्वरूप, सीमा और विस्तार हो किन्तु मेरे विचार में बड़े बड़े रहस्यवादियों की भावना क्रमशः चेतना की सम्पूर्ण भूमि को आक्रान्त करती चली जाती है। रहस्यवादियों[3]

१—Mystic—N (often contempt) One who believes in spritual apprehension of truths beyond the understanding
—Concise Oxford Dictionary (1911 Ed.)

२—It is unquestionably true that the mysticism is often used in semi contemptuous way to denote any kind of occult or spiritualism.
—Mysticism in English literature page. 4 (1917 Ed.)

३—Broadly speaking understand it to be the expression of the innate tendency of the human spirit with the trancedental order Whatever be the theological formula under which the order is understood.

The tendency in great mystics gradually capture whole field of consciousness. It denotes their life and in the experince a mystic union. Mysticism (preface Page 14 (1912 Ed.) written by Evelogn Under hill.

का जीवन इसी प्रवृत्ति से परिपूर्ण रहता है। अनुभूति के क्षेत्र में इसको रहस्यात्मक मिलन कहते हैं। यह परिभाषा कुछ लम्बी और अस्पष्ट सी है। हंड्रेड पोयम्स आफ कबीर की भूमिका में दी गई परिभाषा अत्यधिक संक्षिप्त सारपूर्ण प्रतीत होती है। इसमें रहस्यवाद को सत्य के प्रति उद्भूत भावात्मक प्रतिक्रिया कहा गया[1] है। एम० के स्पेन्सर नामक एक दूसरे अंगरेज विद्वान् ने भी अपने ज्वायस मिस्टीसिज्म नामक ग्रंथ में रहस्यवाद के स्वरूप की ओर संकेत किया है। उन्होंने लिखा है कि रहस्यवादी किन्हीं बाह्य प्रमाणों पर अवलम्बित नहीं रहता। वह परात्पर तक पहुँचने के लिए अपनी ही साधना का आश्रय लेता है। उनमें असीम के प्रति तीव्र आकांक्षा रहती है और वास्तव तक पहुँचने की तीव्र इच्छा।[2] इसी विद्वान् ने अपने स्पिरिचुअल फिलासफी इन लाइफ नामक ग्रंथ में रहस्यवाद को धर्म का क्रियात्मक रूप कहा है।[3] उनके मतानुसार रहस्यवाद को धर्म के महानतम का भावात्मक मानवीकरण कहा जा सकता है। वह रहस्यवादी को ईश्वरीय मनुष्य मानता है। उसके मतानुसार रहस्यवादी प्रकृति के रहस्यों को समझता है और उनका उद्घाटन भी करता है।

सबसे प्रभावपूर्ण परिभाषा प्रो० रानाडे की है। उन्होंने मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र नामक एक प्रौढ़ ग्रन्थ लिखा है। उसकी भूमिका में वह रहस्यवाद को समझाते हुए लिखते हैं—रहस्यवाद उस मानसिक परिस्थिति के प्रकाशन को कहेंगे जिसमें साधक को परमात्मा का सीधा सच्चा स्वगत एवं अनुभूतिमूलक परिज्ञान[4] होता है। कुछ हिन्दी विद्वानों ने भी रहस्यवाद के स्वरूप को समझाने की चेष्टा की है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण परिभाषायें प्रसाद जी और डा० रामकुमार वर्मा की हैं। प्रसाद जी ने रहस्यवाद को आत्मा की मूल संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा कहा है। यह परिभाषा व्यापक होते हुए भी अस्पष्ट है। सबसे सुन्दर परिभाषा डा० रामकुमार वर्मा की है। उनकी परिभाषा निम्नलिखित है—

१—"Mysticism is the tempramental reaction to the reality
—(Hundrend Poems of Kabir) Preface

२—Joyons mysticism Page 16 Written by M K Spencer 1942

३—Mysticism is Religion in Practice. This is the sublimation of the highest in Religion. To be mystic is to be God head. He Knows and unravells the secrets of Nature,
Spritual Philosophy in life by M K. spencer (1942) Page 52.

४—Mysticism denotes that attitude of mind which ensures a direct immediate firsthand intutive Knowledge of God.
Mysticism in Maharastra. Page (Preface)

रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्छल संबंध जोड़ना चाहती है और यह संबंध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अंतर नहीं रह जाता।[1] इन समस्त परिभाषाओं का यदि पूर्ण मनोयोग के साथ अध्ययन किया जाय तो पाँच बातें स्पष्ट लक्षित होंगी—

(१) साधक की सत्यस्वरूपी प्रियतम के प्रति तीव्र भावात्मक जिज्ञासा का उदय।
(२) भाव या प्रेम की प्रधानता।
(३) आत्माभिव्यक्ता।
(४) अद्वैत की प्रवृत्ति।
(५) साधना संबंधी दुरूह और रहस्यपूर्ण प्रक्रियाएँ।

प्रथम चार बातों का सन्निवेश भावात्मक रहस्यवाद में पाया जाता है। अंतिम विशेषता हठयोगिक रहस्यवाद और अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद में सन्निविष्ट मिलती है। सन्तों में हमें रहस्यवाद की उपर्युक्त पाँचों प्रवृत्तियाँ अपनी पराकाष्ठा में विकसित दिखाई पड़ती हैं। इनके उदाहरण रहस्यवाद के विवेचन के प्रसंग में आगे दिये जायेंगे।

संतों का रहस्यवाद भारतीय और सूफी रहस्यवादों का मिश्रण है

सन्तों के रहस्यवाद का विश्लेषण करने से पूर्व एक बात कह देना बहुत आवश्यक है। संतों का रहस्यवाद भारतीय और सूफी दोनों रहस्यवादों का संगम-स्थल है। इसमें दोनों रहस्यवादों की विशेषताएँ सन्निहित हैं। भारतीय रहस्यवाद भी कई शाखाओं और उपशाखाओं में विभक्त है। भारतीय रहस्यवाद की प्रमुख शाखाएँ दो हैं एक उपनिषदिक और दूसरी यौगिक। यौगिक रहस्यवाद भी कई धाराओं व उप धाराओं में विभक्त है—जैसे हठयौगिक, तांत्रिक, बौद्ध तांत्रिक आदि। उपनिषदिक रहस्यवाद की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं। आत्माभिव्यक्ता, साद्वैतवाद और पवित्रता। संतों के रहस्यवाद में इन तीनों तत्वों की प्रतिष्ठा मिलती है। हठयौगिक रहस्यवाद की सबसे प्रमुख विशेषता अन्तर्मुखी प्रक्रिया है। सन्तों पर इस अंतर्मुखी प्रक्रिया का पूरा-पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। तांत्रिक रहस्यवाद में हमें अभिव्यक्ति की रहस्यमयता के दर्शन विशेष रूप से होते हैं। सन्तों का अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद तांत्रिकों से बहुत अधिक प्रभावित है। सन्तों पर सूफी रहस्यवाद का भी गहरा प्रभाव पड़ा था। सूफी रहस्यवाद की प्रमुख विशेषताएँ चार हैं—प्रेम, विरह, गुरु और भावातिरेकता। ये सभी विशेषताएँ भी सन्तों के रहस्यवाद में प्रतिबिंबित मिलती हैं। सन्तों के रहस्यवाद का अध्ययन करते समय इन सब विशेषताओं पर प्रकाश डाला जायगा।

---

[1] डा० रामकुमार वर्मा—कबीर का रहस्यवाद तृतीय पृ०

विचार और प्रेम का मिलन-बिन्दु—संतों के रहस्यवाद की एक विशेषता और है। वह उसका विचार और प्रेम का मिलन बिंदु होना। एस० के स्पेन्सर ने प्रेम और विचार को रहस्यवादी संसार की चाबियाँ कहा[1] है। बात वास्तव में बिल्कुल सही है। यदि रहस्यवाद केवल प्रेम प्रधान ही हो तो वह उच्छृङ्खलता की सीमा तक पहुँच सकता है और यदि विचार प्रधान हो तो केवल दर्शन में रूपांतरित हो सकता है। सन्तों ने अपने रहस्यवाद को न शुष्क-दर्शन में ही परिणत होने दिया है और न उच्छृङ्खल ही होने दिया है। विचार और प्रेम की यह समन्वय साधना उनके रहस्यवाद की सबसे प्रमुख विशेषता है। संतों को रामरस की प्राप्ति विचारात्मकता के सहारे हुई थी। इसी लिए उनका रामरस मधुर और मादक होते हुए भी पवित्र, संयत और सदाचारपूर्ण है। इस विचारमूलक रामरस का वर्णन करते हुए कबीर ने लिखा है—अध्यात्म चिंतन करते-करते रामरस की प्राप्ति हुई उस रामरस का पान करके हमारी आत्मा पूर्ण तृप्त हो गई है। यह साधनारूपी अध्यात्म चिंतन से उद्भूत रामरस रूपी आसव इतना मधुर है कि बार बार पान करने पर भी उससे तृप्ति नहीं होती। उसका पान करते करते खुमारी लग जाती है और रसरूपी मस्ती की अनुभूति होने लगती है।[2]

श्रद्धामूलकता—श्रद्धामूलक अनुभूति को हम रहस्यवाद का प्राण मानते हैं। रहस्यवाद वास्तव में अध्यात्म की श्रद्धात्मक अनुभूति की ही अभिव्यक्ति है। श्रद्धा को सत्यानुसंधान की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका माना जाता है। इस तथ्य को पाश्चात्य और भारतीय विद्वान् एक मत से स्वीकार करते हैं। [illegible] में लिखा है कि जो साधक किसी तथ्य की अनुभूति के लिए तर्कज्ञान का आश्रय लेता है वह उसकी अनुभूति नहीं कर सकता।[3] उसकी अनुभूति वही कर सकता है जो हमारे

---

१ Love and thought these are the keys of the mystic realm.
—Joyous mysticism by M. K. spencer Page 12.

२ छाकि पर्‌यो आतम मतिवारा।
पीवत रामरस करत बिचारा॥
बहुत मोलि महँगी गुड़ पावा।
लै कसाब रस राम चुवावा॥
तन पाटन मैं कीन्ह पसारा।
माँगी माँगी रस पीवै बिचारा॥
कहै कबीर फाबी पीवत।
रस राम रस लगी खुमारी॥ क० ग्र० पृ० १११

३ मिस्टीसिज्म इन इंगलिश लिटरेचर डॉ० स्पर्जन (१९२०) पृ० ७

गये[1] ग्रंथों में श्रद्धा को आध्यात्मिक अनुभूति की मूल आधार भित्ति माना गया है। इस संबंध में छांदोग्योपनिषद्[2] में एक मनोरंजक कथा दी गई है। उसमें लिखा है कि एक दिन श्वेतकेतु ने अपने पिता से प्रश्न पूछा कि इस दृश्य जगत् का मूल कारण कैसे हो सकता है यह प्रश्न पूछा। पिता ने अनेक तर्कों के सहारे इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा की। किन्तु श्वेतकेतु ने उनसे भी अधिक पुष्ट तर्क देकर उन तर्कों का खंडन कर दिया। अंत में पिता ने पुत्र से बरगद का फल लाने का आदेश दिया और उससे कहा कि इसको तोड़कर देखो इसमें क्या है। श्वेतकेतु ने उसे तोड़कर देखा और कहा कि इसमें बहुत से बीज हैं। पिता ने पुनः कहा उन बीजों में से एक बीज ले लो और उसे तोड़कर बताओ कि उसमें क्या है। श्वेतकेतु ने एक बीज ले लिया और उसे तोड़कर देखा और कहा महाराज इसके अंदर कुछ नहीं है। पिता मुस्कराकर बोले जिसे तुम कुछ नहीं कहते हो उसी से इतना बड़ा बरगद का वृक्ष उत्पन्न हुआ है। इसमें कुछ है अवश्य किन्तु वह तर्क सिद्ध नहीं है। उसका ज्ञान श्रद्धा से हो सकता[1] है।

अनुभूतिमूलकता—श्रद्धा प्रेरित ज्ञान को अनुभूति कहते हैं। यह अनुभूति ही रहस्यवाद का प्राण है। संत सुन्दर[3] दास ने स्पष्ट लिखा है कि उस अखंड परमात्मा के दर्शन अनुभूति के बिना नहीं हो सकते।

अनुभूत बिना नहीं जान सके निरसंध निरन्तर नूर है ओरे

यह अनुभूति ही सन्तों की दृष्टि में श्रेष्ठतम ज्ञान है। दयाबाई ने इस अनुभव ज्ञान को सिंहनाद के सदृश कहा है। इसके आगे भरम भरम और अज्ञान सब नष्ट हो जाते हैं। यह ब्रह्मानुभव[4] अनिर्वचनीय[5] आनंद रूप होता है। संत लोग इसी आनंद की अनुभूति किया करते थे। इस आनंद के कुछ कण कभी कभी उनकी वाणियों से छलक पड़े हैं। साहित्य में वे ही रहस्यवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं।

आस्तिकता—श्रद्धामूलक अनुभूति की आधारभूमि आस्तिकता है। मैत्र्युपनिषद ४।६

---

1 श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः—गीता—१७।३

ये अप्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्—गीता—९।२३

2 छांदोग्योपनिषद्—६।१२

3 सन्त सुधासार —२।११

4 साधु सिंह समान है गाजत अनुभव ज्ञान।

भरम भरम भजि गये दुर्यो अज्ञान ॥ दयाबाई की बानी—पृ० ३

5 सुन्ने कह्यो न जात है अनुभव को आनंद। सन्त सुधासार पृ० ९२०

सहज वैराग्य की प्राप्ति के लिए मन साधना अति आवश्यक होती है। क्योंकि बिना मन को जीते हुए सहज वैराग्य दृढ़ ही नहीं हो सकता। इसीलिए संत मलूकदास ने लिखा है[1]—

कोइ जीत सकै नहीं यह मन जैसे देव।
याके जीते जीत है अंत मैं पाया भेव॥

अर्थात् मन रूपी देवता को जीतना कठिन है। किन्तु इसे जो जीत लेता है उसी की साधना सफल हो जाती है।

सहज कर्म—*निष्काम भाव से कर्म करना ही सहज कर्म मार्ग है।* समस्त कर्म ईश्वर को समर्पित करके करने चाहिए 'जो कीजिये हरि हेत' ही। संतों का यह सिद्धान्त वाक्य सहज कर्म साधना का आधार-स्तम्भ है। यही कारण है कि संतों ने सर्वत्र निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया है। यदि कामना त्यागकर हठकर्म भी किये जायँ तो भी मनुष्य उनसे बँधता नहीं है। सहज कर्म मार्ग के उदाहरण के रूप में संत चरनदास की निम्नलिखित उक्तियाँ उल्लेखनीय हैं। उनका अर्थ यह है—सब[2] कामनाओं का परित्याग करके योग तपस्या आदि साधनाएँ करनी चाहिए। इन साधनाओं का सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब उनका आचरण सब प्रकार की आसक्तियों और दोषों का परित्याग करके किया जाता है।

सहज कर्म का दूसरा पक्ष भी है—वह है करनी और कथनी की एकता। सांसारिक व्यक्तियों की सामान्य प्रवृत्ति यह होती है कि यह कहते कुछ और हैं और करते कुछ और हैं; किन्तु संत लोग इसमें विश्वास नहीं करते थे। कबीर के शब्दों में उनका विश्वास था कि—मनुष्य[3] को वैसा ही आचरण करना चाहिए जैसा उपदेश वह देता है। जो साधक परमात्मा में लीन रहता है वही आत्मसुख को प्राप्त करता है। यह सहज कर्ममार्ग है। संतों ने सदैव इसी के आचरण पर बल दिया है।

---

1 मलूकदास की बानी पृ० ११

2 चरनदास की बानी भाग १ पृ० ७२

जोग तपस्या कीजिये सकल कामना त्याग,
साधु करत मन चाहिये तजो दोष अरु राग।
चरन सिद्धि ता पै मिले भेद न बीजै जे
धारि हृदय परमात्मा त्यागे रहिये देह।

3 कबीर ग्रंथावली पृ० ३८

जैसी मुख तै नीकसै तैसी चालै चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहै पल मैं करै निहाल।

सहज त्याग—संतों ने सहजाचरण के अन्तर्गत सहज त्याग को महत्त्व दिया है। सहज त्याग किसे कहते हैं इसको दादू ने इन शब्दों में सुन्दर ढंग से व्यंजित किया है[1]—साधक को चाहिए कि वह राम को छोड़कर सबका परित्याग कर दे। दादू के मत का सार यही है कि सहज भाव से वासनाओं का त्याग करके राम में लीन हो जाय।

सहज विचारणा—सन्तों ने अपनी धर्म भावना में सहज विचारणा को भी स्थान दिया है। अद्वैतभाव से आत्मविचार करना ही वास्तव में सहज विचारणा है। सुन्दरदास ने लिखा भी है।[2] आत्मचिंतन से केवल आत्मा के ही दर्शन होते हैं। उस समय द्वैत बुद्धि बिलकुल नष्ट हो जाती है। किसी दूसरी वस्तु के अस्तित्व का आभास नहीं होता।

सहज ज्ञान—सहज ज्ञान भी सन्तों के सहजाचरण के अन्तर्गत ही विचार णीय है। सहज ज्ञान का मूलभूत सिद्धान्त सर्वत्र परमात्मा की झाँकी देखना है। संत सुन्दरदास ने इस सहज ज्ञान का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है।[3] वे कहते हैं जो साधक आदि अन्त, मध्य, तीनों में ब्रह्म की भावना करते हैं तथा उसी को ही ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता सब कुछ समझते हैं उन्हीं को सिद्धि प्राप्त होती है।

सहज प्रेम—सन्तों ने सहज प्रेम साधना को अत्यधिक महत्त्व दिया है। जब तक साधक का हृदय सहजरूप से परमात्मा में लीन नहीं होता तब तक उसे पूर्ण सफलता नहीं मिलती। सन्त कबीर ने लिखा है कि जो साधक आदि से अंत तक सहजभाव से परमात्मा में लीन है और उसे सहजसाधनागम्य समझकर संतोष रखते हैं वे ही सच्चे साधक हैं। वास्तव में ऐसा ही साधक सहजभाव से राम नाम में अपना मन लगा लेता है और सहजभाव से उसकी भक्ति भावना दृढ़ हो जाती है।[4]

---

[1] दादूबानी भाग १ पृ० १६१
  दादू राम न छाड़िये भावे तजिये सब विकार।
  दादू सहजै होई सब दादू का मत सार।

[2] संत बानी भाग २, पृ० १०६
  आतम विचार किए आतम ही दीसै एक
  सुन्दर कहत कोऊ दूसरो न आन।

[3] सुन्दर विलास पृ० १२६
  आदिहु अंत हैं मध्य हैं ब्रह्म हि ठौर नहीं सखि खाली।
  सुन्दर ज्ञेय और ज्ञानहु ज्ञाहि आपहु नहीं आनत खाली।

[4] आदि अन्त जो लीन भए हैं
  सहजै जानि संतोष रहे हैं।

सहज साधना—सहजाचरण के अन्तर्गत सहज साधना पर भी विचार कर लेना चाहिए। सन्तों की सहज साधना के प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं—

क—उलटी चाल।
ख—नाम जप और स्मरण।
ग—सत्संगति।
घ—प्रपत्ति।
ङ—सहज योग।

उलटी चाल—उलटी चाल सन्तों की सहज साधना की मूलभूत विशेषता है तभी तो कबीर ने कहा है 'उलटी चाल मिले परब्रह्म सो सद्गुरु हमारा।'[1] जो सुख इस उलटी चाल में है वह और किसी में नहीं है। दादू ने इसलिए लिखा है[2] कि जो साधक अन्तर्मुखी साधना का आचरण करते हुए अपनी वृत्तियों को अन्तरात्मा पर केन्द्रित कर लेता है उससे बढ़कर सुखी संसार में कोई नहीं होता है। इस उलटी चाल से चलकर ही साधक सद्गुरु का स्थान प्राप्त कर पाता है।[3] इस उलटी चाल का रहस्य क्या है इसकी ओर संकेत करते हुए दादू कहते हैं कि सुरति को उलटकर आत्मा में लीन रहना उलटी चाल का रहस्य है।[4] दादू कहते हैं कि वही चतुर साधक कहा जा सकता है जो कि अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके परमात्मास्वरूपी गुरु में केन्द्रित कर लेता है।

नाम जप—संतों की सहज साधना का प्रमुख तत्त्व नाम जप है। संतों ने इसको अत्यधिक महत्त्व दिया है। संत जगजीवनदास ने स्पष्ट घोषणा की है कि *नाम के बिना किसी का उद्धार नहीं हो सकता, चाहे वह नित्य प्रातः स्नान करे,* चाहे अनेक प्रकार के आचारों का आचरण करे, माला धारण करे, तिलक लगावे, मु

सदौं राम नाम कहो साधु
राम नाम कहि भगति दृढ़ाव। कबीर ग्रंथावली पृ० ११०

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० ११२

[2] उलटि समाना आपु मैं सो सुख कतहूँ नाहिं। दादूबानी भा० १ पृ० ७२

[3] [illegible] गुरु रहन है [illegible] सुरति समाय।
[illegible] दादूबानी भाग १ पृ० ७१

[4] सुरति अपूठी फेरि करि आतम माँहैं आण।
लागि रहै गुरुदेव सौं दादू सोई सुजाण॥ दादूबानी भाग १, पृ० ८१

करे और सुन्दरदासी बनकर रहे।[1] सन्त बखना जी ने तो नाम की महिमा की और भी अधिक ओजपूर्ण शब्दों में घोषणा की है[2] कि हमने खूब अच्छी तरह परख कर देख लिया है कि राम नाम के समान न तो कोई मूल्यवान् तत्त्व है और न हो सकती है। समस्त तीर्थों और वेदशास्त्रों के पुण्य भी राम नाम के पुण्य के बराबर नहीं हो सकता। नियम व्रत तप आदि धर्म के सभी विधान नाम के महत्त्व के आगे फीके हैं। दान, पुण्य आदि कोई भी धर्म का अंग नाम की महिमा की समता नहीं कर सकता। विश्व के नवों खण्डों में खोज करने पर भी नाम के सदृश कोई महत्त्वशाली वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। संत चरनदास ने उसे अठारह पुराण और चार वेदों का सारतत्त्व कहकर उसे महा महिमाशाली बताया है।[3] दूलनदास ने भी नाम को अविचल भक्ति का रूप कहा है[4] और उसकी बड़ी महिमा का संकेत किया है। नाम जप शुष्क नहीं है। यदि शुष्क तत्त्व होता तो फिर संतों की सहज साधना में स्थान नहीं पाता। नाम जप को सन्तों ने सत्संगति और प्रेम से मिलाकर अत्यधिक मधुर और सरस बना दिया है।[5] संतों ने नाम रस का वर्णन प्रेमरस और रामरस के रूप

---

[1] सन्त सुधासार भाग २, पृ० ६६
नाम बिनु नहिं कोऊ को निस्तारा।
नाम परत है ज्ञान तत्त मैं मन समुझि विचारा
कहा भए बहु ग्रंथ पढ़ाए का भए बिनु आचार
कहा भए माला पहिरे ते का तिलक लिलार
कहा भए ब्रह्म अन्नहि त्यागे का बिनु गुन व्यवहार

[2] टोटीला सब टोलीला कोई नाम समान न दीठा।
अड़सठ तीरथ वेद पुराणा सुणि नहीं को नाम समाना॥
नेम धर्म सब व्रत तप कीया नाम समान कोइ पुण्य न कीया
दान पुण्य, करि तुला चढ़िया नाम समान कोइ पुण्य न दीया
नौ खंड पृथ्वी खोजी कोई बखना नहीं बराबर कोई॥
—सन्त सुधासार पृ० २६८

[3] चरनदास जी की बानी भाग २ पृ० ७०
अविगति ऊँचा नाम है सब करनी का सीस।
अष्टादश अरु चारि का मथि कर काढ़ा घीव॥

[4] अविचल भक्ति नाम की महिमा कोउ न सकत मिटाई।
—संतबानी संग्रह भाग १ पृ० १११

[5] दादू बानी भाग २ पृ०
प्रेम भगति साध की संगति नाम निरन्तर गाई रे।

में किया है। नाम की मादकता शाश्वत और अमर रूपिणी होती है।[1] इसीलिए संतों ने नामरस का प्याला पीने का उपदेश दिया है।[2] इस रस की प्राप्ति साधु-संगति से होती है।[3] इसलिए सम्भवतः संतों ने अपनी सहज साधना में सत्संगति को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। नाम जप का एक पक्ष सुमिरन है। यह संतों की सहज साधना का परम महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कबीर ने स्पष्ट धारणा दी है कि समस्त[4] साधनाओं का सार तत्त्व सुमिरन ही है धर्म उपासना और साधना के समस्त अंग नाम के सुमिरन की समानता नहीं कर सकते।

सत्संगति—संत लोग साधु संतों को ईश्वर रूप मानते थे। भीखा साहब ने 'प्रभु में संत सन्त में प्रभु हैं' तथा पलटू ने 'संत रूप अवतार आप हरि धरि के आवें' कहा है। दयाबाई भी संतों को भगवान् का अवतार मानती थीं। कई[5] स्थलों पर पलटू ने उन्हें भगवान् से ऊँचा बता दिया है।[6] दादू ने साईं और सन्त को एकरूप कहा है।[7] सन्तों का इतना महत्त्व इसलिए है कि उनके दर्शन से तीनों ताप मिट जाते हैं।[8]

संतों ने साधु-संतों के महत्त्व का प्रतिपादन ही नहीं किया बल्कि सत्संगति को सहज साधना प्रधान तत्त्व घोषित किया है। संतों की बानी सत्संगति की महिमा से भरी पड़ी है। संत सुन्दरदास ने तो सत्संगति को आत्मनिर्माण का एकमात्र साधन ए

---

[1] नाम अमल उतरै ना भाई।
और अमल छिन छिन चढ़ि उतरै — सन्त सुधासार खंड १ पृ० १०४

[2] पीले प्याला हो मतवाला
प्याला नाम अमी रस का। — सन्त सुधासार पृ० १११

[3] नाम रस ऐसा है भाई ... साधु संगति से पाई। सन्त सुधासार खंड १ पृ० १०७

[4] कबीर सुमिरन सार है और सकल जंजाल—कबीर साखी संग्रह भाग १ व दो पृ० ११

[5] दयाबाई की बानी पृ० ११

[6] पलटू साहब की बानी—भाग ३ पृ० ३
पलटू प्रभु में सन्त तन पूजा करतार।

[7] दादू इस संसार में ये द्वय रतन अमोल।
इक साईं इक सन्त जन इनका मोल न तोल॥ दादूबानी भाग १ पृ० १११

[8] तीन ताप तिन जावें सन्त के दर्शन पावें—पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० ३

मित किया है।[१] उन्होंने सत्संगति के सुख को बड़ा दुर्लभ बताया है।[२] प्रश्न यह है कि संतों ने सत्संगति को क्यों इतना महत्व दिया है। इसका उत्तर देते हुए सुन्दरदास ने कहा है संत लोग परउपकारी हैं। सदैव ही वे समाज को कुछ न कुछ देते ही रहते हैं। लोग यह जो कहा करते हैं कि संत लोग कुछ देते ही नहीं हैं ठीक नहीं है।[३] संत लोग समाज को क्या देते हैं उन्हीं के शब्दों में देखिए—वे मानवों को सच्चा उपदेश देते हैं। उनमें सुबुद्धि और समत्वबुद्धि जाग्रत करते हैं। उन्हें सन्मार्ग पर ले जाते हैं। नाम भक्ति का वरदान भी संतों से ही प्राप्त होता है। प्रेम, विश्वास, ज्ञान, आत्मविचार के प्रेरक भी सन्त ही होते हैं। अधिक क्या कहा जाय वे ब्रह्म का साक्षात्कार करा देते हैं। इसी[४] भाव का समर्थन करते हुए दादू ने भी लिखा है कि सत्संगति से परमपद बड़ी सरलता से मिल जाता है।[५] साधु संगति का महत्व इसलिए भी है कि उससे उसे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति सहज में ही हो जाती है जिसके लिए मुनि लोग तपस्या करते हैं और देवता और मनुष्य तरसते और तड़पते रहते हैं।[६] इसीलिए इसे सहजसाधना का महत्वपूर्ण अंग बताया गया है।

प्रपत्ति—सन्तों ने अपनी सहज साधना में प्रपत्ति को बहुत महत्व दिया है। प्रपत्ति भक्ति का सहजतम रूप है। इसीलिए सहजसाधना में इसकी मान्यता है। संत कबीर ने सब कुछ त्यागकर नाम जप और प्रपत्ति को अपनाने का ही उपदेश दिया

---

[१] क स बुधि के संग ते स्वजन ज्ञान हाव हैं—सुंदर विलास पृ० १०१
म की पर ब्रह्म मिलो कोऊ चाहत।
तौ मित्र संत समागम कीजै॥ सुंदर विलास—पृ० ११०

[२] सुन्दर और मिल सब ही सुख।
संत समागम दुर्लभ भाई। सुन्दर विलास—पृ० ११६

[३] सुंदर कहत जग संत कछु देत नाहिं।
संत जन निसदिन दयी ही करत हैं। सुन्दर विलास—पृ० १०२

[४] सांचो उपदेश देत भली सीख देत
समता सुबुद्धि देत कुमति हरत है।
मारग दिखाई देत भावहू भगति देत
प्रेम की प्रतीत एत सपरा भरत है।
ज्ञान देत ध्यान पुन विचार देत
ब्रह्म कूं बताई देत ब्रह्म में चरत है। सुन्दर विलास पृ० १०२

[५] दादू मेरा परम पद साधू संगति मांहि—दादू बानी भाग १ पृ० १२१

[६] जिस रस को मुनिवर मरें सुरनर करें कलाप—दादू बानी भाग १ पृ० १२१

है। वे कहते हैं—हे जीव इस प्रकार के मन के भ्रम त्यागकर नाम जप की साधना कर और एक परमात्मा की शरण में जा। सन्त[1] रैदास प्रपत्ति के साथ आत्मसमर्पण में भी विश्वास करते थे। उन्हें[2] विश्वास भी भगवद् चरणों में ही था।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों की सहज साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग प्रपत्ति भी है।

सन्तों की समाज क्षेत्रीय सहज साधना

कुछ लोगों की धारणा है कि सन्त लोग समाज से बिल्कुल उदासीन थे किन्तु बात ऐसी नहीं है। सन्त लोग भारतीय थे। भारतीय कभी भी समाज से बिल्कुल उदासीन नहीं रह सकता। लोक संग्रह करना वह अपना परम कर्तव्य समझता है। सन्त लोग पूर्ण लोक संग्रहक थे यह धर्म साधना के प्रसंग में विस्तार से स्पष्ट कर चुके हैं। एक बात और ध्यान देने की है कि वे लोग अधिकतर गृहस्थ थे। गरुआ वस्त्र रँगाने में उनका विश्वास नहीं था। कबीर की, मन न रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा और मनहु बच क्रम कीजिए जो मन नहीं तजै विकार—आदि उक्तियाँ लोक प्रसिद्ध हैं। इनसे यही स्पष्ट होता है कि संत लोग भावनाओं में डूबे होने पर भी गरुआ वस्त्र पहनने की अपेक्षा मन को साधकर गृहस्थ जीवन व्यतीत करना अधिक श्रेयस्कर समझते थे। लोक संग्रहक और गृहस्थ चाहे जितना भी समाज से उदासीन रहने का प्रयत्न करे किन्तु फिर भी वह समाज से अलग नहीं रह सकता। यही कारण है कि संत लोग समाज से विरक्त होते हुए भी उससे उदासीन नहीं रह पाए हैं।

संतों की समाज क्षेत्रीय सहज साधना को समझने के लिए तत्कालीन सामाजिक अवस्था पर दृष्टिपात करना अनुचित न होगा। तत्कालीन सामाजिक अवस्था का अध्ययन तीन दृष्टियों से किया जा सकता है—

(१) समाज की राजनीतिक अवस्था।
(२) समाज की धार्मिक प्रवृत्तियाँ।
(३) सांस्कृतिक परिस्थितियाँ।

---

[1] कहत कबीर सुनहु नर भाई छाँड़हु भ्रम के भरमा।
केवल नाम जपहु रे प्राणी परहु एक की सरना॥ कबीर ग्रंथावली पृ० २६०

[2] संत सुधासार पृ० १८२
कहि रविदास सरनि प्रभु तेरी।
ज्यूँ जानहि त्यूँ कर गति मेरी।

[3] संत सुधासार—पृ० १८१
तीरथ बरत न करौं अंदेसा तुम्हरे चरन कमल का भरोसा।

यद्यपि प्रथम अध्याय में इन सब पर विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। किन्तु विवेचन की सुविधा के लिए प्रमुख बातों का संकेत यहाँ पर कर देना भी अनुपयुक्त न होगा।

तत्कालीन समाज की राजनीतिक स्थिति—मध्ययुग की चंचल राजलक्ष्मी किसी भी राजवंश के अधिकार में अधिक दिन नहीं टिकती थी। राजा लोग स्वतंत्र प्रकृति के स्वेच्छाचारी शासक होते थे। उनकी स्वेच्छाचारिता के परिणाम कभी कभी बड़े भयानक होते थे। प्रजा को वे भयानक दुष्परिणाम भुगतने पड़ते थे। इन्हीं सब कारणों से देश में विशृंखलता और अशान्ति का साम्राज्य फैला हुआ था। हिन्दू लोग विजित और मुसलमान विजेता थे। विजेता विजितों के प्रति घोर अत्याचार करते थे। इन्हीं कारणों से हिन्दू समाज पर निराशा के काले बादल छाये हुए थे। राज नैतिक भेद भाव ने भी बड़ा भयानक रूप धारण कर लिया था। हिन्दुओं को उच्च पद दिये ही नहीं जाते थे और यदि कोई अपनी योग्यता और शासक की उदारता से उच्च पद प्राप्त भी कर लेता था तो उसे हत्या का शिकार बनना पड़ता था। उदाहरण रूप में मुहम्मद तुगलक और रतन नामक हिन्दू के इतिहास की ओर संकेत किया जा सकता है।[1] राजनीतिक अनीति के परिणामस्वरूप दासता जैसी कुप्रथाएँ उत्पन्न होकर पनपने लगी थीं। बादशाह लोग विजित जाति के स्त्री-पुरुषों को लाखों की संख्या में गुलाम बना लेते थे। अलाउद्दीन के प्रसंग में हम पढ़ते आये हैं कि उसने केवल कम्मायत नगर से बीस हजार युवतियों को दासी बनाकर भेजा था फिर पुरुषों की संख्या की तो स्वयं कल्पना की जा सकती है।[2] इस दासता की कुप्रथा ने यवन समाज में घोर व्यभिचार फैला दिया। शासकों की काम वासना ने व्यभिचार की वृद्धि में अग्नि में घृत का कार्य किया। सुन्दर कन्याओं का बलपूर्वक अपहरण कर लिया जाता था इससे समाज में और भी अधिक आतंक छाया हुआ था।

तत्कालीन धार्मिक प्रवृत्तियाँ—उस समाज की धार्मिक अवस्था भी बड़ी शोचनीय थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्म पुरोहितवाद के शिकार थे। उनके ठेकेदार क्रमशः पंडित और मुल्ला थे। उन्होंने धर्म के नाम पर अनेक आडंबरों और मिथ्याचारों का प्रचार कर रखा था। इस युग में ब्राह्मण धर्म द्रविड़ धर्म से हाथ में हाथ मिलाकर चलने लगा था। जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म में द्रविड़ धर्म के विविध अंधविश्वासों का प्रवेश हो गया। पौराणिक और स्मार्त धर्म के स्थान

---

[1] सल्तनत काल दिल्ली —डा० [illegible] पृ० १६०

[2] [illegible] भाग १ भूमिका पृ० ११

ने विकृत होकर मिथ्याडंबरों का बाना पहिन लिया। सिद्धों की वीभत्स साधनाओं के कुप्रभाव भी समाज पर स्पष्ट परिलक्षित हो रहे थे। इन सबके फलस्वरूप धर्म के वास्तविक स्वरूप का लोप हो गया। सत्य के स्थान पर असत्य की पूजा होने लगी थी। रामत्व के स्थान पर रावणत्व की प्रतिष्ठा हो गई थी।

सांस्कृतिक स्थिति—समाज की सांस्कृतिक स्थिति भी ठीक न थी। हिन्दू समाज का यद्यपि नैतिक स्तर ऊँचा था किन्तु अंधविश्वासों ने उसे पंगु बना रखा था। यवन समाज की नैतिकता पतन की पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। व्यभिचार, मद्यपान, जुआ और मांसभक्षी आदि का बाजार गर्म था। भौतिक ऐश्वर्य ने उन्हें और भी अधिक विलासी बना दिया था। शिक्षा और कला के प्रति उनकी अभिरुचि क्षीण पड़ गई थी। हिन्दू समाज में यद्यपि इनका विकास नहीं हो रहा था किन्तु दर्शन की ओर उसकी प्रवृत्ति विशेष रूप से जागरूक थी।

उपर्युक्त परिस्थितियों के फलस्वरूप समाज में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ रही थीं—

(क) भक्ति की प्रवृत्ति—हिन्दू समाज में ऐश्वर्य के प्रति जितनी निवृत्ति भावना प्रबल थी मुसलमान समाज में उसके प्रति उतनी ही अधिक प्रवृत्ति भावना जागरूक थी। प्रथम में निराशावाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था और दूसरे में भोगवाद अपनी सीमा का उल्लंघन कर गया था।

(ख) समाज का नैतिक पतन—(१) हिन्दू समाज में मिथ्याचार और मिथ्याडंबरों का प्रचार। ( ) यवन समाज में व्यभिचार, जुआ और मद्यपान आदि का बोलबाला था।

(ग) (१) रूढ़िवादिता की प्रतिष्ठा—हिन्दू समाज में अंधविश्वासों और कुरीतियों का प्रचार था।

(२) यवन समाज में स्त्री-पर्दा का प्रचार था।

(घ) सामाजिक भेद भाव—(१) मुसलमानों में शुद्ध और परिवर्तित मुसलमानों का भेद-भाव था। शिया सुन्नियों का भेद भाव भी कम प्रबल न था।

(२) हिंदू समाज में वर्ण-व्यवस्थागत भेद भाव भी बहुत प्रबल हो गया था।

(ङ) व्यक्तिवाद का प्राबल्य—(१) यवनों में परिवार ने राजनीतिक अव्यवस्था उत्पन्न कर रखी थी।

(२) हिन्दुओं में व्यक्तिवाद विविध पंथों और सम्प्रदायों का जनक बन गया—

सन्तों में समाज के उपर्युक्त सभी विकारों के प्रति प्रतिक्रिया जाग्रत हुई। वे उनका परिहार करने में लग गये। कुछ विशेष शक्तियों और प्रवृत्तियों ने उन्हें और भी अधिक बल और प्रेरणा प्रदान की। वे प्रेरक शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(क) सारग्राहिता की प्रवृत्ति।
(ख) सत्यनिष्ठा।
(ग) स्वानुभूतिमूलक बुद्धिवादिता।
(घ) लोकसंग्रह की कामना।
(ङ) समन्वीकरण की प्रवृत्ति।
(च) उपदेश की प्रवृत्ति।
(छ) क्रान्ति की भावना।

संत लोग सारग्राही महात्मा थे। सन्तों की इस सारग्राही प्रवृत्ति की व्यंजना सन्त दादू ने बड़े प्रवेश पूर्ण शब्दों में की है। वे कहते हैं—मनुष्य को गाय और बछड़े का ज्ञान प्राप्त कर दूध को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। गाय के सींग, पूँछ, चरण आदि को त्याग कर, उसके थनों के दुग्ध का पान करना चाहिए।[1] सन्तों की इस सारग्राही प्रवृत्ति ने उन्हें समाज-सुधार की ओर प्रेरित किया था। संत लोगों की सत्यनिष्ठा ने भी उन्हें समाज-सुधार की प्रेरणा प्रदान की थी। संत लोग सत्यानुसरण करना और कपट से दूर रहना अपना परम कर्तव्य समझते थे। भीखा ने स्पष्ट उपदेश दिया है कि हे मानव तू सत्य मार्ग का अनुसरण कर। झूठ और कपट को दूर बहा दे। स्वानुभूति[2] मूलक बुद्धिवादिता संतों की सबसे प्रमुख विशेषता थी। वे अंधानुकरण में विश्वास नहीं करते। रूढ़ि से उन्हें घृणा थी। श्रुति, कुरान और प्रमाणवाद में उन्हें आस्था न थी। वे बहुत बड़े वैज्ञानिक थे। जीवन की प्रयोगशाला में वे सत्य-संतों के प्रयोग किया करते थे। जो सत्य खरे उतरते थे, उन्हें वे स्वीकार कर लेते थे और जो आडंबर एवं अज्ञान-विशिष्ट होते थे उनका खंडन कर डालते थे। सन्तों का मार्ग सरल स्वाभाविक और सुखमानेवाला था। वे जो कुछ कहते थे वह सब प्रत्यक्ष स्वानुभूति का परिणाम होता था। कबीर ने पंडितों को सम्बोधित करते हुए यही शिक्षा

---

[1] सन्त सुधासार—पृ० ५८०
दादू गऊ बच्छ का ज्ञान गहि दूध रहै क्यो जाय।
सींग पूंछ पग परहरै अस्थन लागै धाई।

[2] भीखा साहब की बानी पृ० १—साँच की तू चाल गहि के झूठ कपट बहाव।

है—हे पंडित तू कागज की लिखी बात कहता है मैं प्रत्यक्षानुभूति की बात कहता हूँ।[1] तूने सब उलझा रखा है। मैं सुलझाने का प्रयास करता हूँ। इतना होते हुए भी संतों की बुद्धिवादिता तर्क और वाद-विवाद पर नहीं आधारित थी। पीछे हम इस बात पर बार-बार बल दे चुके हैं। संत लोग संत मत के प्रचारक होते हुए भी लोक-संग्रह में विश्वास करते थे। संत चरनदास ने दो बातों पर सबसे अधिक बल दिया है—एक दूसरों को उपदेश देना और दूसरे निष्काम भजन करना।[2] सन्त कबीर लोक संग्रह की प्रवृत्ति को ईश्वरीय प्रेरणा मानते थे। उनका कहना था कि ईश्वर ने उन्हें संसार में लोकसंग्रह करने के लिए ही भेजा है।[3] सन्त सुन्दरदास ने भी लिखा है कि ज्ञानी सब व्यवहारों से उदासीन रहकर भी लोकसंग्रह करता है।[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि लोकसंग्रह की कामना सन्तों की प्रमुख विशेषता है। निश्चय ही उनकी इस विशेषता ने भी उन्हें समाज सुधार की ओर प्रेरित किया होगा। पीछे हम सन्तों की सहजीकरण की प्रवृत्ति की चर्चा बारम्बार कर चुके हैं। उन्हें समाजसुधार के कार्य में प्रवृत्त करने का श्रेय उनकी इस प्रवृत्ति को भी है। सन्त लोग उपदेशक तो थे ही। उपदेशक की सामान्य प्रवृत्ति सुधार की ओर रहती है। यदि ये लोग समाजसुधार की ओर प्रवृत्त हुए तो कोई आश्चर्य नहीं। संतों की क्रान्ति भावना ने भी संतों को समाजसुधार की प्रेरणा प्रदान की होगी। संत स्वभाव से क्रांतिदर्शी थे। लोक वेद का अंधानुकरण, रूढ़ियों का पालन मिथ्याचारों और मिथ्याडंबरों का समर्थन उन्हें कदापि नहीं रुचता था। परन्तु उनका युग इन सबका समर्थक था। निश्चय ही उनकी क्रांतिदर्शी आत्मा व्यथित होकर उन सबका मूलोच्छेदन करने उठ खड़ी हुई होगी।

सुधार के स्वरूप और घटनाएँ—संतों की समाज सुधार भावना निम्नलिखित रूपों में प्रकट हुई थी —

(क) समाज में सदाचरण की प्रतिष्ठा और कदाचरण का निराकरण।
(ख) निर्गुण आस्तिकता का प्रचलन।
(ग) सद्विचारों का प्रचार।

---

[1] कबीर वचनावली पृ० १६६ पद १३८

[2] चरनदास की बानी भाग १ पृ० ८३
औरन कूँ उपदेश करि भजन करै निःकाम

[3] कबीर ग्रंथावली—पृ० १०६

[4] सुंदर विलास पृ० १२१
'ज्ञानी लोक संग्रह कूँ करत व्यवहार विधि—

(घ) दूषित सामाजिक व्यवस्थाओं का खंडन और सद्वीकृत सामाजिक व्यवस्थाओं का मंडन।

(ङ) समाज के पारम्परिक भेदभाव को दूर करने का प्रयास।

(क) समाज में सत्याचरण की प्रतिष्ठा और कपटाचरण की निंदा— हम पीछे दिखा आये हैं कि मध्ययुगीन समाज में सत्याचरण का ह्रास और कपटाचरण का प्रचार होता जा रहा था। संत कबीर ने सत्याचरण का उपदेश देते हुए लिखा है—मनुष्य को भगवान् से सच्चा व्यवहार रखना चाहिए और दूसरों से भी सरल व्यवहार करना चाहिए यही सम्पूर्ण सार है। ऐसा करने पर कोई भी वेशभूषा बनाई जा सकती है उससे कोई अंतर नहीं पड़ता। चाहे सिर मुंडा डाला जाय अथवा जटाएँ रख ली जायें। चरनदास ने सत्याचरण की प्रशंसा और कपटाचरण की निन्दा और भी अधिक प्रभावपूर्ण शब्दों में की है।[1] सन्त कबीर और दादू का दृढ़ विश्वास था कि बिना हृदय शुद्ध हुए भगवान् नहीं मिल सकता।[2]

(ख) निर्गुण आस्तिकता का प्रवर्तन— मध्ययुगीन समाज में सगुणवाद ने बड़ा विकृत रूप धारण कर लिया था। मूर्तिपूजा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। लोग भगवान् के सच्चे स्वरूप को भूलकर मिथ्याडंबरों में पैठ गये थे। कबीर ने ठीक यही लिखा है।[3] संतों ने सगुणवाद का मूलोच्छेद करके निर्गुणवाद का प्रवर्तन किया। इसके लिए उन्होंने बहुदेववाद, मूर्तिपूजा आदि का खंडन करके ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा की थी। धर्म साधना के प्रसंग में हम इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाल चुके हैं। अतः यहाँ पर पिष्टपेषण करना आवश्यक नहीं समझते।

(ग) सदाचारों का प्रचार—मध्ययुग में सदाचारों के स्थान पर मिथ्याचारों का प्रचार बढ़ गया था। सन्तों ने मिथ्याचारों का खंडन करके सदाचार को धर्म का प्रधान तत्त्व घोषित किया है। सन्तों ने सिद्धांत रूप से जितनी शक्तियाँ कही हैं उन सबमें सबसे अधिक महत्त्व सदाचार को ही दिया गया है। संत कबीर ने संत मत का सार आत्म-त संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया है—सन्त वही है जो निर्वैरी

---

[1] साँच की दृ ष्याव नाहि जो कूँड कपट बड़ाव—भीष्मप्रकरण की बानी पृ० १

[2] हरि न मिलै बिन हृदय शुद्ध—कबीर ग्रंथावली—पृ० ९१७
इस प्रकार दादू भी लिखते हैं – हृदय कपट क्यों मिलै गुसाईं। दादूबानी भाग १ पृ० १३८

[3] भूला मारि सब साधी सर्गि—कबीर बीजकसी पृ० १२८

और निष्काम होकर भगवान् के ध्यान में मग्न रहता है तथा विषय वासनाओं से दूर रहता है।[1]

दूषित सामाजिक प्रथाओं और व्यवस्थाओं का खंडन और सहजीकृत सामाजिक व्यवस्थाओं का मंडन—मध्य युग में अनेक दूषित सामाजिक व्यवस्थाएँ प्रचार कर रही थीं। इनमें से कुछ तो मूलतः सात्त्विक और श्रेष्ठ थीं किन्तु समय के प्रवाह में पड़कर दूषित हो गई थीं और कुछ मूलरूप में दूषित और तामसिक थीं। प्रथम कोटि की व्यवस्थाओं में छुआछूत की प्रथा सबसे प्रमुख है। दूसरी कोटि की विविध प्रकार की जटिल एवं अन्धविश्वासपूर्ण साधनाएँ आवेंगी। इनका थोड़ा सा खंडन कुछ कबीर और पलटू ने किया है। संतों में इन सबके प्रति प्रतिक्रिया जाग्रत हुई थी। इसीलिए उन्होंने कुठाराघात करके उनके स्थान पर सहजीकृत अथवा सदाचार प्रधान मानवात्मक व्यवस्थाओं का मंडन किया है। कबीर ने एक स्थल पर बहुत सी दूषित व्यवस्थाओं का खंडन करके एक राम-नाम से उन सबका सहजीकरण कर डाला है।[2] तत्कालीन समाज में वेशाडंबरवादी बहुत से साधु सम्प्रदाय का भी बोलबाला था। सन्तों ने उनके भेष की निन्दा करके उनका सहजीकरण भी किया था। धर्म साधना के प्रसंग में उनकी चर्चा कर आए हैं।

छुआछूत की प्रथा अपने मूलरूप में बड़ी सात्त्विक है किन्तु मध्ययुग में वह बहुत

---

[1] निर्बैरी निहकाम्ता साईं सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै संतन का अंग एह। कबीर ग्रंथावली पृ० २०

[2] इक पढ़हि पाठ इक भ्रमहि उदास।
इक नगन निरन्तर रहैं निवास।
इक जोग जुगति तन होंहि खीन।
ऐसे रामनाम संगि रहै न लीन।
इक होंहि दीन इक देहि दान।
इक करै कलापी सुरापान।
इक तंत मंत औषधबान।
इक सकल सिद्ध राखै अपान।
इक धोम घोटि होंहि तन स्याम।
यूं मुकति नहीं बिन राम नाम। कबीर ग्रंथावली पृ० ११६

विस्मृत हो गई थी। आठ कनौजिया नौ चूल्हे वाली बात तो लोकप्रसिद्ध है। छुआछूत की प्रथा इस सीमा तक पहुँच गई थी कि सास बहू की और पति-पत्नी तक का छुआ हुआ नहीं खाते थे। इस छुआछूत की प्रथा पर कुठाराघात करते हुए कबीर ने बड़ा व्यंग्यपूर्ण बुद्धिवादी तर्क भी प्रस्तुत किया है।[1] उन्होंने इसी प्रकार की अन्य सामाजिक कुप्रथाओं और कुरीतियों का भी डटकर विरोध किया था। विस्तार भय से सबका उल्लेख नहीं किया जा सकता है।

समाज के भेद-भाव को दूर करने का बुद्धिवादी प्रयास—
हिन्दू समाज में भेदभाव का प्रमुख कारण वर्णाश्रम व्यवस्था अपने मूल में तो बड़ी ही अच्छी थी किन्तु मध्ययुग में उसने भयंकर रूप धारण कर लिया था। ब्राह्मण लोग वैश्यों और शूद्रों को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा करते थे। इसी प्रकार हिन्दू लोग यवनों से घृणा करते थे। यही घृणा पारस्परिक विद्वेष का कारण बन गई। इस द्वेष-भाव का मूलोच्छेद करने की कामना से सन्तों ने वर्ण-व्यवस्था का खंडन कर उसके मौलिक रूप को प्रतिपादित किया। हिन्दू और मुसलमानों के भेद के कारण को पूछते हुए प्राणनाथ कहते हैं—हिन्दू और मुसलमानों में परस्पर भेद-भाव क्यों माना जाता है। सभी एक ही मार्ग से आये हैं। ब्राह्मण और शूद्र में भी क्या भेद है दोनों के एक समान ही हाड़ मांस शरीर आदि होते हैं। रक्त और वीर्य भी एक ही होते हैं। अतः छत्तीस जातियाँ एक ही मानव जाति का अंग हैं। वास्तव में एक ही हैं और अनेक भेद मिथ्या हैं।[2] उन्होंने शब्दों की उपेक्षा ही नहीं की है वे आगमों में भी विश्वास नहीं करते थे। चरनदास ने लिखा है—

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० १४४
एकै पवन एक ही पानी करी रसोई न्यारी जानी।
माटी सूँ माटी ले पोती लागी कहौ कहाँ धूँ छोती॥

[2] कैसे हिन्दू तुरक कहाया,
सबही एकै द्वारे आया।
कैसे ब्राह्मन कैसे सूद्रा,
एक हाड़ चाम तन गूदा।
एकै बिन्दु एकै भगद्वारा
एकै सबका बोलनहारा।
कौम छत्तीस एकै जाती
एक कुल एकै परिवारा।
एक बीज सबकी उत्पति। सन्त बानी संग्रह भाग १ पृ० १२६

चार बरन आश्रम नाहीं, जाति कर्म ना कोई।[1]

संतों ने वर्ण-व्यवस्था का सहजीकरण भी किया है। यह सहजीकरण भक्ति के द्वारा किया गया है। संत रैदास ने लिखा है — ब्राह्मन, बैस, सूद, क्षत्री, डोम, चण्डाल, मलेच्छ कोई भी क्यों न हो भगवान् के भजन से पवित्र हो जाता है। वह अपनी और अपने कुल का भी उद्धार करता है।[2] इसी प्रकार पलटू ने भी घोषणा की है — कोई जाति नहीं पूछता, जो हरि भजता है वही ऊँचा होता है।[3]

संतों का साम्यवाद — इसी प्रसंग में हम सन्तों के साम्यवाद की चर्चा भी कर देना चाहते हैं। संतों की समाज को सबसे बड़ी देन साम्यवाद है। सन्तों के साम्यवाद के सम्बन्ध में बड़ी भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। कुछ लोग उसे इस्लामी साम्यवाद का रूपान्तर समझते हैं कुछ उसे भौतिक साम्यवाद का मानते हैं। इसके विपरीत कुछ उन्हें अराजकतावादी और कुछ क्रांतिकारी कहने में नहीं हिचकिचाते। वास्तव में संत लोग इनमें से कुछ भी नहीं थे। सन्तों को अराजकतावादी तो किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता। अराजकतावादियों का लक्ष्य सब प्रकार की राजकीय व्यवस्थाओं का विनाश करना होता है। सन्तों ने राजनीतिक मामलों में कभी भी हस्तक्षेप करने की चेष्टा नहीं की थी। सन्तों को सामाजिक या धार्मिक अराजकतावादी भी नहीं कह सकते क्योंकि उनके खण्डनात्मक पक्ष से उनका भावनात्मक और सृजनात्मक पक्ष कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। अराजकतावादियों में सृजनात्मक प्रवृत्ति नहीं रहती। इसके अतिरिक्त संतों की खण्डनात्मक प्रवृत्ति भी धर्मनिष्ठा, लोकमंगल, लोकहित, बुद्धिवादिता जैसी उदात्त वृत्तियों पर आधारित थी। उनका लक्ष्य केवल ध्वंस मात्र करना न था।

सन्तों के साम्यवाद को हम इस्लामिक साम्यवाद का रूपान्तर भी नहीं कह सकते। इस्लामिक साम्यवाद की आधारभूमि धार्मिकता और संकीर्णता है। इस्लाम में धर्म और समाज की दृष्टि से सब बराबर समझे जाते हैं। सन्तों का साम्यवाद आध्यात्मिक अधिक था और सामाजिक बाद का। अतः उसे इस्लामिक साम्यवाद नहीं कह सकते।

सन्तों का साम्यवाद प्लेटो और मूर के साम्यवादों से भी भिन्न था। प्लेटो का

---

[1] चरनदास की बानी भाग २ पृ० ११

[2] ब्राह्मन बैस सूद अरु क्षत्री डोम चण्डाल मलेच्छ मन सोय।
होइ पुनीत भगवन्त भजन तें आपु तारि तारै कुल दोय।। [illegible]

[3] पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० २१

सामाजिक साम्यवाद केवल स्त्री और पुरुषों का साम्यवाद था । संतों ने प्राणिमात्र की एकता पर बल दिया है । सूर के नैतिक साम्यवाद से भी यह भिन्न है । सूर का नैतिक साम्यवाद अनाचरणार्थ आदर्शवाद है इतने पर भी बहुत ही संकुचित है । संतों का साम्यवाद इससे कहीं ऊँची वस्तु है । उसकी आधारभूमि अध्यात्म है । उस अध्यात्म को भी उन्होंने अपने जीवन में चरितार्थ करके दिखाया था । भौतिक साम्यवाद से संतों के साम्यवाद की कोई तुलना ही नहीं है । संतों का विश्वास था कि आत्मा एक और अद्वैत रूप है । केवल माया भेद के कारण नाना रूप और वर्ण दिखाई पड़ते हैं ।[1] गुलाल, रज्जब आदि कुछ संतों ने आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों आधारों के साम्य पर बल दिया है । वे ब्रह्मरूपी बीज से उद्भूत समस्त मानवों को एक ही जाति और परिवार का मानते थे । इसके अतिरिक्त हाड़, मांस, चाम तथा उत्पत्ति मार्ग के साम्य के कारण भी उनको समान ही समझते थे ।[2] यह साम्यवाद मानव के विकास की पराकाष्ठा है । वह भगवान् रूप हो जाता है ।[3] श्री रज्जब समस्त सृष्टि को एकत्व का खेल मानते हैं । उनकी दृष्टि में इसीलिए समस्त दृष्टि भेद भाव हीन है ।[4] अतः स्पष्ट है कि संतों का साम्यवाद अन्य प्रकार के साम्यवादों की अपेक्षा

---

[1] दादू बानी भाग २ पृ० १००

१ दादू इनकै आतम एक अहिसा सुखिया सकल अनेक ।

२ संत सुधासार पृ० १८१

पूरन ब्रह्म विचारिये सकल आतमा एक ।

काया के गुण देखिये नाना वरण अनेक ॥

३ सब घट आतम एक विचारी राम ।

४ संत सुधासार पृ० ११२ ।

सब हम देखा सोधि करि दूजा नाहीं आन ।

सब घट एकै आतमा क्या हिंदू क्या मुसलमान ॥

[2] संत बानी संग्रह पृ० १८२

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० १२०

कोहा कंचन सम कर जा नहि

ते मूरति भगवान्न ।

[4] संत सुधासार पृ० २१०

रज्जब समता ज्ञान विचारा ।

पंच तत्व का सकल पसारा ।

अधिक सूक्ष्म आधारों पर आधारित है। उसे आध्यात्मिक और आधिभौतिक साम्यवाद कहना अनुचित न होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों ने समाज क्षेत्र में कई बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य किये थे। उनके इन सामाजिक सुधारों से निम्नवर्ग के लोग बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। सच तो यह है कि सन्तों ने निम्नवर्ग के समाज की रूपरेखा ही बदल दी थी। उनमें उन्होंने आत्मसम्मान का भाव जाग्रत किया। उन्हें मानव बनकर रहना सिखलाया। इस उपकार के लिए भारतीय समाज संतों से कभी उऋण नहीं हो सकता।

आठवाँ अध्याय

संतों की बानियों की साहित्यिकता और अभिव्यक्ति—

सन्तों की बानियों के प्रमुख गुण

भावुकता—सजीवता—रसात्मकता—रस—उक्त्यात्मक चमत्कार शब्दगत—शब्दार्थों भयगत—अलंकार गत—अद्भुत वर्णन प्रधान

शैली—

गुरु उपदेशप्रधान शैली—अनुभूतिमिश्रित उपदेश प्रधान शैली—सुन्दर सम्मत शैली खंडन मंडन प्रधान शैली—नामप्रधान रहस्यात्मक शैली—साधनाप्रधान रहस्यात्मक शैली

प्रतीक—

सांकेतिक प्रतीक—पारिभाषिक प्रतीक—संख्यामूलक प्रतीक—रूपात्मक प्रतीक विरोधमूलक प्रतीक—

अभिव्यक्ति मूलक चमत्कार प्रधान रहस्यात्मक शैली

उलटवासी शैली—अलंकार प्रधान उलटवासियाँ—प्रतीक प्रधान उलटवासियाँ अद्भुत रस प्रधान उलटवासियाँ—

संधाभाषा और छन्द योग—

सन्तों की भाषा का स्वरूप

छंद—

साखी—शब्द—रमैनी—अरण

संतों की बानियों की साहित्यिकता

संतों ने काव्य-रचना नहीं की थी। फिर भी उनकी बानियाँ उत्तम काव्य का सुन्दर उदाहरण हैं। अपने इस कथन की सार्थकता स्पष्ट करने के लिए हमें थोड़ा सा विचार काव्य पर करना होगा। काव्य स्वरूप का विवेचन हमारे यहाँ दो दृष्टियों से किया गया है—१—शास्त्रीय दृष्टि से और २—आध्यात्मिक दृष्टि से। शास्त्रीय दृष्टि से काव्य का स्वरूप निरूपण करने का श्रेय काव्याचार्यों को है। काव्य का आध्यात्मिक

दृष्टि से निरूपण संहिताओं, उपनिषदों तथा कुछ अन्य शास्त्रीय ग्रंथों में मिलता है। शास्त्रीय और आध्यात्मिक भेद से मैं काव्य के दो प्रमुख प्रकार मानता हूँ। शास्त्रीय दृष्टि से आचार्य लोग कुछ विशेष साहित्यिक उपादानों से विशिष्ट रचना को ही काव्य कहते हैं। काव्य का आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करनेवालों का दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था। वे काव्य को किन्हीं साहित्यिक नियमों के कठघरे में बंद करके रखना नहीं पसंद करते थे। उनकी दृष्टि में आत्मा की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति ही काव्य होती थी। इस कोटि के काव्य को मैं आध्यात्मिक अथवा सहजकाव्य की संज्ञा देना अधिक उचित समझता हूँ।

संतों की रचना निर्विवाद रूप से दूसरी कोटि के अंतर्गत ही आती है। काव्य शास्त्र के अलंकार रीति गुण रस ध्वनि आदि तत्वों की कसौटी पर संत काव्य को कसने का प्रयास करने वालों को निराश ही होना पड़ेगा। संतों की रचनाएँ सहज काव्य की विभूति हैं। जिस प्रकार उन्होंने अन्य क्षेत्रों में सहजवाद का प्रतिपादन करने का प्रयास किया था उसी प्रकार काव्य क्षेत्र में भी उन्होंने आत्मा की सहजाभिव्यक्ति को ही महत्त्व दिया है। आत्मा की सहजाभिव्यक्ति की उन्हें एक लम्बी चौड़ी परंपरा प्राप्त हुई थी। यहाँ पर संक्षेप में उस परंपरा का संकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा।

अति प्राचीन काल में भारत में काव्य ज्ञान वाक् और ब्रह्म ये सब परस्पर पर्यायवाची समझे जाते थे। प्राचीन साहित्य में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद के वागाम्भृणीय सूक्त में वाक् का प्रयोग ठीक उसी प्रकार ब्रह्म के अर्थ में किया गया है जिस प्रकार गीता में कृष्ण का। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ११४ वें सूक्त में ब्रह्म और वाक् तत्व की एकता व्यंजित की गई है। उसमें वाक् का उतना ही विस्तार बताया गया है जितना ब्रह्म का है।[1] इसी संहिता में एक दूसरे स्थल पर उसे आनन्दरूपी कहा गया है।[2] इसी संहिता में उसे कामधेनु की संज्ञा भी दी गई है।[3] जिस प्रकार कामधेनु याचक को अभीप्सित फल प्रदान करती है, उसी प्रकार काव्य भी इस रूप से मनोवांछित फल प्रदान करता है। शुक्ल यजुर्वेद में कवि का प्रयोग परमेश्वर के अर्थ में किया गया है।[4] इसी प्रकार केनोपनिषद् में वाणी को ब्रह्मरूप कहकर काव्य या साहित्य को ब्रह्म का पर्यायवाची घोषित किया गया है।[5]

---

1 ऋग्वेद—१०।११४।८
2 ऋग्वेद—८।१००।१०
3 ऋग्वेद—८।१००।११
4 शुक्ल यजुर्वेद—४०।८ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः शुक्ल यजुर्वेद ४०।८
5 केन —१।४।५
यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी पुरुष[1] को वाङ्मय कहकर साहित्य की ब्रह्मरूपता ही प्रकट की गई है। इसी प्रकार वाक्यपदीय में शब्द को ब्रह्म रूप कहा गया है। काव्य को ब्रह्म मानने की परंपरा तभी तक जीवित रह सकी जब तक समाज में सहजज्ञान की प्रतिष्ठा रही। आगे चलकर ज्ञान के आनन्द का प्रतीक कम समझा जाने लगा। अन्य विधान उससे अलग होने लगे। इस अवस्था में भी उसकी आध्यात्मिक प्रतिष्ठा बनी रही। महाभारत में व्यास जी ने कृतमयेदं काव्यं परमपूजितम् लिखकर काव्य को जो प्रतिष्ठा दी थी उसका कारण 'उसकी की आध्यात्मिकता थी'। यहाँ तक कि भवभूति के समय में भी काव्य की आध्यात्मिक परंपरा के चिह्न विद्यमान थे। उन्होंने अपने उत्तररामचरित[2] में उसे आत्मा की कला कहकर इसी बात की व्यंजना की है। साहित्य में रीतियुग के प्रवर्तन से काव्य का प्रयोग पूर्ण लौकिक अर्थ में किया जाने लगा और उसके सहजरूप को साहित्य शास्त्र की अनेक अनावश्यक शृंखलाओं में जकड़ दिया। अलंकारवादियों ने तो उसके प्राण पर ही कुठाराघात करने की चेष्टा की थी। हेमचंद्र ने तो उसको जीवन से बिल्कुल अलग करने का ही प्रयास किया था।

जैसे रसवादी आचार्यों के प्रयत्न से काव्य में थोड़ी-बहुत आध्यात्मिकता की धूमिल छाया अवशेष रह पाई साहित्यिक शृंखलाओं से बँधकर काव्य का सहजरूप विकृत हो गया। उसका लक्ष्य केवल मनोरंजन भर माना जाने लगा। धीरे धीरे काव्य का यह विकृत स्वरूप ही रूढ़ हो गया अब काव्य से इसी रूढ़ि स्वरूप का बोध होता है। संतों ने जहाँ अन्य क्षेत्रों में रूढ़ियों का उच्छेद किया था वहीं काव्य के विकृतांगों का उच्छेद करके उसके सहजस्वरूप को सामने रखने की चेष्टा की थी। उनका काव्य उनकी आत्मा की निरुपधि सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि उसमें हमें आत्मतत्त्व की सत्, चित् और आनन्द इन तीनों विभूतियों की शाश्वतता सजीवता और रसात्मकता के रूप में पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। प्रत्येक सहजकाव्य के यही प्रमुख तीन तत्त्व होते हैं। संतों के काव्य का विश्लेषण हम इन्हीं तत्त्वों के आधार पर करेंगे।

शाश्वतता—सहजकाव्य कृत्रिम बंधनों से अपरिच्छिन्न होने के कारण अमर और चिरंतन होता है। संतों के सहज काव्य में यह विशेषता पूर्णरूप से प्रतिष्ठित है। *इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि अलंकार गुण रीति और ध्वनि आदि साहित्यिक* विधानों से विरहित होते हुए भी संसार के श्रेष्ठतम कवियों की रचनाओं के सदृश जीवित और समादृत है। संतों के सहज काव्य को अमरता प्रदान करने का श्रेय इन निम्नलिखित विशेषताओं को है—

---

[1] वाङ्मयः अयं पुरुषः—बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१

(१) संतों के काव्य में हमें अध्यात्म की प्रतिष्ठा मिलती है। अध्यात्म का विषय शाश्वत और चिरंतन है। इसीलिये संतों का काव्य भी शाश्वत और चिरंतन महत्त्व का है।

(२) इसमें मानव के सहज सार्वभौमिक सार्वकालिक धार्मिक सामाजिक और नैतिक भावों और विश्वासों की अभिव्यक्ति मिलती है। इसीलिए समय के प्रभाव में पड़कर भी नष्ट न हो सका।

(३) इसकी रचना किसी स्वार्थ भाव से नहीं वरन 'शिवेतररक्षये' का प्रयोजन सामने रखकर की गई थी। इसी लिए उसका इतना महत्त्व है।

(४) उसमें जीवन के अमरतत्त्व अंतर्निहित हैं। इन अमर तत्त्वों को देशकाल के बंधन नष्ट नहीं कर पाते।

(५) उसमें मानवजाति के लिए अमर संदेश भरा हुआ है। युग-युग तक मानव जाति इन संदेशों से प्रेरणा लेती रहेगी। इसीलिए साहित्यिक निधि के रूप उसकी रक्षा करनी चाहिए।

सजीवता—संतों की बानी में एक विचित्र सजीवता है एक अलौकिक चेतना है। उस सजीवता की कई आधारभूमियाँ हैं—

(१) आध्यात्मिक प्रणय की प्रतिष्ठा।
(२) आत्मानुभूतिगत माधुर्य।
(३) भावनात्मकता।
(४) रहस्यात्मकता।
(५) प्रतिभामूलक सजीवता।

आध्यात्मिक प्रणय की प्रतिष्ठा—संतों की बानियों में हमें आध्यात्मिक प्रणय की एक विचित्र स्फूर्ति मिलती है। उसमें एक अनिर्वचनीय प्रेरणा भरी हुई है। इस प्रेरणा का क्षेत्र सूफियों और भक्तों का है। सूफियों के ढंग का आध्यात्मिक प्रणय भाव का एक सुंदर उदाहरण संत दूलनदास से दिया जा सकता है[1]—

हुआ है मस्त मंसूर चढ़ा सूली न छोड़ा हक।
पुकारा इश्क बाजी को सदा मस्ता सभी बारक।
जो पीना प्यालिया हमारा दिल में है जा हक।
कहे यह नाम सूली का लगाय चढ़ि न भय शक।। इत्यादि

[1] संतबानी संग्रह—भाग २—पृ० १२१

होती है।[1] इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होंने परमात्मा विषयक रति की परिभाषा देते हुए लिखा है कि सच्चा प्रेम[2] उसी को कहते हैं। जिसमें प्रेमी और प्रेमिका का पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। उस आध्यात्मिक रति भाव की पहचान यह है कि जिसमें यह उत्पन्न होता है उसके रक्त और मांस नहीं रहता।[3] इस प्रेम के उत्पन्न होते ही साधक की सारी सुध-बुध भूल जाती है।[4] जिसे इस भाव का परम रस लग जाता है वह समस्त ऋद्धि-सिद्धियों को तुच्छ समझने लगता है। यहाँ तक कि मुक्ति आदि भी महत्वहीन लगने लगती है।

विभाव—संतों के भक्तिरस का आलंबन निर्गुण राम हैं। उसका वर्णन उन्होंने अनेक प्रकार से किया है। भक्ति के प्रसंग में हम उसकी विविध झाँकियाँ दिखा चुके हैं। यहाँ पर केवल एक दो उदाहरण देकर ही भक्ति रस के परिपाक में उसका स्थान निरूपित करेंगे। भक्ति रस का आलंबन ज्ञानमार्गीय निर्गुण ब्रह्म नहीं हो सकता। इसीलिए संतों ने बहुत से स्थलों पर अपने निर्गुण राम का सगुणीकरण कर डाला है। संत कबीर लिखते हैं[5]—

भज नारदादि सुकादि वंदित चरन पंकज भामिनी।
भजि भजसि भूषन पिया मनोहर देवदेव सिरोमनी॥
बुधि नाभि चंदन चरचिता तन रिदा मंदिर भीतरा।
राम राजसि नैन बानी सुजान सुंदर सुंदरा॥
बहु पाप परबत छेदना भौ ताप दुरिति निवारणा।
कहै कबीर गोब्यंद भजि परमानंद वंदित कारणा॥

उद्दीपन रूप में संतों ने वैराग्य सदाचरण भजन आदि का उल्लेख किया है। उनकी बानियों में इससे संबंधित सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। गुलाल साहब की उक्ति इस प्रकार है[6]—

काम क्रोध मद ममता त्यागी
प्रभु चरन मंह पागी॥

---

[1] दादू दरिया प्रेम का तामैं झूलै दोय।
इक आतम परमात्मा एक मेक रस होय॥ संत सुधासार—पृ० ४४२

[2] आशिक माशूक है गया इश्क कहावै सोय।
दादू उस माशूक का अल्लहि आशिक होय॥ दादू भाग १ पृ० ४४

[3] जिस घट इश्क का तिस घट लोहि न मांस। दादू बानी भाग १ पृ० ४२

[4] सुध-बुध सब गई लोइ री मैं इश्क दीवानी—रामबानी ढंपद पृ० १८

[5] कबीर ग्रंथावली पृ० ३१८ संस्करण १९२८

[6] गुलाल साहब की बानी पृ०

भक्ति के संचारी या व्यभिचारी भावों की संतों में बड़ी सुन्दर झाँकी मिलती है। इन व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति दो रूपों में हुई भी है। १—प्रत्यक्ष रूप में और २—पति पत्नी के प्रतीकों के माध्यम से। प्रधानता द्वितीय प्रकार की है। उदाहरण रूप में पलटू साहब की निम्नलिखित उक्ति ली सकते हैं। इसमें दैन्य और आवेग आदि कई संचारियों का समन्वित रूप देखा जा सकता है[1]—

पिया पिया बोलै पपीहा है।
मयद सुनत फटै हिया है॥
सोवत में मैं चौंक परी है।
धधक धधक करै जिया है॥

अनुभाव—परमात्मा परम रति भाव के उद्दीप्त होने पर उसके अनुभाव स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। उनमें से कुछ का सुंदर बयान सहजोबाई ने इस प्रकार किया है। परमात्मा के प्रेम रस से परिपूर्ण भक्त रोता गाता है और अटपटी बात करता है।[2] सन्त चरनदास[3] कृत अनुभावों का बयान भी दृष्टव्य है—

यद्रुतन की मति रंग रँगी है जिनको लागी प्रेम।
यद्रुतन को अपना सुधि नाहीं कौन करै अम नम॥
यद्रुतन की गदगद की बानी नैनन नीर बहाय।
यद्रुतन की बाँवरापन लागी हाँ की कहा न जाय॥

इसी प्रकार कबीर के नैनों की लालिमा कितनी मार्मिक है[4]—

आँखड़िया प्रेम कसाइयाँ लोग जानहिं दुखड़ियाँ।
अपने साईं कारणै रोई रोई रतड़ियाँ॥

इसी प्रकार अन्य अनुभावों के भी अनेक चित्र ढूँढ़े जा सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों की बानियों में भक्ति रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। यहाँ पर यह स्मरण रखना पड़ेगा कि सन्तों में हमें शृंगार का जो स्वरूप दिखाई पड़ता है उसकी अभिव्यक्ति रहस्य भावना के संपूर्ति के कारण हुई है। उस शृंगार

---

[1] पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० ९०

[2] रोय गाय नाचन हँसन कहा अटपटी बात।
हरि रस माते जन रहैं निमख सदा पगात॥ सहजोबाई—पृ० ६

[3] चरनदास की बानी भाग १—पृ० ५०

[4] कबीर ग्रंथावली—पृ० ६

होती है।[१] इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होंने परमात्मा विषयक रति की परिभाषा देते हुए लिखा है कि सच्चा प्रेम[२] उसी को कहते हैं। जिसमें प्रेमी और प्रेमिका का पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। उस आध्यात्मिक रति भाव की पहचान यह है कि जिसमें यह उत्पन्न होता है उसके रक्त और मांस नहीं रहता।[३] इस प्रेम के उत्पन्न होते ही आत्मा की सारी सुध-बुध भूल जाती है।[४] जिसे इस भाव का चस्का लग जाता है वह समस्त मुक्ति सिद्धियों को तुच्छ समझने लगता है। यहाँ तक कि मुक्ति आदि भी महत्त्वहीन लगने लगती है।

विभाव—संतों के भक्तिरस का आलंबन निर्गुण राम हैं। उसका वर्णन उन्होंने अनेक प्रकार से किया है। भक्ति के प्रसंग में हम उसकी विविध सूक्तियाँ दिखा चुके हैं। यहाँ पर केवल एक दो उदाहरण देकर ही भक्ति रस के परिपाक में उसका स्थान निरूपित करेंगे। भक्ति रस का आलंबन ज्ञानमार्गीय निर्गुण ब्रह्म नहीं हो सकता। इसीलिए संतों ने बहुत से स्थलों पर अपने निर्गुण राम का सगुणीकरण कर डाला है। संत कबीर लिखते हैं[५]—

मज नारदादि सुकादि वंदित चरन पंकज भामिनी।
भजि भजिसि भूषन पिया मनोहर देवदेव सिरोमनी॥
बुधि नाभि चंदन चरचिता तन रिदा मंदिर भीतरा।
राम राजसि नैन बानी सुजान सुंदर सुंदरा॥
बहु पाप परवत छेदना भौ ताप दुरिति निवारणा।
कहै कबीर गोब्यंद भजि परमानंद वंदित कारणा॥

उद्दीपन रूप में संतों ने वैराग्य सदाचरण भजन आदि का उल्लेख किया है। उनकी बानियों में इससे संबंधित सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। गुलाल साहब की उक्ति इस प्रकार है[६]—

काम क्रोध मद ममता त्यागी
प्रभु चरन मोह पागी॥

---

[१] दादू हरिया प्रेम का साँसी कुली घोव।
इक आत्मा परमात्मा एक भेक रस होय॥ संत सुधासार—पृ० ४११
[२] आशिक मासूक है गया इश्क कहावै सोय।
दादू उस माशूक का आशिक होय॥ दादू भाग १ पृ० ४४
[३] जिस घट इश्क का तिस घट लोहि न मांस। दादू बानी भाग १ पृ० ६६
[४] सुध-बुध सब गई छौडी मैं इश्क दीवानी—प्रणामी संग्रह पृ० १८
[५] कबीर ग्रंथावली पृ० १९८ संस्करण १९२८
[६] गुलाल साहब की बानी पृ०

भक्ति के संचारी या व्यभिचारी भावों की संतों में बड़ी सुन्दर झाँकी मिलती है। इन व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति दो रूपों में हुई भी है। १—सरपष्ट रूप में और २—पति-पत्नी के प्रतीकों के माध्यम से। प्रधानता द्वितीय प्रकार की है। उदाहरण रूप में पलटू साहब की निम्नलिखित उक्ति ले सकते हैं। इसमें दैन्य और आवेग आदि कई संचारियों का समन्वित रूप देखा जा सकता है[1]—

पिया पिया बोल पपीहा है।
सबद सुनत फटै हिया है॥
मोपत में मैं चौंक परी है।
धकर धकर करै जिया है॥

अनुभाव—परमात्मा परक रति भाव के उदीप्त होने पर उसके अनुभाव स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। उनमें से कुछ का सुंदर बखान सहजोबाई ने इस प्रकार किया है। परमात्मा के प्रेम रस से परिपूर्ण भक्त रो-रो गाता है और अटपटी बात करता है।[2] सन्त चरनदास[3] कृत अनुभावों का वर्णन भी दर्शनीय है—

पहुतन की मति रंग रँगी है जिनको लागी प्रेम।
पहुतन को अपनी सुधि नाहीं कौन करे अस नेम॥
पहुतन की गदगद की बानी नैनन नीर बहाय।
पहुतन की बौरापन लागो ज्यों की कही न जाय॥

इसी प्रकार कबीर के नेत्रों की लालिमा कितनी मादक है[4]—

आँखड़िया प्रेम कसाइयाँ लोग जानहिं दूखड़िया।
साईं अपने कारणे रोई रोई रातड़ियाँ॥

इसी प्रकार अन्य अनुभावों के भी अनेक चित्र ढूंढ़े जा सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों की बानियों में भक्ति रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि सन्तों में हमें शृंगार का जो स्वरूप दिखाई पड़ता है उसकी अभिव्यक्ति अथवा भक्ति दृष्टि के कारण हुई है। उस शृंगार

[1] पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० १७
[2] रोय रोय गावत हँसत कहत अटपटी बात।
हरि रस माते ज रहै तिनका मता अगाध ॥ रवाबाद—पृ० ६
[3] चरनदास की बानी भाग १—पृ० २०
[4] कबीर ग्रंथावली—पृ० ३

का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वह भक्ति का ही एक अंग है। यही कारण है कि सन्तों के शृंगारिक चित्रों में कहीं पर भी वासना की दुर्गन्ध नहीं आती।

भक्ति के अतिरिक्त सन्तों की बानियों में शान्त और अद्भुत रस का भी अच्छा स्फुरण हुआ है। अभिनवगुप्त ने शांत रस के अंगों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि शांत रस के विभावादि वैराग्य संसार भय आदि हैं। मोक्षशास्त्रादि की चिंता अनुभाव होते हैं। निर्वेद मति स्मृति धृति आदि व्यभिचारी होते हैं।[1] शम तो उसका स्थायी है ही। शांतिरस के उपर्युक्त समस्त अंगों की अभिव्यक्ति भी सन्तों में मिलती है। शम भाव की व्यंजना के लिए हम पलटू साहब की यह उक्ति देख सकते हैं—

मगन अपने ख्याल में भाड़ परे संसार।[2]

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आनेवाली कुछ उक्तियाँ इस प्रकार हैं—

पलटू दास तजो मृगतृष्णा झूँठा सकल पसारा है।[3]

यह संसार रैन का सपना ल्यों भ्रम सीपी केंय।[4]

इसी प्रकार ढूँढने से व्यभिचारी भावों के उदाहरण मिल जाते हैं। अतः मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि सन्तों में शान्तरस की सुन्दर व्यंजना पाई जाती है। सन्तों की बानियों में अद्भुत रस के भी बहुत से उदाहरण मिलते हैं। उनकी उलटबाँसियों में अधिकतर अद्भुत रस ही मिलता है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित उक्ति ले सकते हैं[5]—

ऐसा अद्भुत मेरे गुरु कथ्या मैं रह्या उमेखे।
मूसा हस्ती सो लरै कोई बिरला पेखै॥
मूसा पैठा बाम्बि मैं लारै सापणि धाई।
उलटि मूसै सापणि गिली यह अचरज भाई॥
चींटी परबत ऊखण्या ले राख्यो चौड़े॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों में भक्ति और शान्त रस मुख्य है शृंगार और

---

[1] तत्त्वज्ञान वैराग्य संसारभीरुत्वादयो विभावाः मोक्ष शास्त्रचिन्तादयो ऽनुभावाः निर्वेदस्मृति मति स्मृति धृत्यादिव्यभिचारिणः ॥
शमस्थायी होता   अभिनवभारती भारतिय पृ० ६१०
[2] पलटू साहब भाग १ पृ० ३०
[3] पलटू साहब भाग ३ पृ० ७०
[4] पलटू साहब भाग ३ पृ० ६९
[5] कबीर ग्रंथावली—पृ० १४१

अद्भुत गाथ है। अन्य रसों के उदाहरण ढूँढने से मिल तो जायँगे किन्तु शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं है।

ऊहात्मक चमत्कार—संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने काव्य में चमत्कार के अस्तित्व पर विशेष बल दिया है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने यह चमत्कार अविचारित रमणीय, विचार्यमाण रमणीय, समस्त सूक्त व्यापी, सूक्तैकदेश दृश्य, शब्दगत, अर्थगत, उभयगत, अलंकार गत, रसगत, रसालंकारगत भेद से १० प्रकार का माना है। किन्तु आचार्य विश्वेश्वर ने चमत्कार चन्द्रिका में चमत्कार के आठ ही प्रकार बताये हैं—गुणगत, रसगत, वृत्तिगत, पाकगत, शय्या और अलंकार गत। वस्तुतः ये दोनों यह विभाजन उन आचार्यों के हैं जो चमत्कार को काव्य का प्राण मानते थे। मैं इन आचार्यों के मत से सहमत नहीं हूँ। केवल चमत्कार ही काव्य का प्राण नहीं हो सकता। काव्य तमाशा नहीं है यह एक ऐसा शब्दार्थमय दर्पण है जिसमें कवि मनस्तत्त्व हृदयतत्त्व, बुद्धितत्त्व और आत्मतत्त्व प्रतिबिम्बित होते हैं। जिस कवि की आत्मा के जितने आवरण उन्मुक्त होते हैं उसकी अभिव्यक्ति में उतनी ही दिव्यता होती है। जिस कवि की वाणी में उसका मन अधिक प्रतिबिम्बित होगा उसके काव्य में कल्पना चलित मनश्चमत्कार ही हो जायगा। जिस कवि की रचना में उसका हृदय उभर आयेगा उसकी वाणी में साहित्यिक रसों का स्वरूप ही अधिक परिलक्षित मिलेगा। जिसकी अभिव्यक्ति में बुद्धि प्रतिबिम्बित होगी उसकी रचना में दार्शनिकता की मात्रा अत्यधिक होगी या फिर ऊहात्मक चमत्कार की प्रधानता होगी। जो कवि अपने शब्दार्थों के दर्पण में अपनी आत्मा ही उतार कर रख देता है वही सच्चा आत्मसिद्ध कवि कहलाने का अधिकारी होता है। साहित्यिक दृष्टि से विश्व का श्रेष्ठ कवि उसी को कहना चाहिए जिसके काव्य में उसके मन, हृदय, बुद्धि और आत्मा सबका पूर्ण और परिष्कृत अवतारणा मिले। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य में तुलसी ही सर्वश्रेष्ठ कवि ठहरते हैं। उनमें हमें सबकी अवतारणा एक साथ मिलती है। सन्तों की बानियों में हमें उनकी आत्मा और बुद्धि का अभिव्यक्ति अधिक मिलता है। हृदय और मनस्तत्त्व की अभिव्यक्ति तो कुछ ही रचनाओं में मिलती। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ दार्शनिकता और रहस्यता के अतिरेक से युक्त होते हुए भी विश्व के श्रेष्ठतम काव्य का रूप नहीं कही जा सकती। हाँ यदि आत्मा के अभिव्यंजन की दृष्टि से देखा जाय तो उनकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में की जायगी।

हम ऊपर कह चुके हैं कि सन्तों की बानियों में हमें उनकी आत्मा और उसके बाद उनकी बुद्धि प्रतिबिम्बित मिलती है। आत्मा की अभिव्यंजना के फलस्वरूप उनमें रहस्य और दार्शनिकता का प्राचुर्य दिखाई मिलता है। बुद्धि की अभिव्यंजना होने के कारण उनमें विविध प्रकार के बुद्धिमूलक चमत्कारों के दर्शन होते हैं। सन्तों में पाये जानेवाले प्रमुख बुद्धिमूलक चमत्कार इस प्रकार हैं—

(१) शब्दगत चमत्कार।
(२) शब्दार्थोंभयगत चमत्कार।
(३) अलंकारगत चमत्कार।
(४) अद्भुत वर्णन प्रधान चमत्कार।

शब्दगत चमत्कार—काव्य को शब्दमय माननेवाले आचार्यों की दृष्टि में इस कोटि के चमत्कार का बहुत बड़ा महत्त्व है। संतों को अपने विरोधी पंडितों से सदैव ही मोर्चा लेना पड़ता था। वे बेचारे शास्त्रार्थ करना तो जानते नहीं थे। अतः उन्होंने पराजित करने की क्षमता से वे विविध प्रकार के चमत्कारों से शब्दगत चमत्कार प्रथम और प्रमुख हैं। संतों की वानियों में इस चमत्कार की अभिव्यक्ति द्विविध है—

(१) पारिभाषिक शब्दगत।
(२) शब्दौचित्यगत।

(१) पारिभाषिक शब्दगत चमत्कार—पारिभाषिक शब्दगत चमत्कार से तो संतों की वानियाँ भरी पड़ी हैं। उदाहरण के लिए हम दादू की निम्नलिखित पंक्ति ले सकते हैं।

गंगा उलटी फेर कर जमुना माहे आनि। दादू बानी भा० १ पृ० ६

यहाँ पर गंगा और जमुना पारिभाषिक शब्द हैं। इनका प्रयोग प्राण और अपान के लिए किया गया है। इनके प्रयोग से उक्ति में एक अद्भुत चमत्कार आ गया है।

शब्दौचित्यगत चमत्कार—इस प्रकार के सहस्रों उदाहरण संतों में मिलते हैं किन्तु जहाँ कहीं इस चमत्कार की योजना की गई है वह अपने ढंग की अनूठी है।[1]

गगन भवन मा गगन मगन में बिन दीपक उजियारी।
झलकि चमकि यह रूप पियाजी मिटी सकल अँधियारी॥

यहाँ पर गगन मगन का अनुप्रास तो स्पष्ट है। किन्तु महत्त्वपूर्ण बात झलकि और चमकि शब्दों का औचित्य है। अँधियारी मिटाने के भाव के अनुकूल ही यहाँ पर 'झलकि' और 'चमकि' शब्दों का औचित्यपूर्ण प्रयोग किया गया है।

शब्दार्थोंभयगत—यदि काव्य में शब्दार्थोंभयगत चमत्कार की प्रतिष्ठा हो जाय तो स्वर्ण सुगंध संयोग समझना चाहिए। इसीलिए कुंतक आदि आचार्यों ने

[1] संतबानी संग्रह भाग २—पृ० ८६

इस पर विशेष बल दिया है। इसके उदाहरण रूप में हम निम्नलिखित उद्धरण ले सकते हैं—

> सजनि रजनि घटती जाय।
> पलपल छीजे अवधि दिन आवै अपनी लाल भराय ॥

यहाँ पर सजनि रजनि का अनुप्रासगत साम्य तो शब्दगत चमत्कार का द्योतक है। रजनि का प्रयोग कालुष्यपूर्ण जीवन के प्रतीक रूप में किया गया है। इसी प्रकार लाल शब्द एक ओर तो परदेशी प्रियतम का वाचक है दूसरी ओर उस कालुष्यपूर्ण जीवन को प्रकाशित करने में समर्थ अरुण का द्योतक भी है। इस प्रकार इस उक्ति में शब्दार्थोभयगत चमत्कार से चार चाँद लग गये हैं।

अलंकारगत चमत्कार—संस्कृत साहित्य में अलंकारवाद की बड़ी धूम रही है। यही कारण है कि जब आचार्य मम्मट ने काव्य की परिभाषा में अनलङ्कृती शब्द का प्रयोग किया तो यहाँ तक कह डाला कि जो लोग काव्य को अलंकाररहित मानते हैं वे अग्नि को उष्णतारहित क्यों नहीं मानते।[1] जयदेव की इस आलोचना का प्रत्युत्तर देते हुए मम्मट के अनुयायियों ने कहा कि अनलङ्कृती से आचार्य का तात्पर्य अलंकार विहीनता से नहीं अस्फुटालंकारयुक्तता से है। अस्फुट अलंकारयुक्त रचना काव्य हो ही नहीं सकती। क्योंकि आनन्दवर्धनाचार्य ने आदि कवि के आदि श्लोक को ही सत्काव्य का उदाहरण माना है। उसमें अस्फुट अलंकार की योजना की गई है।[2] अस्फुट अलंकार किसी भी सुन्दर ढंग से कही हुई उक्ति में स्वयमेव आ जाते हैं। प्रयत्नपूर्वक उनकी योजना की आवश्यकता नहीं होती। असली वस्तु रस है। यदि किसी उक्ति में माधुर्य है तो वह काव्य की श्रेणी में आ सकती है। उसमें स्फुटालंकार हो या नहीं। यही बात ध्वनिकार ने भी लिखा है। इस अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रसनाभ्यास कारण स्वयं आनन्दप्रद होता है। अतः उसमें अलंकारों की स्थिति आवश्यक नहीं होती है।[3]

---

[1] चन्द्रालोक—जयदेव १।८
अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती ॥

[2] मानिषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

[3] अतएव रसानुगुणार्थविन्यासे अलंकाररहिते हि पुष्पानितरां पुष्णन्ति। ध्वन्यालोक की टीका।

संत लोग भी मम्मट और अभिनव के ही सदृश काव्य में अर्थ के आत्मभूत तत्त्व रस और ध्वनि को आवश्यक मानते थे अलंकारों को नहीं। संत सुंदरदास ने काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसमें अर्थ सौष्ठव को ही महत्त्व दिया है। उन्होंने अलंकारों का नाम भी नहीं लिया है। संतों ने[1] वैसे भी अलंकारों की योजना करने का इरादतन् प्रयत्न नहीं किया था। सुन्दरदास आदि ने दो-एक पद लिखे थे। संतों को छोड़कर और लोग अलंकार शब्द से भी परिचित न हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

यद्यपि संतों ने अपनी बानियों में काव्य की योजना करने की चेष्टा नहीं की थी किन्तु फिर भी सौन्दर्य के साथ वे स्वयमेव आ गये हैं। कहीं-कहीं तो अलंकारों की इतनी सुन्दर योजना हो गई है कि उनका चमत्कार अपने आप प्रस्फुटित हो निकला है।

संतों में हमें विरोधमूलक अलंकारों की ही अधिकता मिलती है। प्रमुख विरोधमूलक अलंकार विरोधालंकार विरोधाभास असम्भव विभावना विशेषोक्ति असंगति विषम विचित्र अधिक अन्योन्य व्याघात है। रुय्यक ने विशेष और अतिशयोक्ति को भी विरोधमूलक माना है।[2] संतों की उलटबासियों का चमत्कार इन्हीं विरोधमूलक अलंकारों की योजना पर आधारित है। अतः इनके उदाहरण इसी प्रसंग में दिये जायेंगे।

रूपक भी संतों का एक प्रिय अलंकार है। कबीर आदि कुछ सन्तों ने इसका प्रयोग बहुत अधिक किया है। उन्होंने उनके सहारे अधिकतर गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धांतों की अभिव्यंजना को प्रभावपूर्ण और स्पष्ट बनाने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए हम[3] दादू का निम्नलिखित रूपक ले सकते हैं—

प्राण सरोवर सुरति जल मन भोमि तरमाहि।
रस पीवै फूलै फलै दादू सूखै नाहि॥

यहाँ पर सन्त दादू ने प्राण, सुरति और मन के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। रूपक योजना से यह भाव स्पष्ट प्रकट हो गया है। प्राण की अपेक्षा सुरति सूक्ष्म है और सुरति से मन सूक्ष्मतर है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आध्यात्मिक सिद्धांतों को सरल और बोधगम्य बनाने में रूपक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सन्तों के रूपकों की सामान्य विशेषताएँ वे ही हैं जिनका उल्लेख कबीर की विचारधारा में कबीर

---

[1] सुन भेद सब्द भेद पावत मिले न काहु।
सुंदर कहत ऐसी बानी नहिं बोलिये॥ सन्त सुधासार—पृ० ६२७

[2] संस्कृत साहित्य का इतिहास—पोद्दार—भाग २ पृ० १७२ (१९४८)

[3] दादूबानी भाग १ पृ० २८

के रूपकों के प्रसंग में कर चुके हैं। यहाँ पर उनका विश्लेषण करना उचित नहीं समझता हूँ। इन रूपकों की भावना से उनकी बानियों में एक विचित्र आकर्षण आ गया है।

अद्भुत वर्णन सम्बन्धी चमत्कार—सन्तों ने बहुत से ऐसे विचित्र और अद्भुत वर्णन किये हैं जिसमें वैचित्र्यमूलक एवं विचित्र चमत्कार भरा है। उदाहरण के रूप में हम दादू[1] की यह उक्ति ले सकते हैं—

> मनु यह अचरज्यो धायी।
> कीड़ी ये हस्ती विडार्यो तेन्हे बैठी खाय।

इसी प्रकार की कबीर[2] की यह उक्ति है—

> ऐसा अद्भुत मेरा गुरु कथ्या मैं रह्या उभेषे।
> मूसा हस्ती सों लड़ै कोई बिरला पेखे। इत्यादि

वास्तव में यह उलटवासियाँ हैं जिनमें अद्भुत रस सम्बन्धी चमत्कार की प्रतिष्ठा की गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों की बानियों का काव्यत्व या तो आत्मानन्द मूलक रसात्मकता से अनुप्राणित है या फिर किसी प्रकार के उद्दात्मक चमत्कार से अनुप्रेरित है। इस दृष्टि से उनकी कविता हिंदी के अन्य कवियों से विलक्षण है।

शैली—काव्यत्व के सदृश सन्तों की रचना शैली की विवेचना भी काव्यशास्त्र में वर्णित वृत्तियों और शैलियों के प्रकाश में नहीं की जा सकती। इसका प्रमुख कारण यह है कि उनका लक्ष्य काव्य रचना करना न था। उन्होंने जो कुछ भी लिखा था और कहा था उसके मूल में दो भावनाएँ थीं। एक थी भवसागर में डूबते हुए जनों का उद्धार करने की। इसके लिए उन्हें ईश्वर ने प्रेरित किया था। संत कबीर[3] ने लिखा भी है—

> साईं यहै विचारिया साखी कहै कबीर।
> भव सागर के जीव में कोई पकड़ै तीर॥

पल्टू ने भी लगभग इसी भाव को प्रतिपादित किया है—

---

[1] दादू बानी—भाग—२ पृ० ६१
[2] कबीर ग्रंथावली पृ० १७१
[3] कबीर ग्रंथावली पृ० २६
[4] पल्टू बानी भाग ३ पृ० ११

एक न भूला दोई न भूला भूला सब संसार।
पलटू दास हम कहा पुकारी अब न दोस हमार॥

सन्तों को साहित्य रचना के लिए प्रेरित करनेवाली दूसरी भावना अध्यात्म विद्या के पठन-पाठन और साधना की थी। सन्त चरनदासजी[1] ने अध्यात्म विद्या के पठन-पाठन और साधना को ही सन्तों का एकमात्र लक्ष्य ध्वनित करते हुए लिखा है—

आतम विद्या पढ़े पढ़ावे परमातम का ध्यान लगावे।

उनकी समस्त रचनाएँ इन्हीं दो भावनाओं और लक्ष्यों से अनुप्रेरित थीं। उनकी शैलियों का इस तथ्य से बड़ा घनिष्ठ संबंध था। प्रथम लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने उपदेश दृष्टि ग्रहण की थी और दूसरे प्रयोजन के सिद्ध्यर्थ अध्यात्म का विवेचन किया था किन्तु उनका अध्यात्म विवेचन दार्शनिकों से भिन्न है। वे भावुक महात्मा थे। उनकी इस विशेषता से उनका अध्यात्म निरूपण बहुत प्रभावित है। इन्हीं भावना के माध्यम से किया गया अध्यात्म निरूपण रहस्यात्मक हो जाता है। इन्हीं आधारों पर संतों में स्थूलरूप से दो प्रकार की शैलियों का विकास पाते हैं—

(१) उपदेश शैली।
(२) रहस्यात्मक शैली।

उपदेश शैली के भी स्थूलरूप से दो स्वरूप दिखाई पड़ते हैं—

(१) शुद्ध उपदेशात्मक और
(२) खंडन मंडन प्रधान।

इसी प्रकार रहस्यात्मक शैली का विकास भी कई रूपों में दिखाई पड़ता है—

(१) भावप्रधान रहस्यात्मक शैली।
(२) साधनाप्रधान रहस्यात्मक शैली।
(३) अभिव्यक्ति प्रधान रहस्यात्मक शैली।

एक साथ विचार करने पर सन्तों की बानियों में निम्नलिखित शैलियों के दर्शन होते हैं—

(१) शुद्ध उपदेशप्रधान शैली।
(२ खण्डनमंडन प्रधान शैली।
(३) भावप्रधान रहस्यात्मक शैली।

---

[1] संतबानी संग्रह पृ० १०१ पर उद्धृत
आतम विद्या पढ़ै पढ़ावै, परमातम का ध्यान लगावै

(४) साधनाप्रधान रहस्यात्मक शैली।
(५) अभिव्यक्ति प्रधान रहस्यात्मक शैली।

शुद्ध उपदेशप्रधान शैली—सन्तों की अधिकांश रचनायें शुद्ध उपदेश प्रधान हैं। उपदेश तीन प्रकार के होते हैं—

(१) प्रभुसम्मित।
(२) सुहृदसम्मित।
(३) कान्तासम्मित।

प्रभुसम्मित उपदेश श्रुति ग्रंथों में दिये हुए विधिवाक्यों के सदृश आदेशात्मक होते हैं। वे प्रत्यक्ष अप्रिय लगते हैं। सुहृद सम्मित उपदेश इतिहास पुराणादि के उपदेशों के सदृश न प्रिय होते हैं और न अप्रिय ही। उनकी अभिव्यक्ति घटनाओं के माध्यम से की जाती है। कान्तासम्मित उपदेश बड़ा प्रिय और मधुर होता है। जिस प्रकार कान्ता प्रियतम का अपने हावों-भावों से मुग्ध कर उससे अभीप्सित कार्य करा लेती है उसी प्रकार चतुर से कवि व्यंजना के सहारे मधुर उपदेशों को सरसता से पाठक के हृदय में भर देते हैं।

संतों में हमें अधिकतर प्रथम दो प्रकार के उपदेश ही मिलते हैं। इसलिए उनमें दो प्रकार की उपदेशात्मक शैलियाँ भी पाई जाती हैं—

(१) प्रभुसम्मित उपदेश प्रधान शैली।
(२) सुहृद् सम्मित उपदेश प्रधान शैली।

प्रभुसम्मित उपदेश प्रधान शैली—संतों की अधिकांश रचनायें इसी शैली में लिखी गई हैं। इसके कई कारण थे। पहला कारण था ईश्वरीय प्रेरणा था। इसका संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। दूसरा कारण उनकी लोकमंगलकारक प्रवृत्ति थी। वे एकान्तिक साधना में निरत रहते हुए भी लोक कल्याण में लगे रहते थे। इन्हीं दोनों भावनाओं से प्रेरित होकर संतों ने प्रभुसम्मित उपदेश शैली को अपनाया था। इस कोटि के उपदेश भी दो प्रकार के हैं—एक अन्तरंग और दूसरे बहिरंग। अन्तरंग उपदेश अधिकतर विधिनिषेध के रूप में साखी दोहा जैसे छोटे छंदों में लिखे गये हैं। बहिरंग उपदेश बाह्य मत के खण्डन के रूप में हैं। यह अधिकतर पदों में हैं। प्रथम कोटि के उदाहरण में हम मलूकदास[1] की निम्नलिखित उक्ति दे सकते हैं—

सुन्दर देही देखि के मत कोइ करे गुमान।
काम दहन कामना क्या पूजा क्या ध्यान॥

[1] मलूकदास की बानी पृ० ३६

आत्मपरक उपदेश का सुन्दर उदाहरण मीखा[1] साहब का निम्नलिखित पद है—

मन तू राम से लौ लाय ।
त्यागि के परपंच माया सकल जगहिं नचाय ।
सोंच की तू चाह गहि के झूँठ कपट बहाय ।
रहनि सों लौ लीन ह्वै गुरु ज्ञान ध्यान लगाय ।
जोग की यह सहज युक्ति विचार के ठहराय ।। इत्यादि

इनके अतिरिक्त संतों से हमें प्रभु सम्मित उपदेश अन्तर्गत चेतावनी शैली भी मिलती है। इस शैली में उन्होंने मोह से सोते हुए मानवों को जगाने की चेष्टा की है जैसे मलूकदास की यह उक्ति है[2]—

जागो रे अब जागो भइया सिर पर जम की धार ।
ना जानूँ कौने घरी करिहै सी ईंहैं मार ।।

उपदेश की सुहृत्सम्मित शैली—इस शैली का उपदेश भी संतों ने किया है। इस शैली में कवि अप्रस्तुतों के सहारे उपदेश की व्यंजना करता है। प्रस्तुतों की योजना कई रूपों में की जा सकती है—

(१) अन्योक्तिमूलक कथाओं के रूप में।
(२) अन्योक्ति रूपक आदि अलंकारों के रूप में।

प्रथम कोटि की अप्रस्तुत योजना अधिकतर प्रबंधात्मक होती है। संतों में उसके प्रयोग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि संतकाव्य निर्विवाद रूप से मुक्तक काव्य है। हाँ दूसरी कोटि के अप्रस्तुत योजना के उदाहरण संतों में उपदेश की योजना अधिकतर अन्योक्ति के माध्यम से भी है। उदाहरण रूप में हम संत कबीर[3] का निम्नलिखित रूपक ले सकते हैं—

संतों भाई आई ग्यान की आँधी रे ।
भ्रम की टाटी सबै उड़ाणी माया रहै न बाँधी ।
कहै कबीर भान के प्रगटें उदित भया तम षीना ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुद्ध उपदेशात्मक शैली के भी कई रूप और प्रकार हैं।

---

[1] संत बानी संग्रह पृ० ११०
[2] मलूकदास की बानी पृ० ३१
[3] कबीर ग्रंथावली पृ० ९६

खण्डन मण्डन प्रधान शैली—इस शैली की मूल प्रेरिका उपदेश वृत्ति ही है। जब मनीषी असत्य का निराकरण करके सत्य का उपदेश देना चाहता है तभी उसे इस शैली का आश्रय लेना पड़ता है। इस शैली के भी कई रूप और प्रकार दिखाई पड़ते हैं—

(१) क्रांतिपूर्ण खण्डन-मण्डन शैली
(२) बुद्धिवादी खण्डन-मण्डन शैली
(३) भाव प्रधान खण्डन मण्डन की शैली
(४) व्यंगात्मक खण्डन-मण्डन शैली

(१) क्रांतिपूर्ण खण्डन मण्डन की शैली—कहीं कहीं संतों की खण्डन मण्डन की प्रवृत्ति ने बड़ा प्रचण्ड रूप धारण कर लिया है। ऐसे स्थलों पर उनकी क्रांति भावना झलकती है। ऐसे वर्णन बड़े उग्र हो गये हैं। भाषा शैली भी उसी के अनुरूप ओजपूर्ण है। अभिव्यक्ति में एक विचित्र प्रवेग है। कथन में उग्रता और कटुता झलकती रहती है। संक्षिप्तता इस शैली की प्रधान विशेषता है। संतों की बानियों में इस शैली के खण्डन और मण्डन दोनों पक्षों के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं, किन्तु प्रधानता खण्डनात्मक उक्तियों की है। इस ढंग की खण्डनात्मक उक्ति के उदाहरण के रूप में हम कबीर[1] का निम्नलिखित कथन ले सकते हैं—

पण्डित मुल्ला जो लिख दीया।
छाड़ि चले हम कछू न लिया॥

इसी प्रकार एक उक्ति इस प्रकार है[2]—

यह मन मूर्खा मंदगी चिरिया चोंच निवाज।
सांप मार मूठि पढ़ि काजी करै अकाज॥

इस कोटि की खण्डनात्मक उक्ति के उदाहरण में हम दरिया[3] साहब की निम्नलिखित पंक्ति ले सकते हैं—

जोग्न सीरय माधुन के चरना।

बुद्धिवादी खण्डनात्मक मण्डनात्मक शैली—संतों का अधिकांश खण्डन मण्डन बुद्धिवादिता पर आधारित है। इस प्रकार का बुद्धिवादी खण्डन प्रायः

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० १०१
[2] कबीर ग्रंथावली पृ० ४१
[3] दरिया सागर पृ० ३२

शैली में अभिव्यक्त हुए हैं। इसमें दृष्टान्तों और तर्कों की प्रधानता है। भाषा स्पष्ट एवं विशेष सरल और स्वाभाविक है। संत[1] भीखा साहब देखिये—जोग जग्य तप दान नेम आदि का खण्डन कितने बुद्धिवादी ढंग से किया है—

जोग जग्य तप दान नेम करि चाहत राम को भेंटा।
जड़ पत्थर करि आराधहि बाँझ खेलावहि बेटा॥

इसी प्रकार कहीं-कहीं खण्डन के लिए उपयुक्त तर्क प्रस्तुत किये गए हैं[2]—

वेद बहुत विस्तार हैं नाना विधि के ग्रन्थ।
पढ़वे पार न पाइए जो जीवे बहु कल्प॥

कहीं कहीं दृष्टान्त और तार्किकता का सुन्दर समुच्चय कर दिया गया है। ऐसे स्थल बड़े मार्मिक हो गये हैं। उदाहरण के लिए हम कबीर[3] की यह उक्ति ले सकते हैं—

नागे फिरे जोग जो होई बन का मिरग मुकति गया कोई।
मूड़ मुड़ाई जो सिध होय स्वर्गहि भेड़ न पहुँची कोई॥

इसी शैली में लिखी गई खण्डनात्मक उक्तियों के अन्तर्गत बुद्धिवादी परिभाषा विशेष उल्लेखनीय है। संत लोग रूढ़ि के विरोधी थे अतः उन्होंने सर्वत्र विविध रूढ़िवादी धार्मिक तत्त्वों की बुद्धिवादी परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। उदाहरण के लिये हम संत[4] सुन्दरदास द्वारा दी गई शूद्र की परिभाषा दे सकते हैं—

देहही को अभिमान देहही सो होइ परचो।
अरु या अज्ञान सम शूद्र सोई जानिये॥
इन्द्रानि के व्यापारनि अत्यन्त निपुन बुद्धि।
तमो रूप द्रुढ़ करि हिये में प्रमानिए॥

संतों ने इसी शैली में ब्राह्मण काजी शेख जैनी मुल्ला पीर और अवधूत आदि धर्माचार्यों की बुद्धिवादी परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं—

भावप्रधान खण्डन-मण्डन की शैली—इस प्रकार की वाणी की अभिव्यक्ति में संतों की मण्डनात्मक उक्तियाँ अधिक हैं, खण्डनात्मक कम। भावात्मक स्वागत भावात्मक पूजा विधि भावात्मक नमाज आदि का वर्णन इसी शैली में किया

---

[1] भीखासाहब की बानी पृ० २
[2] सन्त सुधासार पृ० २८६
[3] कबीर ग्रन्थावली पृ० ११०
[4] संत सुधासार पृ० ५९१ खण्ड १

गा है। उदाहरण रूप में हम भगवान् की पूजा का निम्नलिखित भावात्मक वर्णन ले सकते हैं[1]—

प्रीति सी न पाती कोऊ प्रेम सौं न फूल।
चित्त सौं न चंदन सनेह सो न सेहरा॥
हृदय सौं न आसन सहज सो न सिंहासन।
भाव सौं न सेज और सून्य सौं न गेहरा॥
सील सौं न स्नान अरु ध्यान सौं न धूप और।
ज्ञान सौं न दीपक अज्ञान तम केहरा॥
मन सौं न माला कोऊ सोहं सो न जाप और।
आतम सौं देव नाहिं देह सौं न देहरा॥

व्यंगात्मक शैली—संतों के बहुत से कथन व्यंगात्मक शैली में मिलते हैं। व्यंगात्मक शैली की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। सबसे पहली विशेषता है वस्तु स्थिति का उद्घाटन। कवि जिस बात पर कटाक्ष करना चाहता है उसकी पूरी पोल खोल कर रख देता है। इस शैली की दूसरी विशेषता चुटीलापन है। कवि इस ढंग से व्यंग करता है कि वे हृदय में चुभकर रह जाते हैं। सत्यनिष्ठ स्वानुभूति की मिश्रित भावना ऐसी शैली में सर्वत्र झाँकती रहती है। उदाहरण के लिए हम संत पलटू का निम्नलिखित अवतरण ले सकते हैं[2]—

घर में जिन्दा छोड़कर मुरदा पूजन जाय।
मुरदा पूजन जाय भीति को सिजदा लावै।
पान फूल और खाँड़ जाय के तुरत चढ़ावै॥ इत्यादि

यह तो हुए अत्यन्त संक्षेप रूप में उपदेश शैली के भेदोपभेद। अब हम रहस्यात्मक शैली का विश्लेषण करेंगे।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं संतों की अधिकांश रचनाएँ रहस्यात्मक शैली में अभिव्यक्त हुई हैं। रहस्यात्मक शैली के भी तीन उपभेद दिखाई पड़ते हैं—

(१) भावप्रधान रहस्यात्मक शैली।
(२) साधना प्रधान रहस्यात्मक शैली।
(३) अभिव्यक्तिमूलक चमत्कार प्रधान रहस्यात्मक शैली।

---

[1] सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० ११९

[2] पलटू साहब की बानी भाग ३—पृ० ७१

भावप्रधान रहस्यात्मक शैली—सन्तों का अधिकांश रहस्यवाद इसी शैली में अभिव्यक्त हुआ है। प्रतीकात्मकता, स्वानुभूतिमूलकता, भावना प्रधानता, मधुरता, मार्मिकता, आध्यात्मिकता आदि इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीकात्मकता है। प्रतीकात्मकता सन्तों की समस्त रहस्यात्मक शैलियों की प्राणभूत विशेषता है। अतः यहाँ पर हम उसका थोड़ा सा स्पष्टीकरण कर देना चाहते हैं।

प्रतीकात्मकता—अनभिव्यक्त को व्यक्त करने की चेष्टा ही कवि को प्रतीक योजना में प्रवृत्त करती है। असीम की कथा को अभिव्यक्त करने का एक मात्र साधन प्रतीक ही है। सन्तों का प्रमुख कार्य उस अनभिव्यक्त और अनिर्वचनीय को अभिव्यक्त और निर्वचनीय बनाना था। अपने उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्हें प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ा है। उनकी बानियों में हमें कई प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग मिलता है।

(१) सांकेतिक प्रतीक।
(२) पारिभाषिक प्रतीक।
(३) संख्यामूलक प्रतीक।
(४) रूपात्मक प्रतीक।
(५) विरोधमूलक प्रतीक।
(६) भावात्मक प्रतीक।

प्रस्तुत शैली में भावात्मक प्रतीकों की ही प्रधानता मिलती है। अतएव यहाँ पर उन्हीं प्रतीकों के प्रयोग पर प्रकाश डालेंगे। अन्य कोटि के प्रतीकों का विवेचन अन्य रहस्यात्मक शैलियों के प्रसंग में किया जायेगा।

प्रस्तुत शैली में हमें भावात्मक प्रतीकों के दो रूप मिलते हैं—एक धर्म सम्मत दूसरा भाव सम्मत। धर्म सम्मत भावात्मक प्रतीकों के अंतर्गत माता पुत्र के प्रतीक, शिष्य गुरु के प्रतीक तथा पति पत्नी के प्रतीक आयेंगे। यद्यपि सन्तों की बानियों में इन तीनों कोटि के प्रतीकों के उदाहरण मिल जाते हैं किन्तु प्रधानता पति-पत्नी के प्रतीकों की ही है। यहाँ पर तीनों के उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा। माता पुत्र के प्रतीक का प्रयोग करते हुए कबीर ने लिखा है[1]—

हरि जननी मैं बालक तोरा।

शिष्य और गुरु के प्रतीक का प्रयोग सन्त पलटू[2] ने इस प्रकार किया है—

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० १२१

[2] पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० २०

घूँघट मारउँ खोलि ज्ञान के ढोल बजाई।
चढ़ि के धाम पर धाइ सद्गुरु के चिर्त गाई॥
देखि देखि मय चिंदें लोग मैं अधिक पियारी।
लगी गुरु से डोरि मगन ह्वै ताहि रिझाई॥

पति पत्नी के प्रतीकों का प्रयोग तो समस्त सन्तों की रचनाओं में मिलता है। भावात्मक रहस्यवाद की जितनी भी अभिव्यक्तियाँ हैं वे सब पति पत्नी भाव के माध्यम से ही अभिव्यक्त हुई हैं। पति-पत्नी के प्रतीकों के उदाहरण में सन्त कबीर[1] का निम्नलिखित पद उल्लेखनीय है।

हरि मेरा पीव हरि मेरा पीव हरि मेरा पीव माई।

इस सम्बंध के संस्थापक सद्गुरु माने गये हैं। सन्त पलटू ने[2] लिखा है—

मगन भई मेरी माई जी जब से पाया कंथ।
जब से पाया कंथ पंथ सतगुरु बतलाया॥

गुरु के द्वारा आयोजित विवाह साधारण नहीं होता है। तैंतीस देवता और अट्ठासी ऋषि उस विवाह की साक्षी बनकर आते हैं। सन्त कबीर[3] ने इस विवाह का वर्णन बड़े समारोह के साथ किया है।

भावात्मक प्रतीकों के अंतर्गत प्रेमी और प्रियतमा के प्रतीक आयेंगे। यद्यपि इन प्रतीकों की अभिव्यक्ति सूफी साहित्य में ही मिलती है किन्तु सूफियों से प्रभावित होने के कारण यहीं-कहीं सन्तों ने भी इन प्रतीकों के प्रयोग किये हैं। जहाँ कहीं सन्तों ने इन प्रतीकों का प्रयोग किया है वहाँ अभिव्यक्ति में एक विशेष आकर्षण चमत्कार

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० ११२

[2] पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० २१

[3] दुलहनीं गावहु मंगलचार।
हम घरि आये हो राजा राम भरतार॥
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ पंचतत्त बराती।
राम देव मोरे पाहुँने आये मैं जोबन मैंमाती॥
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ ब्रह्मा बेद उचार।
रामदेव संगि भाँवरि लैहूँ धंनि धंनि भाग हमार॥
सुर तेतीसूं कौतिग आये मुनिवर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं पुरिष एक अबिनासी॥ कबीर ग्रंथावली पृ० ८७

और प्रवेग दिखाई पड़ता है। तीव्रतम प्रणय की अभिव्यक्ति इन्हीं प्रतीकों के द्वारा की जा सकती है। सन्त पलटू लिखते हैं[1]—

अम्मा मेरा चित्त लगा मुझसे रहा न जाय।
मुझसे रहा न जाय बिना साहिब को देखे॥
जान सलपटुक करीं लगी साहिब के लेखे।
मुझको भया है रोग आयगा जीव हमारा॥
दवा यही मिलै जो प्रीतम प्यारा॥ इत्यादि

इस उक्ति में कितनी मार्मिकता है, कितनी स्वाभाविकता है और कितनी स्वानुभूति है। यह हृदय पर सीधे चोट करती है। कहीं-कहीं पर तो ऐसी उक्तियाँ काव्यत्व और माधुरी की दृष्टि से इतनी अनुपम है कि कालिदास के मधुरतम शृंगारिक चित्रों से होड़ लेती हुई दिखलाई पड़ती हैं। उदाहरण के लिए हम सन्त तुलसी[2] साहब का निम्नलिखित उद्धरण दे सकते हैं—

प्यारी पिया पीर लखी आधी रतियाँ।
सोवत चमकि उठी सपने में कहा कहूँ बरनि बिपतियाँ॥
चोली बन्द बदन बिच अटके उमंग उमंग फटी छतियाँ।
रोवत रैन चैन नहिं चित में सूल करम की बतियाँ।
तुलसी देख प्रेम बिन पिय के सोच सिन्धु किम पतियाँ॥

यह पद विरह की एक परम मार्मिक और भावात्मक स्थिति का चित्र है। ऐसे ही अवसरों पर संतों की विलक्षण कल्पना शक्ति, सरल भावुकता और अद्वितीय मौलिकता का अपूर्व आभास मिलता है। बिचारी प्रियतमा प्रियतम के वियोग में व्याकुल है। दिन भर किसी न किसी प्रकार अपनी विरह व्यथा को बतकियाँ देकर दिन में भुलाये रहती है किन्तु आधी रात में मर्मवेदना विरह को जगा देती है। फिर क्या है दोनों मिलकर विरहिणी को तड़पाने लगती हैं। इन दोनों से व्यथित विरहिणी की छातियाँ किसी के हृदय से लगने के लिए तड़पकर ऐसी उमस पड़ती हैं कि चोली बंद ही टूट जाते हैं। इससे अधिक वेदना की स्थिति और हो ही क्या सकती है। अभिलाषा उद्वेग आदि विरह दशाओं की इसमें मार्मिक अभिव्यक्ति की ही गई है। प्रधान इच्छा नायिका का मधुर सौंदर्य भी बिखरा पड़ रहा है। इतनी मधुर और रसात्मक होते हुए भी कहीं पर वासना की दुर्गंध नहीं है। संतों के शृंगारिक चित्रों की यही सबसे बड़ी विशेषता है।

---

[1] पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० ९२

[2] सन्तबानी संग्रह भाग २ पृ० २२२

साधना प्रधान रहस्यात्मक शैली—सन्तों की रचनाओं का एक बहुत बड़ा भाग इस शैली में ही अभिव्यक्त हुआ है। इस शैली की भी सबसे प्रमुख विशेषता प्रतीकात्मकता ही है। प्रतीकात्मकता के अतिरिक्त अस्पष्टता, दुरूहता और सरसता इसके अन्य उल्लेखनीय गुण हैं। इसमें सर्वत्र एक प्रकार का बुद्धिमूलक चमत्कार उपलब्ध होता है। इस चमत्कार की योजना अधिकतर प्रतीकों के सहारे की गई है। इस कोटि की शैली में भावप्रधान रहस्यात्मक शैली के अंतर्गत निर्दिष्ट प्रथम ५ प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) सांकेतिक प्रतीक
(२) पारिभाषिक प्रतीक
(३) संख्यामूलक प्रतीक
(४) रूपात्मक प्रतीक
(५) विरोधमूलक प्रतीक

सांकेतिक प्रतीक—ये प्रतीक अधिकतर साधर्म्यमूलक होते हैं। इनकी कल्पना किसी तत्त्व विशेष के साम्य के रूप में की जाती है। उदाहरण के लिए हम कबीर की 'गगन मंडल में औंधा कुँआ'—वाचक वाणी ले सकते हैं। यहाँ पर सहस्रार के लिए गगन मंडल और ब्रह्मरंध्र के लिए औंधे कुएँ की कल्पना की गई है। गगन मंडल की कल्पना संतों के मान्य सिद्धान्त—जो पिंड सो ब्रह्माण्ड—वाले सिद्धान्त पर आधारित है। जिस प्रकार सिर का ऊर्ध्व भाग सहस्रार होता है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड का ऊर्ध्वभाग आकाश होता है। सहस्रार और ब्रह्माण्ड दोनों के ही समान धर्म हैं। इस साधर्म्य साम्य के आधार पर ही इस प्रतीक की कल्पना की गई है। इसी प्रकार औंधे कुएँ की कल्पना भी साधर्म्य साम्य पर ही आधारित है। इस साधर्म्य साम्य की व्यंजना प्रायः सांकेतिक होती है इसलिए हमने इस कोटि के प्रतीकों को सांकेतिक प्रतीक कहा है। इन्हीं को साधर्म्य-मूलक प्रतीक भी कहा जा सकता है किन्तु यह नाम अधिक संकुचित है। कभी कभी इन प्रतीकों की कल्पना सामान्य साम्य पर ही आधारित रहती है धर्म साम्य नहीं रहता इसीलिए मैं सांकेतिक प्रतीक नाम ही अधिक सार्थक समझता हूँ। इस कोटि के प्रतीकों की संतों को एक प्राचीन परम्परा मिली थी जिसके प्रमुख प्रवर्तक बौद्ध सिद्ध और नाथ थे।

पारिभाषिक प्रतीक—सन्तों की बानियों में बहुत से पारिभाषिक प्रतीक भी मिलते हैं। संत लोग अनेक साधनाओं और सिद्धान्तों के समन्वय साधने वाले थे। अतः उनमें साधना और सिद्धान्त के कुछ पारिभाषिक शब्द ग्रहण कर लिये गये हैं। ये पारिभाषिक शब्द अधिकतर आकारमूलक प्रतीकों के रूप में कल्पित किये जाते हैं। संतों की बानियों

में इन साधनाओं और सिद्धांतों से आये हुए अनेक पारिभाषिक प्रतीक उपलब्ध होते हैं। इनमें प्रमुखतः अधिकतर तांत्रिक सिद्ध और नाथ प्रतीकों की है। उदाहरण के लिए हम इंगला, पिंगला नाड़ियों के लिए प्रयुक्त गंगा यमुना के प्रतीक ले सकते हैं। ये प्रतीक संतों को नाथपंथी हठयोग साधना से मिले थे। हठयोग प्रदीपिका में इन प्रतीकों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। उसमें लिखा है कि—इड़ा भगवती गंगा, पिंगला यमुना नदी है—सन्तों की बानियों में गंगा यमुना के प्रतीकों का प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) उलटी गंगा जमुन मिलावै[1]।
(ख) गंगा जमुन मिलि खिलत घाट[2]।

अरध उरध सुरति निरति चन्द्र सूर्य आदि सैकड़ों इसी ढंग के प्रतीक संतों की बानियों में ढूँढ़े जा सकते हैं।

संख्यावाचक प्रतीक—सन्तों ने बहुत से संख्यावाचक पारिभाषिक प्रतीकों का प्रयोग भी किया है। प्रत्येक सिद्धान्त और साधना में कुछ निश्चित संख्या में कुछ निश्चित बातें मान्य होती हैं। इस प्रकार की निश्चित संख्याओं का प्रयोग भी सन्तों ने प्रतीक रूप में किया है। उदाहरण के लिए हम सन्त कबीर की निम्नलिखित साखी ले सकते हैं—

चौंसठ दीया जोइ करि चौदह चंदा माहिं।[3]
तेहि घर किसको चानणो जेहि घर गोविन्द नाहिं॥

यहाँ पर चौंसठ दीपों का चौंसठ कलाओं के प्रतीक के रूप में और चौदह चंदाओं का चौदह विद्याओं के प्रतीक रूप में प्रयोग किया गया है।

रूपकात्मक प्रतीक—सन्तों में हमें बहुत से रूपकात्मक प्रतीक भी मिलते हैं। ऐसे प्रतीक रूपक के माध्यम से प्रकट किये जाते हैं। उदाहरण के लिए हम सन्त पलटूदास[4] का धोबी का रूपकात्मक प्रयोग ले सकते हैं।

धोबिया फिर मर जायगा चादर लीजै धोय।
चादर लीजै धोय मैल है बहुत समानी॥

---

[1] कबीर ग्रंथावली—पृ० ३०१

[2] गुलाल साहब की बानी—पृ० २१

[3] कबीर ग्रंथावली पृ० २

[4] पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० ३

यहाँ पर ज्ञान के लिए धागा का और शरीर के लिए चादर का प्रतीक कल्पित किया गया है। किन्तु इसकी अभिव्यक्ति रूपक के माध्यम से हुई है इसीलिए इन्हें हम रूपकात्मक प्रतीक मानते हैं।

विरोधमूलक प्रतीक—सन्तों की उलटबाँसियों में अधिकतर विरोधमूलक प्रतीकों का ही प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए हम कबीर[1] की निम्नलिखित प्रसिद्ध साखी ले सकते हैं—

नदियाँ जल कोयला भई समुन्दर लागी आग।
मंछी रूखा चढ़ गई देख कबीरा जाग॥

इस साखी में कबीर ने समुद्र को मन का, आग का विरह का, नदियों का इन्द्रियों का और मछली का आत्मा का प्रतीक कल्पित किया है।

अभिव्यक्तिमूलक चमत्कार प्रधान रहस्यात्मक शैली—सन्तों का अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद इसी शैली में मिलता है। इस शैली की सबसे प्रमुख विशेषता अभिव्यक्तिमूलक चमत्कारवाद है। यह चमत्कार बुद्धिमूलक होता है। इस शैली के भी दो उपभेद दिखाई पड़ते हैं—१—उलटबासी शैली, २—स्वतन्त्र अभिव्यक्ति प्रधान शैली।

उलटबासी शैली—सन्तों ने अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति इसी शैली में की है। इस शैली की परम्परा बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद[2] और अथर्ववेद[3] तक में इस शैली में लिखी गई बहुत-सी उक्तियाँ मिलती हैं। अग्नि का वर्णन करते हुए एक स्थान पर लिखा[4] है—जल प्रवाह में अन्तर्निहित अग्नि को कौन जानता है पुत्र होकर भी यह इस द्वारा अपनी माताओं को जन्म देता है। इसी ढंग का एक दूसरा वर्णन इस प्रकार है—अग्नि तू देवों का पुत्र उत्पन्न पिता हो गया।[5] उपनिषदों में भी बहुत से स्थलों पर इस शैली का आश्रय लिया गया है[6]—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके[7]

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० ११
[2] ऋग्वेद १।१६४, १।१६४।५, १०।२९।२, ११६२, ११६६
[3] अथर्ववेद १।११४, ११।८।१०
[4] ऋग्वेद संहिता प्रथम अध्याय ९९वाँ सूक्त
[5] ऋग्वेद १।६९
[6] ईशावास्योपनिषद् २।१०
[7] ईशावास्योपनिषद् ५।५

आदि उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। वैदिक साहित्य की इस अभिव्यक्ति शैली की परम्परा को, थोड़ा हेर फेर के साथ जीवित रखने का प्रयास तान्त्रिकों सिद्धों और नाथों ने किया। इन तीनों साधना पद्धतियों में हमें उलटबासी शैली का प्रयोग मिलता है। तथा तांत्रिक सिद्धों की—"बलद बियायल गैया बाँझे"[1]—'अशरीर कोई शरीरहि छुआ'[2] जैसे कथन तथा 'बोदकिन'[3] बनस्पति मूल[4] बिन बिरखा' जैसी गोरख की पंक्तियाँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सन्तों ने अपनी इस पूर्ववर्ती परम्परा का ही पोषण किया था। उनकी उलटबासियों का मनोयोग पूर्ण अध्ययन करने पर उनके तीन प्रकार दिखलाई पड़ते हैं।

१—अलंकारप्रधान उलटबासियाँ।
२—प्रतीकप्रधान उलटबासियाँ।
३—अद्भुत रसप्रधान उलटबासियाँ।

अलंकारप्रधान उलटबासियाँ—उलटबासियाँ प्राय सभी विरोधमूलक होती हैं। विरोधमूलकता ही उनमें चमत्कार की प्रतिष्ठा करती है। इस विरोधमूलक चमत्कार के विधायक प्रायः विरोधमूलक अलंकार होते हैं। सन्तों की उलटबासियाँ अधिकतर विरोधमूलक आलंकारिक चमत्कार विशिष्ट ही हैं। कुछ आलंकारिक उलटबासियाँ इस प्रकार[5] हैं—

विषमालंकार प्रधान उलटबासी—

उल्टा कुँआ गगन में तिसमें जरै चिराग

विभावनालंकार प्रधान उलटबासी[6] —

तिसमें जरै चिराग बिना रोगन बिन बाती

विशेषोक्ति और विरोध का[7] संकर—

निकसै एक आवाज चिराग की ज्योति माहीं।

---

१ चर्यापद पृ० ३३
२ दोहाकोष पृ० ३२
३ गोरखबानी संग्रह पृ० ३२
४ वही
५ पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० ६६
६ वही
७ वही

अधिक अलंकार प्रधान उलटबासी[1]—

जेहि सर घड़ा न डूबता मैगल मलि मलि नहाय।
देवल बूड़ा कलस सूँ पंखि तिसाई॥

इसी प्रकार अन्य उलटबासियों में भी खोज करने पर विरोधमूलक अलंकारों का चमत्कार ही मिलेगा।

प्रतीकमूलक उलटबासियाँ—संतों की अधिकांश उलटबासियाँ प्रतीक-मूलक हैं। उदाहरण के लिए संत सुन्दरदास[2] की निम्नलिखित उलटबासी ले सकते हैं।

कुंजर कूं कीरी गिलि बैठी सिंहहि खाय अघान स्याल।
मछरी अग्नि माहिं सुख पायो जल में बहुत दुखी बेहाल॥

यहाँ पर कुंजर मन का प्रतीक है कीरी सुरति की चींटी का प्रतीक है। इसी प्रकार सिंह काल का और स्याल प्रेम का प्रतीक है। मछली आत्मा के प्रतीक रूप में कल्पित की गई है। अग्नि विरहाग्नि की द्योतक है। जल वासना के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार की सैकड़ों प्रतीकात्मक उलटबासियाँ संतों बानियों में मिलती हैं।

अद्भुत रस प्रधान उलटबासी—कहीं-कहीं पर संतों की उलटबासी ऐसी विचित्र शैली में अभिव्यक्त हुई हैं कि उनके अद्भुत रस का तो आभास मिलता है किन्तु अर्थ पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए हम कबीर[3] की निम्नलिखित उलटबासी ले सकते हैं—

ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या मैं रह्या उमेषै।
मूसा हस्ती सौं लड़ै कोइ बिरला पेषै॥
मूसा पैठा बांबि मैं लारै सापणि धाई।
उलटि मूसैं सापणि गिली यहु अचिरज भाई॥
चींटी परबत ऊषण्यां लै राख्यौ चौड़ै।
मुर्गा मिनकी सूं लड़ै झल पांणी दौड़ै॥
सुरही चूंषै बछतलि बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुणी भया सारदूलहि मारै॥
भील लुक्या बन बीझ मैं ससा सर मारै।
कहै कबीर ताहि गुर करौं जो या पदहि बिचारै॥

---

[1] कबीर ग्रन्थावली पृ० १३।
[2] सुन्दरविलास पृ० ८३।
[3] कबीर ग्रन्थावली पृ० १९१।

सन्ध्याभाषा और संत लोग—सन्ध्याभाषा से संत लोगों का घनिष्ठ संबंध है। अतः थोड़ा सा विचार हम उस पर भी कर लेना चाहते हैं। इसके नाम स्वरूप और अर्थ के संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। विद्वानों का एक वर्ग संध्या नाम को शुद्ध मानता है और दूसरा संधा अभिधान देने के पक्ष में है। प्रथम वर्ग के विद्वानों में महामहोपाध्याय हरप्रसाद[1] शास्त्री और डा० विनयतोष[2] भट्टाचार्य विशेष प्रसिद्ध हैं। दूसरी कोटि के विद्वानों में विधुशेखर[3] शास्त्री प्रबोधचन्द्र[4] बाग्ची और एस० एन० दास[5] गुप्ता प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों में अर्थ-संबंधी मतभेद भी है। प्रथम वर्ग के विद्वान् इसका अर्थ आलोकांधकारी अर्थात् संध्या के सदृश द्वयर्थक भाषा लेते हैं। दूसरी कोटि के विद्वान् उसका अर्थ अभिसंधिता अभिप्राययुक्त भाषा लेते हैं। कुछ विद्वान् उसे हिन्दी और अपभ्रंश के संधिकाल की भाषा मानते[6] हैं और कुछ उसे बिहार और बंगाल के संध्यस्थल की अभिव्यक्ति शैली घोषित करते हैं। इस शब्द[7] का प्रयोग हमें सर्वप्रथम बौद्ध साहित्य में मिलता है। सद्धर्म पुंडरीक नामक ग्रंथ में इसके महत्त्व का विशेषरूप प्रतिपादन किया गया है। बौद्धों[8] के प्रभावों से सिद्धों ने भी इसका प्रयोग किया है। सिद्ध[9] लोग अपनी भाषा को संध्या भाषा कहते थे। संध्या भाषा से उनका अभिप्राय सांकेतिक और पारिभाषिक भाषा से था[10]।

इस शब्द के उदय और विकास के संबंध में मेरी अपनी अलग धारणा है। मेरी समझ में संधि शब्द से संध्या शब्द बना है। संधि शब्द का अर्थ अमर कोष के अनुसार छेद या छिद्र भी होता है। बौद्धों ने संधि[11] के इसी अर्थ के आधार पर ही अपनी विशिष्ट पारिभाषिक भाषा के लिए संध्या भाषा का अभिधान दिया था। संध्या का ही बिगड़कर आगे संधा हो गया। सिद्धों ने इसी संधा का ही प्रयोग किया है।

---

1 हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डा० रामकुमार वर्मा।
2 बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म विनयतोष भट्टाचार्य पृ० १५।
3 विधुशेखर शास्त्री इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली १९२८ वोल ४ अंक २ पृ० २९३।
4 स्टडीज़ इन तंत्राज़ लेखक प्रबोधचन्द्र बाग्ची पृ० २७-३१
5 ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स पृ० ७८।
6 हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डा० रामकुमार वर्मा पृ० ११।
7 वही
8 सद्धर्म पुंडरीक ३।१२।१०
9 बौद्धगान और दोहा पृ० ८ पर लिखा की उक्ति देखिए।
10 इंडियन स्टडीज इन तन्त्राज डा० प्रबोधचन्द्र बाग्ची पृ० २७-३१
11 अमरकोष

जहाँ तक संतों का संबंध है उन्होंने अपनी भाषा के लिए कहीं पर भी संध्या भाषा का प्रयोग नहीं किया है किन्तु परम्परागत रूप से वे उससे प्रभावित अवश्य हुए थे। सिद्धों और नाथों से उनका सीधा संबंध था। संध्याभाषा उन्हें उन्हीं से विरासत रूप में मिली थी। संत लोग नाथों और सिद्धों की भाषा से बहुत अधिक प्रभावित थे। कहीं-कहीं पर तो उन्होंने उनके वाक्य के वाक्य ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिये हैं उदाहरण रूप में हम निम्नलिखित अवतरण उद्धृत कर सकते हैं—

बलद बियायिल गैया बाँझ।[1]
पिटा दुहिये तिन साँझ॥
बलद बियायिल गैया बाँझ।
बछरा दुहै तीनों साँझ॥[2]

× × ×

यह मन सक्ती यह मन सीव।
यह मन पाँच तत्वों का जीव॥
यह मन लै जे उनमन रहै।[3]
तो तीन लोक की बाता कहै॥

वाक्यांशों और शब्दों की तो गणना ही नहीं की जा सकती। लगभग ५० फीसदी शब्द और वाक्यांश संतों ने सिद्धों और नाथों से ही लिये हैं किन्तु उन्होंने उनका प्रयोग अपने ढंग पर ही किया है।

संतों की भाषा का स्वरूप—सिद्धों और नाथों की संध्या भाषा से प्रभावित होते हुए भी संतों की भाषा अपना अलग अस्तित्व रखती है। उसकी अपनी कुछ अलग विशेषताएँ हैं इसीलिए हम उसे संध्याभाषा का अभिधान नहीं दे सकते। मैं सन्तों की भाषा को सधुक्कड़ी भाषा के नाम से पुकारना अधिक उपयुक्त समझता हूँ। इसके कई कारण हैं—

१—उनकी भाषा में उस समय की समस्त भाषाओं, विभाषाओं और बोलियों का मधुर मिश्रण मिलता है।

२—संतों ने अपनी भाषा में प्रेषणीयता को विशेष महत्व दिया है व्याकरणिक और साहित्यिक शुद्ध रूपों का कम।

---

[1] चर्यापद ३३।

[2] कबीर ग्रन्थावली पृ० ११३

[3] गो० बा० सं० पृ० १८ और संत कबीर पृ० ८२

इन दोनों बातों पर हम कुछ अधिक प्रकाश डालना चाहते हैं। क्योंकि सन्तों की भाषा की यही दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। संत लोग स्वभाव से ही फक्कड़ और घुमक्कड़ थे। एक स्थान पर घर बनाकर रहना उन्हें पसंद न था। देश-देशान्तर में भ्रमण करते हुए सत्संगति करना और मायाग्रस्त मानवों को उपदेश देना ही उनका व्यापार था। उपदेश देने के लिए यह बड़ा आवश्यक होता है कि देश और काल के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया जाय। तभी उपदेश प्रभावशाली भी होते हैं। सन्त लोग मनोविज्ञान के इस तथ्य से पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने अधिकतर देश, काल और पात्रानुरूप ही भाषा का प्रयोग किया है। यही कारण है कि एक ओर तो उनकी भाषा में हमें अरबी, फारसी और संस्कृत आदि के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं और दूसरी ब्रज, अवधी, भोजपुरिया, गुजराती, सिंधी, पंजाबी, महाराष्ट्री बंगाली आदि भाषाओं और बोलियों की मधुमयी झलक मिलती है। अरबी भाषा के गैब, गाफिल, इश्क, आशिक, हरफ, नूर आदि सैकड़ों शब्द संतों ने प्रयुक्त किये थे। फारसी शब्द तो अरबी से भी अधिक प्रयुक्त मिलते हैं खुमार, मजार, दौलत, रोजा नमाज आदि फारसी शब्द ही हैं। कहीं कहीं पर तो उन्होंने फारसी के क्रिया रूपों का प्रयोग करके अपनी भाषा को शुद्ध फारसी तक बना दिया है। जैसे दादू[1] का निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

इश्क आशिक नूर दीदम कुफ्रे मकसूद।
दीदारे यार अल्लाह आलम मौजूदे मौजूद॥

इसी प्रकार कुछ संतों पर हमें संस्कृत का बहुत अधिक प्रभाव दिखलाई पड़ता है। उदाहरण के लिए हम सुन्दरदास[2] का निम्नलिखित छन्द ले सकते हैं:—

ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुन नित्य निरंजन और न भासै।
ब्रह्म अखंडित है अध ऊरध बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै॥
ब्रह्महि सूच्छमस्थूल जहाँ लगि ब्रह्महि साहिब ब्रह्महि दासै।
सुन्दर और कछू मत आनहु ब्रह्महि देखत ब्रह्म तमासै॥

इन विविध साहित्यिक भाषाओं के मिश्रण के अतिरिक्त उनकी बानियों में हमें पंजाबी, सिन्धी, गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं की छटा भी दिखाई पड़ती है। प्रत्येक का एक एक उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा।

पंजाबी का उदाहरण[3]—

आप थे सजणां आप, सिरपर धरि पाँव।
सानी मैंडा जिन्द समावे।
तू रवि था राम थे सजणां आप॥

---

[1] दादू बानी भाग १ पृ० ६०।
[2] सुन्दर विलास पृ० १२६।
[3] दादू बानी भाग २ पृ० ४४

इत्या उत्थां जित्थां कित्था हीं जीया सौ नाल वे।
मीया मैंडा आय असाडे।
तूँ लाखों मिरमालये मजरणा आय॥

सिन्धी का उदाहरण[1]—

दानु धर्मा जो लालर, सोम्य मय मालूम र।
मर्म्में प्यासा मर्म यरा अला मर्म्में लागी पार्नि र॥
मर्म्में सुरे मचु पियो अला कहिं दरि फरिया दादे र।
विरह कमाई मू घरि अला मर्म्में घर पार्नि र॥
सीर्नु कर फयाम मियंमला इयं दादू ने हियांथर॥

गुजराती का उदाहरण[2]—

माहरा रे वाहला न कान दिदे जोया न दें ध्यान धरूँ
आकुल थाय प्राण मारा फोन कमी पर करूँ॥
नौमरण आवे र वाहला पेहला एहीं जोड ठरूँ।
साथी जो मार्थ थइनि पेली तीर पार तरूँ॥
पीय पाग्य दिन दुहला जो घडा बरसाँ मोँ कम मरूँ।
दादू रजन हरि गुण गातो पूरण स्वामी वे वरूँ॥

इसी प्रकार उनकी बानियों में हमें मराठी, राजस्थानी आदि अन्य प्रांतीय भाषाओं का सामंजस्य मिलता है। उर्दू और हिन्दी के विविध रूपों की भाँति ही मिश्रित सन्तों की बानियाँ प्रसिद्ध ही हैं। उदाहरण रूप में हम कबीर[3] साहब की निम्नलिखित गजल ले सकते हैं—

हमन है इश्क मस्ताना हमन को होशियारी क्या।
रहें आजाद या जग में हमन दुनिया से यारी क्या॥
जो बिछुड़े हैं पियारे से भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हममें हमन को इंतजारी क्या॥
खलक सब नाम अपने को बहुत कर सिर पटकता है।
हमन गुरु नाम साँचा है हमन दुनिया से यारी क्या॥

---

[1] दादू बानी भाग २ पृ० २१।
[2] दादू बानी भाग २ पृ० २२।
[3] कबीर साहब की शब्दावली भाग १ पृ० १९।

हिन्दी की प्रसिद्ध साहित्यिक विभाषायें ब्रज, अवधी और खड़ी बोली हैं। सन्तों की बानियों में इन सबका प्रभाव दिखाई पड़ता है किन्तु प्रधान प्रवृत्ति खड़ी बोली की ही है। उनकी अधिकांश उक्तियाँ खड़ी बोली के आदि रूप में ही लिखी गई हैं। यहाँ पर तीनों के उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा।

ब्रज का उदाहरण[1]—

जगत में आय के बिसार्यो है जगतपति
जगत कियो है सोइ जगत सत्य है।
घेरे निसि दिन चिंता औरहि परी है आइ—इत्यादि

अवधी का उदाहरण[2]—

अरे मन समुझि कहु पहिचान।
कौनि आवसि कहाँ तें आयसि काहे भर्म भुलान।
सुधि सँभारु बिचार करि कै बूझु पाविस ज्ञान॥
मातु पिहि सुत नारि दिन का अचल नहिं अस्थान।
लोक गढ़ बहु कोट काया कठिन माया थान॥

खड़ीबोली का उदाहरण[3]—

कोई जाति न पूछे हरि को भजे सो ऊँचा है।
कोटि कुलीन होई अधमाधम सो भी उनसे नीचा है॥

सन्तों की बानियों में भोजपुरिया और मैथिल आदि का भी माधुर्य मिलता है। जैसे गुलाल[4] साहब की निम्नलिखित उक्ति—

लागलि नेह हमारो पिया मोर।
चुनि-चुनि कलियाँ सेज बिछायौं
करौं मैं मंगलचार
एकौ घरी पिया नहिं आयें
होयला मोहिं धिरकार

---

१ सन्तबानी संग्रह भाग २ पृ० १००
२ सन्तबानी संग्रह भाग २ पृ० १११
३ पलटू साहब भाग २ पृ० ५१
४ गुलाल साहब की बानी पृ०

आठों याम रैन दिन जोहीं
नक न हृदय बिसार
तीन लोक के साहब अपने
फरमाहिं मोर लिलार ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों की बानियाँ कुन्न प्रकार के शब्दों से भरे हुए माल के सदृश हैं। इतना होते हुए भी उनमें किसी एक भाषा का शुद्ध माधुर्य नहीं मिल सकता। ये परस्पर इतना अधिक मिली-जुली हैं कि उनको कभी-कभी अलग करना भी कठिन हो जाता है। इसीलिए हमने उसे सधुक्कड़ी भाषा कहा है।

सन्तों की भाषा को सधुक्कड़ी भाषा कहने का दूसरा कारण उसकी व्याकरणिक और साहित्यिक रूपों के प्रति तटस्थता है। सन्त लोग सिद्धों की परम्परा के कवि थे। वे लोग उपदेश के लिए यथाशब्द वर्ण स्वर लोप ह्रस्व का दीर्घ, दीर्घ का ह्रस्व करना आदि वैध मानते थे। सिद्धों के इस आदर्श की छाया संतों की भाषा पर भी दिखाई देती है। संतों की भाषा इतनी विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है कि उसका स्वतन्त्र रूप से अध्ययन होना चाहिए। यहाँ पर हम उसके शब्दों के विकारों का थोड़ा दिग्दर्शन कराकर यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि सन्तों की भाषा लोकभाषा के अधिक समीप थी साहित्यिक भाषा के कम। उस उन्होंने अपनी सधुक्कड़ी वृत्ति से प्रेरित होकर अपनी इच्छानुकूल काम लिया है। वास्तव में भाषा उनकी अनुवर्तिनी है। वह भाषा के दास नहीं हैं।

उन्होंने अपने ढंग पर शब्द गढ़ भी थे उदाहरण के लिए हम गुलाल साहब का 'कपाटी'[1] शब्द ले सकते हैं। काठ शब्द से उन्होंने कपाटी शब्द बनाकर उसका अर्थ दुराह पर चलनेवाला लिया है इसी प्रकार उन्होंने और भी अनेक नए शब्द गढ़ थे।

अब हम यहाँ पर थोड़ा-सा संकेत उनके शब्दों के विकारों का भी कर देना चाहते हैं उनके शब्दों के प्रमुख विकार इस प्रकार दिखाई पड़ते हैं—

ह्रस्व स्वर वर्णों का दीर्घत्व

सरन[1] > सुबर्न

अन्तर्निहित

मनाह[2] > मंह

मध्यागम

अज्ञान[4] > ग्यान

---

[1] गुलाल साहब की बानी पृ०
[2] भीखा साहब की बानी पृ० २२
[3] कबीर ग्रन्थावली पृ० ८८
[4] कबीर ग्रंथावली पृ० १६

मध्यम स्वर का लोप

अप्र[1]>अपर

अश्रुति

शय्या>सय्या[2]

स्वर विपर्यय

मैथुन>मिथुन[3]

मध्य व्यञ्जन लोप

मस्तक>मसतक[4]

व्यञ्जन वर्णों का सघोषत्व—

परगास[5]>प्रकाश

न का ण में परिवर्तन——

नौमण[6]>नौमन

श का स में परिवर्तन—

सिखर[7]>शिखर

य का ज में परिवर्तन—

जुक्ति[8]>युक्ति

स का ष में परिवर्तन——

मिष[9]>मुख

अन्तिम य का ओ में परिवर्तन—

निमा[10] >निमय

---

[1] कबीर ग्रन्थावली पृ० २०

[2] कबीर ग्रंथावली पृ० ८१

[3] धरमदास की बानी भाग २ पृ० १६

[4] कबीर ग्रंथावली पृ० ११

[5] पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० ३०

[6] कबीर ग्रंथावली पृ० २२

[7] कबीर ग्रंथावली पृ० १३

[8] भीखा साहब की बानी पृ० २७

[9] कबीर ग्रंथावली पृ० ८३

[10] पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० ३२

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों की भाषा व्रजभाषा की भाषा से अधिक साम्य रखती है।

छन्द

सन्तों की सभी बानियाँ छन्दबद्ध हैं। उनके छन्दों का अध्ययन करने पर अनुभव होता है कि उन्होंने जिस प्रकार व्याकरणशास्त्र का अन्धानुसरण नहीं किया था। उसी प्रकार पिंगलशास्त्र के नियमों की शृंखलाओं में बंधने की चेष्टा की थी। उन्होंने अधिकतर उन्हीं छन्दों का प्रयोग किया है जो उन्हें सरल और प्रभावोत्पादक प्रतीत होते थे या जो उन्हें लोक-परम्परा से प्राप्त हुए थे।

सन्त लोग लोक जीवन के अधिक समीप थे। लोक स्वयं में ही अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए विविध संगीतात्मक प्रकार ढूँढ़ता रहता है। लोक में बहुत से ऐसे काव्य प्रकार प्रचलित रहे हैं जो बहुत सी दृष्टियों से शास्त्रीय प्रकारों से होड़ लेते रहे हैं। मेरी अपनी धारणा यहाँ तक है कि काव्य का सच्चा स्वरूप हमें लोकगीतों में ही मिलता है। युग में इन लोकगीतों का प्रचार और प्रतिष्ठा आज की अपेक्षा कहीं अधिक थी। अतः सन्तों का लोक काव्य रूपों और छन्दों का ग्रहण नाना स्वाभाविक ही था। उनकी बानियों की अभिव्यक्ति अधिकतर लोक-परम्परा से प्राप्त काव्य प्रकारों में है। यह काव्य प्रकार विशेष प्रकार के छन्द हैं और कुछ केवल अभिव्यक्ति का संगीतात्मक प्रकार मात्र है। इनमें भी कुछ परम्परागत हैं और कुछ मौलिक। सन्तों में पाये जानेवाले इस कोटि के प्रसिद्ध छन्द और काव्य प्रकार इस प्रकार हैं—साखी, सबद, रमैनी, बारहमासी, चौंतीसा, थितीवार, चांचर, हिंडोला, कहरा, बेलि, बिरहुली, विप्रमतीसी। इनमें भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साखी, सबद, रमैनी है। इन तीनों में भी सन्त लोग सबद और साखी को विशेष प्रतिष्ठित मानते हैं। सन्त रज्जब[1] ने इनके महत्त्व की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'वेद बानी कुएँ के जल के सदृश है जिसे प्राप्त करना किसी विरले का ही काम है किन्तु साखी और सबद सुन्दर सरोवर के सदृश हैं जिनका सुमधुर जल सभी प्राणियों को आनन्द से प्राप्त हो जाता है।' सन्त रज्जब के इस कथन से प्रकट होता है कि साखी और सबद को वे वेद की भाँति इष्ट वाणी मानते थे, अभिव्यक्ति प्रकार का इनसे विशेष भाव नहीं। यहाँ पर हम इन पर थोड़ा सा विस्तार से विचार करेंगे।

---

[1] बेद सुवाणी कूप जल दुख सूं प्रापति होय।
सबद साखि सरवर सलिल सुख पीवैं सब कोय॥

—सन्त सुधासार भाग १ पृ० २११।

साखी—सन्तों की अधिकांश रचनायें साखियों में लिखी गई हैं। साखी शब्द संस्कृत के साक्षी का अपभ्रंश रूप माना जाता है। इसका अर्थ उस काव्य विधान से लिया जाता है जिसमें किसी सन्त ने अपने साक्षात् अनुभव के बल पर प्राप्त किये हुए ज्ञान की प्रतिष्ठा की हो। सन्त लोग गतानुगतिक नहीं थे। उनका लक्ष्य स्वानुभूति के सहारे जीवन सत्यों की उपलब्धि करना था। विविध प्रयोगों के सहारे जिन सत्यों की उपलब्धि उन्हें होती थी उन्हें वे साखी छंद में अभिव्यक्त कर देते थे। सन्त कबीर ने बीजक[1] में एक स्थल पर साखी शब्द की ऐसी ही व्याख्या की है—

साखी आँखी ज्ञान की समुझि देखु मन माँहि।
बिन साखी संसार का झगरा छूटत नाहिं॥

साखी की परम्परा के मूल स्रोत का कोई निश्चित पता नहीं चल पाया है। हमारी अपनी धारणा यह है कि इस प्रकार के काव्य विधान का प्रचार बुद्धिवादी और रूढ़िविरोधी सन्तों में निर्गुणियाँ सन्तों से पहले भी था। इन सन्तों की रचनायें अधिकतर मौखिक रूप में ही प्रचलित थीं उनको या तो लिपिबद्ध करने का प्रयास नहीं किया गया था या समय के प्रवाह में पड़कर वे स्वयमेव नष्ट हो गईं। फिर भी खोज करने पर प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में नामदेव की साखी, जोगेसरी साखी आदि दो चार ग्रन्थ उपलब्ध हो जाते हैं। ये ग्रन्थ स्पष्ट प्रमाणित करते हैं कि साखियों की परम्परा निर्गुणियाँ सन्तों के पूर्व ही प्रवर्तित हो चली थी। उसको अपने अनुकूल समझकर सन्तों ने उसे विशेष रूप से अपनाने की चेष्टा की थी।

कुछ लोग साखी को दोहा का पर्यायवाची मानते हैं। और कुछ इसे दोहरा का दूसरा अभिधान बतलाते हैं किन्तु वास्तव में न तो यह शुद्ध रूप में दोहा का ही पर्यायवाची है और न दोहरा का ही दूसरा नाम है। साखियों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उनके अन्तर्गत दोहा, चौपाई, सोरठे, छप्पय आदि छन्दों की भी प्रतिष्ठा की गई है। इससे स्पष्ट प्रकट है कि हम उसे केवल दोहा का ही पर्यायवाची नहीं मान सकते। साखी का दूसरा नाम दोहरा नहीं है यह बात तुलसी[2] के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है—

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं अधम कवि निंदहिं बेद पुरान॥

सन्तों की साखियों का अध्ययन करने पर हमें उनमें कुछ निम्नलिखित विशेषतायें उपलब्ध होती हैं—

---

[1] कबीर बीजक हरक संस्करण पृ० ११४

[2] तुलसी ग्रंथावली—तृतीय संस्करण पृ० १११

१—इनमें अधिकतर दोहा, चौपाई, सोरठा आदि हैं। २ पंक्तियों एवं चार चरण वाले छन्दों को ही अपनाया जाता है।

२—इनका वर्ण्यविषय अधिकतर नैतिक और आध्यात्मिक ज्ञान होता है।

३—इनमें खण्डन मण्डन की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है।

४—इनमें संक्षिप्तात्मकता का अभिव्यक्ति प्रयोग अधिक पाया जाता है।

५—उपदेशों की प्रतिष्ठा सन्तों ने अधिकतर इसी काव्य प्रकार में की है।

साखियों का प्रयोग सबसे अधिक सन्त कबीर ने किया है। उनके अतिरिक्त सन्त दादू, दरिया साहब (बिहारवाले), सन्त सुन्दरदास, मलूकदास, पलटू साहब आदि सन्तों ने भी साखियों का प्रयोग किया है। सन्तों के साखी प्रयोग के संबंध में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि इस शब्द का प्रयोग जितने व्यापक रूप में कबीर ने किया है उतना अन्य सन्तों में नहीं मिलता है। कबीर के बाद साखी बहुत संकुचित शब्द होता गया है और कुछ दिनों बाद वह दोहा के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। दरिया साहब बिहारवाले ने इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया है। उनके दरिया सागर में दोहा चौपाई के स्थान पर साखी चौपाई का प्रयोग मिलता है। इस ग्रन्थ में साखी दोहा के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं साखी का नामकरण वर्ण्य विषय के आधार पर किया गया है। पिंगल नियमों से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। साखी वास्तव में अभिव्यक्ति का वह संक्षिप्त रूप है जिसमें सन्त लोग अपने प्रत्यक्ष अनुभूत सत्य तथ्यों की अभिव्यक्ति करते थे।

सबद्—सन्तों का दूसरा प्रसिद्ध काव्य रूप सबद है। इसे कुछ लोग पद का पर्यायवाची मानते हैं। आदि ग्रन्थ में इन्हीं के लिए बानी शब्द का प्रयोग किया गया है। सबद या पद परम्परा वास्तव में बहुत प्राचीन है। जिस दिन से संगीत कला का श्रीगणेश हुआ होगा उसी दिन से पद साहित्य की रचना भी प्रारम्भ हो गई होगी। गीतिकाव्य के दर्शन हमें ऋग्वेद तक में मिलते हैं—'कस्मै देवाय हविषा विधेम' वाला सूक्त वास्तव में गेय के रूप में ही लिखा गया है। सामवेद का तो सर्वांश एक उत्तम गीतिकाव्य है। जैन साहित्य की अनेक रचनाओं में भी टेकें मिलती हैं। उसके बाद जयदेव, उमापति आदि की पदावलियाँ आती हैं। ये अपनी मधुरिमा के लिए लोक प्रसिद्ध हैं। इनमें भी पहले श्रृंगार और भक्ति आते हैं। बौद्ध सिद्धों के पदों पर ही आधार लेकर सन्तों का सबद साहित्य लिखा हुआ जान पड़ता है। पद साहित्य का प्रचार दक्षिण में था। उसका हमें सुन्दर रूप मुनि द्वारा संगृहीत हरिहर प्रबन्ध के भजनों में मिलता है।

सन्तों के सबद अधिकतर राग-रागिनियों में लिखे गये हैं। यह राग-रागिनी

संख्या में बहुत अधिक हैं। बहुत सी राग-रागनियाँ तो इनकी अपनी मौलिक उपज हैं। सन्तों के पदों में प्रयुक्त की गई कुछ प्रसिद्ध राग-रागनियाँ निम्नलिखित हैं—
राग सोरठ[1] राग बरवा[2] राग भैरवी[3] राग मलार[4] राग रामकली[5] राग धनाश्री[6] राग केदार[7] राग बिलावल[8] राग काफी[9] राग बिहाग[10] राग कल्याण[11] राग बिभास[12] राग गौरी[13] राग सारंग[14] राग होरी[15] राग मंगल[16] राग देवगंधार[17] राग मालश्री[18] राग बरवा[19] राग जैतश्री[20] राग ललित[21] राग भैरो[22] राग मारू[23] राग बसन्त[24] राग अड़ाना[25] आदि आदि। इन राग रागिनियों के प्रयोग

---

[1] चरनदास की बानी भाग १ पृ० ६८
[2] वही पृ० ३६
[3] चरनदास की बानी भाग १ पृ० ४०
[4] वही पृ० ४१
[5] वही पृ० ४१
[6] चरनदास की बानी भाग १ पृ० ४२
[7] वही पृ० ४३
[8] वही पृ० ४६
[9] चरनदास की बानी भाग १ पृ० ४४
[10] वही पृ० ४६
[11] वही पृ० ४६
[12] चरनदास की बानी भाग १ पृ० ७०
[13] चरनदास की बानी भाग १ पृ० ८०
[14] चरनदास की बानी भाग १ पृ० ८२
[15] वही पृ० ८३
[16] वही पृ० ६७
[17] चरनदास की बानी भाग १ पृ० ६६
[18] वही पृ० ६८
[19] वही पृ० ७०
[20] दादू दयाल की बानी भाग २ पृ० १०२
[21] दादू दयाल की बानी भाग २ पृ० १०६।
[22] दादू दयाल की बानी भाग २ पृ० १०२
[23] वही पृ० ६६
[24] दादू दयाल की बानी भाग २ पृ० १२६
[25] वही पृ० ७०

से स्पष्ट प्रकट होता है कि संत लोग अपने शब्दों में गेयता को विशेष महत्व देते थे। इस गेयता के कारण उनके शब्द और भी लोकप्रिय हो गये हैं।

सन्त लोग छन्द शास्त्र से विशेष परिचित नहीं थे। सुन्दरदास आदि एकाध संतों को छोड़कर अन्य संत तो सम्भवतः दो-चार लोक प्रचलित छन्दों के नामों के अतिरिक्त अन्य छन्दों के नाम भी नहीं जानते होंगे। इतना होते हुए भी उन्होंने अपनी वाणी को साहित्यिक बनाने की कामना से कुछ प्रचलित छंदों का प्रयोग किया था। उनके द्वारा प्रयुक्त किये गये कुछ छंदों के नाम इस प्रकार हैं—कुण्डलिया कवित्त, रेखता, झूलना, इंदव, मनहर, छप्पय, साइनी, बरवै, दोहा, चौपाई आदि आदि। यह सभी छंद बहुत प्रचलित हैं। इनका प्रयोग लोक कवि भी करते रहे हैं। हो सकता है संतों को इनका ज्ञान लोक कवियों से ही प्राप्त हुआ है। संतों ने इन छंदों का प्रयोग भी सफलतापूर्वक नहीं किया है। उनमें स्थान-स्थान पर छन्द-भंग दोष मिलता है। सच बात तो यह है कि उनका लक्ष्य पिंगल शास्त्र में अपनी निपुणता दिखाना नहीं था। वे अपनी वाणी को अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाना चाहते थे। उन्हें जहाँ कहीं ऐसा अनुभव हुआ है कि छंदों के प्रयोग से उनकी वाणी प्रभावशाली बन जायगी वहीं पर उन्होंने छंदों का आश्रय लिया है।

रमैनी—रमैनियों का प्रयोग हमें सर्वप्रथम कबीर में ही मिलता है। रमैनी शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में मतभेद है। संत विचार[1] दास के मतानुसार रमैनी रामायण शब्द का रूपांतर है और पंडित परशुराम[2] चतुर्वेदी के अनुसार यह रमायण का अपभ्रंश रूप है। मैं इन दोनों ही मतों से सहमत नहीं हूँ क्योंकि दोनों ही आनुमानिक हैं। हमारी समझ में रमैनी लोक गीतों का एक खास प्रकार है जिसका प्रचार मौखिक रूप से सम्भवतः कबीर से पहले भी था। कबीर ने उसे अपने आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति के उपयुक्त जानकर [illegible] परमात्मा की स्तुति की थी। रमैनी शब्द की ठीक निश्चित व्युत्पत्ति नहीं दी जा सकती है। मेरी समझ में आध्यात्मिक गीतों के लिए रमैनी शब्द राम के आधार पर गढ़ लिया गया होगा। संत लोग हिन्दू मुसलमान भेद भाव को स्वीकार नहीं करते थे। और दोनों ही रमैया राम को एक अनादि रूप में स्वीकार करते थे। नाभादास[3] जी ने इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है—

हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।

---

[1] कबीर साहब की बीजक—विचार दास पृ० १८८ ई०

[2] कबीर साहित्य की परख पृ० ११२

[3] भक्तमाल—[illegible] पृ० ३११

नवाँ अध्याय

उपसंहार

सन्त मत की संक्षिप्त रूप रेखा—

तत्कालीन युग पर विहंगम दृष्टि—सन्तों की समाजगत प्रेरणाएँ

संत मत सारग्राही मत है—यह विचारस्वातंत्र्यमूलक अनुभव पर टिका हुआ है।

सन्त मत की पृष्ठभूमि पर विहंगम दृष्टि—

निर्गुणवादी मत है।

सन्त मत की आत्मवादिता और आस्तिकता—

सन्त मत का सदाचरण—

सहज ज्ञान—भक्ति—वैराग्य—और योग का मिलन बिंदु—सन्तों की सहज अद्वैत भावना—सन्त मत की भावात्मक पूजा विधि सन्त मत का मध्य मार्गानुसरण—सत्याचरण

निष्कर्ष—

सन्त मत की संक्षिप्त रूपरेखा

सन्त मत मध्ययुग की सबसे बड़ी देन है। इसका उदय आकस्मिक और अप्रत्याशित नहीं था। तत्कालीन वातावरण में सन्त मत से अधिक सहज और श्रेयस्कर मत का प्रवर्तन नहीं किया जा सकता था।

मध्ययुग राजनीतिक[1] दृष्टि से यवन सत्ता के प्रस्थापन और प्रसार का युग था। यवनों ने भारतीय फूट से लाभ उठाकर अपनी तलवार के बल पर भारत को पंगु बनाकर अपने आधीन कर लिया था। तत्कालीन यवन शासक क्रूर धर्मांध और बर्बर लुटेरे थे। इनका लक्ष्य भारत में केवल राजनीतिक सत्ता का प्रस्थापन भर नहीं था। वे हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति का मूलोच्छेदन भी करना चाहते थे। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति उन्होंने भी जीभर की थी। वे तलवार के बल पर हिन्दुओं को मुसलमान बनने के लिए बाध्य करते थे। यदि कोई इस्लाम के स्वीकार करने में रत्ती भर भी आनाकानी करता तो उसे तुरन्त ही मृत्यु के घाट उतार दिया जाता था। हिंदुओं की माँ बहनों की लाज उनकी आँखों के सामने ही जबरन लूट ली जाती थी। और वे चुपचाप

---

[1] इसका सम्यक् विवेचन इसी ग्रंथ के प्रथम अध्याय में किया गया है।

भी नहीं हिला सकते थे। देव-प्रतिमाओं की मूर्तियों को अपनी आँखों के सामने पद-दलित अपमानित कर तोड़ी जाती देख-देखकर उनकी आँखें पक गई थीं। राजनीति और धर्म के मार्ग से च्युत हुए हिन्दुओं के सामाजिक अधिकार तक छीन लिये गए थे। वे न तो अच्छा भोजन कर सकते थे और न अच्छे वस्त्राभूषण ही धारण कर सकते थे। यहाँ तक कि वे अपने घर में तीन महीने से अधिक का राशन भी नहीं रख सकते थे। हिन्दुओं को अच्छी नौकरियाँ भी नहीं दी जाती थीं। उन राजनीतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप हिंदू जनता में घोर निराशा, वैराग्य और सगुणोपासना के प्रति प्रतिक्रिया की भावना जाग्रत हो गई।

मध्ययुग की धार्मिक स्थिति और भी शोचनीय थी। हिन्दू धर्म पुरोहितवाद के नाम से अन्धविश्वासों, मिथ्याचारों, बाह्याडम्बरों एवं धार्मिक संघर्षों का अड्डा बन गया था। उधर दर्शन क्षेत्र में आचार्य लोग अपनी-अपनी बुद्धि की कलाबाजी दिखाने में लगे हुए थे। साधना क्षेत्र और भी अधिक विकृत और कलुषित हो रहा था। वाममार्गी सिद्ध लोग यौगिक साधना के नाम पर घोर अनाचार फैला रहे थे।

देश की सामाजिक स्थिति भी अच्छी न थी। हिन्दू समाज में सदाचार की देवता के स्थान पर अनेक कुप्रथाओं एवं अंधविश्वासों की पत्थर-पाहनों की पूजा होने लगी थी। यवन समाज हिंदू समाज से भी अधिक दूषित था। उसमें व्यभिचार, चोरी और मांसभक्षी आदि अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए थे।

उपर्युक्त भीषण परिस्थितियों से त्रस्त और पथभ्रष्ट सामान्य जनता शान्ति के लिए पुकार रही थी। इस पुकार को सुनकर हिंदू और मुसलमान सब मिलकर एक ऐसा मार्ग ढूँढने लगे जिसमें किसी का भी विरोध न हो और जिसमें कोई भी हार न हो तथा साथ ही साथ सहज सरल सामाजिक और आध्यात्मिक भी हो। अतः इस प्रयास के फलस्वरूप ही सन्त मत का प्रवर्तन हुआ।

सन्त मत का विवेचन करने से पूर्व हम एक बात पर विचार कर लेना चाहते हैं। वह-यह कि उसका अध्ययन किसी धर्म, पंथ या सम्प्रदाय के प्रभाव में नहीं किया जाना चाहिए। सन्त मत वास्तव में सब प्रकार के वादों, पंथों और सम्प्रदायों से परे है। उसका अपना एक स्वतन्त्र और मौलिक रूप है। यही कारण है कि इस मत में हमें सर्व समभाव[1] समानता[2] और सार्वभौमिकता[3] के दर्शन मिलते हैं।

सन्त मत को समझने के लिए संतों की कुछ सर्वसामान्य विशेषताओं को भी

[1] संत सुधासार भाग १ पृ० ६८१—साखी १६

[2] संत सुधासार भाग १ पृ० ६८१—साखी ८

[3] संत सुधासार भाग १ पृ० १०८—पद १०७

नवाँ अध्याय

उपसंहार

सन्त मत की संक्षिप्त रूप रेखा—

तत्कालीन युग पर विहंगम दृष्टि—सन्तों की समन्वयगत भेरणाएँ

संत मत सारग्राही मत है—यह विचारस्वातंत्र्यमूलक अनुभव पर टिका हुआ है।

सन्त मत की पृष्ठभूमि पर विहंगम दृष्टि—

निर्गुणवादी मत है।

सन्त मत की आत्मवादिता और आस्तिकता—

सन्त मत का सदाचरण—

सहज ज्ञान—भक्ति—वैराग्य—और योग का मिलन बिंदु—सन्तों की सहज

अद्वैत भावना—सन्त मत की भावात्मक पूजा विधि सन्त मत का मध्य

मार्गानुसरण—उपसंहार

निष्कर्ष—

संत मत की संक्षिप्त रूपरेखा

सन्त मत मध्ययुग की सबसे बड़ी देन है। इसका उदय आकस्मिक और अप्रत्याशित नहीं था। तत्कालीन वातावरण में सन्त मत से अधिक सहज और श्रेयस्कर मत का प्रवर्तन नहीं किया जा सकता था।

मध्ययुग राजनीतिक[1] दृष्टि से यवन सत्ता के प्रस्थापन और प्रसार का युग था। यवनों ने भारतीय फूट से लाभ उठाकर अपनी तलवार के बल पर भारत को पंगु बना कर अपने आधीन कर लिया था। तत्कालीन यवन शासक क्रूर धर्मांध और बर्बर लुटेरे थे। इनका लक्ष्य भारत में केवल राजनीतिक सत्ता का प्रस्थापन भर नहीं था। वे हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति का मूलोच्छेदन भी करना चाहते थे। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति उन्होंने की जोरों पर की थी। वे तलवार के बल पर हिन्दुओं को मुसलमान बनने के लिए बाध्य करते थे। यदि कोई इस्लाम के स्वीकार करने में रत्ती भर भी आनाकानी करता था तो उसे तुरन्त ही मृत्यु के घाट उतार दिया जाता था। हिन्दुओं की माँ बहनों की लाज उनकी आँखों के सामने ही यवन लूट ली जाती थी। और वे चुपचाप

[1] इसका सम्यक् विवेचन इसी ग्रंथ के प्रथम अध्याय में किया गया है।

भी नहीं दिखा सकते थे। देवी-देवताओं की मूर्तियों को अपनी आँखों के सामने पद दलित अपमानित कर तोड़ी जाती देखते देखते उनकी आँखें पक गई थीं। राजनीति और धर्म के मार्ग से हटते हुए हिन्दुओं के सामाजिक अधिकार तक छीन लिये गये थे। वे न तो अच्छा भोजन खा सकते थे और न अच्छे वस्त्रालंकार ही धारण कर सकते थे। यहाँ तक कि वे अपने घर में तीन महीने से अधिक का भोजन भी नहीं रख सकते थे। हिन्दुओं को अच्छी नौकरियाँ भी नहीं दी जाती थीं। उन राजनीतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप हिंदू जनता में घोर निराशा, वैराग्य और सगुणोपासना के प्रति प्रतिक्रिया की भावना व्याप्त हो गई।

मध्ययुग की धार्मिक स्थिति और भी शोचनीय थी। हिन्दू धर्म पुरोहितवाद के प्रभाव से अंधविश्वासों, मिथ्याचारों, बाह्याडम्बरों एवं धार्मिक बंधनों का अड्डा बन गया था। उधर दर्शन क्षेत्र में आचार्य लोग अपनी-अपनी बुद्धि की कलाबाजी दिखाने में लगे हुए थे। साधना क्षेत्र और भी अधिक विकृत और कलुषित हो रहा था। वाममार्गी सिद्ध नाथ यौगिक साधना के नाम पर घोर अनाचार फैला रहे थे।

देश की सामाजिक स्थिति भी अच्छी न थी। हिन्दू समाज में सदाचरण रूपी देवता के स्थान पर अनेक कुप्रथाओं एवं अंधविश्वासों की राक्षस-राक्षसियों की पूजा होने लगी थी। यवन समाज हिंदू समाज से भी अधिक दूषित था। उसमें व्यभिचार, चोरी और जालसाजी आदि अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए थे।

उपर्युक्त भीषण परिस्थितियों से त्रस्त और पथभ्रष्ट सामान्य जनता त्राण के लिए पुकार रही थी। इस पुकार को सुनकर हिन्दू और मुसलमान संत मिलकर एक ऐसा मार्ग ढूँढ़ने लगे जिससे किसी का भी विरोध न हो और जिसमें कोई भी दोष न हो तथा साथ ही साथ सहज सरल स्वाभाविक और अकृत्रिम भी हो। उनके इस प्रयास के फलस्वरूप ही सन्त मत का प्रवर्तन हुआ।

सन्त मत का विवेचन करने से पूर्व हम एक बात पर विशेष बल दे देना चाहते हैं। वह-यह कि उसका अध्ययन किसी वाद पंथ या सम्प्रदाय के प्रकाश में नहीं किया जाना चाहिए। सन्त मत वास्तव में सब प्रकार के वादों, पंथों और सम्प्रदायों से परे है। उसका अपना एक स्वतंत्र और मौलिक रूप है। यही कारण है कि इस मत में हमें सर्वत्र पंथवाद[1] पक्षपात[2] और वादविवाद[3] की निंदा मिलती है।

सन्त मत को समझने के लिए संतों की एक दो स्वभावगत विशेषताओं को भी

---

[1] संत सुधासार भाग १ पृ० ८८६—साखी १९

[2] संत सुधासार भाग १ पृ० ८८६—साखी ६

[3] संत सुधासार भाग १ पृ० १०८—पद १०७

ध्यान में रखना पड़ेगा। सन्त लोग स्वभाव से बुद्धिवादी और प्रतिविरोधी महात्मा थे। पाखंडपूर्ण अंधविश्वास प्रधान रूढ़ियों के प्रति उनकी अनास्था सदैव विरोध करती रही है। उनका रूढ़िविरोध क्रांति की सीमा तक पहुँच गया था। यही कारण है कि उन्होंने रूढ़ियों के प्रवर्तक मुल्ला और पंडित दोनों का बहिष्कार किया है। कबीर ने लिखा है—

पंडित मुल्ला जो लिख दिया।
छाँड़ि चले हम कछू न लिया ॥ क० ग्रं० पृ० २५२

जिस कठोरता से उन्होंने रूढ़ियों का विरोध किया था उसी दृढ़ता से उन्होंने बुद्धिवादी एवं अनुभूत सत्य तत्त्वों की भी स्थापना की थी। वे किसी भी बात को तभी स्वीकार करते थे जब उनकी बुद्धियाँ अनुभव की कसौटी पर खरी उतरती थीं। यही कारण है कि उनके द्वारा प्रवर्तित मत की सभी मान्यताएँ या तो अनुभूत सत्य के रूप में अभिव्यक्त हुई हैं या बुद्धिवादिता की ठोस भूमिका पर टिकी हुई हैं। संतों की स्वभावगत विशेषताओं में उनकी फक्कड़ता विशेष उल्लेखनीय है। वे फक्कड़ घुमक्कड़ और मनमौजी सन्त थे। कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए उनकी फक्कड़ता की कैसी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई—

हम घर जाल्या आपना लिया मुराड़ा हाथ।
अब घर जालौं तास का जे चलै हमारे साथ ॥ क० ग्रं० पृ० ६७

उनकी फक्कड़ता ने उनकी अभिव्यक्ति को निश्छल और व्यंग्यपूर्ण तथा उनके मत को अत्यधिक लोकप्रिय बना दिया है।

सन्त मत को समझने के पूर्व हमें संतों की सारग्राही प्रवृत्ति का भी अच्छी तरह समझ लेना पड़ेगा। हम बार-बार कह चुके हैं कि संत लोग नीर-क्षीर विवेकी महात्मा थे। उनकी इस प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए दादू साहब ने लिखा[1] है—

दादू साधु गुण गहै औगुण तजै विकार।
मान सरोवर हंस ज्यूँ छाड़ि नीर गहि सार ॥
—दादू बानी भाग १ पृ० १७१

सोइ संत सोइ निर्वानी नीर क्षीर निरवारन कर जानी।

संत कबीर[2] ने भी यही बात सूप के रूपक से प्रगट की है—

सार संग्रहै सूप ज्यौं त्यागै फटक असार।

---

[1] वही
[2] कबीर ग्रंथावली पृ० २१

इसी बात को दादू ने गाय के दृष्टान्त से व्यक्त किया है। उनका कहना है कि सच्चे साधु को गाय और पशु के वास्तविक रहस्य को समझकर गाय के दूध का पान करने की कामना से उसके सींग, पूँछ और पद का परित्याग कर उसके थनों की ओर ही ध्यान लगाना चाहिए[1]। अपनी इस सारग्राही प्रकृति के कारण ही संतों ने अपने मत को साररूप और दूसरे मतों को भ्रमजाल कह कहा है—

सन्त मता है सार और सब आल बसारा[2]।

यहाँ पर एक प्रश्न उठ खड़ा होता है, वह यह कि संत लोग सारे संग्रही मात्र थे उनका लक्ष्य केवल भिन्न-भिन्न दार्शनिक और धार्मिक संप्रदायों, वादों एवं पद्धतियों के सारभूत सिद्धांतों का संग्रह करना मात्र था या किसी मौलिक और व्यवस्थित विचारधारा को प्रस्तुत करना। कुछ दिनों पूर्व तक इस प्रश्न का उत्तर संदिग्ध शब्दों में ही दिया जाता था किन्तु उपयुक्त विवेचना के पश्चात् हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि सन्त मत एक व्यवस्थित एवं मौलिक विचारधारा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सन्तों ने अपने युग की समस्त प्रचलित, दार्शनिक, धार्मिक एवं सामाजिक विचारधाराओं के सारभूत तत्वों का ग्रहण किया था। किन्तु उन्होंने उस गृहीत सामग्री को अपनी प्रतिभा के साँचे में ढालकर तथा सहज की तराजू में तौलकर एक व्यवस्थित और मौलिक रूप दे दिया है। यह व्यवस्थित और मौलिक रूप ही सन्त मत के नाम से प्रसिद्ध है।

सन्त मत की सबसे बड़ी विशेषता उसकी अनुभवगम्यता है। सन्त लोग सच्चे सत्यान्वेषक थे। उन्होंने सत्य का अन्वेषण कोरे बाह्याचार पर ही नहीं आधारित किया था। वे अनुभव की प्रयोगशाला में अद्वैत तत्त्वों की खोज किया करते थे। सन्त मत में इन्हीं सत्यांशों का चयन किया गया है। यहाँ पर एक प्रश्न और उठ सकता है वह यह कि जब प्रत्येक सन्त का लक्ष्य अपने अपने अनुभूत सत्यों का कथन मात्र करना था तब उनकी विचारधारा को एक व्यवस्थित मत के रूप में कैसे माना जा सकता है। वास्तव में इस प्रकार के शंकामूलक प्रश्न तर्कमूलक एवं अनुभवमूलक ज्ञान के अन्तर को न समझने के कारण ही उठते हैं। ज्ञान के जो तर्कमूलक केवल तर्क की कसौटी पर कसकर सिद्ध किये जाते हैं उनमें कभी भी पूर्ण व्यवस्था नहीं आती क्योंकि तर्क के बल पर कुछ लोग एक ही बात को सत्य सिद्ध करते हैं और दूसरे उसी बात को असत्य सिद्ध करते हैं। किन्तु अनुभव ज्ञान में इस प्रकार की दुविधा नहीं दिखाई

---

1. दादू काया का पाय नहिं दूध रस वहि आहि।
मांस सींग पग परिहरे अस्थल लागा जाइ॥ सन्त सुधासार पृ० ४८३
2. सन्त बानी संग्रह भाग १ पृ० ११०

सकती। प्रत्येक साधक के अनुभूत सत्यतत्त्व व्यावहारिक दृष्टि से चाहे भिन्न-भिन्न दिखलाई पड़ें किन्तु तात्त्विक दृष्टि से एक और अद्वैत रूप होते हैं। सन्त दादू ने इसी सत्य का समर्थन करते हुए लिखा है—

जे पहुँचे ते पूछिए तिनकी एकै बात।
सब साधों का एक मत बिच के बारह बाट[1] ॥

सन्त सुन्दरदास ने भी बात का लोहा ही तर्क के साथ रखने की चेष्टा की है। उन्होंने लिखा है कि पक्षपातों में नहीं विश्वास करते क्योंकि वे तर्क की पृष्ठभूमि पर टिके रहते हैं। इसने सत्य की खोज अनुभव ज्ञान के सहारे की है। अनुभवमूलक ज्ञान सार्वजनिक सार्वभौमिक स्वतंत्र और आत्यन्तिक होता है। उसमें किसी प्रकार के साम्प्रदायिक भेदभाव के दर्शन नहीं हो सकते[2]। संत सुन्दरदास ने अनुभव के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि अनुभव की अवस्था में द्वैत अद्वैत का कोई भेद नहीं रहता। तत्त्व जैसा है उसी रूप में भासित होता है। अनुभवजन्य होने के कारण ही संत मत सब प्रकार के वादों और सम्प्रदायों से परे[3] हैं।

संतों का अनुभव ज्ञान अन्तर्दृष्टिमूलक विचारणा पर आधारित है। विचारणा के सहारे वे अपने अहंकार का निराकरण करते थे। संत सुन्दरदास ने लिखा है—

निस्संग विचार तें आपन पौ टारिए[4]।

जब यह आपन पौ या अहंकार नष्ट हो जायेगा तो तत्त्व की अनुभूति स्वयमेव हो जायेगी। उन्हीं संत ने एक दूसरे स्थल पर लिखा है कि जो साधक धीरज धारण करके निरंतर विचारणा में निमग्न रहता है उसे तत्त्वरूपी ब्रह्म की अनुभूति स्वयमेव होने लगती[5] है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संतमत विचारणाजनित अनुभव ज्ञान पर आधारित है। यह अनुभव ज्ञान आनन्दरूप और द्वन्द्वातीत[6] है। इसके प्रकाश में सब

---

१ सन्त सुधासार पृ० ४८९।

२ सुन्दर कहत पक्षपात माँहि भयो बाद।
जाके अनुभव ज्ञान बाद में न बह्यो है ॥ सुन्दर विलास पृ०

३ अनुभव बिन एक दोष न सन्देह कछु।
सुन्दर कहत ज्यूँ है त्यूँ ही ताहि वेदिये ॥ सुन्दरविलास पृ० १६८।

४ सुन्दरविलास पृ० १०१।

५ धीरज धारि विचार निरंतर तोहि रच्यो कोइ आतुर आवै ॥ सुन्दर विलास पृ० ६६

६ सन्त सुधासार पृ० ६६० भाग १ चौदहवीं एवं पन्द्रहवीं पंक्ति।

प्रकार के भेदभाव और अज्ञान नष्ट हो जाते हैं। यह साक्षात् ज्ञान ही सबसे महत्त्वपूर्ण[1] है।

संत मत की विशेषताओं का अध्ययन करते समय एक बात पर और ध्यान रखना चाहिए वह यह कि उन्होंने सदैव अपने मत में धर्म के सामान्य तत्त्वों पर ही अधिक बल दिया है जिससे वह किसी देश विशेष, काल विशेष और जाति विशेष का धर्म न रहकर सार्वकालिक सार्वभौमिक मानव धर्म के रूप में *निखर* आया है। हमारी समझ में सन्त मत का मानव धर्म का अभिधान देना अनुपयुक्त न होगा।

सन्त मत का विश्लेषण करते हुए उसकी पृष्ठभूमि पर भी दृष्टि रखनी पड़ेगी। यह एक सार संग्रही मत है। उस पर हमें उनके पूर्व की समस्त दार्शनिक, धार्मिक और साधु परम्पराओं के सारभूत सिद्धान्तों की छाया दिखाई पड़ती है। सच तो यह है कि सन्तों ने अपने पूर्ववर्ती सभी सारभूत दार्शनिक धार्मिक सामाजिक तत्त्वों को विचारात्मा मूलक अनुभव ज्ञान के साँचे में ढालकर सन्त मत के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

भारतीय धर्म, दर्शन, उपासना, साधना, संस्कृति इन सब का मूल स्रोत वेद है। वेद का मूल स्वर अद्वैतवादी है—एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति जैसी उक्तियाँ हमारे इस कथन का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। संहिताओं में बीजरूपेण अद्वैत भावना का सम्यक् अंकुरण और विस्तार उपनिषद् साहित्य में हुआ। उपनिषदों में आकर अध्यात्म चिन्तन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इसीलिए उसे वेदान्त की संज्ञा दी गई। उपनिषद् दर्शन का उदय ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था किन्तु फिर भी कर्मकाण्ड की परम्परा नष्ट नहीं हुई। समय पाकर वह सूत्रों और स्मृतियों का आधार पाकर पुनः अभिनव रूप में अवतरित हुई। ब्राह्मणों का पुरोहितवाद सूत्र और स्मृतिकाल में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। इन दो धाराओं के अतिरिक्त एक धारा प्रतिक्रियावादियों की भी थी। वैदिक आर्यों के समय प्रारम्भ हुआ था। फिर कुछ दिनों पश्चात् उस परम्परा से संबंधित दर्शन पद्धतियों की संख्या निरंतर बढ़ने लगी। प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रंथों में सैकड़ों प्रतिक्रियावादी सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध नियतिवाद, अक्रियावाद, उच्छेदवाद, यदृच्छावाद, अनिश्चिततावाद, भौतिकवाद तथा चार्वाक सम्प्रदाय आदि थे। किन्तु प्रतिक्रियावादी बौद्ध एवं जैनों सम्प्रदायों के उदय और विकास से सैकड़ों की संख्या में वर्तमान प्रतिक्रियावादी मतों को आत्मसात् कर लिया। फिर भी उनकी ऐसी परम्परा सामान्य जनता में प्रच्छन्न रूप से चलती रही। उधर कर्मकाण्ड एवं वेद

[1] सुन्दर विलास पृ० १९० पर *निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए*—अनुभव आतम ज्ञान-इत्यादि।

विरोधी प्रवृत्ति मध्ययुग की बहुत-सी धर्म और दर्शन पद्धतियों में समाविष्ट मिलती है।

उपर्युक्त तीनों प्राचीन परम्पराओं का सम्यक् विकास मध्ययुग में दिखाई पड़ा। प्राचीन उपनिषदिक दार्शनिक परंपरा का विकास षड्दर्शनों के रूप में हुआ। इन षड्दर्शनों में सबसे अधिक प्रचार और प्रतिष्ठा वेदांत की रही। उसकी अनेक शाखाएँ एवं प्रशाखाएँ प्रस्फुटित हुईं। इनमें अजातवाद, मायावाद, कल्पनावाद आदि अद्वैत वादी पद्धतियाँ तथा विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। ब्राह्मणों की कर्मकाण्डी तथा उपनिषदों की दार्शनिक विचारधाराओं के मेल से आचार प्रधान पंचदेवोपासना पद्धतियों का विकास हुआ। इनके नाम क्रमशः शैव वैष्णव शाक्त गाणपत्य और सूर्य सम्प्रदाय हैं। इन पाँचों उपासना पद्धतियों में प्रथम तीन बहुत अधिक विकास को प्राप्त हुईं। इनसे संबंधित अनेक दर्शन पद्धतियों, उपासना सम्प्रदायों तथा साधु सम्प्रदायों का जन्म हुआ। शैव दर्शन पद्धतियों में पाशुपत दर्शन वीर शैव दर्शन तथा शैव दर्शन और प्रत्यभिज्ञा दर्शन विशेष उल्लेखनीय हैं। साधु और साधना सम्प्रदायों में कापालिक सम्प्रदाय कालमुख सम्प्रदाय दक्षिण का शैव भक्त सम्प्रदाय, कौलक सम्प्रदाय, लिंगायत सम्प्रदाय आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। वैष्णव धर्म और दर्शन सम्प्रदायों में दक्षिण के आलवार भक्त सम्प्रदाय, महाराष्ट्रीय सन्त सम्प्रदाय, सहजिया गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय, गुसाईं सम्प्रदाय, पंचसखा, मान भाव, तथा दत्त देव सम्प्रदाय के नाम विशेष निर्देश्य हैं। कुछ छोटे-मोटे मिश्रित सम्प्रदायों का भी उदय हुआ था। जिनमें लालदेव सम्प्रदाय, लालबेगी सम्प्रदाय और बाल्मीकि सम्प्रदाय विशेष प्रसिद्ध हैं।

प्राचीन प्रतिक्रियावादी धारा मध्ययुग में आकर विकृत बौद्ध दर्शन और साधना पद्धतियों के रूप में पनपने लगी। मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान, काल चक्रयान आदि इसी धारा से संबंधित सम्प्रदाय कहे जा सकते हैं। मध्ययुग की सबसे प्रसिद्ध साधना पद्धति का उदय बौद्ध और शैव साधना और दर्शन पद्धतियों के मिश्रण से हुआ था। इसका नाम नाथ सम्प्रदाय है। उपर्युक्त भारतीय धर्म दर्शन और साधना पद्धतियों के अतिरिक्त कुछ विदेशी धर्म और दर्शन पद्धतियाँ भी विकास पा रही थीं। इनमें इस्लाम ईसाई तथा सूफी मत के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ साधना पद्धतियों का विकास इन सब के समन्वय से भी हुआ था। बाउल सम्प्रदाय एक ऐसा ही देशी एवं विदेशी सम्प्रदायों के मिश्रण से बना हुआ साधु वर्ग था। इस प्रकार सन्त मत की पृष्ठभूमि के रूप में अनेक दार्शनिक धार्मिक और साधु सम्प्रदाय पहले से ही वर्तमान थे। इनके मत पर इन सब के क्रियात्मक एवं प्रतिक्रियात्मक प्रभाव पड़े हैं। पीछे हम इन सबका स्पष्ट निर्देश कर आये हैं। यहाँ पर केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि सन्त मत का

अध्ययन करते समय उनकी उपर्युक्त लंबी-चौड़ी पृष्ठभूमि को किसी भी प्रकार भुलाया नहीं जा सकता। उनके ताने-बाने इसी पृष्ठभूमि पर तैयार किये गये थे। बाद में सन्तों की विचारणामूलक अनुभूति तथा प्रतिभा ने नया रंग भरकर उसे मौलिकता प्रदान कर दी। सन्त मत निर्गुणवादी मत है। निर्गुण से सन्तों का क्या अभिप्राय है? इस प्रश्न का उत्तर हमें सन्त सुन्दरदास की एक उक्ति में सरलता से मिल जाता है। उन्होंने त्रिगुण के विरोध में निर्गुण का प्रयोग किया है। ब्रह्म विष्णु महेश आदि को वह त्रिगुणाधिपति मानते हैं। इन तीनों देवताओं के प्रति उन्हें श्रद्धा नहीं है वे लिखते हैं ब्रह्माजी कुम्हार का काम करते हैं जीवों को कर्मानुसार जन्म देकर शरीर प्रदान करते हैं। इसलिए वे हमें अच्छे नहीं लगते। विष्णु अनेक प्रकार के अवतार धारण करते हैं गर्भ में आकर अनेक प्रकार के कष्ट सहन करते हैं तथा जीवन काल में कुछ का सनाव है और कुछ की रक्षा करते हैं। इसलिए उनके प्रति भी हमें श्रद्धा नहीं है। शंकर जी का वेश बड़ा अमंगलकारी है। वे भूत पिशाचों के पति हैं। हाथ में कपाल लिए रहते हैं अतएव उनका रूप भी हमें प्रिय नहीं लगता। ये तीनों ही क्रमशः सत रज तम के प्रतीक होने के कारण हमें मान्य नहीं हैं। हम त्रिगुणातीत एक निरंजन निर्गुण की उपासना करना ही श्रेयस्कर समझते[1] हैं।

सन्त सुन्दरदास के सदृश ही सन्त कबीर ने भी निर्गुण ब्रह्म का कथन करने का उपदेश दिया है वे लिखते हैं हे भाई निर्गुण ब्रह्म का कथन स्मरण और विवेचन करना चाहिए। उसके स्मरण से बुद्धि-शुद्धि और मति की प्राप्ति होती[2] है। इसी प्रकार जग जीवन साहब ने निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करने का उपदेश दिया[3] है। अब प्रश्न यह है कि उनके इस निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप क्या है। वैसे तो संतों के निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप

---

[1] ब्रह्म कुलाल रचै बहु भाजन।
करमनि के बस आदि न जाई।
विष्णुहि संकट आए स॰ ग्रम।
काहू को रछक काहू मराई।
संकर भव पिशाचनि को पति।
पानि कपाल लिए बिललाई।
याहि तें सुंदर त्रिगुण त्यागसु।
निर्गुण एक निरंजन ध्याई। सुन्दर विलास पृ॰ ७४

[2] निर्गुण ब्रह्म कथौ रे भाई।
जो सुमिरत सुधि बुधि मति पाई। कबीर ग्रंथावली पृ॰ २११

[3] जगजीवन गुरू चरन धरि के निर्गुन धरि ध्यानं। सन्त बानी संग्रह भाग १ पृ॰ ११३

वर्णन ब्रह्म निरूपण के प्रसंग में किया गया है। किन्तु यहाँ पर हम उनके तत्सम्बन्धी अन्तिम मतवाद का संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं। सन्त दादू ने लिखा है कि निर्गुण ब्रह्म जैसा है वैसा ही है अर्थात् उसकी अनुभूति भर की जा सकती है। उसका वर्णन किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता। अन्य संतों ने भी निर्गुण के संबंध में यही अंतिम निर्णय दिया है। किन्तु निर्गुण के इस प्रकार के स्वरूप निर्देश से एक समस्या और सामने आ जाती है वह यह कि जब निर्गुण केवल अनुभव गम्य मात्र है तो फिर उसकी साधना और उपासना कैसे की जावे। इस संबंध में संतों की धारणायें बहुत स्पष्ट हैं। उनका कहना है कि निर्गुण परमात्मा का केवल आत्म रूप है। उसकी सेवा और उपासना करनी चाहिए। संत कबीर ने लिखा है—

निराकार निज रूप है प्रेम प्रीति से सेव[1]।

इस निर्गुण आत्मा तत्व पर विचार करना, चिंतन करना और उसी का ध्यान करना ही संतों का प्रमुख लक्ष्य था। किन्तु विचारणा और ध्यान आदि का मार्ग भी कठिन है। अतएव संतों को निर्गुण की सहजतम उपासना भी भी खोज करनी पड़ी। इस खोज के फलस्वरूप ही उन्हें सत्य नाम का बोध हुआ। उसी को उन्होंने निर्गुण का आधार कहा है। संत दरिया साहब ने लिखा है—

सत्त नाम है निरगुन आधार[2]।

संतों की साधना में इसी लिए नाम स्मरण और नाम जप को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। सन्त मलूकदास ने लिखा है कोई भाग्यशाली साधक ही निर्गुण के गुण गाता[3] है।

संत मत पूर्ण आस्तिक और आत्मवादी है। अभी हम ऊपर कबीर का उद्धरण देकर दिखला चुके हैं कि संत लोग निर्गुण ब्रह्म से आत्मतत्व का बोध भर करते थे। उन्होंने सर्वत्र आत्मदेव की पूजा का ही उपदेश दिया है। संत दरिया साहब ने लिखा है कि आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ देवता है। उसके अतिरिक्त और कोई देवता नहीं होता। उसी की साधना करनी चाहिए[4]। इसी प्रकार संत दादू ने भी आतम राम में ही लौ लगाने का उपदेश दिया[5] है। संत सुन्दरदास ने भी आतम राम के ही भजन करने का आदेश

---

[1] कबीर ग्रंथावली पृ०

[2] दरिया सागर पृ० १२।

[3] सदन मलूक निरगुन के गुन कोई बड़ भागी गावै। मलूकदास की बानी पृ० १०

[4] आतम पूजा जहाँ देव दूजा—दरिया साहब के चुने हुए पद और साखी पृ० ७

[5] दादू आतम राम सों सदा रहे ल्यौ लाय। दादू बानी संग्रह भा० १ पृ० ८६

दिया है।[1] संत यारी साहब ने वृत्ति को अंतर्मुखी करके आत्म पूजा करने का निर्देश दिया[2] है। संत कबीरदास का सारा प्रयास, सारी अभिव्यक्ति, सम्पूर्ण साधना आत्म परक ही है उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है—

लोग कहैं यह गीत है यह तो ब्रह्म विचार रे।
कहत कबीर समुझाइया आतम साधन सार रे॥

आत्मसाधना के संतों ने अनेक साधन निर्दिष्ट किये हैं। उनमें विचारणा, सदाचरण प्रपत्ति, अथवा सहजाचरण सहज वैराग्य, भाव भगति, आत्मज्ञान और सहज योग प्रमुख हैं। पीछे इन सब पर विस्तार से विचार किया जा चुका है। यहाँ पर केवल आवश्यकतानुकूल संकेत मात्र करेंगे। सन्त सुन्दरदास की दृढ़ धारणा है कि आतम विचार करते-करते आत्म-साक्षात्कार स्वयं होने लगता है।[3] वैसे तो संतों ने कर्मवाद की निन्दा की है किन्तु कर्ममार्ग से जैसा कि गीता में लिखा है किसी को भी मुक्ति नहीं मिल सकती।[4] इसके लिए संतों ने सहजाचरण और सदाचरण का निर्देश किया है। सदाचरण संत मार्ग का प्राणभूत तत्व है। संतों ने जहाँ कहीं भी सिद्धान्त रूप से अपने मत का प्रचार किया है वहाँ सबसे पहले उन्होंने सदाचरण को ही महत्व दिया है। सन्त मलूकदास जी ने ब्रह्म को प्रसन्न करनेवाले मार्गों में सहजाचरण और सदाचरण का ही सर्वश्रेष्ठ बताया है। उन्होंने लिखा है कि संतों का निरंकार निर्गुण ब्रह्म न तो जप करने से प्रसन्न होता है न तप करने से और न आत्मा को कष्ट देने से। वह धौति नेति जैसी हठयोगिक प्रक्रियाओं और स्नानादि बाह्याचारों से भी प्रसन्न नहीं होती। वह निर्गुण उसी व्यक्ति के प्रति द्रवित होता है जो गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी उदासीन रहता है, धर्माचरण करता है और दूसरों के प्रति सहानुभूति रखता है और दूसरों की कटु बानियाँ सहन करता है। सन्त दादू[5] ने श्रेष्ठ साधु के लक्षण

---

[1] आतम राम भजै क्यों न सुंदर।—सुन्दरविलास पृ० १०

[2] आपा उलटि आतमा पूजा।—यारी साहब की बानी पृ० १

[3] आतम विचार किए आतमा ही दीसे दृढ़। —सन्तबानी संग्रह भाग २ पृ० १०९

[4] न कर्मभिः कश्चित् जातु सिद्धिं अवाप्नुयात्। —गीता।

[5] ना वो रीझै जप तप कीन्हे ना आतम को जारे।
ना वो रीझै धोती नेती ना काया के पखारे।
दया करै धरम मन राखै घर में रहै उदासी।
अपना सा दुख सब का जानै ताहि मिलै अविनासी।
सहै कुसबद बादहू त्यागी छाड़ै गर्व गुमाना।
यहि रीझ मेरा निरंकार को कहत मलूक दिवाना॥ सन्त बानी संग्रह भाग १ पृ० ९८

बताते हुए लिखा है कि साधुओं में शिरोमणि वही माना जाता है, जो भगवान् के गुणों का गान करता है विषय वासना का त्याग कर देता है तथा अहंकार से दूर रहता है और मिथ्या वाणी नहीं बोलता। वह दूसरों की निन्दा भी नहीं करता है तथा अव गुणों का परित्याग कर गुणों का आचरण कर भगवान् के चरणों में अपने मन को अर्पित किये रहता है। वह किसी से बैर नहीं करता सब में परमात्मा के दर्शन करता है। वह अपने और पराये में भेद नहीं करता है तथा सत्यवादी रहकर पवित्र आत्म-चिन्ता में लीन रहता है। वह सब प्रकार के विकारों से दूर रहकर निर्भय भाव से भगवान् के भजन में निमग्न रहता है।[1] इस भाव को सन्त कबीर ने और भी अधिक सवेर में व्यक्त किया है। सन्तों का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि वे निष्काम भाव से विषय विकारों से दूर रहते हुए भगवद्भक्ति में लीन रहते हैं।[2] इसी प्रकार अन्य सन्तों ने भी अनेक प्रकार से सदाचरण और सहजाचरण का उपदेश दिया है।

सन्तों ने सहजाचरण के साथ ही साथ सहज वैराग्य के प्रति भी आस्था प्रकट की है यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि सन्तों ने कहीं पर भी वन में जाकर साधना करने का उपदेश नहीं दिया है। उन्होंने सदैव मन को शुद्ध करने का आदेश दिया है। उनकी दृष्टि में मन का शुद्ध करना ही सच्चा और सहज वैराग्य है। संत कबीर ने स्पष्ट लिखा है—

मनहु यसी का कीजिए जो मन नहिं परिहरु विकार।[3]

वासना के परित्याग और मन के शुद्धीकरण पर सन्तों ने विशेष बल दिया

---

1 सोई साध सिरोमनी गोविन्द गुण गावै।
राम भजै बिषया तजै आपाम जनावै॥
मिथ्या मुखि बोलै नहीं पर निंदा नाहीं।
औगुण छाडै गुण गहै मन हरि पद माहीं॥
निरबैरी सब आत्मा पर आतम जानै।
सुख दाई समिता गहै आपा नहिं आनै॥
आपा पर अन्तर नहीं निर्मल मारा।
सतवादी साचा रहै लैलीन विचारा॥
निर्भै भजि न्यारा रहै काहू लिपत "न" होइ।
दादू सब संसार में ऐसा जन कोई॥ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० ११

2 निरबैरी निहकामता साँई सेती नेह।
बिषया सूं न्यारा रहै सन्तनि का अंग एह। कबीर ग्रंथावली पृ० ५०

3 कबीर ग्रंथावली पृ० २०८।

है। सन्त पलटू साहब ने लिखा है कि सच्चे वैराग्य की प्राप्ति तभी हो सकती है जब वासना का बीज नष्ट हो जाय।

बीज वासना को जरै तब छूटै संसार।

सन्त दरिया साहब का तो यहाँ तक विश्वास था कि साधक की सफलता मन विजय पर ही आधारित रहती है—

मन के जीते जीतिया।[1]

सन्त कबीर का यह दृढ़ निश्चय था कि जब तक मन विकृत रहता है तब तक सहज वैराग्य की प्राप्ति नहीं होती।[2] वे लिखते हैं कि जब तक मन में विकार रहता है तब तक साधक को संसार से मुक्ति नहीं मिलती। किन्तु जब मन पवित्र हो जाता है तो उसे शीघ्र ही निर्मल आत्मा के दर्शन होने लगते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि इस मन को किस प्रकार वश में किया जाय। दादू के शब्दों में मन बड़ा प्रबल होता है यह बिना मारे हुए किसी भी प्रकार वश में नहीं हो सकता[3]। इसी लिए उन्होंने मन को मारने के लिए ज्ञान खड्ग को प्राप्त करने का उपदेश दिया है। वे कहते हैं कि बुद्धिमान् साधक सदैव ही गुरु के द्वारा दी हुई ज्ञान खड्ग का उपयोग करता है। उस ज्ञान खड्ग से मन मिरगा [illegible] मारना चाहिए। उसका मांस बहुत मधुर होता है। ज्ञान मन[4] रूपी मिरगा को मारनेवाला है। सम्भवतः इसीलिए संतों ने ज्ञान को विशेष महत्त्व दिया है। सुन्दरदास का तो दृढ़ विश्वास था कि ज्ञान के बिना सुख नहीं मिल सकता। उनका[5] विश्वास था कि जो लोग बिना ज्ञान के ही वैराग्य मार्ग में पग रखते हैं उनकी अवस्था भांड के होने के सदृश हो जाती[6] है। अब प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान से संतों का क्या अभिप्राय था। यारी साहब ने संतों के ज्ञान पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि संतों का उत्तम ज्ञान हद और बेहद से परे निर्गुण ब्रह्म से संबंधित

---

1 दरिया सागर पृ० ३०

2 जब लग मनहिं विकारा तब लग नहिं छूटै संसारा।
जब मन निर्मल करि जाना तब निर्मल माहिं समाना॥ कबीर ग्रंथावली पृ० १०८

3 मार्‍यों बिन मानै नहीं यहु मन हरि की आन। दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० ११०

4 ज्ञान खड्ग गुरुदेव का ता संग सदा सुजान।
मन मिरगा मारै सदा ताका मीठा मांस॥ दादू बानी भाग १ पृ० ११०

5 सुन्दर ज्ञान बिना न कहूँ सुख ढूंढ़त को बहु भाँति गयी है।

6 जैसेंहि सुन्दर ज्ञान बिना वह बौरि
भये नर भांड के हैना। सुन्दर विलास पृ० ६१

होता है। इनके शब्दों में आत्मज्ञान को ही ये सच्चा ज्ञान मानते[1] हैं। संत मलूकदास जी ने लिखा भी है कि गोविन्द स्वरूपी गुरु ने हमें सार मत की दीक्षा दी जिस दीक्षा के फलस्वरूप हमें आत्मज्ञान प्राप्त हुआ। यह आत्मबोध बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। इसके प्राप्त होते ही समस्त भ्रमों का निराकरण हो जाता है। अन्य[2] सन्तों ने भी आत्मज्ञान को ही श्रेष्ठ ज्ञान सिद्ध करने की चेष्टा की है। संतों के लिए ज्ञान का महत्व एक दृष्टि से और था। उनका विश्वास था कि सच्चे आध्यात्मिक प्रेम की उत्पत्ति ज्ञान की अग्नि से ही होती[3] है। कुछ संत ज्ञान का मोक्षमूलक अर्थ भी मानते थे। सन्त दरिया साहब ने लिखा है कि गम्भीर ज्ञान उसी को कहते हैं जिसके सहारे त्रिकुटी के मध्य में स्थित आत्मतत्त्व के दर्शन होते[4] हैं।

सन्त मीरा के शब्दों में हम ऊपर पढ़ आये हैं कि ज्ञानाग्नि से ही प्रेम-पदार्थ की उत्पत्ति होती है। यह[5] प्रेम-पदार्थ संतमत का मूलाभूत तत्त्व है। इस प्रेम-पदार्थ की अभिव्यक्ति उनकी बानियों में हमें दो रूपों से मिलती है एक भक्तिमार्गीय ढंग पर और दूसरी सूफियों के रहस्यवादी ढंग पर। यही कारण है कि उनकी बानियों में हमें प्रेम स्वरूप के उपासनात्मक और रहस्यात्मक दोनों पक्षों का प्रतिपादन बड़े विस्तार से मिलता है। यदि उसके दोनों पक्षों का विवेचन किया जाय तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन सकता है। हम यहाँ पर केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि संतमत में सहज वैराग्य सहज ज्ञान सहज विचारणा से भी अधिक प्रेम प्रपत्ति[6] या प्रेम लक्षणा भक्ति या भाव आसक्ति[7] का महत्व बताया गया है। ज्ञानवादी संतों तक ने भक्ति को ही सब

---

1. हद बेहद के बाहरे यारी सत्तम को उत्तम ज्ञान। यारी साहब की रत्नावली पृ० १

2. गुरु गोविन्द सार मत दीन्हा।
   अलख अपार को आतम चीन्हा।
   बड़े भाग्य से आतम जागा।
   भरम समूल सकल भ्रम भागा। मलूकदास की बानी पृ० १८

3. प्रेम पदारथ प्रगट भयो जब ज्ञान अगिनि परजार। मीरा साहब की बानी पृ० ३१

4. ताके कहिए ज्ञान गम्भीरा।
   त्रिकुटी मध्य को पावै हीरा॥ दरिया सागर पृ० १४ पंक्ति २

5. प्रेम पदारथ प्रगट भयो जब ज्ञान अगिनि परजार—मीरा साहब की बानी पृ० ३१
   दादू दयाल की बानी भाग १ पृ० १७

6. सन्त सुधासार भाग १ पृ० २००

7. साहिब के दरबार में केवल भक्ति पियार। पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० ८८
   तैसेहि सुन्दर धीर किया सब
   राम बिना फिरवै मन तेरी। सुंदर विलास पृ० ६६

साधनों का सार कहा है। ज्ञान को विशेष महत्त्व देनेवाले सन्त सुन्दरदास ने भी लिखा है—

सकल उपाइ तजि एक राम नाम भजि[1]।

तथा

सुन्दर एक भजै भगवन्तहि सो सुख सागर में नित[2] भूलै।

सुन्दरदास के सदृश ही अन्य सन्तों ने भी प्रेम भक्ति को ही सब साधनों में श्रेष्ठ और महान् सिद्ध करने की चेष्टा की है। सहजोबाई ने स्पष्ट घोषणा की है—

बिना भक्ति थोथे सभी योग यज्ञ आचार[3]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संत मत में प्रेमाभक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। नारद भक्ति सूत्र में भक्ति के वैधी और रागानुगा ये दो भेद बताए गये हैं उनमें संतों की भक्ति भावना रागानुगा के अन्तर्गत आ सकेगी किन्तु उसका भी संतों ने सहजीकरण किया है। उन्होंने भक्ति क्षेत्र में प्रपत्ति भाव का स्मरण को ही विशेष महत्त्व दिया है। संत लोग ईश्वर के प्रति एवं आत्मसमर्पण में भी विश्वास करते थे। संत रैदास ने लिखा है कि हे प्रभु मैं आपकी शरण में हूँ। आप जैसी चाहें वैसी गति मुझे दें। प्रपत्ति[4] और आत्मसमर्पण भाव के अतिरिक्त संतों ने अपनी भक्ति में नाम जप को भी अत्यन्त महत्त्व दिया है। संत धरना जी ने स्पष्ट घोषणा की है—

पढ़ मठ तीरथ फेर पृथ्वी सुनै नहीं कोइ नाँव समाना।
नेम धर्म तप जप तन मैला नाव समान कोइ दूजा न देखैना।
दान पुन्य करि सुना बईठा नाँव समान कोई सुन्या न दीठा।
नौ खण्ड पृथिवी जोगी जोई धरना नहीं बराबर होई।

इसी प्रकार गुलाल साहब ने भी लिखा है—

बिना नाम नहिं मुक्ति कौंच सब मोह्या[5]।

---

[1] सुंदर विलास पृ० ६६

[2] सुन्दर विलास पृ० ७१

[3] सहजो बाई की बानी पृ० १२

[4] अब हरि हरि-जन शरण प्रभु तेरी ज्यों जानहु त्यों कर गति मेरी। सन्त सुधासार भाग २ पृ० १८२

[5] गुलाल साहब की बानी—पृ० ६२

वे तो नाम को ही तत्त्व ज्ञान मानते थे। इसी प्रकार[1] संत रज्जब जी ने भी लिखा है कि नाम के बिना कभी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती[2]।

संतों ने अपनी भक्ति में सत्संगति को भी विशेष महत्त्व दिया है। वे सत्संगति को प्रेम भक्ति को दृढ़ करने का एक साधन मानते थे।[3] इसी प्रकार भीखा साहब ने भी लिखा है कि सत्संगति से भाव-भगति बढ़ती है और परमानन्द की भाव-भगति का बोध अधिक होता है। सन्त[4] दादू ने तो स्पष्ट रूप से संसार में दो अमूल्य रत्नों का उल्लेख किया है। एक भगवान् स्वयं हैं और दूसरे सन्त जन हैं[5]। संत पलटू साहब तो संतों को भगवान् का अवतार ही मानते थे[6]।

सन्त मत शुद्ध ऐकान्तिक नहीं था, उसमें लोकसंग्रह के भाव को भी महत्त्व दिया गया है। सन्त कबीर ने लिखा है मुझे भगवान् से आदेश मिला है कि मैं लोगों को उपदेश दूँ और भवसागर के बीच में जो डूब रहे हैं उनका उद्धार[7] करूँ। जब सन्त मत स्वयं लोक संग्रही था तो उसमें प्रतिष्ठित भक्ति भी लोक-संग्रही ही मानी जायगी। सन्त पलटू साहब ने इसका समर्थन भी किया है। उन्होंने लिखा है कि भक्त लोग जगत को सन्मार्ग पर लाने के लिए उपदेश दिया करते हैं।[8]

ऊपर हम अभी कह आये हैं कि सन्त लोग त्रिकुटी मध्यस्थ आत्मतत्त्व के दर्शन करने को ही श्रेष्ठ ज्ञान मानते थे ऐसे सन्तों ने साधना में योग का भी विशेष महत्त्व दिया है। क्योंकि त्रिकुटी मध्यस्थ आत्मतत्त्व का साक्षात्कार योग के सहारे ही हो सकता है। भारत में योग के चारों प्रकार प्रचलित रहे हैं जिनमें हठयोग लययोग मन्त्रयोग तथा राज योग की विशेष मान्यता रही है। शिव संहिता में एक राजाधिराज योग की भी चर्चा की गई है। सन्तों की बानियों में हमें उपर्युक्त सभी प्रकार के योगों की क्रियाओं-प्रक्रियाओं के दर्शन होते हैं। किन्तु विशेष रूप से वे सहज योग में विश्वास करते थे। योग का मार्ग बड़ा कठिन है। सन्त पलटू साहब ने तो यहाँ तक

---

1 नाम न जानहुँ तत्त्व ज्ञान। गुलाल साहब की बानी—पृ० ६२
2 नाम बिना नाहीं निस्तारा कबहु न पहुँचे पार। संत सुधासार भाग 1 पृ० २३३
3 हिय प्रति दरसन साधक प्रेम भगति दिढ़ देय। दादूदयाल की बानी भाग 1 पृ०१६०
4 सत्संगति में भाव भक्ति परमानन्द जाने। सन्त सुधासार भाग २—पृ० १६६
5 दादू इस संसार में ये द्वय रतन अमोल।
एक साँईं अरु सन्त जन इनका मोल न तोल॥ दादूदयाल की बानी भाग 1 पृ०१६६
6 सन्त रूप अवतार आप हरि धरि के आए। पलटू साहब की बानी भाग 1 पृ० ११
7 मोहि कहा तुम जाय दया करि काहू को समझाय। कबीर ग्रंथावली पृ० १६६
8 भक्ति करे उपदेश जगत को राह बतावे। पलटू साहब की बानी भाग 1 पृ० १३

लिखा है कि रण में युद्ध करना उतना कठिन नहीं है जितना योग करना कठिन[1] है। इसीलिए सन्तों ने योग के विशेषकर हठयोग के प्रति उपेक्षा भाव प्रकट किया है। सन्त कबीर ने हठयोग का विरोध करते हुए लोगों को भगवद्भक्ति का उपदेश दिया है—

आसन पवन दूर कर बौरे
छोड़ कपट नित हरि भज बौरे।[2]

योग क्षेत्र में सन्तों ने सहजयोग के अतिरिक्त लय योग को भी महत्व दिया है। उनका शब्द सुरति योग लय योग का ही एक प्रकार है। योग के प्रसंग में हम इसका विस्तार से विवेचन कर चुके हैं। यहाँ पर उसका संकेत मात्र करेंगे। सन्तों ने शब्द ब्रह्म से सुरति का तादात्म्य स्थापित करने के बहुत से उपाय बताए हैं। इनमें ध्यान जप मन पवन आदि प्रमुख हैं। ध्यान का उपदेश देते हुए यारी साहब ने लिखा है—

त्रिकुटी में चित्त देइ ध्यान धरि देखि तहाँ।[3]

त्रिकुटी के अतिरिक्त धुनि में ध्यान करने का उपदेश भी दिया है। यारी साहब कहते हैं कि हृदय में ध्यान करने से निर्गुण प्राप्त हो सकता है।[4] जप साधना के अन्तर्गत नाम जप और अजपा जाप दोनों को महत्व दिया गया है। नाम जप से किस प्रकार सहज भाव से सुरति शब्द योग की सिद्धि हो जाती है। इसका सुन्दर वर्णन भीखा साहब ने निम्नलिखित पंक्तियों में किया है—

हर दम नाम सुनत अभ्यंतर।
अनुभव मधुर बचनिया॥
सुनत सुनत चित मांझ जगी।
लगी सुरत निरत उनमुनिया॥[5]

अजपा जाप से भी योग की सिद्धि हो जाती है। इसका संकेत करते हुए भीखा साहब ने लिखा है—

आप में रूप भया आप अजपा जपा।
चाँद औ सूर मिलि त्रिकुटी आया॥[6]

---

[1] रन का करना सहज है मुश्किल करना योग। पलटू साहब की बानी भाग ३ पृ० ६९

[2] कबीर ग्रंथावली पृ० २१२

[3] यारी साहब की रत्नावली पृ० १६

[4] यारी साहब की रत्नावली पृ० ६ पंक्ति सात

[5] भीखा साहब की बानी पृ० १९

[6] भीखा साहब की बानी पृ० २१

इसी प्रकार मन पवन साधना के सहारे भी शब्द सुरति योग स्थापित करने का उपदेश दिया गया है। सन्त मत में सबसे अधिक महत्त्व सहज योग को दिया गया है। सहज भाव से आत्मा को परमात्मा में लीन कर लेने को ही सहजयोग कहते हैं। दादू साहब ने लिखा है—

सहज भाय सुख समाय जीव ब्रह्म में आय रे।[1]

इसी प्रकार का सहज योग मन को संयमित करने से पूर्ण होता है। वास्तव में सन्तों का योग मन साधना और आचरण प्रवणता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह बात कबीर के वाणी स्वरूप के निम्नलिखित वर्णन से स्पष्ट प्रकट है—

मो जोगी जाके मन में मुद्रा।
रात्रि दिवास न करई निद्रा॥
मन में आसण मन में रहँणा मन का जप तप मन सूँ कह्याँ॥
मन में षपरा मन मैं सींगी अनहद बेन बजावै रंगी।
पंच परजारि भसम करि भूका कहै कबीर सो लहसै लंका॥[2]

योग साधना को महत्त्व दिये जाने के कारण कायावाद और गुरुवाद की भी अच्छी प्रतिष्ठा है। सन्त कबीर ने काया को ब्रह्माण्ड के समकक्ष माना है। उसमें उन्होंने काशी आदि अनेकों तीर्थों तथा कमलापति की स्थिति बताई है।[3] इसी प्रकार इस मत में गुरु को भी सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। कुछ सन्तों ने तो गुरु को भगवान् से अधिक महत्त्व दे डाला है। सहजोबाई ने लिखा है कि गुरु परमेश्वर से भी बड़े होते हैं। परमेश्वर तो केवल मुक्ति देते हैं और गुरु परमेश्वर से मिला देते हैं।[4]

सन्त मत में किसी भी प्रकार का भेद भाव मान्य नहीं है। अध्यात्म क्षेत्र में वे पूर्ण अद्वैतवादी हैं। सन्त सुन्दरदास ने स्पष्ट घोषणा की है कि सन्तों ने अद्वैतज्ञान को ही महत्त्व दिया है[5]—

और उपाय थके सबही तब संतन अद्वै ज्ञान दयो।

---

[1] दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० ६८

[2] कबीर ग्रन्थावली पृ० १६८

[3] काया मध्ये कोटि तीरथ काया मध्ये कासी।
काया मध्ये कमलापति काया मध्ये बैकुंठ वासी॥ कबीर ग्रंथावली पृ० १६६

[4] परमेसुर से गुरु बड़े गावत वेद पुरान। सहजो हरि के मुक्ति है गुरु के घर भगवान्॥
सन्त सुधासार खण्ड २ पृ० १८१।

[5] सुन्दर विलास पृ० ११८।

संतों के इस अद्वैतज्ञान का उद्घाटन तो उनकी दर्शन पद्धति के प्रसंग में कर चुके हैं। यहाँ पर केवल इतना ही कहना अभीप्सित है कि संतों का अद्वैत तर्क पर आधारित न होकर विचारणा मूलक अनुभूति पर आश्रित है। संत सुन्दरदास ने लिखा है—

सुन्दर विचारत यूं उपजै अद्वैत ज्ञान।[1]
आपहूं अखण्ड ब्रह्म एक पहिचान्यो है।

इसी प्रकार अनुभव ज्ञान भी अद्वैत रूप होता है—

अनुभव बिना एक होइ न अनेक कछु।
सुन्दर कहत ज्यों है त्यूं ही ताहि दर्शिए॥[2]

संतों का अध्यात्मपरक अद्वैतवाद समाज क्षेत्र में साम्यवाद के रूप में प्रकाशित हुआ है। अपने साम्यवाद के समर्थन में उन्होंने दो प्रकार के तर्क उपस्थित किये हैं—एक आध्यात्मिक और दूसरा आधिभौतिक। साम्यवाद के लिए आध्यात्मिक तर्क देते हुए संत दादू लिखते हैं कि आत्मा वास्तव में एक अद्वैत रूप है और जो अन्तर भेद दिखाई पड़ते हैं वे व्यावहारिक भेद हैं।[3] इस बात को दादू ने और भी कई स्थलों पर दूसरे शब्दों में दुहराने की चेष्टा की है।[4] इन आध्यात्मिक तर्कों के अतिरिक्त संतों ने अपने साम्यवाद के समर्थन में कुछ आधिभौतिक तर्क भी दिये हैं। संत गरीब दास कहते हैं जब प्रत्येक मनुष्य की उत्पत्ति एक ही प्रकार से होती है तो उनमें हिन्दू और मुसलमान का भेद क्यों माना जाता है। इसी प्रकार जब प्रत्येक मनुष्य में समान रूप से एक ही हाड़ और चमड़ा होता है तो फिर ब्राह्मण और शूद्र जैसा भेद क्यों किया जाता है।[5] संतों का यह साम्यवाद समाज में बिखरे हुए अनेक भेद भावों को एक सूत्र में संगठित करने में समर्थ हुआ है। विविध सामाजिक मतवादों के समन्वय की यह चेष्टा संत मत की सबसे बड़ी विशेषता है।

---

[1] सुन्दर विलास पृ० १९९।
[2] सुन्दर विलास पृ० १९८।
[3] दादू दूजा [illegible] अनेक। दादू बानी भाग १ पृ० १००
[4] क—एक [illegible]।
[illegible] पृ० १८३
ख—[illegible]।
सब घट एकै आतमा क्या हिन्दू क्या मुसलमान। [illegible] पृ० ३१९
[5] [illegible] हिन्दू तुरुक कहाँ ते आया। [illegible] भाग १
पृ० १८४

ऊपर हम अभी दिखला आये हैं कि संतों ने साधना क्षेत्र में सर्वत्र सहजीकरण की प्रवृत्ति को महत्व दिया है। वास्तव में संत मत सहजवादी मत है। उसमें केवल साधना क्षेत्र में ही सहजीकरण करने की चेष्टा नहीं की गई है। वरन् उपासना और आध्यात्म क्षेत्र तथा व्यावहारिक जीवन में भी सहजवाद को अपनाने का उपदेश दिया है। उनके युग की उपासना विधि बड़ी वाह्याचार प्रधान थी। संतों ने उसे सदाचार प्रधान बनाकर उसका सहजीकरण कर डाला है। उनकी पूजा के सहजस्वरूप का प उदाहरण इस प्रकार है—

प्रीति सी न पाती कोऊ प्रेम से न फूल और
चित्त सो न चंदन सनेह सो न सेहरा।
हृदय सो न आसन सहज सो न सिंहासन
भाव सी न सेज सून्य सो न गेहरा॥
सील सो न स्नान अरु ध्यान सो न धूप और
ज्ञान सो न दीपक अज्ञान तम केहरा।
मन सी न माला कोऊ सोहं सा न जाप और
आतम सो देव नाहि देह सो न देहरा[1]॥

संतों ने अपने अध्यात्म तत्त्व को भी सहज के नाम से अभिहित कि सहज तत्त्व का वर्णन करते हुए दादू ने लिखा है—

अविनासी अंग तेज का ऐसा तत्त-अनूप।
सो हम देखा नैन भर सुन्दर सहज सरूप॥ दादू दयाल की बानी भाग १ पृ० ५५

इसी प्रकार व्यवहार क्षेत्र में भी सहजभाव से विषयों का परित्याग करने का उपदेश दिया है। संत कबीर लिखते हैं सहज-सहज चिल्लाते तो सभी हैं किन्तु सहज के अर्थ को विरले ही समझते हैं। वास्तव में सहजवादी उसी को समझना चाहिए जो धीरे-धीरे सहज भाव से विषय वासनाओं का परित्याग कर देता[2] है। संत दादू ने तो सन्त मत के प्राणभूत सिद्धांतों को एक पंक्ति में निचोड़कर रख दिया है। उनमें सहजाचरण प्रमुख है—

काम तजै सहजै रहै आपो सुन्य विचारै[3]।

---

1 सन्त बानी संग्रह भाग २ पृ० ११६।
2 सहज सहज सब को कहै सहज न चीन्हे कोय।
जिन सहजै विषया तजी सहज कहै जे सोय॥ कबीर ग्रंथावली पृ० ४१
3 सन्त सुधासार खं० १ पृ० ४४४।

सहजाचरण से संतों का क्या अभिप्राय था इसे स्पष्ट करने के लिए उनके मध्य मार्गीय स्वभाव पर प्रकाश डालना पड़ेगा।

संत लोगों ने साधना और जीवन दोनों में ही मध्यमार्ग के अनुसरण को ही विशेष महत्व दिया है। इस मध्यमार्ग के अनुसरण को ही वे सहजाचरण मानते थे। यह बात दादू ने अनेक प्रकार से प्रकट की है। वे लिखते हैं सहज उसी को कहते हैं जो दो पक्षों से रहित है। जिसमें सुख-दुःख समरसता को प्राप्त हो जाते हैं जिसमें जीवन-मरण का कोई भेद नहीं रहता है यही सहजावस्था है इसी को निर्वाण पद भी कहते[1] हैं। यह है आध्यात्मिक सहज की मध्यमार्गीय व्याख्या। व्यावहारिक जीवन में सहज से वे क्या अर्थ लेते थे उसको स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि जीवन में न तो किसी वस्तु का ग्रहण करना चाहिए और न त्याग करना चाहिए। इस[2] सहज भाव से जीवन व्यतीत करना ही निष्पक्षतामूलक ज्ञान है। इस मध्यभाव का सेवन करने से ही मुक्ति का द्वार खुलता है। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार से सहज की मध्यमार्गीय व्याख्या की गई है। इस मध्यमार्गीय साधना ने ही उन्हें पक्षापक्षी सम्प्रदाय आदि से बचे रहने का बल दिया था। उनके समस्त सिद्धांतों की व्याख्या वास्तव में मध्यमार्गीय सहज भाव के माध्यम से ही की जानी चाहिए तभी उनका वास्तविक रूप समझ में आ सकेगा।

मध्यमार्गानुसरण के अतिरिक्त सहजाचरण के अन्तर्गत पवित्राचरण सत्याचरण और सदाचरण भी आते हैं। वास्तव में सहजाचरण की कसौटी ही सत्य है। पवित्राचरण का उपदेश देते हुए दादू ने लिखा है—

निर्मल गहिए निर्मल रहिए निर्मल कहिए।
निर्मल लीजी निर्मल दीजी अनत "न" बहिए रे।।

इसी प्रकार कबीर ने सत्याचरण का उपदेश दिया है।

साईं सेती साँच चल औरा सूँ सुध भाइ।
भावै लाम्बे केस कर भावै घुरड़ि मुड़ाय।।

सदाचरण की चर्चा हम पीछे कर आये हैं। सहजाचरण से ही सम्बन्धित संत मत का करनी और कथनी की एकता प्रतिपादित करनेवाला सिद्धांत भी है। संत लोग केवल सिद्धांत कथन में विश्वास नहीं करते थे बल्कि उनके आचरण पर भी महत्व देते थे। संत कबीर ने स्पष्ट आदेश दिया है—"जैसो मुख तें नीकसै तैसी चालै चाल[3]" उनका विश्वास था कि बिना करनी के कथनी कागद के फूल के सदृश [illegible] और [illegible]

[1] दादूदयाल की बानी, भाग १—पृ० १०० साखी ३०
[2] दादूदयाल की बानी भाग १—पृ० १०० [illegible]
[3] कबीर ग्रंथावली—पृ० ४१

होती है। चरनदास जी ने तो करनी बिना कथनी[1] को पति विहीन पत्नि के सदृश कहा[2] है उनकी इस कथनी और करनी को एकतावाले सिद्धांत ने ही उन्हें कोरा आदर्शवादी होने से बचा लिया है। वास्तव में सन्त मत आदर्श और दोनों के मध्य का सिद्धांत है।

संत मत की इतनी विवेचना करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह मध्ययुग की एक ऐसी विभूति है जिसने तत्कालीन धर्मक्षेत्र, अध्यात्मक्षेत्र, साधना क्षेत्र, उपासनाक्षेत्र तथा आचरण आदि सभी क्षेत्रों में फैले हुए कृत्रिमता, जटिलता, अव्यावहारिकता, रूढ़िवादिता और पाखण्ड आदि के भयावह तिमिर में सहज का दीपक जलाकर सबको परिवर्तित और प्रकाशित करने का सफल प्रयास किया था। यह प्रकाश आज के युग तक भी पथ प्रदर्शन कर रहा है और भविष्य में युग-युग तक करता रहेगा ऐसा हमारा विश्वास है।



---

[1] कथनी कथी तो क्या भया जो करनी ना ठहराय।
कालबूत के कोट ज्यों देखत ही ढह जाय॥ कबीर ग्रंथावली पृ० ६८

[2] चरनदास की बानी भाग १ पृ० १८
करनी बिन कथनी इसी ज्यों ससि बिन रजनी।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

सन्तों के कुछ प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द

शून्य—सन्तों की बानियों में हमें सैकड़ों स्थलों पर शून्य शब्द का प्रयोग मिलता है। उन्होंने उसका विविध अर्थों और विविध रूपों में प्रयोग किया है। उन सबको समझने के लिए उस शब्द की परम्परागत पृष्ठभूमि का स्पष्टीकरण आवश्यक है। शून्य शब्द का प्रयोग संस्कृत के प्राचीन धार्मिक साहित्य में बहुत कम मिलता है और जहाँ कहीं उसका प्रयोग किया भी गया है वह या तो आकाश के अर्थ में हुआ है या नास्ति के अर्थ में। महाभारत में विष्णु के सहस्र नामों का उल्लेख करते हुए उनका एक नाम शून्य भी बतलाया गया है। हो सकता है कि महाभारत के इस कथन पर बौद्धों का प्रभाव हो किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि परम तत्त्व को शून्य कहने की परम्परा सन्तों से पहले ही प्रवर्तित हो गई थी। आस्तिक दर्शनों में वह शून्य सत्ता का बाधक माना[1] गया है। शून्यवाद की दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठापन का श्रेय लगभग प्रथम शताब्दी में होनेवाले बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन को है। इन्होंने शून्य पर बड़े विस्तार से विचार किया है। नागार्जुन के अतिरिक्त आर्यदेव, शान्तिदेव तथा शान्त रक्षित नामक बौद्ध आचार्यों ने भी उस मत को समझाने की चेष्टा की थी।

शून्य[2] के अर्थ पर विचार करते हुए नागार्जुन ने लिखा है। 'अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपंचैरप्रपंचितं निर्विकल्पं अनानार्थं एतत्तत्त्वस्य लक्षणम्[3]।' अर्थात् शून्य या तत्त्व अपर प्रत्यय शान्त प्रपंचों द्वारा अप्रपंचित निर्विकल्प और अनानार्थ होता है। अपर प्रत्यय का अर्थ है अनिर्वच स्वरूप अर्थात् शून्य का स्वरूप ऐसा है जो मनुष्य किसी दूसरे से निवेदन नहीं कर सकता है। शान्त का अर्थ निःस्वभाव और निरुपम लिया जाता है। प्रपंचों द्वारा अप्रपंचित कहकर भी शून्य की अनिर्वचनीयता की ओर ही संकेत किया गया है। निर्विकल्प कहकर शून्य की चित्त अगम्यता की ओर संकेत किया गया है। उसके अनेक अर्थ भी नहीं लगाए जा सकते। इसी लिए उसे अनानार्थ कहा गया है। शून्य की इन विशेषताओं का उल्लेख बौद्धग्रन्थों में विविध प्रकार से बड़े विस्तार से किया गया है। नागार्जुन के माध्यमिक मत में शून्य को निर्विकल्प भी कहा

---

[1] भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय—पृ० २११

[2] बौद्धों के शून्यवाद का विवेचन इसी ग्रंथ के—बौद्ध दर्शन और सन्त कवि के प्रसंग में किया गया है।

[3] बौद्ध दर्शन—बलदेव उपाध्याय—पृ० १२१

गया है। नागार्जुन के अतिरिक्त अन्य माध्यमिकों ने शून्य[1] की धारणा को आस्तिकता की सीमा तक पहुँचाने की चेष्टा की है। उन्होंने सत्य के दो प्रकार बताए हैं एक साम्वृतिक और दूसरा पारमार्थिक। साम्वृतिक सत्य का प्रयोग अविद्या उद्भूत व्यावहारिक प्रपंच नामरूपों के लिए किया गया है। पारमार्थिक सत्य से प्रज्ञाजनित वास्तविक सत्य का अर्थ लिया जाता है। इस सत्य को ही उन्होंने शून्य या शून्यता रूप कहा है। वे सब शून्यता का निःस्वभाव और निर्वाण को अभिन्न करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिक नागार्जुन का शून्य सम्बन्धी धारणा कुछ अस्पष्ट थी। उसके सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं कहा जा सकता कि वह अस्ति रूप है या नास्ति रूप है। किन्तु बाद के माध्यामिकों की शून्य विवेचना से ऐसा स्पष्ट आभास होने लगता है। कि उनका शून्यवाद बहुत अंशों में आस्तिक है। किन्तु यह आस्तिकता भी अव्यक्त है। इसीलिए विद्वानों में उसके सम्बन्ध में मतभेद है कुमारिल[2] शंकर[3] आदि प्राचीन विद्वान् उसे नास्तिक मानने के पक्ष में हैं। विनयतोष[4] भट्टाचार्य बलदेव[5] उपाध्याय आदि आधुनिक विद्वान आस्तिक। हमारी समझ में वह नास्तिक होते हुए भी आस्तिकता की ओर उन्मुख हुआ है। यही प्रवृत्ति आगे चल कर धीरे धीरे आस्तिक शून्यवाद के रूप में विकसित हुई। हमारा कथन भी कुछ रहस्यपूर्ण सा लगता है। क्योंकि उसमें परस्पर विरोधाभास है। नास्तिक का आस्तिक की ओर उन्मुखन कैसे हो सकता है। यह बात सम्भवतः माध्यमिक आचार्यों को भी खटकी थी इसीलिए उन्हें द्वैता-द्वैत[6] विलक्षणवाद की कल्पना करनी पड़ी। उन्होंने अनेक स्थलों पर शून्य का स्वरूप निरूपण द्वैता-द्वैत विलक्षण कहकर ही किया है। यह विवेचना हुई महायानियों के दृष्टिकोण से।

शून्य शब्द का प्रयोग हमें हीनयानियों में भी मिलता है। किन्तु वे उसका अर्थ पूर्ण अभाव रूप ही लेते थे। माध्यमिकों की तरह परमार्थसत्य रूप नहीं। संभवतः शंकराचार्य आदि बौद्ध विरोधी आचार्यों ने हीनयानियों की शून्य धारणा को ही अंतिम मत मानकर उसका खण्डन किया है[7]।

---

[1] भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय—पृ० २२०
[2] श्लोकवार्तिक—पृ० २६८—२७२
[3] शांकर भाष्य—पृ० २।२।३१
[4] कल्याण का योगांक—पृ० ५६०
[5] बौद्ध दर्शन—पृ० ३११
[6] बौद्ध दर्शन—पृ० ३२३
[7] वेदान्त सूत्र—पृ० २।२।२८

हीनयानी बौद्धों की शून्य धारणा का विकास हमें बौद्ध तांत्रिक सिद्धों में मिलता है। बौद्ध तांत्रिक सिद्ध संप्रदाय का उदय बौद्ध दर्शन के ह्रास युग से हुआ था। शंकराचार्य ने जब बौद्ध विचारधारा का मूलोच्छेदन करके ब्राह्मण विचारधारा का पुनर्स्थापन किया तो बौद्ध दर्शन पद्धतियों को उनसे थोड़ा बहुत सामंजस्य स्थापित करना पड़ा। यही कारण है कि हीनयानियों का अभावरूपी शून्य और महायानियों का द्वैताद्वैत विलक्षण रूप शून्य बौद्ध तांत्रिकों में निश्चित रूप से परमार्थतत्त्व रूपी शून्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गौड़पादाचार्य और शंकराचार्य शून्य का अर्थ परमार्थ सत्ता ही करते थे। उन्हीं के अनुकरण पर बौद्ध सिद्धों ने भी उसका अर्थ परमार्थ सत्ता ही स्वीकार किया है। किन्तु वे अपने अनेक महायानी बौद्ध संस्कारों का भी परित्याग नहीं कर सके। यही कारण है कि शून्य को परमार्थ सत्ता[1] के रूप में स्वीकार करते हुए भी उन्होंने अधिकतर उसे द्वैताद्वैत विलक्षण और महासुख का वाचक ही घोषित किया है। महायान के कुछ सम्प्रदाय शून्यता को अन्तिम स्थिति नहीं मानते थे वे शून्यता और करुणा के अभिमिश्रण से उद्भूत स्थिति को ही अन्तिम अवस्था मानते थे।[2] उनकी इस धारणा का बौद्ध सिद्धों ने अपने ढंग पर व्याख्यान की चेष्टा की है। उन्होंने शून्यता और करुणा के लिए प्रज्ञा और उपाय पारिभाषिक शब्द कल्पित किए हैं। इन दोनों के युगनद्ध की स्थिति को ही उन्होंने अन्तिम अवस्था माना है। इसी प्रसंग में हम शून्य के विविध भेदों पर भी प्रकाश डाल देना चाहते हैं।

बौद्ध ग्रंथों में शून्य के कई भेद परिगणित किए गए हैं। किसी आचार्य ने ७ किसी ने १६ भेद माने हैं, किसी ने १८ और किसी ने उनकी संख्या २० तक पहुँचा दी है।[3] तांत्रिक ग्रंथों में चार शून्यों का बड़े विस्तार से उल्लेख किया गया है।[4] सिद्धों और संतों पर चार शून्यों की कल्पना का ही प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है अतएव हम यहाँ पर उसी का स्पष्टीकरण करेंगे।

तांत्रिक ग्रंथों में वर्णित चार शून्यों के नाम क्रमशः शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और सर्वशून्य हैं। इनमें शून्य[5] का आधार रूप दर्शन आभास माना और ३३ विकल्प

[1] सिद्धि सादन तन—दृष्ट—पृ० ७८—८

[2] इण्ट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म—पृ०

[3] बौद्ध दर्शन—बलदेव उपाध्याय—पृ० ३२१

[4] आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स—दास गुप्ता—पृ० २१(१९४६)

[5] वही पृ० ३१ (१९४६)

बौद्ध सिद्धों में इन चार शून्यों की कल्पना सम्भवतः इन्हीं भूमिका पर स्थित १४ वर्षों बाद समय की चार अवस्थाओं के रूप में की है। सर्वशून्य के आश्रय का उल्लेख बराबर किया गया है। यही मत गुरु का आश्रय है—

मध्य सम्प्रदाय—पृ० [illegible]

मय बताया गया है। उसे बौद्धग्रंथों में प्रज्ञा की ओर वाम रूप भी कहा गया है। अतिशून्य को आलोकाभास रूप बताया गया है। इनमें ४० विकल्पों की स्थिति मानी गई है। इसका स्वभाव परिकल्पित बताया गया है। उसे दक्षिण या उपाय रूप भी कहा गया है। महाशून्य शून्य और अतिशून्य के मिलन से उद्भूत अवस्था का नाम है। बौद्ध तंत्र ग्रंथों में उसे प्रज्ञा और उपाय के मिलन से उद्भूत अवस्था बताया गया है। कुछ ग्रंथों में परिनिष्पन्न रूप और आलोकोपलब्धि स्वभाववाला भी निर्दिष्ट किया गया है। इसी को अविद्या रूप भी बताया गया है। यह भी कई विकल्पों का स्थान है। सर्वशून्य चौथी अवस्था में है। इस अवस्था को स्वयं प्रकाशरूप निर्विकार ज्ञानमय परमार्थ रूप तथा द्वैताद्वैत विलक्षण कहा गया है। हठयोगप्रदीपिका[1] में चार शून्यों के स्थानापन्न यौगिक शब्दानुभूति की अवस्था में सुने जाने वाले चार प्रकार के शब्दों का उल्लेख किया गया है।[2] इससे प्रकट होता है कि तांत्रिकों की चार शून्योंवाली धारणा नाथपन्थी योग में अपने ढंग पर विकसित हो रही थी। नाथपन्थ में ६ और १८ शून्यों वाली कल्पना की अवतारणा भी ढूँढ़ी जा सकती है। किंतु सिद्ध और संत मत में केवल चार शून्यों की कल्पना को ही किसी किसी रूप में अपनाने की चेष्टा की गई है। शून्य के अर्थ का जैसा कि हम ऊपर संकेत कर आये हैं क्रमिक विकास होता गया। नाथपंथ और सिद्धमत में आकर यह केवल परमार्थ तत्व का ही वाचक नहीं रह पाया उसका प्रयोग और भी कई अर्थों में किया जाने लगा। केवल हठयोग प्रदीपिका में ही इसका प्रयोग चार-पाँच अर्थों में मिलता है। एक स्थल पर यह ब्रह्मरंध्र का वाचक है।[3] दूसरे स्थल पर उसका अर्थ देशकाल वस्तु परिच्छेद हीन ब्रह्म से लिया गया है।[4] एक तीसरे स्थल पर वह सुषुम्ना नाड़ी के अर्थ का द्योतक है।[5] एक स्थल पर वह अनाहत चक्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गोरखनाथ ने शून्य का प्रयोग समाधि की अवस्था के लिए भी किया है।[6]

गोरखनाथ ने शून्य के अर्थ को और भी अधिक व्यापकता दी। नागार्जुन ने उसका प्रयोग द्वैताद्वैत विलक्षण तत्व के रूप में किया था। गोरखनाथ ने उसे द्वैता

---

[1] पंच वर्ग नामक ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति पृ० २० बी

[2] हठयोग प्रदीपिका—आयंगार—४।७०।७२

[3] हठयोग प्रदीपिका—४।१०

[4] वही—४।१२ की टीका देखिए

[5] वही—४।५२ की टीका देखिए।

[6] गोरखबानी सबद—पृ० ६०–६१

ने निरंजन शब्द के रूप में वर्णित किया है।[1] वह उसे परमात्मा रूप भी मानते हैं। इसीलिए उसे उन्होंने कर्ता भर्ता और हर्ता कहा है।[2] उनकी दृष्टि में शून्य में ही आकार और निरंजन आदि सभी कुछ है।[3] गोरखनाथ मन को परमात्मा रूप मानते थे यह हम अभी ऊपर बता आये हैं। इसी लिए उन्होंने शून्य को मन स्वरूपी कहने में संकोच नहीं किया है।[4] नाथपंथियों ने सुंनि का प्रयोग सहस्रार कमल के लिए भी किया है।[5] कहीं कहीं वह ब्रह्मरंध्र का वाचक भी बनकर आता है[6] उसका प्रयोग सुषुम्ना के अर्थ में भी मिलता है।[7]

नाथपंथ में शून्य की कल्पना बौद्धों के विज्ञान सिद्धांत का आधार लेकर गढ़ी गई जान पड़ती है। गोरखनाथ ने तीन शून्यों की कल्पना की है। किन्तु उन्होंने इन शून्यों के नाम भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न प्रकार से गिनाये हैं। एक स्थल पर उनके नाम क्रमशः सहज सुंनि, सबि सुंनि और अतीत सुंनि बतलाये गए हैं।[8] तथा दूसरे स्थल पर अस्थल सुंनि, परम सुंनि और अतीत सुंनि कहे[9] गए हैं।

संतों को शून्य के प्रयोग की उपयुक्त लम्बी-चौड़ी परम्परा प्राप्त हुई थी। उनकी शून्य संबंधी धारणाएँ इसी पृष्ठभूमि पर कुछ मौलिकता लिए विकसित हुई हैं। संतों में शून्य का प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में मिलता है।

परमार्थ तत्त्व के रूप में—इसके उदाहरण में दादू की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं[1] —

---

[1] बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिखर महिं बालक बोलैं ताका नाँव धरहुगे कैसा ॥ गोरखबानी—पृ० १

[2] अवधू सुंन आदि सुंनि आई। सुंने कीया रहै समाई।
सन्त्र सुंनि मन तन थिर रहै। क्या विचार मछिंद्र कहै ॥ गोरखबानी—पृ० ११२

[3] सुंनि ज आई सुंनि ज जाय। सुंनि निरंजन आपै आप। गोरखबानी पृ० ७३ (सं० २००३)

[4] अवधू मन का सुंनि रूप। गोरखनाथ की बानी—पृ० १८०

[5] सुंनि मण्डल तहाँ नीझर झरिया चंद सूरजि ले उनमनि धरिया। गोरखबानी पृ० ९०

[6] गगन मंडल में सुंनि द्वार बिजली चमकै घोर अंधार। गोरखबानी पृ० ९०

[7] गोरखबानी संग्रह—डा० बड़थ्वाल पृ० ११४

[8] अवधू सहज सुंनि उतपनी आई। सबि सुंनि समाधि लगाई।
अतीत सुंनि सदा समाई। परम तत में कहूँ समझाई ॥ गोरखबानी पृ० १११

[9] अवधू उस लेख में व्यापि रहै। अस्थल सुंनि न आवा जाई।
परम सुंनि मे त्रिभुवन सार। अतीत सुंनि उतारिया पार ॥ गोरखबानी पृ० ११४

[1] दादूबानी भाग १—पृ० २१

सहज सुंनि सब ठौर है सब घट सबही माहिं।
तहाँ निरंजन रमि रह्या कोई गुण व्यापै नाहिं॥

गोरखनाथ के समान संतों ने भी शून्य को कर्त्ता भर्त्ता और संहर्त्ता व्यनित करने की चेष्टा की है। दादू ने लिखा है[1]—

सुंनहि मारग आईया सुंनहि मारग जाई।

शब्द ब्रह्म के अर्थ में—संतों ने शून्य का प्रयोग शब्द ब्रह्म के लिए भी किया है। भीखा साहब लिखते हैं[2]—

शब्द ब्रह्म मन सुंनि लीन भीखा रात्रि न तहाँ दिन।

शिव के अर्थ में—संतों ने शून्य का प्रयोग शिव के अर्थ में भी किया है। संत गुलाल साहब ने लिखा है[3]—

सुनहि सकति समायल शिव के घर शक्ति निवास।

जीव के अर्थ में—संत कबीर ने एक स्थल पर सुन्नि का प्रयोग साधक आत्मा अर्थात् जीव तथा आत्मा अर्थात् परमात्मा इन दोनों के लिए एक साथ ही किया है[4]।

सुन्नहि सुन्न मिला समदर्शी पवन रूप ह्वै जावेंगे।

समय और स्थान के अर्थ में—संतों ने कहीं-कहीं सुन्नि का प्रयोग उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में पाश्चात्य दर्शनों में टाइम और स्पेस का प्रयोग किया गया है। निम्नलिखित पंक्ति में मुझे सुन्नि का प्रयोग स्थान या 'स्पेस' के अर्थ में किया हुआ ज्ञात पड़ता है[5]—

सहजै सुन्नि में रमि रह्या जहाँ तहाँ सब ठाम।

इस प्रकार पलटू साहब की निम्नलिखित पंक्तियों में सुंनि का प्रयोग टाइम या समय प्रवाह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

---

[1] दादूबानी भाग १—पृ० ८६
[2] भीखा साहब की बानी—पृ० ३१
[3] गुलालबानी संग्रह पृ० ३६
[4] कबीर ग्रंथावली पृ० २०१
[5] दादूबानी संग्रह भाग १ पृ० ६०

मोहिं मोह मंझि में पोले यह शब्द की म्यानी ।[1]

ब्रह्मरंध्र के रूप में—संतों ने शून्य का प्रयोग ब्रह्मरंध्र के रूप में भी किया है। दादू ने एक स्थल पर मन को मीन ब्रह्मरंध्र को सरोवर तथा निर्गुण ब्रह्म को नीर कहते हुए लिखा है—

सुंनि सरोवर मीन मन नीर निरंजन देव ।[2]

इस प्रकार संतों ने सुन्न का प्रयोग बहुत से मौलिक अर्थों में भी किया है। इसी प्रसंग में हम तीन शून्यों वाले सिद्धान्त की चर्चा कर देना चाहते हैं।

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि शून्यों की संख्या के संबंध में भिन्न-भिन्न कोटि के विद्वानों में परस्पर मतभेद है। तंत्र ग्रंथों में कहीं-कहीं पर चार और कहीं सात शून्यों की कल्पना की गई है। बौद्ध ग्रंथों में शून्यों की संख्या बीस तक पहुँचा दी गई है। गोरखनाथ ने केवल तीन शून्यों का ही उल्लेख किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

तीन सुन्य की रहनी जानैं ता घटि पाप न पुना ।[3]

संतों में हमें केवल दो एक स्थलों पर ही शून्यों की संख्या का उल्लेख मिलता है। दादू ने एक स्थल पर तीन शून्यों का वर्णन किया है कि—

काया सुंनि पंचका वासा आतम शून्य प्रान परगासा[4] ।
परम शून्य ब्रह्म सों मेला आगे दादू आप अकेला ॥

दादू की इस पंक्ति से स्पष्ट प्रकट होता है कि वह तीन के अतिरिक्त एक चौथा शून्य भी मानते थे। जो इन तीनों से परे थे। उन्होंने दूसरे स्थल पर इस तथ्य का समर्थन करते हुए लिखा है—

तीन सुन्न आकार की चौथी निर्गुण नाम[5] ।

तीन शून्यों की कल्पना हमें गोरखनाथ के अनुकरण पर की गई जान पड़ती है। और चौथे शून्य की कल्पना औपनिषदों के आधार पर की हुई प्रतीत होती है। दादू के अतिरिक्त तीन शून्यों की चर्चा और किसी संत में नहीं मिलती। इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों ने शून्य का प्रयोग बहुत से अर्थों में किया है। यहाँ पर यह प्रश्न उठ

---

[1] पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० ११

[2] दादूबानी भाग १ पृ० २२

[3] गोरखबानी—पृ० ११

[4] दादूबानी भाग १ पृ० २१

[5] वही

सकता है वह यह कि क्या संत लोग शून्य में सिद्धांत रूप से विश्वास करते थे। या उन्होंने उसका उल्लेख केवल परम्परागत रूप में ही कर दिया है। हमारी अपनी दृढ़ धारणा है कि वे लोग शून्य को अपने निर्गुण ब्रह्म से हेय वस्तु समझते थे। संत दादू ने तीन सूत्र संकेत किया है। संत दरिया साहब ने तो शून्यवाद के प्रति स्पष्ट शब्दों में अश्रद्धा प्रगट की है।

सुन-सुन सब कोई पुकारा सुन न होसी हमारि उधारा।
सुन न धरती सुन न पानी सुन कवनहीं नहिं पैन्हिय जानी[1]।

सुरति निरति—शब्द सुरति योग के प्रसंग में हम संतों के इन दोनों पारिभाषिक शब्दों के संबंध में विचार कर चुके हैं अतएव यहाँ पर हम बहुत संक्षेप में उनकी विवेचना करेंगे। इन दोनों शब्दों के अर्थ के संबंध में मतैक्य नहीं है। सम्पूर्णानंद[2] ने सुरति शब्द को स्रोत से निकला हुआ सिद्ध किया है। डा० बड़थ्वाल इसको स्मृति[3] का रूपान्तर मानते हैं। संत तुलसी[4] साहब ने उसे मन का पर्यायवाची बतलाया है। राधास्वामी[5] मतवाले इसे जीव का वाचक कहते हैं। आचार्य क्षितिमोहन[6] सेन ने सुरति का अर्थ प्रेम और निरति का प्रेम वैराग्य किया है। आचार्य हजारी[7] प्रसाद ने इन दोनों के अर्थ क्रमशः अंतर्मुखी वृत्ति और बहिर्मुखी वृत्ति सिद्ध करने की चेष्टा की है। डा० रामकुमार वर्मा[8] ने इसे सुरते इस्तहामियाँ का वाचक माना है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसका अर्थ शब्दोन्मुख चित्त किया है। साम्प्रदायिक ग्रंथों में और भी तोड़-जोड़ मिलाया गया है। विचारणीय यह है कि इनके अर्थों के संबंध में इतना मतवैषम्य क्यों है। वास्तव में बात यह है कि संतों ने प्रायः एक ही पारिभाषिक शब्द कुछ तो भिन्न-भिन्न परम्पराओं के प्रभाव के कारण तथा कुछ मौलिकता प्रदर्शन की कामना से भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया है। यदि खोज की जाय तो इन शब्दों का प्रयोग उन सभी अर्थों में मिल सकता है जिनकी चर्चा ऊपर की गई है। इनके अतिरिक्त उनका प्रयोग और भी कई नये अर्थों में मिलता है।

---

१ दरिया सागर पृ० २१
२ विद्यापीठ त्रैमासिक पत्रिका भाग ३ पृ० १३२
३ निर्गुण स्कूल आफ हिंदी पोइट्री पृ० ११७ ओरियण्टल बुक्स डिपो
४ हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय पृ० ११८ से उद्धृत
५ कल्याण के योगांक सुरतियोग शीर्षक लेख
६ कबीर नया संस्करण पृ० २२७
७ वही
कबीर का रहस्यवाद परिशिष्ट देखिए।
९ कबीर साहित्य की परख—पृ० १२१

यदि इन शब्दों की परम्परा की खोज की जाये तो इनका सर्वप्रथम स्पष्ट प्रयोग नाथपंथ में मिलेगा। सिद्धों की बानियों में भी इस शब्द की झलक मिलती है। वहाँ पर इसका प्रयोग प्रेम या मैथुन के अर्थ में किया गया है।[1] संत लोग इस प्रकार के अर्थ से सदैव घृणा करते रहे हैं। अतएव ऊपर इन शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से सिद्धों की परम्परा का कोई प्रभाव नहीं माना जा सकता।

संतों को इन दोनों शब्दों के प्रयोग में नाथपंथी परम्परा से अच्छी प्रेरणा मिली थी। नाथपंथ में सुरति को बहुत महत्व दिया गया है। मछीन्द्र गोरखबोध में लिखा है—

अवधू सुरति मुषि बैठी सुरति मुषि चलै।[2]
सुरति मुषि बोलै सुरति मुषि मिलै।

सुरति का अर्थ वे सम्भवतः चित्तवृत्ति अथवा मन की वृत्ति लेते थे। उन्होंने उसका वर्णन करते हुए लिखा है कि बिना कानों के होते हुए यह नाद का श्रवण करती है। एक[3] दूसरे स्थल पर उन्होंने इसका प्रयोग शब्दोन्मुख चित्त के और निरति का प्रयोग निरालम्ब अवस्था के अर्थ में किया गया है।[4] एक दूसरे स्थल पर उन्होंने सुरति निरति में निर्भय रहने का उपदेश दिया है। कई[5] स्थलों पर उन्होंने सुरति और निरति का प्रयोग द्वन्द्व के रूप में किया है। वे अद्वैतावस्था का वर्णन करते हुए लिखते हैं[6]—

निरति न सुरति जोग न भोग जुरा मरण नहीं तहाँ रोग।

यहाँ पर निरति और सुरति के साथ जोग भोग और जुरा मरण प्रयोग करके संत गोरखनाथ ने दोनों की विरोधी प्रकृति का स्पष्ट संकेत किया है। सुरति का अर्थ वह सुमिरन या साधना में लगे हुए साधक चित्त का अर्थ लेते थे और उसके विरोध में निरति का अर्थ उपरमता से शान्त चित्त लगाया जा सकता है। यह अर्थ उनकी मन साधना से मेल भी खाता है। नाथपंथियों का लक्ष्य सुरति से निरति की सिद्धि कर शब्द ब्रह्म का स्मरण करना था।

---

[1] सिद्ध साहित्य—धर्मवीर भारती—पृ० ४०६
[2] गोरखबानी संग्रह पृ० १८६
[3] गोरखबानी संग्रह—पृ० ११०१-१० पर
[4] अवधू शब्द अनाहद सुरति सुचित निरति निरालम्ब लागा बंध। गो० बानी पृ० ११६
[5] सुरति निरति मैं मूवे रहै त्यां विचार सुमिरण करै। गोरखबानी—पृ० ११०
[6] गोरखबानी पृ० २८

संतों की और नाथपंथियों की सुरति निरति साधना तब तक नहीं समझी जा सकती जब तक उपनिषदों की आत्म साधना का रूप स्पष्ट न हो जावे। उपनिषदों में आत्मा से ही परमात्मा के साक्षात्कार के सिद्धांत की व्यंजना की गई है। कठोपनिषद्[1] में आत्मा के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भेदों को छाया और आतप के सहारे व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार मुंडकोपनिषद्[2] में दो पक्षियों के रूपक से ज्ञाता और ज्ञेय आत्माओं की व्यंजना की गई है जब जीवात्मा अंतर्मुखी की जाती है तभी उसे हृदयस्थल पर आत्मा का साक्षात्कार होता है। कठोपनिषद् में[3] इस संबंध में स्पष्ट लिखा है कि स्वयं भू परमात्मा ने बहिर्मुखी इन्द्रियों को हिंसित कर दिया है। यही कारण है कि जीव बाह्य विषयों को देखता है अंतरात्मा को नहीं। अमरत्व की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति बहिर्मुखी वृत्तियों को वश में कर लेता है और उनको अंतर्मुखी करके प्रत्येक आत्मा के दर्शन करता है। उपनिषदों का यह सिद्धांत ही संतों के सुरति निरति साधना तथा नाथपंथियों और संतों के शब्द सुरति योग की वास्तविक आधारभूमि है।

उपनिषदों के प्रणव-योग साधना का प्रभाव भी सन्तों के शब्द सुरति योग पर दिखलाई पड़ता है। मुंडकोपनिषद्[4] में लिखा है। प्रणव योगी प्रणव जाप के सहारे अपने बहिर्मुखी जीव को अंतर्मुखी करके हृदयस्थ ब्रह्म में लीन कर देता है। संतों के शब्द सुरति योग को समझने के लिए उपयुक्त स्रोत एवं नाथपंथी परम्पराओं को ध्यान में रखना पड़ेगा।

शब्द सुरतियोग शब्दों का प्रयोग संतों ने अधिकतर परम्परागत अर्थों में किया है किन्तु कहीं-कहीं पर उन्होंने अपने ढंग पर मौलिक अर्थ देने की भी चेष्टा की है। यह शब्द उनमें हमें सामान्य और पारिभाषिक दोनों रूपों में प्रयुक्त मिलता है। सामान्य अर्थ में तो यह स्मृति अथवा प्रेम का वाचक है। अपने पारिभाषिक रूप में यह निम्न लिखित अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

गोरखनाथ के अनुकरण पर शब्दोन्मुख चित्त के अर्थ में—
संत कबीर में हमें गोरखनाथ के ढंग पर सुरति निरति का प्रयोग मुक्ति और निरालंब चित्त के अर्थ में मिलता है।

---

[1] कठोपनिषद्—२।५

[2] मुंडकोपनिषद्—३।१

[3] कठोपनिषद्—२।१।१

[4] मुंडकोपनिषद्—२।४

सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खुले स्यम्भ दुआर॥[1]

इन पंक्तियों का अर्थ उपनिषदिक परंपरा के अनुकूल साधक आत्मा और साध्य परमात्मा भी लिया जा सकता है। निरति या साध्य आत्मा का शुद्ध बुद्ध नित्यस्वरूपी होती है। सुरति साधक आत्मा है जब वह उससे तादात्म्य स्थापित कर लेती है तो शंभु अर्थात् भगवान के दर्शन हो जाते हैं। यह अर्थ तो हुआ उपनिषदिक परंपरा के अनुकूल और नाथपंथी परंपरा के अनुकूल। इसका अर्थ थोड़ा इससे भिन्न होगा कि जब शब्दोन्मुख चित्त निरालंब चित्त से मिल जाता है तब स्वयंभूद्वार खुल जाता है और अनहद नाद रूपी ब्रह्म की अनुभूति होने लगती है।

सुरति का अर्थ परमात्मा के रूप में—कबीर[2] ने एक स्थल पर 'साहब सुरति सरूप' लिखकर सुरति का परमात्म रूप भी व्यंजित किया है।

स्मृति के अर्थ में—भीखा साहब[3] ने सुरति का प्रयोग स्मृति के अर्थ में करते हुए लिखा है—

सालिम नाम उपासिन सुरति चलत परदेस

यहाँ पर उन्होंने स्मृति रूपी सुरति का मानवीकरण करके उसे विरहिणी नायिका के रूप में चित्रित किया है। इन अर्थों के अतिरिक्त सन्तों में हमें सुरति निरति का प्रयोग नाद बिन्दु के अर्थ में भी मिलता है। जैसे भीखा साहब ने लिखा है—

सुरति निरति के मेला होय नाद बिन्दु एकसम मोय[4]।

इन अर्थों के अतिरिक्त सन्तों ने सुरति शब्द का प्रयोग चित्त[5] वृत्ति, मन, सुषुम्ना[6], कुण्डलिनी[7], शक्ति[8] ध्यान[9] जीव[10] आदि अनेक अर्थों में किया है। वास्तव

[1] कबीर ग्रंथावली पृ० १२
[2] कबीर ग्रंथावली पृ०
[3] भीखा साहब की बानी पृ० ७
[4] भीखा साहब की बानी पृ० ३७
[5] प्रेम प्रीति रस कूपक हो सुरति के जर लगाय—गु० बा० पृ० ८३
[6] हाटन में सुरति मन उतर तन बाती—गु० बा० ११०
[7] चंद सुरज दोउ रोपया सुरति डोर लगाय—दूलन साहब की बानी पृ० ७९
सुरति डार अमृत भर लाइ घर घर भुल—पलटू बानी भाग ३ पृ० ३
[8] ऐसा सच्चा सुरति नहीं समझाय दूजा यार न काम—गुलाल बानी पृ० २३
[9] याद करत के नाम की सुरति लगाइए—वही पृ० ७३
[10] सुरति मंगल वाक्यमय जागे बाज हाड़ मंडि पारा। भीखा साहब की बानी पृ० ४
६०

में सन्तों की यह प्रवृत्ति थी कि वे परंपरागत शब्द से अपनी प्रतिभा के बल पर अपना मनमाना अर्थ ले लिया करते थे और यह असत्य भी नहीं था।

नाद बिंदु—सन्तों में हमें नाद बिन्दु की चर्चा भी मिलती है। सुरति निरति के सदृश नाद बिन्दु शब्द भी एक ही साथ प्रयुक्त होते हैं। इन दोनों शब्दों का अर्थ सम्बन्धी इतिहास भी बहुत है। नाद बिन्दु शब्दों का प्रयोग सन्तों से पहले तंत्र मत में तथा नाथ सम्प्रदाय में प्रचुरता से मिलता है। शैवशाक्त तंत्रों में इसका प्रयोग विविध रूपों और विविध अर्थों में किया गया है। तंत्र शास्त्र के मंत्र पक्ष में यह चन्द्र और इन्दु के प्रतीक माने गये हैं।[1] कुछ तंत्रों में नाद को विराट् शक्ति के रूप में कल्पित किया गया है और उससे सृष्टि का विकास बतलाया गया है।[2] कुछ तंत्रों के अनुसार सच्चिदानन्द रूपी सगुण शिव से शक्ति का प्रादुर्भाव और शक्ति से नाद बिंदु की उत्पत्ति कही गई है। इसी बिंदु से आगे चलकर संपूर्ण सृष्टि विकसित हुई है। कुछ[3] भेदवादी तांत्रिकों का मत है कि शिव शक्ति नाम के दो तत्त्व होते हैं। शिव विमर्श के रूप में शक्ति में प्रवेश करता है और बाद में बिंदु का रूप धारण कर लेता है। बिंदु का प्रथम विकास नाद में होता है। पुनश्च सृष्टि का विकास होता है।[4] कुछ भेदवादी तांत्रिक शिव शक्ति को समवाय रूप से परिभाषित एक तत्त्व मानते हैं और बिंदु को दूसरा तत्त्व।[5]

बौद्ध तंत्रों में नाद बिंदु की व्याख्या प्रतीकात्मक रूप से भी की गई है। बिंदु को अपरिवर्तनीय ज्ञान का प्रतीक कहा गया है।[6] उनमें हमें कहीं-कहीं पर बिंदु की कल्पना हठयौगिक ज्योति के रूप में भी मिलती है।[7] इन्हीं शैव तंत्रों में नाद और बिंदु शिव और शक्ति के पर्यायवाची माने गये हैं।[8] बौद्ध तंत्रों में इन्हें प्रज्ञा और उपाय का वाचक भी बतलाया गया है तंत्रों और हठयौगिक ग्रन्थों में प्रयुक्त होने वाले रसना, सूर्य, रवि, प्राण, दमन, अवधूती, यमुना, शक्ति, रव नाद, पुरुष, नाद और

---

[1] गारलैंड आफ लेटर्स आर्थर अवेलन पृ० ६०

[2] तंत्राज देयर फिलासफी एण्ड ओकल्ट सीक्रेट्स पृ० ११०

[3] द कल्चरल हेरिटेज वोल्यूम १९१० में प्रो० सी० चक्रवर्ती लिखित फिलासफी आफ तंत्र नामक लेख पृ० ६६ से १०० तक।

[4] कलेक्टेड वर्क्स आफ आर० जी० भंडारकर वाल्यूम पृ० २३८। १९२८ का संस्करण।

[5] कल्याण के साधनांक गोपीनाथ कविराज लिखित तांत्रिक दृष्टि नामक लेख पृ० ८८१

[6] इन्ट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म पृ० ६०

[7] इन्ट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म पृ० १११

[8] प्रिंसिपिल्स आफ तंत्र आर्थर अवेलन पृ० २८६

स्पंदन आदि शब्दों का प्रयोग भी कभी कभी बिंदु के अर्थ में किया गया है। इसी प्रकार नाद के लिए ललना, चन्द्रा, शशि, भगवान्, पवन, वली, गंगा, शुक्र, वमन, भमाव, प्रकृति, मातृका और स्वर शब्दों का प्रयोग नाद के अर्थ में मिलता है।[1]

इन शब्दों के अर्थों का अच्छा विकास हमें मत्स्येन्द्रनाथी, गोरखनाथी तथा अन्य यौगिक ग्रन्थों में मिलता है। कौलज्ञान निर्णय में बिंदु को एक स्थल पर महा लिंग की शक्ति बतलाया गया है। दूसरे स्थल पर उसे शिव की सूक्ष्म शक्ति कहा गया है। इसमें बिन्दु से ही नाद की उत्पत्ति बतलाई गई[2] है।

नाद बिन्दु साधना को गोरखनाथ ने विशेष महत्त्व दिया[3] है। उन्होंने लिखा है—नाद बिन्दु शुष्क पत्थर के समान हैं किन्तु जिसने उनकी साधना कर ली वे पूर्ण सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाते[4] हैं। एक दूसरे स्थल पर उन्होंने पुन लिखा[5] है—

नाद बिंदु जाके अरै वाकी सेवा पारवती करै।

इन पंक्तियों से प्रकट होता है कि गोरखनाथ नाद और बिंदु को केवल भौतिक तत्त्व मानते थे पर शिव को इन दोनों से परे समझते हैं। वे यह भी अनुभव करते थे कि आध्यात्मिक अनुभूति के बिना बिंदु साधना भी व्यर्थ होती है। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है—बिंदु बिंदु सभी कहते हैं किन्तु महाबिंदु का कोई विरला ही ज्ञान रखता है। आध्यात्मिक अनुभूति के बिना जो बिन्दु मात्र के अर्थ का ध्यान किया का आश्रय ग्रहण करते हैं उनका शरीर स्थिर होते नहीं देखा गया है। गोरख ने बिन्दु शब्द का प्रयोग हठयोग प्रदीपिका के ढंग पर जीवात्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। जहाँ पर वे नाद में बिन्दु के जानने की बात कहते हैं वहाँ बिन्दु का अर्थ जीवात्मा ही लेना चाहिए। उन्होंने कहीं-कहीं पर उसे निरंजन[6] भी कहा है। योग उपनिषदों में नाद बिंदु के अर्थ का और भी विशेष विकास

---

[1] ह्वोरस्थान इ तांत्रिक बुद्धिज्म पृ० ११८ व ११९

[2] इस मत के लिए देखिए कौलज्ञान निर्णय भूमिका भाग पृ० ७७।

[3] गो० बानी पृ० ६३

[4] नाद बिन्दु है फीकी सिला जिहि साध्या ते सिधैं मिला। गोरख बानी पृ० ६३।

[5] गोरखबानी पृ० ७

[6] गोरखबानी संग्रह पृ० १००
बन्दे निरंजनी थेंइ।

दिखाई पड़ता है। बिंदु का प्रयोग उनमें महेश्वर[1] पद मन[2] वायु[3] बुद्धि[4] आदि विविध अर्थों में किया गया है। नादबिंदु शब्दों का प्रयोग हठयोग प्रदीपिका में भी किया गया है। उसमें नाद शब्द का प्रयोग प्राण[5] और अनहद[6] नाद इन दो अर्थों में मिलता है। इसी प्रकार उसमें बिन्दु शब्द का प्रयोग वीर्य तथा[7] जीवात्मा[8] इन दो अर्थों में मिलता है।

नाद बिंदु शब्द का प्रयोग सिद्धों में भी मिलता है। किन्तु उनकी इनके प्रति विशेष श्रद्धा[9] न थी। कारण यह था कि बिन्दु साधना अधिकतर सदाचरण और ब्रह्मचर्य से संबंधित थी और सिद्ध लोग अधिकतर वाममार्गी होने के कारण इनको विशेष महत्त्व नहीं देते थे।

नाद बिंदु शब्द का प्रयोग संतों ने भी किया है। ये लोग इन शब्दों को उन्हीं अर्थों में ग्रहण करते थे जिन अर्थों में उनका प्रयोग नाथपन्थी साहित्य में हुआ है। संतों ने नाद बिंदु का प्रयोग अधिकतर उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में वे सुरति निरति का करते थे उन्हें वे नाम का समकक्ष मानते थे। भीखा साहब ने लिखा[10] है—

सुरति निरति का मेला होय नाद बिंदु एक सम जोय।

संत लोग नाद बिंदु में सेव्य सेवक संबंध भी मानते थे। वे संभवतः उपनिषदिक शरीरस्थ ब्रह्म और आत्मा वाले सिद्धांत से प्रभावित थे। उसी से प्रभावित होकर ही सम्भवतः इन्होंने सेव्य सेवक भाव माना है। भीखा साहब लिखते[11] हैं—

नाद बिंदु को मूल होय पै साहब मैं सेवक जोय।

---

[1] ध्यान बिन्दु उपनिषद् १०२ श्लोक और योगोपनिषद् पृ० १११।

[2] योगोपनिषद् पृ० ११० पर योगकुण्डल्युपनिषद् २ श्लोक तृतीय अध्याय।

[3] योगकुण्डल्युपनिषद् १, ८

[4] योगशिखोपनिषद् ३।१००

[5] हठयोग प्रदीपिका ४।०१ की टीका

[6] हठयोग प्रदीपिका ४।०२

[7] हठयोग प्रदीपिका ४।१०२

[8] हठयोग प्रदीपिका ४।०२

[9] हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल पृ० ६

[10] भीखा साहब की बानी पृ० १७।

[11] भीखा साहब की बानी पृ० ४०।

संतों ने नाद बिंदु की एकाकार की स्थिति में मन के लय होने की बात भी कही है। भीखा साहब ने लिखा[1] है—

नाद बिंदु को मूल भयो मनवा सहज रहल लुभाई।

जिस प्रकार गोरखनाथी लोग ब्रह्म चिंतन के बिना नादबिंदु साधना को व्यर्थ समझते थे उसी प्रकार संत लोग भक्ति के बिना उसे निस्सार समझते थे। यह बात कबीर की निम्नलिखित[2] पंक्तियों से प्रकट होती है—

नाद बिंदु की नावरी राम नाम कनिहार।
कहै कबीर गुण गाइले गुरु गमि उतरौ पार॥

यहाँ पर कबीर ने नादबिंदु को नाव और राम का कर्णधार कहकर नादबिंदु की जड़ता और राम की सक्रियता व्यंजित की है। जिसके प्रकार कर्णधार के बिना नाव जड़ और उपयोगहीन होती है उसी प्रकार नादबिंदु साधना भगवद् भक्ति के बिना निस्सार होती है। संतों ने कहीं-कहीं पर बिंदु का अर्थ वीर्य साधना अथवा ब्रह्मचर्य भी लिया है। उस अवस्था में भी वे निस्सार और भक्तिहीन साधना का त्याग समझते थे। उन्होंने एक स्थल पर स्पष्ट लिखा[3] है—

बिंदु राख जो तरिये भाई। खुसरै क्यों न परमगति पाई॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि संत लोग नाद बिंदु को केवल साधना मात्र मानते थे साध्य नहीं।

सहज—संतों में हमें सहज शब्द का प्रयोग भी बहुत अधिक मिलता है। वैसे तो सहज साधना बहुत प्राचीन है। इसका उदय कर्मकांड और आचार प्रधान वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में वैदिक युग में ही हो गया था। बौद्धों में वज्जिपुत्र निकायीय तथा अन्य सहजधर्म के ही अनुयायी थे। वे भोग पुरुषार्थ थे और पुरुष को ही सबसे अधिक महत्व देते थे। वैदिक युग के बाद सहजवाद का विकास सहजिया बौद्धों और वैष्णवों में हुआ। सहजिया बौद्धों ने सहज शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया है। सामान्यतया तथा वे उसे द्वंद्वहीन निर्वाण तत्व के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[4]

---

[1] भीखा साहब की बानी पृ० ११।
[2] कबीर ग्रन्थावली पृ० १४।
[3] कबीर ग्रंथावली पृ० १००।
[4] निरुक्ति० शेरायोग—बानी पृ० १।

'सहजें भावाभावण पुच्छइ । सुण्णा कव्युवहि समरस इच्छइ' देवादेव विल क्षण तत्व के अतिरिक्त संतों ने सहजशब्द का प्रयोग शून्य[1] आत्मा के सहजाचरण[2] सीमस्थिति[3] महासुख[4] परमार्थतत्व[5] आदि के अर्थों में भी प्रयुक्त किया है। वह समरसता का वाचक भी है।

सहजेच्छित विरोहइ भंग । इह जन्महि सिद्धि ॥ भोक्ख भंग ।

सहज शब्द का प्रयोग सहजिया वैष्णवों में भी पाया जाता है। किन्तु वे उसको बौद्ध सहजियों की भाँति केवल शुष्क परमार्थ तत्त्व रूप ही नहीं मानते हैं उसमें उन्होंने परमप्रेम की प्रतिष्ठा भी की है। दूसरे शब्दों में हम यूँ कह सकते हैं कि सहजिया वैष्णव सहज का अर्थ प्रेम की चरम स्थिति लेते हैं।

सहजशब्द का प्रयोग नाथपंथियों में भी मिलता है। उन्होंने उसको कभी परम तत्त्व[6] के अर्थ में कभी परमज्ञान[7] के अर्थ में कभी परमपद[8] के अर्थ में और कभी शिवशक्ति[9] के संयोग की सहज स्थिति के अर्थ में प्रयुक्त किया है। किन्तु सामान्यतया वे इसका प्रयोग जीवन के सहजाचरण के अर्थ में करते थे।

संतों पर सहज के प्रयोग की उपर्युक्त सभी परम्पराओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। सामान्यतया उन्होंने उसका प्रयोग सहजाचरण और सदाचरण के अर्थ में किया है। उदाहरण के लिए कबीर की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं[10] —

सहज-सहज सब कोय कहै सहज न चीन्हे कोय ।
जिन सहजै विषया तजी सहज कहीजै सोय ॥
सहज-सहज सब कोय कहै सहज न चीन्हे कोय ।
पाँचू राखै परसती सहज कहीजै सोय ॥

---

१ ओब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स—दास गुप्ता पृ ९८
२ वही पृ० २६
३ वही पृ० ६०
४ वही पृ० ६०
५ वही पृ० ६०
६ गो० बा० पृ० १००
७ गोरखबानी संग्रह पृ० ११६
८ गोरखबानी संग्रह पृ० १५१
९ गोरखबानी पृ० १००
१० कबीर ग्रंथावली पृ० ४१

सहजै-सहजै सब गए सुत वित कामणि काम ।
एकमेक ह्वै मिलि रहा दास कबीरा राम ॥
सहज-सहज सब कोय कहै सहज न चीन्है कोय ।
जिन सहजै हरि जी मिले सहज कही जै सोय ॥

उन्होंने इसका प्रयोग सहजतत्त्व के रूप में भी किया है। दादू ने उसका स्वरूप निरूपित करते हुए लिखा है[1]—

अविनासी अंग तेज का ऐसा तत्त्व अनूप ।
सो हम देख्या नैनभरि सुन्दर सहज स्वरूप ॥

सहज का प्रयोग जीव के अर्थ में मिलता है। शरीररूपी पिंजड़े में स्थित जीव रूपी तोते का वर्णन करते हुए दादू लिखते हैं[2]—

पिंजर पिंड शरीर में सुवटा सहज समाय ।

सहज शब्द संतों की वाणियों में कुछ अन्य शब्दों के साथ मिलकर भी आता है। जैसे सहज योग[3] सहज मुक्ति[4] सहज शून्य[5] सहज समाधि[6] इत्यादि। ऐसे स्थलों पर सहज शब्द के अर्थ ज्ञान में अनेकानेक शब्द के अनुरूप बदल जाते हैं। जैसे सहज मुक्ति का अर्थ पूर्ण अद्वैतावस्था होगा। सहजयोग का अर्थ उदासीन हुए सहज शून्य का अर्थ ब्रह्मरंध्र और सहज समाधि का अर्थ पूर्ण अवस्था होगा। इनके अतिरिक्त संतों में सहज शब्द का प्रयोग और भी कई अर्थों में और कई रूपों में ढूँढा जा सकता है।

निरंजन—सहज और शून्य शब्दों के सदृश संतों की वाणियों में हमें निरंजन शब्द का प्रयोग भी मिलता है। निरंजन शब्द बहुत प्राचीन काल से प्रयुक्त होता आ रहा है। सर्वप्रथम इसका प्रयोग मुण्डकोपनिषद् में मिलता है[7]—

यदा विद्वान् पुण्य पापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति ।

मुण्डकोपनिषद् के पश्चात् इसका प्रयोग श्वेताश्वतर में भी मिलता है।

---

[1] दादू बानी भाग १ पृ० ५९
[2] दादू बानी भाग १ पृ० २०
[3] दादू बानी भाग १ पृ० ४२ साखी १६
[4] दरियासागर पृ० २७
[5] दादू बानी भाग १ पृ० ७०
[6] भीखा साहब की बानी पृ० ६६ व गरीब दास की बानी भाग १ पृ० ११
[7] मुंडकोपनिषद् ३।१

मुण्डकोपनिषद् में निरञ्जन शब्द का प्रयोग ब्रह्मवेत्ता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है क्योंकि वह विद्वान् का विशेषण बनकर आया है। श्रीमद्भागवत में इसका प्रयोग निर्मल और पवित्र अर्थ में हुआ है। उसमें लिखा है।[1]

नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाववर्जितम् न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।

अर्थात् नैष्कर्म्य स्वरूप निरंजन ज्ञान भी अच्युत भाव के बिना शोभा नहीं पाता है।

निरंजन शब्द का प्रयोग हठयोग[2] प्रदीपिका में कई बार किया गया है। एक स्थल पर वह माया रहित शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्म का वाचक प्रतीत होता है दूसरे स्थल[3] पर वह शुद्ध और पवित्र के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। योगकुण्डल्यु[4] पनिषद् में निरंजन हृदयस्थ यौगिक ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। हठयोगप्रदीपिका[5] में इस शब्द को सहज उन्मनी आदि का पर्यायवाची भी बताया गया है।

आगे चलकर निरंजन शब्द का प्रचार सिद्धों और नाथों में हुआ। सिद्धों ने अधिकतर इसका प्रयोग शून्य शब्द के साहचर्य से आत्मपरक किया है। ऐसे स्थलों पर वह निर्विकल्पक प्रसंग और निर्वेद आदि भावों का द्योतक[6] है। कहीं-कहीं पर उनमें उक्त प्रयोग द्वैताद्वैत विलक्षण के अर्थ में किया हुआ मिलता है।[7]

इस शब्द का प्रयोग हमें नाथपंथी साहित्य में भी मिलता है। गोरखनाथ ने अधिकतर इसका हृदयस्थ यौगिक ब्रह्म के अर्थ में ही किया है। एकमात्र[8] स्थल पर वह शून्य का विशेषण बनकर आया है। ऐसे स्थलों पर वह निर्विकल्प प्रसंग और निर्वेद आदि का ही वाचक प्रतीत होता है।[9]

निरंजन शब्द पाशुपत दर्शन में भी पाया जाता है। इस दर्शन में माया विशिष्ट पशु को जीव कहा गया है। इस पशु के भी दो भेद किये गये हैं—सांजन और निरंजन। सांजन शरीरधारी जीव को कहते हैं और निरंजन अशरीरी जीव को। इससे[1] स्पष्ट

१ श्रीमद्भागवत १।२।१२
२ हठयोगप्रदीपिका—४।१०२ और भी देखिए ४।७
३ हठयोगप्रदीपिका— ७।१
४ योगकुण्डल्युपनिषद्—३।२
५ हठयोगप्रदीपिका—
६ दोहाकोष—बागची पृ० १
७ दोहाकोष बागची पृ० २
८ गोरखबानी डा० बड़थ्वाल पृ० ११
९ गोरखबानी डा० बड़थ्वाल पृ० ७२
१ सर्वदर्शन संग्रह—चौखम्बासीरीज़ भाग १ पृ० ११८

स्पष्ट होता है कि इस दर्शन में आकर निरंजन शब्द पूर्णरूपेण एक पारिभाषिक शब्द बन गया है। इस पाशुपत दर्शन का आधार लेकर बहुत सी योगपरक साधना पद्धतियों का उदय हुआ। इसमें एक निरंजनी साधना पद्धति भी थी। इस निरंजन मत में निरंजन शब्द का प्रयोग बहुत कुछ सात्विक अर्थ में किया है। किंतु बाद में किन्हीं विशेष परिस्थितियों के कारण निरंजन शब्द के अर्थ में घोर परिवर्तन हुआ और वह अज्ञान और माया का प्रतिरूप माना जाने लगा। आगे चलकर पंथी भाइयों ने इसके विकृत स्वरूप को ही विशेष प्रतिष्ठा दी। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह केवल माया और अज्ञान का वाचक मात्र रह गया। कबीर पंथ में तो निरंजन देवता की ही कल्पना कर ली गई है। वह अज्ञान और माया आदि के अधिष्ठाता मालूम पड़ते हैं।

संतों की बानियों में निरंजन शब्द का प्रयोग हमें सत और असत दोनों रूपों में मिलता है। जहाँ पर उसका प्रयोग सदर्थ में हुआ है वहाँ वह आत्मतत्व[1] सात्विक[2] ब्रह्म[3] शब्द ब्रह्म निर्विकार[4] निर्गुण और निर्लिप्त आदि में से किसी एक अर्थ का वाचक है।

जहाँ पर उसका प्रयोग असत अर्थ में किया गया है वहाँ वह अज्ञान या माया का वाचक है। संत दरिया साहब ने उसका वर्णन करते हुए लिखा है[5]—

आप निरंजन मध्य पसारा फंद फंद करम रचि राख।
तीनों लोक निरंजन राइ चौरासी बाँधि जम फिराई॥

उपर्युक्त पंक्तियों में हमें पंथी भाइयों की निरंजन देवता की छाया भी दिखाई

---

[1] दादू बानी भाग १ पृ० ११ पर इंगित।
निर्गुणनिरंजन जे रहै क्यों न मनावै ताप।

[2] सुन्न सरोवर "मीन" मन नीर निरंजन देव।
दादू बहुरस विलसिए ज्ञान अपार अभेव॥
दादूबानी भाग १ पृ० ५२।

[3] सुन्दर आदि अन्त मधि एक निरंजन गुरु मेरा
सुन्दर विलास पृ० २२।

[4] निरंजन की बात कहौ कोई अकथ अगाध।
दादू मन माँहि मनै लाग लगावत अगाध॥
दादूबानी भाग १ प० १०।

[5] ईश्वरमाला पृ० २१।

मुण्डकोपनिषद् में निरञ्जन शब्द का प्रयोग ब्रह्मवेत्ता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है क्योंकि वह विद्वान् का विशेषण बनकर आया है। श्रीमद्भागवत में उसका प्रयोग निर्मल और पवित्र अर्थ में हुआ है। उसमें लिखा है।[1]

नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाववर्जितम् न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।

अर्थात् नैष्कर्म्य स्वरूप निरंजन ज्ञान भी अच्युत भाव के बिना शोभा नहीं पाता है।

निरंजन शब्द का प्रयोग हठयोग[2] प्रदीपिका में कई बार किया गया है। एक स्थल पर वह माया रहित शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्म का वाचक प्रतीत होता है दूसरे स्थल[3] पर वह शुद्ध और पवित्र के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। योगकुण्डल्यु[4] पनिषद् में निरंजन हृदयस्थ यौगिक ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। हठयोगप्रदीपिका[5] में इस शब्द को सहज उन्मनी आदि का पर्यायवाची भी बताया गया है।

आगे चलकर निरंजन शब्द का प्रचार सिद्धों और नाथों में हुआ। सिद्धों ने अधिकतर इसका प्रयोग शून्य शब्द के साहचर्य से व्यवहार किया है। ऐसे स्थलों पर वह निर्विकल्पक प्रसंग और निर्गुण आदि अर्थों का द्योतक[6] है। कहीं-कहीं पर उनमें इसका प्रयोग अद्वैत विलक्षण के अर्थ में किया हुआ मिलता है।[7]

इस शब्द का प्रयोग हमें नाथपंथी साहित्य में भी मिलता है। गोरखनाथ ने अधिकतर इसका हृदयस्थित यौगिक ब्रह्म के अर्थ में ही किया है। एकस्थान[8] स्थल पर वह शून्य का विशेषण बनकर आया है। ऐसे स्थलों पर वह निर्विकल्पक प्रसंग और निर्गुण आदि का ही वाचक प्रतीत होता है।[9]

निरंजन शब्द पाशुपत दर्शन में भी पाया जाता है। उस दर्शन में माया विशिष्ट पशु को जीव कहा गया है। इस पशु के भी दो भेद किये गये हैं—सांजन और निरंजन सांजन शरीरधारी जीव को कहते हैं और निरंजन अशरीरी जीव को। इसके[10] स्तम्भ

---

[1] श्रीमद्भागवत १।५।१२

[2] हठयोगप्रदीपिका—४।१०४ और भी देखिए ४।६

[3] हठयोगप्रदीपिका— ४।३

[4] योगकुण्डल्युपनिषद्—३।१

[5] हठयोगप्रदीपिका—

[6] दोहाकोश—बागची पृ० ३

[7] दोहाकोश बागची पृ० ९

[8] गोरखबानी डा० बड़थ्वाल पृ० १६

[9] गोरखबानी डा० बड़थ्वाल पृ० ७३

[10] सर्वदर्शन संग्रह—चौखम्बा सिरीज भाग ७ पृ० १६८

स्पष्ट होता है कि इस दर्शन में आकर निरंजन शब्द पूर्णरूपेण एक पारिभाषिक शब्द बन गया है। इस पाशुपत दर्शन का आधार लेकर बहुत सी शैवशाक्त साधना पद्धतियों का उदय हुआ। इसमें एक निरंजनी साधना पद्धति भी थी। इस निरंजन मत में निरंजन शब्द का प्रयोग बहुत कुछ सात्विक अर्थ में किया है। किंतु बाद में किन्हीं विशेष परिस्थितियों के कारण निरंजन शब्द के अर्थ में घोर परिवर्तन हुआ और वह शैतान और माया का प्रतिरूप माना जाने लगा। आगे चलकर पंथी भाइयों ने इसके विकृत स्वरूप को ही विशेष प्रतिष्ठा दी। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह केवल माया और शैतान का वाचक मात्र रह गया। कबीर पंथ में तो निरंजन देवता की ही कल्पना कर ली गई है। वह शैतान और माया आदि के अधिष्ठाता मालूम पड़ते हैं।

संतों की बानियों में निरंजन शब्द का प्रयोग हमें सत और असत दोनों रूपों में मिलता है। जहाँ पर उसका प्रयोग सद्रूप में हुआ है वहाँ वह आत्मतत्त्व[1] सात्त्विक[2] मन[3] शब्द ब्रह्म निर्विकार[4] निर्गुण और निर्लेप आदि में से किसी एक अर्थ का वाचक है।

जहाँ पर उसका प्रयोग असत अर्थ में किया गया है वहाँ वह शैतान या माया का वाचक है। संत दरिया साहब ने उसका वर्णन करते हुए लिखा है[5]—

आप निरंजन अकल पसारा फेर फेर जनम रचि सारा।
तीनों लोक निरंजन राई चौदह चौकी जम बिठाई॥

उपर्युक्त पंक्तियों में हमें पंथी भाइयों की निरंजन देवता की छाया भी दिखलाई

---

[1] दादू बानी भाग १ पृ० १२ पर इंगित।
मिल्यौ निरंजन जो रहै क्यों न समाई पास।

[2] सुन्न सरोवर "मीन मन नीर निरंजन देव।
दादू यहु रस विलसिये ऐसा अगम अपार॥
दादूबानी भाग १ पृ० ५१।

[3] सुन्दर जानि यह शरीर धरि एक निरंजन सूं कर भेटा
सुन्दर विलास पृ० २५।

[4] निरंजन की बात कही आवै अंजन नाहिं।
दादू मन माने नहीं सदा स्यामल नाहिं॥
दादूबानी भाग १ पृ० ३०।

[5] दरियासागर पृ० २१।

पड़ती है। कहीं कहीं पर निरंजन शब्द मूर्ख के अर्थ में भी प्रयुक्त जान पड़ता है। जैसे मलूकदास की निम्नलिखित पंक्तियों में[1]—

अंध धुंध पसर आत निरंजन मर्म न जाने कोई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों में निरंजन शब्द के अर्थ की सत और असत दो परम्पराएँ मिलती हैं।

---

१ मलूकदास की बानी पृ० २।

सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत के ग्रन्थ

अग्निसंहिता
अत्रिस्मृति
अथर्ववेद
अहिर्बुध्न्य संहिता
अद्वय वज्र संग्रह (G O S N ४०, १९
२७)
अमरौघ प्रबोध
अद्वयतारकोपनिषद्
अभिनव भारती टीका
अमरकोश
अभिधान कोश
अकुलवीर तन्त्र
अष्टाध्यायी
अमृतनादोपनिषद्
अणुभाष्य
अमरौघ शासन-सिद्ध गोरखनाथ विरचित
(का० सं० ग्रं० सं० २०)
अवधूतोपनिषद्
[illegible]
(सं० [illegible] मिश्र कलकत्ता १८८०)
अभिधर्म कोश-सं० राहुल सांकृत्यायन
आनन्द भाष्य
आपस्तम्ब स्मृति
आश्वलायन गृह्यसूत्र
आनन्द लहरी
ईशावास्योपनिषद्
ईश्वर संहिता
[illegible] सूत्र
एकादशोपनिषद्
ऐतरेय ब्राह्मण
ऐतरेयोपनिषद्
ऋग्वेद
केनोपनिषद्
कठोपनिषद्
कुलार्णव तन्त्र
काली विलास तन्त्र
कुब्जिका तन्त्र
कौलावली
कूर्म पुराण
कौलावली निर्णय (सं० [illegible])
कौल ज्ञान-निर्णय (सं० प्रबो० बागची) कलकत्ता
गन्धर्व तन्त्र
[illegible] तन्त्र
गोरक्ष शतक ([illegible] गोपीनाथ और
[illegible] में संगृहीत)
गौतम धर्म सूत्र
गुह्य समाज तन्त्र (सं० विनयतोष भट्टाचार्य
१९३१)
गोरक्ष पद्धति—बम्बई १९[illegible]
गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह—सं० गोपीनाथ
कविराज सरस्वती भवन सीरीज १८
घेरण्ड संहिता

पड़ती है। कहीं कहीं पर निरंजन शब्द मूर्ख के अर्थ में भी प्रयुक्त जान पड़ता है। जैसे मलूकदास की निम्नलिखित पंक्तियों में[1] —

अंध धुंध चल जात निरंजन मर्म न जानै कोई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों में निरंजन शब्द के अर्थ की सत और असत दो परम्पराएँ मिलती हैं।

---

[1] मलूकदास की बानी पृ० ६।

सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत के ग्रन्थ

अग्निसंहिता
अग्निस्मृति
अथर्ववेद
अहिर्बुध्न्य संहिता
अद्वय वज्र संग्रह (G O S N ४० १९ २७)
अमरौघ प्रबोध
अद्वयतारकोपनिषद्
अभिनव भारती टीका
अमरकोश
अभिधान कोश
अकुलवीर तन्त्र
अष्टाध्यायी
अमृतनादोपनिषद्
अणुभाष्य
अमरौघ शासन—शिव गोरक्षनाथ विरचित (का० सं० ग्रि० ग्र० मा० २०)
अथर्वशिरोपनिषद्
अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता
(सं० राजेन्द्रलाल मित्र कलकत्ता १८८८)
अभिधर्म कोश—सं० राहुल सांकृत्यायन
आनन्द भाष्य
आपस्तम्ब स्मृति
आश्वलायन गृह्यसूत्र
आनन्द लहरी
ईशावास्योपनिषद्
ईश्वर संहिता
उत्तराध्ययन सूत्र
एकादशोपनिषद्
ऐतरेय ब्राह्मण
ऐतरेयोपनिषद्
ऋग्वेद
केनोपनिषद्
कठोपनिषद्
कुलार्णव तन्त्र
काली विलास तन्त्र
कुब्जिका तन्त्र
कौल टिप्पणी
कूर्म पुराण
कौलावली निर्णय (सं० एवलॉन)
कौल ज्ञान निर्णय (सं० प्र० च० बागची) गीता
गन्धर्व तन्त्र
गुह्य सिद्धि तन्त्र
गोरक्ष शतक (ब्रिग्स के गोरखनाथ और कनफटा योगी में संकलित)
गौतम धर्म सूत्र
गुप्त साधन तन्त्र (सं० [illegible] शास्त्री १९११)
गोरक्ष पद्धति—बम्बई १९[illegible]
गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह—सं० गोपीनाथ कविराज सरस्वती भवन टेक्स्ट १८
घेरण्ड संहिता

चूलिकोपनिषद्
चित्त विशुद्धि प्रकरण
चन्द्रालोक (जयदेव)
चाणक्य नीति दर्पण
चक्रसम्भार तन्त्र (काजी दग सम्दुप-तांत्रिक टेक्स्ट सेरीज)
छान्दोग्योपनिषद्
जैमिनीय ब्राह्मण
जाबालिदर्शनोपनिषद्
तैत्तरीयोपनिषद्
तैत्तरीय ब्राह्मण
तैत्तरीय आरण्यक
तत्त्व संग्रह शान्तिरक्षित—डा० विनय तोष भट्टाचार्य सम्पादित
दर्शनोपनिषद्
क्षुरिकोपनिषद्
ध्यान बिन्दूपनिषद्
ध्वन्यालोक की टीका
नारद पांचरात्र
नारद भक्तिसूत्र
नैषधीय चरित
न्याय सूत्र
न्याय दर्शन—डॉ० गंगानाथ झा
नैरात्म्य परिपृच्छा (विश्वभारती (१९३०)
पराशर स्मृति
प्रश्नोपनिषद्
पञ्चतंत्र
पारस्कर गृह्यसूत्र
पंचक्रम (हस्तलिखित)
पातंजल योगदर्शन
प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि (गी० ओ० एस० न ४०।१९२९)
प्रबोध चन्द्रोदय
परतन्त्र संहिता
प्रत्यक तत्त्व प्रदीपिका
पंचदशी
पातंजल योग—सूत्र
प्रज्ञापारमिता सूत्र (बरेली सं० १९१०)
बोधिचर्यावतार-पंजिका
बोधिचर्यावतार
बौधायन श्रौत सूत्र
ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य
भविष्य पुराण
भागवत
भगवती सूत्र
भविष्य पुराण
महाभारत
मनुस्मृति की टीका (कुल्लूकभट्ट)
मुण्डकोपनिषद्
मैत्रायणी उपनिषद्
मुक्तिकोपनिषद्
मैत्र्युपनिषद्
माण्डूक्य कारिका
मिलिन्द प्रश्न
माध्यमिक कारिका
माध्यमिक वृत्ति (पीटर्सबर्ग १९०३)
मृगेन्द्र तंत्र
मत्स्य सूक्त
मालतीमाधव (भवभूति)
मालविकाग्निमित्र (कालिदास)
महायान विंशक (सं० विधुशेखर भट्टाचार्य १९३१)
महायान सूत्रालंकार लेवी सम्पादित १९०७
महार्थ मंजरी
यजुर्वेद

योगसूत्र
योगवाशिष्ठ
योगमार्तण्ड
योगशिखोपनिषद् (महादेव शास्त्री सम्पादित १९२०)
योगचूडामण्युपनिषद्
योग सम्प्रदाय विष्कृति
योग कुण्डल्युपनिषद्
योगतत्त्वोपनिषद् (महादेव शास्त्री) १९२० (अडयार लाइब्रेरी)
यामल तंत्र
योगोपनिषद् (महादेव शास्त्री १९२० अडयार लाइब्रेरी)
योग रहस्य (नारायण स्वामी दिल्ली १९४१)
रघुवंश
लघ्वाश्वलायन स्मृति
लघुहारीत स्मृति
लंकावतार सूत्र
लिंग पुराण
ललित विस्तर—डा० लेफमेन द्वारा संपादित—
वृहत्पराशर संहिता
वृहदारण्यकोपनिषद्
वाजसनेयि संहिता
विष्णु पुराण
ब्रह्मवैवर्तपुराण
वेदान्तसूत्र भाष्य
वृहदारण्यक भाष्य
वामन पुराण
वैशेषिक दर्शन
[illegible]
विष्णुसहस्रनाम—शांकरभाष्य—
षट्—चक्र—निरूपण
वेदान्तसार—प्रो० हिरियन्ना
[illegible]
सिद्धसिद्धान्त पद्धति—डा० कल्याणी घोष मलिक—१९५४
स्मृति संदर्भ १९५२ कलकत्ता
सर्वदर्शन संग्रह—वासुदेव शास्त्री—१९५१
सम्मोहन तंत्र षट्चक्रनिरूपण
साधनिका—हस्तलिखित ग्रंथ—
स्कंद पुराण
सद्धर्म पुण्डरीक—केर्न पीटर्स बर्ग १९०८
सिद्धान्त—संग्रह—पं० गोपीनाथ कविराज
सुभाषितावली—सं० पीटरसन—१८८६
स्वरमन्त्र कलानिधि समाहार—मन्मथनाथ विद्याविनोद १९१२
संगीत मकरंद नारद
संगीत रत्नाकर शार्ङ्गदेव
साधन माला—भाग १—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज सं० २६
साधन माला—भाग २ „ „ ४१
सेकोद्देशटीका सम्पादक—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज ९०
[illegible]
हारीत स्मृति
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
शारदा तिलक तंत्र
[illegible]
शिव संहिता
शांडिल्योपनिषद्
[illegible]

शतकत्रयम—भर्तृहरि—
शिक्षा—समुच्चय
षट्दर्शन समुच्चय कारिका
षट्पाठ निरुक्त
हर्षचरित सार
ईशोपनिषद्
हठयोग प्रदीपिका—योगीश्रीनिवास
आयंगर (१९४८)
[illegible]पनिषद्
ज्ञान सार समुच्चय—आर्य देव—
ज्ञानार्णव तंत्र
ज्ञानसिद्धि—इन्द्रभूति—(गायकवाड़ ओरियण्टल सेरीज) नं० ४४
श्रीमद्भगवद्गीता

अंग्रेजी ग्रंथ

आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म एंड इट्स रिलेशन टु हीनयान—एन० दत्त १९३०
आरलीमोनास्टिक बुद्धिज्म—१९४१
आसामीज़—इट्स फार्मेशन एंड डेवलपमेंट—बाणीकान्त काकती—गौहाटी १९४१
अरली हिस्ट्री आफ कामरूप राय के० एल० (बरुआ) १९३३
आउटलाइंस आफ इंडियन फिलासफी हिरियन्ना—
आर्कटिक होम इन दि वेदाज़—तिलक
आर्किआलोजीकल सर्वे आफ इंडिया म्यूजियम—आर्कियोलाजिकल आफिसेज भाग १
आइने अकबरी—जेरट्ट द्वारा संपादित—
आइने अकबरी—ब्लाकमैन द्वारा संपादित १८७३—८४
आउट लाइंस आफ महायान—बुद्धिज्म—सुजुकी १९०७
आउट लाइंस आफ इस्लामिक कल्चर—शुश्त्री—
आफ्टर मोर रिलीजस कल्ट्स डा० एम० बी० दास गुप्त १९४६
इंडिया थ्रू दि एजेज—जे० सरकार १९५०
इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स १९५१
इंडियन थी इज्म—मैक्निकल साहब
इंडिया—एल० मायन १९५४
इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम ओन इंडिया कल्चर ताराचंद
इंडियन इस्लाम—टिटस—
इलस्ट्रेशन आफ दि हिस्ट्री एंड
प्रैक्टिसेज आफ दि ठग्स—एक्पोर्टेड बुक—१८३७

फिलासफी आफ दि भागवद्गीता—पी० एन० श्रीनिवासाचार्य
इंट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म—विनयतोष भट्टाचार्य—१९३२
ए क्रिटिसिज्म आफ हिंदू मायथालाजी लंदन १९५०
इंडियन लिटरेचर—डा० विंटरनित्ज़
इंडियन फिलासफी—डा० राधाकृष्णन
इंडिया एज नोन टु पाणिनि डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
इंडिया एण्ड चायना—डा० पी० सी० बागची
इंट्रोडक्शन टु पंचरात्र एण्ड
आहिर्बुध्न्य संहिता—डा० एफ० आटो श्राडर—१९१९
इंडियन पंडित्स इन लैंड आफ स्नो—एस० सी० दास कलकत्ता १८९३
एन इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म एस० बी० दास गुप्ता १९५०
ब्रह्माण्ड पुराण—बम्बई
एडवांस हिस्ट्री आफ इंडिया १९५०
एथम इन बुद्धिज्म—फ्राम विजीज डा० मुखर्जी
एन आउट लाइन आफ रिलीजन
लिटरेचर आफ इंडिया फर्कुहर लाइन १९२०
ए हिस्ट्री आफ दि मराठा पीपुल भाग २
एन एडवांस हिस्ट्री आफ इंडिया आर० सी० मजूमदार १९५०
इस्नालेटिक माइन्स इन कालप
इंडिया मद्रास—१९०६
एपिग्राफिक रिपोर्ट—रैस १९८—१८११
ए हिस्ट्री आफ फिलासफी डा० एस० एन० दासगुप्ता १९५८
ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी रानाडे बलवेलकर
एन आइडियलिस्ट व्यू आफ
लाइफ—राधाकृष्णन
माइन्स आन पाशुपत फिलासफी—श्री लिंगाय जीतन गणपती भवन मद्रास १११६
मिथ्स एण्ड आफ हिन्दू पान्थ—डा० कल्याण १९११
मानेन आफ गोड (नम्मलवार) डा० ए० नैकुप्प कमल
न्याय (कार्पर एकन्न)
ईसाव वाग्न—श्री इरावतन—मद्रास १९१९
क्राइस्ट पाशुपत संहिता बम्बई—एम एन० ए न बलवाना १९३०
साली हदद इंडियन लिटरेचर—मोहन दलीह पी० डी० एम० ब न १९११
प सेल्फ दुर हिस्ट्री आफ सुपीरिअर लिमिट पी० एम० डाटा

फाह्यान का वर्णन—लगेकृत
फिलासफी आफ योगवाशिष्ठ—बी० एल० आत्रेय
फिलासफिक एसेज—एस० एन० दास कलकत्ता १९४१
ब्राह्मनिज्म एण्ड हिन्दूइज्म—मोनियर विलियम
वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स डा० भंडारकर
बुद्धिज्म एण्ड जिनिज्म—साबेल
बनारस दि सेक्रेड सिटी आफ—दि हिन्दूज शेरिंग
वैदिक एज—के० एम० मुंशी
चर्यापदीस्—दि फोरमोस्ट वैष्णव
सेन्टस आफ महाराष्ट्र—बलदेव उपाध्याय
बुद्धिस्ट फिलासफी इन इंडिया एण्ड
सीलोन—ए० बी० कीथ—आक्स० १९२३
बुद्धिस्ट इकनोग्राफी
बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड बील
भिक्षु नारद थेरो—बुद्धिस्ट आइडियल आउटपार पैम्फलेट नं० १५८
मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र—रानाडे
मैनुअल आफ इंडियन बुद्धिज्म—एच० कर्न १८९६
मेडीवल मिस्टासिज्म क्षिति मोहन सेन—१९२९ लंदन
मुस्लिम रूल इन इंडिया—ईश्वरीप्रसाद
मैमोरियल्स आफ दि ब्रिटिश
एडीशन आफ दि आसाम धर्मविहार कलकत्ता
मिस्टिक सेंट एण्ड एसेटिक्स—जे० सी० ओमन—१९०१
महाबोधि पत्रिका
मैडिवल इंडिया
माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फालोअर्स
इन उड़ीसा—एन० एन० बोस—कलकत्ता १९११
मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ
महानिर्वाण तंत्र—ट्रांसलेशन एम० एन० दत्त—कलकत्ता—१९००
मैत्रेय आरियासंग और योगाचार्य मैत्रेयनाथ—तुक्सी द्वारा अनूदित
मिस्टिसिज्म इन इंग्लिश लिटरेचर स्पर्जन—१९२७
मिलिंदपन्ह—प्रकाशित १९१२ और १९५८ का संस्करण
मिस्टिक्स आफ इस्लाम निकल्सन—
रिलीजन इन वैदिक लिटरेचर पी० एस० देशमुख—१९३३

रिलीजन्स आफ इंडिया—डब्लू॰ हापकिंस—१८९६
रिलीजन आफ दि ऋग्वेद—मिकनोल्ड आक्सफोर्ड
रिलीजस सेक्ट्स आफ हिंदूइज्म—एच॰ विलसन १८६२
एन एन्थोलाजी आफ रिलीजस स्टेटमेंट्स—अमरनाथ झा, इलाहाबाद १९११
एन्टिक्विटीज आफ तिब्बत—ए॰ एच॰ फ्रैंक, कलकत्ता
ए रिकार्ड आफ बुद्धिस्ट रिलीजन ऐज प्रैक्टिस्ड इन इंडिया एण्ड मलाया—
आर्किपेलेगो बाइ इत्सिंग आफ तकाकुसु—आक्स॰ १८९६
ओल्ड बंगाली टैक्स्टस—डा॰ सुकुमार सेन
ओरीजिनस एण्ड डिवल्प्ड फार्म्स आफ इण्डियन बुद्धिज्म—आर॰ किमुरा कलकत्ता
१९२०
ओरीजिन एंड डेवलमेंट आफ बंगाली लेंग्विज—भाग प्रथम—डा॰ एस॰ के॰ चटर्जी
ओरीजिन एंड डेवलमेंट आफ भोजपुरी—यू॰ तिवारी
कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया भाग १ ५
कबीर एंड हिज फालोअर्स—डा॰ की
कबीर एंड हिज बॉयग्राफी—डा॰ मोहनसिंह
कबीर एंड दि कबीर पंथ—वेस्टकट
कंस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी—रानाडे
कलेक्टेड वर्क्स आफ भंडारकर कम्पाइल्ड मजमूद आर॰ए॰ निरक्लन॰ हाय वर्तान १९२९
कश्मीर शैविज्म—जे॰ सी॰ चटर्जी
कौल ज्ञान निर्णय—डा॰ बागची १९३४
कास्ट्स एंड ट्राइब्स आफ साउथ इंडिया—ई॰ थर्स्टन, मद्रास १९०९
गोरखवाद—महादेवन् १९५४
गारलैंड आफ लेटर्स—आर्थर एवेलेन
गोरखनाथ एंड दि कनफटा—योगीज ब्रिग्स
गोरखनाथ एंड मैडिवल मिस्टिसिज्म—डा॰ मोहन सिंह
गाइड आफ नार्दर्न बुद्धिज्म—ए॰ गेटी, आक्स॰ १९१४
घरनी फ्राम मरदान टु मथुरा—ग्राउज
[illegible] मिस्टिसिज्म—एस॰ के॰ [illegible] १९४२
ट्रैवल्स—टैवेनियर—भाग २, १८८९
ट्राइब्स एंड कास्ट्स आफ बंगाल १८९१ १९११—रिस्ले
ट्राइब्स एंड कास्ट्स आफ एन॰ पी॰ प्राविन्सेस एंड अवध—क्रुक
ट्राइब्स एंड कास्ट्स आफ दि नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेस एंड अवध—भाग २, क्रुक
टीचिंग्स आफ वेदांत एकार्डिंग टु रामानुज—सुखतंकर

प्रिमिटिव एथनालोजी आफ बंगाल—डाल्टन ई० डी० १८७२-७७
डिक्शनरी आफ हिन्दू माइथोलोजी
वेदिकस्टेट—गोविन्दाचार्य
डायनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दन इंडिया—भाग प्रथम—एच० सी० राय०, कलकत्ता
तुहफत उल मुवाहिदीनका, अंग्रेजी अनुवाद—रायल एंड सन्स
तंत्राज—देयर फिलासफी एंड आकल्ट सीक्रेट्स— डी० एन० बोस
दबिस्तान मजाहिब—ट्रोयर एंड शी
दि हिस्ट्री आफ सूफिज्म—डा० ए० जे० आर्बेरी
दि पीपुल आफ इंडिया—हर्बर्टरिजली, कलकत्ता
दि सिस्टम्स आफ वेदांत—डायसन शिकागो १९१२
दीन इलाही—एमचौधरी १९४१
दि महाभारत—ए क्रिटिसिज्म—सी०-वी० वैद्य
दि दबिस्तान—परिवाने १९११
दि फाइटिंग एथिटिक्स आफ इंडिया—मजूंदर शाहब
दि ग्रेट एपिक—हापकिन्स
नामदेव—जी० ए० मकेलन
नोट्स ओन दि रेस कास्ट्स १८८८
रूमी पोयट एण्ड मिस्टिक—निकल्सन
रोल आफ इंडिविजुअल इन हिस्ट्री, मास्को १९४९
राष्ट्रकूट एंड देयर टाइम्स—ए० एस० अलतेकर—पूना १९३४
सेव पाग्टव मिस्टिक्स—के आनन्दा पट के १९२८
वराहा—एम० चड्डुमा—पैरिस १९२८
शामाइज्म—एल० ए० वदेस
लाइफ आफ रामानुज
लाइफ एंड टीचिंग्स आफ माध्वाचार्य—पद्मनाभाचार्य
लेक्चर्स आन दि हिस्ट्री आफ श्री वैष्णव—एन० आपपर
सोरस आफ हिन्दू ला—सैक्रेडबुक्स आफ ईस्ट सेरीज भा० २
लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया—ग्रियर्सन
वैष्णव रिफार्मर्स आफ इंडिया
वेदान्त सूत्र विद रामानुजस कमेन्ट्री
वैदिक माइथालोजी—मैक्डानेल
वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स—आर० जी० भंडारकर
स्टडीज इन तन्त्राज—डा० प्रबोधचंद्र बागची १९३९

सिक्ख रिलीजन—भाग ६—मैकालिफ—१९०९
सौम्स आफ दादू—दाताद्य गाराला
सुल्तानेट आफ देहली—डा० श्रीवास्तव १९५०
स्टारिया डू मागर—डब्ल्यू० अरविन—१९०५
सेक्रेड सिटी आफ मथुरा—शेरिंग
साइकोलाजी आफ सेक्स—माणी
स्प्रिट आफ इस्लाम—अमीरअली—१८९१
सिरिभुमस फिलासफी इन लाइफ—एम० के० स्पेन्सर १९४२
सेक्रेड बुक आफ दि ईस्ट, सरीज—वाल्यूम १७
सेक्रेड बुक आफ दि ईस्टसेरीज—वाल्यूम २०
संस्कृत बुद्धिस्ट लिटरेचर आफ नेपाल—मुतुरी—लंदन १९०७
शैव स्कूल हिंदूइज्म—शिवपादसुन्दरन्
शक्ति एण्ड दि शाक्त—आर्थर एवेलेन—१९१८, १९५१
शक्ति आल डिवाइन पावर—एस० क० दास, कलकत्ता
श्री रामानुज—एस० श्रीकृष्ण स्वामी आयंगर
हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रिन आफ दि आजीविका—ए—एल० बाशम १९५१
होम आफ आर्यन्स—आदन सिन्धू
हिस्ट्री आफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स(१८४९—१८६७) ईलियट एण्ड डाउसन भाग ५
हिस्ट्री आफ इस्लाम—शेर, कलकत्ता १९०१
हिस्ट्री सिविलिज्म—एम० सरकार
हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—मैकडानेल
हिस्ट्री आफ क्लासिकल लिटरेचर—कृष्णमाचार्य
हिन्दू सिविलिजेशन—राधाकुमुद मुकर्जी
हिम्स आफ दि काम्बार कट्स—टुर—१९११
हिंदू वाल्टस एण्ड मन्द्रस्—व गङ्ग महावार्द
हण्ड्रेड पोएम्स आफ कबीर—रवीन्द्रनाथ टैगोर
हेर ड्र आफ दर टैम्पि—एल० सी० नगेन्द्र, करांची
हिस्ट्री आफ बंगाल भाग १ डी० आर० सी० मजूमदार
हिंदूइज्म एण्ड बुद्धिज्म, चा० इलियट—लंदन १९२१
हिस्ट्री आफ नेपाल—वार्डदरा हाल पन्डित
हिस्ट्री आफ कन्नौज—डा० श्री० त्रिपाठी
हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश डा० जी० वी० टगारे, पूना १९४८

—

हिन्दी ग्रन्थ

अरब और भारत के सम्बन्ध—सैयद सुलेमान नदवी।
अनुराग सागर—पुस्तकादास, बम्बई, सं० १९८२।
अनन्तदास की परिचई।
आर्यों का आदि देश—डा० सम्पूर्णानन्द।
उत्तरी भारत की संत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, सं० २००७।
ऋग्वेद का हिन्दी अनुवाद—रामगोविन्द त्रिवेदी।
कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास १९२८।
कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा, १९११।
कबीर चरित्रबोध।
कबीर की विचारधारा—डा० गोविन्द त्रिगुणायत, २००८।
कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९४२।
कबीर—मंसूर।
कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, २०११।
कबीर और जायसी का रहस्यवाद—डा० गोविन्द त्रिगुणायत।
कबीर साहब की शब्दावली—बेलवेडियर प्रेस।
कबीर बीजक।
कबीर साहब का बीजक—विचारदास।
कबीर साहित्य का अध्ययन—पुरुषोत्तम एम० ए०, बनारस, सं० २००८।
कबीर पन्थ—महर्षि शिवव्रत लाल, मिशन प्रेस, इलाहाबाद।
गुलाल साहब की बानी—बेलवेडियर प्रेस।
गोरखबानी संग्रह—बड़थ्वाल, द्वितीय संस्करण।
गुरु नानक—शान्तप्रभ, ओंकार आदर्श चरितमाला, प्रयाग।
गरीबदासजी की बानी—बम्बई, सं० १९७५।
घट रामायन—बेलवेडियर प्रेस, भाग २।
चैतन्य चरितामृत।
चौरासी सिद्ध कौन थे—परशुराम चतुर्वेदी, ओरियंटल कान्फ्रेंस, लखनऊ।
जयदेव चरित—रजनीकान्त गुप्त।
जगजीवन साहब की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
तिब्बत में सवा बरस—राहुल सांकृत्यायन।

तंत्रसार—आर० सी० परवी।
तुलसी ग्रंथावली—रामचन्द्र शुक्ल।
तसव्वुफ अथवा सूफी मत—सरस्वती मंदिर, बनारस, चन्द्रबली पांडेय।
दादूदयाल की बानी—बेलवेडियर प्रेस।
दादू—क्षिति मोहन सेन।
दरिया सागर—बेलवेडियर प्रेस।
दरिया साहब बिहारवाले के चुने हुए पद—बेलवेडियर प्रेस।
दयाबाई की बानी—बेलवेडियर प्रेस।
दोहाकोश—प्रबोध चन्द्र बागची।
दूलनदास की बानी—बेलवेडियर प्रेस।
धरमदास की बानी—बेलवेडियर प्रेस।
नाथ सम्प्रदाय—हजारीप्रसाद द्विवेदी।
नामदेव पंचासती—नरदेव सिंह।
नामदेव बाबा गाथा—विनयकुमार सिंह द्वारा संपादित।
पद्मावत—जायसी।
पुरातत्त्व निबन्धावली—राहुल सांकृत्यायन।
पलटू साहब की बानी—बेलवेडियर प्रेस।
पाहुड़ दोहा—रामसिंह, सं० हीरालाल जैन, कारंजा, १९६०।
प्रबन्ध चिन्तामणि—हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा अनूदित और मुनि श्रीजिनविजय द्वारा संपादित—अहमदाबाद, कलकत्ता १९४०
बौद्ध दर्शन मीमांसा—डा० बलदेव उपाध्याय।
बुल्ला साहब की बानी—बेलवेडियर प्रेस।
बौद्ध गान और दोहा—हरप्रसाद शास्त्री।
भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास।
भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखायें—पं० परशुराम चतुर्वेदी।
मत्स्यनाथ—हरिकिशोर प्रकाशित—गणपत प्रसाद बम्बई।
मकरनाथ दर्पण—बेलवेडियर प्रेस।
मत्स्यनाथ नामावली—नवीन लखनऊ, १९११।
भगवान रविदास की सत्य कथा—रामचरण कुरील।
भीखा साहब की बानी—बेलवेडियर प्रेस।
भागवत सम्प्रदाय—बलदेव उपाध्याय।
भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय।
मीराबाई की पदावली।

मूल गोसाईं चरित ।
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ।
मलूकदास की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ।
यारी साहब की रत्नावली—बेलवेडियर प्रेस ।
योगप्रवाह—पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, सं २००३ ।
रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव—अप्रकाशित थीसिस ।
रैदासजी की बानी—बेलवेडियर प्रेस ।
रज्जब जी की सर्वांगी—
राजपूताने का इतिहास—महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ।
वैदिक साहित्य परिशीलन—रजनीकान्त ।
धन्ना जी की बानी—मंगलदास ।
विद्यापति ठाकुर—डा० उमेश मिश्र ।
संत सुधासार—वियोगी हरि ।
संत बानी संग्रह—बेलवेडियर प्रेस ।
सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, १९५५ ।
सन्त कबीर—डा० रामकुमार वर्मा, १९४२ ।
सन्त दरिया एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ।
सहजोबाई की बानी—बेलवेडियर प्रेस ।
सुन्दर विलास—बेलवेडियर प्रेस ।
साधना माला—गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, नं० ४१ ४६ ।
सुन्दर दर्शन—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ।
संस्कृत साहित्य का इतिहास—कन्हैयालाल पोद्दार, [illegible] ।
सन्त सुधासार—वियोगी हरि, १९५३ ।
सन्त दर्शन—डा० दीक्षित, १९५३ ।
सन्त काव्य—परशुराम चतुर्वेदी इलाहाबाद ।
सुन्दर ग्रन्थावली—हरि नारायण शर्मा, राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता, सं० १९९३ ।
सन्त विलास—हस्तलिखित प्रति ।
सन्त सुन्दरदास—हस्तलिखित प्रति ।
शंकराचार्य का आचार दर्शन—रामानन्द तिवारी ।
शिवसिंह सरोज—शिवसिंह सेंगर, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ ।
श्री भक्ति सागर ग्रन्थ—चरण दास, नवल किशोर प्रेस ।
हिन्दी साहित्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० बड़थ्वाल ।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा॰ रामकुमार वर्मा, १९४८।
हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी।
हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता—डा॰ बेनीप्रसाद इलाहाबाद, १९३१।
हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा॰ भगीरथ मिश्र।
हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
योग सम्प्रदायाविष्कृति—योगी "चन्द्र" नाथ, १९२४।
योग प्रवाह—डा॰ बड़थ्वाल।
संस्कृति संगम—आचार्य क्षिति मोहन सेन, १९५१।
मध्यकालीन धर्म साधना।
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय।

कुछ अन्य भाषाओं के ग्रन्थ

तज़किरतुल फुकरा—फारसी।
सफीन उलुल असफिया—फारसी।
गुमाता उम्माधीन।
इस्तवार द ला लितेरात्यूर ऐंदूई ए ऐंदूस्तानी, गार्सा द तासी—फ्रेंच।
तबारम उल पु द।
दाबिस्त इमादी—फारसी।
दास मत—उड़िया।
धम्म पद—पाली।
कुरान शरीफ—अरबी।
गुरु ग्रंथ साहब—गुरुमुखी।
नाथ सम्प्रदाय इतिहास, दर्शन और साधन प्रणाली—कल्याणी मल्लिक।
मज्झिम निकाय—२ खंड, पाली टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८८।
दीघ निकाय—दो खंड, पाली टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८९०, १९११।

मूल गोसाईं चरित ।
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ।
मलूकदास की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ।
यारी साहब की रत्नावली—बेलवेडियर प्रेस ।
योगप्रवाह—पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, सं० २००३ ।
रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव—अप्रकाशित थीसिस् ।
रैदासजी की बानी—बेलवेडियर प्रेस ।
रज्जब जी की सर्वांगी—
राजपूताने का इतिहास—महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ।
वैदिक साहित्य परिशीलन—रजनीकांत ।
बषना जी की बानी—मंगलदास ।
विद्यापति ठाकुर—डा० उमेश मिश्र ।
संत सुधासार—वियोगी हरि ।
संत बानी संग्रह—बेलवेडियर प्रेस ।
सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, १९५५ ।
सन्त कबीर—डा० रामकुमार वर्मा, १९४२ ।
सन्त दरिया एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ।
सहजोबाई की बानी—बेलवेडियर प्रेस ।
सुन्दर विलास—बेलवेडियर प्रेस ।
साधना माला—गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज़, नं० ४२ ४१ ।
सुन्दर दर्शन—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ।
संस्कृत साहित्य का इतिहास—कन्हैयालाल पोद्दार, सद्धर्म पुंडरीकसूत्र ।
सन्त सुधासार—वियोगी हरि, १९५३ ।
सन्त दर्शन—डा० दीक्षित, १९५३ ।
सन्त काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद ।
सुन्दर ग्रन्थावली—हरि नारायण शर्मा, राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता, सं० १९९३ ।
सन्त विलास—हस्तलिखित प्रति ।
सन्त सुन्दरदास—हस्तलिखित प्रति ।
शंकराचार्य का आचार दर्शन—रामानन्द तिवारी ।
शिवसिंह सरोज—शिवसिंह सेंगर नवल किशोर प्रेस, लखनऊ ।
श्री भक्ति सागर ग्रन्थ—चरनदास, नवल किशोर प्रेस ।
हिन्दी साहित्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० बड़थ्वाल ।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, १९४८।
हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता—डा० बेनीप्रसाद इलाहाबाद, १९३१।
हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र।
हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
योग सम्प्रदायाविष्कृति—योगी "चन्द्र" नाथ, १९२४।
योग प्रवाह—डा० बड़थ्वाल।
संस्कृति संगम—आचार्य क्षिति मोहन सेन, १९५१।
मध्यकालीन धर्म साधना।
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय।

कुछ अन्य भाषाओं के ग्रन्थ

तज़किरए फुक़रा—फ़ारसी।
सफ़ीनतुल औलिया—फ़ारसी।
गुलज़ार अबरार।
इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी, गार्सां द तासी—फ़्रांसीसी।
मख़ज़न उल फ़ुक़रा।
बाग़िए इलाही—फ़ारसी।
दास मत—उड़िया।
धम्म पद—पाली।
कुरान शरीफ़—अरबी।
गुरु ग्रन्थ साहब—गुरुमुखी।
नाथ सम्प्रदाय इतिहास, दर्शन और साधन प्रणाली—बंगाली।
ऐशियाटिक रिसर्चेज़—२ नंबर, रायल ऐशियाटिक सोसायटी, लन्दन, १८८८।
हास मिशन—३१ नंबर, रायल ऐशियाटिक सोसायटी, लन्दन, १८८०, १९०१।

मूल गोसाईं चरित ।
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ।
मलूकदास की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ।
यारी साहब की रत्नावली—बेलवेडियर प्रेस ।
योगप्रवाह—पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, सं २००३ ।
रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव—अप्रकाशित थीसिस ।
रैदासजी की बानी—बेलवेडियर प्रेस ।
रज्जब जी की सर्वांगी—
राजपूताने का इतिहास—महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ।
वैदिक साहित्य परिशीलन—रजनीकांत ।
बखना जी की बानी—मंगलदास ।
विद्यापति ठाकुर—डा० उमेश मिश्र ।
संत सुधासार—वियोगी हरि ।
संत बानी संग्रह—बेलवेडियर प्रेस ।
सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, १९५५ ।
सन्त कबीर—डा० रामकुमार वर्मा, १९४२ ।
सन्त दरिया एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ।
सहजोबाई की बानी—बेलवेडियर प्रेस ।
सुन्दर विलास—बेलवेडियर प्रेस ।
साधना माला—गायकवाड़ ओरिएन्टल सिरीज, नं० ४२ ४६ ।
सुन्दर दर्शन—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ।
संस्कृत साहित्य का इतिहास—कन्हैयालाल पोद्दार, उद्धृत पुस्तीस्मूल ।
सन्त सुधासार—वियोगी हरि, १९५१ ।
सन्त दर्शन—डा० दीक्षित, १९५३ ।
सन्त काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद ।
सुन्दर ग्रन्थावली—हरि नारायण शर्मा, राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता, सं० १९९३ ।
सन्त विलास—हस्तलिखित प्रति ।
सन्त सुन्दरदास—हस्तलिखित प्रति ।
शंकराचार्य का आचार दर्शन—रामानन्द तिवारी ।
शिवसिंह सरोज—शिवसिंह सेंगर, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ ।
श्री भक्ति सागर ग्रन्थ—चरन दासदेव, नवल किशोर प्रेस ।
हिन्दी साहित्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० बड़थ्वाल ।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, १९४८।
हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता—डा० बेनीप्रसाद इलाहाबाद, १९३१।
हिन्दी काव्य धारा का इतिहास—डा० [illegible] मिश्र।
हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
[illegible] विभूति—स्वामी "चन्द्र" नाथ, १९[illegible]४।
[illegible]—डा० [illegible]।
[illegible]—आचार्य [illegible], १९५१।
मध्यप्रान्त [illegible]।
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय।

कुछ अन्य भाषाओं के ग्रन्थ

[illegible]—फ़ारसी।
[illegible]—फ़ारसी।
[illegible]।
[illegible], [illegible]—[illegible]।
[illegible]।
[illegible]—फ़ारसी।
[illegible]—[illegible]।
[illegible]—[illegible]।
[illegible]—[illegible]।
[illegible]—[illegible]।
[illegible] इतिहास, [illegible]—[illegible]।
[illegible]—[illegible], [illegible], लन्दन, १८८८।
[illegible]—[illegible], [illegible], लन्दन १८६०, १९०१।

मूल गोसाईं चरित।
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।
मलूकदास की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
यारी साहब की रत्नावली—बेलवेडियर प्रेस।
योगप्रवाह—पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, सं २००३।
रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव—अप्रकाशित थीसिस्।
रैदासजी की बानी—बेलवेडियर प्रेस।
रज्जब जी की सर्बंगी—
राजपूताने का इतिहास—महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।
वैदिक साहित्य परिशीलन—रजनीकांत।
बखना जी की बानी—मंगलदास।
विद्यापति ठाकुर—डा० उमेश मिश्र।
संत सुधासार—वियोगी हरि।
संत बानी संग्रह—बेलवेडियर प्रेस।
सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, १९५५।
सन्त कबीर—डा० रामकुमार वर्मा, १९४३।
सन्त दरिया एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी।
सहजोबाई की बानी—बेलवेडियर प्रेस।
सुन्दर विलास—बेलवेडियर प्रेस।
साधना माला—गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, नं० ४२ ४६।
सुन्दर दर्शन—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित।
संस्कृत साहित्य का इतिहास—कन्हैयालाल पोद्दार, सप्तम पुंडरीकमूल।
सन्त सुधासार—वियोगी हरि, १९५३।
सन्त दर्शन—डा० दीक्षित, १९५३।
सन्त काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद।
सुन्दर ग्रन्थावली—हरि नारायण शर्मा, राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता, सं० १९९३।
सन्त सिंगाज—हस्तलिखित प्रति।
सन्त सुन्दरदास—हस्तलिखित प्रति।
शंकराचार्य का आचार दर्शन—रामानन्द तिवारी।
शिवसिंह सरोज—शिवसिंह सेंगर नवल किशोर प्रेस, लखनऊ।
श्री भक्ति सागर ग्रन्थ—ज्ञान स्वरूप, नवल किशोर प्रेस।
हिन्दी साहित्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० बड़थ्वाल।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, १६४८।
हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता—डा० बेनीप्रसाद इलाहाबाद, १६३१।
हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र।
हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
योग सम्प्रदायाविष्कृति—योगी "चन्द्र" नाथ, १६२४।
योग प्रवाह—डा० बड़थ्वाल।
संस्कृति संगम—आचार्य क्षिति मोहन सेन, १६५१।
मध्यकालीन धर्म साधना।
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय।

कुछ अन्य भाषाओं के ग्रन्थ

तजकीरतुल फुकरा—फारसी।
सफीन अलुल अवलिया—फारसी।
खुलासा उत्तवारीख।
इस्त्वार द ला लितरातूर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी, गार्सा द तासी—फ्रांसीसी।
तबाकत उल फुकह।
तारीख इलाही—फारसी।
दास बस—उड़िया।
धम्म पद—पाली।
कुरान शरीफ—अरबी।
गुरु ग्रंथ साहब—गुरमुखी।
नाथ सम्प्रदाय इतिहास, दर्शन और साधन प्रणाली—कल्याणी मल्लिक।
मज्झिम निकाय—२ खंड, पाली टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८८।
दीघ निकाय—दो खंड, पाली टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८६०, १६०३।

पत्र पत्रिकाएँ

इंडियन एंटिक्वेरी—बम्बई अक्तोबर १९२०
जर्नल आफ दि बाम्बे ब्रांच आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी—बंबई
जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी—लंदन । १९१८—१९२०—१९२२
जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल—कलकत्ता
जर्नल आफ दि बिहार एंड ओरीसा रिसर्च सोसाइटी—पटना—१९२८—१९४१
गजेटियरस—बनारस, आजमगढ़, बाम्बे इत्यादि
जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी भा० ४४
जर्नल आफ दि डिपार्टमेंट आफ लेटर्स—कलकत्ता
जर्नल आफ दि कलिंग हिस्टारिकल सोसाइटी भा १ न० ४ मार्च १९४७
गंगापुरातत्वांक—१९३७
नागरी प्रचारिणी पत्रिका—काशी—भा० ११ अं० ४ सं० ८७ भा० १६ अं० २ सं० १
विश्वभारती पत्रिका—शान्तिनिकेतन खंड ६ भाग ५ सं० २००४
कल्याण के वेदान्तांक, योगांक, साधनांक, शक्तिअंक संतांक
इंडियन हिस्टोरिकल क्वाटरली—भाग १५ सं० १९३९
मॉडर्न रिव्यू अगस्त सं० १९३४
हिंदुस्तानी—भाग १ अंक ४, १९३१
इम्पीरियल गजेटियर आफ इंडिया भाग २, १९०९
सेंसस रिपोर्ट राजपूताना १९०२ मारवाड़ १८९१
